स्वच्छन्दतन्त्रम्

श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितस्वच्छन्दोद्योताख्य-
व्याख्यानेन ज्ञानवतीहिन्दीभाष्येण च विभूषितम्

व्याख्याकारः सम्पादकश्च
आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदी

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

॥ श्रीः ॥

विद्याभवन प्राच्यविद्या ग्रन्थमाला
१५५

स्वच्छन्दतन्त्रम्

(द्वितीयो भागः)

(७-१५ पटलानि)

श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचित**स्वच्छन्दोद्योता**ख्य-
व्याख्यानेन**ज्ञानवती**हिन्दीभाष्येण च विभूषितम्

व्याख्याकारः सम्पादकश्च

आचार्य राधेश्याम चतुर्वेदी

व्याकरणाचार्यः
एम० ए० (संस्कृत), पी-एच्०डी०, लब्धस्वर्णपदकः
शास्त्रचूडामणि विद्वान्
संस्कृतविभागः, कलासङ्कायः,
काशीहिन्दूविश्वविद्यालयः, वाराणसी

चौखम्बा विद्याभवन
वाराणसी

प्रकाशक
चौखम्बा विद्याभवन
(भारतीय संस्कृति एवं साहित्य के प्रकाशक तथा वितरक)
चौक (बैंक आफ बड़ौदा के पीछे)
पो० बा० नं० 1069, वाराणसी 221001
फोन : 2420404

प्रथम संस्करण 2005
मूल्य 500=00
सम्पूर्ण सेट (1-2 भाग) 1000=00

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान
38 यू . ए . बंगलो रोड, जवाहरनगर
पो० बा० नं० 2113
दिल्ली 110007
फोन : 23856391

*

चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन
के० 37/117, गोपालमन्दिर लेन
पो० बा० नं० 1129, वाराणसी 221001
फोन : 2335263, 2333371

कम्प्यूटर टाइप सेटर :
मालवीय कम्प्यूटर्स
वाराणसी

मुद्रक :
रत्ना प्रिंटिंग वर्क्स
वाराणसी

The
VIDYABHAWAN PRACHYAVIDYA GRANTHMÁLA
155

SVACCHANDATANTRAM

(PART TWO)

[7-15 Paṭalas]

With the Commentary **Svacchandodyota** by
Ācārya Śrī Kṣemarāja
and **Jñānavatī** Hindi Commentary

Commented & Edited By
Prof. RADHESHYAM CHATURVEDI
Vyākaraṇācārya, M.A., Ph.D., (Gold medalist)
Śāstracūdāmaṇi Scholar
Department of Sanskrit, Faculty of Arts,
Banaras Hindu University



CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN
VARANASI

Publishers:

© CHOWKHAMBA VIDYABHAWAN

(Oriental Publishers & Distributors)

Chowk (Behind The Bank of Baroda Building)

Post Box No. 1069

VARANASI 221001

Telephone : 2420404

First Edition

2005

Also can be had from

CHAUKHAMBA SANSKRIT PRATISHTHAN

38 U. A. Bungalow Road, Jawaharnagar

Post Box No. 2113

DELHI 110007

Telephone : 23856391

*

CHAUKHAMBA SURBHARATI PRAKASHAN

K. 37 / 117, Gopal Mandir Lane

Post Box No.1129

VARANASI 221001

Telephone : 2335263
: 2333371

Computer Type-setters :
Malaviya Computers
Varanasi

Printers :
Ratna Printing Works
Varanasi

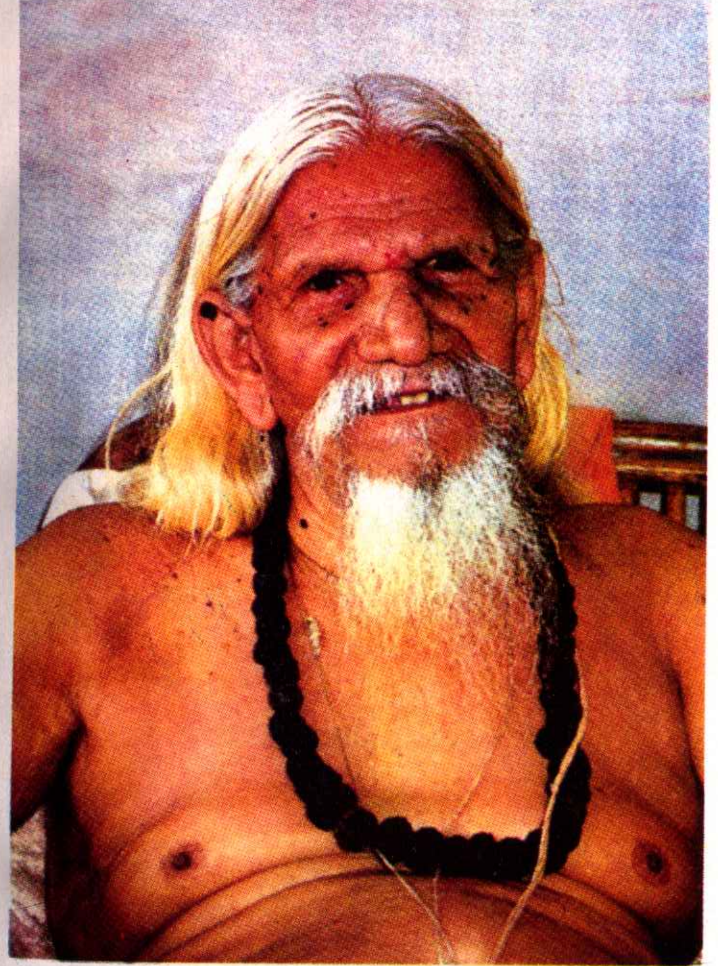
ॐ

तन्मे मनः शिवसङ्कल्पमस्तु



श्री ६ शिवचैतन्य वर्णी महाराज

अनुवादक के दीक्षागुरु



स्वामी श्री श्री १०८ शिवचैतन्यजी ब्रह्मचारीजी

मातङ्गेश्वर घाट, महेश्वर (जिला खरगोन) म. प्र.

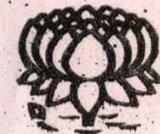
गायत्रीसाधनासिद्धसिद्धिसाम्राज्यचुञ्चवे ।
श्रेयःप्राप्तिनिमित्ताय नमश्चैतन्यवर्णिने ॥

ॐ

ॐ तत्पुरुषाय विद्महे महादेवाय धीमहि
तन्नो रुद्रः प्रचोदयात् ।

ॐ विश्वानि देव सवितर्दुरितानि परासुव
यद् भद्रं तन्न आसुव ।

ॐ भद्रं कर्णेभिः शृणुयाम देवा भद्रं
पश्येमाक्षभिर्यजत्राः ॥



विषयानुक्रमणिका



सङ्केत सूची

ई०प्र०	—	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा
ई०प्र०वि०वि०	—	ईश्वरप्रत्यभिज्ञा विवृतिविमर्शिनी
ऋ०	—	ऋग्वेद
कालो०	—	कालोत्तरतन्त्र
किरणा०	—	किरणावली
कि०	—	किरणावली
क्रि०	—	क्रियापाद (मृगेन्द्रतन्त्र)
त०त्र०नि०का०	—	तत्त्वत्रयनिर्णयकारिका
त०सं०	—	तत्त्वसंग्रह
तं०आ०	—	तन्त्रालोक
तं०सां०, आ०	—	तन्त्रसार, आह्निक
न्या०सू०	—	न्यायसूत्र
पात०	—	पातञ्जलयोगसूत्र
प्र०वा०	—	प्रमाणवार्त्तिक
बृ०उ०	—	बृहदारण्यकउपनिषद्
भ०गी०	—	श्रीमद्भगवद्गीता
मा०वि०	—	मालिनीविजयतन्त्र
मा०वि०तं०	—	मालिनीविजयतन्त्र
यो०सू०	—	योगसूत्र
वाम०स०	—	वामनसंहिता
वि०भै०	—	विज्ञानभैरव
शि०दृ०	—	शिवदृष्टि
शि०सू०	—	शिवसूत्रम्
श्वे०उ०	—	श्वेताश्वतर उपनिषद्
सू०जा०	—	सूर्यजातक
सां०का०	—	सांख्यकारिका
स्तोत्राव०	—	स्तोत्रावली
स्प०	—	स्पन्दकारिका
स्व०तं०	—	स्वच्छन्दतन्त्र



स्वच्छन्दतन्त्रम्

(द्वितीयो भागः)

(७-१५ पटलानि)

सप्तमः पटलः

*** स्वच्छन्दोद्योतः ***

संकुचच्चित्स्फुरत्तात्मप्राणान्तर्येन भास्यते ।
कालाध्वा विश्वभृद् भुक्तिमुक्त्यर्थं स जयत्यजः ॥

'क्रियाकालांशयुक्तस्य' (६।९७) इति यदुपसंहृतं ततो विदितं क्रियास्वरूपमनूद्य, कालांशकं ज्ञातुं श्रीदेव्युवाच—

क्रिया ज्ञाता मया देव त्वत्प्रसादान्महेश्वर ।
कालांशकं च देवेश कथयस्व प्रसारतः ॥ १ ॥

क्रिया पूजनादिसाधनान्ता । कालं च तत्तत्सिद्धिसाधनोचितमवसरम् । अंशकं च ब्रह्मांशकविष्ण्वंशकादिरूपम् । प्रसारतः इति सबाह्याभ्यन्तरव्याप्त्या अभिधत्स्व । अत एव पूर्वं—

*** ज्ञानवती ***

संकुचित चित्स्फुरत्तारूप प्राण के अन्दर जो कालाध्वा का भासन करता है, भोग और मोक्ष के लिये विश्व को धारण करने वाले वह अजन्मा (स्वच्छन्द भैरव) सबसे बढ़ कर हैं ।

'क्रियाकालांशयुक्तस्य' यह जो पूर्वपटल के श्लोक संख्या (६।९७) में उपसंहार के रूप में कहा गया उससे परिज्ञात क्रियास्वरूप को फिर से कह कर कालांश का ज्ञान करने के लिये श्रीदेवी ने कहा—

हे महेश्वर ! हे देव ! आपकी कृपा से मैंने क्रिया का ज्ञान कर लिया । हे देवेश ! अब कालांश का विस्तारपूर्वक वर्णन कीजिये ॥ १ ॥

क्रिया—पूजन से लेकर साधना तक की क्रिया । काल = तत्तत् सिद्धि के साधन के लिये उचित अवसर । अंशक = ब्रह्मांशक या विष्ण्वंशक रूप । प्रसार के साथ = बाह्य आभ्यन्तर की व्याप्ति के साथ । कहिये । इसीलिये पहले—

'कालं चैव समासतः' (१।९)

इत्युक्त्योद्दिष्टमपि कालस्वरूपं तत्त्वतोऽज्ञात्वा पुनः प्रश्नितम् ॥ १ ॥

श्रीभैरव उवाच—

कालो द्विधाऽत्र विज्ञेयः सौरश्चाध्यात्मिकः प्रिये ।

कलयति जन्मस्थित्यादिविकारषट्केन परिच्छिनत्ति जगद्यः पारमेशक्रिया-शक्तिस्पन्दात्मा कालः । द्विधा इत्येकरूपोऽपि बाह्याभ्यन्तरतया संस्थितः, अत्र इति नित्यनैमित्तिककाम्येषु सर्वेषु कर्मसु अङ्गतयाराधकैर्ज्ञातव्यः । सूरे भवः सौरः स्थूलोऽहोरात्राद्यात्मा, स एव त्वात्मनीति तदधिष्ठिते प्राणे, अध्यात्मे भव आध्यात्मिकः सूक्ष्मरूपः । तत्र शुभं कर्म सुवारसुदिनादौ कर्तव्यम् । तत्र चैहिकामुत्रिकफलसिद्ध्यर्थं दक्षिणायनोत्तरायणादिस्वरूपमवश्यं ज्ञातव्यम् ॥

तदेतत्सर्वं बाह्यकालत एव ज्ञायत इत्याह—

सुवारकरणे लग्ने सुयोगे सुदिने प्रिये ॥ २ ॥

'और काल को संक्षेप में' (१।९)

इस वचन से उद्दिष्ट (= नाम लेकर बतलाये गये) भी कालस्वरूप को तत्त्वतः न जान कर पुनः प्रश्न किया गया ॥ १ ॥

श्री भैरव ने कहा—

हे प्रिये ! यहाँ काल दो प्रकार का जानना चाहिये—सौर और आध्यात्मिक ॥ २- ॥

('काल' शब्द की व्याख्या करते हैं—) जो जन्म स्थिति आदि (= वृद्धि, विपरिणाम, अपक्षय और नाश) इन छः विकारों के द्वारा जगत् का कलन = परिच्छेद (= परिसीमन) करता है परमेश्वर की क्रियाशक्ति का स्पन्दस्वरूप वह काल है । दो प्रकार का—एकरूप होते हुए भी वह बाह्य और आभ्यन्तर रूप से स्थित है । यहाँ = नित्य नैमित्तिक काम्य सभी कर्मों में आराधकों के द्वारा अङ्गरूप में जानना चाहिये । जो सूर (= सूर्य) में उत्पन्न हो वह सौर = स्थूल रात-दिन रूप । वही आत्मा में = उससे अधिष्ठित प्राण में, (आध्यात्मिक =) अध्यात्म में होने वाला, सूक्ष्मरूप है । इस स्थिति में शुभ कर्म को शुभ दिन और स्वच्छ साफ दिन आदि में करना चाहिये । इस विषय में इस लोक और उस लोक के फल की सिद्धि के लिये दक्षिणायन उत्तरायण आदि स्वरूप (काल) को अवश्य जानना चाहिये ॥

यह सब बाह्यकाल से ही ज्ञात होता है—यह कहते हैं—

हे प्रिये ! शुभवार, शुभ करण, शुभ लग्न, शुभ योग, शुभ दिन में

तेजोऽपचयराशौ तु..........

शोभनो वारश्चन्द्रतिथ्यादिग्रहनक्षयोगः, करणं च वव-वालव-कौलवतैतिलादिकं विष्टिवर्जितं यत्र, सुदिने अरिक्ततिथौ, सुयोगे इत्यानन्दादियोगवति यो लग्नः स्वर्क्षादिरनुकूलः सूर्यसञ्चारापेक्षः प्रतिदिनं घटिकानियमेन मीनादि राश्युदयस्तत्र, तेजसोऽपचयराशौ मकरसंक्रान्तौ तदुपलक्षिते च तदुपचयराशौ कर्कटे आमुत्रिकै-हिककर्मारम्भविषयेऽवश्यज्ञातव्यो यः कालः स एष सौर इति दूरेण सम्बन्धः । सुवारकरणमित्यादिप्रथमापाठस्तु स्पष्टः ॥ २ ॥

किं च—

..............दक्षिणायनमुत्तरम् ।
ग्रहणं चन्द्रसूर्याभ्यां कालश्च ऋतवस्तथा ॥ ३ ॥
पक्षो मासश्च वेला विषुवद्राश्यन्तरं तथा ।
पुण्यापुण्योदयो देवि...........

चन्द्रसूर्याभ्यामुपलक्षितं ग्रहणम् । दक्षिणायनोत्तरायणवदैहिकपारलौकिकफलकर्म-

---

तेज (= सूर्य) के अपचय राशि में (जो काल होता है वह सौर कहलाता है) ॥ -२-३- ॥

(सुवार =) सुन्दर वार = चन्द्रतिथि आदि तथा ग्रह नक्षत्र का योग । करण = वव-वालव-कौलव-तैतिल आदि विष्ट(= भद्रा) से रहित । सुदिन = रिक्ता तिथि (४,८,१२ तिथि) से भिन्न तिथि में । सुयोग = आनन्द आदि योग वाले समय में स्वर्क्ष (= शुभ नक्षत्र) आदि के अनुकूल तथा सूर्यसञ्चार की अपेक्षा रखने वाला जो लग्न, जिसमें (द्वि-)घटिकानियम के अनुसार मीन आदि राशियों का उदय होता है, वहाँ तेज की अपचय राशि = मकर संक्रान्ति और उससे उपलक्षित उपचय राशि = कर्क राशि, में ऐहलौकिक एवं पारलौकिक कर्म के आरम्भ के विषय में अवश्य ज्ञेय जो काल वह सौर कहलाता है—ऐसा दूर से सम्बन्ध (= अन्वय) है । श्लोक में सुवारकरणम्—यह प्रथमाविभक्त्यन्त पाठ अधिक स्पष्ट है ॥ २ ॥

इसके अतिरिक्त—

हे देवि ! उत्तरायण, दक्षिणायन, चन्द्र और सूर्य का ग्रहण, काल, ऋतुयें पक्ष, मास, वेला, विषुवत्, राश्यन्तर, पुण्योदम, अपुण्योदय (यह सब बाह्यकाल है) ॥ -३-४- ॥

चन्द्र एवं सूर्य से उपलक्षित ग्रहण (काल) । यह ग्रहण दक्षिणायन और उत्तरायण की भाँति ऐहलौकिक और पारलौकिक फल वाले कर्म से सम्बद्ध है (अर्थात् जैसे ऐहलौकिक फल को प्राप्त करने के लिये दक्षिणायन में कर्म करना उचित है और पारलौकिक फल की प्राप्ति के लिये उत्तरायण इसी प्रकार चन्द्रग्रहण

विषयम् । कालः चातुर्मास्यसंज्ञः । ऋतवो वसन्ताद्या । पक्षः शुक्लः कृष्णश्च । मासः चैत्रादिः । वेला तत्तद्ग्रहादिसञ्चाराश्रयः प्रविभक्तोऽहोरात्रविभागः । विषुवत् दिनमहर्निशासाम्यात्म मेषतुलयोः सूर्यसंक्रान्तिकालः । राश्यन्तरम् इतराः संक्रान्तयः । पुण्यकालो वैशाखशुक्लतृतीयादिः । अपुण्यकालो मलमासादिः ॥ ३ ॥

तदेवमादिकं सर्वं तत्तत्कर्माङ्गतया उपयुज्यमानं यत्, स कालः—

...............सौर एष प्रकीर्तितः ॥ ४ ॥

बाह्य इति शेषः ॥ ४ ॥

आध्यात्मिकं पुनर्देवि कथयामि निबोध मे ।

पुन इति विशेषेण । 'निबोध मे' इत्युक्त्या परमोपादेयत्वं ध्वनति ॥

तत्र—

षाट्कोशिकस्तु यो देहो भूततन्मात्रसंयुतः ॥ ५ ॥
स मनोबुद्ध्यहङ्कारबुद्धिकर्मेन्द्रियैर्गुणैः ।
सर्वतत्त्वैस्तथा देवैः समधिष्ठितविग्रहः ॥ ६ ॥

का काल ऐहलौकिक के लिये तथा सूर्यग्रहण का काल पारलौकिक फलाप्ति के लिये उचित होता है) । काल = चातुर्मास्य (आषाढ़, श्रावण, भाद्रपद एवं आश्विन मास) नाम वाला काल । ऋतुयें = वसन्त आदि (= वसन्त, ग्रीष्म, वर्षा शरद हेमन्त शिशिर) पक्ष = शुक्ल और कृष्ण । मास = चैत्र वैशाख आदि । वेला = तत्तत् ग्रह आदि के सञ्चार के आश्रयवाला । उनका दिन और रात्रि के अनुसार विभाग होता है । विषुवत् = जिसमें दिन और रात बराबर काल वाले हो जाते हैं ऐसा मेष और तुला राशियों में सूर्य के संक्रमण का काल । राश्यन्तर = सूर्य की अन्य संक्रान्तियाँ । पुण्य काल = वैशाख शुक्ल पक्ष की तृतीया, (निर्जला एकादशी) आदि । अपुण्यकाल = मलमास आदि ॥ ३ ॥

इन सब का तत्तत् कर्म के अङ्ग के रूप में उपयोग होता है । यह काल—

सौर कहा गया है ॥ -४ ॥

(सौर अर्थात्) बाह्य ॥ ४ ॥

हे देवि ! अब मैं आध्यात्मिक काल का वर्णन कर रहा हूँ । उसको मुझसे जानो ॥ ५- ॥

पुनः = विशेष रूप से । 'मुझसे जानो' इस कथन से इस आध्यात्मिक काल की परम उपादेयता ध्वनित होती है ॥

जो छः कोशों वाला देह पञ्चमहाभूत एवं पञ्चतन्मात्राओं से युक्त है, वह मन, बुद्धि, अहङ्कार, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, सत्त्व आदि गुण, समस्त

तत्रात्मा प्रभुशक्तिश्च वायुर्वै नाडिभिश्चरन् ।

स्थित इति शेषः । षट्कोशानि त्वक्मांसरक्तमज्जास्थिशुक्राणि । यो देहः, स कार्यकरणत्रयोविंशत्या सत्त्वादिभिर्गुणैः सर्वतत्त्वैश्च तदुपरिस्थितैर्नियत्यादिभिः शिवतत्त्वान्तैः, तथा देवैर्ब्रह्मादिभिः कारणैः, सम्यग् व्याप्यव्यापकभावेन, अधिष्ठितः कृतावस्थितिः, विग्रहः स्वरूपं यस्य । आत्मा संकुचितसंविद्रूपस्तत्तत्कर्मानुष्ठाता तत्फलभोक्ता च, प्रभोः स्वच्छन्दभैरवस्य, शक्तिः स्वातन्त्र्यात्मा मनःप्रसादावसरेषु भान्ती, वायुश्च नासिकापथवाही प्राणो नाडिभिर्वक्ष्यमाणाभिश्चरन् स्थितः । अयमत्राशयः—इह विश्वोत्तीर्णविश्वमयचिदानन्दसुन्दरः स्वतन्त्रभट्टारकः स्वस्वातन्त्र्यशक्त्या—

'स्थूलसूक्ष्मस्वरूपेण स एकः संव्यवस्थितः' (४।२९५)

इत्युक्तन्यायेन सदाशिवादिक्षित्यन्त विश्वमुन्मीलयेत् प्रथमं तदुल्लासनभित्तिं शून्यातिशून्यभूमिं स्वात्मदर्पणे । तत्र च चित्प्रकाशप्राधान्येन शून्यस्य गुणीभावात्

तत्त्व एवं तत्तत् देवताओं से अधिष्ठित स्वरूप वाला है । उसमें आत्मा, प्रभुशक्ति और वायु नाड़ियों के माध्यम से (सम्पूर्ण शरीर में) सञ्चरण करता हुआ ॥ -५-७- ॥

स्थित है । छः कोश = त्वचा, मांस, रक्त, मज्जा, अस्थि और शुक्र ।[१] ऐसा जो देह है वह २३ कार्यकरण (= ५ महाभूत + ५ तन्मात्रा + ५ कर्मेन्द्रिय + ५ ज्ञानेन्द्रिय + मन + बुद्धि + अहङ्कार) तथा सत्त्व रजस् तमस् तीन गुणों, सब तत्त्वों = उस (= २३) के ऊपर स्थित नियति से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त तक के तत्त्व, तथा देव = ब्रह्मा आदि पञ्चकारणों के द्वारा सम्यक् = व्याप्यव्यापकसम्बन्ध से, अधिष्ठित = स्थितिवाला, विग्रह = स्वरूप, है जिसका (वह = देह) । आत्मा = संकुचित संविद्रूप, तत्तत् कर्मों को करने वाला और उन किये गये कर्मों के फल का भोक्ता है । प्रभु = स्वच्छन्दभैरव, की शक्ति = मन की प्रसन्नता आदि के अवसर पर भासित होने वाली स्वातन्त्र्यरूपा । वायु = नासिका के रास्ते से प्रवाहित होने वाला प्राण, आगे वर्णन की जाने वाली नाड़ियों के माध्यम से सञ्चरण करता हुआ, स्थित है । यहाँ यह तात्पर्य है—विश्वोत्तीर्ण एवं विश्वमय तथा चिदानन्दसुन्दर स्वतन्त्र भट्टारक (= स्वच्छन्द भैरव) अपनी स्वातन्त्र्यनामक शक्ति के द्वारा—

'वह एक तत्त्व स्थूल सूक्ष्म स्वरूप से सम्यक्तया स्थित है ।' (४।२९५)

इस न्याय के अनुसार सदाशिव तत्त्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त विश्व का उन्मीलन करता है । इस क्रम में वह सबसे पहले स्वात्मदर्पण में उस (= विश्व) के उल्लासन का आधार शून्यातिशून्य भूमि को आभासित करता है । उसमें चित्-

---

१. वेदान्त में पाँच कोशों की चर्चा आती है । वे हैं—अन्नमय, प्राणमय, मनोमय, विज्ञानमय और आनन्दमय ।

शून्यातिशून्यभूः सदाशिवादिमन्त्रान्तशुद्धप्रमातृसङ्कोचप्रपञ्चोत्थापिका महामायाशब्द-वाच्या उच्यते । यदा तु चित्प्रकाशगुणीभावात् शून्यमेव प्राधान्येन दर्शयति, तदैषा मायाशक्तिरशेषविज्ञानाकलप्रलयाकलसकलतत्प्रमेयसङ्कोचप्रपञ्चप्रदर्शिका-ऽभिधीयते । यश्च सङ्कोचस्तया प्रदर्श्यते, स एव शून्यप्रमाता निमग्न-विमर्शशक्तिः । यदा चासौ व्यतिरिक्तमेयग्रहणायोन्मुखीभवति, तदा प्राणरूपतया स्फुरति, तथा स्फुरन्नपि कस्तूरिकाकणवत् तत्रापि तावत्यंशे संकुचिता-शेषविश्वात्मतया भाति तदभिप्रायेणैव च विततविततमूर्तिवैचित्र्यात्मा पूर्वं षड्विधाध्व-विभागः प्राणस्थित इत्युक्तम् । इह चैकत्रैव प्राणोच्चारे नालिकातः प्रभृति षष्ट्यब्दोदयान्तम्, एकादशपटले च मानुषायुष्कालात् प्रभृति अनाश्रितान्तस्य विश्वस्य च आयुष्परिमाणमतिविततविततक्रियाशक्तिवैचित्र्यात्मकमस्ति, इति प्रतिपादयिष्यते । यद्यपि च प्राणभूमिकायामिवात्यन्तसंकुचितशरीराद्यात्मतायामपि परमेश्वरः पूर्णषट्त्रिंशत्तत्त्वस्फाररूप एव यथा प्रतिपादितम्, तथापि 'प्राक् संवित्प्राणे परिणता' इति नीत्या प्राणरूपः परस्याः शक्तेरन्तरङ्गमधिष्ठानम्, तदवरोहक्रमेण भूतभावशरीरावतरणादिति समग्रप्राणप्रसरभित्तिभूतमध्यमप्राणभूमिका-

---

प्रकाश की प्रधानता होने से शून्य गौण हो जाता है । फलतः शून्यातिशून्य भूमि जिसको 'महामाया' नाम से व्यवहृत करते हैं, वह सदाशिव से लेकर मन्त्र पर्यन्त (= मन्त्रमहेश्वर मन्त्रेश्वर और मन्त्र) नामक शुद्ध प्रमाता के सङ्कोचप्रपञ्च को उत्पन्न करती है । और जब चित्प्रकाश के गौण होने से शून्य को ही प्रधान रूप में वह परमेश्वर दिखलाता है तब वह माया शक्ति कही जाती है जो कि विज्ञानाकल, प्रलयाकल, सकल प्राणियों की और उनके प्रमेयों के सङ्कोच की प्रदर्शिका कही जाती है । उसके द्वारा जिस सङ्कोच का प्रदर्शन किया जाता है वही शून्यप्रमाता कहा जाता है जिसकी विमर्शशक्ति विलुप्त रहती है, और जब वह परमेश्वर अतिरिक्त प्रमेय के ग्रहण के लिये उन्मुख होता है तब वह प्राण के रूप में स्फुरण करता है । उस प्रकार स्फुरण करते हुए भी कस्तूरिका के कण के समान वहाँ भी उतने अंश में संकुचित समस्त विश्व के रूप में भासित होता है । इसी अभिप्राय से विस्तृत मूर्त्तिवैचित्र्य के विस्तार वाला षड्विध अध्वाविभाग प्राण में स्थित होता है— यह पहले कहा जा चुका है । यहाँ इस पटल में एक ही प्राणचार में एक नाड़ी (= आधा क्षण) से लेकर साठ वर्ष के उदयकाल तक तथा ११वें पटल में वर्णित मनुष्य के आयुष्यकाल से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त विश्व का आयुष्परिमाण जो कि अत्यन्त विस्तृत से भी विस्तृत क्रिया की विचित्रता वाला है, का प्रतिपादन किया जायेगा । यद्यपि प्राणभूमिका के समान अत्यन्त संकुचित शरीर आदि वाली भूमिका में भी परमेश्वर पूर्ण छत्तीसतत्त्व का स्फार रूप ही रहता है जैसा कि कहा जा चुका है, तो भी 'संवित् पहले प्राण रूप में परिणत हुई', इस नीति के अनुसार प्राणरूप (हुआ वह परमेश्वर) पराशक्ति का अन्तरङ्ग अधिष्ठान हो जाता है क्योंकि उस अवरोह क्रम से वह भूतों के भावशरीर के रूप में अवतरण करता है । इस प्रकार महायोगी भी समग्र प्राणप्रसर की आधारभूत मध्यमप्राण (= सुषुम्ना

ध्यारोहक्रमेणैव परशक्तिपदानुप्रवेशावष्टम्भपूर्वमेव स्वच्छन्दीभैरवताऽवाप्यते महा-योगिभिः, मितयोगिभिश्च तत्तदान्तरकालांशविश्रान्तिपूर्वं विधिमनुतिष्ठद्भिः सा सिद्धिरविघ्नेनासाद्यते । अत एव प्रतिपादितप्रतिपादयिष्यमाणैतच्छास्त्रनिर्दिष्टः संहितान्तरनिर्दिष्टोऽपि वा सर्व एवोपासादिक्रमो मध्यप्राणपथोच्चरन्मन्त्रप्रमुखमेव फलदो भवति, इत्याशयेनात्र पटले परमेश्वरस्याध्यात्मिककालस्वरूपप्रतिपादने महान् संरम्भः, इत्यलं तावदिहैवाधिकेन ॥ ६ ॥

यद्यप्यात्मप्रभुशक्तिवायवः सर्वत्र देहस्थिताः तथापि प्राधान्याभिप्रायेण यथाक्रमम्—

नाभ्यधोमेढ्रकन्दे च स्थिता वै............

नाभ्यन्तं प्रकृतितत्त्वस्य व्याप्तिरिति नाभावशेषनाडीचक्रभूतायां प्राधान्येनात्मा स्थितः, अधोमेढ्रे तु मध्यशक्तिः (कन्दे च वायुः) । एषां चात्र स्वरूपमवधान-धनैरेव सम्यगुपलभ्यते न तु पशुभिः ।

एवं स्थिते सत्यात्मविश्रान्तिपदात्—

के अन्दर स्थित प्राण) की भूमिका में आरोह के क्रम से परशक्तिपद में अनुप्रवेश की स्थिरता के बाद स्वच्छन्द भैरव की स्वरूपता को प्राप्त करता है । और मित योगी लोग भी तत्तत् आन्तर काल के अंश में विश्राम करते हुए एवं विधि (= साधना) का अनुष्ठान करते हुए उस सिद्धि (= स्वच्छन्दभैरवरूपता) को निर्विघ्न प्राप्त करते हैं । इसलिये पहले प्रतिपादित और आगे प्रतिपादित किये जाने वाला, इस शास्त्र में अथवा अन्य शास्त्रों में निर्दिष्ट समस्त उपासना आदि क्रम जब मध्यप्राणपथ (= सुषुम्ना मार्ग) से उच्चारित होने वाले मन्त्र के साथ होता है तभी फलदायक होता है इस आशय से इस पटल में परमेश्वर के आध्यात्मिक कालस्वरूप के प्रतिपादन में महान् प्रयास किया जा रहा है । यहाँ अधिक कहने से कोई लाभ नहीं ॥ ६ ॥

यद्यपि आत्मा, परमेश्वर की शक्ति एवं वायु सम्पूर्ण देह में स्थित है तथापि प्रधानता को दृष्टि में रख कर ये क्रमशः—

नाभि, अधोमेढ्र और कन्द में स्थित हैं (ऐसा जानना चाहिये) ॥ ७- ॥

प्रकृति तत्त्व की व्याप्ति नाभिपर्यन्त है इस कारण आत्मा समस्त नाडीचक्रभूत नाभि में प्रधानतया स्थित है । (नाभि के) नीचे मेढ्र में मध्यशक्ति स्थित है और कन्द में वायु प्रतिष्ठित है । इन (= आत्मा नाड़ीचक्र एवं वायु) का इस (= शरीर) में स्वरूप सावधान योगियों के ही द्वारा ज्ञात किया जाता है पशुओं (= सामान्य जनों) के द्वारा नहीं ।

ऐसी स्थिति होने पर आत्मा के विश्रान्ति स्थल—

........................नाभिमध्यतः ॥ ७ ॥

तस्माद्विनिर्गता नाड्यस्तिर्यगूर्ध्वमधः प्रिये ।

अत एवोक्तमन्यत्र—

'नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम् ।' (पा०यो० ३।२९) इति ।

केचित्तु नाभिचक्रत इतिपाठं पूर्वत्रैव योजयित्वा, तस्मादित्यनेन कन्दपदं प्रत्यवमृष्टवन्तः ॥ ७ ॥

तासां मध्यात्—

चक्रवत् संस्थितास्तत्र प्रधाना दश नाडयः ॥ ८ ॥

तत्र इति नाभौ पद्मे । दश नाडीर्नामतो वक्ष्यति ॥ ८ ॥

दशभ्यस्तु—

द्वासप्ततिसहस्राणि नाड्यस्ताभ्यो विनिर्गताः ।
पुनर्विनिर्गताश्चान्या आभ्योऽप्यन्याः पुनः पुनः ॥ ९ ॥

विनिर्गता इत्यूर्ध्वमधस्तिर्यक् च प्रसृताः ॥ ९ ॥

किमवधि निर्याताः इत्याह—

उस नाभिमध्य से हे प्रिये ! (इस शरीर में) ऊपर नीचे और तिर्यक् (= आड़े तिरछे बायें दायें) नाड़ियाँ निकली हुई हैं ॥ -७-८- ॥

इसीलिये अन्यत्र कहा गया—

'नाभिचक्र में (धारणा ध्यान समाधि लगाने से) कायव्यूह (= शरीरसंरचना) का ज्ञान हो जाता है ।' (पा०यो०सू० ३।२९)

कुछ लोग उक्त श्लोक के पूर्व 'नाभिचक्रतः' पाठ जोड़ देते हैं और 'तस्मात्' का अर्थ निकालते हैं—उस कन्द से ॥ ७ ॥

उन नाड़ियों में से—

दश प्रधान नाड़ियाँ वहाँ चक्र के समान स्थित हैं ॥ -८ ॥

वहाँ = नाभिकमल में । दश नाड़ियों का नाम आगे बतलायेंगे ॥ ८ ॥

उन दश नाड़ियों से—

७२००० नाड़ियाँ निकली हैं फिर उन बहत्तर हजार नाड़ियों से दूसरी और फिर उनसे दूसरी नाड़ियाँ निकली हैं ॥ ९ ॥

निकली हैं = ऊपर नीचे और आड़े तिरछे फैली हैं ॥ ९ ॥

यावत्यो रोमकोट्यस्तु तावत्यो नाडयः स्मृताः ।

अर्धचतस्रः कोटयः ॥

अतश्च—

यथा पर्णं पलाशस्य व्याप्तं सर्वत्र तन्तुभिः ॥ १० ॥
शरीरं सर्वजन्तूनां तद्वद् व्याप्तं तु नाडिभिः ।

इह 'प्राक्संवित्प्राणे परिणता' इति स्थित्या निर्णीतनीत्या संवित्तिः शून्यभूमिकामाभास्य प्राणभूमिमाश्रितवती, तत्रापि पलाशपत्रमध्यशाखान्यायेन मध्यनाड्याश्रयमध्यमप्राणरूपतां श्रित्वादिक्रमवस्थिते, तत्रापि प्रधानना(द)डीदशकाश्रयप्राणादिप्रधानवायुरूपतामासाद्य पुरुषायुषमध्यसम्भव्यहः संख्याकानि षट्त्रिंशत्सहस्राणि बहिर्वाहानां प्राणनाडीनाम्, तावन्त्येव चान्तर्वाहानामपाननाडीनाम्, इत्युभयं द्वासप्ततिसहस्राणि प्रधानभूतानि भासितवती । तथा हि सति यावज्जीवं कर्तव्यत्वेन दीक्षितानां यन्नित्यकर्म भगवतस्वरूपानुसन्धानादि आम्नातम् तदुक्त-

---

कहाँ तक गयी हैं (= कितनी संख्या तक निकली हैं—यह कहते हैं—)

जितने रोमकूप हैं उतनी नाड़ियाँ (निकली हुई) मानी गयी हैं ॥ १०- ॥

(अर्थात्) साढ़े तीन करोड़ ॥

इसलिये—

जैसे पलाश का पत्ता सर्वत्र तन्तुओं (= रेशों) से व्याप्त होता है उसी प्रकार समस्त जन्तुओं का शरीर नाड़ियों से व्याप्त होता है ॥ -१०-११- ॥

'प्राक् संवित् प्राणे परिणता' इस स्थिति से निर्दिष्ट नीति के अनुसार संवित् अपने को शून्य भूमि के रूप में आभासित कर प्राणभूमि के रूप में परिणत हो गयी । उसमें भी पलाशपत्रमध्यशाखा न्याय[1] से वही प्राण मध्यनाड़ी के आश्रय से मध्यमप्राणरूपता को प्राप्त कर आदिक्रम के रूप में दोनो (= मध्यप्राण और मध्यनाड़ी)? स्थित हैं । उसमें भी प्रधान दशनाड़ियों के आश्रय से वही संवित् प्रधान प्राण आदि (= अपान समान उदान व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय) नामक दश वायुरूप को प्राप्त कर, पुरुष की आयु के मध्य सम्भवी दिन की संख्या वाले (= पुरुष की आयु २०० वर्ष × ३६० दिन = ७२०००) अर्थात् प्राणनाड़ियों का ३६००० बहिर्वाह और उसी प्रकार अपान नाड़ियों का ३६००० अन्तर्वाह, इस प्रकार ७२००० प्रधानभूत प्राणचारों को आभासित किया । ऐसा होने पर दीक्षित व्यक्तियों के लिये जीवनपर्यन्त कर्त्तव्य के रूप में जो भगवत्स्वरूप का अनुसन्धान आदि नित्यकर्म कहे गये हैं वे प्राणचार की उक्त

---

१. जैसे पलाश के पत्ते के बीच एक मुख्य शाखा होती है, उससे फिर कुछ गौण शाखायें निकलती हैं उस प्रकार ।

व्याप्तितत्त्वविदा एकवारमनुष्ठीयमानमपि सर्वमेवानुष्ठितं भवति । यदुक्तं कक्ष्यास्तोत्रे—

'या अग्निहोत्राहुतयः सहस्रद्वासप्ततिः स्युः पुरुषायुषेण ।
नाड्यंशयुक्त्या सकृदेव जुह्वत् सम्पादयेत्तास्तव मार्गविद्यः ॥'

इति । किं च—

'मध्यप्राणनिविष्टहंसविसृता ये रोमकूपाश्रयाः
प्राणाः सूक्ष्मविमर्शशालिवपुषः सार्धत्रिकोट्यात्मकाः ।
तान्मन्त्रात्मतया विलोमयति यो निःशेषतत्त्वाश्रये
देहेऽसाविह नादभैरवतनुः स्वच्छन्दनाथः परः ॥'

इति ॥ १० ॥

एताश्च नाड्यः —

मारुतापूरिताः सर्वा आत्मशक्तिचराः सदा ॥ ११ ॥

आत्मा संकुचितसंविद्रूपो ग्राहकः, शक्तिः प्राभवी विश्वाशेषपरस्फुरत्तात्मा, ताभ्यां हेतुभ्यां चरन्ति वैचित्र्येण प्रसरन्ति ॥ ११ ॥

व्याप्ति को जानने वाले के द्वारा यदि एक बार भी अनुष्ठित हो जायें तो उसी एक बार के अनुष्ठान से पूरे जीवन का समस्त नित्यादि कर्म अनुष्ठित हो जाता है । जैसा कि कक्ष्यास्तोत्र में कहा गया—

'हे माँ! पुरुष की सम्पूर्ण आयु के द्वारा अनुष्ठेय जो ७२००० अग्निहोत्र आदि अनुष्ठान हैं, आपके मार्ग को जो जानने वाला है वह एक बार हवन करने पर उन सबका सम्पादन कर देता है ।'

तथा—

'जो मध्यप्राण (= सुषुम्ना में प्रवाहित होने वाला मुख्य प्राण) में निविष्ट हंस (= आत्मा) के द्वारा फैलाये गये, रोमकूप में रहने वाले, सूक्ष्म विमर्शशाली रूप हैं और जिनकी संख्या साढ़े तीन करोड़ है; उन प्राणों को जो समस्त तत्त्वों के आश्रयभूत इस शरीर में मन्त्र के रूप में विलोमित करता है (= विपरीत क्रम से चलाता है) वह (साधक) नादभैरवशरीर वाला हो कर पर स्वच्छन्दभैरव हो जाता है' ॥ १० ॥

और ये नाड़ियाँ—

वायु से आपूरित हो कर सबकी सब सर्वदा आत्मा और शक्ति के द्वारा सञ्चरण करती हैं ॥ -११ ॥

आत्मा = संकुचित संविद्रूप ग्राहक, शक्ति = परमेश्वर की शक्ति जो कि सम्पूर्ण विश्व के रूप में स्फुरित होती हैं, उन दोनों कारणों से (ये नाड़ियाँ) सञ्चरण करती हैं = विचित्र रूप में प्रसरण करती हैं ॥ ११ ॥

ताश्च—

पृथग् वृत्तिप्रभेदेन भिन्नाश्चारप्रभेदतः ।

वृत्तयो व्यापाराः सूक्ष्मप्राणवाहात्मकचारप्रभेदहेतुकाः ॥

अत एव—

चारवृत्तिप्रभेदेन संज्ञाभेदो वरानने ॥ १२ ॥

भवति ॥ १२ ॥

अतश्च संज्ञाभेदात्—

नाडीनां चैव वायूनां भेदो ज्ञेयः सहस्रशः ।

सार्धत्रिकोटिपर्यन्त इत्यर्थः ॥

तत्र—

प्रधाना दश याः प्रोक्ता नाडयश्च वरानने ॥ १३ ॥
तासां मध्ये तु देवेशि वायवो ये व्यवस्थिताः ।

मध्ये इत्यन्तः ॥ १३ ॥

और वे—

पृथक् व्यापार के भेद से भिन्न-भिन्न रूप में सञ्चरण करने के कारण भिन्न-भिन्न हैं ॥ १२- ॥

वृत्तियाँ = व्यापार । ये व्यापार सूक्ष्म प्राणवाहरूप चार के भेद के कारण होते हैं ॥

इसलिए—

हे वरानने ! प्राणचार के व्यापार के भेद से उनके भिन्न-भिन्न नाम होते हैं ॥ -१२ ॥

होता है ॥ १२ ॥

इसलिये संज्ञा (= नाम) के भेद से—

नाड़ियों और वायुओं के हजारों भेद जानने चाहिये ॥ १३- ॥

(हजारों =) साढ़े तीन करोड़ तक ॥

उनमें भी—

हे वरानने ! जो प्रधान दश नाडियाँ कहीं गयी हैं, हे देवेशि ! उनके भीतर जो वायु विशेषरूप से स्थित हैं ॥ -१३-१४- ॥

तेषाम्—

नाडीनां चैव वायूनां संज्ञावृत्तीर्निबोध मे ॥ १४ ॥

वृत्तीर्व्यापारान् ॥ १४ ॥

तत्र तावत्संज्ञा आह—

इडा च पिङ्गला चैव सुषुम्ना च तृतीयका ।
गान्धारी हस्तिजिह्वा च पूषा चैव यशस्विनी ॥ १५ ॥
अलम्बुसा कुहूश्चैव शंखिनी दशमी स्मृता ।

आसां व्यापारमाह—

एताः प्राणवहाः प्रोक्ताः प्रधाना दश नाडयः ॥ १६ ॥

प्राणं प्राणनारूपं सामान्यं वक्ष्यमाणप्राणापानादिसंज्ञाभेदाद् दशविधं यथाक्रमं वहन्ति ॥ १६ ॥

वायूनां संज्ञाभेदमाह—

प्राणोऽपानः समानश्च उदानो व्यान एव च ।
नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो धनञ्जयः ॥ १७ ॥

मध्य में अर्थात् भीतर ॥ १३ ॥

उनमें से—

उन वायुओं और नाडियों की संज्ञायें और व्यापार को अब मुझसे जानो ॥ -१४ ॥

वृत्तीः अर्थात् व्यापारों को जानो ॥ १४ ॥

उनकी संज्ञाओं को बतलाते हैं—

इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना, गान्धारी, हस्तिजिह्वा, पूषा, यशस्विनी, अलम्बुसा, कुहू और शंखिनी ये दश (प्रधान नाड़ियाँ हैं) ॥ १५-१६- ॥

इनके व्यापार को बतलाते हैं—

ये प्रधान दश नाडियाँ प्राणवहा कही गयी हैं ॥ -१६ ॥

(ये नाडियाँ) प्राण = प्राणनारूप सामान्य (वायु) को जो कि वक्ष्यमाण प्राण अपान आदि नाम के भेद से दश प्रकार के हैं उन प्राणों का क्रम से वाहन करती हैं ॥ १६ ॥

वायुओं के नामभेद को बतलाते हैं—

प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान, नाग, कूर्म, कृकर, देवदत्त और

एषां वृत्तिभेदम्—

'जल्पितं हसितं गीतं नृत्तं युद्धगतिः कलाः ।
शिल्पं च सर्वकर्माणि प्राणस्येदं विचेष्टितम् ॥' (७।३०६)

इत्यादिना पटलान्ते वितत्य वक्ष्यति ॥ १७ ॥

एते च—

वायवो नाडयश्चैव चक्रवत् संस्थिताः प्रिये ।

नाभिमध्यं परिवृत्येत्यर्थः ॥

तासु सञ्चरतः सिद्धिं योगं चैव वरानने ॥ १८ ॥

सञ्चरतीति सञ्चरन् तं वायुमधिष्ठाय, तत्तदुचितां सिद्धिं चित्तैकाग्र्येण योगं च प्राप्नुयात् ॥

जपतश्च वरारोहे जपसिद्धिमवाप्नुयात् ।

तासु सञ्चरतः इत्यनुवर्तते । जपाज्जपतः ॥

धनञ्जय (उनके नाम हैं) ॥ १७ ॥

इनके भिन्न-भिन्न व्यापार को—

'बोलना, हँसना, गाना, नाचना, युद्धगति, कला, शिल्प और सभी कर्म प्राण के व्यापार हैं ॥' (७।३०६)

इत्यादि के द्वारा इस पटल के अन्त में विस्तार से कहा जायेगा ॥ १७ ॥

और ये—

हे प्रिये! ये वायु और नाडियाँ (शरीर में) चक्र की भाँति स्थित बतलायी गयी हैं ॥ १८- ॥

ये नाभि के मध्य में परिवृत्ति (= घेरा) बनाकर स्थित हैं ॥

हे वरानने! उनमें सञ्चरण करने वाले (वायु को अधिष्ठित कर) साधक योग और सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ -१८ ॥

साधक सञ्चरण करने वाले उस वायु को अधिष्ठित (= अपने अधिकार में) कर चित्त के एकाग्र होने से तत्तत् उचित सिद्धि एवं योग को प्राप्त करता है ॥

हे वरारोहे! जप करने से साधक जप की सिद्धि प्राप्त कर लेता है ॥ १९- ॥

उन (नाडियों) में सञ्चरण करने वाले (वायु को अधिष्ठित कर) इसको पूर्व श्लोक से यहाँ अनुवृत्त करना चाहिये ॥

आसामपि—

दशानां तु परं देवि नाडीत्रयमुदाहृतम् ॥ १९ ॥
बिन्दुनादात्मके द्वे वै मध्ये शक्त्यात्मिका स्मृता ।

बिन्दुर्ज्ञानशक्तिप्रधानः प्राणस्तदात्मिका पिङ्गला दक्षनाडी । नादः क्रियाशक्तिप्रधानोऽपानस्तदात्मिका इडा वामनाडी । तयोर्मध्ये सुषुम्नाख्या परेच्छाशक्तिस्फुरत्तारूपा ॥ १९ ॥

तिस्र एताः—

हृच्चक्रे तु समाख्याताः साधकानां हितावहाः ॥ २० ॥

हृत्पद्ममध्यकर्णिकायां सम्यगनुप्रवेशेन आ समन्तात् ख्याताः सत्यः साधकानां त्रिविधसिद्धिप्रदाः ॥ २० ॥

एवं स्थिते—

इनमें भी—

हे देवि ! इन दश नाडियों में भी तीन नाडियाँ पर (= मुख्य) मानी गयी हैं । (उन तीनों में से) दो बिन्दु और नाद स्वरूप हैं जबकि मध्यवर्त्तिनी शक्तिस्वरूपा मानी गयी है ॥ -१९-२०- ॥

बिन्दु = प्राण, जिसमें (परमेश्वर की) ज्ञानशक्ति मुख्य है । यह प्राण स्वरूप पिङ्गला दक्ष नाडी है अर्थात् (रीढ की हड्डी के समानान्तर 'दायीं' ओर चलने वाली पिङ्गला नाड़ी नाक के दायें छिद्र में आकर समाप्त हो जाती है) । नाद = अपान जिसमें (परमेश्वर की) क्रियाशक्ति की प्रधानता है वह अपान वायु । यह अपान स्वरूप इडा वाम नाड़ी है (जो कि रीढ़ की हड्डी के समानान्तर बायीं ओर चलने वाली है और नाक के बायें छिद्र में आकर समाप्त हो जाती है) । इन दोनों (= पिङ्गला और इडा के बीच में सुषुम्ना नामक नाडी है जो परमेश्वर की इच्छाशक्ति की स्फुरत्ता रूपा है) तथा (रीढ़ की हड्डी के भीतर-भीतर चल कर मस्तक के पास आकर दो भागों में विभक्त हो जाती है । उनमें १ भाग दोनों भौहों के बीच स्थित आज्ञाचक्र में तथा दूसरा सहस्रार में जाकर समाप्त होता है) ॥ १९ ॥

ये तीनों नाड़ियाँ—

हृदयचक्र में प्रविष्ट होकर साधकों का हित करती हैं ॥ -२० ॥

(ये नाडियाँ) हृदयकमल की मध्यकर्णिका में भली-भाँति प्रविष्ट होने पर साधकों को त्रिविध (= दैहिक दैविक भौतिक अथवा भूर्लोक भुवर्लोक और स्वर्लोक की) सिद्धि देती हैं ॥ २० ॥

इस स्थिति में—

प्राणो वै चरते तासु अहोरात्रविभागतः ।

प्राणः प्राणनात्मा सामान्यरूपः । अहोरात्रशब्दः पक्षमासाब्दोपलक्षकः ॥

यथा—

तथा ते कथयिष्यामि प्रविभज्य यथास्फुटम् ॥ २१ ॥

अत्र पीठिकाबन्धं तावत् करोति—

प्रभुशक्तिसमाकृष्टा मरुत्प्राणात्मसंस्थिताः ।
त्रय एतेऽविभागेन सञ्चरन्ते समन्ततः ॥ २२ ॥

मरुत् प्राणनात्मा सामान्यः, प्राणस्तु दक्षवाममध्यादिवाही प्राणापानोदानाद्याख्याविशिष्टः, आत्मा संकुचितचिदात्मा । तद्रूपतया संस्थितास्त्रय एते पदार्थाः, प्रभोः शिवस्य, शक्त्या समाकृष्टा इति शून्यपदावभासपुरःसरं प्राणनाभूमिमुल्लास्य प्राणापानादिविशेषपदवीमुट्टङ्क्य भोगसांमुख्येन प्रवर्तिताः, अविभागेन सञ्चरन्ते नानादेहभूमीः श्रयन्ति ॥ २२ ॥

त्रिष्वेषु मध्ये यो मरुदुक्तः, सः—

उन (= तीनो नाडियों) में प्राण दिन रात का विभाग कर चलता रहता है ॥ २१- ॥

प्राण = प्राणनरूप समान्य वायु । (श्लोक में उक्त) 'अहोरात्र' शब्द पक्ष मास और वर्ष का भी सङ्केतक है ॥

यह (जिस प्रकार सञ्चरण करता है) ।

वह मैं तुमको पृथक्-पृथक् कर स्फुटरूप से बताऊँगा ॥ -२१ ॥

इस विषय में भूमिका रचते हैं—

मरुत् अर्थात् सामान्य वायु, प्राण एवं आत्मा के रूप में संस्थित ये तीनों (= मरुत् आदि) परमेश्वर की शक्ति से आकृष्ट होकर (शरीर में चारो ओर) एक साथ सञ्चरण करते हैं ॥ २२ ॥

मरुत् = प्राणन रूप सामान्य वायु । प्राण = दाँयीं बाँयीं और मध्य आदि नाड़ियों में प्रवाहित होने वाला प्राण अपान उदान आदि नाम वाला । तथा आत्मा = संकुचित चित्स्वरूप (परमेश्वर), उस रूप में स्थित ये तीनों पदार्थ (= मरुत् आदि) प्रभु = शिव, की शक्ति से आकृष्ट होकर शून्यपद का अवभास करने के बाद प्राणना भूमि को उल्लासित कर, प्राण अपान आदि विशेष नाम धारण कर, (प्राणियों के जन्मान्तरीण) भोग के उपस्थित होने पर (उक्त शक्ति के द्वारा) प्रवृत्त कराये जाते हैं । फलतः अविभागेन (= परस्पर मिलकर), सञ्चरण करते हैं = अनेक शरीर धारण करते हैं अर्थात् इसे सक्रिय रखते हैं ॥ २२ ॥

अथ ऊर्ध्वं वहेद्यस्मात् सर्वनाडीः प्रवाहयन् ।

ततोऽस्य—

वृत्तिसंज्ञाप्रभेदेन वर्णरूपाण्यनेकधा ॥ २३ ॥

वृत्तिर्बहिर्वहनान्तर्वहनादिव्यापारस्ततो यः प्राणापानसमानादिसंज्ञाभेदस्तेन, द्वादशषोडशादिस्वरभेदभिन्नास्तद्गर्भीकृतव्यञ्जनात्मानश्च वर्णाः, तत्तदनुभवात्मकानि च रूपाणि, अनेकधा भवन्ति । अत्र चागमान्तरोक्त्या गर्भीकृतव्यञ्जनः स्वरोदयरूपः पञ्चाशद्वर्णोदयात्मा अष्टवर्गोदयस्वरूपो वा वर्णोदयोऽस्ति । स त्विह नोक्तः केवलं वर्णशब्देन सूचितः ॥ २३ ॥

तदत्र—

द्वासप्ततिसहस्रेभ्यो जायन्ते दश वै प्रिये ।

ये दश प्राणादयस्ते द्वासप्ततिसहस्रेभ्यो द्वासप्ततिसहस्रनिमित्तं जायन्ते, तत्प्रपञ्चव्याप्तिं श्रयन्तीत्यर्थः ॥

उक्त तीनों पदार्थों में से जो वायु कहा गया है वह—

चूँकि सभी नाड़ियों को प्रवाहित करता हुआ शरीर में ऊपर नीचे बहता रहता है ॥ २३- ॥

इस कारण इसके—

वृत्तिसंज्ञा के भेद से अनेक प्रकार के वर्णरूप होते हैं (अर्थात् यह अनेक वर्णों का रूप धारण करता है) ॥ -२३ ॥

वृत्ति = बाहर और भीतर प्रवाहरूप व्यापार । उस व्यापार के कारण उसका जो प्राण अपान समान आदि नाम भेद, उसके द्वारा बारह (= अ आ इ ई उ ऊ ए ऐ ओ औ अं अः), सोलह (= अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ ए ऐ ओ औ अं अः) स्वर भेद वाले तथा उन स्वरों को अपने अन्दर रखने वाले व्यञ्जन वर्ण, उन वर्णों के अनुभवात्मक रूप अनेक प्रकार के होते हैं । इस विषय में दूसरे आगमों का वचन है कि यह वायु व्यञ्जन को गर्भ में रखने वाला स्वरोदयरूप है जिससे (आदि क्षान्त) ५० वर्णों का अथवा अष्ट वर्ग (= अवर्ग, कवर्ग, चवर्ग, टवर्ग, तवर्ग, पवर्ग, यवर्ग और शवर्ग) का उदय होता है । यह वर्गीकरण यहाँ अक्षरशः नहीं कहा गया । केवल 'वर्ण' शब्द से उसका सङ्केत किया गया ॥ २३ ॥

वह यहाँ —

हे प्रिये ! ये दश (वायु) बहत्तर हजार नाडियों हेतु होते हैं ॥ २४- ॥

जो प्राण आदि दश प्रकार के वायु हैं वे ७२००० नाड़ियों के कारण बनते हैं अर्थात् उनके विस्तार में व्याप्त रहते हैं (अर्थात् इनके कारण वे नाड़ियाँ सजीव

ततोऽपि प्रागुक्ताध्युष्टकोट्यात्मतां प्राणः श्रयतीत्याह—

कोटिधातो वरारोहे स एकः संव्यवस्थितः ॥ २४ ॥

स च—

प्राणापानमयः प्राणो विसर्गापूरणं प्रति ।

'हकारस्तु स्मृतः प्राणः' (४।२५७)

इति यः पूर्वमेवाशेषवाच्यवाचकाविभागविमर्शमयो हलाकृतिः प्राण उक्तः, स एव स्वातन्त्र्यावभासितसङ्कोचावभासपुरःसरं निर्णीतावरोहक्रमेण प्रकृतं रूपं यस्य प्राणनरूपस्य सामान्यप्राणस्यः, स विसर्गापूरणं प्रतीति सर्वैरेव सुषिरमार्गाद् बहिस्तत्तद्भावावभाससृष्टिरूपविसर्गार्थं तदवभासपुरःसरं प्रवेशयुक्त्या तदाहरणेनान्तरापूरणार्थं प्रकर्षेण अनिनाद् ध्वननादर्थजिघृक्षाग्रहणविश्रान्तिदशोचिताद्विमर्शात् प्राण इत्यर्थः ॥

एतदेव स्फुटयति—

और सक्रिय रहती हैं) ॥

तो भी प्राण पूर्वोक्त कोटि रूप वाला रहता ही है—यह कहते हैं—

हे वरारोहे ! इस कारण एक ही वह प्राण करोड़ों रूपों में स्थित है ॥ -२४ ॥

और वह—

प्राण विसर्ग एवं आपूरण के प्रति प्राण और अपान वाला हो जाता है ॥ २५- ॥

'हकार को प्राण कहा गया है ।' (४।२५७)

इस वाक्य से पहले जो समस्त वाच्यवाचक के अविभाग रूप विमर्श वाला तथा हल् की आकृति वाला प्राण कहा गया है वही अपने स्वातन्त्र्य के कारण पहले सङ्कोच के अवभास को आभासित करता है । बाद में पूर्व कथित अवरोह के क्रम से वह प्राणना रूप सामान्य प्राणन करता है । विसर्ग और आपूरण के प्रति—सब लोग सुषिर (= छिद्र) के रास्ते से तत्तद् भावों की अवभासनात्मक सृष्टि रूप विसर्ग के लिये बाहर जाता है । (यह गमन् 'ह' के रूप में होता है) । इसके बाद सृष्टि का अवभास करने के अनन्तर प्रवेश की युक्ति से उन (= बाह्यावभासों) का आहरण अर्थात् (शरीर के) अन्दर आपूरण के लिये अर्थ के ग्रहण करने की इच्छा के ग्रहणरूप विश्रान्ति दशा को प्राप्त होता है । (यह आपूरण 'स' के रूप में होता है) । ('प्राण' शब्द का अर्थ है—जो) प्रकर्षेण = उत्तम रीति से, अनन = ध्वनन करे ॥

नित्यमापूरयन्नेव प्राणिनामुरसि स्थितः ॥ २५ ॥
प्राणनं कुरुते यस्मात् तस्मात् प्राणः प्रकीर्तितः ।

सर्वदेहगतोऽप्ययं प्राणिनामुरसि स्फुटमुपलभ्यमानत्वेनावस्थितो नित्यमापूरयन्, अर्थात् प्राणिनोऽर्थांश्च प्रवेशनिर्गमाभ्यां प्राणनं विमर्शमयं जीवनं कुरुते, तस्मादयं प्राण उक्तः ॥ २५ ॥

यदर्थमियान् पीठिकाबन्धः कृतस्तदेवानुबध्नन्नाह—

अहोरात्रगतिं प्राणे अधुना कथयमि ते ॥ २६ ॥

गतिं ज्ञप्तिं प्रसरणं च ॥

तत्र—

तुटयः षोडश प्राणे पूर्वं हि कथिता मया ।
बाह्येनैव तु कालेन ते लवाः परिकीर्तिताः ॥ २७ ॥

याः पूर्वं चतुर्थपटले सपादद्व्यङ्गुलोदयपरिमाणाः षोडश तुटय उक्ता ताः—

'मानुषाक्षिनिमेषस्य अष्टमांशः क्षणः स्मृतः ।

इसी को स्पष्ट करते हैं—

नित्य आपूरण करता हुआ यह प्राणियों के हृदय में रहता है । चूँकि यह प्राणन करता है इसलिये इसको प्राण कहा गया है ॥ -२५-२६- ॥

यद्यपि यह प्राण सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त है तो भी हृदय में स्पष्ट रूप से उपलब्ध होता है । यह प्राण नित्य आपूरण करता है अर्थात् अपने प्रवेश और निर्गम के द्वारा प्राणियों और पदार्थों का प्राणन अर्थात् विमर्शमय जीवन सम्पादित करता है । इस कारण यह प्राण कहलाता है ॥ २५ ॥

जिसके लिये इतनी बड़ी भूमिका बाँधी उसका प्रारम्भ करते हुए कह रहे हैं—

अब मैं प्राण में अहोरात्र की गति को बतलाता हूँ ॥ -२६ ॥

गति = ज्ञान और प्रसार ॥

वहाँ—

मैंने पहले कहा है कि प्राण में सोलह तुटियाँ होती हैं । बाह्य काल की दृष्टि से वे लव कहे गये हैं ॥ २७ ॥

पहले चतुर्थ पटल में सवा दो अंगुल उदय के परिमाण वाली सोलह तुटियाँ कही गयी हैं वे—

'मनुष्य की आँख की पलक गिरने के काल का आठवाँ भाग क्षण कहा गया

क्षणद्वयं तुटिर्ज्ञेया तद्द्वयं तु लवः स्मृतः ॥' (११।२०१)

इत्येकादशपटलवक्ष्यमाणेन बाह्येन कालेन ते लवा लवशब्दाख्याः कालावयवाः । एवं च प्राणीया तुटिर्बाह्यतुटिश्चान्यैव, न तु शब्दसाम्यादत्र भ्रमितव्यम् । प्राणीया तुटिर्बाह्यो लवः, बाह्या तुटिः प्राणीयं तुट्यर्धं पर्यवस्यति । इत्थं च बाह्यः क्षणः प्राणीयतुटेस्तुर्योऽशः, इति मन्तव्यम् । अनेनैव च क्रमेण आन्तरप्राणापानोदयरूपो यः सन्ध्याकालं विना त्रिंशत्तुटिकोऽहोरात्रः, स एव—

'लवद्वयं निमेषस्तु ज्ञातव्यो गणितक्रमात् ।
दश पञ्च निमेषास्तु काष्ठा चैव प्रकीर्तिता ॥' (११।२०२)

इत्येकादशपटलव्यवस्थयैव काष्ठाभिधानः कालावयवः । यदिहैवाग्रे वक्ष्यति—

'आध्यात्मिकाहोरात्रेण बाह्ये काष्ठा विधीयते' (७।५०)

इति ॥ २७ ॥

इह तु—

ताभिश्चतसृभिर्देवि प्राणे यामो विधीयते ।

है । २ क्षण की एक तुटि होती है और उस (= तुटि) का दो गुना अर्थात् २ तुटि का एक लव होता है ।' (११।२०१)

ग्यारहवें पटल में वक्ष्यमाण बाह्य काल की दृष्टि से वे 'लव' अर्थात् लवशब्द नामक कालखण्ड हैं । इस प्रकार प्राण की तुटि और बाह्य तुटि अलग-अलग है । 'तुटि' शब्द के समान होने से यहाँ भ्रान्त नहीं होना चाहिये (= दोनों का परिमाण एक नहीं समझना चाहिये) । तात्पर्य यह है कि प्राण की एक तुटि बाह्य एक लव है, और बाह्य तुटि प्राण की आधी तुटि है । इस प्रकार बाह्य क्षण प्राणीय तुटि का चतुर्थांश है—यह समझना चाहिये । इसी क्रम से शरीर के अन्दर प्राण और अपान का उदयरूप जो सन्ध्याकालरहित तथा ३० तुटि वाला अहोरात्र है वही—

'गणित के क्रम से दो लव का एक निमेष समझना चाहिये । दश पञ्च (= १०×५ = ५०) निमेष की एक काष्ठा कही गयी है ।' (११।२०२)

ग्यारहवें पटल की इस व्यवस्था से काष्ठा नामक कालखण्ड होता है । जो कि इसी पटल में आगे कहेंगे—

'आध्यात्मिक अहोरात्र से बाह्य जगत् में काष्ठा का विधान होता है' ॥ २७ ॥ (७।५०)

यहाँ—

हे देवि ! उन चार (तुटियों) के द्वारा प्राण में याम (= प्रहर) का विधान होता है ॥ २८- ॥

ताभिरिति तुटिभिः, बहिर्वदन्तरपि दिनचतुर्भागो यामः प्रहरः ॥

तैरेव प्रहरैर्देवि चतुर्भिस्तु दिनं भवेत् ॥ २८ ॥

एवं निर्गमक्रमवत् प्रवेशक्रमेणापि तथैव–

रात्रिश्चतुर्भिर्विज्ञेया..............

तदित्थं सङ्कलय्य–

..............अहोरात्रस्त्वतोऽष्टभिः ।

पारमेशशक्तिनियमितसूर्योदयादिस्थित्या यथा बहिर्दिननिशाविभागः, तथान्तरपि प्राणसूर्योदयादिस्थित्या योगिनः प्रतिदिनादिसाध्यकार्यविवक्षया, इत्युक्तप्रायम् ॥

यथास्य प्राणस्य बहिरन्तर्वाहितानैयत्यम्, तथोपपादयति–

शिवो धर्मेण हंसस्तु सूर्यो हंसः प्रभान्वितः ॥ २९ ॥
आत्मा वै हंस इत्युक्तः प्राणो हंससमन्वितः ।

उनसे तुटियों के द्वारा । बाहर की भाँति अन्दर भी दिन का चौथाई भाग याम = प्रहर होता है ॥

हे देवि ! उन्हीं चार प्रहरों से दिन होता है ॥ -२८ ॥

(प्राण के) निर्गमक्रम की भाँति प्रवेश के क्रम से भी उसी प्रकार–

चार (प्रहरों) से रात्रि समझनी चाहिये ॥ २९- ॥

तो इस प्रकार कुल मिलाकर–

आठ (प्रहरों) से एक अहोरात्र होता है ॥ -२९- ॥

जिस प्रकार परमेश्वर की शक्ति से नियमित सूर्योदय आदि की स्थिति से बाहरी दिन और रात्रि का विभाग होता है उसी प्रकार योगी के शरीर के अन्दर प्राणरूपी सूर्य के उदय आदि की स्थिति से (उसका) प्रतिदिन आदि (= प्रतिमास प्रतिवर्ष) साध्यकार्य की विवक्षा से (रात्रि दिन होता है–) यह प्रायः उक्त है । (अर्थात् योगी के प्राण के उदय और अस्त से दिन रात्रि पक्ष मास वर्ष आदि होते हैं) ॥

जिस प्रकार इस (= योगी) के प्राण का बहिः एवं आभ्यन्तर प्रवाह निश्चित होता है उस प्रकार उपपादन करते हैं–

शिव अपने (स्वातन्त्र्यरूपी) धर्म के कारण 'हंस' कहा जाता है (हन्ति = गच्छति = साधयति सृष्टिसंहारादीन्, इति हंसः = शिवः) प्रभा (= प्रकाश) से युक्त सूर्य भी हंस है । (शिवधर्मी) आत्मा भी (सृष्टि आदि करने के कारण) हंस है और उस हंस (= आत्मा) से समन्वित प्राण भी हंस है ॥ -२९-३०- ॥

यः पूर्वं चिदानन्दघनः शिव उक्तः, स धर्मेण स्वातन्त्र्यात्मना स्वभावेन, हंस इति हानसमादानधर्मा विश्वसर्गसंहारकारी, शिवत्वादेव पञ्चविधं कृत्यं हानसमादानसतत्त्वं करोति । यथा चासौ, तथा तदीयज्ञानशक्तिमयः सूर्योऽपि, प्रभया प्रकाशेन, अन्वितः सन् रसविसर्गादानक्रमेण हानसमादानधर्मा हंसः । यतश्च निर्णीतनीत्या शिव एव स्वातन्त्र्यावभासितसंकुचितचिद्रूप आत्मा, ततः सोऽपि करणोन्मीलननिमीलनादिक्रमेण हानसमादानधर्मा हंस इत्युक्त इति ।

'अनेनैव तु योगेन हंसः पुरुष' (४।२६०)

इत्यत्र योजनिकाग्रन्थे इत्थं स एव प्राणः प्राणभूमिकामाश्रितोऽपि बहिरन्तश्च हानसमादाने कुर्वन् हंस एव । यतः स एवायं सूर्य आत्मा प्राणश्च हंसेन अनाहतात्मकनिष्कलभट्टारकेण शिवरूपेण सम्यगन्वितः । स एव ह्यवरोहक्रमेण प्राणान्तं पदमाश्रित्य बहिरन्तर्गमागमौ कुर्वन् सर्गसंहारकृत् । अत एवैतत्पदपरिशीलनाभ्यासेनैव झगिति परमशिवतामाविशन्ति महायोगिनः । प्रसङ्गादत्र रहस्यार्थः कटाक्षितः ॥ २९ ॥

प्रकृतं तु–

जो पहले चिदानन्दघन शिव कहे गये हैं वह अपने धर्म = स्वातन्त्र्य रूप स्वभाव, के कारण हंस अर्थात् त्याग और ग्रहण धर्म वाले तथा विश्व की सृष्टि एवं संहार करने वाले हैं । वह शिव होने के कारण ही हान समादान रूप पञ्चविध कृत्य करते रहते हैं । जिस प्रकार यह शिव उसी प्रकार इस शिव की ज्ञानशक्ति से सम्पन्न सूर्य भी प्रभा = प्रकाश, से अन्वित (= युक्त) हुआ रस (= जल) के त्याग एवं आदान के क्रम से हानसमादानधर्म वाला होने के कारण हंस है । चूँकि पूर्वोक्त नीति के अनुसार शिव ही अपने स्वातन्त्र्य के कारण अपने संकुचित चित्स्वरूप का अवभासन करता है इसलिये वह भी इन्द्रियों के उन्मीलन निमीलन आदि के क्रम से हानसमादानधर्म वाला हंस कहा जाता है ।

'इसी योग से पुरुष भी हंस कहलाता है ।' (४।२६०)

इस योजनिका दीक्षा के प्रकरण में वही (= आत्मा) प्राण अर्थात् प्राणभूमिका को स्वीकार कर बाहर और अन्दर हान और समादान करता हुआ हंस ही (कहा जाता) है । क्योंकि वही सूर्य आत्मा और प्राण, हंस = शिवस्वरूप अनाहतनाद वाले निष्कल भट्टारक से भली-भाँति युक्त है । वही (= निष्कल भट्टारक) अवरोह के क्रम से प्राणान्त पद को प्राप्त कर बाहर और भीतर गमनागमन करता हुआ सृष्टि और संहारका कर्त्ता होता है । इसलिये इस पद के परिशीलन के अभ्यास से महायोगी लोग झट से परमशिवसमावेश वाले हो जाते हैं । प्रसङ्गतः उपस्थित होने के कारण यहाँ रहस्यार्थ का सङ्केत किया गया ॥ २९ ॥

प्रस्तुत विश्व तो–

तस्योदयात् कलेत् कालः.........

तस्य प्राणस्य, उदयात् प्रभृति जन्मादिविकारषट्कक्रमेण, कालो भूतवर्तमानादिभेदेन वहन् विश्वं जगत् कलयति । कलेत् इत्यैशः पाठः ॥

अत्र चोक्ताहोरात्ररूपे प्राणचारे—

...............ग्रहाणामुद्गमो भवेत् ॥ ३० ॥

स चादूर एव व्यक्तीभविष्यति ॥

किं च—

ऋक्षाणि राशयश्चैव तारास्त्वंशास्तथैव च ।
प्राणे वै उदयन्त्येते अहोरात्रेण सुव्रते ॥ ३१ ॥

बाह्यदिनगतनक्षत्रानुसारं प्राथम्यं परिकल्प्य, प्राणापानवाहे सप्तविंशतिधा विभक्ते प्रमाणे, अश्विन्यादिनक्षत्राणां तदधिष्ठातॄणां मेषादिराशीनामनुकूलाननुकूलजन्मादिताराणां त्रिभागनवभागादिकलनया च राश्यंशानां बाह्य इव प्राणीयेऽप्यहोरात्रोदयोऽस्ति ॥ ३१ ॥

अथ—

उसके उदय से काल प्रकृत (प्रस्तुत दृश्यमान विश्व) की रचना करता है ॥ -३०- ॥

उसके = प्राण के । उदय से लेकर जन्म आदि (सत्ता, वृद्धि, परिणाम, अपक्षय, नाश) के क्रम से काल भूतवर्त्तमान आदि भेद से प्रवाहित होता हुआ विश्व = संसार की कलना (= रचना) करता है ॥

यहाँ उक्त अहोरात्ररूप प्राणचार में—

ग्रहों का उदय होता है ॥ -३० ॥

इस विषय को निकट ही (आगे आने वाले श्लोकों में) स्पष्ट करेंगे ॥

और भी—

हे सुव्रते ! नक्षत्र, राशियाँ, तारायें, अंश ये सब अहोरात्र के द्वारा प्राण में भी उदित होते हैं ॥ ३१ ॥

बाह्य दिन में स्थित नक्षत्र के अनुसार प्राथमिकता की परिकल्पना कर प्राणवाह और अपानवाह वाले प्रमाण के सत्ताईस भाग किये जाने पर अश्विनी आदि (= भरणी कृत्तिका आदि सत्ताईस नक्षत्रों), उनकी अधिष्ठात्री मेष आदि (= वृष मिथुन आदि बारह) राशियों, अनुकूल अननुकूल जन्म आदि ताराओं तथा त्रिभाग नवभाग आदि की गणना से राश्यंशों का जैसे बाहरी (जगत्) में अहोरात्र का उदय होता है, उसी प्रकार प्राणीय (जगत्) में भी अहोरात्र का उदय होता है ॥ ३१ ॥

अहोरात्रोदयस्यैव विभागं कथयामि ते ।
हृदयोर्ध्वे तु कण्ठाधो यावद्वै प्रवहेत् प्रिये ॥ ३२ ॥
अङ्गुलेन विहीने तु प्रथमः प्रहरः स्मृतः ।

'तुटिभिश्चतसृभिर्यामः' इति यत् प्रागुक्तम्, तत्तुटिचतुष्टयवाहिकालापेक्षम् । इदं तु देशापेक्षमिति न पौनरुक्त्यम् । हृदयात् कण्ठान्तं पूर्वं दशांगुलमेकांगुलहान्या नवांगुलं भवति ॥ ३२ ॥

ततोऽपि—

द्वितीय ऊर्ध्वे विज्ञेयो मध्याह्नस्तालुमध्यतः ॥ ३३ ॥

अत्रापि नवांगुलतैव, यो द्वितीयः स एव तालुमध्ये मध्याह्नः ॥ ३३ ॥

अत्र विश्रान्तस्यानुष्ठानफलमाह—

अत्र होमो जपो ध्यानं कृतं वै मोक्षदं भवेत् ।

अथ—

अब—

तुमको अहोरात्र का (दश अंगुल में से) ही विभाग बतला रहा हूँ । हे प्रिये! हृदय के ऊपर और कण्ठ के नीचे तक एक अंगुलरहित (= अर्थात् नव अंगुल) स्थान में प्राण जो प्रवहण करता है वह प्रथम प्रहर माना गया है ॥ ३२-३३- ॥

'चार तुटियों का एक याम होता है'—ऐसा जो पहले कहा गया वह चार तुटियों में प्रवाहित होने वाले काल की दृष्टि से कहा गया । और यहाँ जो कहा गया वह देश (= स्थान) की दृष्टि से; इसलिये पौनरुक्त्य दोष नहीं है । हृदय से लेकर कण्ठ तक दश अंगुल (स्थान) है, एक अंगुल कम होने से यह नव अंगुल वाला हो जाता है ॥ ३२ ॥

उससे भी—

ऊर्ध्व में जो दूसरा भाग है उसे मध्याह्न समझना चाहिये । यह तालु के मध्य में होता है ॥ -३३ ॥

यहाँ भी नव अंगुल का ही विस्तार है । जो दूसरा भाग है वह मध्याह्न है । उसे तालु के मध्य में जानना चाहिये ॥ ३३ ॥

यहाँ विश्राम करने वाले (योगी के द्वारा किये जाने वाले) अनुष्ठान का फल बतलाते हैं—

यहाँ पर किया गया जप होम ध्यान मोक्षप्रद होता है ॥ ३४- ॥

इसके बाद—

नासाग्र्यत्र्यंगुलोर्ध्वे तु यावत् प्राप्तस्तु सुव्रते ॥ ३४ ॥
प्रहरस्तु तृतीयोऽसौ भवेद् वै वरवर्णिनि ।

नासाग्रयस्य भ्रूमध्यस्य, त्र्यंगुलमूर्ध्वं ललाटम्, आकण्ठं चतुरंगुलात्तालुनो भ्रूमध्यं द्व्यंगुलमिति तदूर्ध्वं त्र्यंगुलमुक्तम् ॥ ३४ ॥

तदुपरि—

शक्त्यन्ते च चतुर्थस्तु प्रहरः.......

शक्त्यन्ते द्वादशान्ते ॥

एतावदन्तम्—

.................अहः प्रकीर्तितम् ॥ ३५ ॥

आन्तरम् ॥ ३५ ॥

तत्र च—

चतुर्थान्ते तु देवेशि प्राणसूर्यः सदास्तगः ।

सदा इति यदा यदा चतुर्थप्रहरस्यान्तो भवति, तदा प्राण एव अहोरात्र-

---

हे सुव्रते ! नासिका के अग्रभाग के तीन अंगुल ऊपर तक प्राप्त जो देश है, हे वरवर्णिनि ! वह तीसरा प्रहर होता है ॥ -३४-३५- ॥

नासिका के अग्र भाग = दोनों भौहों के बीच से तीन अंगुल ऊपर ललाट है । कण्ठ से चार अंगुल ऊपर वर्त्तमान तालु से दो अंगुल ऊपर भ्रूमध्य है, उसके तीन अंगुल ऊपर (तीसरा प्रहर) कहा गया है ॥ ३४ ॥

उसके ऊपर—

शक्तिपर्यन्त अर्थात् ऊर्ध्व द्वादशान्त तक चौथा प्रहर होता है ॥-३५-॥

शक्त्यन्ते = ऊर्ध्व द्वादशान्त तक ॥

यहाँ तक—

दिन कहा गया है ॥ -३५ ॥

(यह दिन) आन्तर (अर्थात् शरीर के अन्दर होता है) ॥ ३५ ॥

और वहाँ—

हे देवेशि ! उस चतुर्थ भाग के अन्त में प्राणरूपी सूर्य सदा अस्तगामी हो जाता है ॥ ३६- ॥

सदा जब-जब चतुर्थ प्रहर का अन्त होता है तब-तब प्राणरूपी सूर्य, जो कि

विभागहेतुत्वात् सूर्योऽस्तमेति ॥

किं च—

ततोऽस्तमयसन्ध्यात्र तुट्यर्धं तु भवेत् प्रिये ॥ ३६ ॥

तत इति तं चतुर्थान्तमवलम्ब्य, प्राणनिविवृत्सापानोल्लिलसिषासामरस्यात्मतया गुणीभूतवाहत्वेनोन्मज्जच्छक्तितद्वत्प्रकाशावेशविश्रान्तिरूपार्धतुटिकला अस्तमय-संध्या ॥ ३६ ॥

अत्र च सन्ध्यायां प्राणसूर्यः—

तत्कालं तु विलम्ब्यैवं पुनश्चाधः प्रवर्तते ।

तत्कालं तुट्यर्धम्, संघट्टपदे विश्रम्य, एवम् इत्यारोहक्रमेणैव, पुनश्च इति पुनःपुनः, अधः प्रवर्तते अपानचन्द्रीभूय हृदन्तमवरोहति ॥

तदाह—

स च चन्द्रोदयो देवि रजनी च विधीयते ॥ ३७ ॥

सूर्य एव प्रभासंक्रमणयुक्त्या चन्द्र इति कालज्ञाः ॥ ३७ ॥

अहोरात्रविभाग का कारण है, अस्त हो जाता है ॥

तथा—

हे प्रिये ! इसके बाद आधी तुटि की अस्तमय सन्ध्या होती है ॥-३६॥

उसके बाद = उस चतुर्थान्त का अवलम्बन कर । प्राण के निवृत्त एवं अपान के उल्लसित होने की इच्छा का सामरस्य रूप होने से प्राणवाह के गौण होने के कारण इस समय शक्ति का उन्मज्जन होता है और तद्वत् = (शक्तियुक्त) प्रकाश के आवेश की विश्रान्ति हो जाती है । यही अर्धतुटि कला है जिसे अस्तमयसन्ध्या कहते हैं ॥ ३६ ॥

इस सन्ध्या में प्राणसूर्य—

तत्काल रुक कर पुनः नीचे की ओर चलने लगता है ॥ ३७- ॥

तत्काल = आधी तुटि तक (प्राण और अपान के) सङ्घट्ट पद पर विश्राम कर, इस प्रकार = आरोह क्रम से ही पुनः पुनः नीचे की ओर जाता है = अपानरूपी चन्द्र बन कर हृदयपर्यन्त उतरने लगता है ॥

वह कहते हैं—

हे देवि ! वह चन्द्रोदय और रात हो जाते हैं ॥ -३७ ॥

सूर्य ही अपनी प्रभा के अन्यत्र संक्रमण के कारण चन्द्र होता है—ऐसा कालज्ञ

रात्रावपि प्रहरक्रमः प्राग्वन्नवांगुलस्थित्या अपानचन्द्रसञ्चारक्रमेणेत्यतिदिशति—

पूर्वोक्तक्रमयोगेन यामेष्वेवं चरत्यसौ ।

अत्र सन्ध्याविश्रान्त्यनन्तरं दिनचतुर्थप्रहरोदयस्थानान्तमाद्यः प्रहरः ॥

ततः—

तालुके चार्धरात्रस्तु पुनरेवं विधीयते ॥ ३८ ॥

पुनरेवम् इत्यवरोहक्रमेण नवांगुलस्थित्यैवेत्यर्थः । अत्र होमादि सिद्धिदमित्यर्थलब्धमेतत् । किं च—पुनरेवं विधीयत इति पुनरपि नवांगुलस्थित्या कण्ठाधोऽंगुलान्ते तृतीयो रात्रियाम इत्यर्थः ॥ ३८ ॥

ततोऽपि—

हृत्पद्मं तु यदा प्राप्तः प्रभातसमयस्तदा ।

तत्रापि—

तुट्यर्धं तु वरारोहे पूर्वसंध्या भवेत्ततः ॥ ३९ ॥

(= समय के ज्ञाता विद्वान्) लोग कहते हैं ॥ ३७ ॥

रात्रि में भी प्रहर का क्रम पूर्व की भाँति नव अंगुल की स्थिति से होता है । यह अपानरूपी चन्द्र के सञ्चार क्रम से होता है—यह बतलाते हैं—

इस प्रकार यह (= प्राणरूपी सूर्य) पूर्वोक्त क्रमयोग से प्रहरों में सञ्चरण करता है ॥ ३८- ॥

यहाँ सन्ध्या में विश्राम करने के बाद दिन के चतुर्थ प्रहर के उदयस्थान तक रात्रि का प्रथम प्रहर होता है (अर्थात् यहाँ क्रम उलट जाता है) ॥

इसके बाद—

पुनः इसी प्रकार तालु में आधी रात होती है ॥ -३८ ॥

फिर इसी प्रकार = अवरोहक्रम से नव अंगुल की स्थिति के अनुसार । इस समय में होम आदि सिद्धि देने वाला होता है—यह अर्थात् समझ लेना चाहिये । तथा—फिर इसी प्रकार विधान होता है अर्थात् फिर कण्ठ के नीचे नव अंगुल की स्थिति से तीसरा रात्रिप्रहर होता है ॥ ३८ ॥

इसके बाद—

जब (प्राणरूपी सूर्य अवरोहक्रम से) हृदय कमल को प्राप्त होता है तब (योगी के आन्तर) प्रभात का समय हो जाता है ॥ ३९- ॥

वहाँ भी—

हे वरारोहे ! इसके बाद वहाँ भी आधी तुटि की पूर्व सन्ध्या होती

एतत् पूर्ववद् व्याख्येयम् । पूर्वत्वमत्र संध्यायास्तदनन्तरं प्राणसूर्योदयात्मकदिनप्रारम्भात् ॥

यदाह—

तस्मात् समुदयश्चैव सूर्यस्य स भवेत् पुनः ।

सूर्यः प्राणः ॥

उदेत्य च—

पूर्ववत् क्रमयोगेन च चरेद्धि सदा शुभे ॥ ४० ॥

शुभे इत्यामन्त्रणम् ॥ ४० ॥

अत्रैव—

वासरे तु चरेत् सूर्यो धारायां सञ्चरेच्छशी ।

प्राण एव सूर्यः अपानस्तु चन्द्रः । अथ च सूर्य इन्द्रियवर्गो वासरे प्राणोदये चरति समुल्लस्य बाह्यं प्रकाशयति । धारायां निशायामपानोदये शशी मेयग्रामरूपः चरेत् प्रमाणप्रकाशमाविश्य प्रमात्रैकात्म्यमेति ॥

है ॥ -३९ ॥

इसकी व्याख्या पूर्व की भाँति कर लेनी चाहिये । यहाँ सन्ध्या की पूर्वता उस सन्ध्या के बाद प्राणसूर्योदय रूप दिन के प्रारम्भ के कारण समझनी चाहिये ॥

जैसा कि कहते हैं—

उसके बाद पुनः सूर्य का वही उदय होता है ॥ ४०- ॥

सूर्य = प्राण ॥

उदित होकर—

हे शुभे ! वह (= प्राणरूपी सूर्य) पूर्व की भाँति क्रम के अनुसार सञ्चरण करता है ॥ -४० ॥

शुभे! यह सम्बोधन आमन्त्रण अर्थ में है ॥ ४० ॥

यहीं पर—

दिन में सूर्य और धारा अर्थात् रात्रि में चन्द्रमा सञ्चरण करता है ॥ ४१- ॥

प्राण ही सूर्य हैं, अपान ही चन्द्र है । इसके अतिरिक्त सूर्य का अर्थ है—इन्द्रियसमूह । वह वासर = प्राण का उदय, होने पर सञ्चरण करता है = समुल्लासित होकर बाह्य जगत् को प्रकाशित करता है (= ज्ञान कराता है) । धारा =

तदित्थमहोरात्रमध्ये—

चन्द्रसूर्योदयो ह्येष मया ते परिकीर्तितः ॥ ४१ ॥

साधकानां सौम्येतरसिद्ध्यर्थमत्रैव मध्ये सूरोदयोक्तवद् ग्रहपञ्चकोदयक्रमं दर्शयति—

भौमाद्याश्च ग्रहा ह्येवं चरन्ति प्रविभागशः ।

यथा सदा बहिरन्तश्च दिननिशयोः सूर्यसोमौ चरतः, तथा सदैव पञ्चधा पञ्चधा विभक्तयोस्तयोः भौमाद्याः सौरान्ताः पञ्च विभागक्रमेण चरन्ति, तेन च क्रूरसौम्यसिद्ध्यंगं भवन्ति ॥

अथ बाह्यवेलावारानुसारमहनि निशायां चान्तरपि ग्रहसप्तकोदयं गारुडा-दिशास्त्रदृष्टन्यायेन दर्शयति—

प्राणे चाप्युदयन्त्येते प्रहरे प्रहरे प्रिये ॥ ४२ ॥
वेला वारो भवेद्यस्य स चरेत् प्रहरद्वयम् ।

यस्य ग्रहस्य बहिर्वारः, स प्रथमे प्रहरे बहिरिव अन्तरप्युदेति । ततो दिने

रात्रि, में अपान का उदय होने पर चन्द्रमा प्रमेयसमूह रूप होकर सञ्चरण करता है = प्रमाण रूपी प्रकाश में प्रवेश कर प्रमाता के साथ एकरूप हो जाता है ॥

तो इस प्रकार अहोरात्र के मध्य में—

मैंने चन्द्रमा और सूर्य का उदय तुमको बतलाया ॥ -४१ ॥

साधकों को सौम्य (= शुभ) और इतर (= अशुभ) सिद्धियों के लिये इसी बीच में सूर्योदय में उक्त की भाँति अन्य पाँच ग्रहों का उदयक्रम दिखलाते हैं—

भौम आदि ग्रह भी इसी प्रकार विभाग के अनुसार सञ्चरण करते हैं ॥ ४२- ॥

जिस प्रकार सूर्य और सोम दिन और रात में सदा बाहर और भीतर सञ्चरण करते रहते हैं उसी प्रकार सदैव पाँच-पाँच भाग में विभक्त उन दोनों (= दिन और रात्रि) में भौम से लेकर सौर (= शनि) तक (= भौम बुध, गुरु, शुक्र और शनि) ये पाँच ग्रह विभाग के क्रम से सञ्चरण करते रहते हैं । इससे वे क्रूर एवं सौम्य सिद्धि के अङ्ग बनते हैं ॥

अब बाह्य बेला और वार के अनुसार दिन और रात में (शरीर के) भीतर भी गारुड आदि शास्त्र में वर्णित न्याय से सात ग्रहों का उदय बतलाते हैं—

हे प्रिये ! ये सब एक-एक प्रहर के समय में प्राण में भी उदित होते हैं । जिस ग्रह की बेला और वार होता है वह पहले दो प्रहर में सञ्चरण करता है ॥ -४२-४३- ॥

षट्परिवर्तनक्रमेण अर्धेऽर्धे प्रहरे तदन्ये, यावदन्त्ये तद्दिनार्धप्रहरे स एव । तदुत्तरेष्वसरेषु क्रमेण पञ्चपरिवृत्तिक्रमेणान्ये, यावदन्त्ये तन्निशार्धप्रहरे स एव । एवमेकैकस्य ग्रहस्य दिनेऽर्धप्रहरं रात्रावर्धप्रहरं चोदयः । वारभागिनस्तु द्विगुणमिति स्थितेऽहोरात्रमेलनया वारभागिनः प्रहरद्वयम्, तदन्येषां तु प्रहरमुदयो भवति । तदुक्तं श्रीतोतुले—

'प्रहरार्धभुजः सर्वेऽहोरात्रं च चरन्ति ते ।' इति ।

जिस ग्रह का बाहर दिन रहता है वह बाहर की भाँति अन्दर भी प्रथम प्रहर में उदित होता है । उसके बाद दिन का तीन प्रहर बचता है । उस दिन में आधे-आधे प्रहर में शेष छः ग्रह परिवर्त्तन के क्रम से सञ्चरण करते हैं और रात्रि के अन्तिम अर्धप्रहर में भी वही (= दिन के प्रथम प्रहर का ग्रह) सञ्चरण करता है । इस प्रकार एक-एक ग्रह का दिन में आधा प्रहर और रात्रि में भी आधा प्रहर उदय होता है । वार वाला ग्रह दो गुना (अर्थात् एक प्रहर तक) सञ्चरण करता है । इस स्थिति में दिन और रात्रि के समय को मिला कर वारभागी ग्रह का सञ्चरण काल दो प्रहर का होता है और उससे भिन्न ग्रहों का एक प्रहर का उदय होता है । (निम्नलिखित तालिका से स्थिति स्पष्ट हो जायेगी । उदाहरण के लिये रविवार को लेते हैं—)

रविवार-दिनमान — ४ प्रहर

प्रहर	—	ग्रहसञ्चरणकाल (प्रहर)
प्रथम	—	रवि १ प्रहर
द्वितीय	—	सोम १/२ + भौम १/२ प्रहर
तृतीय	—	बुध १/२ + वृहस्पति १/२ प्रहर
चतुर्थ	—	शुक्र १/२ + शनि १/२ प्रहर

रविवार-रात्रिमान — ४ प्रहर

प्रहर	—	ग्रहसञ्चरणकाल (प्रहर)
प्रथम	—	रवि १ प्रहर
द्वितीय	—	सोम १/२ + भौम १/२ प्रहर
तृतीय	—	बुध १/२ + वृहस्पति १/२ प्रहर
चतुर्थ	—	शुक्र १/२ + शनि १/२ प्रहर

इस प्रकार दिन और रात्रि के सञ्चरण को मिला देने पर रवि का सञ्चरण काल १+१ = २ प्रहर और शेष ग्रहों का १/२+१/२ = १ प्रहर होता है । वही तोतुल शास्त्र में कहा गया—

'(दिन वाले ग्रह को छोड़कर शेष) सब ग्रह आधे प्रहर तक भोग करते हैं । और इस प्रकार वे दिन और रात में सञ्चरण करते हैं ।'

संहितासारेऽपि—

'णिसिवासर दुपहरेणा आभुञ्जन्ति गहपराहणा ।
जस्स दिनं से वारो विणिवत्तई रअणिव अणा ते ।
कमपरिवत्तेण दिणरतिं भुञ्जन्ति बाणपरिवत्ते ॥

इति ॥ ४२ ॥

अत्रैव मध्ये—

राहुश्चरति सोमेन केतुश्चरति भास्वता ॥ ४३ ॥

सहेत्यर्थः । तेन तच्चार एव तयोश्चारः । न तु ग्रहान्तरवद् व्यतिरिक्तः ॥४३॥

किं च—

ये ग्रहास्ते च वै नागा लोकपालाष्टकं च ते ।
मूर्तयश्चैव ते चाष्टावष्टौ ते च गणेश्वराः ॥ ४४ ॥
ते च पञ्चाष्टका रुद्रास्तथा योगाष्टकाः परे ।

संहितासार में भी कहा गया—

'निशिवासरे द्विप्रहरे आभुञ्जन्ति ग्रहा अपराह्ले ।
यस्य दिनं वारः विनिवर्त्तते रजनीव दिनान्ते ।
क्रमपरिवर्त्तनेन दिनरात्रं भुञ्जन्ति वाणपरिवर्त्तने ॥'

(जिस ग्रह का दिन होता है रात और दिन में वह दो प्रहर काल तक सञ्चरण करता है । शेष ग्रह एक प्रहर भोग करते हैं । जिसका दिन होता है उसी का वार रात्रि में भी दिन की भाँति विनिवृत्त होता है । क्रमपरिवर्त्तन के द्वारा दिन और रात्रि के बाण (= पाँच) भाग में परिवर्त्तित (विभक्त) होने पर ये ग्रह रातदिन भोग करते हैं (यहाँ ४-४ भाग तो ऊपर बतला दिया गया । पाँचवाँ भाग सन्धिकाल होता है—यह ध्यान रखना चाहिये) ॥ ४२ ॥

यही बीच में—

राहु चन्द्रमा के साथ और केतु सूर्य के साथ सञ्चरण करता है ॥-४३ ॥

इससे उन (दोनों चन्द्रमा और सूर्य का चार ही) उन दोनों (= राहु और केतु) का चार होता है । न कि अन्य ग्रहों की भाँति (सूर्य और चन्द्रमा से) भिन्न चार होता है ॥ ४३ ॥

और भी—

जो ग्रह हैं वे ही आठ नाग, आठ लोकपाल, आठ मूर्त्तियाँ, आठ गणेश्वर, पञ्चाष्टक रुद्र, (५ × ८ = चालिस रुद्र) योगाष्टक, अनन्त से

अनन्तादिशिखण्ड्यन्तास्ते च विद्येश्वराष्टकाः ॥ ४५ ॥
सकलाद्यानि तत्त्वानि स्थितानि परतस्त्विह ।
पूर्वोक्ता भैरवाश्चाष्टौ सर्वे ते च व्यवस्थिताः ॥ ४६ ॥

ग्रहा आदित्यादयः सौरान्ता यथाक्रममनन्तवासुकितक्षककार्कोटपद्ममहापद्म-शंखपालनागाः, राहुस्तु कुलिकः । तदुक्तम्—

'इनस्त्वनन्त इत्युक्तः सोमो वासुकिरुच्यते ।
तक्षकः कुज इत्युक्तः कार्कोटः सोमजो भवेत् ॥
सरोजो गुरुराख्यातो महाब्जः शुक्र उच्यते ।
शंखो मन्दगतिर्ज्ञेयः सप्त नागा ग्रहाः क्रमात् ॥
अष्टमः कुलिको नाम राहुः क्रूरग्रहो भवेत् ।' इति ।

यश्च श्रीतोतुले—

'रवेः षोडश मध्यात्तु चतुरोऽन्ताच्च भार्गवात् ।
चषकौ द्वौ बुधस्यादौ सोमस्याष्टौ तु मध्यतः ॥
सौरस्यान्ताच्चतुः षष्टिं मध्यतश्चषक गुरोः ।
द्वात्रिंशतं कुजस्यान्ताद् भुङ्क्ते षट्परिवर्ततः ॥'

इति चषकसंख्यया कुलिककाल उक्तः, सोऽत्रात्यन्तसूक्ष्मे प्राणचारे दुर्लक्ष्य

लेकर शिखण्डी तक आठ विद्येश्वर हैं । उसके बाद उसे सकल आदि तत्त्व एवं पूर्वोक्त आठ भैरव ये सब इसी में व्यवस्थित हैं ॥ ४४-४६ ॥

ग्रह = सूर्य से लेकर शनि तक; ये क्रमशः अनन्त, वासुकि, तक्षक, कार्कोट, पद्म, महापद्म और शंखपाल—ये सात नाग हैं । राहु कुलिक हैं । वही कहा गया है—

'सूर्य को अनन्त कहा गया है । सोम वासुकि कहा जाता है मङ्गल को तक्षक, सोमपुत्र (= बुध) को कार्कोट कहा जाता है । गुरु सरोज (= पद्म), शुक्र महापद्म और मन्दगति (= शनि) शंख है । इस प्रकार सात ग्रह सात नाग (= सर्प) हैं । अष्टम क्रूरग्रह राहु कुलिक कहा गया है ।'

और जो श्रीतोतुलतन्त्र में—

'सूर्य के (काल के) मध्य से सोलह (चषक), शुक्र के (काल के) अन्त से चार (चषक), बुध के आदि में दो चषक सोम के मध्य से आठ, शनि के अन्त से चार, गुरु के मध्य से साठ और मङ्गल के अन्त से बत्तीस चषक काल का भोग कुलिक करता है । यह भोग छः के परिवर्त्तन (= छः प्रकार के भावविकार—जायते, अस्ति, विपरिणमते, वर्द्धते, अपक्षीयते, नश्यति—) से होता है ।'

इस प्रकार चषक की संख्या के अनुसार कुलिक का काल कहा गया है यह

एवेत्यविचार्य एव । एवं पुंभोगाय दिनार्धप्रहरानधितिष्ठतां ग्रहाणां नागैरधिष्ठितत्वम्, नागानां तूक्तक्रमस्थितिभिर्लोकपालैरिन्द्रादिभिः । इन्द्राद्या मूर्तिभिरिति क्षित्यादिमूर्त्यधिष्ठातृशर्वरुद्रभवादिभिर्मूर्तीश्वरैः, ते च चण्डनन्द्यादिभिः प्रागुक्तैर्गणेशैः, तेऽपि गुह्यातिगुह्यपवित्र स्थाण्वाद्यैः पञ्चभिरष्टकैः क्रमात् क्रममधिष्ठिताः । तेऽप्यकृतादिना योगाष्टकेन व्याप्ताः । योगाष्टकादपि परे ये प्रकृतिस्थाः क्रोधाद्या, मायास्था मण्डलिप्रभृतयस्तैर्व्याप्ताः, तेऽपि विद्यातत्त्वगतैरनन्तादिभिः, विद्येश्वरा अपि सकलाद्यैरिति सदाशिवपरिवारभूतैः

'सकलो निष्कलः शून्यः कलाढ्य..... ।' (१०।११९४)

इति वक्ष्यमाणैरष्टभिः, यद्वा सकलः सदाशिव आद्यो येषामूर्ध्ववर्तिबिन्द्वीशब्रह्माव्यापिव्योमानन्तानाथानाश्रितानाम्, तैस्तत्त्वैरित्यभेदभूमिस्पर्शात् पारमार्थिकैर्देवैः । तेऽप्यौन्मनसपदव्याप्त्यवस्थितश्रीस्वच्छन्दनाथपरिवारत्वात् तदधिष्ठितैः कपालीशादिभिर्भैरवैरधिष्ठिताः । तदाह—सर्व एवैते तेषु प्राणीयाहोरात्रार्धप्रहरेषु व्यवस्थिताः । अत्र चाद्यार्धप्रहरक्रमेणैव इन्द्रादीनां दिने रात्रौ च द्वितुटिक उदयः,

---

कथन यहाँ अत्यन्त सूक्ष्म प्राणचार में आसानी से अनुभवगम्य नहीं है । इसलिये यह कथन विचार के योग्य नहीं है । इस प्रकार पुरुष के भोग के लिये दिन के आधे प्रहर के अनधिष्ठातृ ग्रहों को नाग अधिष्ठित (= व्याप्त) करते हैं । नागों के अधिष्ठाता उक्त क्रम की स्थितियों (= दिनार्धप्रहर के अनधिष्ठान) के अनुसार इन्द्र आदि हैं । इन्द्र आदि की अधिष्ठातृगण मूर्त्तियाँ हैं । पृथिवी आदि मूर्त्तियों के अधिष्ठातृवर्ग शर्व रुद्र भव आदि मूर्त्तीश्वर हैं । ये मूर्त्तीश्वर पूर्वोक्त चण्ड, नंदी आदि गणेश्वरों के द्वारा (अधिष्ठित हैं) । वे भी गुह्यातिगुह्य, पवित्र, स्थाणु आदि पाँच अष्टकों के द्वारा क्रमशः अधिष्ठित हैं । वे भी अकृत आदि योगाष्टक से व्याप्त है। योगाष्टक से भी ऊपर जो प्रकृति में स्थित क्रोध आदि हैं वे माया में स्थित मण्डली आदि से व्याप्त हैं । वे (= मण्डली आदि) भी शुद्ध विद्यातत्त्व में स्थित अनन्त आदि से व्याप्त हैं । विद्येश्वर भी सदाशिव के परिवारभूत सकल आदि आठ, जिनका वर्णन ।

'सकल, निष्कल, शून्य, कलाढ्य............' (१०।११९४)

के द्वारा आगे किया जायेगा, के द्वारा (अधिष्ठित हैं) । ('सकलाद्यैः' की व्याख्या करते हैं—) सकल = सदाशिव, आद्य (= प्रथम) हैं जिनमें ? अर्थात् ऊर्ध्ववर्त्ती बिन्दु, ईश्वर, ब्रह्माव्यापी, व्योम, अनन्तनाथ, अनाश्रित (शिव) में, उन तत्त्वों से अर्थात् अभेद भूमि के स्पर्श के कारण पारमार्थिक देवों के द्वारा (अधिष्ठित हैं) । वे (= बिन्दु ईश आदि) भी उन्मना पद को व्याप्त कर स्थित श्री स्वच्छन्द नाथ के परिवारभूत होने के कारण उन (= स्वच्छन्द भैरव) से अधिष्ठित कपालीश आदि भैरवों के द्वारा अधिष्ठित हैं । (तात्पर्य यह है कि कपालीश आदि भैरवों के अधिष्ठाता स्वच्छन्दनाथ हैं और ये कपालीश आदि विन्द्वीश आदि के अधिष्ठाता हैं) । वही कहा—ये सभी उन प्राणसम्बन्धी अहोरात्र के अर्धप्रहरों में

न तु षट्परिवृत्त्याद्यवस्थितग्रहस्थित्या, ग्रहाणां सप्तानामष्टकैः सह सङ्गत्ययोगात् । व्यवस्थितिश्चैषामभेदव्याप्तिः, अत एवात्र सामानाधिकरण्येनोक्तिः कृता । एवं च परभैरवस्फारमयत्वमेव प्राणे पर्यवसितम् । अतो यदस्माभिः प्राणभूमिकायामहोरात्रक्रमेण व्याप्तिप्रदर्शनं पूर्वं कृतम्, तदुत्सूत्रं न मन्तव्यम् । इत्थं च सर्वमिदं परमेश्वराद्वयमेवेत्यत्र ज्ञानादेव ज्ञानिनां जीवन्मुक्तिः करतलगतेव, साधकानां तु तत्तद्भुवनेश्वरादिव्याप्ततत्पदानुसारेणापि महाव्याप्त्यनुसन्धानाविघ्नेनैव तत्तत्सिद्ध्युदयो भवति, इति प्रतिपादितं भवति ॥ ४६ ॥

तदुक्तमेवार्थमनुबध्नाति—

ग्रहादीन् समधिष्ठाय सर्वेषूदयकारकाः ।

सर्वे एवैते लोकपालाद्या भैरवान्ताः, सर्वेषु दिनरात्रिप्रहरेषु उदयं कुर्वन्ति । कथम् ? ग्रहादीनिति तत्तदर्धप्रहरेषु पर्यायेण प्राप्तवारान् सूर्यादिग्रहान्, आदिशब्दादनन्तादिनागांश्च सम्यगभेदेनाधिष्ठाय ॥

व्यवस्थित हैं । यहाँ दिन और रात्रि में इन्द्र आदि का उदयकाल प्रथम अर्धप्रहर के क्रम से दो तुटि की मात्रा वाला होता है । न कि छः परिवृत्ति आदि में अवस्थित ग्रह की स्थिति के अनुसार, क्योंकि सात ग्रहों की आठ के साथ सङ्गति नहीं बनती । व्यवस्थिति का अर्थ है—इनकी अभेदेन व्याप्ति । इसीलिये यहाँ (= 'ये ग्रहास्ते च वै नागा .... सर्वे ते च व्यवस्थिताः' श्लोकों में) समान विभक्ति की उक्ति की गयी है । इस प्रकार यह सिद्ध हुआ कि प्राण परभैरव के स्फार से परिपूर्ण है । इसलिये हमने पहले जो प्राणभूमिका में अहोरात्र के क्रम से (ग्रह आदि की) व्याप्ति को बतलाया उसे उत्सूत्र (= नियमविरुद्ध, शास्त्रविपरीत) नहीं समझना चाहिये । इस प्रकार यह सब (विश्व) अद्वय परमेश्वर ही है इस विषय में ऐसा ज्ञान होने पर ही ज्ञानियों को जीवन्मुक्ति करतलगत होती है । जहाँ तक साधकों (= योगियों) की बात है वे जब तत्तद् भुवनेश्वर आदि से व्याप्त तत्तत् पद का अनुसरण कर महाव्याप्ति का निर्विघ्न अनुसन्धान करते हैं तब उनको तत्तत् सिद्धि की प्राप्त होती है—यह प्रतिपादित होता है ॥ ४६ ॥

उसी उक्त अर्थ को फिर कहते हैं—

(ये सब) ग्रह आदि को सम्यक्तया अधिष्ठित कर (= पूर्णरूपेण व्याप्त कर) सब समय में उदयकारी होते हैं ॥ ४७- ॥

लोकपाल से लेकर (कपालीश आदि) भैरवपर्यन्त ये सब के सब, सब में = दिन रात्रि और प्रहर में उदय करते हैं (= उदित होते हैं) । किस प्रकार ?—(उत्तर देते हैं—) ग्रह आदि को .... । अर्थात् तत्तत् अर्धप्रहरों में क्रम से प्राप्त दिन वाले सूर्य आदि ग्रहों को-यहाँ 'आदि' पद से अनन्त आदि और नागों का, सम्यक् = अभेदेन, अधिष्ठान कर (= उनको व्याप्त कर), उदित होते हैं ॥

किं च—

राशिभिः सह नक्षत्रैस्त उद्यन्ति अहर्निशम् ॥ ४७ ॥

हृदयात् प्रभृति द्वादशान्तं यावत् प्रत्यंगुलषट्कं राशिः, इति स्थित्या मकरादयो मिथुनान्ताः षड्राशयः, तदधिष्ठितानि च नक्षत्राणि तदनुसारेणैव प्रत्यंशमपि तत्र उद्यन्ति, तथैव च द्वादशान्ताद्धृदयं यावत् कर्कटाद्या धन्व्यन्ताः ॥ ४७ ॥

अत्रैवाभिजिदुदयमाह—

मध्याह्ने चार्धरात्रे च उदयोऽभिजितो भवेत्।

तालुनीत्यर्थः । अभिजयति सर्वान् विघ्नान् इत्यभिजिद् नक्षत्रविशेषः ॥

अतश्च—

और भी—

वे (= लोकपाल आदि) राशियों और नक्षत्रों के साथ दिन और रात में उदित होते हैं ॥ -४७ ॥

हृदय से लेकर ऊर्ध्व द्वादशान्त तक एक-एक षडङ्गुल पर एक-एक राशि (उदित) होती है । इस स्थिति के अनुसार मकर से लेकर मिथुन राशि तक (= मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष और मिथुन) ये छः राशियाँ होती हैं । इन राशियों से अधिष्ठित नक्षत्र भी उसी के अनुसार वहाँ प्रत्येक अंश पर उदित होते हैं । (यहाँ यह ध्यान रखना चाहिये कि नक्षत्रों की संख्या सत्ताइस है । एक-एक नक्षत्र के चार-चार चरण होते हैं । इस प्रकार कुल २७ × ४ = १०८ चरण हुए । बारह से भाग देने पर १०८ ÷ १२ = ९, अर्थात् एक-एक राशि में नौ चरण अर्थात् २।१/४ नक्षत्र होते हैं । इस प्रकार प्रत्येक राशि नक्षत्रों के नौ चरणों के कालमान तक उदित रहती हैं) । उसी प्रकार विपरीत क्रम से ऊर्ध्व द्वादशान्त से हृदय तक कर्कट से लेकर धनु राशि (= कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक एवं धनु) तक का उदय होता है ॥ ४७ ॥

(अश्विनी से लेकर रेवती तक सत्ताइस नक्षत्र होते हैं । एक और नक्षत्र होता है जो उत्तराषाढ के बाद आता है और जिसका नाम है—अभिजित्) । उसके उदय को बतलाते हैं—

मध्याह्न और अर्ध रात्रि (= मध्यरात्रि) में अभिजित् नामक क्षत्र का उदय होता है ॥ ४८- ॥

यह उदय (शरीर के) तालु स्थान में होता है । (अभिजित् शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ बतलाते हैं—) जो समस्त विघ्नों पर विजय प्राप्त करता है वह अभिजित् एक नक्षत्र होता है ॥

इसलिये—

अभीप्सितं फलं तत्र साधकानां भवेदिह ॥ ४८ ॥

इह इति पारमेश्वरेषु शास्त्रेषु, उक्तं यद् भोगमोक्षाख्यं फलं साधकानामिष्टम्, तत्तु माध्याह्ने आर्धरात्रिकेऽभिजिन्नक्षत्रे भवत्येव ॥ ४८ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

अहोरात्रविभागोऽयमेवं ते कथितो मया ।
अधुना पक्षमासांश्च वर्षाणि कथयामि ते ॥ ४९ ॥

तत्र निर्णीताभ्यन्तराहोरात्रं बाह्ये काले नियोजयति—

आध्यात्मिकाहोरात्रेण बाह्ये काष्ठा विधीयते।

अत्र काष्ठा न घटिका, अपि तु दशपञ्चनिमेषात्मा कालावयवविशेष इति दर्शितमेव ॥

किं च—

मासेनाध्यात्मिकेनैव बाह्ये चैव कला भवेत् ॥ ५० ॥
तत्र त्रिंशदहोरात्रा मासस्तु वरवर्णिनि ।

इस नक्षत्र में साधकों को अभीष्ट फल प्राप्त होता है ऐसा यहाँ (कहा गया है) ॥ -४८ ॥

यहाँ = पारमेश्वर शास्त्र में, कहा गया है कि भोग और मोक्ष नामक फल जो साधकों को इष्ट है, वह क्रमशः मध्याह्नवाले तथा अर्धरात्रि वाले अभिजित् में प्राप्त होता ही है ॥ ४८ ॥

इसका उपसंहार करते हुए अन्य प्रकरण का प्रारम्भ करते हैं—

इस प्रकार का अहोरात्र विभाग मैंने तुमको बतलाया । अब पक्ष मास और वर्ष को तुम्हें बतलाऊँगा ॥ ४९ ॥

पहले बतलाये गये आभ्यन्तर अहोरात्र को बाह्यकाल में नियुक्त करते है—

आध्यात्मिक अहोरात्र से बाह्य जगत् में काष्ठा बनती है ॥ ५०- ॥

यहाँ काष्ठा का अर्थ घटिका नहीं है बल्कि दश पञ्च (= १० + ५ = १५) निमेष (या १/३० कला नामक) विशेष कालावयव है, यह पहले बतलाया जा चुका है ॥

तथा—

आध्यात्मिक एक मास की बाहरी एक कला होती है । हे वरवर्णिनि ! उस (= प्राणचार) में तीस अहोरात्र का एक मास होता है ॥ -५०-५१- ॥

आध्यात्मिको मासः, ते प्राणचारात्मानस्त्रिंशदहोरात्रा बाह्यास्त्रिंशत्काष्ठाः, तेन ईदृशेनान्तरेण मासेन बाह्यकलाख्य एव कालो भवति ।

वक्ष्यति चैकादशे—

'त्रिंशत्काष्ठाः कला ज्ञेया' (११।२०३) इति ।

'एव'शब्दः कलाशब्दानन्तरं योज्यः । वरं वर्णयति सर्वोत्कृष्टं परं तत्त्वं परामृशतीति वरवर्णिनी ॥

किञ्चाध्यात्मिकैः—

मासैर्द्वा दशभिश्चैव बाह्योऽथ घटिका भवेत् ॥ ५१ ॥

तदेव स्फुटयति—

शतानि त्रीण्यहोरात्राः षष्टिरेव तथाधिकाः ।
वर्षमेतत् समाख्यातं बाह्ये वै घटिका च सा ॥ ५२ ॥

सषष्टित्रिशतप्राणापानचारा बाह्या घटिका । 'यतोऽसौ षष्टिश्चषकाणि' चषकं च षट् प्राणापानचाराः ॥ ५२ ॥

एवमुक्तरूपाध्यात्मिकवर्षकलिताः—

जो आध्यात्मिक मास होता है वह प्राणचारस्वरूप तीस अहोरात्र होते हैं और बाहरी तीस काष्ठायें होती हैं । इस रीति से इस प्रकार के आन्तर मास से बाह्य कला नामक ही काल होता है । ग्यारहवें पटल में कहेंगे भी—

'तीस काष्ठा की एक कला समझनी चाहिये ।' (११।२०३)

(श्लोक सं० ५० में पठित) 'एव' शब्द को कला शब्द के बाद जोड़ना चाहिये । (वरवर्णिनी शब्द की व्याख्या करते हैं—) जो वर = सर्वोत्कृष्ट तत्त्व का, वर्णन = परामर्श, करती है वह वरवर्णिनी कहलाती है ॥

तथा आध्यात्मिक—

(आभ्यन्तर) बारह मासों से बाह्य एक घटिका होती है ॥ -५१ ॥

उसी को स्पष्ट करते हैं—

३६० अहोरात्र का एक वर्ष कहा गया है (यह जो ३६० प्राणचार है)। बाह्य जगत् में यह एक घटिका होती है ॥ ५२ ॥

३६० प्राण अपान का चार (जो कि आध्यात्मिक एक वर्ष होता है) बाहरी एक घटिका है । क्योंकि यह (= आध्यात्मिक वर्ष) साठ चषक का होता है और एक चषक में छः प्राणचार होते हैं (इस प्रकार ६० × ६= ३६० प्राणापानचार का एक आध्यात्मिक वर्ष होता है) ॥ ५२ ॥

घटिकाः षष्टिस्त्वहोरात्रे बाह्ये तु प्रवहन्ति वै ।
ता एवान्तरचारेण षष्टिः संवत्सराः स्मृताः॥ ५३ ॥

बाह्यघटिका आन्तरं वर्षमिति विभक्तमेव । अतस्ताः षष्टिस्तावन्त्येवान्तराणि वर्षाणि सूक्ष्मकालगत्या । अत एवैकत्र प्राणचारे षष्ट्यब्दोदय इति परा कालस्थितिरग्रे स्फुटीभविष्यति ॥ ५३ ॥

अथ षष्टिघटिकात्मसु वर्षेषु—

प्राणसंख्या पुनस्तेषु कथयाम्यधुना तव ।
षट् शतानि वरारोहे सहस्राण्येकविंशतिः ॥ ५४ ॥
अहोरात्रेण बाह्येन अध्यात्मं तु सुराधिपे ।

घटिकायां सषष्टित्रिशती प्राणचाराणाम्, इति गणनया षष्टिघटिकासंख्ये बाह्येऽहोरात्रेऽध्यात्मे आत्मनि तदाश्रयेण प्राणचाराणामेषैव संख्या भवति ॥

एवमीदृशी—

प्राणसंख्या समाख्याता ज्ञातव्या साधकेन तु॥ ५५ ॥

एवं प्रोक्तवक्ष्यमाणव्याप्तिसतत्त्वेन—

इस प्रकार उक्तरूप आध्यात्मिक वर्ष से कलित (= बनायी गयी)—

साठ घटिकायें बाहरी एक अहोरात्र में प्रवाहित होती हैं । वे ही आन्तर प्राणचार की दृष्टि से साठ संवत्सर होते हैं ॥ ५३ ॥

बाहर की एक घटिका आन्तर का एक वर्ष होता है यह स्पष्ट ही है । अतः वे साठ घटिकायें सूक्ष्म काल की गति से उतने ही (= ६० ही) आन्तर वर्ष होते हैं । इसलिये एक प्राणचार में साठ वर्ष का उदय होता है यह परा कालस्थिति आगे स्पष्ट होगी ॥ ५३ ॥

अब साठ घड़ी वाले (आन्तर) उन वर्षों में—

तुमको प्राणचार की संख्या को बतला रहा हूँ । हे वरारोहे ! (यह संख्या) २१६०० होती है । हे सुराधिपे ! (यह २१६०० प्राणचार) बाह्य अहोरात्र होते हैं ॥ ५४-५५- ॥

एक घड़ी में ३६० प्राणचार होते हैं । इस गणना के अनुसार ६० घड़ी वाले बाह्य दिनरात में और अध्यात्म = अपने अन्दर उसी के आधार पर प्राणचारों की यही (३६० × ६० = २१६००) संख्या होती है ॥

इस प्रकार ऐसी—

कही गयी प्राणसंख्या साधक को जाननी चाहिये ॥ -५५ ॥

प्राणहंसे सदा लीनः साधकः........

लीनो निभालनया विश्रान्तः ॥

तथा प्राणभूमिन्यग्भावेन शाक्तपदसमावेशादेवासौ—

........परतत्त्ववित् ।

भवति ॥ तदा च—

तस्यायं जप उद्दिष्टः सिद्धिमुक्तिफलप्रदः ॥ ५६ ॥

इह प्राणो निर्णीतविश्वमन्त्रवीर्यभूतहंसाश्रयत्वाद्धंस इति । तत्र यो लीनः, स प्राणसंख्ययैव सदैतावज्जपयुक्तो भवति । यथोक्तं श्रीविज्ञानभैरवे—

'षट् शतानि दिवारात्रं सहस्राण्येकविंशतिः ।
जपो देव्याः समुद्दिष्टः प्राणस्यान्ते सुदुर्लभः[1] ॥' (श्लो० १५६)

इति ॥ ५६ ॥

सिद्धिमुक्तिद इति यदुक्तम्, तद्विभजति—

इस प्रकार प्रोक्त एवं वक्ष्यमाण व्याप्ति के साथ—

साधक (जब) प्राणहंस में सदा लीन रहता है ॥ ५६- ॥

लीन का अर्थ है—पूर्ण पर्यवेक्षण करते हुए विश्रान्त होता है ॥

और उस प्रकार प्राणभूमि में न्यग्भाव (= अधीनता, विश्रान्ति) के कारण शाक्त पद में समावेश के कारण यह—

परतत्त्व का ज्ञाता हो जाता है ॥ -५६- ॥

तब—

उसका यह जप सिद्धि और मुक्ति देने वाला कहा गया है ॥ -५६ ॥

यहाँ प्राण हंस है क्योंकि यह पूर्ववर्णित विश्वमन्त्र के वीर्यभूत हंस का आश्रय है । उसमें जो लीन है वह प्राण की संख्या के ही द्वारा सदा उतने (= प्राणसंख्या की संख्या वाले) जप से युक्त होता है । जैसा कि श्रीविज्ञानभैरव में कहा गया—

दिन और रात्रि दोनों में (परा) देवी का २१६०० जप (योगियों के लिये) सुलभ है और जड़ मनुष्यों के द्वारा दुर्लभ है (अथवा प्राणान्त में भी दुर्लभ = बड़ी कठिनाई से प्राप्त होता है)। (वि०भै० १५६)

'सिद्धि और मुक्ति को देने वाला है' यह जो कहा गया उसको विभक्त करते हैं—

---

१. सुलभो दुर्लभो जडैः ।

**अधः प्रवहणे सिद्धिर्हृत्पद्मं यावदागतः ।
मुक्तिश्चैव भवेदूर्ध्वे परतत्त्वे तु सुव्रते ॥ ५७ ॥**

एतच्च—

'यदा करोति सृष्टिं च' (६।१५)

इत्यादौ वितत्य निर्णीतम् ॥ ५७ ॥

तदेवमुक्तव्याप्तिज्ञानपूर्वं प्राणहंसे लीनतया परतत्त्वविदो योगिनः सर्व एव कालस्तत्प्ररोहप्रकर्षात्तादृगनुभवमय एव भवतीत्याह—

**मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम् ।
यथा प्रवर्तते प्राणस्त्वयत्नादेव सर्वदा ॥ ५८ ॥**

तथेति मध्येऽध्याहार्यम् । तेन यद्यप्यन्तःकृतयो बहिष्कृतयः स्वधिये प्रसृताः, तथापि परतत्त्वविश्रान्तिपरत्वेन प्राणव्याप्तिज्ञस्य तथा तेनैव परविश्रान्तिप्रदेन प्रकारेण प्राणो हंसात्मा मध्यमः, अयत्नादेव स्वरसत एव, सर्वदा प्रवर्तते वहति ॥ ५८ ॥

(यह प्राण जब) नीचे की ओर प्रवहण (= सञ्चरण) करता है अर्थात् नीचे की ओर हृदय कमल तक आता है तब यह सिद्धियाँ प्रदान करता है । हे सुव्रते! और जब यह ऊपर पर तत्त्व में प्रवहण करता है तब मुक्ति प्राप्त होती है ॥ ५७ ॥

यह विषय—

'जब सृष्टि करता है............. ।' (६।१५)

इत्यादि श्लोकों में विस्तार से बतलाया गया है ॥ ५७ ॥

तो इस प्रकार उक्त व्याप्ति के ज्ञान के बाद प्राण हंस में लीन होने के कारण परतत्त्ववेत्ता योगी को सम्पूर्ण काल उस (= प्राण) के प्ररोह के प्रकर्ष से उस प्रकार (= परतत्त्वमयता वाले) अनुभव से भरा हुआ होता है—यह कहते हैं—

मन अन्यत्र (= हंसोच्चारण से भिन्न स्थल में) निक्षिप्त कर दिये जाने पर तथा चक्षु अन्यत्र (= किसी बाह्य पदार्थ पर) स्थिर कर दिये जाने पर जैसे प्रवृत्त होते हैं प्राण उस प्रकार (प्रवृत्त नहीं होता, वह तो) बिना प्रयास के सर्वदा (प्रवृत्त होता है = 'हंस' मन्त्र का जप करता रहता है) ॥ ५८ ॥

'तथा' शब्द का ('प्रवर्त्तते' और 'प्राण' के) बीच में अध्याहार (= उल्लेख या पाठ) कर लेना चाहिये । इससे यद्यपि अन्तःकृतियाँ (= मनन चिन्तन आदि) बाह्य कृतियाँ (= देखना सुनना आदि क्रियायें) अपनी बुद्धि के अनुसार चलती हैं तथापि पर तत्त्व में विश्रान्त होने के कारण प्राणव्याप्ति के ज्ञाता योगी को उस प्रकार = पर तत्त्व में विश्रान्तिप्रदरूप से, प्राण = हंसस्वरूप मध्यम प्राण, बिना प्रयत्न के =

एतदेवोपोद्बलयति—

नास्योच्चारयिता कश्चित् प्रतिहन्ता न विद्यते ।
स्वयमुच्चरते हंसः प्राणिनामुरसि स्थितः ॥ ५९ ॥

हंसः प्राग्व्यावर्णितसतत्त्वपरनिष्कलभट्टारकः, तदधिष्ठितत्वान्मध्यमः प्राणोऽपि निर्णीतव्याप्तिसारः । स्वयमुच्चरते अशेषं वाच्यवाचकक्रममुल्लङ्घ्य परमाभेदसारमहामन्त्रवीर्यात्मना स्फुरति । यतोऽस्य **न कश्चिदुच्चारयिता** प्रतिहन्ता वा अस्ति, अस्यैव सर्वकर्तृत्वेन परमातृरूपत्वात् । **अत** एव चायम् अनाहत इत्युद्घोष्यते, इतरवर्णवत् स्थानकरणाभिघातानभिव्यक्तत्वादनस्तमितत्वाच्च । स चायं प्राणिनामुरसि हृदये जीवितस्यापि जीवितभूतः स्थितः । केचिदेव त्ववधानधना एतत्सत्तामाविशन्ति ॥

तदित्थं परतत्त्वावहितसाधकजपनिष्पत्त्यभिप्रायेण—

मासवत्सरसंख्या तु एषा ते कथिता मया ।

आध्यात्मिकीति शेषः । त्रिंशत्प्राणचारा आध्यात्मिको मासः, षष्ट्यधिका तु

स्वाभाविक रूप से, स्वयं सर्वदा प्रवृत्त होता है = प्रवहण करता है ॥ ५८ ॥

इसी की व्याख्या करते हैं—

इसका (= प्राण रूपी हंस का) न तो कोई उच्चारण करने वाला है और न ही कोई इसको रोकने वाला है । प्राणियों के हृदय में स्थित यह हंस स्वयं उच्चरित होता रहता है ॥ ५९ ॥

हंस = पूर्ववर्णित परतत्त्वस्वरूप निष्कल भट्टारक; उनसे अधिष्ठित होने के कारण मध्यम = प्राण, भी उसी व्याप्ति वाला है । स्वयं उच्चरित होता है = समस्त वाच्यवाचक क्रम का उल्लङ्घन कर परम अभेद सार वाले महामन्त्र के वीर्य के रूप में स्फुरित होता रहता है । क्योंकि इसका न तो कोई उच्चारयिता है और न प्रतिहन्ता (= प्रतिघात करने वाला = रुकावट डालने वाला) क्योंकि इसी के सबका कर्ता होने के कारण यह परप्रमाता रूप है । इसीलिये यह अनाहत कहा जाता है । इस कथन का कारण यह है कि दूसरे वर्ण (तालु आदि) स्थान और (मुख आदि) इन्द्रिय के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं पर यह उनके द्वारा अभिव्यक्त नहीं होता । (वे वर्ण तृतीयक्षणध्वंसी हैं और) इसका कभी ध्वंस नहीं होता । ऐसा वह वर्ण प्राणियों के उरस् = हृदय, में जीवन के भी जीवन के रूप में, स्थित है । (लेकिन सब लोग इसका अनुभव नहीं करते) कुछ ही लोग जो अवधान (= ध्यान और धारणा) के धनी हैं, इस सत्ता में आविष्ट होते हैं ॥

इस प्रकार परतत्त्व में सावधान साधक के जप की निष्पत्ति के अभिप्राय से—

मास और वर्ष की यह संख्या मैंने तुमको बतलायी ॥ ६०- ॥

त्रिशती वत्सरः, इति हि निर्णीतमेव ॥

इदानीमत्रैव प्राणचारे—

चन्द्रसूर्योपरागं तु कथयामि ततः परम् ॥ ६० ॥

साधकस्य भुक्तिमुक्तिफलप्रदमिति स्थितमेव ॥ ६० ॥

तत्रादौ—

अहोरात्रस्तु यः प्रोक्तः प्राणेऽस्मिन् सुरसुन्दरि ।
स एव पक्षद्वितयं मासं च कथयामि ते ॥ ६१ ॥

अविभागेनेति शेषः । त्रिंशत्प्राणचाराः ॥ ६१ ॥

तत्र कृष्णपक्षं तावत् पक्षसंधिप्रदर्शनपूर्वं निरूपयति—

तुट्यर्धं चाप्यधश्चोर्ध्वं विश्रमः परिकीर्तितः ।
मध्ये पञ्चदशोक्ता यास्तिथयस्ताः प्रकीर्तिताः ॥ ६२ ॥

अध ऊर्ध्वं च यत्तुट्यर्धं पूर्वमहोरात्रोदये पूर्वापरसंध्यात्वेनोक्तम्, स एवेह विश्रमः पक्षसंधित्वेन कीर्तितः । यास्तु मध्ये पञ्चदश तुटयः, ता एव प्रति-

---

यह संख्या आध्यात्मिकी है । तीस प्राणचार का एक आध्यात्मिक मास होता है । ३६० प्राणचार का एक वर्ष होता है—यह पहले बताया जा चुका है ॥

अब इसी प्राणचार में—

इसके बाद चन्द्र एवं सूर्य के ग्रहण को बतलाऊँगा ॥ -६० ॥

(यह चन्द्रसूर्योपराग) भोग और मोक्ष को प्रदान करने वाला है—यह पहले से ही निश्चित है ॥ ६० ॥

इसमें सबसे पहले—

हे सुरसुन्दरि ! इस प्राण में जो अहोरात्र कहा गया वही दो पक्ष और मास है । इसको मैं तुमको बतलाता हूँ ॥ ६१ ॥

(दोनो पक्ष) एक साथ मिलकर मास बनते हैं । (यह मास) तीस प्राणचार ही होते हैं ॥ ६१ ॥

उसमें पक्षसन्धि को बतलाते हुए कृष्णपक्ष का निरूपण करते हैं—

(हृदय से लेकर ऊर्ध्व द्वादशान्त तक) ऊपर और नीचे आधी तुटि का काल (सूर्य और चन्द्र का) विश्रामकाल कहा गया है । बीच में जो पन्द्रह (तुटियाँ) कही गयीं वे तिथियाँ मानी जाती हैं ॥ ६२ ॥

नीचे और ऊपर जो आधी तुटि पहले अर्थात् अहोरात्र के उदय के समय पूर्व

पदाद्यास्तिथयः ॥ ६२ ॥

अत्र च पक्षसंधितुट्यर्धमुत्सृज्य, प्रतितुट्यहोरात्रविभागमाह—

प्रथमोदये तु हृत्पद्मात्तुट्यर्धं तु दिनं भवेत् ।
द्वितीये चैव तुट्यर्धे यदा चरति शर्वरी ॥ ६३ ॥

हृत्पद्मादित्युपलक्षणम् । तेनैकैकस्यास्तुटेः सार्धपादांगुलपरिमाणमाद्यमर्धं दिनं प्रकाशरूपम्, परं तु विश्रान्त्यात्मा रात्रिः । यत इयं भगवती संवित्प्रकाशान्दमयी, ततो यत्र यावन्तावनया वेद्यवेदकविश्रान्तिरूपौ प्रकाशानन्दावाभास्येते, तत्र तावद्रूपे एव दिननिशे । तथा च मशकादौ सदाशिवादौ चात्यल्पातिविततकालत्वं तयोर्युक्तमेव । एवं च प्रतितुट्यर्धं वक्ष्यमाणक्रमेण तदंशांशेष्वपि वा तावाभासमानौ दिननिशाभेदं समुचितं प्रमातारं प्रति भासयत एव। कदाचिच्च प्रकाशस्याधिक्यम् कदाचिच्च विश्रान्तेः, कदाचित्तयोः साम्यमिति कृत्वा दिननिशयोर्वैषम्यं

और पर सन्ध्या के रूप में कही गयी वही (= तुट्यर्ध) यहाँ पक्षसन्धि के रूप में विश्राम कहा गया है । और जो मध्य में पन्द्रह तुटियाँ हैं वे ही प्रतिपदा आदि (पन्द्रह) तिथियाँ हैं ॥ ६२ ॥

यहाँ पर पक्षसन्धिरूपी आधी तुटि को छोड़ कर प्रति तुटि अहोरात्र का विभाग बतलाते हैं—

(प्राणचार का) हृदयकमल से प्रथम उदय होने पर आधा तुटि दिन होता है। जब दूसरे तुट्यर्ध में (प्राण) सञ्चरण करता है तब रात्रि होती है ॥ ६३ ॥

'हृदयकमल से'—यंह कथन उपलक्षण[1] है (इससे कण्ठ तालु आदि में भी प्राणसञ्चार के बारे में ऐसा ही समझना चाहिये) । इससे एक-एक तुटि का डेढ़ पाद (= १।१/२ × १/४ = ३/८...) अंगुल परिमाण वाला प्रथम तुट्यर्ध प्रकाशरूप दिन होता है और दूसरा आधा विश्रान्तिरूपा रात्रि होती है । चूँकि यह भगवती संवित् प्रकाश और आनन्दमयी है इसलिये जहाँ जिस मात्रा में वेद्यवेदकविश्रान्तिरूप प्रकाश और आनन्द इसके द्वारा आभासित किये जाते हैं वहाँ उतनी ही मात्रा में दिन और रात्रि होते हैं इस प्रकार मच्छर आदि और सदाशिव आदि के काल का क्रमशः अत्यल्प और अतिविस्तृत होना ठीक ही है । इस प्रकार वक्ष्यमाण क्रम से प्रति तुट्यर्ध और उनके अंश और अंश के अंश में भी वे दोनों (= प्रकाश और आनन्द) आभासित होते हुए समुचित प्रमाता के प्रति दिन और रात्रि के भेद को आभासित कराते ही हैं । (इस क्रम में) कभी प्रकाश की अधिकता होती है, कभी विश्रान्ति की । कभी वे दोनों समान हो जाते हैं । इस कारण (मनुष्य शरीर के) अन्दर और बाहर (= विश्व में) दिन और रात का वैषम्य होता है । 'यदा चरति'

---

१. स्वबोध कत्वे सति स्वेतर बोधकत्वं उपलक्षणत्वम् ।

च भवत्यन्तर्बहिश्च । 'यदा चरति' इति सूत्रांशादनन्तरं तदेत्यध्याहार्यम् ॥ ६३ ॥

अत्र च दिनरात्रिभेदे—

राशयो ग्रहनक्षत्राण्युदयन्ति यथाक्रमम् ।

पारमेश्वर्या हि संविदा या यादृशी दिनादिव्यवस्था क्रियते, तां सर्वे ग्रहादयोऽनुवर्तन्ते ॥

तदित्थम्—

अस्मिन्नेवमहोरात्रे पूर्ववच्च वरानने ॥ ६४ ॥
तुटिभिः पञ्चदशभिः पक्षः स तु विधीयते ।

अस्मिन् इत्यान्तरे । एवम् इति तुट्यर्धार्धकलनया । पूर्ववद् इति सुसूक्ष्मया दृष्ट्या । पक्ष इति कृष्ण इत्यर्थात् ॥

अथात्रैव पक्षे आमावस्यप्रातिपदतिथ्यंशमेलनप्रकटनेन सूर्यग्रहं निर्णिनीषुस्तिथिच्छेदवृद्धी दर्शयति—

तिथिच्छेदे ऋणं ज्ञेयं वृद्धौ चैव धनं भवेत् ॥ ६५ ॥

इस अंश के बाद 'तदा' जोड़ना चाहिये (इस प्रकार यह अन्वय होगा-यदा प्राणः चरति तदा शर्वरी भवति) ॥ ६३ ॥

दिन और रात्रि के इस भेद में—

राशियाँ ग्रह और नक्षत्र अपने क्रम के अनुसार उदित होते रहते हैं ॥ ६४- ॥

पारमेश्वरी संविद् के द्वारा जो जिस प्रकार की दिन आदि की व्यवस्था की जाती है ब्रह्मा आदि सब के सब उसी का अनुवर्त्तन करते हैं ॥

तो इस प्रकार—

हे वरानने ! पूर्व की भाँति इस रीति से इस आन्तर अहोरात्र में पन्द्रह तुटियों का एक पक्ष माना जाता है ॥ -६४-६५- ॥

इसमें = आन्तर (अहोरात्र) में । इस प्रकार = तुटि के आधे के आधे की गणना से । पूर्ववत् = अत्यन्त सूक्ष्म दृष्टि से । पक्ष = कृष्णपक्ष होता है यह अर्थात् समझ लेना चाहिये ॥

अब इसी (कृष्ण) पक्ष में अमावास्या और प्रतिपदा तिथियों के अंशमेलन के प्रकाशन के द्वारा सूर्यग्रहण को बतलाने की इच्छा से युक्त (परमेश्वर) तिथि के विच्छेद और वृद्धि को दिखलाते हैं—

तिथि का छेद (= हानि) होने पर ऋण और वृद्धि होने पर धन होता

ऋणं चैव भवेत् कासो निःश्वासो धन (मु)[1]च्यते।

ऋणं प्राणवाहस्य किञ्चिदल्पकालता कासवशाद्भवति । तथा सति झगिति धावनादामावस्योंऽशः प्रतिपत्स्थानं प्रसरति । एतच्च दर्शयिष्यमाणसूर्यग्रहणोपयोगि । निःश्वासवशात्तु किञ्चिच्चिरकालता अपानचन्द्रस्य धनम्, तथा सति पूर्णमास्युदयश्चन्द्रग्रहोपयोगी भवति ॥

प्रकृतु (तस्य)[2] तु—

कृष्णपक्षोर्ध्वचारेण संहारः संक्षयो भवेत् ॥ ६६ ॥

कृष्णपक्षरूपेणोर्ध्वचारेण प्रकृतस्य प्राणस्य यः संहारः, स एव प्रवेशितपूर्वप्राणावस्थितमेयचन्द्रस्य प्रतितुट्येकैककलाक्रमेण अमावस्यान्तं पञ्चदशकलानां संक्षय इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीकामिकायाम्—

'अमृतं चन्द्ररूपेण द्विधा षोडशधा पुनः ।
पिबन्ति च सुराः सर्वे दश पञ्च पराः कलाः॥
अमाशेषगुहान्तस्थामावस्या विश्वर्तार्पणी ॥' इति ।

है । कास (= खाँसी) ऋण होता है और निश्वास को धन कहा जाता है ॥ -६५-६६- ॥

ऋण का तात्पर्य है—प्राणचार का अल्पकालिक होना । और यह ऋण कास के कारण होता है (= खाँसी आने पर प्राण का स्वाभाविक सञ्चरण काल टुकड़े टुकड़े में बँट कर छोटा से छोटा हो जाता है । खाँसी जितनी ही तीव्र होगी श्वास खण्ड उतना ही छोटा होगा) । ऐसा होने पर तुरन्त धावन के कारण तुटि में जो अमावास्या का अंश है वह प्रतिपत् के स्थान में फैल जाता है । यह (= ऋण) आगे बतलाये जाने वाले सूर्यग्रहण का उपयोगी है । निःश्वास के कारण थोड़ी देर तक रुकना अपानरूपी चन्द्र का धन है । वैसा होने पर पूर्णमासी का उदय होता है जो चन्द्रग्रहण के लिये उपयोगी होता है ॥

कृष्णपक्ष रूप ऊर्ध्वचार से प्रकृत का (प्राण का) संहार अर्थात् संक्षय होता है ॥ -६६ ॥

कृष्णपक्ष रूप ऊर्ध्वचार के द्वारा प्रकृत (= प्रस्तुत) प्राण का जो संहार है वही प्रवेशित पूर्वप्राण में अवस्थित प्रमेय चन्द्र का एक-एक तुटि में एक-एक चन्द्रकला के क्रम से प्रतिपद् से लेकर अमावस्या पर्यन्त पन्द्रह कलाओं का क्षय होता है । वही बात श्रीकामिकतन्त्र में कही गयी है—

सब देवता लोग चन्द्ररूप से दो प्रकार से और फिर सोलह प्रकार से अमृत का पान करते हैं । दूसरी जो पन्द्रह कलायें हैं और सोलहवीं जो अमाकला है यह

---

१. उ २. तं ।

द्विधेति कलापञ्चदशकभित्तिभूतातिस्वच्छरूपतया दृश्यमानसितपक्षपञ्चदशकलात्मना चेत्यर्थः ॥ ६६ ॥

यत ईदृक् कृष्णपक्षः, ततः—

क्रूरकर्माणि वै तत्र कुर्वन् सिद्धिमवाप्नुयात् ।
शुभकर्माणि कृष्णे च न च सिद्ध्यन्ति सुव्रते ॥ ६७ ॥

चकारौ तुशब्दैवशब्दयोरर्थे । इह यदन्तस्तद्बहिरिति स्थित्या यद्यदान्तरे दिनरात्रितत्संध्यापक्षमासादिके फलमुक्तम्, तत्तद् बाह्येऽपि तत्र तथैवेति मन्तव्यम् ॥ ६७ ॥

अथान्तरीममावस्यां दर्शयति—

शक्तिं वै विशति प्राणे या तुटिस्तु विधीयते ।
आमावस्या तु सा ज्ञेया कृष्णपक्षे वरानने ॥ ६८ ॥

शक्तिः ब्रह्मरन्ध्रस्थानम्, तुटिरिति प्रक्षीणचन्द्रा पञ्चदशी । अत एवामाख्यायां षोडश्यां तुटौ वसनात् तद्भित्त्यवलम्बनादमावस्या सा ज्ञेया ॥ ६८ ॥

प्रतिपत् के भीतर छिपी हुई है और विश्व तर्पिणी है (इसे ही षोडशी कला या अमृता कला कहते हैं)

दो प्रकार से—१. पन्द्रह कलाओं की आधारभूत और २. अतिस्वच्छरूप होने के कारण दृश्यमान शुक्लपक्ष की पन्द्रह कलाओं के रूप में ॥ ६६ ॥

चूँकि कृष्णपक्ष ऐसा है इसलिये—

हे सुव्रते ! उस (= कृष्णपक्ष) में क्रूर कर्मों को करने वाला सिद्धि को प्राप्त करता है । कृष्णपक्ष में किये गये शुभ कर्म सिद्ध नहीं होता ॥ ६७॥

उक्त श्लोक में दो चकार का प्रयोग 'तु' (= तो) और 'एव' (ही) अर्थ में किया गया है । जो शरीर के अन्दर है वही शरीर के बाहर भी है—इस सिद्धान्त के अनुसार आन्तरिक दिन रात्रि और उनकी सन्ध्या, पक्ष मास आदि में जो-जो फल कहा गया वही-वही फल बाहरी संसार में भी उन दिनरात्रि आदि में उसी प्रकार समझना चाहिये ॥ ६७ ॥

अब आन्तरिकी अमावास्या को बतलाते हैं—

प्राण जब शक्ति में प्रवेश करता है उस समय जो तुटि होती है, हे वरानने ! कृष्णपक्ष में उसी को अमावास्या समझना चाहिये ॥ ६८ ॥

शक्ति = ब्रह्मरन्ध्रस्थान । तुटि = प्रक्षीण चन्द्रवाली पञ्चदशी (= अमावस्या) । इसलिये इस अमा नामक सोलहवीं तुटि में रहने के कारण अर्थात् उस आधारभूमि का अवलम्बन करने के कारण, उसे अमावस्या समझना चाहिये । (अमावास्या शब्द

अथ पूर्वमासूत्रितं पक्षसंधिं स्फुटयति—

शक्तेर्मध्योर्ध्वभागे तु तुट्यर्धं यत्प्रकीर्तितम् ।
पक्षसंधिस्त्वसौ ज्ञेयः.........

ब्रह्मरन्ध्रादुत्थितायाः शक्तेर्मध्यं त्वक्स्थानं त्वक्शेषस्तु केशस्थानमूर्ध्वमेकमेव तुट्यर्धं यत्, स पक्षयोः कृष्णशुक्लयोः संधिः । यदेव हि प्राणस्यान्त्यं तुट्यर्धं तदेवापानस्याद्यं भवतीत्येतदुभयोस्तुट्यर्धात्मकं देशत एकमेव ततुट्यर्धद्वयवाहकालं संधिपदम् ॥

अथात्र सूर्यग्रहणं दर्शयति—

............अमावस्यार्धप्रतिपदा ॥ ६९ ॥
तिथिच्छेदेन वै तत्र सूर्यस्य ग्रहणं भवेत् ।

प्रागुक्तात् कासात् तिथिच्छेदेन यदा अमावस्येति तत्सम्बद्धः पक्षसंध्यार्धकालः स्वस्मिन् संध्यातुटिभागे प्रतिपत्कालेन सह भवति, तदा सूर्यग्रहणं भवति ॥

यतः—

का यह भी अर्थ है—अमा = साथ-साथ, चन्द्र और सूर्य जिसमें रहते है वह तिथि अमावास्या कहलाती है) ॥ ६८ ॥

अब पहले कही गयी पक्षसन्धि को स्पष्ट करते हैं—

शक्ति के मध्य के ऊर्ध्व भाग में जो तुट्यर्ध कहा गया उसे पक्षसन्धि समझना चाहिये ॥ ६९- ॥

ब्रह्मरन्ध्र से निकली हुई शक्ति का जो मध्य है वह त्वक्स्थान है । उस त्वक् का अन्तिम भाग = केशस्थान, ऊर्ध्व है । वही जो तुट्यर्ध है । वह दोनों पक्षों = शुक्लपक्ष और कृष्णपक्ष, की सन्धि है । जो प्राण का अन्तिम तुट्यर्ध है वही अपान का आदिम तुट्यर्ध होता है । तो इस प्रकार स्थान की दृष्टि से दोनों तुट्यर्ध एक ही हैं । तो इस प्रकार (= प्राण और अपान के) दो तुट्यर्ध का वाहकाल सन्धि होता है ॥

अब यहाँ सूर्यग्रहण को दिखलाते हैं—

तिथि के छेद से जब अमावस्या और उससे युक्त प्रतिपदा होती है उस समय वहाँ सूर्यग्रहण होता है ॥ -६९-७०- ॥

पूर्वोक्त कास के कारण तिथिच्छेद होने पर जब अमावस्या और उससे सम्बद्ध पक्षसन्ध्या का आधा काल अपने सन्ध्यातुटिभाग में प्रतिपत के काल के साथ, होता है तब सूर्य ग्रहण होता है ॥

क्योंकि—

रविबिम्बान्तरे देवि चन्द्रबिम्बं तदा भवेत् ॥ ७० ॥
तदन्तरे भवेद्राहुरमृतार्थी वरानने ।
अमृतं स्रवते चन्द्रो राहुश्च ग्रसते तु तम् ॥ ७१ ॥
पीत्वा त्यजति तद्बिम्बं तदा मुक्तः स उच्यते ।

तदेति प्रतिपदोऽमावस्याभागसंघट्टे, रविबिम्बान्तरे प्राणमध्ये, चन्द्रबिम्बम् अपानः, प्रविशेत् । पूर्वोक्तनीत्या च चन्द्रसहचारी राहुः सूर्यसंस्पर्शविलीनं चान्द्रममृतं पीत्वा कंचित्कालमास्वाद्य अपानरूपं चन्द्रबिम्बं स्वसम्बन्धाद् मुञ्चति । इदमत्र सतत्त्वम्—

प्राणार्कमानहठघट्टितमेयचन्द्र-
विद्रावितामृतरसोत्सुकितः खमाता ।
स्वर्भानुरावृणुत एव रविं रसं तु
पुण्ये ग्रहेऽत्र रसयेत् त्रयघट्टनज्ञः ॥

एवमन्तरिव बहिरप्यनयैव युक्त्या भवेत् ॥

आदित्यग्रहणं चैव लोके तदुपदिश्यते ॥ ७२ ॥

ततो ज्योतिःशास्त्रोक्तप्रक्रियया—

हे देवि ! उस समय चनद्रबिम्ब रविबिम्ब के अन्दर होता है । हे वरानने ! उन दोनों के बीच में अमृतार्थी राहु आया रहता है । चन्द्रमा अमृत का क्षरण करता है और राहु उस अमृत को पीता है । अमृतपान के बाद (जब राहु) उस बिम्ब को छोड़ देता है तब वह (= चन्द्र) मुक्त कहा जाता है ॥ -७०-७२- ॥

उस समय = प्रतिपद् का अमावास्या भाग से संघट्ट होने पर । रविबिम्ब के अन्दर = प्राण के मध्य में, चन्द्रबिम्ब = अपान, प्रवेश करता है । पूर्वोक्त नीति के अनुसार चन्द्रसहचारी राहु सूर्य के स्पर्श से विलीन चन्द्रसम्बन्धी अमृत का पान कर = कुछ समय तक आस्वादन कर, अपानरूप चन्द्रबिम्ब को, अपने सम्बन्ध से अलग कर देता है (तब वह चन्द्र मुक्त कहा जाता है) । यहाँ यह रहस्य है—

'प्राणरूपी सूर्य के प्रमाण से हठात् संघट्ट को प्राप्तप्रमेय चन्द्र से निकलने वाले अमृत रस के प्रति उत्सुक खमाता (= शून्यप्रमाता) स्वर्भानु (= राहु) सूर्य को आवृत कर देता है । इस प्रकार तीन (= सूर्य चन्द्रमा एवं राहु) के संघट्ट को जानने वाला इस पुण्यकाल में रस का आस्वादन करे'

इस प्रकार अन्दर की भाँति बाहर भी इसी युक्ति से (ग्रहण) होता है ॥

लोक में इसी को सूर्यग्रहण कहते हैं ॥ -७२ ॥

इसलिये ज्योतिःशास्त्र में वर्णित रीति से—

राहुरादित्यचन्द्रौ च त्रय एते ग्रहा यदा ।
दृश्यन्ते समवायेन तन्महाग्रहणं भवेत् ॥ ७३ ॥

महत्त्वमेव व्यनक्ति—

स कालः सर्वलोकानां महापुण्यतमो भवेत् ।

तथा च—

तत्र स्नानं तदा दानं पूजाहोमजपादिकम् ॥ ७४ ॥
यत्कृतं साधकैर्देवि तदनन्तफलं भवेत् ।

अनन्तम् अपरिच्छिन्नं मोक्षाख्यं फलं यस्य । यद्वक्ष्यति—

'मोक्षश्चैव पुनर्भद्रे' (७।८६) इत्यादि ॥

एवं कृष्णपक्षं सूर्यग्रहणं च प्रदर्श्य, शुक्लपक्षं चन्द्रग्रहणं च क्रमादादिशति देवः—

तां चैवार्धतुटिं त्यक्त्वा शुक्लपक्षोदयो भवेत् ॥ ७५ ॥

ताम् इति यत्र सूर्यग्रहणं दर्शितम्, शुक्लपक्षः अपानचन्द्रोदयरूपः ॥ ७५ ॥

तदाह—

राहु सूर्य और चन्द्रमा ये तीन ग्रह जब समवायेन (= एक साथ) दिखलायी पड़ते हैं तब वह (= समवाय) महाग्रहण होता है ॥ ७३ ॥

(महाग्रहण मे) महत्त्व क्या है ?—इसको बतलाते है—

वह काल सब लोगों के लिये महापुण्यतम होता है ॥ ७४- ॥

और—

उस काल में साधकों के द्वारा स्नान, दान, पूजा, होम, जप आदि जो कुछ किया जाता है वह अनन्त फलदायक होता है ॥ -७४-७५- ॥

अनन्तफल = अपरिच्छिन्न (= असीम) अर्थात् मोक्ष नामक फल है जिसका वह । जैसा कि कहेंगे—

'हे भद्रे ! मोक्ष ही होता है ।' (७।८६) ॥

कृष्णपक्ष और सूर्यग्रहण का वर्णन कर अब शुक्लपक्ष और चन्द्रग्रहण का क्रमशः निर्वचन करते हैं—

उस अर्ध तुटि को छोड़ कर शुक्ल पक्ष का उदय होता है ॥ -७५ ॥

उसको = जिसमें सूर्यग्रहण दिखलाया गया उसको शुक्लपक्ष = अपान रूपी चन्द्र का उदय रूप ॥ ७५ ॥

शक्तिगर्भादधः सृष्टिस्तस्माद् वृद्धिः प्रजायते ।

शक्तेर्गर्भः कुण्डलाकारता, सा हि शिम्बिकारूपतया स्वान्तरशेषं विश्वमासूत्र्य, अध इति हृदयपर्यन्तं तदेव सृजति । अत एव वृद्धिः क्रमात्क्रममपानचन्द्रपरिपुष्टिरूपा तथा वृद्धिर्निःश्वासात्मकधनरूपा जायते । अत्र कासक्रमेण तिथिच्छेदस्याभावात् ॥

यत एवम्, अतः—

तदारभ्य च कर्माणि शुभान्यभ्युदयानि च ॥ ७६ ॥
ध्यानमन्त्रादियुक्तस्य सिद्ध्यन्ते नात्र संशयः ।

तदारभ्य इति शक्तिगर्भस्वरूपमवष्टभ्य, शुभानि आप्यायनादीनि कर्माणि, अभ्युदयानि च तत्फलानि च ॥

अत्र शुक्लपक्षे दिननिशाविभागं प्रदर्शयति—

प्राणहंसो यदा प्राप्तस्त्वधस्तां प्रथमां तुटिम् ॥ ७७ ॥
पूर्वमर्धं त्वहः प्रोक्तं तुट्यर्धमपरं निशा ।

वही कहते हैं—

शक्ति गर्भ से लेकर नीचे तक सृष्टि होती है और उससे वृद्धि होती है ॥ ७६- ॥

शक्ति का गर्भ = शक्ति का कुण्डली के रूप में होना । वह शिम्बिका (= मटर की फली) के रूप में अपने भीतर समस्त विश्व का प्रारम्भ कर, अधः = हृदय तक, उस विश्व की रचना करती है । इसीलिये क्रमशः अपान चन्द्र की परिपुष्टि रूपा तथा निश्वासात्मक धन रूपा वृद्धि होती है क्योंकि यहाँ कास के क्रम से तिथिच्छेद नहीं होता ॥

चूँकि ऐसा होता है इसलिये—

तब से लेकर (पूर्णिमा तक) ध्यान मन्त्र आदि से युक्त (साधक) के शुभ और आभ्युदयिक कर्म सिद्ध होते हैं ॥ -७६-७७- ॥

तब से प्रारम्भ कर—शक्तिगर्भ के स्वरूप को आधार बना कर । शुभ = आप्यायन (= पौष्टिक) आदि (= शान्ति आरोग्य आदि) कर्म । अभ्युदय = उन कर्मों के फल ॥

शुक्ल पक्ष में दिन और रात्रि के विभाग को दिखलाते हैं—

प्राणहंस जब नीचे की ओर चलने के क्रम में प्रथम तुटि को प्राप्त करता है तो (उस प्रथम तुटि का) पूर्वार्द्ध दिन और पश्चिमार्द्ध रात्रि कहे जाते हैं ॥ -७७-७८- ॥

प्राणहंस इति प्राग्वत् । अध इति संधितुट्यर्धात् प्रथमां तुटिं शुक्लपक्ष-प्रतिपद्रूपाम् । 'य'दाशब्दश्रवणात् तदेत्यध्याहार्यम् । अहर्निशाप्रविभाग: प्राग्वदेव । एवं द्वितीयादितिथिष्वपि मन्तव्यम् ॥

किं चात्र—

राशयो ग्रह ऋक्षाणि योगाश्च करणानि च ॥ ७८ ॥
पूर्ववत् क्रमयोगेन तान्युद्यन्ति त्वहर्निशम् ।

गतार्थमेतत् ॥

या चेयं प्रथमा तुटि:—

प्रतिपत् सा तु विज्ञेया............

अत्र—

............चन्द्रश्चैककलो भवेत् ॥ ७९ ॥

किं च—

द्वितीयायां द्वितीया तु वृद्धिमेति क्रमेण तु ।

द्वितीयायाम् इति तुटौ । द्वितीया इति कला ॥

प्राण हंस को पूर्व की भाँति समझना चाहिये । नीचे-सन्धितुटि के आधे से नीचे । प्रथमा तुटि—शुक्लपक्ष की प्रतिपद् रूपा । श्लोक में 'यदा' शब्द के श्रवण के कारण 'तदा' का अध्याहार करना चाहिये । दिन और रात्रि का विभाग पूर्व की भाँति समझना चाहिये । द्वितीया आदि तिथियों के बारे में भी वैसा ही समझना चाहिये ॥

इसके अतिरिक्त यहाँ—

राशियाँ, ग्रह, नक्षत्र, योग और करण ये सब पूर्व की भाँति क्रम के योग से रातदिन उदित होते रहते हैं ॥ -७८-७९- ॥

इसका अर्थ स्पष्ट है ॥

जो यह प्रथमा तुटि है—

उसे प्रतिपद् समझना चाहिये ॥ -७९- ॥

इस (= तिथि या तुटि) में—

चन्द्रमा एक कला वाला होता है ॥ -७९ ॥

तथा—

दूसरी तुटि में द्वितीया तिथि क्रमश: वृद्धि को प्राप्त होती है ॥ ८०- ॥

एता एव तुटय:—

तिथयश्चैवमारभ्य यावत्पञ्चदशी तुटि: ॥ ८० ॥

भवति ॥ ८० ॥

सा च पञ्चदशी—

पौर्णमासी तु विज्ञेया तिथिर्वै साधकेन तु ।

मा: चन्द्र: पूर्णोऽस्यामिति कृत्वा, अत एवैहिकसिद्धिं साधयति । तेनैषा साधकैरुक्तवक्ष्यमाणव्याप्तिसारतया ज्ञातव्या ॥

अतश्च—

तत्र पूजा जपो ध्यानं सम्पूर्णं सफलं भवेत् ॥ ८१ ॥

ऐहिकफलमित्यर्थात् ॥ ८१ ॥

यत:—

सम्पूर्णश्च भवेत्तस्यां चन्द्रो वै चारुलोचने ।

द्वितीय अर्थात् द्वितीय तुटि में । द्वितीया का अर्थ है कला ॥

ये ही तुटियाँ—

और तिथियाँ इस प्रकार आरम्भ कर तब तक चलती रहती है जब तक कि पन्द्रहवीं तुटि आ जाती है ॥ -८० ॥

होती हैं—यह शेष है ॥ ८० ॥

और वह पन्द्रहवीं (तुटि)—

साधक के द्वारा पौर्णमासी तिथि समझी जानी चाहिये ॥ ८१- ॥

(पौर्णमासी शब्द का अर्थ बतलाते हैं—) मास् = चन्द्रमा, पूर्ण होता है जिस (तिथि या तुटि) में, वह पूर्णमासी होती है । इसीलिये (= पूर्ण होने के कारण ही, यह तिथि) ऐहिक सिद्धि को देती है । इससे यह साधकों के द्वारा उक्त एवं वक्ष्यमाण व्याप्ति वाली ज्ञातव्य है ॥

इसलिये—

इस (= पूर्णमासी) में किया गया पूजा जप ध्यान सम्पूर्ण और सफल होता है ॥ -८१ ॥

(सफल का अर्थ है—) ऐहिक फल वाला ॥ ८१ ॥

क्योंकि—

हे सुन्दर लोचनों वाली ! उस तिथि में चन्द्रमा पूर्ण हो जाता है ॥ ८२-॥

चो ह्यर्थे । चन्द्रः अपानः ॥

अथ—

तस्याश्चार्धतुटिर्या तु पक्षसंध्या तु सा स्मृता ॥ ८२ ॥

प्राग्वदेव । तस्या इत्यवधौ पञ्चमी ॥

कृष्णपक्षसंध्याशब्दवाच्यस्य पक्षसन्धे पूर्ववदेव—

तस्यार्धं पौर्णमासी तु प्रतिपदर्धेन संस्थिता ।

प्रतिपदः सम्बन्धिना अर्धेनेति तृतीया सहार्थे ॥

इत्थं च प्रागुक्तव्याप्त्यैव—

हृत्पद्मसंधिमध्ये तु सोमस्य ग्रहणं भवेत् ॥ ८३ ॥

संधिमध्यं प्राणापानसंधिस्थानम् । इदमत्र तत्त्वम्—

'शक्तिसंस्नुतसुधारसक्रमात् पूर्णमिन्दुमणुराहुराहरन् ।
छादयेदिह शुभे महाग्रहे द्रावितं पिबति तं महामुनिः ॥' इति ।

यहाँ 'च' का प्रयोग हि (= निश्चित रूप से) अर्थ में हुआ है । चन्द्र = अपान ॥

इसके बाद—

उसके बाद जो अर्धतुटि है वह पक्षसन्ध्या कही गयी है ॥ -८२ ॥

(इसे) पूर्व की भाँति (समझ लेना चाहिये) 'तस्याः' यहाँ पञ्चमी विभक्ति अवधि अर्थात् मर्यादा अर्थ में प्रयुक्त है ॥

कृष्णपक्ष की सन्ध्या शब्द से वाच्य उस पक्षसन्धि का पूर्व की ही भाँति—

आधी पौर्णमासी प्रतिपद् के अर्धभाग के साथ स्थित रहती है ॥ ८३- ॥

(प्रतिपदर्धेन की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—) प्रतिपद् से सम्बद्ध अर्ध के साथ यहाँ तृतीया विभक्ति का प्रयोग (सहयुक्ते अप्रधाने पा०सू० २।३।१९) से 'सह' अर्थ में हुआ है ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त व्याप्ति के ही द्वारा—

हृदय कमल की सन्धि के मध्य में सोम का ग्रहण (= चन्द्रग्रहण) होता है ॥ -८३ ॥

सन्धि का मध्य = प्राण और अपान की सन्धि का स्थान । यहाँ यह तथ्य है—

'शक्ति से संस्नुत (= क्षरण करने वाले) सुधारस के क्रम से अणु राहू पूर्ण

तदेतद् अन्तरिव बहिरपि ॥ ८३ ॥

आदित्येन विना लोके सोमग्रहणमुच्यते ।

प्रतिपत्सङ्गात् दूरस्थार्कस्पृष्टेऽपीन्दौ रात्रावर्काभावात्, सूर्यग्रहणे तु पार्वणेन्दुकलयार्कः संस्पृश्यत एव ॥

किं च—

तत्रैव च महत्पुण्यं ध्यानहोमजपादिभिः ॥ ८४ ॥

यथोर्ध्वपदे आदित्यग्रहणं मोक्षप्रदतया महापुण्यम्, तथा तत्रैव इति मध्यमधामप्रवेशक्रमलब्धे हृदये, चन्द्रग्रहणमैहिकोत्तमसिद्धिप्रदतया महापुण्यम् ॥ ८४ ॥

न च केवलं मध्यधामनि चन्द्रसूर्ययोर्ग्रहणम्, यावत्—

पक्षद्वयेऽपि देवेशि ग्रहणं चन्द्रसूर्ययोः ।

चन्द्र का आहरण करता हुआ इस शुभ महाग्रह में आच्छादन करता है । महामुनि उस द्रावित सुधारस का पान करता है ।' (इस श्लोक का निहितार्थ यह है कि यह जीवात्मा प्राण और अपान के संघट्ट से उत्पन्न एवं शक्ति से द्रव रूप में निकलने वाले अमृतविन्दु का पान करता है । शरीर के अन्दर पूर्वोक्त तुटिनियमावली के द्वारा प्रतिदिन एक सूर्य ग्रहण और एक चन्द्र ग्रहण होता रहता है अर्थात् योगी को नित्य अमृतपान का अवसर मिलता रहता है । अत्यन्त उच्च कोटि के योगियों को उस तुटि के सूक्ष्मतम अंश में दिन रात वर्ण आदि होने से एक ही मानवीय दिन में कई बार सूर्यग्रहण और चन्द्र ग्रहण का अनुभव होता है । फलतः वे निरन्तर अमृतरस का पान करते रहते हैं) ।

यह ग्रहण भीतर की भाँति बाहर भी होता है ॥ ८३ ॥

लोक में सूर्य के बिना भी चन्द्रग्रहण कहा जाता है ॥ ८४- ॥

प्रतिपत् के प्रसङ्ग से दूरस्थ सूर्य से स्पृष्ट भी चन्द्रमा में (ग्रहण होता ही है) क्योंकि रात्रि में सूर्य रहता नहीं । लेकिन सूर्यग्रहण में पार्वण चन्द्र की कला से सूर्य का स्पर्श होता ही है ॥

तथा—

उस काल में ध्यान होम जप आदि के द्वारा महापुण्य (का कार्य किया जाता है अथवा फल प्राप्त किया जाता है) ॥ -८४ ॥

जैसे ऊर्ध्वपद में सूर्य का ग्रहण मोक्षप्रद होने के कारण महापुण्य है उस प्रकार । वहीं = मध्य धाम (= सुषुम्ना) में प्रवेशक्रम से लब्ध हृदय में । चन्द्रग्रहण ऐहलौकिक उत्तमसिद्धिदायी होने के कारण महापुण्य है ॥ ८४ ॥

केवल मध्यधाम में ही चन्द्र और सूर्य का ग्रहण नहीं होता बल्कि—

नानासिद्धिप्रदं ह्येतत् साधकस्याभियोगिनः ॥ ८५ ॥

पक्षद्वये दक्षे वामे च, मध्यवदेव ग्रहणद्वयम् । नाना इति क्रूरसौम्यसिद्धिप्रदम् । अभियोगिन उद्युक्तस्य ॥ ८५ ॥

मुमुक्षोस्तु—

मोक्षश्चैव पुनर्भद्रे पक्षद्वयसमुज्झितः ।

चशब्द एवशब्देन सह नियतविषयतया तत्त्वेश्वरपदव्याप्त्यादिरूपमुत्तमं भोगं समुच्चिनोति । तेन पक्षद्वयोज्झितो मध्यमार्गश्च यो मोक्षः, तदूर्ध्वे सूर्यग्रहणे मोक्ष एव, हृदि तु चन्द्रग्रहणे भोगो मोक्षश्च ॥

अतश्च यो मोक्षार्थी—

पक्षद्वयं परित्यज्य पूर्वोक्तकरणेन तु ॥ ८६ ॥
उनमन्यन्ते स्थितो नित्यं परवृत्त्यवलम्बकः ।
परित्यज्य त्वधः सर्वं ध्यानमास्थाय योजयेत् ॥ ८७ ॥
तस्य मुक्तिर्न संदेहस्त्वन्यथा सिद्धिभाग्भवेत् ।

पूर्वोक्तं करणं दिव्यम् । परा वृत्तिरुक्ता लक्ष्यते च । अधस्तनं सर्व-

---

हे देवेशि ! दोनों पक्षों में भी चन्द्र और सूर्य का ग्रहण होता है । साधना में लगे हुए साधक के लिये यह अनेक सिद्धियाँ प्रदान करता है ॥ ८५ ॥

दोनों पक्षों = बाँयें और दाँयें पक्षों में भी, मध्यधाम की भाँति दो ग्रहण होते हैं । अनेक प्रकार की = क्रूर सौम्य आदि । अभियोगी = उदयुक्त (= साधना-कार्य में लगे हुए) ॥ ८५ ॥

लेकिन मुमुक्षु को—

हे भद्रे ! मोक्षलाभ दोनों पक्षों से व्यक्त (मध्यमार्ग से) होता है ॥८६-॥

श्लोक में 'एव' शब्द के साथ 'च' शब्द का प्रयोग नियतविषय होने के कारण भिन्न-भिन्न तत्त्वों के ईश्वर पद की व्याप्ति आदि रूप वाले उत्तम भोग को बतलाता है । इससे पक्षद्वय से त्यक्त और मध्यमार्गवाला जो मोक्ष, उससे ऊपर सूर्यग्रहण में मोक्ष होता है और हृदय में चन्द्रग्रहण में भोग और मोक्ष दोनों होता है ॥

(जो साधक) दोनों पक्षों को छोड़कर पूर्वोक्त करण के द्वारा परावृत्ति का अवलम्बन कर उन्मना के अन्त में नित्य स्थित रहता है और नीचे के समस्त पदों को छोड़ कर ध्यान में स्थित होकर (अपने को परतत्त्व से) युक्त करता है निःसन्देह उसकी मुक्ति हो जाती है । विपरीत स्थिति में वह अनेक प्रकार की सिद्धियों का स्वामी बन जाता है ॥ -८६-८८- ॥

पूर्वोक्त करण = दिव्यकरण । परा वृत्ति का वर्णन किया जा चुका है और

मुन्मनान्तं परित्यज्य तत्समरसीकृत्य । ध्यानं परतत्त्वविमर्शः । अन्यथा इति दक्षवामपथोर्ध्वस्थितः ॥ ८६-८७ ॥

मध्यपथग्रहणं चैतद् दुर्लभम्, इतरत्तु सुलभमेव इत्याह—

पक्षद्वयेऽपि ग्रहणं भवेद्वै सर्वदेहिनाम् ॥ ८८ ॥

देहिनाम् इत्यनेन मितयोगिनामत्यन्तं देहप्रमात्रभिमानत्वमिति दर्शयति ॥ ८८ ॥

उपसंहरति—

एवमेतत् समाख्यातं यावदायुर्वरानने ।

एतद् इति सावधानसञ्चेत्य ग्रहणम् ।

अत्रैवाध्यात्माहोरात्रे त्वथाब्दोदय उच्यते ॥ ८९ ॥

तमाह—

हृत्पद्माद्दूर्ध्वपर्यन्तं राशयः षड् व्यवस्थिताः ।

राशयो मकराद्याः ॥

आगे भी किया जायेगा । अधस्तन = उन्मना पर्यन्त समस्त पदों का, परित्याग कर = उनको समरस बना कर । ध्यान = पर तत्त्व का विमर्श । अन्यथा = दाँयें और बाँयें मार्ग (= इडा पिङ्गला नाडी) में ऊपर स्थित ॥ ८६-८७ ॥

मध्यमार्ग का यह ग्रहण दुर्लभ है अन्य दोनों मार्गों का ग्रहण सुलभ है—यह कहते हैं—

दोनों पक्षों में ग्रहण तो सभी शरीरधारियों का होता है ॥ -८८ ॥

'देहिनाम्' के कथन से परमेश्वर यह सङ्केत करते हैं कि मितयोगियों को देहप्रमातृता का अत्यधिक अभिमान होता रहता है ॥ ८८ ॥

(प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

हे वरानने ! इस प्रकार (मनुष्य की) आयुपर्यन्त (प्रतिदिन घटित होने वाला) यह (= ग्रहण) कहा गया ॥ ८९- ॥

यह = सावधान के द्वारा ध्यान देने योग्य ग्रहण ।

यहीं पर (= प्राणचार में) अध्यात्मिक अहोरात्र होते हैं । अब (इसी प्राणचार में न लोगों) अब्द (= वर्ष) का उदय बतलाते हैं ॥ -८९ ॥

उस (= अब्दोदय) को बतलाते हैं—

हृदय से लेकर ऊर्ध्व द्वादशान्त पर्यन्त छः राशियाँ स्थित हैं ॥ ९०- ॥

राशियाँ मकर आदि (= कुम्भ मीन मेष वृष और मिथुन) ॥

षट्त्रिंशदङ्गुले चारेऽत्र—

अङ्गुलैः षड्भिरेकैको हृत्पद्माद्याव शक्तितः ॥ ९० ॥

एकैक इति राशिः ॥

इत्थमस्मिन् षट्त्रिंशदङ्गुले षण्मासोदये—

अङ्गुले अङ्गुले (ह्यत्र) तिथयः पञ्च संस्थिताः।
तस्याप्यर्धं दिनं पूर्वमपरार्धं निशा भवेत् ॥ ९१ ॥

तस्य अङ्गुलपञ्चभागावधेस्तिथेः ॥

अत एव—

षट्पञ्चकास्तिथीनां ये तेऽहोरात्रास्तु मासिकाः।
त्रिंशता तैरहोरात्रैर्द्विपक्षो मास उच्यते ॥ ९२ ॥

षडङ्गुले राश्युदयस्थाने त्रिंशदहोरात्रस्य मासस्य निष्पत्तिर्भवतीत्यर्थः । द्विपक्ष इत्यनेनेदमाह—यथातोऽपि तत्तन्माससाध्यक्रूरसौम्यसिद्ध्यर्थकृष्णशुक्लपक्षाश्रयणं सुसूक्ष्मदृशा योगिनानुसर्तव्यमिति । अत एव वर्षसाध्ये विधौ तत्तन्मासकार्यं कर्म बाह्यान्तरमासैकीकारानुसरणपूर्वं योगिनानुष्ठातव्यमिति वर्षोदयेऽभिप्रायः ॥ ९२ ॥

यहाँ छत्तीस अंगुल (मान वाले) प्राणचार में—

हृदय से लेकर शक्तिपर्यन्त छह-छह अंगुल के अन्तराल पर एक-एक राशि रहती है ॥ -९० ॥

एकैक = राशि ॥

इस प्रकार इस छत्तीस अंगुल में छह महीने का उदय होने पर—

यहाँ एक-एक अंगुल में पाँच तिथियाँ रहती हैं । उसका पूर्वार्ध दिन और परार्द्ध रात्रि होती है ॥ ९१ ॥

उसका = एक अंगुल के पञ्च भाग वाली तिथि का ॥

इसीलिये—

जो छह पञ्चक (६×५=३०) तिथियाँ हैं वे एक मास के दिन रात हैं। उन तीस अहोरात्रों से दो पक्ष होते हैं जो कि मास कहा जाता है ॥ ९२ ॥

छः अंगुल राशि वाले उदयस्थान में तीस दिन रात्रि वाले मास की निष्पत्ति होती है । 'दो पक्ष' इस से यह कहते हैं कि इससे भी तत्तत् मास में साध्य क्रूर एवं सौम्य (= अशुभ एवं शुभ) कर्मों की सिद्धि के लिये सूक्ष्म दृष्टि वाला योगी कृष्ण एवं शुक्ल पक्ष का आश्रयण करे । इसलिये जो अनुष्ठान वर्षपर्यन्त करणीय है उसमें तत्तत् मास में करने योग्य कर्म का अनुष्ठान योगी बाह्य और आभ्यन्तर

तदित्थम्—

मासि राश्युदये ह्येष अधोर्ध्वप्राणसञ्चरे ।

ऊर्ध्ववदधः प्राणसञ्चारेऽपि, एष एवमादिः क्रमो ज्ञेय इत्यर्थः ॥

अथ राश्युदयं विभागेनादिशति मासप्रभेददर्शनाशयेन—

हृदयादुदयस्थानात् संक्रान्तिर्मकरे स्थिता ॥ ९३ ॥
षडङ्गुलान्यधस्त्यक्त्वा कुम्भे संक्रमते पुनः ।
कण्ठोर्ध्वे द्व्यङ्गुलं त्यक्त्वा मीने संक्रमते पुनः ॥ ९४ ॥
गलोर्ध्वाद्यावत्ताल्वन्तं त्यक्त्वा मेषेऽथ संक्रमेत् ।
नासान्तं यावत् संक्रान्तिरङ्गुलानि षडेव हि ॥ ९५ ॥
एषा वै विषुसंक्रान्तिरुत्तरे संव्यवस्थिता ।

उदयस्थानाद् इति मन्त्रोच्चारणभूमेः । संक्रान्तिरिति प्राणार्कस्येत्यर्थात्, अत एव माघादिमासक्रमोऽत्र स्थितः । षडङ्गुलानि इति काकाक्षिवत् । विषुसंक्रान्तिः

मासों को एक कर के करे । वर्षोदय का यही अभिप्राय है ॥ ९२ ॥

तो इस प्रकार—

नीचे ऊपर प्राणसञ्चार रूप मास एवं राशि के उदय में भी यह होता है ॥ ९३- ॥

ऊर्ध्व की भाँति अधः प्राणसञ्चार में भी इसी प्रकार का क्रम समझना चाहिये ॥

अब मासभेद को दिखलाने के आशय से राशियों के उदय को विभाग के साथ बतलाते हैं—

(मन्त्रों के) छः अंगुल वाले उदयस्थान हृदय से प्राणरूपी सूर्य की संक्रान्ति मकर राशि में रहती है नीचे के छः अंगुल को छोड़ कर (यह प्राण सूर्य) कुम्भ राशि में संक्रान्त हो जाता है । कण्ठ के ऊपर दो अंगुल छोड़ कर वह मीन राशि में चला जाता है । कण्ठ के ऊर्ध्व भाग से तालुपर्यन्त स्थान को छोड़ कर यह प्राणार्क मेष में संक्रमण करता है । इसके बाद नासिका पर्यन्त छः अंगुल की संक्रान्ति होती है । यह (सूर्य के) उत्तरायण की विषुवत् संक्रान्ति है ॥ -९३-९६- ॥

उदयस्थान से = मन्त्रों की उच्चारणभूमि से । संक्रान्ति—प्राणरूपी सूर्य की । इसीलिये यहाँ माघ आदि महीनों का क्रम है । 'षडंगुलानि' को काकाक्षिगोलकन्याय[1] से

---

१. कौवे के पास आँख एक होती है किन्तु गोलक दाँये बाँये हो होते हैं । दाँयी ओर देखने के लिये वह आँख को दाये गोलक में तथा बायीं ओर देखने के लिये बाये गोलक में ले जाता है ।

विषुवत्संक्रान्तिः । उतरे इति उत्तरायणे ॥

एतच्च प्राग्वत् पारलौकिकादिसिद्ध्यङ्गतयेति ज्ञेयम् । तदाह—

जपहोमार्चनध्यानान्महाभ्युदयकारिका ॥ ९६ ॥

एषा विषुवत्संक्रान्तिरित्यर्थः । अत्रापि प्राग्वदन्तरिव बाह्यसंक्रान्तिष्वपि तत्तत्-फलप्रदत्वं स्मर्तव्यम् ॥ ९६ ॥

अथ—

नासाग्रं तु परित्यज्य प्राणहंसो वृषे चरेत् ।
षडङ्गुलानि संत्यज्य संक्रमेन्मिथुने पुनः ॥ ९७ ॥
शक्त्यन्तं यावदध्वानं संक्रान्तिर्मिथुने स्मृता ।

षडङ्गुलानि इति काकाक्षिवत् । शक्त्यन्तं द्वादशान्तम् ॥

एतदनुवदन् फलं पर्यवसायि दर्शयति—

मकराच्च समारभ्य मिथुनान्तं च सुव्रते ॥ ९८ ॥
उत्तरायणमत्रैतदैहिकीसिद्धिवर्जितम् ।

दोनों के साथ (= 'उदयस्थानात्' तथा 'अधः' के साथ) जोड़ना चाहिये । विषुवसंक्रान्ति = विषुवत् संक्रान्ति । उत्तर में = उत्तरायण में ॥

इस (= राशि के उदय) को पूर्व की भाँति पारलौकिक सिद्धि का अङ्ग समझना चाहिये । वही कहते हैं—

यह विषुवत् संक्रान्ति जप होम पूजा ध्यान के कारण महा अभ्युदय प्रदान करती है ॥ -९६ ॥

अर्थात् यह विषुवत् संक्रान्ति । यहाँ भी पूर्व के समान आन्तरिक संक्रान्तियों की भाँति बाह्य संक्रान्तियाँ भी तत्तत् फल देती है—यह स्मरण रखना चाहिये ॥ ९६ ॥

तत्पश्चात्—

प्राणहंस जब नासिका के (छः अंगुल वाले) अग्रभाग को छोड़ कर वृष राशि पर सञ्चरण करता है पुनः छः अंगुल छोड़ कर मिथुन राशि पर चला जाता है तो इस मिथुन पर अध्वा की संक्रान्ति शक्तिपर्यन्त मानी जाती है ॥ ९७-९८- ॥

षडङ्गुलानि पद को काकाक्षि के समान दोनों ओर जोड़ना चाहिए । शक्त्यन्त का अर्थ है—द्वादशान्त तक ॥

इसका पुनः वर्णन करते हुए अन्तिम फल को बतलाते हैं—

हे सुव्रते ! मकर से लेकर मिथुन राशिपर्यन्त (सूर्यसंक्रान्ति) उत्तरायण

उत्तीर्यतेऽनेनेति व्युत्पत्त्या उत्तरमयनम् ॥

ततश्च—

स्नानं ध्यानं तथा दानं पूजाहोमजपादिकम् ॥ ९९ ॥
साधकाद्यैः कृतं यच्च सहस्रानेकधा भवेत् ।
इह जन्मनि नाप्नोति परत्रैवोपतिष्ठते ॥ १०० ॥

साधकादीनां पुत्रकादीनां चात्र स्नानादिकरणात्तद्देहान्ते भोगो मोक्षश्चाभीष्टो भवति ॥ ९९-१०० ॥

'इह जन्मनि नाप्नोति' इत्यत्र हेतुमाह—

दिनानि तत्र वर्धन्ते मकरान्मिथुनान्तिकम् ।
तत्काले संहरेद्वीर्यं जगत्यस्मिंश्चराचरे ॥ १०१ ॥
हंसो रश्मिभिराकृष्य गर्भस्थं कारयेत्तु तम् ।

तत्र इत्युत्तरायणे । दिनवृद्धिर्मेयग्रहणाभ्यासेन विश्रान्तिभागानादरात् । वीर्यं विश्वस्याप्यायनकरं रसम् । हंसः अनाहतनादोऽन्तः, बहिस्तु सूर्यः । रश्मिभिः

होता है । इससे ऐहलौकिक अभ्युदय नहीं होता (किन्तु मोक्षलाभ होता है) ॥ -९८-९९- ॥

(उत्तरायण शब्द का विग्रह करते है—) जिसके द्वारा (इस संसार से) उत्तरण किया जाय (= उस पार जाया जाय) वह उत्तर अयन (= उत्तरायण) होता है ॥

इसलिये—

(इस उत्तरायण में) साधक आदि के द्वारा स्नान ध्यान दान पूजा होम जप आदि जो कुछ किया जाता है (एक बार किया गया वह कृत्य) अनेक सहस्र (अनुष्ठान के बराबर फलदायक) होता है (साधक उन कर्मों का फल) इस जन्म में नहीं वरन् परलोक में प्राप्त करता है ॥ -९९-१०० ॥

इस (= उत्तरायण) में स्नान आदि के करने से साधकों और पुत्रक दीक्षा प्राप्त लोगों को उनके देहान्त में अभीष्ट भोग और मोक्ष मिलता है ॥ ९९-१०० ॥

(साधक) इस जन्म में (फल को) नहीं प्राप्त करता—इसमें कारण बतलाते हैं—

उस (उत्तरायण) में मकर राशि से लेकर मिथुन राशि तक दिनमान में वृद्धि होती है । इस समय हंस इस चराचरात्मक जगत् में वीर्य का संहार करता है । और उस (= वीर्य) को रश्मियों के द्वारा आकृष्ट कर गर्भ में स्थापित कर देता है ॥ १०१-१०२- ॥

उसमें = उत्तरायण में । दिनवृद्धि का कारण है—प्रमेय के ग्रहण के अभ्यास से

अन्तर्मुखीभूताभिर्विमर्शमयीभिरिन्द्रियदेवीभिरन्तः, बहिस्तु प्रभाभिः । 'संहरेत्' इति व्याचष्टे—गर्भस्थं शक्त्यन्तर्गतम्, कारयेत् कुर्वतो रश्मीन्नियुनक्ति ॥

तत्कृत्वा—

गर्भस्थानेकधारूपं यद् गृहीतं पुरातनम् ॥ १०२ ॥
कर्कटादेः समारभ्य सर्वं वर्षति तत्पुनः ।

कर्कटादेरित्यपानोदयस्थानात् । तद् इति वीर्यम् ॥

यत एवं प्राणोदयो वीर्यसंहारकृत्—

तस्मादारभ्य मकराद् ध्यानहोमजपादिकम् ॥ १०३ ॥
परलोकनिमित्ताय तदनन्तफलं भवेत् ।

पूर्वोक्तानुवादोऽयम् ॥

अत्रैवोत्तरायणे साधकस्य मन्त्रसेवार्थं जपादावान्तरस्थानविशेषात्मकालविशेषाश्रयेणोच्चारमादिशति—

विश्रान्तिभाग का अनादर । वीर्य = विश्व का भरण करने वाला रस । हंस = (शरीर के) भीतर अनाहत नाद और बाहर सूर्य । किरणों के द्वारा = भीतर अन्तर्मुखी भूत विमर्शमयी इन्द्रियदेवियों के द्वारा और बाहर सूर्य की किरणों के द्वारा । 'संहरण करता है'—पद की व्याख्या करते हैं—गर्भस्थ करता है = गर्भस्थ = शक्ति के अन्तर्गत, कराता है = करने वाली रश्मियों को नियुक्त करता है ॥

इसका सम्पादन कर—

गर्भस्थ अनेक प्रकार का प्राचीन रूप जिसका (हंस ने) पहले ग्रहण किया था उस (समस्त वीर्य) की कर्कट आदि राशि से लेकर पुनः वृष्टि करता है ॥ -१०२-१०३- ॥

कर्कट आदि से = अपान के उदयस्थान से । उसको = वीर्य को ॥

चूँकि इस प्रकार का प्राणोदय वीर्य का संहार करने वाला होता है—

इस कारण मकर राशि की सूर्यसंक्रान्ति से लेकर (मिथुन की सूर्य संक्रान्ति तक) परलोक के उद्देश्य से किया गया ध्यान होम जप आदि अनन्तफल वाला होता है ॥ -१०३-१०४- ॥

यह (= श्लोक) पूर्वोक्त (श्लोक) का अनुवाद है ॥

इसी उत्तरायण में साधक के द्वारा विहित मन्त्रसेवा (= पुरश्चर्या) के लिये जप आदि में (शरीर के) भीतर वर्तमान स्थानविशेष वाले कालविशेष के आश्रयण से उच्चार को बतलाते हैं—

पुरश्चर्यानिमित्ताय मन्त्रग्रहव्रतं च यत् ॥ १०४ ॥
मीनादावारभेत् सर्वं मन्त्रसिद्ध्यर्थमात्मनः ।

पुरश्चर्या प्रथममेव, मन्त्रग्रहपूर्वं व्रतं नियतजपादिकरणम् । अष्टाङ्गुलात्कण्ठदेशादंगुलद्वयं त्यक्त्वा ऊर्ध्वं ताल्वन्तं षडंगुलं मीनस्थानम्, एतदादौ शक्त्यवधिमिथुनस्थानान्ते । अतः प्रभृति ह्यूकारमकारयोगात् परस्य निष्कलस्य मन्त्रत्वमिति पूर्वमुक्तम् ।

'मत्स्यवलनसंयोगात्तालुरन्ध्रे व्यवस्थिता' ।

इति च श्रीत्रिकसारे निरूपितत्वादत्र शक्तेर्मीनवन्मुखपुच्छाच्छोटनेन तालुबिलाक्रमणात्तद्गतरसास्वादनतः साधकसंविदः सरसत्वापादनेन भाविफलं प्रत्यङ्कुरीभावापादनादेवमुक्तम् ॥

युक्तं चैतत्, यतोऽत्र—

बाह्येऽपि तरवो लोके ऋतुषट्कसमीरितम् ॥ १०५ ॥
कुसुमानन्दमायान्ति कुसुमायुधदीपकम् ।

पुरश्चर्या[१] के निमित्त जो मन्त्रग्रह का व्रत किया जाता है, अपने मन्त्र की सिद्धि के लिये इन सबका आरम्भ (सूर्य की) मीन (राशि पर संक्रान्ति) के समय करना चाहिये ॥ -१०४-१०५- ॥

पुरश्चर्या (= पुरश्चरण) के पहले । ('मन्त्रग्रहव्रत' का अर्थ बतलाते हैं—) मन्त्र के ग्रहण के बाद (अथवा मन्त्रग्रह से पहले) किया जाने वाला व्रत = निश्चित संख्या में (अथवा निश्चित काल में) जप आदि का करना । आठ अंगुल वाले कण्ठदेश से दो अंगुल छोड़ कर ऊपर तालुपर्यन्त छः अंगुल का स्थान मीन राशि का होता है (२ अंगुल स्थान कुम्भ राशि का होता है) । यहाँ से लेकर शक्तिपर्यन्त मिथुन राशि के स्थान तक (आरम्भ करना चाहिये) । यहाँ से लेकर ऊकार मकार के योग से पर = निष्कल, को मन्त्र कहते हैं—यह पहले कहा जा चुका है ।

'(शक्ति) मत्स्य के वलन के संयोग से तालुरन्ध्र में स्थित रहती है ।'

ऐसा श्री त्रिकसार में निरूपण किया गया है । इस कारण शक्ति के मछली की भाँति मुख और पूँछ के पटकने से तालुबिल पर जो आक्रमण होता है उससे उस तालु में स्थित रस के आस्वादन से साधक की संवित् सरस हो जाती है । फलतः भावीफल के प्रति अंकुरण का प्रारम्भ हो जाता है—इसलिये ऐसा कहा गया ॥

यह ठीक भी है क्योंकि—

बाह्य जगत् में भी वृक्ष छः ऋतुओं से प्रेरित कुसुमानन्द, जो कि

---

१. मन्त्र में जितने अक्षर होते हैं उस मन्त्र का उतने हजार जप लघु पुरश्चर्या एवं उतने लाख जप वृहद पुरश्चर्या होती है ।

तरवः कुरवकाद्या अपि मीनसञ्चारात्मकवसन्तात्प्रभृति कुसुमविकासमयमानन्दं प्राप्नुवन्ति । तं च ऋतुषट्के समीरितम् वसन्ते प्रथममुद्दिद्य अन्यत्रापि ऋतौ कुसुमानां प्रसरात् । 'कुसुमायुधदीपकम्' इत्यनेन कामोद्दीपनहेतुतामभिदधत् सादृश्येनान्तरस्यापि वसन्तस्य कामानां प्रति साधकत्वं ध्वनति । अत एव बहिर्यथा कुसुममेव 'फलोपादानम्, तथान्तरपि मीनादौ कर्मारम्भः कुसुमप्रतिमः साधकानामवश्यमीप्सितं फलमभिमुखं करोति इति कुसुमशब्दाभिप्रायः ॥

अत एव—

मन्त्राः कालानुरूपेण व्रतचर्यादिनेरिताः॥ १०६ ॥
ज्ञेयबोधप्रदीप्ताश्च सिद्धिमुक्तिप्रसाधकाः ।

कालो मीनाद्युदयः । व्रतम् आराधननियमः । चर्या साधकोचितसमयाचारः आदिशब्दात् करणबन्धादिरुच्चारणोपायः । ईरिताः उत्तेजिताः । ज्ञेयबोधो मन्त्रवाच्यदेवताव्याप्तिज्ञानम्, तेन प्रदीप्ताः तत्प्रकाशाविभेदिविमर्शसाराः ॥

कुसुमायुध (= काम) का उद्दीपक है, को प्राप्त करते हैं ॥-१०५-१०६-॥

तरु = कुरवक (= सदाबहार या सरकटैया) आदि भी मीन के सञ्चार वाले वसन्त से लेकर कुसुमविकासमय आनन्द को प्राप्त करते हैं । और उस (= आनन्द) को छहों ऋतुओं में समीरित = प्रसारित, करते हैं । तात्पर्य यह है कि पुष्पों का प्रथम उद्‌भव वसन्त में होता है और फिर अन्य ऋतुओं में भी फूलों का प्रसार होता है । 'कुसुमायुधदीपकम्' इस कथन से लेखक इसको कामोद्दीपन का कारण बतलाते हुए उसी की सदृशता के आधार पर आन्तर वसन्त को भी कामनाओं का साधक सङ्केतित करता है । इसलिये जैसे बाह्य जगत् में पुष्प फल का उपादान कारण होता है उसी प्रकार आन्तर जगत् में मीन आदि में कुसुमवत् कर्मारम्भ साधकों को फल की प्राप्ति का सङ्केत देता ही है—यह 'कुसुम' शब्द का अभिप्राय है ॥

इसीलिये—

जो मन्त्र समय के अनुसार व्रत, चर्या आदि के द्वारा उत्तेजित किये जाते हैं साथ ही ज्ञेय के बोध से प्रदीप्त होते हैं, वे सिद्धि और मुक्ति को देने वाले होते हैं ॥ -१०६-१०७- ॥

काल = मीन आदि (= मेष वृष....) का उदयकाल । व्रत = आराधना में नियम । चर्या = साधक के सामर्थ्य स्वरूप आदि के अनुकूल नियम का आचरण (व्रतचर्यादिना—) यहाँ 'आदि' शब्द से करण (= इन्द्रिय) बन्ध (= जिह्वा आदि को विशिष्ट स्थानों से जोड़ना) आदि उच्चारण के उपायों को समझना चाहिये । ईरित = उत्तेजित । ज्ञेय का बोध = मन्त्र के वाच्य देवता की व्याप्ति का ज्ञान । उससे प्रदीप्त = उसके प्रकाश से अभिन्न विमर्शवाले ॥

यत एवं सर्वमन्त्राणां स्थितिरतोऽयमत्रत्यो मन्त्रः पूर्वसेवार्थम्—

अध्यात्मशब्दरूपात्मा षड्रसास्वादनेरितः ॥ १०७ ॥
हंसबोधप्रदीप्तस्तु गलके मीनमाश्रितः ।

अध्यात्मशब्दोऽनाहतध्वनिस्तत्परमार्थः ।

'शिवो धर्मेण हंसस्तु' (७।२९)

इत्यत्र निर्णीतेन हंसस्य बोधेन व्याप्तिज्ञानेनेद्धः । व्याख्यातमत्स्यबलनव्याप्त्या गले मीनराशिसञ्चार प्राप्तः, अथ च षष्ठबीजमेवोर्ध्वाधः कलात्मकमुखपुच्छाच्छोटतया प्रोच्छलन्मीनरूपत्वम् आश्रित आरूढः । तत एव च सर्वेन्द्रियाश्रयप्राणाधिरूढेनात्मना ईरितो लम्बिकारसास्वादाय प्रेरितः, ततः प्रभृति मन्त्रतां प्राप्तः सन्नुच्चार्य इति यावत् ॥

एतदेवोपसंहारभङ्गया आदिशति—

शब्दसंवेदनं तस्य स्फुटं तत्र भवेद्यतः ॥ १०८ ॥
तदारभ्य जपात्तस्य सर्वमेव प्रवर्तते ।
मिथुनान्तं च देवेशि ततः सिद्धिः प्रजायते ॥ १०९ ॥

चूँकि सब मन्त्रों की इस प्रकार की स्थिति है इसलिये यहाँ का यह मन्त्र पूर्वसेवा (= पुरश्चरण) के लिये—

अध्यात्मशब्दरूप, छह रसों के आस्वाद से उद्दीप्त, हंस के बोध से प्रदीप्त हुआ मीन में आश्रित होकर कण्ठ में (उच्चार्य होता है) ॥ -१०७-१०८- ॥

अध्यात्मशब्द = अनाहत ध्वनि रूप परमार्थ वाला शब्द ।

'शिव अपने धर्म के कारण हंस है ।' (७।२९)

यहाँ बतलाये गये हंस के बोध से = व्याप्तिज्ञान से, इद्ध (= उत्तेजित) । पहले व्याख्यात मत्स्यवलन की व्याप्ति के द्वारा कण्ठ में मीनराशि के सञ्चार को प्राप्त, तथा छठाँ बीज (= बिन्दु) ही उर्ध्व और अधः कला रूप मुख और पूँछ के आच्छोटन (= पटकने) से उच्छलित मीन रूप को अश्रित = आरूढ = प्राप्त होता है । और इसीलिये समस्त इन्द्रियों के आश्रयभूत प्राण पर अधिरूढ़ आत्मा के द्वारा ईरित = लम्बिका के रसास्वाद के लिये प्रेरित, उस समय से मन्त्रता को प्राप्त हुआ उच्चार्य होता है ॥

इसी को उपसंहार के रूप में बतलाते हैं—

चूँकि उस साधक को वहाँ शब्द का अनुभव स्पष्ट रूप से होता है इसलिये हे देवेशि! वहाँ (= मकर) से लेकर मिथुनपर्यन्त उस मन्त्र के

तस्य अध्यात्मशब्दस्य । स्फुटं शब्दसंवेदनं मन्त्रतत्त्वानुभवनम् । तंत्र इति मीनस्थाने । तस्य इति साधकस्य । सर्वं पूर्वसेवार्थं जपपूजाध्यानादि । मिथुनान्तं शक्त्यवस्थाने विश्रान्तिं कृत्वेत्यर्थः । सिद्धिः प्रजायते मन्त्राराधनं निष्पद्यते । तदत्रोत्तरायणचारे प्राणस्यैव मकरादिरूपत्वमुक्तम्, तदनुकाराद् बहिरिति वर्णयन्ति । तथाहि—हृदयादुद्घाटितवक्त्रप्राणस्य प्रसरणान्मकरत्वम्, कण्ठे कुम्भवदवस्थानात्कुम्भत्वम्, ततः पूर्वापराच्छोटनेनोच्छलनान्मीनत्वम्, ततोऽपि हुडयुद्धवद् भ्रूमध्यभेदनान्मेषत्वम्, तदनु द्वयरसवर्षणाद् वृषत्वम्, अनन्तरं शिवशक्त्युभयात्मकत्वान्मिथुनत्वमिति ॥ १०९ ॥

एवं प्राणे मिथुनान्तमुत्तरायणं निर्णीय, अपाने कर्कटादिधन्व्यन्तं दक्षिणायनं निर्णेतुमाह—

सहंसो बिन्दुशक्तिस्थः सिद्धिद्वारैरधोमुखः ।
कर्कटादौ स वर्षेत्तु तुलान्तं तालुकान्तरे ॥ ११० ॥

सह हंसेन वर्तते यः प्राणः स बिन्दुशक्तिस्थ इति—

'यदा करोति सृष्टिं तु ऊर्ध्वे बिन्दुः प्रवर्तते' (६।१५)

जप से उसका सब कुछ (= पूजा आदि) हो जाता है । इसके बाद सिद्धि मिलती है ॥ -१०८-१०९ ॥

उसका = अध्यात्म शब्द का । स्फुट शब्दसंवेदन = मन्त्र तत्त्व का अनुभव । वहाँ = मीन के स्थान में । उसको = साधक को । सब = पूर्वसेवार्थ (= पुरश्चरणार्थ) जप पूजा ध्यान आदि । मिथुन पर्यन्त = शक्ति स्थान में, विश्रान्ति करके । सिद्धि होती है = मन्त्र की आराधना पूर्ण होती है । यहाँ (प्राण के) उत्तरायणचार में प्राण को ही मकर आदिरूप कहा गया है । वह इस प्रकार—प्राण हृदय से अपना मुख उद्घाटित करता है इसलिये वह मकर है । कण्ठ में कुम्भ के समान स्थित होने के कारण वह कुम्भ है। इसके बाद पूर्वभाग और परभाग के आच्छोटन से वह मीन है । तत्पश्चात् हुड (= भेंड़) के युद्ध के समान भ्रूमध्य का भेदन करने से वह मेष है । इसके बाद दो रसों (= अद्वैत से द्वैतभाव) का वर्णन करने से वह वृष है। बाद में शिवशक्ति उभयरूप होने से वह मिथुन है ॥ १०९ ॥

इस प्रकार भगवान् प्राण में उत्तरायण का वर्णन कर अपान में कर्क से लेकर धनुपर्यन्त दक्षिणायन का वर्णन करने के लिये कहते हैं—

प्राण जब हंस के साथ बिन्दु और शक्ति में स्थित हुआ सिद्धि के द्वारों से अधोमुख होता है तब वह कर्क से ले कर तुलापर्यन्त तालु के मध्य में (सिद्धियों की) वर्षा करता है ॥ ११० ॥

हंस के साथ जो प्राण है वह (सहंस कहलाता है) । बिन्दु और शक्ति में स्थित—

इत्युक्तदृशा समनापदस्थः, सिद्धिप्रदत्वात्तद्द्वारैः षडङ्गुलैश्चतुर्भिश्चारैः, अधोमुखो ब्रह्मरन्ध्रक्रमेणान्तःप्रविष्टः, तालुकान्तरे तालुमध्ये, तुलान्तम् इति कण्ठं षडङ्गुलं वर्षेत् ॥

तद्यावत्—

कण्ठादधस्ततो देही हृत्पद्मात् सर्वतो व्रजेत् ।

सर्वतः सर्वत्र देहे । हृदयस्यापानपूरणेन विकासितत्वात् पद्मत्वम् । हृत्पद्मात् इति तदाश्रित्य ॥

यस्मादेवम्—

तस्मादिहात्मसिद्ध्यर्थं पुष्ट्यर्थं चैव साधयेत् ॥ १११ ॥

इहात्मनः सिद्धिरस्मिन्नेव देहेऽणिमाद्याविर्भावनम्, पुष्टिः वलीपलिताद्यभावः ॥ १११ ॥

'जब साधक सृष्टि करता है तो ऊर्ध्व में स्थित बिन्दु प्रवृत्त होता है ।' (६।१५)

इस कथन के अनुसार समना पद में स्थित प्राण सिद्धिप्रद होने के कारण उस (= सिद्धि) के द्वारभूत छः-छः अंगुल वाले चार सञ्चारों के द्वारा अधोमुख = ब्रह्मरन्ध्र के क्रम से भीतर प्रविष्ट हुआ, तालुका के भीतर = तालु के मध्य में, तुला के अन्त तक = कण्ठ तक अर्थात् छः अंगुल तक, वर्षा करता है ॥११०॥

अतः जब तक—

इसके बाद देही (= आत्मा) कण्ठ के नीचे स्थित हृदय रूपी कमल से सर्वत्र गमन करता है ॥ १११- ॥

सर्वतः = देह में सर्वत्र । अपान वायु के द्वारा हृदय के पूरित होने के कारण (उसके) विकसित होने से उसे कमल कहा गया है । 'हृत्पद्मात्' का अर्थ है—हृदय कमल को आधार बनाकर (चूँकि सम्पूर्ण शरीर में होने वाले रक्तसञ्चार का केन्द्र हृदय है तथा प्राण के साथ सूक्ष्मशरीरावेष्टित आत्मा भी उसी प्रकार सञ्चरण करता है इसलिये कहा गया कि देही हृदयकमल से सर्वत्र जाता है) ॥

चूँकि ऐसा है—

इसलिये अपनी सिद्धि तथा पुष्टि के लिये यहीं (= इसी देह में) साधना करनी चाहिये ॥ -१११ ॥

यहाँ आत्मा की (= अपनी) सिद्धि = इसी देह में अणिमा आदि आठ सिद्धियों का अविर्भाव, पुष्टि = वली (= झुर्रियाँ) पलित (= बालों का सफेद होना) आदि का अभाव ॥ १११ ॥

किं च प्राग्वद् बहिरपि—

दक्षिणायनजे काले यस्मात् सृष्टिः प्रजायते ।

दक्षिणम् अनुकूलं देहभुवनाप्यायकरम् । ग्रीष्मोष्मशोषितानां तृणलतागुल्मादीनां वर्षासु पुनरङ्कुरोद्भेदो यतो भवति, तस्माद् बाह्याभ्यन्तरैतत्कालैकीकारेण पूर्वोक्ताः सिद्धीर्जपादिना साधयेदिति सम्बन्धः । ननु जपप्रकरणे—

'जपः प्राणसमः कार्यो दिनस्थो मुक्तिकाङ्क्षिभिः ।
संहारः स तु विज्ञेयः शिवधामफलप्रदः ॥
व्योम्नि प्राप्तो यदा नादः पुनरेव निवर्तते ।
शर्वरी सा तु विज्ञेया हृदब्जं यावदागतः ।
सृष्टिरेषा समाख्याता सर्वसिद्धिफलोदया ॥' (२।१४०-१४२)

इति पूर्वं प्रविभाग उक्तः, इह तु दिनोदयात्मकमीनोदयतः साधकस्य मन्त्रसिद्ध्यर्थं जपाद्युक्तम्, तथा कर्कटादौ आत्मसिद्ध्यर्थं साधयेद् इति प्रतिपादितम्, तत्कथमेतत् ? उच्यते । द्वितीयपटलप्रतिपादिते जपप्रविभागे स्थिते एवमत्र विशेष उक्तः—साधकैर्मीनादिमिथुनान्तविश्रान्त्या कल्पोक्तजपादिक्रमेण पूर्व-

---

इसके अतिरिक्त पूर्व की भाँति बाह्य जगत् में भी—

चूँकि सूर्य के दक्षिणायन होने वाले काल में सृष्टि होती है (इसलिये उसी काल में साधना करनी चाहिये) ॥ ११२- ॥

दक्षिण = अनुकूल = देह और भुवन को तृप्त करने वाला । चूँकि ग्रीष्म ऋतु की उँष्मा से सूख गये तृण लता वृक्ष आदि में वर्षा ऋतु में पुनः अंकुर निकलते हैं इस कारण बाह्य और आभ्यन्तर को इस समय एक करने से साधक पूर्वोक्त सिद्धियों की प्राप्ति करता है । प्रश्न है कि जप के प्रकरण में—

मोक्ष को चाहने वालों के द्वारा दिन में स्थित होकर प्राण के साथ जप करना चाहिये । इसे शिवधाम को देने वाला संहार समझना चाहिये । नाद जब आकाश (= ऊर्ध्व द्वादशान्त) में पहुँच कर पुनः वहाँ से लौटता है और हृदयकमल तक आता है तब उसे रात्रि जानना चाहिये । यह समस्त फल के उदय वाली सृष्टि कही जाती है । (२।१४०-१४२)

इस प्रकार विभाग का वर्णन पहले किया गया और यहाँ साधक के लिये मन्त्र की सिद्धि के लिये जप आदि दिनोदयात्मक मीन राशि के उदय से कहा गया और आत्मा की सिद्धि (= मोक्ष) के लिये कर्कट आदि में साधना करनी चाहिये—ऐसा प्रतिपादित किया गया । तो यह कैसे कहा गया? उत्तर देते हैं—द्वितीय पटल में जप के प्रविभाग का प्रतिपादन तो है ही, यहाँ यह विशेष कहा गया कि साधक लोग मीन से लेकर मिथुन राशि तक की विश्रान्ति के द्वारा (= मीन से लेकर मिथुन राशि के काल में) कल्पोक्त जप आदि के क्रम से पूर्वसेवा के द्वारा मन्त्रों

सेवया मन्त्राः साधनीयास्तथा साधितास्तु प्रयोगकाले सिद्ध्यर्थं कर्कटादितुलान्तविश्रान्तिप्राधान्येन प्रयोज्या इति न काचिदत्र विचिकित्सा ॥

अथ कर्कटादिषट्कमङ्गुलविभागेन निरूपयति—

शक्त्यधो हृदये हंसः संक्रमेत् कर्कटे प्रिये ॥ ११२ ॥
षडङ्गुलानि संत्यज्य सिंहे वै संक्रमेत् पुनः ।
षडङ्गुलैः पुनस्त्यक्तैः कन्यां संक्रमते पुनः ॥ ११३ ॥
नासिकाग्रात्तु ताल्वन्तं त्यक्त्वैवं विषुवद् भवेत् ।
तुलासंक्रान्तिरेषोक्ता दक्षिणं विषुवद् भवेत् ॥ ११४ ॥

शक्तेः साधनरूपाया अधो व्यापिनीशक्तिः । ब्रह्मरन्ध्रादिपदे कर्कट इव अधोवक्त्रो हंसः, ततः सदाशिवपदे नदनप्रधानत्वाशेषविश्वाक्रमणकारित्वाभ्यां सिंहः, ततो भ्रूमध्यादौ बैन्दवप्रकाशप्राधान्याद् दीप्तिकान्तियोगात् सर्वसाधारणप्रसरणरूपगतितश्च कन्याशब्दवाच्यः, ततोऽपि तालुमध्ये समत्वेनावस्थितत्वात् तुलारूपः, साम्यादेव च विषुं व्याप्तिमर्हतीति कृत्वा विषुवच्छब्दाभिधेयः । पुन-

---

की सिद्धि करे और सिद्ध किये गये मन्त्रों के प्रयोग के समय लक्ष्य की प्राप्ति के लिये कर्क से लेकर तुलापर्यन्त विश्रान्ति के द्वारा (= उसी काल में) अनुष्ठान करे । इस प्रकार यहाँ कोई विचिकित्सा (= सन्देह) नहीं है ॥

अब कर्क आदि छह राशियों का (इस शरीर में) अंगुलविभाग के द्वारा निरूपण करते हैं—

हे प्रिये ! हंस (= प्राण) जब शक्ति (= ऊर्ध्व द्वादशान्त) के नीचे आता है तब वह कर्क राशि में संक्रमण करता है । तत्पश्चात् वहाँ से छः अंगुल छोड़ कर सिंह राशि में संक्रमण करता है । फिर छह अंगुल के त्याग से कन्या में सञ्चरण करता है । नासिका के अग्रभाग से तालुपर्यन्त के त्याग से इसी प्रकार विषुवत् काल होता है यह तुला संक्रान्ति कही गयी है । इसके बाद दक्षिण विषुवत् काल होता है ॥ -११२-११४ ॥

साधनरूपा शक्ति के नीचे व्यापिनी शक्ति है । हंस ब्रह्मरन्ध्र आदि पद में कर्क की भाँति (= जैसे कर्क राशि में सूर्य उस प्रकार) अधो वक्त्र (= नीचे मुख वाला) होता है । इसके बाद सदाशिव स्तर पर नदनप्रधानत्व और समस्त विश्वाक्रमणकारित्व (= समस्त विश्व को आक्रान्त कर स्थित होने) के कारण (यह हंस) सिंह (राशि पर स्थित माना जाता) है । इसके बाद भ्रूमध्य आदि में वैन्दव प्रकाश की प्रधानता होने के कारण दीप्ति कान्ति के योग से तथा सर्वसाधारण प्रसरण रूप गति के कारण यह हंस कन्या कहा जाता है । इसके बाद तालु के मध्य में समानरूप से स्थित होने के कारण यह तुलारूप होता है । और साम्य के ही कारण विषु = व्याप्ति वाला, होता है अतः विषुवत् (= व्याप्ति वाला) शब्द से

विंषुवदिति पूर्वोक्तोत्तरविषुवतोऽन्योऽयं विषुवत्काल इत्यर्थः ॥ ११४ ॥

अन्यत्वादेव च—

साधनं यत् कृतं तत्र इह जन्मनि कामदम् ।

तदित्यर्थात् ।

अतश्च—

मृत्योर्जयं तथा शान्तिं पुष्टिं तस्मात् समारभेत् ॥ ११५ ॥
तस्मात् स षड्रसाहारो गलाधः प्रीणयेत्तनुम् ।

एषोत्तमादिरूपा त्रिविधात्र सिद्धिः । स इति दक्षिणविषुवत्कालस्थस्तुल्यः अत एवात्रैहिकं क्रूरकर्म न फलति, इति तत् सर्वरससंहारिपौषमासाधिष्ठातृधन्विचार-विश्रान्त्या कार्यमित्यर्थलभ्यमत्र ॥

अथ—

अभिहित होता है । (श्लोक सं० ११४ के उत्तरार्द्ध में जो) पुनः 'विषुवत्' शब्द कहा गया उसका तात्पर्य यह है कि यह विषुवत् काल पूर्वोक्त उत्तर विषुवत् काल से भिन्न है ॥ ११४ ॥

भिन्न होने के ही कारण—

इस (दक्षिण विषुवत् काल) में जो साधना की जाती है वह इस जन्म में ही कामद (= इच्छा की पूर्ति करने वाला) होती है ॥ ११५- ॥

श्लोक में 'तत्' शब्द को अर्थ की दृष्टि से अपनी ओर से समझ लेना चाहिये ॥

इसलिये—

उससे (= उत्तर विषुवत् अर्थात् पौष मास से लेकर ज्येष्ठ तक के काल से) मृत्युञ्जय, शान्ति और पुष्टि कर्म का आरम्भ करना चाहिये । उस कारण वह छः रस का आहरण करने वाला (= सूर्य) कण्ठ के नीचे शरीर को पुष्ट करता है ॥ -११५-११६- ॥

(= मृत्युञ्जय, शान्ति और पुष्टि क्रमशः) उत्तम आदि (= मध्यम और अधम) रूप तीन प्रकार की यह सिद्धि यहाँ (= उत्तरायण में) होती है । वह = दक्षिण विषुवत् काल में स्थित (सूर्य या प्राण) तुल्य (= तुलाराशिस्थ) होता है । इसलिये इस काल में ऐहिक क्रूर कर्म सफल नहीं होता इससे यह समझना चाहिये कि समस्त रसों के संहारी पौषमास के अधिष्ठातृ धनुराशि के प्राणचार में विश्राम करते हुए कार्य करना चाहिये ॥

इसके बाद—

षडङ्गुलानि त्यक्त्वा तु वृश्चिके क्रमते पुनः ॥ ११६ ॥
कण्ठोर्ध्वं द्व्यङ्गुलं त्यक्त्वा कण्ठाधश्चतुरङ्गुलम् ।

तालुतलादष्टाङ्गुलात् कण्ठात् षडङ्गुलानि त्यक्त्वा यत् प्रवेशापेक्षया ऊर्ध्वं प्राणोल्लासापेक्षया त्वधस्तनमङ्गुलद्वयं त्यक्त्वा कण्ठाधः षडङ्गुले क्षेत्रे प्रथममङ्गुल-चतुष्टयम्, तत्र पूर्वाङ्गुलद्वयेन सह षडङ्गुले वृश्चिकवन्निश्चलमवस्थाय शनैः शनैः प्रसर्पणाद् वृश्चिकः ॥

अथ—

वृश्चिकं तु परित्यज्य धन्विसंक्रान्तिरुच्यते ॥ ११७ ॥
षडङ्गुलादधस्तात्तु धन्विस्थश्चरते हृदि ।

अधस्ताद् इत्यधःस्थं षडङ्गुलमाश्रित्य, हृदि चरति विश्राम्यति । तत्र चायं हंसो बद्धलक्ष्यत्वाद्धन्वीत्युच्यते ॥

तदित्थम्—

हृत्पद्मान्तं तु वै हंसश्चरित्वा ऊर्ध्वगोदयः ॥ ११८ ॥

(यह प्राण—हंस तुला राशि के) छह अङ्गुलों को छोड़ कर वृश्चिक राशि पर संक्रान्त होता है । कण्ठ के ऊपर दो अङ्गुल छोड़ कर कण्ठ के नीचे चार अङ्गुल तक (वृश्चिक राशि का स्थान है जहाँ प्राण सञ्चरण करता है) ॥ -११६-११७- ॥

आठ अङ्गुल वाले तालु के तल से अर्थात् कण्ठ से छह अङ्गुल छोड़ कर जो (प्राण के) प्रवेश की अपेक्षा ऊर्ध्व और उसके उल्लास की अपेक्षा अधो वर्त्तमान दो अङ्गुल है उसको छोड़कर कण्ठ के नीचे वर्त्तमान छह अङ्गुल वाले क्षेत्र में प्रथम चार अङ्गुल (वृश्चिक का स्थान) है । उसमें पहले के दो अङ्गुल (और यह चार अङ्गुल इस प्रकार) छह अङ्गुल वाले स्थान में यह प्राण वृश्चिक की भाँति निश्चल रूप से स्थित होकर धीरे-धीरे प्रसर्पण करता है इसलिये यहाँ वृश्चिक राशि होती है ॥

तत्पश्चात्—

वृश्चिक को छोड़ कर (सूर्य या प्राण की) धनु राशि में संक्रान्ति कही जाती है । छह अङ्गुल नीचे के स्थान में धनु में स्थित वह (= प्राण-सूर्य) हृदय में सञ्चरण करता है ॥ -११७-११८- ॥

अधस्तात् = नीचे स्थित छह अंगुल को आधार बना कर । हृदय में चरण करता है = विश्राम करता है । वहाँ यह हंस लक्ष्य के सिद्ध होने के कारण धन्वी कहा जाता है ॥

तो इस प्रकार—

पुनः प्राणवृत्तिं श्रयतीत्यर्थः ॥ ११८ ॥

उपसंहरति—

मकरादिषु संक्रान्तौ द्वादशैवं चरेत् सदा ।
अमुनोक्तक्रमेणैव आयुर्वै सर्वदेहिनाम् ॥ ११९ ॥

संक्रान्तौ इति जातावेकवचनाद् मकरादिषु याः संक्रान्तयः तासु एवम् उक्त-क्रमेण द्वादश इति माघादीन् मासान् सदा प्रतिप्राणचारं हंसश्चरेत् । किमवधीत्याह—आयुर्वै सर्वदेहिनाम् । यावज्जीवमित्यर्थः ॥ ११९ ॥

अथ प्रबुद्धस्य नित्यमेव संक्रान्तिदक्षिणायनोत्तरायणादिपुण्यकाललाभात् तत्तत्सिद्धिसमासादनमनायासेन जायते । तदेतदाह—

ऐहिकामुष्मिकी सिद्धिरधमा मध्यमोत्तमा ।

साधकानामत्रस्थानां भवति ॥

उपसंहरति—

यह हंस हृदयकमल तक सञ्चरण कर पुनः ऊर्ध्वगामी उदय वाला हो जाता है ॥ -११८ ॥

अर्थात् पुनः प्राणवृत्ति (= प्राणन क्रिया) करने लगता है ॥ ११८ ॥

प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार यह हंस उक्त क्रम से मकर आदि बारह संक्रान्तियों में समस्त प्राणियों के जीवनपर्यन्त सदा सञ्चरण करता रहता है ॥ ११९ ॥

'संक्रान्तौ' इस पद में एक वचन का प्रयोग जाति अर्थ में है । इस कारण—मकर आदि जो संक्रान्तियाँ हैं प्राण उनमें (सञ्चरण करता है) । एवम् = उक्त क्रम से । बारह = माघ आदि बारह महीनों में । सदा = प्रतिप्राणसञ्चार (= एक-एक प्राणसञ्चार में) । हंस सञ्चरण करता रहता है । कब तक ? (इस प्रश्न का उत्तर देते हैं—) जब तक जीवों की आयु रहती है अर्थात् जीवनपर्यन्त ॥ ११९ ॥

संक्रान्तियों में सूर्य के दक्षिणायन उत्तरायण आदि पुण्यकाल का नित्य लाभ होने के कारण ज्ञानी को बिना प्रयास के तत्तत् सिद्धि का लाभ होता है । यह बतलाते हैं—

(ज्ञानी साधक को) ऐहिक और पारलौकिक अधम मध्यम उत्तम सिद्धि प्राप्त होती ॥ १२०- ॥

साधकों को अर्थात् इस (मकर आदि संक्रान्तियों) में स्थित साधकों को है ॥

प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

अयनद्वयमाख्यातं.................

अत्र च मकरादिषु द्वादशसु कार्यस्य गर्भत्वम्, प्रोद्बुभूषिष्यत्त्वम्, प्रोद्बुभूषत्त्वम्, उद्भविष्यत्त्वम्, उद्भवप्रारम्भः, उद्भवत्त्वम्, जन्म, सत्ता, परिणतिः, वृद्धिः, ह्रासः, क्षयश्च क्रमाद् भव(न्ति)[1] । अतोऽत्र जपादिक्रियैतादृगेव फलं सूते, इति गुरवोऽभ्यधुः ॥

यदा तु प्राणापानयातायातपरिहारेण हृदि द्वादशान्ते च विश्रान्तिः क्रियते तदा—

............मोक्षसिद्धिर्द्वयोज्झिता ॥ १२० ॥

द्वयेन भेदेन, उज्झिता अद्वयमयी महासाधकस्य भवतीत्यर्थः ॥ १२० ॥

यतोऽसौ महासाधकः—

अयनद्वयपर्यन्त उन्मन्यन्ते सदा स्थितः ।

यदा यदा अयनद्वयमाश्रयति, तदा तदा उन्मन्यन्त इति प्राणापानप्रशमपदे द्वादशान्ते हृदि च परतत्त्वानुभवे विश्राम्यति । यद्यपि पूर्वमुन्मन्यन्तता द्वादशान्त

(सूर्य के) दो अयनों (= मार्गों) का वर्णन किया गया ॥ -१२०- ॥

इन मकर आदि बारह राशियों में कार्य की गर्भरूपता, भविष्य में उद्भूत होने की इच्छा, वर्त्तमान में उत्पन्न होने के इच्छा, भविष्य में उत्पन्न होना, उत्पत्ति का प्रारम्भ, उत्पत्ति, जन्म, सत्ता, परिणांम, वृद्धि, ह्रास और क्षय ये सब (बारह कार्य) क्रम से होते हैं । इसलिये इस काल में जप आदि क्रिया इसी प्रकार का फल देती है—ऐसा गुरुओं ने कहा है ॥

और जब जीव प्राण अपान के यातायात को छोड़ कर हृदय एवं द्वादशान्त में विश्राम करता है तब—

द्वित्व से रहित मोक्ष की सिद्धि होती है ॥ -१२० ॥

द्वय = भेद, से उज्झित (= रहित) अद्वयमयी सिद्धि महासाधक को प्राप्त होती है ॥ १२० ॥

चूँकि यह महासाधक—

दोनों अयनपर्यन्त उन्मना के अन्त में सदा स्थित रहता है ॥ १२१- ॥

(साधक) जब-जब (उत्तरायण और दक्षिणायन नामक) दो अयनों का आश्रयण करता है तब-तब; उन्मना के अन्त में = प्राण और अपान के प्रशम वाले स्थान अर्थात् ऊर्ध्वद्वादशान्त और हृदय जो कि परतत्त्व के अनुभव का स्थान है (उसमें

---

१. ति ।

एवोक्ता, तथापीहायनद्वयपर्यन्त उन्मन्यन्ते, इत्यभिदधद् द्वादशान्ताविभिन्ना हृदि व्याप्तिरस्तीति दर्शयति ।

अत एव—

'द्वादशान्ते च हृदये'

इत्याद्यन्यत्रोक्तम् ॥

अतश्च—

तत्रस्थो वै जपध्यानान्मोक्षसिद्धिमवाप्नुयात्॥ १२१ ॥

जपध्यानप्रमुखं यस्तत्र परतत्त्व एव तिष्ठति विश्राम्यति, स मुच्यत इत्यर्थः ॥ १२१ ॥

अत एवेत्थंस्वभावेनैव —

मोक्षं गत्वा तु नागच्छेत् प्रतिज्ञा भैरवस्य तु ।

प्रतिज्ञा भैरवस्य, न तु श्रीकण्ठोमापत्यादेरित्यनेन सर्वथा द्वादशान्तहृदययोर्विश्रान्तिः कर्तव्या, इत्यादिष्टम् ॥

पर तत्त्व का अनुभव करते हुए) विश्राम करता है । यद्यपि पहले उन्मना की अन्तिम स्थिति द्वादशान्त में ही कही गयी थी तथापि यहाँ 'अयनद्वयपर्यन्ते उन्मन्यन्ते'—ऐसा कथन करते हुए परमेश्वर द्वादशान्त से अभिन्न हृदय में साधक की व्याप्ति होती है, यह दिखलाते हैं ।

इसलिये—

'द्वादशान्त और हृदय में'

इत्यादि अन्यत्र कहा गया है ॥

इसलिये—

उस (= द्वादशान्त और हृदय) में स्थित हुआ (साधक) जप और ध्यान के कारण मोक्ष की सिद्धि प्राप्त करता है ॥ -१२१ ॥

जो (साधक) जप और ध्यान को प्रधानता देता हुआ उसमें = परतत्त्व में ही स्थित रहता है = विश्राम करता है, वह मुक्त हो जाता है ॥ १२१ ॥

इसलिये इस प्रकार के स्वभाव के कारण—

मोक्ष को प्राप्त कर साधक पुनः (मृत्युलोक में) नहीं आता—ऐसी भैरव की प्रतिज्ञा है ॥ १२२- ॥

यह भैरव की प्रतिज्ञा है न कि श्रीकण्ठनाथ अथवा उमापति आदि की,

तथा द्वादशवर्षसाध्यमपि कार्यं सुसूक्ष्मतमस्थित्या प्राण एवं द्वादशवत्सरव्याप्तिमवगत्याप्रयासेनैव साधकः साधयेदिति शिक्षयन् द्वादशाब्दोदयमादिशति देवः—

अस्मिन्नब्दोदये भूयो द्वादशाब्दोदयं शृणु ॥ १२२ ॥

तत्र द्वादश चैत्रादयोऽब्दमाससमानसमाख्याः ॥ १२२ ॥

चैत्रसंवत्सरे यस्मान्मासानामुदयो भवेत् ।
तदादि साधकैस्तस्मात् कर्तव्यं मन्त्रसाधनम् ॥ १२३ ॥

तदादि इति चैत्रनामानं संवत्सरमादिभूतं कृत्वा ॥ १२३ ॥

प्रागुक्तचैत्रादिमासोदयकाल एवात्र चैत्रादिसंवत्सरोदयकालः, इत्याह—

द्वादशाब्दः स विज्ञेयश्चैत्रमासाद्वरानने ।

अष्टांगुलात् कण्ठादंगुलद्वयं त्यक्त्वा षडंगुलं यत्प्राक् चैत्रमासस्योक्तं स्थानम्, तदेव चैत्रसंवत्सरस्य ॥

अथ—

इसलिये इस (कथन) के द्वारा सब उपाय करके (साधक) द्वादशान्त और हृदय में विश्राम करे—यह आदेश (परमेश्वर के द्वारा) किया गया ॥

इस प्रकार बारह वर्षों में पूर्ण होने वाले कार्य को सुसूक्ष्मतम स्थिति के द्वारा प्राण में ही बारह वर्ष की व्याप्ति का अनुसन्धान कर योगी बिना प्रयास के ही, सिद्ध कर लेता है—यह शिक्षा देते हुए परमेश्वर द्वादशाब्दोदय को बतलाते हैं—

इस एक वर्ष के उदय में बारह वर्षों के उदय को जानो ॥ -१२२ ॥

चैत्र आदि बारह मास होते हैं । एक मास एक वर्ष के मान वाला होता है ॥ १२२ ॥

चूँकि मासों का प्रारम्भ चैत्र संवत्सर से होता है इसलिये साधक लोगों की मन्त्र की सिद्धि उस (= चैत्रमास) से प्रारम्भ करनी चाहिये ॥ १२३ ॥

तदादि = चैत्र नामक संवत्सर को पहला संवत्सर मानकर ॥ १२३ ॥

पूर्वोक्त चैत्र आदि मास का प्रारम्भ काल ही यहाँ (= द्वादशाब्द में) चैत्रादि सवंत्सर के उदय का काल होता है—यह कहते हैं—

हे वरानने ! वह द्वादशाब्द चैत्रमास से समझना चाहिये ॥ १२४- ॥

आठ अंगुल वाले कण्ठ से दो अंगुल छोड़कर शेष छः अंगुल जो कि पहले चैत्र मास का स्थान कहा गया था वही चैत्र संवत्सर का भी स्थान है ॥

अब—

लक्षणं तस्य वक्ष्यामि प्राणेऽस्मिन् प्रविभागशः ॥ १२४ ॥
तत्र संवत्सरेणेव अमुनोक्तेन सुव्रते ।
अहोरात्रस्तु यः प्रोक्तो द्वादशांशं भजेत् प्रिये ॥ १२५ ॥
द्वादश ते अहोरात्रा द्वादशाब्दे भवन्ति वै ।

आन्तरेण प्राणसंवत्सरेण य आन्तरोऽहोरात्रोऽङ्गुलपञ्चमभागपरीमाणस्तस्य द्वादशमंशं द्वादशाब्दोदयेऽहोरात्रो भजते । एव चांगुलस्य षष्टितमोऽसौ भागो भवति । इत्यमहोरात्रं द्वादशाहोरात्रा भवन्ति । तथा च सत्यंगुले षष्टिरहोरात्राणां जातेति ॥

पञ्चभिस्तांस्तु संगुण्य द्वादशाब्द ऋतुर्भवेत् ॥ १२६ ॥

मासद्वयमित्यर्थः ॥ १२६ ॥

तमेव द्विगुणं कृत्वा कालस्तु स विधीयते ।

चतुर्मासाख्यः ॥

त्रिगुणेनैतदयने............

अंगुलत्रयेण त्रिगुणेनर्तुनाद्यमुत्तरायणम्, ततोऽन्यत्र त्रये दक्षिणायनम् ॥

तदेवम्—

इस प्राण में विभाग पूर्वक उसका लक्षण बतलाऊँगा । हे सुव्रते! पूर्वोक्त इस (प्राण) संवत्सर के द्वारा जो अहोरात्र कहा गया हे प्रिये! उस (= अहोरात्र) को बारह भागों में बाँट देना चाहिये । इस प्रकार बारह वर्ष में बारह अहोरात्र होते है ॥ -१२४-१२६- ॥

आन्तरिक प्राणरूपी सवत्सर के द्वारा जो पाँच अंगुल परिमाण का आन्तरिक अहोरात्र है उसका बारहवाँ अंश द्वादशाब्दोदय में एक अहोरात्र होता है । इस प्रकार एक अंगुल का साठवाँ भाग (= १/५×१२ = १/६०) होता है । इस प्रकार एक अहोरात्र में १२ अहोरात्र होते हैं । इस प्रकार १ अंगुल में ६० अहोरात्र होते हैं ॥

उन (६० अहोरात्रों) को पाँच से संगुणित करने पर (= पाँच-पाँच के समूह में बाँटने पर) बारह वर्षों की एक ऋतु होती है ॥ -१२६ ॥

(एक ऋतु =) दो मास ॥ १२६ ॥

उन (= दो मासों) को दो गुना करके चतुर्मास नामक काल होता है ॥ १२७- ॥

(उन दो मासों को) तीन गुना करने पर दो अयन होते हैं ॥-१२७-॥

तीन अंगुल वाले त्रिगुण ऋतु (अर्थात् छह अंगुल) के द्वारा प्रथम अयन अर्थात् उत्तरायण होता है । इससे भिन्न तीन (अंगुल वाले ऋतु) में दक्षिणायन होता है ।

............वत्सरः षड्गुणेन तु ॥ १२७ ॥

तदित्थम्—

संक्रान्तयो द्वादशात्र यद्वदब्दे प्रकीर्तिताः ।
द्वादशाब्दोदये प्राणे वत्सरास्ते प्रकीर्तिताः ॥ १२८ ॥

यद्वदिति षडङ्गुलकलनया ॥ १२८ ॥

अथ ये—

द्वादशाब्दे त्वहोरात्राः............

सम्भवन्ति ॥

.........तेषां संख्या निबोध मे ।
सहस्राणि तु चत्वारि त्रिशती विंशतिस्तथा॥ १२९ ॥
द्वादशाब्दोदये देवि प्राणेऽस्मिन् कथिता मया ।

प्राणे द्वादशाब्दोदये इति सामानाधिकरण्ये सप्तम्यौ ॥

अथातिसूक्ष्मया व्यवस्थया—

षष्ट्यब्दोदयमत्रैव पुनश्च कथयामि ते ॥ १३० ॥

तो इस प्रकार—

(दो अंगुल वाले) छः गुने (ऋतु) के द्वारा एक वर्ष होता है ॥ -१२७ ॥

तो इस रीति से—

जिस प्रकार एक वर्ष में १२ संक्रान्तियाँ होती हैं उसी प्रकार बारह वर्षों वाले बारह अंगुल वाले एक प्राणोदय में १२ वर्ष होते हैं ॥ १२८ ॥

जिस प्रकार = ६ अंगुल की गणना से ॥ १२८ ॥

अब—

बारह वर्ष में जो अहोरात्र होते हैं उनकी संख्या को मुझसे जानो । हे देवि ! बारह वर्षों वाले एक प्राणचार के हिसाब से (तीन-सौ साठ प्राणचार में) ४३२० वर्ष हो जाते हैं ॥ १२९-१३०- ॥

'प्राणे' और 'द्वादशाब्दोदये' इन दोनों पदों में सप्तमी विभक्ति का प्रयोग सामानाधिकरण्य[1] में है ॥

अब अतिसूक्ष्म व्यवस्था के द्वारा—

यहीं पर साठ वर्ष का उदय तुमको बतलाऊँगा । हे वरानने ! वे

---

१. भिन्नप्रवृत्तिनिमित्तकानां शब्दानामेकार्थोपस्थितिजनकत्वं सामानाधिकरण्यम् ।

आनन्दाद्यास्तु ते ज्ञेयाः षष्ट्यब्दास्तु वरानने।

अत्रैव इत्येकत्र प्राणचारे ॥

तदाह—

ते चाध ऊर्ध्वगे प्राणे एकस्मिन् सुरसुन्दरि॥ १३१ ॥
चरन्ति प्रविभागेन तथा ते कथयाम्यहम् ।

अतश्च षष्ट्यब्दसाध्यां सिद्धिं यो वाञ्छति, असावान्तरादानन्दाख्याद्वर्षात् प्रभृति मन्त्राराधनमुपक्रमेत—इत्याह—

आनन्दप्रभृतेर्देवि मन्त्रमाराधयेत्तु यः ॥ १३२ ॥
तस्यानन्दस्तु देवेशि मन्त्रेण सह जायते ।

मन्त्रस्य परनिष्कलस्वभावतयाऽशेषविश्वनिर्भरत्वेन परमानन्दरूपत्वात्तदभेदविमर्शमयप्राणोच्चारज्ञस्य आनन्दमयतैव भवति । ततश्चेहाभिहितषष्ट्यब्दोदयस्थित्या सर्वमेव पुरुषायुषं यन्नित्यकर्मावश्यकर्तव्यम् तदेकत्रैव प्राणचारे व्याप्तिज्ञस्य सकृदेव कृतं सर्वदैव कृतं भवति ज्ञानिनः । सिद्धिकामस्य तु षष्टिवर्षसाध्यम्, तदीयवत्सरे तत्तत्साध्यं वा कर्म प्राणीयव्याप्तिज्ञानपूर्वकं कुर्वतो न विसंवदतीत्याशयेनेह साधकाधिकारे षष्ट्यब्दोदयादधिकं नोक्तम् । श्रीनन्दिशिखायां तु ज्ञानव्याप्त्यभिप्रायेण विंशत्यधिकशतोदयोऽप्यभिहितः । एवं च ज्ञानयोगिनामेवं प्राणे व्याप्तिज्ञानात् सर्वमयत्नेन सिद्ध्यत्येव । यदुक्तं श्रीमदुत्पलदेवपादैः—

'साक्षाद्भवन्मये नाथ सर्वस्मिन् भुवनान्तरे ।
किं न भक्तिमतां क्षेत्रं मन्त्रः क्वैषां न सिद्ध्यति ॥'
(स्तोत्राव० १।४) इति ॥

किं च—

द्वादशाब्दे त्वहोरात्रं पञ्चधा भेदयेच्च तम् ॥ १३३ ॥
षष्ट्यब्दे ते त्वहोरात्राः पञ्चैव परिकीर्तिताः ।

द्वादशाब्दोदयेऽङ्गुलस्य षष्टितमो भागोऽहोरात्र इत्युक्तम् । इदानीं तु तमपि पञ्चधा भेदयेत् । एवं षष्ट्यब्दोदये प्राणाङ्गुलस्य त्रिशततमो भागोऽहोरात्रो भवति ॥

तदनया सुसूक्ष्मया स्थित्या—

आनन्द आदि साठ वर्ष समझे जाने चाहिये ॥ -१३०-१३१- ॥

यहीं पर = इस एक प्राणचार में ॥

इसको बतलाते हैं—

हे सुरसुन्दरि ! वे (साठ वर्ष) एक ही अधः और ऊर्ध्व गमन करने वाले प्राणचार में होते हैं । जिस प्रकार वे अलग-अलग सञ्चरण करते हैं मैं तुम्हें वह बतला रहा हूँ ॥ -१३१-१३२- ॥

इसलिये जो व्यक्ति साठ वर्षों में साध्य सिद्धि को (एक ही प्राणचार में) प्राप्त करना चाहता है वह आनन्द नामक आन्तर वर्ष से मन्त्राराधन का प्रारम्भ करे—यह कहते हैं—

हे देवि ! जो साधक आनन्द आदि से मन्त्र की आराधना का प्रारम्भ करता है हे देवेशि ! मन्त्र के साथ ही उसका आनन्द शुरु हो जाता है ॥ -१३२-१३३- ॥

मन्त्र परनिष्कल स्वभाव वाले होते हैं अतः समस्त विश्व से भरित होने के कारण परमानन्द रूप होते हैं । इस कारण उनसे अभिन्न विमर्शमय प्राणोच्चार को जानने वाला आनन्दमय हो जाता है । इसलिये यहाँ कहे गये साठ वर्षों के उदय की स्थिति से मनुष्य की सम्पूर्ण आयु में जो नित्यकर्म किया जाने वाला है वह प्राणव्याप्ति के ज्ञाता ज्ञानी के एक ही प्राणचार में एक बार करने पर सर्वदा किया गया हो जाता है और जो सिद्धि चाहने वाले साधक होते हैं उनके यहाँ साठ वर्षों में साध्य सिद्धि या उसी वर्ष में तत्तत् साध्यकर्म प्राणसम्बन्धी व्याप्ति के ज्ञान के बाद यदि किये जाते हैं तो उनमें परस्पर कोई विरोध नहीं होता । इसी आशय से यहाँ साधकाधिकार में साठ वर्षों से अधिक की चर्चा नहीं की गयी । श्रीनन्दिशिखा में ज्ञानव्याप्ति के अभिप्राय से १२० (प्राणचारों का) उदय कहा गया है (इससे १२० वर्षों में साध्य कर्म १२० प्राणचारों में सम्पादित हो सकते हैं) । इसका निष्कर्ष यह है इस प्रकार (की व्याप्ति को जानने वाले) ज्ञान योगियों को प्राण में व्याप्ति के ज्ञान के कारण सब कुछ विना प्रयास के सिद्ध हो जाता है । जैसा कि श्रीमान् उत्पलदेव ने कहा है—

'हे नाथ ! समस्त भुवनों के आपमय (= आप से व्याप्त) होने पर (आपके) भक्तों का कौन सा क्षेत्र नहीं है । इनका मन्त्र कहाँ सिद्ध नहीं होता अर्थात् सब क्षेत्रों में उनका अधिकार हो जाता है और सारे मन्त्र उनको स्वतः सिद्ध हो जाते हैं' ॥ १३२-१३२- ॥ (स्तो० १।४)

इसके अतिरिक्त —

बारह वर्षों के उदय के विषय में (एक अङ्गुल प्राणचार का साठवाँ भाग) एक में से, एक-एक भाग साठ वर्षों के परिमाण वाला होगा ॥ -१३३-१३४- ॥

बारह वर्षों के उदय में एक अङ्गुल का साठवाँ भाग एक दिन-रात होता है—यह कहा गया । अब उस एक भागों को भी पाँच भाग में बाँटना चाहिये । इस प्रकार साठ वर्षों के उदय में एक अङ्गुल प्राणचार का तीसवाँ भाग एक अहोरात्र होता है ॥

ते वै षड्गुणितास्तत्र मास एकः प्रकीर्तितः ॥ १३४ ॥
तैश्च द्वादशभिर्देवि वर्षमेकं विधीयते ।

ते इति द्वादशाब्दोदयेऽहोरात्राः । तैरिति तथाभूतैर्मासैः ॥

एवं च—

अङ्गुले तु सपञ्चांशे मानमेतत् प्रकीर्तितम् ॥ १३५ ॥

अहोरात्रशतत्रयात्मन्यङ्गुले मासदशकम्, अहोरात्रषष्ट्यात्मनि चाङ्गुलपञ्चमांशे मासद्वयम्, इति कृत्वा सपञ्चांशेऽङ्गुले, एतद् इति षष्ट्यब्दोदये वर्षमानमुक्तम् ॥ १३५ ॥

तदित्थम्—

षडङ्गुलैस्तु पञ्चाब्दाः षष्ट्यब्द उदयन्ति ते ।

द्वादशाब्दोदयस्थित्या वर्षोदयाश्रयैः षड्भिरङ्गुलैरिह पञ्च वर्षाणि भवन्ति । मासदशकोदयात्मकोऽङ्गुल इति तैः षड्भिः षष्टिमासानां वर्षपञ्चकारम्भिणां निष्पत्तिः ॥

तो इस सूक्ष्मगणना से—

वे (दिन-रात) छह से भाग देने पर एक मास कहे जाते हैं । हे देवि ! उसी प्रकार के बारह मासों का एक वर्ष होता है ॥ -१३४-१३५- ॥

उक्त श्लोक में 'ते' का अर्थ है द्वादशाब्द के उदय में उतने ही अहोरात्र । 'तैः' का अर्थ है—उसी प्रकार के मासों के द्वारा ।

इस प्रकार—

एक अङ्गुल के पाँचवें अंश में (एक वर्ष का) मान बतलाया गया है ॥ -१३५ ॥

तीन-सौ अहोरात्र वाले अङ्गुल में दश मास, साठ अहोरात्र वाले अङ्गुल के पञ्चमांश में दो मास, इस प्रकार एक अङ्गुल के पाँचवें अंश में साठ वर्षों का परिमाण कहा गया है ॥ १३५ ॥

तो इस प्रकार—

साठ वर्षों के हिसाब में छह अङ्गुलों से पाँच वर्षों का उदय होता है ॥ १३६- ॥

बारह वर्षों के उदय की स्थिति से एक वर्ष के उदय के आश्रयभूत छह अङ्गुलों से पाँच वर्षों का उदय होता है । यदि एक अङ्गुल को दश मास का उदयस्वरूप माना जाय तो उस हिसाब से उन छह (अङ्गुलों) के द्वारा पाँच वर्षों का आरम्भ करने वाले साठ मासों का उदय होता है ॥

अनया च कलनया—

हृत्पद्माद्याव शक्त्यूर्ध्वं त्रिंशदब्दोदयो भवेत् ॥ १३६ ॥

पुनरपि—

शक्त्यधो यावद्धृत्पद्मं त्रिंशदब्दोदयो भवेत् ।

किं च—

षष्ट्यब्दे ये त्वहोरात्राः सङ्ख्यां तेषु वदाम्यहम् ॥ १३७ ॥
विंशतिस्तु सहस्राणि सहस्रं षट्शताधिकम् ।
अहोरात्रास्तु षष्ट्यब्दे शङ्ख्यातास्तु वरानने ॥ १३८ ॥

बाह्याहोरात्रगतप्राणचारसंख्याः ॥ १३८ ॥

उपसंहरति—

षष्ट्यब्दोदय आख्यातः प्राण एकत्र ते मया ।

इस गणना के अनुसार—

हृदय कमल से लेकर ऊपर शक्ति तक तीस वर्षों का उदय होता है ॥ -१३६ ॥

पुनः—

शक्ति से नीचे हृदयकमल तक तीस वर्षों का उदय होता है ॥१३७-॥

और भी—

इस प्रकार साठ वर्ष (वाले एक दिन के प्राणचार) में जितने भी दिन-रात होते हैं उनकी संख्या को अब मैं तुमको बतला रहा हूँ । हे वरानने ! साठ वर्ष (वाले एक दिन के प्राणचार) में २१६०० दिन-रात बतलाये गये हैं ॥ -१३७-१३८ ॥

तात्पर्य यह है कि एक प्राणचार में एक अहोरात्र होता है । इस प्रकार बाह्य प्राणचार की संख्या जो कि २१६०० है योगी के उतने अहोरात्र होते हैं ॥ १३८ ॥

(इस प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

एक प्राणचार में मैंने तुमको साठ वर्षों का उदय बताया (एक प्राणचार में बाह्य साठ वर्ष का कालयापन करने की गणना के अनुसार एक दिन के २१६०० प्राणचार में योगी २१६०० × ६० = १२९६००० वर्षों के पुण्यकृत्य का लाभ कर लेता है) ॥ १३९- ॥

अत्र षष्ट्यब्दोदयान्ते प्रयोजनमाह—

चन्द्रसूर्योपरागे च पक्षमासायनेषु च ॥ १३९ ॥
युगादिषु युगान्तेषु यच्च संवत्सरेऽप्यथ ।
वर्षद्वादशके चैव षष्ट्यब्देऽथ वरानने ॥ १४० ॥
स्नानदानेन यज्ञैश्च पूजाहोमजपेन च ।
ज्ञानयोगादिभिश्चैव बाह्ये काले तु यत्कृतम् ॥ १४१ ॥
अमुनोक्ते वरारोहे तत्फलं लभते महत् ।

बाह्ये चन्द्रोपरागादौ, षष्ट्यब्दान्ते अमुना आन्तरेण प्रकारेण उक्ते तस्मिन्नेव काले स्नानदानादिक्रमेण कृतं तत्फलं महद् अनन्तसाधको लभते ॥ (एवं युगोदयस्थित्या चैत्राषाढाश्वयुजपौषाणां सिद्धये.........शेदीनि चत्वारि साधयति)—

प्राणहंसगतिं चारे ज्ञात्वैकस्मिंस्तु तद् भजेत् ॥ १४२ ॥

प्राणस्य हंसत्वं प्राग्वत् । चारे प्राणापानवाहे षष्ट्यब्दान्तव्याप्तिके । तद् इति चन्द्रग्रहादिकम् ॥ १४२ ॥

नन्वेवं वस्तुवृत्तेन तद्व्याप्तिवत्त्वं प्राणस्य कथं प्रतिभागोचरतामेति ?—

इस साठ वर्षीय उदय के अन्त में प्रयोजन बतलाते हैं—

हे वरानने ! चन्द्र और सूर्य के ग्रहण के अवसर पर पक्ष मास और अयनों में, युग आदि में, युगान्त में, संवत्सर में, बारह वर्ष और साठ वर्ष में अर्थात् इन सभी बाह्य काल में स्नान, दान, यज्ञ, पूजा, होम, जप, ज्ञान, योग आदि के द्वारा जो किया जाता है । हे वरारोहे ! इस (आन्तर प्रकार) के द्वारा उक्त काल में उस महान् फल को (साधक) प्राप्त कर लेता है ॥ -१३९-१४२- ॥

बाहरी चन्द्रग्रहण आदि में साठ वर्ष के अन्त में इस आन्तर प्रकार के द्वारा उक्त उसी काल में स्नान दान आदि के क्रम से किये गये कर्मों का महाफल अनन्त साधक को प्राप्त होता है ॥

(इस प्रकार युगोदय की स्थिति के अनुसार चैत्र आषाढ़ आश्विन् एवं पौष मासों की सिद्धि के लिये श आदि (= ष स ह) चार की सिद्धि करते हैं—)

एक प्राणचार में प्राणहंस की गति को जान कर उसको प्राप्त करता है ॥ -१४२ ॥

प्राण की हंसता पूर्व की भाँति समझनी चाहिये । चार का अर्थ है—प्राण और अपान के आवागमन । जिसकी व्याप्ति साठ वर्षों की होती है । उसको = चन्द्र-ग्रहण आदि को ॥ १४२ ॥

इत्याशङ्क्याह—

स्वसंवेद्यो भवेच्चारो नाडीचारजयात् स्फुटम् ।

नाडिषु चारस्य वाहस्य, जयाद् अभ्यासेन सञ्चरणस्वातन्त्र्यलाभात् सर्वा प्राणीया व्याप्तिर्मध्यमार्गे व्यक्तीभवति, अतो योगाभ्यासे यत्नः कार्य इति तात्पर्यम् ॥

योगाभ्यासप्रावीण्ये सति—

अथवा स जपादेवमत्यर्थमुपबृंहितः ॥ १४३ ॥
मन्त्री योगं विजानाति ज्ञात्वा सर्वज्ञतां व्रजेत् ।

जपाद् इति पञ्चप्रणवाधिकारोक्तसङ्ख्याकात्, उपबृंहितो लब्धोत्कर्षः, मन्त्री इति यथोक्तमन्त्रव्याप्तिज्ञः, योगं यथारुचि प्राणसञ्चारस्वातन्त्र्यम्, सर्वज्ञतां यथोक्त-प्राणीयसर्वव्याप्तिसाक्षात्कर्तृत्वं परभैरवतां च । उक्तं हि—

'त्रिगुणेन तु जप्येन स्वच्छन्दसदृशो भवेत्' (६।५४) इति ॥

एतदुपसंहृत्यान्यदवतारयति—

पुनरेव प्रवक्ष्यामि नाडित्रयविभागतः ॥ १४४ ॥

प्रश्न है कि बाहरी साठ वर्षों की व्याप्ति प्राण के अन्दर कैसे समझ में आती है ?—यह कहते हैं—

नाडी में प्राणचार को नियन्त्रित करने से प्राणचार स्पष्ट रूप से स्वसंवेद्य हो जाता है ॥ १४३- ॥

नाड़ियों में बाह्य प्राणचार के जय = अभ्यास के द्वारा सञ्चरणस्वातन्त्र्य के लाभ से प्राणसम्बन्धी समस्त व्याप्ति मध्यमार्ग (= सुषुम्ना) में व्यक्त होती है । इसलिये योगाभ्यास के लिये विषय में प्रयत्न करना चाहिये—यह तात्पर्य है ॥

योगाभ्यास में प्रवीणता प्राप्त होने पर—

अथवा जप के द्वारा अत्यन्त उपवृंहित वह मन्त्रसाधक योग को जान लेता है और जानकर सर्वज्ञ हो जाता है ॥ -१४३-१४४- ॥

जप के कारण—पञ्चप्रणव के अधिकार में कथित संख्या वाले (जप के कारण) । उपवृंहित = उत्कर्ष को प्राप्त करने वाला । मन्त्र = कहे गये के अनुसार मन्त्रव्याप्ति को जानने वाला । योग = रुचि के अनुसार प्राणसञ्चार का स्वातन्त्र्य । सर्वज्ञता को = कहे गये के अनुसार प्राणीय सर्वव्याप्ति की साक्षात्कर्तृता और परभैरवता को । कहा भी गया—

'तीन गुना जप करने से (जापक) स्वच्छन्द भैरव के सदृश हो जाता है ।' (६।५४)

इस वक्तव्य का उपसंहार कर अन्य की अवतारणा करते हैं—

दक्षिणोत्तरसंक्रान्तौ विषुवच्चारतस्तथा ।
यथा चरत्यसौ हंसो जगत्यस्मिंश्चराचरे ॥ १४५ ॥
अन्तःस्थः कालरूपेण कलाभिः कलयन् जगत् ।

मध्यमार्गाश्रयेण चारस्थितिरुक्ता । इदानीं दक्षे वामे तदुभयात्मनि च विषुवति तथा हंसो जङ्गमस्थावरात्मनि जगति, चरति जङ्गमेषु चरन् स्थावराण्यपीन्द्रियप्रसरणयुक्त्या स्पृशति, अत एव अन्तःस्थ इति प्रमातृषु, भूतवर्तमानादिकालरूपेण पदं बध्नन् जगत् सर्वं क्षणतुटिलवादिरूपाभिः कलाभिः कलयन् जन्मादिविकारषट्करूपतया सृजन् संहरंश्च यथा चरति, तथा प्रवक्ष्यामीति सङ्गतिः । अचरस्यापि च अन्तःसंज्ञस्य दक्षवाममध्यनाडिषु रसयोजनया पुष्पफलपोषान् हंसः करोति, इति वृक्षायुर्वेदज्ञाः ॥

कीदृगसौ चरतीत्याह—

नाडित्रयकृताधारो मार्गत्रयव्यवस्थितः ॥ १४६ ॥
गुणत्रयसमाविष्टस्त्रिधावस्थाव्यवस्थितः ।
कारणैः षड्भिराक्रान्तः शक्तित्रितयसंयुतः ॥ १४७ ॥

पुनः बतलाऊँगा कि कैसे तीनों नाडियों में अलग-अलग दक्षिण और उत्तर संक्रान्ति में तथा विषुवत् में सञ्चरण के द्वारा यह हंस (= प्राण) चराचार जगत् के अन्दर स्थित रह कर कालरूप से कलाओं के द्वारा संसार की कलना (= रचना) करता हुआ सञ्चरण करता है ॥ -१४४-१४६- ॥

मध्य मार्ग को आधार बना कर प्राणचार की स्थिति बतलायी गयी अब दायें-बायें तथा दोनों विषुवत् में हंस जिस प्रकार जङ्गम स्थावर स्वरूप जगत् में सञ्चरण करता है अर्थात् जङ्गम में सञ्चरण करता हुआ इन्द्रियप्रसरण की युक्ति से स्थावरों का भी स्पर्श करता है, उसे बतलाऊँगा । इसीलिये अन्तःस्थ अर्थात् प्रमाताओं में भूत वर्त्तमान आदि काल के रूप में स्थान बनाता हुआ वह सम्पूर्ण जगत् की क्षण तुटि लव आदि रूपों वाली कलाओं के द्वारा रचना करता हुआ अर्थात् जन्म आदि (= स्थिति, विपरिणाम, वृद्धि, अपक्षय और नाश) के रूप में सृष्टि तथा संहार करता हुआ सञ्चरण करता है, वह मैं तुमको बतलाऊँगा—यह अन्वय है । हंस (= प्राण) अन्तःसंज्ञा वाले जड़ पदार्थों में भी दाँयीं बाँयीं एवं मध्य नाड़ियों में रस का संयोजन करता हुआ पुष्पों और फलों का पोषण करता है—ऐसा वृक्ष के आयुर्वेदज्ञों (का विचार है) ॥

यह सञ्चरण किस प्रकार करता है ?—यह कहते हैं—

इसने तीन नाडियों को आधार बनाया है । तीन मार्गों में स्थित है । तीन गुणों से युक्त है । तीन अवस्थाओं में व्यवस्थित है । छह कारणों से आक्रान्त, तीन शक्तियों से संयुक्त, इच्छा ज्ञान क्रिया से आविद्ध और

इच्छाज्ञानक्रियाविद्धः सोमसूर्याग्निमध्यगः ।

एतत् नाडीत्रयादिक्रमेण व्याचष्टे—

दक्षनासापुटे चैव नाडी वै पिङ्गला स्मृता ॥ १४८ ॥
इडा चैव तु वामेन सुषुम्ना मध्यतः स्थिता ।

एतन्नाडीत्रयमेव मार्गत्रयमित्याह—

दक्षिणे देवमार्गस्तु पितृमार्गस्तथोत्तरे ॥ १४९ ॥
मध्यमः शिवमार्गस्तु............

का तस्य शिवता ?—इत्याह—

..............तत्र गत्वा न जायते ।

गत्वा इत्युपलम्भेन विश्रम्य ॥

अत्रैव गुणत्रयमवस्थात्रयं च दर्शयति—

दक्षिणे सत्त्वजाग्रत्स्थः स्वप्नस्थो वामतो रजः ॥ १५० ॥
मध्ये तमस्तु विज्ञेयं सुषुप्तावस्थ एव च ।

सोम सूर्य तथा अग्नि का मध्यगामी है ॥ -१४६-१४८- ॥

तीन नाडी आदि की क्रम से व्याख्या करते हैं—

(जो नाड़ी कन्द से निकल कर रीढ़ की हड्डी के समानान्तर ऊपर की ओर चलती हुई) दाहिने नासापुट में समाप्त होती है वह पिङ्गला कही गयी है । (इसी प्रकार) इडा बायें नासापुट में और सुषुम्ना (रीढ़ की हड्डी के) मध्य में स्थित है ॥ -१४८-१४९- ॥

ये तीन नाडियाँ ही तीन मार्ग हैं—यह कहते हैं—

(रीढ़ की हड्डी के) दाँयीं ओर (चलने वाली नाडी) देवमार्ग कही गयी है । बाँयीं ओर (चलने वाली) पितृमार्ग है । मध्यम (नाड़ी) शिवमार्ग बतलायी गयी है ॥ -१४९-१५०- ॥

उस (नाडी) की शिवता क्या है ?—यह बतलाते हैं—

उस (नाडी) में जाकर (= प्रवेश करने के बाद) पुनर्जन्म नहीं होता ॥ -१५०- ॥

जाकर = प्राप्त कर वहाँ विश्राम करने पर ॥

यहीं पर तीन गुण और तीन अवस्थाओं को दिखलाते हैं—

दायीं ओर सत्त्वगुण और जाग्रत अवस्था है । बाँयीं ओर रजोगुण और

सत्त्वरूपत्वं ज्ञानप्राधान्यात्, क्रियाशक्तिमयत्वाद्वामे रजः, मध्ये त्विच्छाशक्तिमये भेदोपसंहारमार्गरूपत्वात्तमः, अत एव मध्यम् । अत्रोभयनाडीसमवाहित्वं समानव्यात्या, न तु मध्योर्ध्ववाहित्वम्, तस्य तुर्यप्रकाशरूपत्वेन सौषुप्ततमोयोगाभावात् ॥

अत्रैव कारणान्याह—

ब्रह्मेश्वरश्च दक्षस्थो वामे विष्णु सदाशिवौ ॥ १५१ ॥
मध्ये रुद्रशिवौ प्रोक्तौ सर्वातीतः परः शिवः ।

ब्रह्मविष्णुरुद्राणां परव्याप्त्येश्वरसदाशिवशिवा दक्षवाममध्याधिष्ठातृत्वेन स्थिताः । अत एव जागरादित्रयमयेऽपीश्वराद्यधिष्ठानात् तुर्यव्याप्तिरप्यस्ति, इति मन्तव्यम् । सर्वातीत इत्यनेन तु परकारणस्वरूपमुक्तम् ॥

कारणवत्परापरभेदेन शक्तित्रयस्थितिमाह—

ज्येष्ठाज्ञाने च दक्षे च क्रिया वामा तथोत्तरे ॥ १५२ ॥
रौद्री चेच्छा च मध्यस्था............

स्वप्नावस्था है । मध्य में तमोगुण और सुषुप्तावस्था है ॥ -१५०-१५१-॥

(नाडीमार्ग की) सत्त्वरूपता ज्ञान के प्राधान्य के कारण है । क्रियाशक्तिमय होने के कारण वामपार्श्व में रजोगुण है । इच्छाशक्तिमय मध्य भाग में भेदोपसंहार मार्ग रूप होने से तमोगुण है । इसीलिये वह मध्य है । यहाँ (= मध्य में) दोनों नाड़ियों (= इडा पिङ्गला) की समान व्याप्ति के कारण उनका समवाहित्व होता है न कि मध्योर्ध्ववाहित्व, क्योंकि उसके चतुर्थ प्रकाश रूप (= तुरीय प्रकाशरूप) होने से उसका सुषुप्ति के तम से योग नहीं होता ॥

इस विषय में कारणों को बतलाते हैं—

ब्रह्मा और ईश्वर दाँयें स्थित हैं । विष्णु और सदाशिव बाँयें हैं । मध्य में रुद्र और अनाश्रित शिव है । परमशिव सबसे परे हैं ॥-१५१-१५२-॥

ब्रह्मा विष्णु और रुद्र की परव्याप्ति के कारण ईश्वर सदाशिव और शिव (रीढ़ की हड्डी के) दाँयें बाँये और मध्य के अधिष्ठाता के रूप में स्थित हैं । इसीलिये तीनों नाड़ियों के जाग्रत आदि तीन अवस्थाओं से युक्त होने पर भी ईश्वर आदि (तीन) के द्वारा अधिष्ठित होने के कारण इनकी चतुर्थ व्याप्ति भी है—ऐसा समझना चाहिये । 'सर्वातीत' कथन से परकारण को कहा गया है ॥

कारण की भाँति पर और अपर भेद से तीन शक्तियों की स्थिति को बतलाते हैं—

ज्येष्ठा और ज्ञान शक्तियाँ दायीं ओर, वामा और क्रिया शक्तियाँ उत्तर (= बाँयें) तथा रौद्री और इच्छा शक्तियाँ मध्य में स्थित हैं ॥-१५२-१५३-॥

ज्ञानाद्या अपराः, ज्येष्ठाद्यास्तु पराः ॥

कारणानुसारेण परकारणस्वरूपवत् परशक्तिस्वरूपमप्याह—

..............परा शक्तिः परापरा ।

सर्वमेव परमपरं च व्याप्य स्थितेत्यर्थः ॥

अत्रैव सोमसूर्याग्नीनाह—

दक्षिणे तु स्थितः सूर्यो वामे सोमो विराजते ॥ १५३ ॥
पाके प्रकाशकत्वे च मध्यस्थश्चैव पावकः ।

पाके प्रकाशकत्वे चेति तन्निमित्तं पावकोऽग्निः । सोमसूर्ययोस्तु—

'वायति तपति सूर्यः सोमो वर्षति चामृतम्' (७।१५७)

इति कार्यं वक्ष्यति ॥

पाकप्रकाशौ विषयद्वारेण व्याचष्टे—

पाचयेत् सर्वपाकं हि सोमादिगुणसम्भवम् ॥ १५४ ॥
प्रकाशयेत् स्वसामर्थ्यात् परतत्त्वमनामयम् ।

ज्ञान आदि (= इच्छा क्रिया) अपर शक्तियाँ हैं और ज्येष्ठा आदि (= वामा रौद्री) परा शक्तियाँ ॥

कारणों के अनुसार पर कारण के स्वरूप की भाँति पराशक्ति के स्वरूप को भी बतलाते हैं—

पराशक्ति परा और अपरा वाली है ॥ -१५३- ॥

('परापरा' का तात्पर्य है—) पर और अपर सबको व्याप्त कर स्थित है ॥

यहीं पर सोम सूर्य और अग्नि को बतलाते हैं—

दाँयी ओर सूर्य स्थित हैं बाँयीं ओर सोम विराजमान है । पाक और प्रकाश करने वाला अग्नि मध्य में स्थित है ॥ -१५३-१५४- ॥

'पाक और प्रकाश में' कथन का तात्पर्य है—उसका कारणभूत अग्नि । सोम और सूर्य का कार्य—

'सूर्य चलता एवं तपता है और सोम अमृत की वर्षा करता है ।' (७।१५७)

इस (श्लोकार्द्ध में) कार्य को बतलायेंगे ॥

पाक और प्रकाश की विषयनिर्वचन के द्वारा व्याख्या करते हैं—

(अग्नि) सोम आदि गुणों से उत्पन्न हुए समस्त पाकों का पाचन

स्वसामर्थ्यादिति गुणीकृतप्राणादिवृत्तिवशोन्मग्नसंवित्स्वभावतया ॥

पूर्वं मध्यमार्गाश्रयदिनोदयानुसारं ग्रहादीनां स्थितिरुक्ता, इदानीं तु दक्षवाम-तदुभयाश्रयेणाप्याह—

राशयश्च ग्रहाः सर्वे ऋक्षयोगादयश्च ये ॥ १५५ ॥
चन्द्रसूर्यपथेनैव ते चरन्त्यनुपूर्वशः ।
सूर्यसोमौ च ते सर्वे भुञ्जते क्रमशः प्रिये ॥ १५६ ॥

ते सर्वे इति भैरवाष्टकपर्यन्ताः, सोमसूर्यौ इति पृथग्वाहे पृथक्, समवाहे तु युगपद्, भुञ्जतेऽधितिष्ठन्ति ॥ १५६ ॥

इत्थं च—

सोमसूर्यात्मकास्ते वै पथित्रयव्यवस्थिताः ।

दक्षे प्राणसूर्यात्मानः, वामेऽपानसोमात्मकाः, मध्ये तूभयात्मकाः । एतच्च द्वितीयपटले आज्यत्रिपथविभागावसर एव विभक्तम् ॥

करता है और अपने सामर्थ्य से अनामय परतत्त्व का प्रकाशन करता है ॥-१५४-१५५- ॥

अपने सामर्थ्य से-गौण की गयी प्राण आदि की वृत्तियों के कारण उन्मग्न संवित्स्वभावता के कारण (वह सामर्थ्यवान् हो जाता है) ॥

पहले मध्यमार्ग (= सुषुम्ना) के आश्रयभूत दिन के उदय के अनुसार ग्रह आदि की स्थिति कही गयी; अब दाहिने बाँये और उन दोनों के आश्रय से भी (ग्रह आदि की स्थिति को) कहते हैं—

समस्त राशियाँ, ग्रह, नक्षत्र, योग आदि जो भी हैं वे सब क्रमशः चन्द्रपथ और सूर्यपथ से सञ्चरण करते हैं । हे प्रिये ! वे सब क्रम से चन्द्र और सूर्य का भोग करते हैं ॥ -१५५-१५६ ॥

वे सब = भैरवाष्टक पर्यन्त । सोम और सूर्य—पृथक् प्राणवाह में पृथक्-पृथक् और सम प्राणवाह में एक साथ, भोग करते हैं = उनको अधिष्ठित करके रहते हैं ॥ १५६ ॥

इस प्रकार—

सोमात्मक और सूर्यात्मक वे तीनों मार्गों में स्थित रहते हैं ॥ १५७- ॥

दायीं ओर वे प्राणसूर्य वाले और बाँयी ओर अपान सोमवाले तथा मध्य में उभयरूप होते हैं । यह बात द्वितीय पटल में आज्य के त्रिपथविभाग के अवसर पर स्पष्ट कर दी गयी है ॥

सोमसूर्यात्मकत्वे च सति तेऽपि तत्फलप्रदा इत्याह—

वायति तपति सूर्यः सोमो वर्षति चामृतम् ॥ १५७ ॥
सोमसूर्यात्मकं यस्माज्जगत् स्थावरजङ्गमम् ।

यतः प्रोक्तव्याप्त्या सूर्यसोमवाहसम्बद्धत्वात् सर्वं जगत् सूर्यसोमात्मकम्, 'हिममपि दहति, वह्निरपि चाप्याययति स्पर्शनेन' इत्यनेन न्यायेन तत्त-त्प्रमातृदेशकालन्यायेन विश्वस्य ह्लादतापकारित्वेनोपलम्भनात्, ततः सूर्य इति दक्षवाहो वायति शोषयति ('ओवै' शोषणे) संतापयति च, सोम इति वामवाहस्त्वमृतं वर्षत्याप्याययति । अतः क्रूरसौम्यसिद्धिसाधनपरेण तदौचित्येनैव प्रवर्तनीयमिति परमार्थः ॥

किं च—

सौरो दक्षिणमार्गस्तु उत्तरायणसंज्ञितः ॥ १५८ ॥
वामः सौम्यस्तु यः प्रोक्तस्तत्र वै दक्षिणायनम् ।
सोमसूर्यात्म विषुवत्पुटद्वयविनिःसृतम् ॥ १५९ ॥

ऊर्ध्वाधोवाहवदत्राप्युत्तरायणादिविभागोऽस्तीत्यर्थः ॥ १५९ ॥

सोमसूर्यात्मक होने पर वे (= राशि आदि) भी उस फल को देने वाले होते हैं—यह कहते हैं—

सूर्य शोषण करता है और ताप देता है, सोम अमृत की वर्षा करता है जिस कारण स्थावर जङ्गमात्मक जगत् सोमसूर्यात्मक है ॥-१५७-१५८- ॥

चूँकि उक्त व्याप्ति के अनुसार सोम और सूर्य के प्रवाह से सम्बद्ध होने के कारण समस्त जगत् सूर्य और सोम वाला है । 'हिम भी दाह करता है और अग्नि भी स्पर्श करने पर शीतलता प्रदान करता है'—इस न्याय से तत्तत् प्रमातृ देश काल न्याय से ये दोनों विश्व का आह्लाद और ताप करने वाले के रूप में समझे जाते हैं । इस कारण सूर्य = दक्षवाही प्राण, शुष्क करता और ताप देता है तथा सोम जो कि वामवाह है, अमृत की वर्षा और आप्यापन करता है इसलिये क्रूर और सौम्य सिद्धि की साधना में तत्पर व्यक्ति को चाहिये कि वह उसके औचित्य को ध्यान में रख कर प्रवृत्त हो यह निष्कृष्ट अर्थ है ॥

इसके अतिरिक्त—

दक्षिण मार्ग सूर्य का है उसकी उत्तरायण संज्ञा है । जिसे सौम्य कहा गया है वह वाममार्ग है उसे दक्षिणायन कहा गया है । दोनों के पुट से निःसृत विषुवत् सोमसूर्य दोनों वाला है ॥ -१५८-१५९ ॥

ऊर्ध्व तथा अधो वाह के समान यहाँ भी उत्तरायण आदि विभाग है—यह तात्पर्य है ॥ १५९ ॥

अत्र संक्रान्तिभेदं दर्शयति—

उदक्संक्रान्तयः पञ्च पञ्च वै दक्षिणायने ।
दक्षिणोत्तरयोर्मध्ये संक्रान्त्या विषुवद्द्वयम् ॥ १६० ॥

'अहनि द्वादश प्रोक्ता' (७।१६८)

इति वक्ष्यमाणस्थित्या बाह्येऽह्नि द्वादश वामदक्षमध्यसंक्रान्तयो नवशतप्रापापानवाहात्मानो भवन्ति ॥ १६० ॥

अत्र फलं दर्शयति—

सौरश्च दक्षिणो मार्गस्त्वभिचारप्रसिद्धिदः ।
आप्यायने तथा पुष्टौ शान्तिके सौम्य उत्तरः ॥ १६१ ॥

अथ संक्रान्तिदशके क्रममादिशति—

दक्षिणादुत्तरं याति उत्तराद् दक्षिणं यदा ।
दक्षिणोत्तरसंक्रान्तिः सा चैवं संविधीयते ॥ १६२ ॥

बाह्ये दक्षिणविषुवद्दिने वक्ष्यमाणानुसारं प्रातरान्तरं दक्षिणविषुवत्कालं समवाहेन स्थित्वा दक्षिणमार्गादुदेत्य उत्तरमार्गं याति, पुनरुत्तराद् दक्षिणं यदा याति

यहाँ संक्रान्तिभेद दिखलाते हैं—

उत्तरायण में पाँच संक्रान्तियाँ होती हैं । इसी प्रकार दक्षिणायन में भी पाँच संक्रान्तियाँ होती है । दक्षिणायन और उत्तरायण के मध्य में संक्रान्ति के कारण दो विषुवत् होते हैं ॥ १६० ॥

'दिन में बारह संक्रान्तियाँ होती हैं ।' (७।१६८)

इस वक्ष्यमाण स्थिति के अनुसार बाह्य दिन में बारह वाम दक्ष मध्य संक्रान्तियाँ जो कि ९०० प्राणअपानवाह स्वरूप होती हैं, घटित होती हैं ॥ १६० ॥

इस विषय में फल दिखलाते हैं—

दक्षिण सौर मार्ग (= दक्षिणायन) अभिचार की सिद्धि करता है । वाम अर्थात् उत्तर का सौर मार्ग (= उत्तरायण) शान्ति पुष्टि और तृप्ति के लिये प्रशस्य है ॥ १६१ ॥

अब दश संक्रान्तियों में क्रम दिखलाते हैं—

प्राण जब दक्षिण से उत्तर और उत्तर से दक्षिण जाता है तो इस प्रकार दक्षिण और उत्तर संक्रान्ति होती है ॥ १६२ ॥

बाह्य दक्षिणविषुवत् के दिन में वक्ष्यमाण स्थिति के अनुसार प्रातःकाल में आन्तरिक दक्षिण विषुवत् काल तक समवाह से स्थित होकर (प्राण) दक्षिण मार्ग से

तदा सा दक्षिणसंक्रान्तिरुत्तरसंक्रान्तिश्चोच्यते । एवं संविधीयते अनेनैव क्रमेण पुनरुत्तराद् दक्षिणं यातीति संविधीयते निश्चीयते । तेन दक्षिणोत्तरदक्षोत्तरदक्षेषु पञ्च संक्रान्तीर्वहतीत्यर्थः ॥ १६२ ॥

अथ षष्ठीमुत्तरविषुवत्संक्रान्तिमाह—

दक्षिणस्यां यदा नाड्यां संक्रामेत्तु यदोत्तरम् ।
यावदर्धं तु तत्रस्थं मध्येनोत्तरतो वहेत् ॥ १६३ ॥
तावत्तद्विषुवत् प्रोक्तमुत्तरं तूत्तरायणे ।

दक्षिणनाड्यां पञ्चसंक्रान्त्यात्मिकायां स्थित्वा यदा यदोत्तरं मार्गं संक्रामेत्तदा मध्येनेत्युभाभ्यामुत्तरं विषुवद् भवतीति । उत्तरायण इति दक्षिणवाहात्मकोत्तरायणाश्रयत्वात् । कथमित्याह-तत्रेति । दक्षिणस्थमर्धं प्राणीयं कृत्वोभाभ्यां पुटाभ्यां वहतीत्यर्थः । यावदुत्तरत इति च यद्व्याख्यातुमवशिष्टम् तस्यायमर्थः—ततोऽनन्तरमुत्तरत उत्तरात् प्रभृति वहेद्यावदुत्तरां पञ्चमीं संक्रान्तिं यावत् । तेनोत्तरदक्षोत्तरदक्षोत्तराः पञ्च संक्रान्तीर्वहेदिति तात्पर्यार्थः । उत्तरेति सौत्रं द्विरावर्तनीयम् । टीकाकारैस्तु दक्षिणोत्तरमित्याद्युत्तरायण इत्यन्तमुत्तरविषुवद्विषयमेव व्याचक्षाणैः

उदित होकर उत्तर मार्ग को जाता है । पुनः जब उत्तर से दक्षिण को जाता है तब वह दक्षिण संक्रान्ति और उत्तर संक्रान्ति कही जाती है । (एवं संविधीयते' की व्याख्या करते हैं—) इस प्रकार होती है—इसी क्रम से पुनः उत्तर से दक्षिण को जाता है—ऐसा संविहित होता है—निश्चित किया जाता है । इससे दक्षिण उत्तर दक्षिण उत्तर और दक्षिण में (यह प्राण) पाँच संक्रान्तियों वाला होता है ॥ १६२ ॥

अब छठीं उत्तर विषुवत् संक्रान्ति को बतलाते हैं—

(प्राण) जब दक्षिण नाडी में स्थित रह कर उत्तर मार्ग की ओर संक्रामित होता है तो जब तक वह आधा दक्षिण और आधा उत्तर से प्रवाहित होता है तब तक वह उत्तरायण में उत्तर विषुवत् कहा जाता है ॥१६३-१६४-॥

(प्राण) जब पाँच संक्रान्ति वाली दक्षिण नाडी में रुक कर उत्तर मार्ग की ओर संक्रान्त होता है तब दोनों के मध्य से उत्तर विषुवत् होता है । उत्तरायण में— दक्षिण वाह वाले उत्तरायण का आश्रय होने से । कैसे? यह कहते हैं—वहाँ । दक्षिणस्थ अर्ध को प्राणीय बनाकर दोनों (= दक्षिण और उत्तर) पुटों से प्रवाहित होता है । 'यावत् उत्तरतः' इस कथन के द्वारा जो व्याख्या करने के लिये बचा हुआ है उसका अर्थ यह है—इसके बाद (यह प्राण) उत्तर से लेकर पाँचवीं उत्तर संक्रान्ति तक प्रवाहित होता है । इस प्रकार उत्तर दक्षिण उत्तर दक्षिण और उत्तर इन पाँच संक्रान्तियों में प्रवाहित होता है—यह तात्पर्यार्थ है 'उत्तर' जो कि श्लोकस्थ है, का दो बार आवर्तन करना चाहिये । अन्य टीकाकार 'दक्षिणोत्तरम्' से लेकर 'उत्तरायणम्' यहाँ तक (का वर्णन) उत्तर विषुवत् को बतलाता है—ऐसी

संक्रान्तीनां विभागो न दर्शितो, ग्रन्थपौनरुक्त्यं चाश्रितमत्र ॥

अथ दक्षिणविषुवमाह—

उत्तराद् दक्षिणायां तु संक्रामन् स वरानने ॥ १६४ ॥
यावदर्धं वहेत्तत्र अर्धं दक्षिणतो वहेत् ।
विषुवद् दक्षिणं तावद् दक्षिणायनजं प्रिये ॥ १६५ ॥

पञ्चसंक्रान्तिरूपादुत्तरान्मार्गाद् दक्षिणस्यां नाड्यां संक्रामन्नर्धं प्राणीयं तत्रेत्युत्तरे, अर्धं च दक्षिणे यावद्वहत्युभाभ्यां पुटाभ्यां समं वाहाद् दक्षिणविषुवदेतद्दक्षिणायनकालजातं भवतीत्यर्थः ॥ १६५ ॥

अत्र विषुवद्द्वये फलमाह—

तत्र पूजा जपो होमो यत्कृतं मुक्तिदं भवेत् ।

तत् ॥

किं च—

ध्यानयोगेन दीक्षायां तत्स्थो वै मोचयेद् गुरुः॥ १६६ ॥

व्याख्या करते हैं वे इस व्याख्या में संक्रान्तियों का विभाग नहीं दिखाये और ग्रन्थ की पुनरुक्ति कर दी ॥

अब दक्षिण विषुव को कहते हैं—

हे वरानने ! वह (= प्राण) जब उत्तर (मार्ग = नाडी) से दक्षिण (नाडी) में संक्रमण करते हुए आधा वहाँ (= उत्तर नाडी) में और आधा दक्षिण में बहता है, हे प्रिये ! तब दक्षिणायन से उत्पन्न दक्षिण विषुवत् होता है ॥ -१६४-१६५ ॥

पाँच संक्रान्ति रूप उत्तर मार्ग से दक्षिण नाडी में संक्रमण करता हुआ (वह चलता है) । आधा = प्राणसम्बन्धी (आधा सञ्चरण) । वहाँ = उत्तर (मार्ग = नाडी) में और आधा दक्षिण में प्रवाहित होता है । इस प्रकार दोनों पुटों से समान प्रवाह होने से (प्राण का) दक्षिणायन काल से उत्पन्न दक्षिण विषुव होता है ॥ १६५ ॥

यहाँ दोनों विषुवतों का फल बतलाते हैं—

उस (= विषुवद्द्वय) में जो कुछ पूजा जप होम आदि किया जाता है वह मुक्तिप्रद होता है ॥ १६६- ॥

तत् = वह मुक्तिप्रद होता है ॥

इसके अतिरिक्त—

दीक्षा होने पर उसमें स्थित गुरु ध्यानयोग के द्वारा (शिष्य को) मुक्त

ध्यानमत्र परतत्त्वविषयम् ॥

तदित्थम्—

बाह्ये चैव त्वहोरात्रे अध्यात्मं तु वरानने ।
चतुर्विंशतिसंक्रान्तीः प्राणहंसस्तु संक्रमेत् ॥ १६७ ॥

हृदब्जदलाष्टकस्य प्रधाननाडीत्रयस्पर्शादिवमिति व्याप्तिज्ञाः । प्राणहंस इति प्राग्वत् ॥

अत्रायं विभागः—

अहनि द्वादश प्रोक्ता रात्रौ वै द्वादश स्मृताः ।

अत्रापि विषुवत्संक्रान्तीनां विभागमाह—

पूर्वाह्णे विषुवत्त्वेकं मध्याह्ने तु द्वितीयकम् ॥ १६८ ॥
तृतीयं चापराह्णे वै अर्धरात्रे चतुर्थकम् ।
चतुर्धा विषुवत् प्रोक्तमहोरात्रेण मुक्तिदम् ॥ १६९ ॥

तेन बाह्ये विषुवद्दिने पश्चिमरात्रिशेषघटिका सपादा दिनोदयाद् घटिका सपादा इत्येकं विषुवत् । ततः पञ्च क्रमेण संक्रान्तयः प्रत्येकमर्धतृतीया घटिका एवेति

करा देता है ॥ -१६६ ॥

'ध्यान' पद से यहाँ परतत्त्वविषयक ध्यान समझना चाहिये ॥

तो इस प्रकार—

हे वरानने ! बाह्य एक अहोरात्र में प्राणहंस आध्यात्मिक चौबीस संक्रान्तियाँ करता है ॥ १६७ ॥

(प्राण व्याप्ति के) ज्ञाता लोग (कहते हैं कि यह व्याप्ति) हृदयकमल के आठ दलों के प्रधान । नाड़ियों के स्पर्श के कारण होता है । 'प्राणहंस' का तात्पर्य पूर्ववत् समझना चाहिये ॥

यहाँ यह विभाग है—

दिन में बारह और रात्रि में भी बारह संक्रन्तियाँ कही गयी हैं ॥ १६८- ॥

यहाँ (= इन बारह में) भी विषुवत् संक्रन्तियों का विभाग बतलाते हैं—

पूर्वाह्न में एक विषुवत्, मध्याह्न में दूसरा, अपराह्न में तीसरा और अर्ध रात्रि में चौथा विषुवत् (कहा गया है) । एक दिनरात्र में घटित होने वाला (यह विषुवच्चतुष्टय) मुक्ति प्रदान करता है ॥ -१६८-१६९ ॥

इससे बाह्य विषुवत् दिन में पश्चिम (= बीत गयी) रात्रि की अन्तिम सवा घड़ी

दिनारम्भात् प्रभृति पादोना एताश्चतुर्दश घटिका भवन्ति । ततो द्वितीयं विषुवदर्धतृतीयघटिकाः । ततोऽपि पञ्च संक्रान्तयस्तथैवेत्येवमियदन्तं पादोना एकान्नत्रिंशन्नालिका भवन्ति । ततोऽपि दिनादवशिष्टात् सपादा घटिका सपादा च रात्रिप्रारम्भघटिकेति तृतीयं विषुवदित्यनेन क्रमेणार्धरात्रे विषुवच्चतुर्थम् । यथा यथा दिननिशयोर्यो ह्रासो वृद्धिर्वा भवति, तथा संक्रान्तीनामपि स मन्तव्य इति समुदायार्थः । यदुक्तमस्मद्गुरुभिरशेषागमोपनिषदालोके तन्त्रालोके—

'विषुवद्वासरे प्रातः सांशां नालीं स मध्यगः ।
वामेतरोदक्सव्यान्यैर्यावत्संक्रान्तिपञ्चकम् ॥
एवं क्षीणासु पादोनचतुर्दशसु नालिषु ।
मध्याह्ने दक्षविषुवन्नवप्राणशतीर्वहेत् ॥
दक्षोदगन्योदग्दक्षैः पुनः संक्रान्तिपञ्चकम् ।
नवासुशतमेकैकं ततो विषुवदुत्तरम् ॥
पञ्चके पञ्चकेऽतीते संक्रान्तेर्विषुवद् बहिः ।
यद्वत्तथान्तः संक्रातिर्नवप्राणशतानि सा ॥

और दिनोदय के बाद सवा घड़ी इस प्रकार १।१/४ + १।१/४ = २।१/२ घड़ी का प्रथम विषुवत् मेष की संक्रान्ति होता है । इसके बाद क्रमशः पाँच संक्रान्तियाँ होती है उनमें से एक-एक संक्रान्ति ३।१/२ घटी की होती है । इस प्रकार सूर्योदय से प्रारम्भ कर एकपाद कम चौदह घटिकायें होती हैं । इसके बाद दूसरा विषवुत् (= कर्क की संक्रान्ति) ३।१/२ घड़ी का होता है । इसके पश्चात् पूर्व की भाँति पाँच संक्रान्तियाँ होती हैं । इस प्रकार यहाँ तक एकपाद कम २९ नाडियाँ (= घड़ियाँ) होती हैं । इसके अनन्तर अवशिष्ट दिन की सवा घटी और रात्रि के प्रारम्भ की सवा घटी (इस प्रकार १।१/४+१।१/४ = २।१/२) घड़ी का तीसरा विषुवत् (= तुला की संक्रान्ति) होता है । इसी क्रम से आधीरात को चौथा विषुवत् (= मकर की संक्रान्ति) होता हैं । जैसे-जैसे दिन और रात्रि के ह्रास या वृद्धि होते हैं उसी प्रकार संक्रान्तियों के भी ह्रास और वृद्धि समझने चाहिये—यह संघातार्थ है। जैसा कि हमारे गुरु ने समस्त आगमोपनिषत् के आलोकस्वरूप तन्त्रालोक में कहा है—

विषुवत् के दिन (= समान रात्रि दिन वाले मेष की संक्रान्ति के दिन) प्रातः काल में सांश (= एक चौथाई के साथ) एक नाड़ी के बीच में सञ्चरण करने वाला वह (= प्राण) प्रथम विषुवत् होता है। इस प्रकार बायें-दायें उत्तर दक्षिण और अन्य दिशाओं में सञ्चरण से पाँच संक्रान्तियाँ होती हैं । इस रीति से एक चौथाई कम चौदह नाडियों के क्षीण होने (= बीत जाने) पर मध्याह्न में दक्षिण विषुवत् वाली तुला संक्रान्ति १०९ प्राण सञ्चार वाली होती है । दक्षिण उत्तर अन्य (= दक्षिण) उत्तर और दक्षिण (प्राणवाहों) से पाँच संक्रान्तियाँ होती हैं । इसके बाद १०९ प्राणचार का उत्तर विषुवत् होता है । पाँच-पाँच सञ्चार के बीत जाने पर बाह्य विषुवत् होता है । जिस प्रकार यह बाह्य संक्रान्ति होती है जिसमें १०९

एवं रात्रावपीत्येवं विषुवद्दिवसात् समात् ।
आरभ्याहर्निशावृद्धिह्रासंक्रान्तिगोऽप्यसौ ॥' (६।२०१-२०५)

इत्यादि कालतत्त्वप्रकाशने षष्ठ आह्निके । यत्तु तत्र मध्याह्ने दक्षविषुवदित्युक्तम्, तद् बाह्योत्तरायणविषुवद्दिने प्रातरुत्तरविषुवद् भवतीत्याशयात् । इह तु बाह्यदक्षिणायनविषुवद्दिने प्रातर्दक्षिणविषुवद् भवतीत्याशयादन्यथोक्तम् ॥ १६९ ॥

अथाध्यात्मसंक्रान्तीनां बाह्यकालस्थितिमादिशति—

चतुर्विंशतिसंक्रान्त्यः समधातोः स्वभावतः ।
शतानि नव वै हंस एकामेकां वहेत् सदा ॥ १७० ॥

समधातोः श्लेष्माद्यनुपहतस्य । अत्र च शुक्लप्रतिपदः प्रभृति दिनत्रयमादौ वामे मार्गे प्रथममर्धतृतीया घटिका हंसो वहति, ततोऽन्यद्दिनत्रयं दक्षिणे, ततोऽप्यन्यद्वामे, इत्यादिः क्रमः श्रीकालोत्तरादिशास्त्रोक्त-उदयज्ञप्त्यर्थं स्मर्तव्यः । यदुक्तं कालवल्याम्—

'तत्र तावदयं प्राप्य दर्शप्रतिपदं मरुत् ।
समुदेति विधौ तावदादौ चन्द्रदिनत्रयम् ॥

प्राणसञ्चार होता है उसी प्रकार रात्रि में भी (पाँच प्राणसंक्रान्ति और दो विषुवत् होते हैं) । इस प्रकार यह (= प्राण) विषुवत् दिन से आरम्भ कर रात्रि की वृद्धि एवं ह्रास की संक्रान्तियों में सञ्चरण करता है ।' (तं०आ० ६।२०१-२०४)

(यह) कालतत्त्व प्रकाशन नामक षष्ठ आह्निक में कहा गया । जो कि वहाँ 'मध्याह्न में दक्षिणविषुवत् वाली...............' इत्यादि कहा गया वह बाह्य उत्तरायण विषुवत् दिन में प्रातः उत्तरविषुवत् हो जाता है—इस आशय से कहा गया; और यहाँ बाह्य दक्षिणायन विषुवत् दिन में प्रातः दक्षिणविषुवत् होता है इस आशय से भिन्न प्रकार से कहा गया ॥ १६९ ॥

अब अध्यात्म संक्रान्तियों की बाह्यकालीन स्थिति को कहते हैं—

यह हंस समधातु वाले योगी के अन्दर स्वभावतः एक-एक करके चौबीस घण्टे में नौ सौ संक्रान्तियों को प्रवाहित करता है ॥ १७० ॥

समधातु = श्लेष्मा आदि (= वात और पित्त) के वैषम्य से अप्रभावित योगी के यहाँ शुक्ल प्रतिपदा से लेकर प्रथम तीन दिन वाम मार्ग (= इडा नाडी) में पहले ३।१/२ घड़ी तक प्राणवाह होता है । उसके बाद दूसरे तीन दिन दक्षिण मार्ग (= पिङ्गला नाडी) में ३।१/२ घड़ी प्रवाहित होता है । फिर तीन दिनों तक बायें मार्ग में । यह प्रवाह क्रम कालोत्तर आदि शास्त्रों में वर्णित प्राणोदय के ज्ञान के लिये स्मरण रखना चाहिये । जैसा कि कालावली में कहा गया—

'यह मरुत् (= प्राण) दर्श (= शुक्ल पक्ष की) प्रतिपत् को प्राप्त कर पहले

ततः संक्रमते सूर्ये तत्राप्युदयते त्र्यहम्।
संक्रम्य त्रयमेतस्मात् पुनरेति हिमद्युतौ ॥' इत्यादि ॥

उपसंहरति—

एतन्मानं समाख्यातं...............

संक्रान्तीनामिति शेषः ॥

अन्यथाप्रवहनमिष्टेतरसूचकमित्याह—

...............अन्यथा प्रवहेद्यदा ।
इष्टं चैवाप्यनिष्टं च तदा संसूचयेत्तु सः ॥ १७१ ॥

समधातोरित्येव ॥

यत एवम्—

आत्मार्थं वा परार्थं वा तस्माद्योगी निरूपयेत् ।

आत्मार्थं निरूपयेद् आत्मना परीक्षीत । परार्थं निरूपयेद् इति परं निरूपणायां परीक्षायां नियुञ्जीत । अत्र निरूपयेदिति द्वौ णिचौ ॥

तीन चन्द्रदिन तक चन्द्र (= वाम = इडा नाडी) में समुदित (= सञ्चरणशील) होता है । इसके बाद (वह प्राण हंस) सूर्य (= दक्षिण = पिङ्गला नाडी) में संक्रान्त होता है और वहाँ भी तीन दिनों तक संक्रमण करने के बाद पुनः चन्द्रनाडी में आ जाता है' इत्यादि कालावाली में देखना चाहिये ॥

(इस प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

(प्राण की) संक्रान्तियों का यह मान बतला दिया गया ॥ १७१- ॥

'संक्रान्तीनाम्' = संक्रान्तियों का यह जोड़ना चाहिए ॥

यदि प्राण इस क्रम के विपरीत प्रवाहित होता है तो अनिष्ट का सूचक होता है—यह कहते हैं—

जब प्राणवायु विपरीत क्रम से प्रवाहित होता है तब वह समधातु के इष्ट और अनिष्ट की सूचना देता है ॥ -१७१ ॥

चूँकि ऐसा है—

इस कारण योगी साधक को चाहिये कि वह आत्मार्थ या परार्थ निरूपण करे ॥ १७२- ॥

आत्मार्थ निरूपण करे = अपने द्वारा (अपने प्राणवाह का) परीक्षण करे । परार्थ निरूपण करे = दूसरे व्यक्ति को उसके स्वयं के निरूपण अर्थात् परीक्षण के लिये नियुक्त करे । यहाँ 'निरूपयेत्' इस पद में दो णिच् है ॥

अथात्र परीक्षाकालमाह—

पूर्वोदये तु सम्प्राप्ते भास्करस्य वरानने ॥ १७२ ॥
जीवितं मरणं चैव तदारभ्य विचारयेत् ।

जीवितसंलग्नत्वात् सुखदुःखादिभोगस्य प्रथमं तत्परीक्षैव प्राधान्यादिहोपक्रान्ता । भास्करस्य दक्षिणप्राणस्य । पूर्वोदये इति प्रोक्तोभयवाहात्मकप्रातस्तनविषुवत्कालानन्तरं यदोदयो भवति, तदा प्रभृति विचारयेत् । अत्र च बाह्योत्तरायणे विषुवद्वासरप्रातस्तनकालात् प्रभृति परीक्षेत, इति कालावलीकारः । सर्वदैव प्राभातिकप्रोक्तान्तर्विषुवत्कालोत्तरभाविदक्षवाहात् प्रभृति, इति गुरवः ॥

तत्र—

सुसंयतमना योगी वीरो योगासनस्थितः ॥ १७३ ॥
संस्मरन्नात्मजं प्राणं सुषुम्नान्तर्गतं प्रिये ।

सुसंयतत्वं मनसो विषयाकलुषितत्वम्, वीरः प्राणवाहनिभालनैकाग्रः । योगासनं पद्मासनादि । आत्मजं प्राणम् इति व्याख्यातावरोहक्रमेण चित्स्वरूपादेवोत्थितम्, सम्यक् स्मरन् दिव्यकरणबन्धक्रमेण पूर्वोक्तानुप्रवेशयुक्त्या परामृशन् ॥

अब यहाँ परीक्षाकाल को बतलाते हैं—

हे वरानने ! जब सूर्य (= प्राण) पूर्वोदय (प्रातः विषुव) को प्राप्त हो तब से लेकर जीवन-मृत्यु का विचार करना चाहिये ॥ -१७२-१७३- ॥

सुख दुःख आदि भोग के जीवन से सम्बद्ध होने के कारण प्रधान होने से यहाँ पहले उसी की परीक्षा का उपक्रम किया गया । भास्कर का = दक्षिण नाडी से प्रवाहित होने वाले प्राण का । पूर्वोदय होने पर = पूर्वोक्त वामदक्षिणमार्ग से प्रवाह रूप प्रातःकालीन विषुवत्काल के बाद, जब उदय होता है । उस समय से लेकर विचार करना चाहिये । यहाँ बाह्य उत्तरायण में विषुवत् के दिन प्रातःकाल से परीक्षा करनी चाहिये—ऐसा कालावलीकार कहते हैं । किन्तु हमारे गुरु (= अभिनवगुप्त) का कथन है कि सर्वदा ही प्रभातकालीन उक्त अन्तर्विषुवत् के बाद होने वाले भावी दक्षवाह से विचार करना चाहिये ॥

इस क्रम में—

हे प्रिये ! वीर योगी स्वच्छ मन वाला होकर योगासन में स्थित हुआ यदि आत्मा से उत्पन्न एवं सुषुम्ना में प्रविष्ट प्राण का स्मरण करता है ॥ -१७३-१७४- ॥

मन के सुसंयत होने का अर्थ है—उसका विषयों से असंस्पृष्ट होना । वीर = प्राणचार के निभालन में एकाग्रचित्त । योगासन = पद्मासन (सिद्धासन) आदि । आत्मज प्राण को = पूर्व व्याख्यात अवरोह क्रम से चित्स्वरूप से उत्पन्न । सम्यक्

अतश्च—

सुप्रशान्तस्तदा तिष्ठेत् प्राणैकगतमानसः ॥ १७४ ॥

मध्यप्राणवाहावधानेन प्रत्ययान्तरप्रशमात् सुप्रशान्तः ॥ १७४ ॥

एवं सर्वप्रसरभित्तिभूतनिभालितसुषुम्नामार्गस्य योगिनो यदा—

प्राणसंक्रान्तिकालो वै पिङ्गलैकस्थितो वहेत् ।
प्रवाहे विषुवद् देवि ज्ञात्वा कालं समादिशेत्॥ १७५ ॥

ज्ञात्वेत्यतोऽनन्तरं तदेत्यध्याहार्यम्, तेनायमर्थः—मध्यपथनिभालनपुरःसरं प्रभातकालमुभयवाहात्मकं निभाल्य, तदनन्तरं पिङ्गले दक्षिणमार्गे एवैकस्मिन् यथोक्तदक्षिणवामक्रमवाहोल्लङ्घनात्स्थितं चिरकालं समवस्थानमुपलक्ष्य तादृशि प्रवाहे कालम् इति स्वस्य परस्य वा मृत्युमादिशेत् ॥ १७५ ॥

एतद्विभजति—

एकाब्दं जीवितं ज्ञेयमहोरात्रेण सुव्रते ।

स्मरण करने वाला = दिव्यकरण बन्ध के क्रम से पूर्वोक्त अनुप्रवेश की युक्ति से परामर्श करता हुआ ॥

फलतः वह—

उस समय केवल प्राण के ऊपर चित्त को स्थिर करने वाला वह योगी सुप्रशान्त रहता है ॥ १७४ ॥

मध्य नाडी में प्राणवाह के ऊपर ध्यान देने से दूसरे ज्ञानों का उदय शान्त होने के कारण वह सुप्रशान्त हो जाता है ॥ १७४ ॥

इस प्रकार समस्त प्रपञ्च विस्तार का आधारभूत सुषुम्ना मार्ग का निभालन करने वाले योगी का जब—

प्राणसंक्रान्ति काल जब पिङ्गला में स्थित होकर प्रवाहित होता है । हे देवि ! तब प्रवाह में विषुवत् को जान कर काल (= मृत्यु) को बतलाना चाहिये ॥ १७५ ॥

'ज्ञात्वा' के बाद 'तदा' का अध्याहार करना चाहिये । इससे यह अर्थ निकलता है—योगी मध्यमार्ग का पर्यवेक्षण करते हुए प्रातःकाल में (इडा पिङ्गला) दोनों में प्रवाहित होने वाले प्राण का निभालन कर उसके बाद पिङ्गल में = अकेले दक्षिण मार्ग में, पूर्वोक्त दक्षिण और वाम के क्रमिक वाह का उल्लंघन कर स्थित स्थिति को चिरकाल तक समझ कर उस प्रवाह में काल = अपनी या दूसरे की मृत्यु, का उल्लेख करे ॥ १७५ ॥

इसका विभाग करते हैं—

अब्दद्वयं स जीवेत्तु अहोरात्रद्वयेन तु ॥ १७६ ॥
त्र्यब्दं तु त्रिभिरेवात्र चतुर्भिश्चतुरब्दकम् ।
पञ्चाब्दं पञ्चदिवसैः षड्भिः षड्वर्षमेव च ॥ १७७ ॥
सप्तभिः सप्त वर्षाणि जीवेदष्टाष्टभिर्दिनैः ।
नवभिर्नववर्षाणि दशभिर्दश एव च ॥ १७८ ॥
दिनैकादशकेनैव वर्षैकादशकं प्रिये ।
दिनैर्द्वादशभिर्योगी जीवेद् वर्षाणि द्वादश ॥ १७९ ॥
सप्तयामप्रवाहेण षण्मासानथ जीवति ।
प्रहरान् षड्वहेद्यस्य मासांस्त्रीन् वै स जीवति ॥ १८० ॥
पञ्चप्रहरवाहेन द्व्यर्धमासायुरेव सः ।
चतुर्भिः प्रहरैर्देवि मासमेकं स जीवति ॥ १८१ ॥
प्रहरत्रयवाहेन मासार्धं चैव जीवति ।
प्रहरद्वयं वहेद्यस्य दिनान्यष्टौ स जीवति ॥ १८२ ॥
चतुरः प्रहरान् जीवेत् प्रहरं तु वहेद्यदा ।
प्रहरार्धं वहेद्यस्य स जीवेत् प्रहरद्वयम् ॥ १८३ ॥

अत्र प्रोक्तनवशतप्राणवाहातिरेकेण यदि द्वादशदिवसाद्येकान्तानि दिनानि समधातोः प्राणः पिङ्गलायामेवैकस्यां स्थितो वाममार्गासंस्पर्शे वहेत् तत्तावत्

हे सुव्रते ! एक रातदिन के प्रवाह से एक वर्ष का जीवन जानना चाहिये । दो रात दिन का प्रवाह हो तो वह दो वर्ष तक जीवित रहता है । तीन दिन रात से तीन वर्ष, चार से चार वर्ष तक, पाँच दिवस से पाँच वर्ष, छः अहोरात्र के प्राणवाह से छः वर्ष, सात से सात एवं आठ दिनों से आठ वर्ष, नव से नव वर्ष, दश से दश वर्ष तक जीवित रहता है । हे प्रिये ! योगी ग्यारह दिनों से ग्यारह वर्ष और बारह दिनों से बारह वर्षों तक जीवित रहता है ।

सात प्रहर के प्रवाह से छः महीने तक जीवित रहता है । जिस योगी का प्राण छः प्रहर तक प्रवाहित होता है वह तीन महीने तक जीवित रहता है । पाँच प्रहर तक के प्रवाह से वह ढाई मास की आयु वाला होता है । हे देवि ! चार प्रहर के प्रवाह से एक मास तक जीवित रहता है । जिस (योगी) का (प्राण) दो प्रहर तक चलता है वह आठ दिनों तक जीता है । जब एक प्रहर तक प्राण प्रवाहित होता है तब (वह योगी) चार प्रहर तक जीवित रहता है । जिसका आधा प्रहर प्रवाहित होता है वह दो प्रहर तक जीवित रहता है ॥ १७६-१८३ ॥

पूर्वोक्त ९०० प्राणवाह के अतिरिक्त यदि बारह दिन से लेकर एक दिन तक

संख्यान्येव वर्षाणि जीवितं भवति । सप्तप्रहराद्यर्धप्रहरान्ते तु स्ववाहाभ्यधिके वाहे षट्त्रिद्व्यर्धैकमासतदर्धदिनाष्टकचतुर्दिनैकदिनदिनार्धमायुर्भवति । कश्चित्तु नवशतिकाद्वाहादनन्तरं प्राणापानवाहात्मकान्तरदिनस्थित्या दिनविभागं स्वपरपरीक्षार्थं तुटिचतुष्टयात्मकान्तरप्रवहणस्थित्या च प्रहरविभागं स्वपरीक्षार्थमेव व्याकृतवान्, अनुभवबाधं च बाह्यदिनादिवाहे प्रोक्तवान् सप्तप्रहरादिवाहं तु बाह्यमभ्युपेत्योपेक्ष्यमेत् । यतो यदि बाह्यानि द्वादशापि दिनान्यायातमृत्योः प्राणो वहति, तत्कोऽत्रानुभवबाधः । न तथोपलम्भोऽस्तीत्यनायातमृत्युनाऽनवधानेन चैतद्वक्तुं शक्यम् । इतरस्य तु तथा चोपलम्भो भवत्येव । तुटिचतुष्टयात्मकप्रहरस्थित्या च सप्तादिप्रहरवाहोऽत्यन्तासम्बद्ध एव, नहि कस्यचिदपि जातुचित् प्राणापानवाहः स्वाभाविकीं द्वासप्तत्यङ्गुलतामुत्सृज्य वहति, चतुष्प्रहरवाहे च षट्त्रिंशदङ्गुलान्तेऽपानस्याप्रवेशे तदैव मरणप्रसङ्गः । किं च तथाविधांशांशिकावाहो योगिना महता प्रयत्नेन साधितस्तत्तत्सिद्धिप्रद इत्यमावस्याप्रयत्नेन घटितः सिद्धिप्रद एवं भवेन्न तु जीवितावसानसूचकः । पिङ्गलैकस्थित इति चात्राश्लिष्टम् । यदि तु योगिभिरत्र पक्षे वाग्भरो दीयते, तन्नेयार्थमप्येतत् साध्वेव नास्माकं ग्रहः कश्चित्, तदपि तु

सम धातु वाले व्यक्ति का प्राण वाममार्ग का स्पर्श न करते हुए केवल पिङ्गला में प्रवाहित हो तो प्राणवाह की उतनी संख्या के वर्षों तक ही उसका जीवन रहता है । सात प्रहर से लेकर आधा प्रहर तक अपने प्रवाह से अधिक प्राणवाह होने पर छ, तीन, ढाई, एक, आधा मास तथा आठ दिन, चार दिन, एक दिन, आधा दिन की आयु होती है । किसी व्याख्याकार ने ९०० प्राणवाह के बाद प्राण-अपानवाहरूप आन्तर दिन की स्थिति के अनुसार दिन विभाग स्वपर परीक्षा के लिये तथा चार तुटि रूप आन्तर प्रवहण की स्थिति से प्रहरविभाग अपनी परीक्षा के लिये होता है—ऐसी व्याख्या की और बाह्य दिन आदि के प्रवाह के अनुसार गणना करने पर बाह्य सात प्रहर आदि वाह को मानकर अनुभव का बाध बतलाया उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये । यदि आसन्नमृत्यु प्राणी का प्राण बाह्य द्वादश दिनों तक प्रवाहित होता है तो यहाँ कौन सा अनुभवबाध है । 'वैसा उपलम्भ नहीं हो रहा है'—ऐसा वही व्यक्ति कह सकता है जो कि आसन्न मृत्यु वाला न होते हुए अनवहित चित्त वाला है । अन्य (= अनासन्न मृत्यु वाला होते हुए सावधान चित्त वाले) को तो उपलम्भ (= अनुभव) होता ही है । चार तुटि वाले प्रहर की स्थिति के अनुसार सात छः आदि प्रहरों के प्रवाह की बात अत्यन्त असम्बद्ध हैं । किसी का भी प्राणअपानप्रवाह स्वाभाविक बहत्तर अङ्गुल का ही होता है उसके अतिरिक्त नहीं । चार प्रहर के प्रवाह में छत्तीस अङ्गुल प्रवाह के अन्त में अपान का प्रवेश न होने पर उसी समय मृत्यु हो जाती है । इसके अतिरिक्त उस प्रकार का अंशाशिका प्रवाह योगी के द्वारा अत्यधिक प्रयत्न से सिद्ध किया गया होने पर ही सिद्धि देता है इस प्रकार अमावस्या के प्रयत्न से घटित होने पर वह सिद्धिप्रद ही होता है न कि जीवन के अन्त का सूचक है । 'केवल पिङ्गला में स्थित' कथन का तात्पर्य है—अश्लिष्ट (= इडा से असम्बद्ध) । यदि योगी लोग इस पक्ष को विशेष

दिनवाहः स्वपरीक्षार्थः, यामवाहस्तु स्वपरपरीक्षार्थ इत्यत्र न वचनं किञ्चिदस्ति; प्रहरादिवाहव्यवस्था च बाह्याप्यभ्युपगम्यत इति स्फुटमिदं स्वमनीषामात्रकल्पितम्—इत्यलं पूर्वैः सह निर्बन्धेन । विपर्यस्तस्त्वागमार्थावबोधोऽनुष्ठानविपर्यासहेतुर्माभूदित्याशयेनैतदुक्तम् ॥ १८३ ॥

किं च—

सद्यो मृत्युर्भवेत्तस्य यस्य हंसस्त्रिमार्गगः ।

सद्य इति तस्मिन्नेवार्धप्रहरे । त्रयो मार्गाः नासारन्ध्रे मुखं च ॥

अब्दादिजीवितं च तत्परीक्षाकालात् प्रभृति गणयेदित्याह—

यदारभ्य निरूप्येत प्राणे वै कालमीश्वरम् ॥ १८४ ॥
मासः पक्षो दिनं वर्षं तदहः प्रभृति प्रिये ।
संलक्ष्यैवं प्रयत्नेन तत्काले निश्चयो भवेत् ॥ १८५ ॥

यतो बाह्यात् कालादारभ्य सकलकालव्यवस्थोत्थापकत्वात्कालम्, प्रभ-

---

गम्भीरता से कहते हैं तो नेयार्थ (= किसी तरह स्वीकार्य अर्थ वाला) होते हुए भी यह समीचीन है । इसमें हमको कोई आपत्ति नहीं है । तो भी दिनवाह अपनी परीक्षा के लिये है । एक याम का वाह अपनी ओर दूसरे की परीक्षा के लिये होता है—इस विषय में कोई वचन नहीं है । प्रहर आदि वाह की व्यवस्था यदि बाह्य भी हो तो उसका स्वीकार हो जाता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि (यह बाह्यव्यवस्था) अपनी बुद्धि से कल्पित है । इस प्रकार पूर्व विद्वानों के साथ दुराग्रह निरर्थक है । जो विपरीत मत की चर्चा की गयी वह इस आशय से कि उस प्रकार के अर्थ को समझने के बाद वह विपरीत अनुष्ठान का कारण न बन जाय ॥ १८३ ॥

और भी—

जिसका प्राणवायु तीनों मार्गों से चलता है उसकी सद्यः मृत्यु हो जाती है ॥ १८४- ॥

सद्यः = उसी आधे प्रहर में । तीन मार्गों का अर्थ है—नाक के दोनों छिद्र तथा मुख ॥

वर्ष आदि तक जीवन की गणना उसके परीक्षाकाल से करनी चाहिये—यह कहते हैं—

हे प्रिये ! जहाँ से आरम्भ कर प्राण में ईश्वररूपी काल का निरूपण होता है उसी दिन से दिन मास पक्ष वर्ष को प्रयत्नपूर्वक लक्षित कर उस समय में (आयु का) निश्चय होता है ॥ -१८४-१८५ ॥

विष्णुतया विश्वस्याक्रमणाच्चेश्वरम् प्राणे प्रकृष्टेन निभालनात्मना यत्नेनैव-मुक्तयुक्त्या निरूपयेत् परीक्षेत्, ततः प्रभृति मासपक्षदिनवर्षादि सम्यग् लक्षयित्वा तत्काले निश्चयो भवेदर्थाज्जीवितस्येति सम्बन्धः ॥

उपसंहरति—

उत्तरायणजे काले एवं ते कथितं मया ।

उत्तरायणमत्र दक्षिणनासापुटवाहः, तस्य संहारप्रधानत्वात् ॥

प्रसङ्गात् प्रकारान्तरं मृत्युज्ञानार्थं प्रतिजानीते—

अयुक्तस्यापि च प्राणे मृत्युज्ञानं निबोध मे ॥ १८६ ॥

तदाह—

कर्णरन्ध्रकृताङ्गुष्ठो घोषं न शृणुते यदा ।
मरणं तस्य देवेशि षण्मासेन विनिर्दिशेत् ॥ १८७ ॥

घोषं द्रुतसरिच्छब्दानुकारं न शृणोति । तदन्तःस्थं चीरवागाख्यप्राणिकार्य-

---

समस्त खण्ड कालों की व्यवस्था का उत्थापक होने से वह हंस काल है और प्रभावशाली होने के कारण संम्पूर्ण विश्व को आक्रान्त कर स्थित होने से वह ईश्वर है । जिस = बाह्य काल से, आरम्भ कर प्राण में, प्रकृष्ट = निभालन रूप, यत्न के द्वारा = उक्त युक्ति के द्वारा, निरूपण करे = परीक्षा करे, उसी बाह्य काल से मास पक्ष दिन वर्ष आदि का सम्यक् ज्ञान कर उस काल में जीवन का निश्चय होता है ॥

इस प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

उत्तरायण में उत्पन्न काल (= हंस) के विषय में इस प्रकार मैंने तुमको बतलाया ॥ १८६- ॥

यहाँ उत्तरायण का अर्थ है—दायें नासापुट से प्राण का प्रवाह । क्योंकि वह संहारप्रधान है ॥

मृत्यु के ज्ञान के लिये प्रसङ्गात् दूसरे प्रकार को बतलाने की प्रतिज्ञा करते हैं—

अयुक्त (= योगप्रक्रिया से रहित) व्यक्ति के भी प्राण के विषय में मृत्यु का ज्ञान मुझसे जानो ॥ -१८६ ॥

उसको बतलाते हैं—

हे देवेशि ! जिस व्यक्ति के दोनों कानों के छिद्रों को अंगूठे से बन्द करने पर यदि शब्द न सुनायी दे तो उसकी मृत्यु छः महीने के अन्दर कहनी चाहिये ॥ १८७ ॥

चिञ्चिनीतुल्यं शब्दं शृणोत्येव ॥ १८७ ॥

यदा तु तमपि—

घोषमध्ये परं शब्दं चीरवाक्चिञ्चिनीरवम् ।
मासमेकं स जीवेत्तु न शृणोति यदा प्रिये ॥ १८८ ॥

कर्णरन्ध्रकृतांगुष्ठ इत्यनुवर्तते ॥ १८८ ॥

प्रसङ्गादन्यदप्याह—

उत्पाटं चैव काणं च मृत्युयोगं च मे शृणु।

तत्र—

संक्रान्तिपञ्चकं प्राणो मुखरन्ध्रे वहेद्यदा ॥ १८९ ॥
तमुत्पाटं वदेद्योगं............

प्राणस्य स्वस्थानानसापथादुत्पाटनादयमुत्पाटः ॥ १८९ ॥

यदाह—

.......स्थानात् स्थानान्तरं व्रजेत् ।

घोष = तेजी से बहती हुई नदी की आवाज के सदृश । (उस समय वह) चीरवाक् नामक प्राणिकार्य (= प्राणी के द्वारा किया जाने वाला कार्य अर्थात्) चिञ्चिनी के तुल्य शब्द को तो सुनता ही है ॥ १८७ ॥

हे प्रिये ! घोष के मध्य में जब वह उस चीरवाक् नामक चिञ्चिनी शब्द को भी नहीं सुनता तब वह एक महीने तक ही जीवित रहता है ॥ १८८॥

यहाँ 'कर्णरन्ध्रकृताङ्गुष्ठः' का अनुवर्त्तन करना चाहिये ॥ १८८ ॥

प्रसङ्गवश अन्य की भी चर्चा करते हैं—

उत्पाट, काण और मृत्यु के योग को मुझसे सुनो ॥ १८९- ॥

उन (त्रिविध योगो) में—

प्राण जब पाँचों संक्रान्तियों में मुख के रास्ते सञ्चरण करता है तो उसको उत्पाट योग कहना चाहिये ॥ -१८९-१९०- ॥

(प्राण का स्वाभाविक मार्ग नासारन्ध्रद्वय है) प्राण के अपने स्थान नासापथ से उखड़ जाने के कारण इसको उत्पाट कहा जाता है ॥ १८९ ॥

जैसा कि कहते हैं—

एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है ॥ -१९०- ॥

अतश्चेद्गरिष्टलक्षणयुक्तोऽपि स्थानात् स्थानान्तरमुद्भ्रान्तपत्रिवद् भ्रमति, इत्यप्यत्रार्थः ॥

किं च, ईदृशोत्पाटवतः—

वित्तनाशस्तथोद्वेगो रोगवृद्धिश्च जायते ॥ १९० ॥
सुहृद्गृहविनाशश्च तेजोहानिश्च जायते ।

काणमाह—

दक्षिणे पुट एकस्मिन् दक्षिणायनवर्जिते ॥ १९१ ॥
संक्रान्त्यष्टकवाहेन काणयोगो भवेद्धि सः ।

दक्षिणायनेन वामपुटवाहेन वर्जिते मध्ये तद्रहिते । एवं चाभिदधत् यत्

'त्रिंशत्प्राणक्षयोदयाः' (७।२०२)

इति मृत्युयोगे संक्रान्तिस्वरूपं वक्ष्यति, तदिहापि सम्बन्ध्यमिति सूचयति, दक्षिणायने प्राप्त्यभावाद्वर्जनानुपपत्तेः । अतश्च वामवाहनिमीलनेन दक्षिणैकवाहात् काणः इव काणः ॥

अतश्च—

इसलिये इस प्रकार के अरिष्ट लक्षण से युक्त व्यक्ति भी पागल पक्षी की भाँति एक स्थान से दूसरे स्थान को जाता है—यह भी अर्थ यहाँ समझना चाहिये ॥

तथा इस प्रकार के उत्पाट वाले के—

वित्त का नाश, उद्वेग और रोगवृद्धि होती है । उसके मित्र के घर का नाश और उसके तेज की हानि भी होती है ॥ -१९०-१९१- ॥

काण योग को बतलाते हैं—

दक्षिणायन से रहित एक दक्षिण नासापुट में आठ संक्रान्तियों के प्रवाह से काणयोग होता है ॥-१९१-१९२- ॥

दक्षिणायन से = वामनासापुटवाह से, वर्जित = मध्य में उससे रहित । इस प्रकार कथन करते हुए मृत्युयोग में जो—

'प्राण के तीस क्षय और उदय होते हैं ।' (७।२०२)

इस प्रकार का संक्रान्ति का स्वरूप कहेंगे, उसको यहाँ सम्बद्ध करना चाहिये—यह सङ्केत करते हैं । क्योंकि दक्षिणायन में प्राप्ति के अभाव से वर्जन की अनुपपत्ति होती है । अर्थात् प्राप्ति न होने पर निषेध का प्रश्न ही नहीं उठता । इसलिये वामप्राणवाह के बन्द होने तथा केवल दक्षिणवाह के चालू होने से (आँख से) काण के समान (यहाँ नाक का भी) काणत्व होता है ॥

भगन्धरोऽनुग्रन्थश्च नेत्ररोगश्च कामला ॥ १९२ ॥
शूलं विस्फोटिका दुःखमुरोदोषा भवन्ति च ।

भगन्धरः पायुरोगः । अनुग्रन्थः सशूलोऽतीसारः । नेत्ररोगः तिमिरामयः । विस्फोटिका पिटिका । उरोदोषा उरःक्षताद्याः ॥

वामकाणमुक्त्वा दक्षिणकाणमाह—

वामनासापुटेनैव संक्रान्तीश्च त्रयोदश ॥ १९३ ॥

यदि प्राणो वहेत् तदा दक्षिणवाहनिमीलनादयमपि काणः ॥ १९३ ॥

तस्मात्—

ज्वरः शिरोऽर्तिः शूलं च अर्शांसि स्तम्भ एव च।
मूत्रकृच्छ्रं प्रमेहश्च पाण्डुरोगश्च जायते ॥ १९४ ॥

प्रमेहः शुक्लादिप्रस्रावः ॥ १९४ ॥

तदित्थं प्राणः—

इसके कारण—

भगन्धर, अनुग्रन्थ, नेत्ररोग, कामला, शूल, फोड़ेफुंसी, वक्षरोग उत्पन्न होते हैं ॥ -१९२-१९३- ॥

भगन्धर = गुर्दा मार्ग का रोग (जिसमे मलद्वार के अन्दर और बाहर दाने या छोटी-छोटीं फुंसियाँ निकल आती हैं तथा मल निकलते समय दर्द होता है) । अनुग्रन्थ = दर्द के साथ मल का बार-बार निकलना । नेत्ररोग = रतौंधी, फूली आदि । विस्फोटिका = छोटी-छोटी फुंसी । उरोदोष = वक्षस्थल में घाव आदि ॥

वामकाण का वर्णन कर दक्षिणकाण को कहते हैं—

केवल वामनासापुट से प्राण की तेरह संक्रान्तियाँ हों (तो यह दक्षिणकाण होता है) ॥ -१९३ ॥

यदि प्राण (वामनासापुट से प्रवाहित हो तो दक्षिणनासापुट से) प्रवाह के बन्द हो जाने से यह भी काण है ॥ १९३ ॥

इस (काण) के कारण—

ज्वर, शिरदर्द, शूल, बवासीर, स्तम्भ (= शरीर का कड़ा होना या ऐंठना) मूत्रकृच्छ्र (मूत्र का कष्ट के साथ बाहर निकलना), प्रमेह (= मधु मेह) और पाण्डुरोग (= शरीर का पीला पड़ना और भूख प्यास आदि बन्द हो जाना) होता है ॥ १९४ ॥

प्रमेह (मूत्रेन्द्रिय से शुक्ल आदि) (= पीत रक्त द्रव का) प्रवाह ॥ १९४ ॥

इडास्थः श्लेष्मणा व्याधिं प्रकोपयति सुव्रते ।

व्याधिमिति ज्वरादिपाण्डुरोगान्तम् ॥

अस्य व्याधेर्जातस्योदयकालं निरूपयति—

यस्मिंश्चारे निरूप्येत तत्कालदिवसे परे ॥ १९५ ॥
व्याधिभिः पीड्यते सर्वैर्वामवामेतरेतरे ।

वामे तदितरस्मिन् दक्षिणे च काणयोगः, इतरत्र च मुखे उत्पाटो यत्र वाहकाले दृश्यते, ततः परत्र दिवसे तत्काल एव प्रोक्तव्याधिभिः पीड्यत इत्यर्थः ॥ १९५ ॥

एवमुत्पाटकाणौ द्वौ निर्णीय, मृत्युयोगमव्याकृत्य प्रसङ्गान्नासापुटभागस्पर्शं शुभादिसूचकं निरूपयति—

अथान्यत् स्पर्शविज्ञानं नासाधस्तात्तथोपरि ॥ १९६ ॥

वक्ष्यामीति शेषः ॥ १९६ ॥

तत्र—

तो इस प्रकार प्राण जब—

इडा में स्थित होता है तब हे सुव्रते ! वह श्लेष्मा के द्वारा व्याधि को उत्पन्न करता है ॥ १९५- ॥

व्याधि—ज्वर से लेकर पाण्डु रोग तक ॥

इस उत्पन्न व्याधि का उदयकाल बतलाते हैं—

वाम और वाम से भिन्न (दक्षिण) इस प्रकार (इन दोनों से) भिन्न (मुख) जिसमें प्राणचार को निरूपित किया जाय तो (वह भी) उसके दूसरे दिन व्याधि से पीड़ित होता है ॥ -१९५-१९६- ॥

वाम नासापुट और उससे भिन्न दक्षिण नासापुट में काणयोग होता है । इसके अतिरिक्त प्राणवाह के काल में जिसके मुख में उत्पाट दिखलायी पड़ता है, जिस दिन दिखलायी पड़े उसके दूसरे ही दिन तत्काल वह उपर्युक्त व्याधियों से पीड़ित होता है ॥ १९५ ॥

इस प्रकार उत्पाट और काण दोनों योगों को बतला कर मृत्युयोग की व्याख्या न कर प्रसङ्गप्राप्त शुभादिसूचक नासापुटभागस्पर्श को बतलाते हैं—

अब नासिका के नीचे तथा ऊपर प्राणस्पर्श के विज्ञान को बतलाऊँगा ॥ -१९६ ॥

'कहूँगा'—यह जोड़ना चाहिए ॥ १९६ ॥

ऊर्ध्वेन स्पृशतश्चोर्ध्वं रुग्दोषाः प्राक्प्रचोदिताः ।

स्युरिति शेषः । ऊर्ध्वेन इति ऊर्ध्ववाहिना प्राणेन । ऊर्ध्वम् इति नासायाः । अत्र च दक्षिणेनोत्तरस्थं सम्बध्यते ॥

ऊर्ध्वेनोक्त्वा अध आह—

वाचाक्रोशाभिभवनं दक्षिणेन वहेद्यदा ॥ १९७ ॥

'दक्षिणेन स्पृशेत्' इति पाठे पूर्वेण सह एकवाक्यतया व्याख्येयम् ॥१९७॥

किं च—

मध्ये मध्यपुटस्पर्शी पराभिभवतां व्रजेत् ।

मध्ये इति सर्वपार्श्वस्पर्शवर्जम् मध्यपुटी मध्यवंशस्तत्स्पर्शी च ॥

किं च—

इतश्चेतश्च बहुधा संक्रान्त्येका वहेद्यदा ॥ १९८ ॥

उनमे—

(यदि ऊर्ध्ववाही प्राण नासा के) ऊपर स्पर्श करे तो पूर्वोक्त रुग्दोष नासिका के ऊपर होंगे ॥ १९७- ॥

ऊर्ध्व के द्वारा = ऊर्ध्ववाही प्राण के द्वारा । ऊपर—नाक के ऊपर । यहाँ नासा के दक्षिण भाग से उत्तरभाग का सम्बन्ध किया जाता है ॥

ऊर्ध्व स्पर्श को बतला कर अधः स्पर्श को कहते हैं—

यदि प्राण दक्षिण नासा पुट से प्रवाहित होता है तो उस व्यक्ति को वाणी से आक्रोश (= गाली) सुनना पड़ता है और अभिभव (= मानहानि) होता है ॥ -१९७ ॥

('दक्षिणेन वहेत्' की जगह) 'दक्षिणेन स्पृशेत्' पाठ मानने पर पूर्व श्लोकार्ध के साथ उत्तरार्द्ध को जोड़ कर व्याख्या करनी चाहिये ॥ १९७ ॥

इसके अतिरिक्त—

मध्य में मध्यपुट का स्पर्श होने पर दूसरे से अभिभव प्राप्त होता है ॥ १९८- ॥

मध्य में—समस्त पार्श्वस्पर्श को छोड़ते हुए । मध्यपुट = मध्य वंश (= नाक के मध्य की हड्डी), उसका स्पर्श करने वाला ॥

और भी—

यदि प्राणचार एक-एक करके इधर-उधर अनेक बार संक्रमण करे तब

पूजनं बहुसंमानं लाभस्तस्य भवेत्तदा ।

संक्रान्तिगतानि नव प्राणशतानि । इतश्चेतश्च इति वामदक्षिणवाहयोर्यदि पर्यायेण बहुशो वहेत् प्राणस्तदा पूजादिकं भवति । यत्तु कश्चिद् 'यदा' इत्यत्र 'तदा'ति पठित्वा पूर्वेण पराभिभवेन फलेन श्लोकार्धं योजितवान्, पूजनं बह्वित्यर्धं चोत्तरश्लोकेन, तदासारत्वादुपेक्ष्यम् ॥ १९८ ॥

किं च—

मन्दचारे सुषुम्नायां प्राणहंसो वहेद्यदा ॥ १९९ ॥
भूलाभो धर्म ऐश्वर्यं भवेच्चात्र प्रियागमः ।

सुषुम्नायाम् इति मध्यमार्गे स्वरसत एव यदा वहेदिति व्याकर्तव्यम्, न तु यथा बृहट्टीकाकारेण व्याकृतं नासापुटमध्य इति ॥

एवं प्रासङ्गिकमुक्त्वावशिष्टं मृत्युयोगं निर्णेतुमाह—

द्वादशैव तु संक्रान्तीर्वहेद्विषुवतैकतः ॥ २०० ॥
तदैकवत्सरेणैव मरणं तु समादिशेत् ।

उस व्यक्ति की पूजा, अत्यधिक सम्मान और लाभ होता है ॥-१९८-१९९-॥

(उक्त प्राणचार) एक-एक संक्रान्ति में ९०० बार होता है । इधर-उधर = यदि बायें-दायें वाह में क्रम से अनेक बार प्रवाहित हो तो उस व्यक्ति की पूजा आदि होती है । जो कि किसी ने (उक्त श्लोक मे) 'यदा' के स्थान पर 'तदा' पाठ कर श्लोक के पूर्वार्द्ध की पूर्वश्लोकोक्त पराभिभव रूप फल के साथ जोड़ा तथा 'पूजनम्' और 'बहु' इस आधे पद को उत्तर श्लोक से जोड़ा वह तथ्यरहित होने से उपेक्षणीय है ॥ १९८ ॥

और भी—

प्राण हंस जब सुषुम्ना में मन्द चार (= स्वाभाविक सञ्चरण) की स्थिति में प्रवाहित होता है (तब उस व्यक्ति को) भूमिलाभ, धर्म, ऐश्वर्य, और प्रिय का समागम होता है ॥ -१९९-२००- ॥

(प्राण) जब सुषुम्ना में = मध्यमार्ग में, स्वाभाविक रूप से प्रवाहित होता है— ऐसी व्याख्या करनी चाहिये न कि जैसी वृहट्टीकाकार ने व्याख्या की 'नासापुटमध्य मे' वैसी व्याख्या ॥

इस प्रकार प्रसङ्गतः प्राप्त (अन्यविध प्राणवाह आदि) का कथन कर अवशिष्ट मृत्युयोग को बतलाते हैं—

(यदि प्राण) किसी व्यक्ति के शरीर में एक विषुवत् से बारह संक्रान्तियों में प्रवाहित हो तब एक वर्ष के अन्दर (उस व्यक्ति की) मृत्यु

ह्रसेत् संक्रान्तिरेकैका मास एको ह्रसेत्तदा ॥ २०१ ॥

विषुवतेति 'उद्वतो निवतः' इति प्रयोगदर्शनादर्हार्थवत्यन्तस्यानव्ययत्वात्तृतीया । तेन वामदक्षिणयोर्युगपदवस्थित्या यदि द्वादश संक्रान्तिः समनन्तरवक्ष्यमाण-त्रिंशत्प्राणचारात्मकैकसंक्रान्तिकलनया षष्ट्यधिकत्रिशतिकवाहात्मिका नवशतिकं स्वाभाविकं वाहमपास्य, एकत इत्येकप्रघट्टकेन वहेत्, तदा मासेन मरणं सूचयति । एकैका तु संक्रान्तिर्यदि ह्रसेद् इत्येकादशदशादिसंक्रान्तीर्यदा वहेत् तदा तावद्भिर्मासैर्मरणम्, यावत् स्वाभाविकनवशतिकविषुवद्वाहोल्लङ्घने यद्येकां त्रिंशत्प्राणचारात्मिकां संक्रान्तिं वहेत् तदा मासेन मरणं निश्चेयम् । पूर्वं

'शतानि नव वै हंस एकामेकां वहेत् सदा ।' (७।१७०)

इति यत् संक्रान्तेर्मानमुक्तम्, तदेवोत्पाट-काण-योगसंक्रान्तीनां दक्षिणायनवर्जिते (७।१९१) इत्यभिधानादिति निर्णीतम् ॥ २०१ ॥

जाननी चाहिये । जब एक संक्रान्ति का ह्रास होता है तब (उस व्यक्ति के जीवन की अवधि का) १ मास कम हो जाता है (अर्थात् उतने महीने के बाद उसकी मृत्यु होती है) ॥ -२००-२०१ ॥

विषुवता—'उद्वतो निवतः (= ऊर्ध्व और अधः) इस प्रयोग के देखे जाने से यह समझना चाहिये कि यहाँ 'अर्ह' (= योग्य) अर्थ में 'वति' प्रत्यय हुआ है । चूँकि 'विषुवत्' पद अव्यय नहीं है इसलिये यहाँ तृतीया विभक्ति का प्रयोग हुआ है । इससे यदि यह प्राण अपने स्वाभाविक ९०० प्रवाह को छोड़ कर अभी आगे कही जाने वाली तीस प्राणचार की एक संक्रान्ति की गणना से ३६० वाह वाली बारह संक्रान्तियों में सञ्चरण करता है वह भी एकतः = एक समूह के रूप में, तो यह एक मास के अन्दर मरण की सूचना देता है । यदि एक-एक संक्रान्ति कम होती जाय और इस प्रकार (प्राण) यदि प्रवाहित होता हो (उस व्यक्ति का) उतने महीनों में मरण हो जाता है । इसी प्रकार स्वाभाविक ९०० विषुवत्वाह का उल्लंघन करने पर तीस प्राणचार वाली एक संक्रान्ति में प्रवाहित होता है तब उस व्यक्ति की एकमास में मृत्यु निश्चित करनी चाहिये (तात्पर्य यह है कि स्वस्थ आदमी का जहाँ चौबीस घण्टे में ९०० की गणना से २१६०० प्राणवाह होता है वहाँ चौबीस घण्टे में ही ९०० की जगह ३६० की गणना से प्राणचार होने लगे तो चौबीस घण्टे में ३६० × २४ = ८६४० ही प्राणचार होता है फलतः उसकी शीघ्र मृत्यु होती है) जो पहले—

'यह हंस (= प्राण) एक-एक करके ९०० संक्रान्तियों को प्रवाहित करता है' (अर्थात् एक घण्टे में ९०० बार श्वास—प्रश्वास की क्रिया होती है । इस प्रकार चौबीस घण्टे में २१६०० प्रवाह होते हैं) (७।१७०)

इस कथन से संक्रान्ति का परिमाण बतलाया गया । उत्पाट-काण-योग संक्रान्तियों का वही परिमाण 'दक्षिणायनवर्जिते' (७।१९१) इस कथन के द्वारा यह

मृत्युयोगे त्वन्यथेत्याह—

संक्रान्त्येका वरारोहे त्रिंशत्प्राणक्षयोदया ।

प्राणापानवाहस्य अहोरात्रत्वेन उक्तत्वात् तत्त्रिंशता इह संक्रान्तिर्मन्तव्या, इत्यर्थः ॥

इत्यमीदृश्येकैव संक्रान्तिर्यदि स्वाभाविकं विषुवद्वाहमपास्य, तत्स्थाने—

दिने दिने वहेद् बाह्ये यावत् त्रिंशद्दिनानि तु ॥ २०२ ॥

तदा—

मासान्ते तु भवेन्मृत्युः सद्य एव वरानने ।

तदित्थम्—

मृत्युयोगः समाख्यातो मया ते वरवर्णिनि ॥ २०३ ॥

अत्रापि पूर्ववत् परीक्षाकालात् प्रभृति प्रोक्ताशुभसूचककालगणना कार्येत्याह—

अब्दं मासं तथा पक्षं तिथिं वेलां यदाभ्यसेत्।
यत्कालात्तु समारभ्य तत्कालं तु समादिशेत् ॥ २०४ ॥

बतलाया गया ॥ २०१ ॥

मृत्युयोग में भिन्न प्रकार की (संक्रान्ति होती है)—यह कहते हैं—

हे वरारोहे ! प्राण के तीस क्षयोदय की एक संक्रान्ति होती है ॥२०२- ॥

प्राण और अपान के नाश का कथन एक दिन रात के रूप में करने से इसके तीस वाह की एक संक्रान्ति माननी चाहिये—यह अर्थ है ॥

इस प्रकार यदि स्वाभाविक विषुवत्वाह को छोड़ कर ऐसी प्राणसंक्रान्ति उस स्थान में—

बाह्य दिन में तीस दिनों तक प्रवाहित होती है ॥ -२०२ ॥

तो—

हे वरानने ! एक मास के अन्त में तत्काल मृत्यु हो जाती है ॥ २०३-॥

तो इस प्रकार—

हे वरवर्णिनि ! मैंने तुमको मृत्युयोग बतलाया ॥ -२०३ ॥

यहाँ भी पूर्व की भाँति परीक्षाकाल से प्रोक्त अशुभसूचक काल की गणना करनी चाहिये—यह कहते हैं—

जब मास पक्ष तिथि वेला का परीक्षण करे तो जिस समय से परीक्षा का आरम्भ करे उसी के अनुसार मृत्युकाल को बतलाये ॥ २०४ ॥

यत्कालादभ्यसेद्यदा परीक्षितुमुपक्रमेत, ततः कालादारभ्य वर्षमासादि मरणादिसूचकं क्रमेण स्वात्मनः परस्य वा कथयेदित्यर्थः ॥ २०४ ॥

तदीदृशमेवंविधशुभाशुभसूचकम्—

इडासुषुम्नामार्गेण प्राणचारं विदुर्बुधाः ।

सावधाना एव योगिनो जानीयुः, न त्वन्य इत्यर्थः । इडासुषुम्ने पिङ्गलां विषुवं चोपलक्षयतः ॥

उपसंहरति—

दक्षिणायनजे काले एवं ते कथितं शुभम् ॥ २०५ ॥

दक्षिणायनजः कालो वामपुटवाहः । एतदपि पूर्ववदुपलक्षणपरमेव ॥ २०५ ॥

यदर्थमियदुक्तम् तत्प्रस्तावयति—

एवं शरीरजे काले मृत्युं चाशुभमेव च ।
ज्ञात्वा योगी जयेन्मृत्युमशुभान्यप्यशेषतः ॥ २०६ ॥

स्वस्य परस्य वा ॥ २०६ ॥

जिसकाल से अभ्यास करे = जब से परीक्षा का प्रारम्भ करे, उस काल से लेकर अपने अथवा दूसरे के मरण आदि के सूचक काल को बतलाये ॥ २०४ ॥

तो इस प्रकार के शुभाशुभसूचक—

प्राणचार को विद्वान् लोग इडा सुषुम्ना मार्ग से जानते हैं ॥ २०५- ॥

सावधान योगी लोग ही (इसे) जानते हैं, अन्य साधारण लोग नहीं । (ये योगीजन) इडा, पिङ्गला, सुषुम्ना और विषुवत् को लक्षित करने वाले होते हैं ॥

प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार मैंने तुम्हें दक्षिणायन में उत्पन्न काल में शुभ को बतलाया ॥ -२०५ ॥

दक्षिणायनज काल = नासिका के बाँये नथुने से प्राणवाह । यह भी पूर्व की भाँति उपलक्षणपरक है (अर्थात् दक्षिणपुट को भी बतलाने वाला है) ॥ २०५ ॥

जिसके लिये इतना वर्णन किया गया उसकी प्रस्तावना करते हैं—

इस प्रकार योगी साधक शरीर में उत्पन्न काल में मृत्यु और अशुभ को जानकर अपनी या दूसरे की मृत्यु और समस्त अशुभों को जीत लेता है ॥ २०६ ॥

अपनी या अन्य की मृत्यु ॥ २०६ ॥

कथमित्याह—

ध्यात्वा कालेशस्वच्छन्दं हंसं वा सकलेश्वरम् ।

कालस्य स्थूलसूक्ष्मादिभेदवतो बाह्यान्तरादिरूपस्य सर्वस्येशं यथारुचि निर्भासकम्, हंसं व्याख्यातपरनिष्कलस्वरूपं श्रीस्वच्छन्दं सकलस्य जगत ईश्वरं ध्यात्वा अनुप्रवेशयुक्त्या स्फुटीकृत्य योगी मृत्युं जयेदिति पूर्वेण सङ्गतिः ॥

कुत्रस्थोऽसौ कीदृग् ध्येयः ?—इत्याह—

नासिकारन्ध्रमार्गस्थः स सृजेत् संहरेज्जगत् ॥ २०७ ॥
त(त्र)[1]स्थः कलयेत् सर्वं सर्वभूतेष्ववस्थितः ।

'यः सर्वभूतेषु स्थावरजङ्गमरूपेषु'—

'नादाख्यं यत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम्' (कालो० १।५)

इति तन्त्रान्तरोक्तस्थित्या अवस्थितः, नसते कौटिल्येन गच्छतीति नासिका मध्यशक्तिः, तद्रन्ध्रमार्गे सौषुम्ने धाम्नि स्थितो यथोक्तावरोहक्रमेण प्राणरूपतां

किस प्रकार ?—यह बतलाते हैं—

काल के स्वामी स्वच्छन्द भैरव जो कि सकल संसार के ईश्वरभूत हंस हैं का ध्यान कर (जान सकता है) ॥ २०७- ॥

('कालेश' शब्द की व्याख्या करते हैं—) काल स्थूल सूक्ष्म आदि भेद वाले बाह्य और आभ्यन्तर रूप समस्त काल, का ईश्वर = अपनी इच्छा के अनुसार निर्भासन करने वाला । हंस को = जिसके पर निष्कल स्वरूप की व्याख्या की जा चुकी है उस श्रीस्वच्छन्द भट्टारक को । सकल जगत् के ईश्वर का, ध्यान कर = अनुप्रवेश युक्ति के द्वारा स्पष्ट करके, योगी मृत्यु को जीत लेता है—ऐसा पहले से अन्वय कर लेना चाहिये ॥

यह (स्वच्छन्द) कहाँ स्थित है और किस प्रकार से ध्येय है ?—यह कहते हैं—

नासिकारन्ध्र के मार्ग में तथा समस्त प्राणियों में स्थित वह संसार की रचना और संहार करता है । वहीं पर स्थित होकर वह सबकी रचना करता है ॥ -२०७-२०८- ॥

जो स्थावर जङ्गमरूप समस्त प्राणियों में—

'जो नाद नामक पर बीज समस्त प्राणियों में स्थित है ।' (कालो० १।५)

इस अन्य तन्त्र में वर्णित रीति से स्थित है । ('णस्' कौटिल्ये (निष्पन्न) धातु से 'नासिका' शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—) नसते = जो टेढ़ी-मेढ़ी चलती है,

---

१. त्र ।

श्रित्वा नासायां रन्ध्रमार्गेषु च चक्षुरादिसुषिरभूमिषु स्थितः, स उन्मेषनिमेषयुक्त्या बाह्यान्तररूपं जगत् सृजेत् संहरेच्च । यतस्तत्रस्थः सन् सर्वं कलयेद् अन्तरवस्थितं बहिः क्षिपेत्, बहिराभासितं चान्तः क्षिपेत्, अथ च कलयेद् गणयेत् वैचित्र्येण स्थापयेत् जानीयात् परामृशेच्च, कलतेः क्षेपसंख्या-नगतिशब्दार्थत्वात् ॥

तेनेदृशं स्वच्छन्दनाथं कालेश्वरम्—

तत्स्थं ध्यात्वा जयेन्मृत्युं............

मध्यधाम्नः प्रभृति अशेषरन्ध्रव्याप्त्यावस्थितं परचैतन्यविमर्शसारमकाल-कलितम्, ध्यात्वा इति स्वात्मरूपत्वेन प्रत्यभिज्ञाय तदवष्टम्भेनावस्थितो मृत्युं जयत्येव ॥

यतः—

..........नाकालस्थं कलेत् प्रभुः ॥ २०८ ॥

अकाले कालातीतपरमेश्वरात्मनि यस्तिष्ठति तदभेदेन स्फुरति तं प्रभुः

वह, नासिका = मध्य शक्ति है । उसके रन्ध्रमार्ग में = सुषुम्ना धाम में, स्थित = यथोक्त अवरोह क्रमेण प्राणरूप बन कर नासिका एवं अन्य चक्षु आदि छिद्र युक्त स्थानों में जो स्थित है वह उन्मेष निमेष के द्वारा बाह्य और आभ्यन्तर रूप जगत् की सृष्टि और संहार करता है अर्थात् उसमें स्थित वह सब की कलना करता है = अन्दर स्थित को बाहर प्रकट करता है और बाहर आभासित को अन्दर समेट लेता है । अथवा कलना करता है = गणना करता है, विचित्र ढङ्ग से स्थापित करता है, जानता है, परामर्श करता है । (कलयेत् पद के ये सब अर्थ 'कल' शब्दसंख्यानयोः (भ्वादि०) 'कल' क्षेपे (चुरादि०) 'कल' गतौ संख्याने च' (चुरादि०) धातुओं से बनते हैं । क्योंकि 'कल' धातु क्षेप संख्यान गति और शब्द अर्थ वाली है ॥

इस कारण ऐसे कालेश्वर स्वच्छन्दनाथ का—

उसमें स्थित हुआ ऐसा ध्यान कर के (योगी) मृत्यु को जीत लेता है ॥ -२०८- ॥

मध्य धाम से लेकर समस्त रन्ध्रों में व्याप्त होकर स्थित, पर चैतन्य विमर्श रूप, अकाल कलित (स्वच्छन्द) का, ध्यान कर = अपने रूप में प्रत्यभिज्ञा कर, उसके आधार बनाकर स्थित (योगी) मृत्यु को जीत ही लेता है ।

क्योंकि—

परमेश्वर अकाल में स्थित की कलना (= बहिरवभासन) नहीं करता ॥ -२०८ ॥

परमेश्वरो न कलयेत्, स्वात्मनि क्रियावरोधात् ॥ २०८ ॥

यदि चात्रैव पदे योगीन्द्रः सततावहितो भवति, तदास्य—

ध्यानयुक्तस्य षण्मासात् सर्वज्ञत्वं प्रवर्तते ।
कालत्रयं विजानाति कालयुक्तस्तु योगवित् ॥ २०९ ॥

परस्वच्छन्दस्वरूपसमावेशरसेन धीसन्तानोत्तेजनात् षाण्मासिकात् सर्वं कालाग्न्यादिशिवान्तं जानाति, यदा तु तत्समावेशरसाच्छुरित एव काले प्राणचारे युक्तोऽवहितो भवति, तदातीतवर्तमानानागतं सर्वं जानाति योगिवरः ॥ २०९ ॥

किं च—

कालहंसं स तु जपन् ध्यायन् वापि महेश्वरि ।
स भवेत् कालरूपी वै स्वच्छन्दः कालवच्चरेत् ॥ २१० ॥
हतमृत्युर्जरां त्यक्त्वा रोगैः सर्वभयोज्झितः ।

पूर्वनिर्णीतो यः परनिष्कलभट्टारकात्मा हंसः, स एव निर्णीतहानसमादानधर्मतया विश्वं कलयन् कालहंस इतीह उक्तः । तं जपन् ध्यायन् वेति

अकाल में = काल से परे परमात्मा में, जो स्थित रहता है = उससे अभिन्न रूप में स्फुरण करता है, उसको प्रभु = परमेश्वर, कलित नहीं करता क्योंकि अपने ऊपर क्रिया नहीं होती ॥ २०८ ॥

यदि इसी बिन्दु पर योगी सतत ध्यान लगाता है तो—

ध्यानयुक्त यह छह महीने के अन्दर सर्वज्ञ हो जाता है । कालयुक्त योगी तीनों कालों को जानता है ॥ २०९ ॥

पर स्वच्छन्द के स्वरूप में समावेश के आनन्द के कारण छः महीने से बुद्धि-परम्परा के उत्तेजित होने से योगी कालाग्नि भुवन से लेकर शिवपर्यन्त तक का ज्ञान कर लेता है । और जब उसके समावेशरस से छुरित (= पूर्ण) होकर वह काल = प्राणचार, में युक्त = ध्यानावस्थ होता है तब वह योगीश्वर अतीत वर्त्तमान अनागत सब को जान लेता है ॥ २०९ ॥

और भी—

हे महेश्वरि ! वह कालहंस का जप ध्यान करता हुआ कालरूपी हो जाता है । स्वच्छन्दरूप होकर वह काल की भाँति सञ्चरण करता रहता है । मृत्यु से रहित वह वृद्धावस्था को छोड़ कर रोगों के द्वारा उत्पादित समस्त भय से व्यक्त हो जाता है ॥ २१०-२११- ॥

पहले बतलाया गया जो पर निष्कलभट्टारक रूप हंस, वही हानोपादान धर्म का निश्चय कर विश्व की रचना करता हुआ यहाँ कालहंस कहा गया है । उसका जप या

पञ्चप्रणवाधिकारयोजनिकाग्रन्थोक्तव्याप्तिचिन्तनया भूयोभूयस्तद्विश्रान्तिपरत्वेन चतुष्कलभट्टारकमन्त्रोच्चारावर्तनेन जपन्, कालरूपीत्यशेषविश्वकलनात्मकं कालरूपं प्रशस्तं विद्यते यस्य श्रीस्वच्छन्दभट्टारक एवासौ स्यात् । तद्वदेव च विचरेत सर्वदैव पञ्चविधकृत्यकारितया प्रसरेत् । रोगैर्हेतुभिः कृतं यद्भयम्, तेनोज्झितः ॥

किं चास्य—

विज्ञानं श्रवणं दूरान्मननं चावलोकनम् ॥ २११ ॥
सर्वैश्वर्यगुणावाप्तिर्भवेत् कालजयात् सदा ।

दूरादिति सर्वत्र योज्यम् । विज्ञानं बुद्धेः, मननं मनसो व्यापारः, अवलोकनं चक्षुषः । एतच्च सर्वान्तरर्बहिष्करणव्यापारोपलक्षणपरम् । तदेवं सर्वरन्ध्रव्यापकदेशकालातीतस्वच्छन्दभैरवात्मकहंसस्वरूपात्मताव्याप्तौ शरीरेन्द्रियादिभूम्युत्तरणात् पुनश्च परतत्त्वरसेन तदास्फुरणाज्जरामृत्युरोगमितविषयज्ञानानैश्वर्याद्यभावोऽर्थसिद्ध इवेत्युक्तम् ॥

इदानीं दक्षिणवाममध्यवाहेषु क्रमेण हंसध्याने तदुचितं मृत्युजयमादिशति—

दक्षनासापुटे ध्यात्वा ब्राह्मैश्वर्यमवाप्नुयात् ॥ २१२ ॥

ध्यान करता हुआ = पञ्चप्रणवाधिकार योजनिका ग्रन्थ में वर्णित व्याप्ति के चिन्तन के द्वारा बारम्बार उस हंस में विश्रान्ति लेता हुआ, चतुष्कल भट्टारक मन्त्र के उच्चारण की आवृत्ति के द्वारा जप करता हुआ वह (= योगी) कालरूपी = सम्पूर्ण विश्व की कलना वाला प्रशस्त कालरूप है जिसका ऐसा श्री स्वच्छन्द भट्टारक हो जाता है । वैसा ही वह विचरण करता है = पञ्चविध कृत्यकारी के रूप में प्रसृत होता है । रोगों के द्वारा उत्पन्न जो भय उससे परित्यक्त हो जाता है ॥

इसके अतिरिक्त—

कालजयी होने के कारण इसे सर्वदा दूर की वस्तु का विज्ञान, दूर की ध्वनि का श्रवण, दूरदृष्टि, मनन एवं समस्त ऐश्वर्य और समस्त गुणों की प्राप्ति हो जाती है ॥ -२११-२१२- ॥

'दूरात्' का सर्वत्र संयोजन करना चाहिये । विज्ञान बुद्धि का, मनन मन का और अवलोकन चक्षु का व्यापार है । यह (कथन) आन्तर एवं बाह्य समस्त व्यापार का उपलक्षण है । इस प्रकार समस्त छिद्रों में व्यापक देशकालातीत स्वच्छन्द भैरवात्मक हंसस्वरूपात्मता की व्याप्ति होने पर शरीर आदि भूमियों से ऊपर उठ जाने से और पुनः परतत्त्व के रस से उस समय स्फुरित होने के कारण जरा, मृत्यु, रोग, परिमित ज्ञान, अनैश्वर्य आदि का उसमें अभाव अर्थात् सिद्ध हो जाता है यह कहा गया ॥

अब प्राण के दक्षिण वाम और मध्य सञ्चारों में क्रम से हंस का ध्यान करने पर उसके अनुरूप मृत्यु की विजय को बतलाते हैं—

तदायुस्तत्समं वीर्यं भूतकालं च वेत्यतः ।
भविष्यज्ज्ञो भवेद्वामे विष्णुतुल्यबलश्च सः ॥ २१३ ॥
तत्समं चैतदैश्वर्यं तदायुर्योगिराड् भवेत् ।
भूतं भव्यं भविष्यच्च सर्वं जानाति मध्यतः ॥ २१४ ॥
नित्यं वै ध्यानयोगेन रुद्रस्य समतां व्रजेत् ।
आयुषा बलवीर्येण रूपैश्वर्येण तत्समः ॥ २१५ ॥
ब्रह्मणः परभावेन ऐश्वरं पदमाप्नुयात् ।
विष्णोः सदाशिवैश्वर्यं परभावादवाप्नुयात् ॥ २१६ ॥
रुद्रस्य यः परो भावो ध्यात्वा तं तु शिवो भवेत् ।

इह—

'ब्रह्मेश्वरौ च दक्षस्थौ वामे विष्णुसदाशिवौ ।
मध्ये रुद्रशिवौ प्रोक्तौ........................ ॥' (७।१५१)

इति नाडित्रय एव षट्कारणावस्थितिः परापरभेदेन पूर्वमुक्ता । तेन दक्षवामनाडिषु यदि हंसं ब्रह्मविष्णुरुद्ररूपमपरया व्याप्त्या ध्यायन् विमृशति, तदा तद्बलवीर्यैश्वर्ययोगी भवति । अतीतभाविवर्तमानरूपत्रैकालिकं विश्वं जानाति । अत्र च ब्रह्मादीननया व्याप्त्या ईश्वरसदाशिवशिवरूपान् ध्यात्वा तद्रूपतां लभते ॥

दाहिने नासापुट में ध्यान कर (योगी) ब्रह्मा के ऐश्वर्य को प्राप्त करता है । (वह योगी) उस (= ब्रह्मा) की आयु उसकी शक्ति को प्राप्त कर भूत और भविष्य का ज्ञाता हो जाता है । वाम (नासापुट) से प्रवाह होने पर वह विष्णु के समान बलशाली हो जाता है । इस योगिराट् का ऐश्वर्य और आयु उस (= विष्णु) के ऐश्वर्य आदि के तुल्य होती है । वह त्रैकालदर्शी हो जाता है । मध्य में (हंस का) ध्यान करने से (योगी) रुद्र के समान हो जाता है। आयु, बल, वीर्य, रूप और ऐश्वर्य में (योगी) उस रुद्र के तुल्य होता है । परभाव से ब्रह्मा का ध्यान करने पर ऐश्वर पद को, विष्णु का परभाव से ध्यान करने पर सदाशिव पद को और रुद्र का पर भाव से ध्यान करने पर (योगी) शिव हो जाता है ॥ -२१२-२१७- ॥

यहाँ—

'दाँयीं और ब्रह्मा और ईश्वर, बाँयें में विष्णु और सदाशिव, मध्य में रुद्र और शिव कहे गये हैं........' (७।१५१)

इस प्रकार तीन ही नाडियों में पर और अपर भेद से छह कारणों की स्थिति पहले कही जा चुकी है । इससे दाँयीं-बाँयीं नाड़ियों में यदि योगी हंस का ध्यान ब्रह्मा विष्णु रुद्र रूप में अपर व्याप्ति से करता हुआ विमर्श करता है तब वह उनके बल वीर्य ऐश्वर्य से सम्पन्न होता है तथा भूत भविष्य वर्त्तमान में स्थित विश्व

उपसंहरति—

एवं मृत्युजयः ख्यातः...........

अथ—

...........अमृतं ध्यायतो जयः ॥ २१७ ॥

मृत्योरेवेति शेषः ॥ २१७ ॥

कथमित्याह—

नाडिभिन्नालरन्ध्रस्थं हृत्पद्मं षोडशच्छदम् ।
ध्यात्वा सितं सुविकचं कलाषोडशकान्वितम् ॥ २१८ ॥
सम्पूर्णावयवं चन्द्रं कर्णिकाकारविग्रहम् ।
तन्मध्ये चिन्तयमात्मानं शुद्धस्फटिकनिर्मलम् ॥ २१९ ॥
क्षीरामृतार्णवावस्थकल्लोलामृतपूरितम् ।
उपरिष्टाद् द्वितीयाब्जं शाक्तामृतमहोदधौ ॥ २२० ॥
तच्चाधो मुखपद्मं तु परिपूर्णेन्दुकर्णिकम् ।
तन्मध्ये चिन्तयेद्धंसमधो बिन्दुशिखान्वितम् ॥ २२१ ॥

की दशा को जान लेता है । और यहीं पर यदि ब्रह्मा आदि का ईश्वर सदाशिव शिवरूप में इस (= पर) व्याप्ति से ध्यान करता है तो योगी तद्रूपता को प्राप्त करता है ॥

(वक्तव्य का) उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार मृत्यु का जय कहा गया ॥ -२१७- ॥

अब—

अमृत का ध्यान करने वाला भी मृत्यु को जीत लेता है ॥ -२१७ ॥

मृत्यु को ही—यह योजन करना चाहिए ॥ २१७ ॥

कैसे ?—यह बतलाते हैं—

योगी हंस का चिन्तन यदि नाडियों की भाँति भिन्न-भिन्न स्फुरण करने वाले नाल के रन्ध्र में स्थित, षोडश दल हृदयकमल जो कि श्वेत वर्ण वाला सुविकसित है तथा सोलह कलाओं से युक्त सम्पूर्ण अवयव वाला, (कमल की) कर्णिका के आकार वाला चन्द्र है, उसके मध्य में शुद्धस्फटिक के समान निर्मल अपने जीव का चिन्तन करना चाहिये । यह जीव क्षीरोद से निकले अमृत के समुद्र में स्थित लहरों के अमृत से परिपूर्ण है । ऊपर से एक दूसरा कमल जो कि शाक्त अमृत के महासमुद्र में स्थित है, अपने ऊपर अधोमुख स्थित है, उसके मध्य में हंस का

वर्षन्तममृतं दिव्यं समन्तात् संविचिन्तयेत् ।
आत्मोर्ध्वरन्ध्रमार्गेण प्रविष्टं तच्च चिन्तयेत् ॥ २२२ ॥
सितं सुबहुलं सान्द्रममृतं मृत्युनाशनम् ।
तेनाप्लावितमात्मानं पूर्यमाणं विचिन्तयेत् ॥ २२३ ॥
पद्मनालनिबद्धैश्च नाडीरन्ध्रमुखैः सदा ।
अमृतापूरितं देहं सर्वमेव विचिन्तयेत् ॥ २२४ ॥
एवं वै नित्ययुक्तात्मा अमृतेशसमो भवेत् ।
व्याधीन् मृत्युं जरां त्यक्त्वा क्रीडते त्वणिमादिभिः ॥ २२५ ॥
एवं तस्यामृतध्यानात् कालमृत्युजयो भवेत् ।

हृद्द्वाशान्तोर्ध्वाधः स्थितं श्रीपूर्वाद्युक्तामृतादिदेवतावाच्यकारादिवर्णषोडशककलिततावत्पत्रविकसितसितकमलमध्यस्थम्, अधःकमलकर्णिकापूर्णेन्दुबिम्बनिष्ठम्, उर्ध्वाब्जकर्णिकापूर्णेन्दुमध्यस्थाधोमुखसितचतुष्कलबिन्दुप्रकाशप्रसरत्सुधासारपूरितब्रह्मरन्ध्रविसृतकल्लोलप्लावितम्, अमृतराशिमध्यगम्, आत्मानं स्फटिकप्रभं विचिन्त्य, तदमृतं तदधःस्थसिताब्जनालरन्ध्रनानानाडीमुखैरुच्छलत्समस्तदेहव्यापकं यः षण्मासान्

ध्यान करना चाहिये कि वह नीचे की ओर बिन्दु रूपी शिखा से युक्त, चारो ओर दिव्य अमृत की वर्षा कर रहा है । उसका अपने ऊर्ध्वरन्ध्र से प्रविष्ट हुआ ध्यान करे । वह अमृत श्वेतरंग का, अत्यधिक सघन-मृत्युनाशक है । उससे अपने को ओत तथा प्रोत और निरन्तर आपूर्यमाण ध्यान करना चाहिये । समस्त देह को पद्मनाल से निबद्ध नाडी छिद्रों के मुखों के द्वारा निरन्तर अमृत से आपूरित होता हुआ ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार के (हंस चिन्तन से) नित्य युक्त आत्मा अमृतेश के तुल्य हो जाता है । वह व्याधि मृत्यु और जरा को छोड़ कर अणिमा आदि अष्टसिद्धियों के साथ क्रीड़ा करता रहता है । इस प्रकार अमृतध्यान के कारण उस (योगी) को काल मृत्यु पर विजय हो जाती है ॥ २१८-२२६- ॥

(यहाँ चिन्तयितव्य आत्मा का स्वरूप बतलाते हैं)—वह आत्मा हृदय से ऊपर और ऊर्ध्व द्वादशान्त से नीचे स्थित है । मालिनीविजय तन्त्र आदि में वर्णित अमृत आदि देवता के वाची अकार आदि सोलह स्वरों से बनाये गये उतने (= सोलह) पत्रों वाले विकसित कमल के मध्य में स्थित है । नीचे स्थित कमल की कर्णिकारूपी पूर्णचन्द्र बिम्ब में स्थित है । ऊर्ध्वकमल की कर्णिकारूपी पूर्णचन्द्र के मध्यस्थ अधोमुख श्वेतवर्ण के चतुष्कल बिन्दु के प्रकाश से निकलने वाली अमृतधारा से पूरित ब्रह्मरन्ध्र से फैलने वाली लहर से वह निरन्तर आप्लावित है । अमृत राशि के मध्य में स्थित वह आत्मा स्फटिक के समान देदीप्यमान है । वह अमृत उसके (= आत्मा के) नीचे स्थित श्वेतकमल के नाल में वर्तमान अनेक नाडीमुखों से उच्छलन करता हुआ समस्त शरीर में व्याप्त हो रहा है । जो योगी उक्त प्रकार से

सततं चिन्तयति, स गतव्याधिरजरामरणोऽणिमादिसिद्धिभागमृतेशभैरवतुल्यो भवतीति पिण्डार्थः । नाडिरूपतया भिद्यन्ते नानारूपत्वेन स्फुरन्ति यानि नालरन्ध्राणि, अर्थादधोऽब्जगतानि तत्स्थमिति, तैर्ग्रन्थिस्थानगतैः सम्बद्धम्, नालमत्र मध्यनाडीरूपम्, क्षीरं क्षीरोदाद्युद्भूतममृतम्, तद्रूपोऽर्णव इति सङ्गतिः । अमृतं चात्र परशक्त्यानन्दसारम् ॥

एवं सर्वनाडीमार्गत्रयाश्रयहंसध्यानादमृतध्यानाच्च मृत्युजयमभिधाय, तात्त्विकमनुत्तरसाररूपमादेष्टुमुपक्रमते—

अथवा परतत्त्वस्थः सर्वकालैर्न बाध्यते ॥ २२६ ॥

अथवेत्यनेनेदं ध्वनति—कतिपयकालशरीरस्थैर्यादिमृत्युजयप्रकारेभ्योऽयमन्य एवातिविर (ल[1]) महायोगीन्द्रहृदयङ्गमस्तत्प्रकारो यत्र देहावस्थित एव श्रीस्वच्छन्दभैरवतां सर्वदैव समाविशति कोऽपि (अ)पश्चिमजन्मा जन इति ॥ २२६ ॥

तत्र यादृक्परं तत्त्वम्, यथा च तन्मयीभावस्तदादेष्टुमाह—

छह महीने तक चिन्तन करता है वह व्याधिरहित अजर अमर हुआ अणिमा आदि सिद्धियों वाले अमृतेश भैरव के सदृश हो जाता है—यह पिण्ड (= सार) अर्थ है । ('नाडिभिद् नालरन्ध्रस्थं' की व्याख्या करते हैं—) नाडी के रूप में भिन्न होते हैं = अनेक रूपों में स्फुरित होते हैं ऐसे जो नालरन्ध्र (= नाल के छिद्र) अर्थात् वे रन्ध्र जो नीचे स्थित कमल में वर्त्तमान है, उनमें स्थित ग्रन्थिस्थान में वर्त्तमान उनसे सम्बद्ध । यहाँ नाल से सुषुम्ना नाड़ी को समझना चाहिये । ('क्षीरामृतार्णव' की व्याख्या करते हैं—) क्षीर = क्षीरोद से उत्पन्न जो अमृत वही है समुद्र । अमृत का अर्थ है—पर शक्ति के आनन्द का सार ॥

इस प्रकार समस्त नाडी एवं तीन मार्ग के आश्रयभूत हंस के ध्यान और अमृत के ध्यान से मृत्यु पर विजय का वर्णन कर तात्त्विक अनुत्तरसाररूप को बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं—

अथवा परतत्त्व में स्थित वह (योगी) सभी कालों से बाधित नहीं होता ॥ -२२६ ॥

(श्लोकोक्त) 'अथवा' के कथन से यह ध्वनित होता है—कुछ समय तक शरीर की स्थिरता आदि मृत्युजय के प्रकारों से भिन्न यह प्रकार है जो अत्यन्त विरल महायोगीन्द्रों के लिये हृदयङ्गम्य है । कोई अन्तिम जन्म वाला मनुष्य की इस स्थिति में रह कर देहावस्थान काल में ही सदा स्वच्छन्दभैरवता के समावेश से युक्त होता है ॥ २२६ ॥

जैसा परतत्त्व है और जैसा तन्मयीभाव है उसको बतलाने के लिये कहते हैं—

---

१. स ।

चिन्तयेत् परमं तत्त्वं कालचारविवर्जितम् ।
कलाकलङ्कनिर्मुक्तं निष्कलं परमं पदम् ॥ २२७ ॥

चिन्तयेत् स्वाभेदेन विमृशेत्, परं तत्त्वं हृद्द्वादशान्तस्फुरितं चिदानन्दघनात्मकम्, कालचारेण बाह्येनान्तरेण च वर्जितम्, कलाकलङ्केन कल्पनामलेन शून्यम्, अत एव चतुष्कलवदकारादिकलायोगाभावाद् निष्कलम् परमं पदमनुत्तरं धाम ॥ २२७ ॥

न केवलं परमं धामेदृग् यावत्—

निष्कलं चात्मतत्त्वं तु.............

आत्मतत्त्वं समनोपरि शुद्धात्म, निष्कलं त्यक्तसमनान्तभेदकलनम् ॥

यतः—

...............कलङ्को देह उच्यते ।
संयुक्तः कारणैः षड्भिः सर्वतत्त्वसमन्वितः॥ २२८ ॥
वर्णो बिन्दुस्तथा नादो व्यापिनीशक्तिसंयुतः ।
समनावधिपर्यन्तः कलङ्काधार उच्यते ॥ २२९ ॥

एतदुक्तं भवति—यथायं स्थूलस्तत्त्वादिरूपो देहः कलङ्कः, तथा कारणा-

---

(योगी को चाहिये कि वह) कालचार से रहित, कला रूपी कलङ्क से निर्मुक्त निष्कल परमपदस्वरूप परम तत्त्व का ध्यान करे ॥ २२७ ॥

चिन्तन करे = अपने से अभिन्न रूप में उसका विमर्श करे । पर तत्त्व = हृदय से लेकर द्वादशान्त तक स्फुरण करने वाला चिदानन्दघन रूप । वह बाह्य और आन्तर कालचार से रहित है । कलाकलङ्क = कल्पनामल, से शून्य इसलिये चतुष्कल के समान अकार आदि कलायोग के अभाव के कारण निष्कल परम पद अर्थात् अनुत्तर धाम (का चिन्तन करना चाहिये) ॥ २२७ ॥

केवल परम धाम ही ऐसा नहीं है बल्कि—

आत्मतत्त्व भी निष्कल है ॥ २२८- ॥

आत्मतत्त्व—समना के ऊपर शुद्ध आत्मा । निष्कल = समनापर्यन्त भेद की कल्पना से रहित ॥

क्योंकि—

देह ही कलङ्क कहा जाता है । छह कारणों से संयुक्त, समस्त तत्त्वों से अन्वित, वर्ण, बिन्दु, नाद, व्यापिनी, शक्ति से युक्त होते हुए समना तक जो आधार है वही कलङ्क है ॥ -२२८-२२९ ॥

परभैरवरूपो हि परव्याप्त्यायमात्मनि । यथा स्थूलदृष्ट्या देह प्राणादिरस्य कलङ्कस्तथा परदृष्ट्या समनान्ता प्रमेयमाला कलङ्क एव । वर्णः अकार उकारो मकारश्च । कलङ्करूपश्चासावाधार इति समासः । कलङ्कत्वं चास्य सर्वस्य परशिवाभेदाप्रथनात् ॥ २२९ ॥

यस्य चायमाधारः, सः—

आधेयः परमो ह्यात्मा............

यः पूर्वं शुद्धविज्ञानकेवलो भेदवादिनां मोक्षभूरित्युक्तः ।

अथ—

............तत्पराप्युन्मना स्मृता ।
अस्याश्चान्ते परं तत्त्वं सकलाकलवर्जितम् ॥ २३० ॥
व्यापकं सर्वतोभद्रं सर्वान्तः सर्वतोमुखम् ।
पञ्चपञ्चकतत्त्वस्थमष्टादशगुणान्वितम् ॥ २३१ ॥

सकलः समनान्तः स्फारः, अकलः शुद्धात्मा, ताभ्यां वर्जितं तयोः परस्परा-

---

इसे इस प्रकार समझना चाहिये—जिस प्रकार यह (पञ्च) तत्त्व आदि रूपों वाला स्थूल देह कलङ्क है उसी प्रकार कारणों (= अन्तः करणों) का आश्रय प्राणरूप सूक्ष्म (शरीर भी कलङ्क) है । उसी प्रकार समनापर्यन्त प्रमाता प्रमेय रूप पर देह भी कलङ्क ही है । जो परभैरव स्वरूप यह आत्मा है वह भी परव्याप्ति के द्वारा कलङ्क है । जैसे स्थूल दृष्टि से देह प्राण आदि इस (= आत्मा) के कलङ्क हैं उसी प्रकार पर दृष्टि से समना पर्यन्त प्रमेयमाला भी इसका कलङ्क है । वर्ण = अकार उकार मकार । ('कलङ्काधार' का अर्थ है—) कलङ्क रूप जो आधार । (पृथ्वी से लेकर समनापर्यन्त तत्त्व) इसलिये कलङ्क है क्यों कि इनका परमशिव से अभेद का ज्ञान नहीं हुआ है ॥ २२९ ॥

(पृथिव्यादि समनान्त) यह जिसका आधार है वह—

परम आत्मा (इनका) आधेय है ॥ २३०- ॥

जो पहले शुद्धविज्ञानकेवली के रूप में भेदवादियों की मोक्षभूमि कही गयी है (यह आत्मा नहीं है)।

इसके बाद—

उस (समना) से परे 'उन्मना' कही गयी है । इस (= उन्मना) के अन्त में पर तत्त्व है जो सकल अकल से वर्जित, व्यापक, सर्वतोभद्र, सबका अन्तः (जीवन), सर्वतोमुख, पाँच पञ्चकतत्त्व में स्थित और अट्ठारह गुणों से युक्त है ॥ -२३०-२३१ ॥

वच्छेदेन संकुचितत्वात् तत्तु व्यापकं दिक्कालासंकुचितम्, सर्वतश्च भद्रं चिदानन्दघनम्, सर्वस्य चान्तः जीवितभूतत्वेन स्थितम्, पूर्वापरमध्यकोटिमध्यगतं च । सर्वतः सर्वेण मुखमिव मुखं स्वात्मप्रत्यभिज्ञोपायरूपम् । पञ्चपञ्चकानि तत्त्वानि तथाष्टादश गुणांश्च स्वयमेव व्याख्यास्यति । पञ्चपञ्चकेषु च तत्त्वेषु च स्थितं तदभिन्नमूर्त्तिं गुणेषु चान्वितम् अनुगततया स्थितम् ॥ २३१ ॥

तदित्थंभूतमेतत्—

यद्यस्मिंस्तु परं वेत्ति तदा मुच्येत बन्धनात् ।

'कलङ्को देह उच्यते' (७।२२८) इत्युपक्रान्तत्वादस्मिन् देहप्राणादावेवावस्थितो यद्युक्तरूपं परं तत्त्वं वेत्ति, तदा बन्धनान्मुच्यत एव, जीवन्नेव स्वानुभवेन परभैरवतामाविशतीत्यर्थः ॥

अथ पञ्चपञ्चकं दर्शयति—

कारणानि च मन्त्राश्च निवृत्त्याद्याः कलास्तथा ॥ २३२ ॥
बिन्दुश्चैवार्धचन्द्रश्च निरोधी नाद ऊर्ध्वगः ।
शक्तिश्च व्यापिनी चैव समनात्मा तथोन्मना ॥ २३३ ॥

(यह परतत्त्व) सकल = समनापर्यन्त विस्तार, अकल = शुद्धात्मा, उन दोनों से रहित है क्योंकि वे दोनों (= सकल और अकल) परस्पर अवच्छेदक होने से संकुचित हैं और वह परतत्त्व व्यापक और दिक्काल से असंकुचित, सब प्रकार से भद्र = चिदानन्दघन, सबका अन्तः = जीवन के रूप में स्थित और पूर्वापरमध्यकोटि के मध्य में स्थित है । सर्वतः = सब के द्वारा मुख के समान मुख = स्वात्मप्रत्यभिज्ञा के उपाय, के रूप में स्वीकृत है । पाँच पञ्चक तत्त्वों और अट्ठारह गुणों की व्याख्या (ग्रन्थकार शिव) स्वयं करेंगे । पाँच पञ्चकों और तत्त्वों में स्थित उनसे अभिन्न स्वरूप और गुणों में अन्वित = अनुगत रूप से स्थित है ॥ २३१ ॥

तो इस प्रकार के इस—

पर तत्त्व को जो जब इसमें जानता है वह उसी समय बन्धन से मुक्त हो जाता है ॥ २३२- ॥

'देह ही कलङ्क कहा जाता है' (७।२२८) ऐसा उपक्रम करने से इस देह प्राण आदि में ही स्थित रहता हुआ साधक जब उक्त रूप वाले परतत्त्व को जान लेता है तब बन्धन से मुक्त हो ही जाता है अर्थात् जीवित रहते हुए परभैरव समावेश प्राप्त कर लेता है ॥

अब पाँच पञ्चकों को दिखलाते हैं—

हे वरानने ! कारण, मन्त्र, निवृत्ति आदि कलायें, बिन्दु अर्धचन्द्र रोधिनी नाद उसके ऊपर (= नादान्त) शक्ति व्यापिनी समना और उन्मना

पञ्चपञ्चकमेतद्धि कथितं ते वरानने ।

कारणानि ब्रह्मादीनि षट् । मन्त्रा इति अकारोकारमकारा ब्रह्मविष्णुरुद्रवाचकास्त्रयः, बिन्दुनादशक्तीनामीशसदाशिवशिववाचिकानां सर्वमन्त्रसाधारणबिन्द्वाद्युन्मनान्तप्रमेयदशकमध्ये कथनात् । अतो मन्त्रशब्देन साधारणप्रमेयदशकावशिष्टा असाधारणास्त्रय एव उक्ताः । तथा वक्त्राङ्गमन्त्रैकादशिकावर्गश्चतुर्थ इत्येते दश, ब्रह्मादिकारणाधिष्ठिताश्च निवृत्त्याद्याः कलाः पञ्च प्राग् व्याकृताः, तत्त्वं च बिन्द्वादिप्रमेयदशकमित्येतत्पञ्चपञ्चकम् ॥

तत्त्वान्याह—

तत्त्वान्येव तु षट्त्रिंशत्................

पृथिव्यादीनि षट्त्रिंशत् पूर्वमेवोक्तानि । अत्र सर्वत्र परतत्त्वमभेदेन स्थितमिति पूर्वेण सम्बन्धः ॥

ये पाँच पञ्चक कहे गये हैं ॥ -२३२-२३४ ॥

कारण = ब्रह्मा आदि (= विष्णु रुद्र ईश्वर सदाशिव और शिव) छह । मन्त्र = ब्रह्मा विष्णु रुद्र के वाचक अ उ म् तीन । बिन्दु नाद और शक्ति ये तीन ईश्वर सदाशिव और शिव की वाचिकायें हैं । इन तीनों का सर्वमन्त्रसाधारण विन्दु से लेकर उन्मना पर्यन्त दश प्रमेयों[1] के मध्य में कथन है इसलिये मन्त्र शब्द से साधारण दश प्रमेय से अवशिष्ट असाधारण तीन (अ उ म्) ही कहे गये हैं । इसके अतिरिक्त वक्त्राङ्गमन्त्र[2] एकादशिका (= पाँचवक्त्र और छह अङ्ग) चतुर्थ इस प्रकार ये दश हो गये । जिनकी पहले व्याख्या हो चुकी है ऐसी ब्रह्मा आदि पञ्च कारणों से अधिष्ठित निवृत्ति आदि पाँच कलायें और तत्त्व अर्थात् विन्दु आदि दश प्रमेय ये पाँच पञ्चक हैं । (उसे इस प्रकार स्पष्ट समझना चाहिये—छह कारण + तीन मन्त्र + पाँच निवृत्ति आदि कलायें + नौ विन्दु से लेकर उन्मना पर्यन्त + दो शक्ति और शिव ये ५ × ५ = २५ हैं) ॥

तत्त्वों को बतलाते हैं—

तत्त्व छत्तीस हैं ॥ -२३४- ॥

पृथिवी आदि छत्तीस तत्त्व पहले कह दिये गये हैं । इनमें सर्वत्र पर तत्त्व

१. 'विन्द्वाद्युन्मनान्तप्रमेयदशक' शब्द से दशप्रमेयों की चर्चा समझनी चाहिये । वे दशप्रमेय हैं—बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी, समना, उन्मना और महाबिन्दु । यह अर्थ 'उन्मनान्त' पद से षष्ठीतत्पुरुष समास (= उन्मनाया अन्तः = उन्मवर्त्ती = महाविन्दु) मानने से होगा । योगिनी हृदय आदि ग्रन्थों में इस दशम प्रमेय—महाबिन्दु की चर्चा आती है ।

२. वक्त्र—परमेश्वर के पाँच मुख, जिनके नाम हैं—ईशान, तत्पुरुष, वामदेव, अघोर एवं सद्योजात । अङ्ग भी छ हैं—हृदय, शिर, शिखा, कवच, नेत्रत्रय और अस्त्र ।

अथ—

.............गुणांश्चैव निबोध मे ॥ २३४ ॥

गुणाः परभैरवस्य गृहीतमायाप्रमातृभूमिकस्य परापरदशौचित्येनावस्थिता धर्माः शक्तयः ॥ २३४ ॥

तानाह—

अहङ्कारो धीर्मनश्च इन्द्रियार्थास्तथैव च ।
ग्रहणं स्पर्श आधारः शक्तिश्चैवाष्टमी स्मृता ॥ २३५ ॥
एते चाष्टौ गुणाः.............

अन्तःकरणत्रयमिन्द्रियार्थसहितोऽर्थवर्गश्चतुर्थः, ग्रहणं च तद्विषयज्ञानम्, स्पर्श आन्तरसुखाद्युपलम्भः, आधारः शरीरम्, शक्तिर्ज्ञानक्रियात्मा प्रयत्नश्चेत्यष्टावपररूपस्यात्मनो धर्माः शक्तयः । यतो यत्किंचित् प्रकाशते विषयशरीरादि, तत्प्रकाशरूपाच्चेतनादभिन्नम्, अन्यथास्य प्रकाशनायोगादित्यस्य धर्मरूपमेव सर्वम् ॥

अस्यैव पराव्याप्तिमाविष्टस्य—

.........अष्टौ भैरवा भैरवाष्टकम् ।

अभेदेन स्थित है—ऐसा पहले के श्लोकों से सम्बन्ध है ।

अब—

गुणों को मुझसे जानो ॥ -२३४ ॥

गुणों का अर्थ है मायाप्रमाता की भूमिका में उतरे हुए परभैरव की परापर दशा के अनुरूप स्थित धर्म अर्थात् शक्तियाँ ॥ २३४ ॥

उन (= गुणों) को बतलाते हैं—

अहङ्कार, बुद्धि, मन, इन्द्रियाँ उनके विषय, ग्रहण, स्पर्श आधार और शक्ति ये आठ गुण हैं ॥ २३५-२३६- ॥

तीन अन्तःकरण और अपने विषयों के साथ इन्द्रियाँ—ये चार गुण हुए । ग्रहण = इनका ज्ञान । स्पर्श = आन्तर सुख आदि की प्राप्ति । आधार = शरीर । शक्ति = ज्ञान-क्रिया रूप प्रयत्न, ये आठ अपर रूप आत्मा के धर्म अर्थात् शक्ति हैं । चूँकि विषय शरीर आदि जो कुछ प्रकाशित (= ज्ञान) होता है वह प्रकाश रूप चेतन से अभिन्न है अन्यथा वह प्रकाशित ही नहीं होता । इसलिये यह विषय आदि सब कुछ उसका धर्म है ॥

परा व्याप्ति में आविष्ट इसी के—

भैरवाष्टक (गुण) आठ भैरव हैं ॥ -२३६- ॥

ये पूर्वं कपालीशादयोऽष्टौ भैरवा उक्तास्तदात्मानः परव्याप्त्या भैरवस्य सतोऽष्टकं गुणानामित्यर्थः ॥

किं चास्य—

प्राणहंसस्तथा शक्तिः..........

अपरपरावस्थायाः क्रमेण धर्माः । यथा हि परमेश्वरः स्वस्वातन्त्र्यात् गृहीतात्मभूमिकस्तथा तदीयस्वातन्त्र्यात्मापि शक्तिः संकुचिततया भान्ती प्राण इत्युक्तप्रायम् ॥

तदित्थम्—

.........गुणा अष्टादश त्विमे ॥ २३६ ॥

अतश्च—

एतेषु तत्परं तत्त्वमुच्चारालम्बनादृते ।

उच्चारः करणबन्धादिपूर्वं मन्त्रोदीरणम्, आलम्बनं ध्यानाद्याश्रयणम्, तद्विना एतेषु सर्वेषु भेदेष्वभेदेन स्थितमिति शेषः । उपायाभिमतानामपि स्वप्रकाश-

---

पहले जो कपालीश आदि आठ भैरव कहे गये वे परभैरव के आठ गुण ही भैरवाष्टक हैं ॥

और इसकी—

शक्ति प्राण हंस है ॥ -२३६- ॥

(यह शक्ति उसकी) अपरपरा अवस्था के क्रमिक धर्म हैं । जिस प्रकार परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य से आत्मा का रूप धारण करता है उसी प्रकार उसकी स्वातन्त्र्यरूपा शक्ति भी संकुचित रूप में भासित होती हुई प्राण कहलाती है—यह पहले कहा जा चुका है ॥

तो इस प्रकार—

ये अट्ठारह गुण हैं । (अहङ्कार आदि ८ + भैरव ८ + प्राण और शक्ति २ = १८ ये गुण हैं) ॥ -२३६ ॥

इसलिये—

इन (सभी भेदों) में वह पर तत्त्व विना उच्चारण और बिना आलम्बन के स्थित हैं ॥ २३७- ॥

उच्चार = कारण बन्ध आदि के बाद मन्त्र का उदीरण (उच्चारण) । आलम्बन = ध्यान आदि का आश्रय । इनके बिना भी इन सभी भेदों में (वह तत्त्व) अभिन्न रूप से स्थित है । क्योंकि उपाय के रूप में स्वीकृत भी तत्त्व स्वप्रकाश चित् के

चिद्भित्त्यैक्येन प्रकाशनात् । तदुक्तमस्मत्प्रभुपादैः—

'उपायजालं न शिवं प्रकाशयेद्
घटेन किं भाति सहस्रदीधितिः ।
विवेचयन्नित्थमुदारदर्शनः
स्वयंप्रकाशं शिवमाविशेत्क्षणात् ॥' (तं०सा० २ आ०)

इति ॥

तदेव विशिनष्टि—

अक्षराक्षरनिर्मुक्तं परं तत्त्वमनक्षरम् ॥ २३७ ॥

अक्षरेणाविमलेन जीवात्मना रूपेण आ समन्तात् क्षरैः सर्वभूतैश्च निर्मुक्तं परचिन्मात्रमित्यर्थः, अथवाऽक्षरैर्वाचकैरक्षरैश्च तत्सम्बन्धिभिर्वाच्यैराकारैर्निर्मुक्तमकारोकारादिवाचकमन्त्रकलातद्वाच्यरूपं न भवतीत्यर्थः ॥

युक्तं चैतत्, यतः—

अक्षरेषु कुतो मोक्ष आकाशे कुसुमं कुतः ।

अत्यन्तासम्भाव्यमेतद् यत् स्थानप्रयत्नादुच्चार्यत्वात् सोपाधिषु मन्त्रावयवरूपेषु

साथ अभिन्न रूप से प्रकाशित होते हैं । वही हमारे स्वामी (= अभिनवगुप्त) ने कहा है—

'उपायसमूह शिव का प्रकाशन नहीं कर सकता । क्या घट के द्वारा सूर्य को देखा जा सकता है । इस प्रकार की विवेचना करता हुआ उदार दृष्टि वाला योगी एक क्षण के अन्दर स्वप्रकाश शिव में समाविष्ट हो जाता है' ॥ (तं०सा० २)

उसी की व्याख्या करते हैं—

अक्षर से तथा क्षर से सर्वतः रहित पर तत्त्व अनक्षर है ॥ -२३७ ॥

अक्षर = अविमल (= मलिन) जीव रूप से तथा क्षर = समस्त प्राणियों से, आ = सब प्रकार से, निर्मुक्त अर्थात् परचिन्मात्रस्वरूप (जो पर तत्त्व हैं) वह अनक्षर है । (इसकी दूसरी व्याख्या है—) जो अक्षर = वाचक वर्ण अथवा पद तथा अक्षर = उन वाचकों से सम्बद्ध वाच्य (पदार्थों का) आकार उनसे निर्मुक्त है वह अनक्षर है = वह अकार उकार आदि वाचक मन्त्र कला और उनका वाच्य रूप नहीं है ॥

यह कथन ठीक भी है क्योंकि—

अक्षरों में मोक्ष कहाँ से होगा जैसे कि आकाश में पुष्प कहाँ होता है ॥ २३८- ॥

यह अत्यन्त असम्भव है कि तत्तत् (ताल्वादि) स्थानों और (आभ्यन्तर) आदि

अक्षरेषु उच्चरत्सु निरुपाधिचिद्घनतत्त्वसमावेशात्मा मोक्षो भवतीति, परतत्त्वस्य वर्णतद्वाच्यरूपत्वाभावात् । उक्तं चैतत्प्राक्—

'तस्य रूपं शरीरं च नास्ति वर्णः क्रिया तथा' (६।१२)

इति । किं च, अक्षरेषु भिन्नेषु बहुषु मुक्तात्मसु इष्यमाणेषु कुतो मोक्षः—

'त आत्मोपासकाः' (४।३९२)

इत्यभिहितत्वात् ॥

अत एव—

यावदुच्चार्यते वाचा यावल्लेख्येऽपि तिष्ठति ॥ २३८ ॥
तावत् स सकलो ज्ञेयो निष्कलो भेदवर्जितः ।

पश्यन्तीपर्यन्ताभिर्वाग्भिरुच्चार्यमाणस्तत्तदकारादिकलाबन्धान्मन्त्रः सकल एव भवति, लिपिध्यानक्रमेऽपि आप्यायादि कुर्वन्नपि अम्बा-ज्येष्ठा-रौद्री-वामाख्यलिपिकलायोगादपि सकल एव । यस्तु सर्वभेदप्रत्यस्तमयात् स्वप्रकाशानाहत-

---

प्रयत्नों के द्वारा उच्चार्य होने के कारण उपाधियुक्त मन्त्र के अवयवस्वरूप अक्षरों के उच्चारित होने पर मोक्ष हो क्योंकि वह मोक्ष उपाधिरहित चिद्घनतत्त्व में समावेश रूप है । कारण यह है कि पर तत्त्व वर्ण और उसके वाच्य रूप नहीं हैं। पहले कहा भी गया है—

'उसका न तो रूप है न शरीर तथा वर्ण और क्रिया भी नहीं है ।' (६।१२)

तथा—

भिन्न-भिन्न और अनेक अक्षरों को यदि मुक्त आत्मा मानेंगे तब भी मोक्ष नहीं होगा क्योंकि—

'वे (= लाकुल आदि) आत्मा के उपासक (शिवपद को नहीं प्राप्त होते) ।' (४।३९२)

ऐसा कहा गया है ॥

इसीलिये—

जब तक उसका वाणी से उच्चारण होता है अथवा जब तक वह लिपिबद्ध होता है तब तक उसे सकल समझना चाहिये । जो निष्कल है वह तो भेदरहित है ॥ -२३८-२३९- ॥

तत्तद् अकार आदि कलाओं के बन्ध से युक्त होने के कारण (वैखरी से लेकर) पश्यन्ती पर्यन्त वाणियों के द्वारा उच्चार्यमाण मन्त्र सकल ही होता है । लिपि ध्यान के क्रम में भी आप्याय आदि (= अवयव सन्निवेश आदि) को करता हुआ भी अम्बा ज्येष्ठा रौद्री वामा नामक लिपिकला के योग से भी (वह मन्त्र)

परामर्शमयः, स निष्कलः । एतच्च वितत्य पञ्चप्रणवाधिकारादौ निर्णीतम् । उक्तं च श्रीविज्ञानभट्टारके—

नहि वर्णविभेदेन देहभेदेन वा भवेत् ।
परत्वं निष्कलत्वेन सकलत्वे न तद् भवेत् ॥ (६ श्लो०)

इति ॥

अतश्चायम्—

सृष्टिसंहारनिर्मुक्तः क्रियाकालविवर्जितः ॥ २३९ ॥

नायं मन्त्रान्तरवत् सृज्यते संह्रियते वा, नाप्यास्योच्चारध्यानादिक्रिया-कालोऽस्ति । तथोक्तम्—

'नास्योच्चारयिता कश्चित्' (७।५९)

इत्यादि ॥ २३९ ॥

एतद् व्यनक्ति—

अधश्चारे भवेत् सृष्टिरूर्ध्वे संहार उच्यते ।
अधश्चारेण जातोऽसौ ऊर्ध्वे चैव मृतो भवेत् ॥ २४० ॥
सूतकं मृतकं त्यक्त्वा तिष्ठेद् वै तत्त्ववृत्तितः ।

सकल ही होता है । जो समस्त भेद के नष्ट होने से स्वप्रकाश अनाहत परामर्शमय है वही निष्कल है । पञ्चप्रणवाधिकार आदि में इसका विस्तार से वर्णन है । विज्ञानभट्टारक में भी कहा गया है—

'वर्णभेद या देहभेद से परत्व नहीं होता । (यह परत्व) निष्कल होने से होता है । सकल होने पर वह (= परत्व) नहीं होता ॥ (श्लो० ६)

इसलिये यह (पर तत्त्व)—

सृष्टि-संहार से निर्मुक्त एवं क्रिया तथा काल से रहित है ॥ -२३९ ॥

दूसरे मन्त्रों की तरह न तो इसकी रचना की जाती है न संहार । और न ही इसका उच्चार ध्यान आदि क्रियायें अथवा काल है । वही कहा गया है—

'इस (= हंस) अर्थात् जीव का कोई उच्चारण करने वाला नहीं है ।'(७।५९)

इसको व्यक्त करते हैं—

अधश्चार में इस हंस की सृष्टि होती है; ऊर्ध्वचार में इसका संहार होता है । अधश्चार में यह उत्पन्न होकर ऊर्ध्वचार में मर जाता है । (योगी साधक को चाहिये कि वह) सूतक और मृतक का त्याग कर तत्त्ववृत्ति में स्थित हो जाय ॥ २४०-२४१- ॥

अधश्चारोऽपानः । ऊर्ध्वचारस्तु प्राणः । सृष्टिसंहार इति त्रिविधस्य देह-प्रमातुः । असाविति देहप्रमाता । इत्थं मुहुः सूतकमृतकाशौचमयः । यदा तु देहप्रमातृताभिमानं प्रशमय्य सत्यां चित्प्रमातृतामवलम्बते, तदा दलकल्पदेह-प्राणादिपदवर्त्यप्ययं चिदामोदसुन्दरस्तत्त्ववृत्तिस्थित एवेति का मृतकसूतक-सम्भावनापीति, इत्थमेतद् व्याकार्यम्, न तु प्राणापानप्रशमपदे सततमवस्थेयमिति, योगिनां व्युत्थानदशासम्भवेन तत्र सततावस्थानाघटनात्,

'एतेषु तत्परं तत्त्वमुच्चारालम्बनादृते' (७।२३७)

इत्युक्तेन वक्ष्यमाणेन च ग्रन्थेन विरोधापत्तेः । यदि चामुखे प्राणातान-प्रशमपदनिभालनं तत्त्ववृत्त्यनुभवे भवत्युपायः, तथापि तदुपायपूर्वं सर्वदा सर्वावस्थासु सर्वत्र चिदानन्दघनपरमशिवतामयत्वज्ञानमेव तत्त्ववृत्त्यवस्थितत्वम् । यद्वक्ष्यति—

'सर्वं शिवमयं स्मरेत्' (७।२४४) इत्यादि ॥

तदित्थमियम्—

अधश्चार = अपान । ऊर्ध्वचार = प्राण । यह सृष्टि और संहार तीनों प्रकार के देहप्रमाता (= सकल, प्रलयाकल और विज्ञानाकल) का होता है । इस प्रकार यह देहप्रमाता बार-बार सूतक और मृतक अशौच वाला होता रहता है । जब यह जीव देहप्रमातृत्व रूप अभिमान को हटाकर सत्य चित्प्रमातृता का अवलम्बन करता है तब (जैसे पुष्प का सौरभ उसकी पंखुड़ियों केशर आदि में रहते हुए भी उनसे पृथक् रहता है उसी प्रकार) पंखुड़ीसदृश देहप्राण आदि स्थानों में रहता हुआ भी यह चिदामोद सुन्दर (जीव-हंस) तत्त्ववृत्ति में स्थित रहता है । इसलिये इसके मृतक सूतक अशौच की सम्भावना ही कहाँ है । इसकी इसी प्रकार व्याख्या करनी चाहिये न कि प्राण-अपान के प्रशमपद में निरन्तर स्थित रहना चाहिये (—ऐसी व्याख्या) क्योंकि योगियों की व्युत्थानदशा सम्भव होने से उस प्रशम दशा में निरन्तर स्थिति सम्भव नहीं है । क्योंकि साथ ही ऐसा मानने पर—

'इन (छत्तीस तत्त्व आदि) में वह पर तत्त्व बिना उच्चारण और बिना आलम्बन के स्थित है ।' (७।२३७)

इस पूर्वोक्त एवं वक्ष्यमाण (७।२४४) (कथन) से विरोध उपस्थित होता है। यद्यपि प्रारम्भ में प्राण के सञ्चार और संहार वाले पद का समीक्षण तत्त्ववृत्ति के अनुभव के विषय में उपाय होता है तथापि उस उपाय के बाद सब समय सब अवस्थाओं में सर्वत्र चिदानन्दघन परमशिवतामयत्व का ज्ञान ही तत्त्ववृत्ति में स्थित होना है । जैसा कि कहेंगे—

'सब को शिवमय समझना चाहिये' (७।२४४)

तो इस प्रकार—

तत्त्ववृत्तिश्च व्याख्याता सर्वाध्वोपाधिवर्जिता ॥ २४१ ॥

षड्विधस्याप्यध्वनः पारमार्थिकसत्तया चिन्मय्या परिज्ञाततत्वात् नास्त्युपाधित्वम्, व्यतिरेकाभावात् । विशेषेणाख्याता तत्र तत्र शास्त्रे निराचारावधूतनिर्मर्याद-स्फुरत्तामहासत्तासमापत्तिसमावेशादिशब्दव्यवहृतत्वात् ॥ २४१ ॥

अतश्च—

तत्त्वाध्वधर्मनिर्मुक्तः कारणैश्च विवर्जितः ।
तत्त्ववृत्तौ स्थितो योगी सर्वारम्भविवर्जितः ॥ २४२ ॥
रागद्वेषविनिर्मुक्तो विषादानन्दवर्जितः ।
नाकाङ्क्षेन्न च निन्देत्तु विषयांश्च कदाचन ॥ २४३ ॥
समः शत्रौ च मित्रे च ब्राह्मणे श्वपचे समः ।
तुल्यदर्शी भवेन्नित्यं सर्वं शिवमयं स्मरेत् ॥ २४४ ॥

तत्त्वादिभिः शरीरावस्थितैर्नास्याहन्तावच्छिद्यत इत्यर्थः । अत एव चायं चित्समापन्नत्वात् सर्वैरारम्भैर्हेयोपादेयविषयाभिः प्रवृत्तिभिर्विशेषेणाभिनिवेशात्मना वर्जितः, यतस्तत्प्रवृत्तिहेतुभ्यां रागद्वेषदोषाभ्यां रहितः । तद्रहितत्वमप्यस्य विषय-

---

समस्त अध्वा रूपी उपाधि से रहित इस तत्त्ववृत्ति की व्याख्या की गयी ॥ -२४१ ॥

छहों प्रकार के अध्वा का चिन्मयी पारमार्थिक सत्ता के द्वारा ज्ञान होने से उस (= पारमार्थिक सत्ता या पर तत्त्व) की उपाधि नहीं है क्योंकि व्यतिरेक नहीं है (अर्थात् उस पारमार्थिक सत्ता का कहीं अभाव नहीं है) । (व्याख्यात है =) विशेष रूप से आख्यात है = भिन्न-भिन्न शास्त्र में निराचारा, अवधूतिका, निर्मर्याद, स्फुरत्ता, महासत्ता, समापत्ति, समावेश आदि शब्दों से इसका वर्णन किया गया है ॥ २४१॥

इसलिये—

योगी तत्त्वाध्वाओं के धर्म से निर्मुक्त, कारणों (= ब्रह्मा आदि छकरणों) से रहित, तत्त्ववृत्ति में स्थित, समस्त आरम्भों से वर्जित, रागद्वेष से विनिर्मुक्त, विषाद आनन्द से वर्जित हो जाता है । वह न किसी वस्तु की इच्छा करता है और न निन्दा करता है । शत्रु और मित्र, ब्राह्मण और चाण्डाल के विषय में समबुद्धि रखता है । उसे नित्य तुल्यदर्शी होता है और सबको शिवमय समझता है ॥ २४२-२४४ ॥

शरीर में स्थित तत्त्वों से इसकी अहन्ता संकुचित या सीमित नहीं होती । इसलिये चित्समापन्न होने के कारण समस्त आरम्भों से = हेय एवं उपादेय विषयों वाली प्रवृत्तियों से, (विवर्जित =) विशेष = अभिनिवेशस्वरूप प्रवृत्तियों से वर्जित होता है । क्योंकि वह उन प्रवृत्तियों के हेतुभूत राग एवं द्वेष से रहित होता है ।

सङ्गसम्पाद्यविषादानन्दविरहात्, अत एवास्य आकाङ्क्षाद्यभावो यथोपनतमात्रभोगा-तिवाहकत्वात् । नास्य शत्रुमित्रब्राह्मणश्वपचेषु अपकार्युपकारिशुश्रूषापवित्रतादिधीः। तुल्यत्वेनासौ सर्वं पश्यति केवलम्, न तु लोकमध्यस्थो लोकस्य स्थितिभङ्ग-मुत्पादयेत् । इदं त्वस्य मुख्यं रूपं यत्सर्वं शिवत्वेन चिन्तयेत् ।

यदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे—

'यत्र यत्र मनो याति बाह्ये वाभ्यन्तरे प्रिये ।
तत्र तत्र शिवावस्था व्यापकत्वात् क्व यास्यति ॥' (११६)

इति । तथा—

'सर्वं देहं चिन्मयं हि जगद्वा परिभावयेत् ।'

इति ॥ २४४ ॥

सर्वं शिवमयं स्मरेदित्युक्तम् । तत्र सर्वमध्ये यद्यप्यात्मा प्रविष्टस्तथाप्यसौ अनादिशिवाद्भिन्न इति भेदवादिदृशा भ्रमो मा भूदित्याह—

आत्मानं च तथैवैवं सर्वथैव सदा स्मरेत् ।

इसका यह रागद्वेषराहित्य भी विषयों की आसक्ति से सम्पाद्य दुःख और सुख के न होने से होता है । इसीलिये इसके अन्दर आकांक्षा आदि का अभाव होता है क्योंकि वह यथालाभसन्तोष से युक्त होता है । इसके अन्दर शत्रु-मित्र, ब्राह्मण-चाण्डाल, अपकारी-उपकारी, सुश्रूषा, अपवित्रता आदि की भावना नहीं रहती । यह सबको समान दृष्टि से देखता है न कि लोक के मध्य में रहकर लोक की स्थिति और भङ्ग को बनाता है । इस (योगी) का यह मुख्य स्वरूप है कि वह सबको शिव समझता है ।

जैसा कि श्रीविज्ञानभैरव में कहा गया—

'हे प्रिये ! यह मन जहाँ-जहाँ बाहर या भीतर जाता है वहाँ-वहाँ व्यापक होने से शिवावस्था (= शिव की ही सत्ता) है । (फिर यह मन इधर-उधर दौड़ कर भी) कहाँ जायेगा ।' (वि०भै० ११६)

तथा—

'(योगी साधक) अपने सम्पूर्ण शरीर को या सम्पूर्ण जगत् को शिवमय समझता है' ॥ २४४ ॥

'सबको शिवमय समझता है'—यह कहा गया । इस कथन में यद्यपि सबके मध्य में आत्मा प्रविष्ट है तो भी यह अनादि शिव से भिन्न है—भेदवादी दृष्टि से ऐसा भ्रम न हो—इसलिये कहते हैं—

(जिस प्रकार समस्त संसार को शिवमय समझता है) उसी प्रकार

तथैवैवमिति विश्वात्मकपरमशिवैक्येन ॥

अतश्च—

सर्वतत्त्वानि भूतानि वर्णा मन्त्राश्च ये स्मृताः ॥ २४५ ॥
नित्यं तस्य वशास्ते वै शिवभावनयानया ।

सर्वस्य शिवाभिन्नस्वात्मैक्येन दर्शनात्, भूतानि चतुर्दश, वर्णाः शब्दराशिशरीरस्थाः ॥

ईदृक्तत्त्ववृत्तिनिष्ठत्वादेव—

न चासौ कुरुते पुण्यं नैव पापं च सुव्रते ॥ २४६ ॥

बुद्धिपूर्वं शुभमशुभं वा न किञ्चित् करोति ॥ २४६ ॥

यतोऽसौ—

कृतकृत्यः प्रसन्नात्मा............

अपने को भी सदा समझना चाहिये ॥ २४५- ॥

उसी प्रकार = विश्वात्मक परमशिव से अभिन्न ॥

इसलिये—

समस्त तत्त्व, समस्तभूत, सारे वर्ण और मन्त्र जो कुछ (इस संसार में वर्त्तमान) कहे गये हैं, इस शिवभावना के द्वारा वे नित्य उस (= योगी) के वश में हो जाते हैं ॥ -२४५-२४६- ॥

(ऐसा इसलिये होता है कि योगी) सबको शिव से अभिन्न स्वात्मा से अभिन्न रूप में देखता है । भूतों की संख्या चौदह है (= उनके नाम ये हैं—जरायुज, अण्डज, स्वेदज, उद्भिज्ज, विद्याधर, अप्सरा, यक्ष, राक्षस, गन्धर्व, किन्नर, पिशाच, गुह्यक और सिद्ध) वर्ण—ये शब्दराशि रूपी शरीर में रहने वाले हैं ॥

इस प्रकार की तत्त्ववृत्ति में रहने के कारण ही—

हे सुव्रते ! यह (योगी) न पुण्य करता है न पाप । (क्योंकि पुण्य सुख की प्राप्ति के लिये और पाप अपूर्णता की पूर्त्ति के लिये किया जाता है । योगी आप्तकाम और आत्मकाम होता है अतः उसे पापपुण्यात्मक कर्म करने की आवश्यकता नहीं होती) ॥ -२४६ ॥

(यह योगी) बुद्धि (या कामना या वासना) पूर्वक कुछ नहीं करता ॥ २४६ ॥

क्योंकि यह—

करणीय व्यापार को (= सम्पादित) कर चुका तथा प्रसन्न आत्मा वाला

कृतं निष्पन्नं कृत्यं परमेशात्मस्वात्मसमापत्त्यात्मकं यस्य । प्रसन्नो मलाकलङ्कितः ॥

अत एव—

........कृत्यं चास्य न विद्यते ।

च एवार्थो भिन्नक्रमः । यतोऽस्य कृत्यं नैव विद्यते, तेन कथं पुण्यं पापं वा कुर्यात् ॥

जीवन्नप्यसौ मुक्त इत्याह—

इह लोके परस्मिंश्च परिपूर्णस्तु सर्वदा ॥ २४७ ॥

इहेति व्युत्थानाभिमतावस्थायामित्यर्थः ॥

यदि बुद्धिपूर्वं धर्मादि नाचरति, तत्प्रमादसम्पन्नं परोपकारादिकमस्यावारकम् ? नेत्याह—

धर्माधर्मविनिर्मुक्तः..............

अभिसन्धिं विना कर्मणो बन्धकत्वाभावात् ॥

होता है ॥ २४७- ॥

कृत = निष्पन्न (= सम्पादित = पूर्ण कर दिया गया) है, कृत्य = परमात्मा में स्वात्मा की समापत्तिरूप कार्य जिसका । प्रसन्न = मल से अस्पृष्ट ॥

इसलिये—

इसका कोई कृत्य (शेष) नहीं रहता ॥ -२४७- ॥

(एतद् बुद्ध्वा ज्ञानवान् स्यात् कृतकृत्यश्च भारत ॥—भ०गी०)

यहाँ 'च' का प्रयोग 'एव' अर्थ में है और उसका क्रम भिन्न है (उसे 'न' के बाद जोड़ना चाहिये) । चूँकि इसका कोई कार्य शेष नहीं रहता इस कारण वह पुण्य पाप (वाला कार्य या किसी कार्य से उत्पन्न पुण्य पाप कैसे करेगा) ॥

यह (योगी) जीवित रहते हुए मुक्त होता है—यह कहते हैं—

(वह) इस लोक और परलोक में सर्वदा परिपूर्ण रहता है ॥ -२४७ ॥

इस लोक में = व्युत्थान के रूप में स्वीकृत अवस्था में ॥

यदि (योगी) बुद्धि (= आसक्ति) पूर्वक धर्म आदि का आचरण नहीं करता तो प्रमाद से सम्पन्न परोपकार आदि इसके आवारक (= सुख आदि फल को देने वाले) होंगे ? नहीं—यह कहते हैं—

(यह) धर्म और अधर्म से रहित होता है ॥ २४८- ॥

प्राक्शरीरार्जितमप्यस्य पुण्यादिकमावारकं नेत्याह—

..............**पुण्यपापविवर्जितः ।**

प्रोक्तज्ञानाग्निना तयोर्भस्मीकृतत्वादित्यर्थः ॥

अत एवेदृशस्य ज्ञानराशेर्योगिनः—

न चास्य भक्ष्याभक्ष्यं हि न पेयापेयमेव च ॥ २४८ ॥
नापवित्रं हि तस्यास्ति न पवित्रं हि सुव्रते ।
निरपेक्षो ह्यसौ नित्यं सर्वापेक्षाविवर्जितः ॥ २४९ ॥

सर्वस्य शिवैक्येन प्रतीतत्वात् । तदुक्तं श्रीविज्ञानभैरवे—

'किञ्चिज्ज्ञैर्या स्मृता शुद्धिः साशुद्धिः शम्भुदर्शने ।
न शुचिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पो भवेत् सदा ॥' (१२३)

श्रीमदुच्छुष्मभैरवेऽपि—

'यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये ।

क्योंकि अभिसन्धि (= आसक्ति) के बिना किये गये कर्म बन्धन के कारण नहीं बनते ॥

पूर्व के शरीरों से अर्जित भी पुण्य आदि इसके आवारक नहीं होते—यह कहते हैं—

(यह) पुण्य पाप से वर्जित होता है ॥ -२४८- ॥

क्योंकि उपर्युक्त ज्ञान रूपी अग्नि से (इसके) वे दोनों (= पुण्य और पाप) भस्म कर दिये जाते हैं । अर्थात् उस ज्ञानाग्नि से उन दोनों का पाप भस्म हो जाने से ('ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुतेऽर्जुन ॥'—भ०गी०) ॥

इसलिये इस प्रकार के ज्ञानराशि वाले योगी के लिये—

न कुछ भक्ष्य है न अभक्ष्य, न पेय न अपेय । हे सुव्रते! उसके लिये न कुछ पवित्र है न अपवित्र । समस्त अपेक्षाओं से रहित वह नित्य निरन्तर निरपेक्ष रहता है ॥ -२४८-२४९ ॥

क्योंकि वह समस्त जगत् को शिव से अभिन्न समझता है । वही विज्ञानभैरव में कहा गया है—

'अल्पज्ञ लोगों के द्वारा जो शुद्ध माना गया वह शैव दर्शन में अशुद्ध है (इसके विपरीत जो अशुद्ध माना गया वह इस दर्शन में शुद्ध है) । इस प्रकार न कुछ शुचि है न अशुचि । इसलिये साधक को सदा निर्विकल्प (= भेदज्ञान रहित) होना चाहिये ।' (वि०भै० १२३)

श्रीमतउच्छुष्मभैरव में भी (कहा गया)—

वेदकं वेद्यमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचि ततः ॥'

इति ॥ २४९ ॥

ईदृशस्य च—

नास्य क्षेत्रं नास्य तीर्थं नियमो यम एव च ।

नियमो जटाभस्मादिपरिग्रहः, परभैरवस्फाररूपस्य नास्य कश्चित् सङ्कोच इत्यर्थः । तदुक्तं श्रीपूर्वशास्त्रे रहस्यप्रतिपादिन्यष्टादशे पटले—

'नात्र शुद्धिर्न चाशुद्धिः' (१८।७४)

इत्यादिना महता ग्रन्थेन ॥

एवंविधस्य योगिनो लोकोत्तर क्षेत्रादि निरूपयति—

क्षेत्रं तस्य परा शक्तिर्यतः सर्वं प्रसूयते ॥ २५० ॥
सर्वाध्वानो यतो देवि तत्रस्थाः प्रचरन्ति वै ।
तीर्थं चैव परं शान्तं नित्यं चानन्दविश्वगम् ॥ २५१ ॥
येन व्याप्तमिदं विश्वमनन्तं विश्वशक्तिभिः ।
नित्यं विरक्तिः संसाराद्यमोऽयं परिकीर्तितः ॥ २५२ ॥

'हे प्रिये ! जब तक ये वेदक नहीं होंगे तब तक वेद्य कैसे हो सकते हैं । वेद्य और वेदक दोनों एक ही तत्त्व हैं । इसलिये कुछ भी अपवित्र नहीं है' ॥ २४९ ॥

ऐसे (योगी) के लिये—

'न कोई क्षेत्र (= शूकर क्षेत्र, कुरुक्षेत्र सदृश कोई उत्तम आध्यात्मिक स्थान) है न (= गया, प्रयाग सदृश) तीर्थ । न नियम है और न यम ॥ २५०- ॥

नियम = जटा भस्म आदि का धारण । परभैरव के स्फाररूप इस (= योगी) के लिये कोई सङ्कोच नहीं है । यही बात मालिनीविजयतन्त्र के रहस्यप्रतिपादक अट्ठारहवें पटल में—

'इस विषय में न शुद्धि है न अशुद्धि' ॥ २४९- ॥ (१८।७४)

इत्यादि वृहद् ग्रन्थ के द्वारा विस्तार के साथ कही गयी है—

इस प्रकार के योगी के लोकोत्तर क्षेत्र आदि का निरूपण करते हैं—

हे देवि ! जहाँ से सबकी उत्पत्ति होती है वह पराशक्ति ही उसका क्षेत्र होता है । समस्त अध्वा उसी से उत्पन्न और उसी में स्थित होकर सञ्चरण करते हैं । शान्त, नित्य, विश्वव्यापी, आनन्दस्वरूप तथा जिसकी समस्त शक्तियों से अनन्त विश्व व्याप्त है वह परतत्त्व उसका तीर्थ होता है ।

नियमो भावना नित्यं परतत्त्वैकतानता ।

'क्षेत्रं तदुच्यते यत्र देवताचक्रमध्यग: ।
तत्तदभीष्टं प्राप्नोति...................... ॥'

इत्यतोऽस्य परयोगिन: पराद्वयमयाध्वचक्रदेवताचक्रमध्यगता परा शक्तिरेव सर्वप्रसवभूमि: क्षेत्रम्, तीर्थं सर्वमलध्वंसकृत् । तच्चास्य प्रशान्तभेदकल्लोलमानन्दरसमयं विश्वव्यापि परं शान्तम् अशेषशक्तिकचितं शक्तिमत्पदम् । परतत्त्वैकतानता तदभेदविमर्शमयी भावना, सास्य नियमो व्रतम् ॥

एष च योगी—

नात्मनो भावयेज्जातिं न कुलं न (च)बान्धवान्॥ २५३ ॥

देहात्मनो हि जात्यादिकलङ्कयोगो न चिदात्मन: ॥ २५३ ॥

ईदृशोऽपि च—

आचरेत् सर्ववर्णत्वं...............

संसार से नित्य विराग उसका यम कहा गया है । पर तत्त्व के साथ ऐकात्म्य की भावना उसका नियम है ॥ -२५०-२५३- ॥

(वही कहा गया—)

'योगी जहाँ देवताचक्र के मध्य में स्थित हुआ तत्तत् अभीष्ट प्राप्त करता है वह उसका क्षेत्र कहलाता है ।'

इसलिये पर अद्वयमय अध्वचक्र के देवताचक्र के मध्य में स्थित पराशक्ति ही इस योगी का क्षेत्र होती है । यह क्षेत्र सर्वप्रसव की भूमि है । (इसका) तीर्थ समस्त मलों का ध्वंस करने वाला पर (तत्त्व) है जो कि भेदरूपी लहरों की शान्तावस्था वाला, आनन्दरसमय, विश्वव्यापी, शान्त, समस्त शक्तिक (= छोटी-छोटी शक्तियों) का समूह और शक्तिमान् है । परतत्त्व के साथ एकलयता अर्थात् उससे अभेद वाली भावना उसका नियम = व्रत, है ॥

वह योगी—

अपनी जाति, कुल, बन्धु-बान्धव की भावना नहीं करता ॥ -२५३ ॥

(क्योंकि) जाति आदि कलङ्क का सम्बन्ध देहात्मा (= शरीर आदि को आत्मा मानने वाले अथवा शरीर के साथ आत्मा का तादात्म्य सम्बन्ध मानने वाले) का होता है न कि चिदात्मा का ॥ २५३ ॥

इस प्रकार का होते हुए भी—

वह समस्त वर्णों का आचरण करता है ॥ २५४- ॥

सर्वेषां ब्राह्मणादिवर्णानां भावमाचरेत्, यसय यादृक् स्वरूपमाचारो वा तस्य तदेव श्लाघेत ॥

न चात्मनि वर्णाश्रमनियमं गृह्णीयादित्याह—

............न च वर्णेषु वर्तयेत् ।

किन्तु—

परभावनया नित्यं परधर्मेण वर्तयेत् ॥ २५४ ॥

वर्तेतेत्यर्थ: ॥ २५४ ॥

तामेव परधर्मवृत्तिं सामानाधिकरण्येनास्य दर्शयति—

**सर्वज्ञ: परितृप्तश्च परिपूर्ण: स्वभावत: ।
स्वतन्त्रोऽलुप्तसामर्थ्यस्त्वनादिनिधनाश्रित: ॥ २५५ ॥
अनादिबोधो ह्यतुल: कालवेलाविवर्जित: ।
चारोच्चारविनिर्मुक्तस्त्वहोरात्रविवर्जित: ॥ २५६ ॥**

परिपूर्णोऽनन्तशक्ति: । सर्वज्ञत्वादय एते गुणा: षड् योजनिकाग्रन्थेऽस्माभिर्व्याकृता एव । अतुल इति शिवैक्येनास्य स्फुरणात्, द्वितीयस्याभावात् ।

ब्राह्मण आदि समस्त वर्णों के भाव का आचरण करता है । (तात्पर्य यह है कि) जिस (वर्ण) का जैसा स्वरूप या आचार है उसके उस स्वरूप आदि की प्रशंसा करता है ॥

किन्तु अपने विषय में वर्ण और आश्रम के नियमों का पालन नहीं करता यह कहते हैं—

उसे (स्वयं का) वर्णों में व्यवहार नहीं करना चाहिये ॥ -२५४- ॥

किन्तु—

परभावना के द्वारा नित्य परधर्म का व्यवहार करना चाहिये ॥ -२५४ ॥

अर्थात् वर्तेत ॥ २५४ ॥

इसकी उसी परधर्मवृत्ति को सामनाधिकरण्येन दिखलाते हैं—

वह सर्वज्ञ, सर्वत: तृप्त, परिपूर्ण स्वभाव वाला, स्वतन्त्र, सर्वसामर्थ्यवान्, जन्ममृत्युरहित, अनादि ज्ञानी, अतुलनीय, काल और वेला की सीमा से परे, प्राणचार के उच्चार से निर्मुक्त, दिन रात्रि की उपयोगिता से हीन होता है ॥ २५५-२५६ ॥

परिपूर्ण = अनन्त शक्ति वाला । इन सर्वज्ञत्व आदि छ: गुणों की व्याख्या हमने योजनिका ग्रन्थ में की है । यह अतुल है क्योंकि इसका शिव से अभिन्न

कालवेलाविवर्जित इति मितयोगिवदस्य प्राणीयतुट्यंशांशिकानिभालनानुपयोगात् । अत एव चारस्य प्राणवाहस्य य ऊर्ध्वप्रेरणात्मा उच्चारः, सोऽप्यस्यानुपयुक्तः । अतश्च नित्यमेव शिवैकात्म्यभावनाविष्टत्वाद् नास्य मुमुक्षुबुभुक्षुवदहोरात्रोपयोगः कश्चित् ॥ २५६ ॥

नाप्यस्य तत्रविभागोऽपीत्याह—

न दिवा जागरं कुर्यात् न च रात्रौ स्वपेत् क्वचित् ।
स्वभावेनैव संतिष्ठेद् दिनरात्रिविवर्जितः ॥ २५७ ॥

यथा लौकिको दिवा जागर्ति भेदव्यवहारमेव परिशीलयति, निशायां मायायां स्वपिति न प्रबोधमेति, तथा नायम्, अपि त्वभेदनिष्ठ एव तथा मायया नाभिभूयते । जाग्रतः स्वपतोऽपि चास्य न जागरस्वप्नौ स्तः, सदा तुरीयप्रकाशावियोगात् । यथोक्तम्—

'तस्योपलब्धिः सततं त्रिपदाव्यभिचारिणी ।
नित्यं स्यात् सुप्रबुद्धस्य .... ॥' (१।१७)

रूप से स्फुरण होता है इसका कारण यह है कि (शिव के अतिरिक्त) कोई दूसरा नहीं है । कालवेला से रहित—क्योंकि मित योगी प्राणसम्बन्धी तुट्यंश अंशिका (= अंश का अंश) का निभालन करता है, यह वैसा नहीं करता (क्योंकि यह शिवस्वरूप हो गया है) । अत एव चार का = प्राणवाह का, जो उच्चार = ऊर्ध्वप्रेरणा, उसकी उपयोगिता इसके लिये नहीं रहती । इसलिये यह नित्य है । शिव के साथ ऐक्य भावना से आविष्ट होने के कारण इसके लिये भोगेच्छु मोक्षेच्छु के समान दिन रात का उपयोग नहीं रहता (अर्थात् भोगेच्छु मोक्षेच्छु के उपयोग लिये रहता है इसके लिये नहीं)॥ २५६ ॥

इसके लिये उस (= दिन और रात) का विभाग भी नहीं रहता—यह कहते हैं—

(यह योगी) न दिन में जागता है न रात में कभी सोता है । दिन रात से असम्बद्ध यह स्वभाव में रहता है ॥ २५७ ॥

जिस प्रकार लौकिक पुरुष दिन में जागता है अर्थात् भेदपूर्ण व्यवहार का परिशीलन करता है, निशा = माया में सोता है अर्थात् इसे पर तत्त्व का ज्ञान नहीं रहता, यह योगी पुरुष ऐसा नहीं है बल्कि यह (शिव से) अभिन्न रहता है । इस प्रकार यह माया से अभिभूत नहीं होता । जागते और सोते हुए भी इसका जागरण और शयन नहीं होता क्योंकि यह सदा तुरीय प्रकाश से संश्लिष्ट रहता है । जैसा कि स्पन्दकारिका में कहा गया—

'ऐसे सुप्रबुद्ध योगी की उपलब्धि (= अनवच्छिन्नप्रकाशरूपता अर्थात् तुरीयावस्था) तीनो पदों (= जाग्रत स्वप्न सुषुप्ति) में अव्यभिचारिणी (नित्य वर्त्तमान)

इति श्रीस्पन्दे । तस्य परतत्त्वस्य सम्बन्धिन्युपलब्धिस्तन्मयः प्रकाशः सुप्रबुद्धस्य । त्रिषु जाग्रदादिपदेषु । सततम् इत्यादौ मध्येऽन्ते च । नित्यमित्यविच्छेदेन भवतीति । मयैवेत्थं स्पन्दनिर्णये व्याकृतमेतत् ॥ २५७ ॥

यः—

एवं वै वर्तते योगी..............

सः—

................परेण समतां व्रजेत् ।
न च तं कलयेत् कालः कल्पकोटिशतैरपि ॥ २५८ ॥

अकालकलितपरमेश्वरैकरूपत्वात् ॥ २५८ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

जीवन्नेव विमुक्तोऽसौ यस्यैषा भावना सदा ।
शिवो हि भावितो नित्यं..........

ततश्च तम्—

..........न कालः कलयेच्छिवम् ॥ २५९ ॥

रहती है...... ।' (स्प०का० १।१७)

उस परतत्त्व से सम्बद्ध उपलब्धि = तन्मयप्रकाश, सुप्रबुद्ध योगी की तीनों जाग्रत् आदि अवस्थाओं में, निरन्तर = आदि मध्य और अन्त में नित्य = अव्यवहित, होती है । मैंने स्पन्दनिर्णय में ऐसी ही व्याख्या की है ॥ २५७ ॥

जो—

योगी इस प्रकार जीवनयापन करता है वह पर तत्त्व (= पर शिव) के तुल्य हो जाता है । उसको करोड़ों कल्पों में भी काल प्रभावित नहीं करता ॥ २५८ ॥

क्योंकि (वह योगी) अकालकलित परमेश्वर के साथ एकरूप हो गया रहता है ॥ २५८ ॥

इसको स्पष्ट करते हैं—

जिसकी ऐसी भावना होती है वह योगी जीवित रहते हुए मुक्त हो जाता है । क्योंकि उसने नित्य शिव की भावना की है ॥ २५९- ॥

इसलिये उस—

शिव को काल ग्रसित नहीं करता ॥ -२५९ ॥

शिवं शिवैकरूपं महायोगिनं कथं कालः कलयेत् ॥ २५९ ॥

अथास्य महाव्याप्तिज्ञानस्य सकलोपनिषदुपदेशसारतमतामेतत्तन्त्रोपास्यदेवतानामोपपदप्रदर्शनपूर्वं निरूपयति—

योगी स्वच्छन्दयोगेन स्वच्छन्दगतिचारिणा ।
स स्वच्छन्दपदे युक्तः स्वच्छन्दसमतां व्रजेत् ॥ २६० ॥

प्रोक्ततत्त्ववृत्त्यवस्थित्यात्मना स्वात्मप्रतिष्ठया स्वच्छन्दगत्या चरत्यवश्यं योऽयं परतत्त्वैक्यप्रतीतिमयत्वात् स्वच्छन्दशब्दवाच्यो महायोगः, तेन श्रीस्वच्छन्दभैरवस्य पदे धाम्नि युक्तोऽभिनिविष्टः सन् तत्साम्यमेति ॥ २६० ॥

योगप्रकर्षात्तु—

स्वच्छन्दश्चैव स्वच्छन्दः स्वच्छन्दो विचरेत् सदा ।

नित्यमादिमध्यान्तकोटिष्वयं श्रीस्वच्छन्दभैरव एव स्फुरन् स्थित इति यावत् ॥

'स्ववेद्यो भवेच्चारो नाडीचारजयात् स्फुटम् ।
अथवा स जपादेवमत्यर्थमुपबृंहितः ॥
मन्त्री योगं विजानाति ज्ञात्वा सर्वज्ञतां व्रजेत् ।' (७।१४३-१४४)

शिव अर्थात् शिव के साथ एकरूप हुए योगी को काल कैसे कवलित कर सकता है ॥ २५९ ॥

यह महाव्याप्तिज्ञान समस्त औपनिषद उपदेश का सारतम है । इस बात को इस तन्त्र के उपास्य देवता के नाम का सार्थक्य दिखलाते हुए, बतलाते हैं—

योगी स्वच्छन्दगति से सञ्चरण करने वाले स्वच्छन्द योग के द्वारा स्वच्छन्द पद पर नियुक्त हुआ स्वच्छन्दभैरव के तुल्य हो जाता है ॥२६०॥

यह योगी उपर्युक्त तत्त्ववृत्ति में स्थिति रूप स्वात्मप्रतिष्ठ स्वच्छन्द गति के अनुसार आचारण करता है इसलिये यह महायोग परतत्त्वैक्यप्रतीतिमय होने के कारण स्वच्छन्दयोग कहा जाता है । इस (= स्वच्छन्दयोग) के द्वारा योगी स्वच्छन्दभैरव के पद अर्थात् धाम में युक्त = अभिनिविष्ट, हुआ उस (= स्वच्छन्दभैरव) के समान हो जाता है ॥ २६० ॥

योग के प्रकर्ष के कारण—

स्वच्छन्दयोग वाला यह स्वच्छन्दभैरव रूप होकर सदा स्वच्छन्द (= स्वेच्छापूर्वक) विचरण करता है ॥ २६१- ॥

आदि मध्य और अन्त की कोटियों में यह योगी स्वच्छन्दभैरव बन कर स्फुरित होता हुआ स्थित रहता है ॥

नाड़ी में प्राणचार को नियन्त्रित करने से प्राणचार स्पष्ट रूप से स्वसंवेद्य हो

इति यदुपक्रान्तम्, तन्मध्ये नाडित्रयवाहनिरूपणतदन्यथावाहाद्युत्थारिष्टज्ञानमृत्युजयादिबहुप्रमेयव्यवहितं जातम् । अत एतदुपसंहरन् प्रागुक्तमेवानुबध्नाति—

एवं वै मृत्युलिङ्गानि रिष्टान्यन्यानि यानि च ॥ २६१ ॥
योगाज्जानाति योगीन्द्रो नादजान्तर्गतानि च ।
निर्जित्यैतानि योगेन एवमुक्तक्रमेण तु ॥ २६२ ॥

एवमिति यथोक्तवाहविपर्ययात्मकानि यान्यन्यानि च—

'कर्णरन्ध्रकृताङ्गुष्ठो घोषं न शृणुते' (७।१८७)

इत्यादीनि रिष्टानि नादजान्तर्गतान्युक्तानि, 'च'शब्दात् काणोत्पाटादीनि च, तानि योगात् प्रोक्तरूपाच्चारावधानादेव योगी जानाति, ज्ञात्वा च हंसध्यानामृतध्यानतत्त्ववृत्त्यवस्थानरूपेण परपरापरापरात्मना मृत्युजिता योगेन निर्जित्य पुनरपि नाडीचारजयाभ्यासाद्योगी विजानाति, ज्ञात्वा च सर्वज्ञतां व्रजेदिति सम्बन्धः ॥ २६२ ॥

अथेदानीम्—

जाता है, अथवा जप के द्वारा अत्यन्त उपबृंहित वह मन्त्रसाधक योग को जान लेता है और जानकर सर्वज्ञ हो जाता है । (७।१४३-१४४)

इस वचन से जो उपक्रम किया गया वह, प्राण का तीन नाड़ियों में प्रवाह और उससे भिन्न रूप में प्रवाह आदि से उत्पन्न अरिष्टज्ञान मृत्युजय आदि अनेक प्रमेयों के वर्णन से व्यवहित हो गया । इसलिये इसका उपसंहार करते हुए अब पूर्वोक्त प्रकरण को सन्दर्भित करते हैं—

इस प्रकार मृत्यु के और जो लिङ्ग रिष्ट (= अशुभसूचक) चिह्न हैं अथवा जो अन्य लक्षण हैं साथ ही जो अन्तर्नाद से उत्पन्न हैं उनको यह योगीन्द्र योग के बल से जान लेता है । इनको उक्तक्रम से योग के द्वारा जीत कर (वह सर्वज्ञ हो जाता है) ॥ -२६१-२६२ ॥

इस प्रकार—पूर्वोक्त प्राणवाह के विपर्ययरूप जो अन्य रिष्ट (= अशुभ सङ्केत)

'कर्णरन्ध्र के ऊपर अंगूठा लगाने से शब्द को नहीं सुनता ।' (७।१८७)

इत्यादि के द्वारा कहे गये, नादज के अन्तर्गत कहे गये हैं तथा इनके अतिरिक्त 'च' से सङ्केतित काण उत्पाट आदि हैं, उन सबको, योग से = प्रोक्तरूप प्राणचार के अवधान से, योगी जान लेता है । और जान कर हंसध्यान अमृतध्यान तत्त्ववृत्ति में अवस्थान रूप, पर परापर अपर रूप मृत्युजित् योग से (मृत्यु को) जीत कर पुनः प्राण के नाडीचार के जय के अभ्यास से सब कुछ जान लेता है और जानकर सर्वज्ञ हो जाता है ॥ २६२ ॥

अब—

अयोगी यानि जानाति अयुक्तो वापि सुव्रते।
बहिर्लिङ्गानि तान्यत्र अङ्गारिष्टानि मे शृणु ॥ २६३ ॥

अयोगीत्यप्राप्तयोगः । अयुक्त इति योगायाघटमानो वा लौकिक एवेत्यर्थः ॥ २६३ ॥

तान्याह—

शुष्कताल्वोष्ठकण्ठश्चेदकस्माद्ध्रसरच्छविः ।
स्कन्धौ च भङ्गमायातः षण्मासान्मृत्युमाप्नुयात् ॥ २६४ ॥

अकस्मादिति प्रसिद्धं निमित्तं विना, एतच्च सर्वत्र योज्यम् ॥ २६४ ॥

सुनीलं मण्डलं व्योम्नि यः पश्यति दिने दिने।
सितं हरितकृष्णं च वत्सरार्धान्म्रियेत सः ॥ २६५ ॥

अकस्मादित्येव । मण्डलमिति सूर्यबिम्बस्य बाह्यपरिवेशः ॥ २६५ ॥

विरश्मि पश्यति रविं सोमं वै लक्ष्मवर्जितम् ।
तारां ज्योत्स्नां च कृष्णां वै पश्येत् षण्मासजीवितः ॥ २६६ ॥

रविं मण्डलान्तस्थं बिम्बम् ॥ २६६ ॥

हे सुव्रते ! अयोगी या अयुक्त व्यक्ति जिन बाह्य लिङ्गों को जानता है उन अङ्गारिष्टों को मुझसे सुनो ॥ २६३ ॥

अयोगी = (योग के लिये प्रयासरत किन्तु) उसे प्राप्त न करने वाला । अयुक्त = योग के लिये प्रयास न करने वाला अथवा साधारण मनुष्य ॥ २६३ ॥

उन (= अङ्गारिष्टों) को कहते हैं—

जिसके ओष्ठ, तालु, कण्ठ अकस्मात् सूख जाँय और उसकी कान्ति अकस्मात् मलिन हो जाय अथवा उसके कन्धे अकस्मात् टूट जाँय वह व्यक्ति छः मास के अन्दर मृत्यु को प्राप्त हो जाता है ॥ २६४ ॥

अकस्मात् का अर्थ है—प्रसिद्ध कारण के बिना । इस (= अकस्मात् पद) को सबके साथ जोड़ना चाहिये ॥ २६४ ॥

जो प्रतिदिन आकाश में गहरा नीला, श्वेत, हरा अथवा काला मण्डल (= गोला) देखता है वह छह महीने में मर जाता है ॥ २६५ ॥

अकस्मात्—देखता है । मण्डल = सूर्यबिम्ब का बाह्य परिवेश ॥ २६५ ॥

यदि (दिन में) सूर्य को किरणों से रहित या (रात्रि के समय) चन्द्रमा को कलङ्करहित देखे अथवा ताराओं या चन्द्रप्रकाश को काला देखे तो उसका जीवन मात्र छह मास शेष रह जाता है ॥ २६६ ॥

हिरण्यवर्णं पुरुषं पिङ्गलं कृष्णमेव च ।
स्वप्ने सम्पश्यते यो वै षण्मासान् सोऽपि जीवति॥ २६७ ॥

अकस्मात् पित्तादिप्रकोपाभावादिति स्थितमेव ॥ २६७ ॥

आत्मनो ह्यशिरश्छायां पश्येत् षण्मासजीवितः।

छायापुरुषपरीक्षायामित्यर्थात् ॥

तैलाभ्यङ्गं तथा पानं रक्तस्रगनुलेपनम् ॥ २६८ ॥
रक्ताम्बराणि कृष्णानि स्वप्ने पश्यति वै यदा ।
प्रेतैः पिशाचै रक्षोभिः श्वगोमायुकसूकरैः ॥ २६९ ॥
वृतं यातं गृद्ध्रकाकैर्महिषैरुष्ट्रगर्दभैः ।
अङ्गभक्षणमुद्वाहं नग्नं चातीव विह्वलम् ॥ २७० ॥
स्वप्ने च पश्यते यो वै वर्षमेकं स जीवति ।

अत्र यथायोगमात्मन आत्मानमिति च योज्यम् । गृद्ध्रादिभिर्यातमिति वाहनरूपैर्नीयमानम् ॥ २७० ॥

शंखावर्ते भुजामध्ये गुल्फयोर्मर्मसन्धिषु ॥ २७१ ॥

रवि को = मण्डल के अन्त में स्थित बिम्ब को ॥ २६६ ॥

जो व्यक्ति स्वप्न में सुनहले, पिङ्गल अथवा काले वर्ण के पुरुष को देखता है वह भी छह मास तक जीवित रहता है ॥ २६७ ॥

अकस्मात्—पित आदि का प्रकोप न रहने पर भी ॥ २६७ ॥

अपनी परछाईं को बिना शिर का देखे (तो वह) छः मास तक जीवित रहता है ॥ २६८- ॥

(यह दर्शन) छायापुरुष की परीक्षा के समय होता है ॥

(यदि कोई व्यक्ति) स्वप्न में तैलाभ्यङ्ग (= शरीर में तेल लगाना), तेल का पान, रक्तमाला का धारण, लाल वस्तु का लेप, लाल अथवा काला वस्त्र का पहनना देखे । अपने को प्रेत, पिशाच, राक्षस, कुत्ता, सियार, सूअर, गिद्ध, कौवा, भैंसा, ऊँट अथवा गदहों से घिरा अथवा उनके द्वारा ले जाता हुआ देखे, अपने अङ्ग का भक्षण, अपना विवाह, अपने को नग्न या अत्यन्त विह्वल देखे तो वह एक वर्ष तक जीवित रहता है ॥ -२६८-२७१- ॥

उपर्युक्त विवरण में 'अपना' या 'अपने को' यह यथोचित स्थान में जोड़ लेना चाहिये । गिद्ध आदि के द्वारा यात = वाहनरूप उनके द्वारा नीयमान देखे ॥२७०॥

सोऽवश्यं वधमायाति यस्यैतत् स्पन्दनं नहि ।

शंखावर्तौ ललाटकपालसन्धी नेत्रप्रान्तस्थौ । भुजामध्यं मत्स्यस्थानमिति प्रसिद्धम् । मर्मसन्धयो धमन्यादयः सिराः ॥ २७१ ॥

किं च—

सोमार्कमण्डलं देहे ध्रुवं चैव त्वरुन्धतीम् ॥ २७२ ॥
न पश्यति महायानं सोऽवश्यं म्रियते नरः ।

एतानि प्रातिलोम्येन व्याचष्टे—

तालुरन्ध्रगतो धूमो महायानं तदुच्यते ॥ २७३ ॥
जिह्वा त्वरुन्धतीत्युक्ता नासाग्रं ध्रुव उच्यते ।

तालुरन्ध्रं ब्रह्मबिलम्, पश्चात्कृतसूर्यस्तदुत्थां धूमलेखां छायायां न पश्यति । नासाग्रं त्रिपुटिकाप्रान्तः ॥ २७३॰ ॥

किं च—

नेत्रान्ते करजाक्रान्ते मण्डलं सोमसूर्ययोः ॥ २७४ ॥

जिसके शंखावर्त्त, भुजा के मध्य, गुल्फों एवं मर्मसन्धियों में स्पन्द न हो उसका (शीघ्र ही) वध हो जाता है ॥ -२७१-२७२- ॥

शंखावर्त्त = ललाट और कपाल के सन्धिस्थल जो कि नेत्र के किनारे स्थित रहते हैं । मर्मसन्धियाँ = धमनी आदि रक्तवाहिनी नसें ॥ २७१ ॥

तथा—

जो शरीर में सोम-सूर्य का मण्डल, ध्रुव, अरुन्धती अथवा महायान को नहीं देखता वह आदमी (छह महीने या एक साल के अन्दर) अवश्य मर जाता है ॥ -२७२-२७३- ॥

इसकी प्रतिलोम विधि से व्याख्या करते हैं—

तालु के छिद्र में वर्त्तमान धूम महायान कहा जाता है । जिह्वा के अरुन्धती और नासाग्र को ध्रुव कहा जाता है ॥ -२७३-२७४- ॥

तालुरन्ध्र = ब्रह्मबिल । सूर्य को पीछे करके खड़ा होने पर उससे उठी धूमलेखा को अपनी छाया में नहीं देखता । नासाग्र = त्रिपुटिका (= नाक एवं दोनों आँख का मिलन केन्द्र) का प्रान्त भाग ॥ २७३ ॥

और भी—

करज = नाखून, से आक्रान्त नेत्र के प्रान्त भाग (= कोने) में सोम और सूर्य का मण्डल दिखायी दे ॥ -२७४ ॥

वामदक्षिणनेत्रप्रान्ता यदा नखेन पीड्यन्ते तदा ज्योतिर्यद् दृश्यते, तत्सोम-सूर्ययोर्मण्डलम् ॥

तदेतत्सर्वम्—

न पश्येद् गगनेऽप्येतत् सोऽवश्यं म्रियते नरः ।

ऋतुकालादनन्तरमेव बहिर्यानमाकाशगङ्गापथः, अरुन्धती सप्तर्षिमध्यस्था, ध्रुवश्चतुर्दशताराब्धशरीरः, सोमसूर्ययोर्मण्डलं बिम्बबाह्यपरिवेशः ॥

स्थूलोऽकस्माच्च जायेत अकस्माद्वै भवेत् कृशः ॥ २७५ ॥
अतिक्रुद्धोऽतिभीतश्च वर्षमेकं स जीवति ।

पुनः स्वप्नविषयमाह—

कृष्णाम्बरधरं कृष्णं लोहदण्डकरोद्यतम् ॥ २७६ ॥
नरं चाभिमुखं स्वप्ने दृष्ट्वा मासत्रयायुषम् ।

आत्मानं निश्चिनुयात् ॥ २७६ ॥

यदि बाँये और दाँये नेत्र का किनारा नाखून से दबाया जाय तब जो ज्योति दिखायी पड़े वह सोम सूर्य का मण्डल (कहा जाता है) ॥

यह सब—

यदि कोई व्यक्ति आकाश में नहीं देखता तो वह अवश्य शीघ्र मर जाता है ॥ २७५- ॥

ऋतुकाल = २ महीना उसके बाद । बहिर्यान = आकाशगङ्गा का मार्ग । अरुन्धती आकाश में स्थित सप्तर्षि के मध्य (वशिष्ठ के पास) स्थित तारा । ध्रुव = चौदह ताराओं से बना शरीर । सोम और सूर्य का मण्डल = बिम्ब का बाह्य परिवेश ॥

(यदि कोई व्यक्ति) अकस्मात् मोटा या दुबला हो जाय अथवा अकस्मात् अत्यन्त क्रोधी या भयभीत स्वभाव वाला हो जाय (तो वह) मात्र एक वर्ष जीवित रहता है ॥ -२७५-२७६- ॥

पुनः स्वप्न का विषय बतलाते हैं—

यदि (कोई व्यक्ति) अपने को काला देखे, काला वस्त्र पहने हुए देखे; हाथ में लोहे का दण्ड लिये हुए (किसी आदमी) को अपने सामने (आता हुआ या खड़ा हुआ) दिखलायी पड़े तो उसकी आयु तीन मास ही शेष रहती है ॥ -२७६-२७७- ॥

अपने को निश्चित करना चाहिए ॥ २७६ ॥

हृदयं शुष्यते यस्य स्नातमात्रस्य तत्क्षणात् ॥ २७७ ॥
गात्रं चैवाप्यनुष्णं च ऋतुमेकं स जीवति ।
धनुर्निशि दिवा चोल्का व्यभ्रे विद्युत्प्रदर्शनम् ॥ २७८ ॥
दिग्दाहोऽप्लुष्टदेशेऽपि मासमेकं स जीवति ।

धनुरैन्द्रम्, अप्लुष्टदेशेऽन्यजनापरिदृश्यदिग्दाहेऽपि यस्य दिग्दाहो भाति, स मासं जीवति, धनुर्निशि, दिवा चोल्कादर्शनम् ॥

चक्षुषी स्रवतो यस्य शब्दं न शृणुयात् स्फुटम् ॥ २७९ ॥
नाघ्राति गन्धं.........

आघ्रातीति ऐशः पाठः ॥

यस्य च—

.....वाग्जाड्यं......

अकस्मादिति सर्वत्र सम्बध्यते ॥

तस्य—

................मासमेकं गतायुषः ।

जीवितमिति सम्बन्धः ॥

जिसका हृदय स्नान करने के बाद तत्क्षण सूखने और शरीर ठंडा होने लगता है वह एक ऋतु (= दो मास) तक जीवित रहता है । जिसको रात में इन्द्रधनुष, दिन में उल्कापात, बादलरहित (आकाश में बिजली, बिना आग लगे स्थान में) दिग्दाह दिखायी पड़े वह अधिक से अधिक एक महीना जीवित रहता है ॥ -२७७-२७९- ॥

धनुष = इन्द्रधनुष । अप्लुष्ट देश = जहाँ दूसरे लोग अग्निदाह न देखते हों वहाँ, जिसको दिग्दाह दिखलायी पड़े वह एक मास तक ही जीवित रहता है । धनुष् रात में और उल्का दिन में दिखलायी देता है ॥

जिसकी आँखों से यदि अकस्मात् ही आँसू गिरने लगे, जो शब्द को न सुन सके; जो गन्ध को न सूँघ सके (वह एक मास तक ही जीवित रहता है) ॥ -२७९-२८०- ॥

'आघ्राति' यह पाठ ऐश्वर है (लौकिक संस्कृत में 'जिघ्रति' होगा) ॥

और जिस व्यक्ति की—

जिसकी वाणी अकस्मात् बन्द हो जाय उस गतायु पुरुष का जीवन एक मास शेष रहता है ॥ -२८०- ॥

अकस्मादेव च—

रक्तपद्मोपमं वक्त्रं जिह्वा कृष्णा च यस्य वै ॥ २८० ॥
गात्रे वर्णान्यनेकानि हृदयं यस्य (च) रोदिति ।
तालुकम्पोऽथ नाभेश्च अर्धमासं स जीवति ॥ २८१ ॥

रोदिति निर्निमित्तं पुनः पुनः स्विद्यति, रोदनमनुभवतीत्यन्ये ॥ २८१ ॥

यश्च—

प्रत्यक्षकाकनासीरो दीपधूमं न जिघ्रति ।
पूर्वदृष्टं न जानाति चतुर्मासं स जीवति ॥ २८२ ॥

असंनिहिता अपि काका नासीराः कङ्काश्च येन प्रत्यक्षाः पुरो दृश्यन्ते ॥ २८२॥

बिन्दुं यस्तु न पश्येत्तु नित्यं वक्त्रानुगं हितम् ।
नित्यं वहति हिक्कां तु वर्षमेकं स जीवति ॥ २८३ ॥

षडङ्गकरणं कृत्वापि यो बिन्दुं न पश्यति, वक्त्रानुगं भ्रूमध्यस्थम्, हिक्कां हिध्माम् ॥ २८३ ॥

जिनका मुख अकस्मात् लाल कमल जैसा, जिह्वा काली, शरीर में अनेक रंग उत्पन्न हो जाँय; जिसका हृदय रोदन करता हो, जिसके तालु और नाभि में कम्प हो वह मात्र १५ दिन जीता है ॥ -२८०-२८१ ॥

रोता है = बिना कारण के बार-बार द्रवित होता है । कुछ लोग 'रोदिति' की 'रोदन का अनुभव करता है—ऐसी व्याख्या करते हैं ॥ २८१ ॥

जिसको—

दिन में कौवा और नासीर (= सेनानायक) तथा कङ्क (= बगला, यम) प्रत्यक्ष दिखलायी पड़ें, दीप के बुझने के बाद उसके धूम की गन्ध जिसे न अनुभूत हों; पूर्वदृष्ट को जो न पहचान सके, वह मात्र चार महीने तक ही जीवित रहता है ॥ २८२ ॥

कौआ नासीर और कङ्क वस्तुतः सामने न होते हुए भी जिसको प्रत्यक्ष दिखायी पड़ें (वह चार मास तक जीवित रहता है) ॥ २८२ ॥

जो बिन्दु को नहीं देख पाता (= भ्रूमध्य में स्थित हितकारी बिन्दु को नहीं देखता), जिसको नित्य हिचकी आती है वह एक वर्ष तक जीवित रहता है ॥ २८३ ॥

जो षडङ्गकरण करके भी बिन्दु को नहीं देखता; वक्त्रानुग = भ्रूमध्य में स्थित । हिक्का = हिचकी ॥ २८३ ॥

उपसंहरति—

बहिर्लिङ्गानि चैतानि अङ्गारिष्टानि यानि च।

उक्तानीति शेषः ॥

अथैतानि—

पूजया जपहोमेन ध्यानधारणया प्रिये ॥ २८४ ॥
कृतरक्षाविधानेन जीयन्ते नात्र संशयः ।

पूजादिधारणान्तं भगवद्विषयम्, रक्षाविधानं वक्ष्यमाणम् ॥ २८४ ॥

तदित्थं रिष्टप्रशमनं कृत्वा प्रकृतो योगाभ्यास एव कार्यः, स च नाडिशुद्धिपूर्वकप्राणजयादेवेति तत्प्रकाशनाशयेन श्रीदेव्युवाच—

नाडीनां शोधनं चैव वायूनां च जयः कथम् ॥ २८५ ॥

तेषां प्राग्विभक्तानां वायूनाम्—

स्थानं रूपं च शब्दं च कर्म ब्रूहि मम प्रभो ।

एतत्प्रश्नषट्कं निर्णिनीषुः श्रीभैरव उवाच—

परमो योगसद्भावो गुह्याद् गुह्यतरः प्रिये ॥ २८६ ॥

उपसंहार करते हैं—

मरणासन्न व्यक्ति के ये बाह्य चिह्न हैं और जो अङ्गों के अरिष्ट (= अशुभ सूचक चिह्न) कहे गये हैं ॥ २८४- ॥

इसके बाद ये—

हे प्रिये ! ये सब (रिष्ट) पूजा, जप, होम, ध्यान, धारणा एवं रक्षा विधान करने से जीत लिये जाते हैं—इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ -२८४-२८५- ॥

पूजा से लेकर धारणा तक का कार्य भगवद्विषयक है । रक्षाविधान का वर्णन आगे किया जायेगा ॥ २८४ ॥

तो इस प्रकार रिष्ट की शान्ति कर प्रस्तुत योगाभ्यास ही करना चाहिये । वह योगाभ्यास नाडीशुद्धिपूर्वक प्राणजय से होता है इसलिये उस (= नाडीशोधन आदि) को प्रकाशित करने के आशय से श्रीदेवी ने कहा—

नाड़ियों का शोधन और प्राण वायु का जय कैसे होता है ॥ -२८५ ॥

पूर्व विभक्त उन वायुओं का—

स्थान रूप शब्द और कर्म हे प्रभो ! मुझको बतलाइये ॥ २८६- ॥

उपर्युक्त छह प्रश्नों का निर्णय करने की इच्छा वाले श्रीभैरव ने कहा—

यो न कस्यचिदाख्यातस्तं योगं शृणु तत्त्वतः।

यत्त्वया प्रश्नितम्, तद्योगरहस्यं तद्विना योगाभ्यासायोगात् ॥

तत्र तावत्—

सुप्रशस्ते भूप्रदेशे नाग्नितोयसमीपतः ॥ २८७ ॥
वालुकाशर्कराहीने शुष्कवृक्षविवर्जिते ।
निःशब्दकीटवल्मीके ईतिभिः परिवर्जिते ॥ २८८ ॥
पुण्ये धर्मिष्ठसंवासे तत्र योगं समभ्यसेत् ।

ईतयः अतिवृष्ट्यादयः । पुण्ये सत्तीर्थादियुक्ते । धर्मिष्ठसंवासे पुण्याश्रये ॥

तदासौ—

देवदेवं समभ्यर्च्य भैरवं सविनायकम् ॥ २८९ ॥
पूर्वाचार्यान्नमस्कृत्य युक्तो ध्यानपरायणः ।

विघ्नप्रशमनाय गणपतिपूजापूर्वमाज्ञाग्रहणाय गुरून् पूजयित्वा, भैरवमभ्यर्च्य

हे प्रिये ! परमयोगसद्भाव गुह्य से भी गुह्यतर है । जिसे मैंने किसी को भी नहीं बतलाया । उस योग को अब मुझसे तात्त्विक रूप से सुनो ॥ -२८६-२८७- ॥

जो प्रश्न तुमने किया वह योग का रहस्य है । क्योंकि उसके बिना योग का अभ्यास नहीं हो सकता ॥

जो भूप्रदेश अग्नि और जल के समीप न हो, सुप्रशस्त हो, बालू और शर्करा (= पत्थर के कण) से रहित, शुष्कवृक्ष से शून्य, शब्द कीड़ों-मकोड़ों बिल से शून्य और ईतियों से वर्जित, पवित्र, धर्मात्मा लोगों से युक्त हो उसमें योग का अभ्यास करना चाहिये ॥ -२८७-२८९- ॥

ईतियाँ = अतिवृष्टि आदि[1] । पवित्र = सत्तीर्थ आदि से युक्त । धर्मिष्ठ- संवास वाले = जहाँ पवित्र लोग रहते हों ॥

तब यह योगी—

गणेश के सहित देवाधिदेव भैरव की पूजा कर (आगमशास्त्र के) पूर्व आचार्यों (= गुरुओं) को नमस्कार कर ध्यानपरायण और युक्त हो जाय ॥ -२८९-२९०- ॥

(योगी) विघ्नों के प्रशमन के लिये पहले गणपति की और बाद में आज्ञा लेने

---

१. अति वृष्टिरनावृष्टिर्मूषका शलभाः शुकाः ।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥

ध्यानपरायणो युक्तः स्यादिति सम्बन्धः ॥

कथमित्याह—

आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा पद्मकं भद्रमेव वा ॥ २९० ॥
सापाश्रयं सार्धचन्द्रं योगपट्टं यथासुखम् ।
दहनोत्पूयने कृत्वा प्लावयेदमृतेन च ॥ २९१ ॥
सबाह्याभ्यन्तरेणैव सकलीकरणं ततः ।
अन्तर्यागं यथापूर्वमुच्चार्यं च परं तथा ॥ २९२ ॥
दशधा योगमार्गेण हंसस्वच्छन्दमभ्यसेत् ।

पद्मकमूरुन्यस्तोत्तानपादतलं पद्मासनाख्यम्, पर्यङ्कस्थस्य जंघाव्यत्यासात् स्वस्तिकम्, समपादस्थित्या भद्रम्, भित्त्याश्रयात् सापाश्रयमेतच्चार्धचन्द्रविशेषणम् भूमिष्ठैकचरणोरुपृष्ठन्यस्तोत्तानद्वितीयचरणमर्धचन्द्रम्, योगार्थं पट्टपरिकरबन्धाय बद्ध्वा एतदन्यतममासनम्, अन्यदपि वा यद्यत्सुखं शरीरपरिक्लेशकृन्न भवति । यथोक्तम्—

के लिये गुरुओं की पूजा कर तत्पश्चात् भैरव की पूजा करने के बाद ध्यानपरायण और युक्त हो—ऐसा अन्वय है ॥

कैसे ?—यह कहते हैं—

(योगी) पहले स्वस्तिकासन, पद्मासन, भद्रासन, अपाश्रय के सहित अर्धचन्द्र, योग के लिये (कटि प्रदेश में) पट्ट (= पट्टा बेल्ट) बाँधना, अथवा सुखपूर्वक (योगसाधना के लिये किसी भी आसन पर बैठ कर) दहन और उत्पूयन करे । तत्पश्चात् अपने को बाहर और भीतर अमृत से आप्लावित करे । इसके बाद सकलीकरण कर पूर्ववर्णन के अनुसार अन्तर्याग एवं पर का उच्चारण कर योगमार्ग से दश प्रकार के वायु को वश में करने के पश्चात् स्वच्छन्द हंस का अभ्यास करे ॥ -२९०-२९३-॥

पद्मक = दोनों जाँघों के ऊपर पैर के तलवे को उत्तान कर दोनो पैरों को रखना । स्वस्तिक — पर्यंक (पालथी) में बैठकर जंघों (= टखनों) को व्यत्यास = (एक के ऊपर दूसरे को रखना) । भद्रासन = दोनों पैरों को घुटनों से मोड़ कर आमने-सामने सटाकर रखना । भित्ति (= दीवाल) का आश्रय लेना सापाश्रय है । यह अर्धचन्द्र का विशेषण है । अर्धचन्द्र = (दीवाल के सहारे खड़ा होकर) एक पैर को भूमि पर और दूसरे पैर को उतान कर (घुटने से मोड़कर) पहले पैर की जाँघ के ऊपर रखना । (योग पट्ट का अर्थ है—) योग के लिये पट्ट । यह कटि में बाँधने के लिये होता है । पट्ट बाँधकर बैठना, यह भी एक आसन है । इनके अतिरिक्त जो-जो शरीर के लिये कष्टप्रद न हो (वह सब आसन होता है)॥

जैसा कि कहा गया—

'स्थिरसुखमासनम्' (पात० २।४६) इति ।

ततः पूर्वोक्तं दहनाद्युच्चारान्तं कृत्वा, दशधा योगमार्गेणेति बाह्याभ्यन्तर-रेचनादिषट्कप्रशान्तकुम्भक-प्रत्याहार-धारणा-ध्यानात्मना भाविना, अथ च भावि-प्राणादिवायुदशकजयपूर्वं पूर्वोक्तं हंसस्वच्छन्दं परं निष्कलभट्टारकमभ्यसेदनुप्रविशेत् ॥

तदनुप्रवेशं पूर्वोक्तोपायानुसारेण स्फुटयति—

मन्त्रं बिन्दुमतीतं तु नादान्तज्योतिराकृतिम् ॥ २९३ ॥
सङ्कल्प्य कल्पनालक्ष्यं ध्यायेद् वै तेन सर्वगम् ।

(मन्त्रं) चतुष्कलनाथमकारादिकलोच्चारपूर्वं बिन्दुमतीतमिति तदुल्लङ्घनाद् अर्धचन्द्रनिरोधिकापदमुद्घाट्य, नादनादान्तक्रमेण ज्योतिराकृतिमिति शक्त्यादि-प्रकाशरूपम्, सङ्कल्प्य विकल्पपूर्वमविकल्पेनासाद्य, कल्पनाभिरलक्ष्यं स्वप्रकाश-चिदानन्दघनम्, सर्वगं हंसस्वच्छन्दं ध्यायेदिति समनान्तं विलाप्य अकृतकविमर्शो-दयेन समाविशेत् ॥ २९३ ॥

'जिस प्रकार से बैठने पर स्थिरता हो (और क्लेश न हो) प्रत्युत सुख (का अनुभव) हो वह आसन है' (पा.यो.सू. २।४६) ।

इसके बाद पूर्वोक्त दहन से लेकर उच्चार पर्यन्त कार्य को करने के बाद दश प्रकार के योगमार्ग से—आगे बतलाये जाने वाले बाह्य आभ्यन्तर रेचन आदि छः (श्लोक सं० ७।२९५-२९७ तक वर्णित रेचन पूरण रोधन आदि) के द्वारा कुम्भक के निष्कम्प हो जाने से प्रत्याहार धारणा ध्यान रूप (योग मार्ग से) । आगे वर्णनीय प्राण आदि दश वायुओं को वश में करने के बाद पूर्वोक्त हंस स्वच्छन्द = पर निष्कलभट्टारक का, अभ्यास करे = उसमें अनुप्रविष्ट हो जाय ॥

उस अनुप्रवेश को पूर्वोक्त उपाय के अनुसार स्पष्ट करते हैं—

मन्त्र, बिन्दु, उससे परे (= अर्धचन्द्र, रोधिनी) (नाद-) नादान्त ज्योति आकृति की सम्यक् कल्पना कर, कल्पना से अलक्ष्य सर्वगामी तत्त्व का ध्यान करे ॥ -२९३-२९४- ॥

(मन्त्र =) चतुष्कलनाथ जो कि अकार आदि (= अ उ म्) कला के उच्चारण के बाद होता है । बिन्दु और अतीत = उस (= बिन्दु) को पार कर अर्धचन्द्र और रोधिनी पद का भेदन कर, नाद नादान्त के क्रम से, ज्योति आकृति = शक्ति आदि (= व्यापिनी समना) प्रकाशरूप का सङ्कल्प कर = विकल्पपूर्वक निर्विकल्प के द्वारा प्राप्त कर, (कल्पनाऽलक्ष्य =) कल्पनाओं के द्वारा अलक्ष्य स्वप्रकाश चिदानन्दघन, सर्वगामी हंस स्वच्छन्द का ध्यान करे = समना पर्यन्त का विलयन कर अकृतक (= स्वाभाविक) विमर्श के उदय के द्वारा हंस स्वच्छन्द का समावेश करे ॥ २९३ ॥

ध्यानपरायणो युक्तः स्यादिति सम्बन्धः ॥

कथमित्याह—

आसनं स्वस्तिकं बद्ध्वा पद्मकं भद्रमेव वा ॥ २९० ॥
सापाश्रयं सार्धचन्द्रं योगपट्टं यथासुखम् ।
दहनोत्पूयने कृत्वा प्लावयेदमृतेन च ॥ २९१ ॥
सबाह्याभ्यन्तरेणैव सकलीकरणं ततः ।
अन्तर्यागं यथापूर्वमुच्चार्यं च परं तथा ॥ २९२ ॥
दशधा योगमार्गेण हंसस्वच्छन्दमभ्यसेत् ।

पद्मकमूरुन्यस्तोत्तानपादतलं पद्मासनाख्यम्, पर्यङ्कस्थस्य जंघाव्यत्यासात् स्वस्तिकम्, समपादस्थित्या भद्रम्, भित्त्याश्रयात् सापाश्रयमेतच्चार्धचन्द्रविशेषणम् भूमिष्ठैकचरणोरुपृष्ठन्यस्तोत्तानद्वितीयचरणमर्धचन्द्रम्, योगार्थं पट्टपरिकरबन्धाय बद्ध्वा एतदन्यतममासनम्, अन्यदपि वा यद्यत्सुखं शरीरपरिक्लेशकृन्न भवति । यथोक्तम्—

के लिये गुरुओं की पूजा कर तत्पश्चात् भैरव की पूजा करने के बाद ध्यानपरायण और युक्त हो—ऐसा अन्वय है ॥

कैसे ?—यह कहते हैं—

(योगी) पहले स्वस्तिकासन, पद्मासन, भद्रासन, अपाश्रय के सहित अर्धचन्द्र, योग के लिये (कटि प्रदेश में) पट्ट (= पट्टा बेल्ट) बाँधना, अथवा सुखपूर्वक (योगसाधना के लिये किसी भी आसन पर बैठ कर) दहन और उत्पूयन करे । तत्पश्चात् अपने को बाहर और भीतर अमृत से आप्लावित करे । इसके बाद सकलीकरण कर पूर्ववर्णन के अनुसार अन्तर्याग एवं पर का उच्चारण कर योगमार्ग से दश प्रकार के वायु को वश में करने के पश्चात् स्वच्छन्द हंस का अभ्यास करे ॥ -२९०-२९३-॥

पद्मक = दोनों जाँघों के ऊपर पैर के तलवे को उत्तान कर दोनो पैरों को रखना । स्वस्तिक — पर्यंक (पालथी) में बैठकर जंघों (= टखनों) को व्यत्यास = (एक के ऊपर दूसरे को रखना) । भद्रासन = दोनों पैरों को घुटनों से मोड़ कर आमने-सामने सटाकर रखना । भित्ति (= दीवाल) का आश्रय लेना सापाश्रय है । यह अर्धचन्द्र का विशेषण है । अर्धचन्द्र = (दीवाल के सहारे खड़ा होकर) एक पैर को भूमि पर और दूसरे पैर को उतान कर (घुटने से मोड़कर) पहले पैर की जाँघ के ऊपर रखना । (योग पट्ट का अर्थ है—) योग के लिये पट्ट । यह कटि में बाँधने के लिये होता है । पट्ट बाँधकर बैठना, यह भी एक आसन है । इनके अतिरिक्त जो-जो शरीर के लिये कष्टप्रद न हो (वह सर्व आसन होता है)॥

जैसा कि कहा गया—

'स्थिरसुखमासनम्' (पात० २।४६) इति ।

ततः पूर्वोक्तं दहनाद्युच्चारान्तं कृत्वा, दशधा योगमार्गेणेति बाह्याभ्यन्तर-रेचनादिषट्कप्रशान्तकुम्भक-प्रत्याहार-धारणा-ध्यानात्मना भाविना, अथ च भावि-प्राणादिवायुदशकजयपूर्वं पूर्वोक्तं हंसस्वच्छन्दं परं निष्कलभट्टारकमभ्यसेदनु-प्रविशेत् ॥

तदनुप्रवेशं पूर्वोक्तोपायानुसारेण स्फुटयति—

मन्त्रं बिन्दुमतीतं तु नादान्तज्योतिराकृतिम् ॥ २९३ ॥
सङ्कल्प्य कल्पनालक्ष्यं ध्यायेद् वै तेन सर्वगम् ।

(मन्त्रं) चतुष्कलनाथमकारादिकलोच्चारपूर्वं बिन्दुमतीतमिति तदुल्लङ्घनाद् अर्धचन्द्रनिरोधिकापदमुद्घाट्य, नादनादान्तक्रमेण ज्योतिराकृतिमिति शक्त्यादि-प्रकाशरूपम्, सङ्कल्प्य विकल्पपूर्वमविकल्पेनासाद्य, कल्पनाभिरलक्ष्यं स्वप्रकाश-चिदानन्दघनम्, सर्वगं हंसस्वच्छन्दं ध्यायेदिति समनान्तं विलाप्य अकृतकविमर्शो-दयेन समाविशेत् ॥ २९३ ॥

'जिस प्रकार से बैठने पर स्थिरता हो (और क्लेश न हो) प्रत्युत सुख (का अनुभव) हो वह आसन है' (पा.यो.सू. २।४६) ।

इसके बाद पूर्वोक्त दहन से लेकर उच्चार पर्यन्त कार्य को करने के बाद दश प्रकार के योगमार्ग से—आगे बतलाये जाने वाले बाह्य आभ्यन्तर रेचन आदि छः (श्लोक सं० ७।२९५-२९७ तक वर्णित रेचन पूरण रोधन आदि) के द्वारा कुम्भक के निष्कम्प हो जाने से प्रत्याहार धारणा ध्यान रूप (योग मार्ग से) । आगे वर्णनीय प्राण आदि दश वायुओं को वश में करने के बाद पूर्वोक्त हंस स्वच्छन्द = पर निष्कलभट्टारक का, अभ्यास करे = उसमें अनुप्रविष्ट हो जाय ॥

उस अनुप्रवेश को पूर्वोक्त उपाय के अनुसार स्पष्ट करते हैं—

मन्त्र, बिन्दु, उससे परे (= अर्धचन्द्र, रोधिनी) (नाद-) नादान्त ज्योति आकृति की सम्यक् कल्पना कर, कल्पना से अलक्ष्य सर्वगामी तत्त्व का ध्यान करे ॥ -२९३-२९४- ॥

(मन्त्र =) चतुष्कलनाथ जो कि अकार आदि (= अ उ म्) कला के उच्चारण के बाद होता है । बिन्दु और अतीत = उस (= बिन्दु) को पार कर अर्धचन्द्र और रोधिनी पद का भेदन कर, नाद नादान्त के क्रम से, ज्योति आकृति = शक्ति आदि (= व्यापिनी समना) प्रकाशरूप का सङ्कल्प कर = विकल्पपूर्वक निर्विकल्प के द्वारा प्राप्त कर, (कल्पनाऽलक्ष्य =) कल्पनाओं के द्वारा अलक्ष्य स्वप्रकाश चिदानन्दघन, सर्वगामी हंस स्वच्छन्द का ध्यान करे = समना पर्यन्त का विलयन कर अकृतक (= स्वाभाविक) विमर्श के उदय के द्वारा हंस स्वच्छन्द का समावेश करे ॥ २९३ ॥

तदेतद् नाडिशुद्धिप्राणजयपूर्वकं सुघटं स्यात्, इत्याशयेन नाडिजयं तावदाह—

अपसव्येन पूर्येत सव्येनैव विरेचयेत् ॥ २९४ ॥
नाडीसंशोधनं चैतन्मोक्षमार्गपथस्य च ।

सव्येन दक्षनासापथेन, रेचयेत् रेचकं कुर्यात् अपसव्येन वामेन, पूर्येत वायुपूरणं कुर्यादित्यर्थः । एवमनवरतं क्रियमाणमेतन्नाडीनां मोक्षमार्गपथस्य वा मध्यधाम्नः शोधनं मारुतप्रशमनं भवति ॥

प्राणजयं व्यक्तुमुपक्रमते—

रेचनात् पूरणाद्रोधात् प्राणायामस्त्रिधा स्मृतः ॥ २९५ ॥

प्राणस्यायमनं यथास्थितवाहविजयेन स्वायत्ततानयनम् ॥ २९५ ॥

त्रय एते प्राणायामाः सर्वसाधारणेन नासिकापथक्रमेण निर्वर्त्यमानाः साधारणा बाह्याश्चेत्याह—

सामान्या बहिरेते तु............

यह (= स्वच्छन्दसमावेश) नाडीशुद्धि प्राणजय के बाद सुगम हो जाता है—इस आशय से नाडीजय को बतलाते हैं—

(प्राण को) अपसव्य (= बायें नासारन्ध्र) से (अपने अन्दर) पूरित करना और सव्य (= दायें नासामार्ग) से उसका रेचन करे । मोक्ष मार्ग के पथ में स्थित (साधक) के लिये यह नाड़ी संशोधन है ॥-२९४-२९५-॥

सव्य = दायें नासापथ से । रेचयेत् = रेचन करे (= बाहर निकाले) । अपसव्य बायें (मार्ग) से, पूरित करे = अपने अन्दर वायु को भरे । इस प्रकार निरन्तर करने पर यह नाड़ियों का अथवा मोक्ष मार्ग के पथ = सुषुम्ना का, शोधन = वायु का प्रशमन होता है ॥

(अब) प्राणजय को अभिव्यक्त करने का उपक्रम करते हैं—

(प्राण वायु के) रेचन (= बाहर निकालना) पूरण (शरीर के अन्दर भरना) और रोध (= भरी गयी वायु को अन्दर ही रोके रखना) इस प्रकार प्राणायाम तीन प्रकार का कहा गया है ॥ -२९५ ॥

(प्राणायाम शब्द का अर्थ है—) प्राण का आयमन = प्राण के सामान्य प्रवाह पर विजय के द्वारा उसको अपने अधीन लाना ॥ २९५ ॥

ये (= उपर्युक्त) तीनों प्राणायाम, जिनकी प्रक्रिया नासिकापथ से सर्वसाधारण के द्वारा चलायी जाती है, साधारण और बाह्य (भेद से दो प्रकार का) है—यह कहते हैं—

एतदभ्यासपूर्वमन्तःप्रयुज्यमानैः—

..............पुनश्चाभ्यन्तरे त्रयः ।

तानाह—

आभ्यन्तरेण रेच्येत पूर्येताभ्यन्तरेण तु ॥ २९६ ॥
निष्कम्पं कुम्भकं कृत्वा कार्याश्चाभ्यन्तरास्त्रयः ।

आभ्यन्तरेण मध्यपथेनात्र रेचनं द्वादशान्ते, पूरणं हृदि, निष्कम्पं कुम्भकमिति निरायासं प्रशान्तकुम्भकमित्यर्थः । कार्या इति निर्वर्तनीया भवन्ति ॥ २९६ ॥

अथ—

नाभ्यां हृदयसञ्चारान्मनश्चेन्द्रियगोचरात् ॥ २९७ ॥
प्राणायामश्चतुर्थस्तु सुप्रशान्त इति श्रुतः ।

निष्कम्पकुम्भकानन्तरं हृदयसञ्चाराद् इति शनैः शनैर्हृदयादधः सञ्चारयुक्त्या प्राणं नाभ्यामेव नियम्येत्यर्थात्, तथा मन इन्द्रियगोचरादिति तत्रत्याहारयुक्त्या नाभ्यामेव नियम्य, मनोनियमपूर्वकं प्राणं नाभौ नियच्छतः सुप्रशान्तः प्राणायामो

ये (प्राणायाम) सामान्य और बाह्य हैं ॥ २९६- ॥

इनका अभ्यास करने के बाद शरीर के अन्दर प्रयुज्यमान—

(प्राणायामों) के द्वारा आभ्यन्तर में भी तीन (प्राणायाम होते हैं) ॥-२९६-॥

उनको बतलाते हैं—

भीतर से ही रेचन भीतर से ही पूरण और (भीतर ही) निष्कम्प कुम्भक करके तीन आभ्यन्तर प्राणायाम करने चाहिये ॥ -२९६-२९७- ॥

यहाँ (= आभ्यन्तर प्राणायाम में) आभ्यन्तर = मध्यपथ (= सुषुम्ना) से द्वादशान्त (= शिर से बारह अंगुल ऊपर) में रेचन होता है । पूरण हृदय में होता है और कुम्भक (उसी अवस्था में) निष्कम्प अर्थात् विना प्रयास के प्रशान्त कुम्भक होता है । कार्य होते हैं = निर्वर्त्तनीय होते हैं ॥ २९६ ॥

इसके बाद—

प्राण को हृदय से सञ्चारित करते हुए नाभि (इसे अधो द्वादशान्त भी कहते हैं) तक तथा मन को इन्द्रियों के विषयों से (हटाकर नाभि में ले आना और स्थिर करना) चतुर्थ प्राणायाम है । इसे सुप्रशान्त कहा गया है ॥ -२९७-२९८- ॥

निष्कम्प कुम्भक के बाद, हृदय सञ्चार से = धीरे-धीरे हृदय से नीचे सञ्चरण की युक्ति से प्राण को नाभि में ही नियन्त्रित करे । उसी प्रकार मन को इन्द्रियगोचर

भवति ॥ २९७ ॥

तदित्थम्—

प्राणरोधे तु सम्पूर्णे नाभौ नीत्वा समुच्छ्वसन् ॥ २९८ ॥

अनन्तरम्—

शनैर्विमोचयेद्वायुं वामनासापुटेन तु ।

निरुद्धवायुप्रकोपापहाराय ॥

एवं चारजयान्तं प्राणायामप्रत्याहारावभिधाय, धारणां निरूपयति—

वायवी धारणाङ्गुष्ठे आग्नेयी नाभिमध्यतः ॥ २९९ ॥
माहेयी कण्ठदेशे तु वारुणी घण्टिकाश्रया ।
आकाशधारणा मूर्ध्नि सर्वसिद्धिकरी स्मृता ॥ ३०० ॥

पाददेशे तिर्यग्गतेः, नाभौ जाठराग्नेः, कण्ठे स्थितिपदे धरण्याः, घण्टिकायां रसस्य, ब्रह्मरन्ध्रे च व्योम्नः सद्भावात्तथैव धारणा उक्ताः । अत्र चोद्घाते दीक्षा-

---

(= इन्द्रियों के विषय) से, उस (= मन) के प्रत्याहार की युक्ति से उसको नाभि में ही नियन्त्रित करे । (इस प्रकार) मन को नियन्त्रित करते हुए प्राण को नाभि में नियन्त्रित करना सुप्रशान्त नामक प्राणायाम होता है ॥ २९७ ॥

तो इस प्रकार—

(जब) प्राण का सम्पूर्ण रोध हो जाता है तब उस निरुद्ध प्राण को नाभि में ले जाकर उच्छ्वास लेते हुए ॥ -२९८ ॥

बाद में—

वाम नासापुट से धीरे-धीरे वायु को मुक्त करना चाहिये (= बाहर निकाल देना चाहिये) ॥ २९९- ॥

यह क्रिया अन्दर निरुद्ध वायु के प्रकोप को दूर करने के लिये की जाती है ॥

इस प्रकार (प्राण--) चार के जय पर्यन्त प्राणायाम और प्रत्याहार का कथन कर धारणा का निरूपण करते हैं—

(पैर के) अंगूठे में वायवीय धारणा, नाभि के बीच आग्नेयी, कण्ठ देश में पार्थिवी, घण्टिका (= घण्टी) में वारुणी और शिर में आकाशीय धारणा सर्वसिद्धिकरी मानी गयी है ॥ -२९९-३०० ॥

पाददेश में तिर्यक् गति होने के कारण, नाभि में जाठराग्नि के होने से, कण्ठ में धरणी के स्थितिस्थान होने से, घण्टिका में रस को तथा ब्रह्मरन्ध्र में व्योम के होने से उसी प्रकार धारणायें कही गयी है । यहाँ उद्घात (= प्रथम पटल श्लोक

प्रस्तावनिर्णीतं वर्णमण्डललाञ्छनाक्षरात्मकत्वं धारणाध्येयम् । तत्र प्रथमं कण्ठे पार्थिवीं धारणां बद्ध्वा हृदयादुद्घातपञ्चकेन पञ्चगुणं पार्थिवं तत्त्वं भिन्द्यात्, ततोऽनेनैव क्रमेण हृदयादेव चतुर्भिरुद्घातैश्चतुर्गुणमप्तत्त्वम्, ततो हृदयादेव नाभिक्षेत्रे त्रिभिरुद्घातैस्त्रिगुणमग्निम्, अनन्तरं हृदयादेव द्वाभ्यां पादाङ्गुष्ठगतं द्विगुणं वायुम्, ततोऽप्यङ्गुष्ठात् सङ्कोचयुक्त्या प्राणशक्तिमूर्ध्वमुद्बोध्य हृदयादेवैको-द्घातयुक्त्या शरवद् ब्रह्मरन्ध्रस्थमेकगुणं व्योमग्रन्थिं भित्त्वा, द्वादशान्तस्थस्य सर्वाः सिद्धयो भवन्तीति वाक्यार्थः ॥ ३०० ॥

तदेतदाह—

एकद्वित्रिचतुष्पञ्चसंख्योद्घातैः प्रसिद्ध्यति ।

उद्घातं लक्षयति—

संनिरुद्धे तु वै प्राणे मूर्ध्नि गत्वा निवर्तते ॥ ३०१ ॥
स उद्घात इति प्रोक्तो ज्ञातव्यो योगिभिः सदा ।

मूर्ध्नि इत्युपलक्षणपरं कण्ठादिक्षेत्राणाम् । ज्ञातव्य इति तत्तत्स्थानानुसार्य-

---

सं० १०, ४५-४९) में दीक्षाप्रस्ताव में जिसका निर्णय किया गया वह वर्णमण्डल-लाञ्छन वाला अक्षर ही धारणा का ध्येय है । उनमें सबसे पहले कण्ठ में पृथिवी की धारणा का बन्धन कर पाँच उद्घात के द्वारा हृदय से पाँच गुण वाले पृथिवीतत्त्व का भेदन करना चाहिये । इसके बाद इसी क्रम से हृदय से ही चार के उद्घात के द्वारा चतुर्गुण जलतत्त्व का (घण्टिका में) भेदन करे । इसके बाद हृदय से ही नाभिक्षेत्र में तीन के उद्घात के द्वारा तीन गुणों वाले अग्नि तत्त्व का, बाद में हृदय से ही दो उद्घातों के द्वारा पैर के अंगूठे में रहने वाले द्विगुण वायु तत्त्व का, इसके भी बाद सङ्कोचयुक्ति के द्वारा प्राणशक्ति को ऊपर की ओर प्रेरित कर हृदय से ही एक उद्घातयुक्ति के द्वारा वाण के समान ब्रह्मरन्ध्र में स्थित एक गुण वाले व्योमग्रन्थि = आकाशतत्त्व का भेद करने के बाद द्वादशान्त में स्थित योगी को समस्त सिद्धियाँ प्राप्त हो जाती हैं ॥ ३०० ॥

इसी को कहते हैं—

(इस प्रकार योगी) एक दो तीन चार पाँच उद्घातों के द्वारा सिद्ध बन जाता है ॥ ३०१- ॥

उद्घात को बतलाते हैं—

प्राण के सम्यक् निरुद्ध होने पर जब वह ब्रह्मरन्ध्र में जाकर लौट आता है तो वह उद्घात कहा गया है । योगियों को सदा इसका ज्ञान करना चाहिये ॥ -३०१-३०२- ॥

(श्लोकोक्त) 'मूर्ध्नि' पद कण्ठ आदि क्षेत्रों का भी उपलक्षक है । 'ज्ञान करना

नुभवात्मकोऽयमित्यर्थः । अत एव पूर्वमनुभवप्रधान एवासावुक्तः ॥ ३०१ ॥

अथ प्राणायामादीनां फलमादिशति—

रागद्वेषौ प्रहीयेते प्राणायामैः सुधारितैः ॥ ३०२ ॥
धारणाभिर्दहेत् पापं प्रत्याहारेऽक्षसंयमः ।

'पापं दहेत्' इत्यावारकपृथिव्यादिग्रन्थिभेदात् शुभाशुभकर्मबन्धविच्छेदात् ॥

अथ यत्प्राणादिविषयं प्रश्नितम्—'स्थानं रूपं च शब्दं च कर्म ब्रूहि (७।२८६) इति, तत्क्रमेण निर्णेतुमाह—

हृदगुदे नाभिकण्ठे च सर्वसन्धौ तथैव च ॥ ३०३ ॥
प्राणाद्याः संस्थिता ह्येते..........

व्यानान्ताः पञ्चेत्यर्थात् ॥

एषां च—

..........रूपं शब्दं च मे शृणु ।

चाहिये'—इसका तात्पर्य है कि यह तत्तत् स्थानों के अनुसार एक अनुभव है । इसीलिये पहले इसे अनुभवप्रधान ही कहा गया ॥ ३०१ ॥

अब प्राणायाम आदि का फल बतलाते हैं—

भली-भाँति धारण किये गये अर्थात् अभ्यास किये गये प्राणायामों के द्वारा राग-द्वेष नष्ट हो जाते हैं । (योगी) धारणाओं के द्वारा पाप को जला देता है और प्रत्याहार होने पर इन्द्रियों पर नियन्त्रण हो जाता है ॥ -३०२-३०३- ॥

'पाप को जला देता है' क्योंकि आवारक पृथिवी आदि ग्रन्थियों का भेद हो जाने से शुभ अशुभ कर्मबन्ध का विच्छेद हो गया होता है ॥

सातवें पटल के श्लो.सं. २८६ में जो 'स्थान रूप शब्द और कर्म को बतलाइये' ऐसा कहकर प्राण आदि से सम्बद्ध प्रश्न (पार्वती के द्वारा) किया गया उसको क्रम से बतलाने के लिये कहते हैं—

ये प्राण आदि (= अपान, समान, उदान और व्यान) हृदय, गुदा, नाभि, कण्ठ और समस्त सन्धियों में स्थित रहते हैं ॥ -३०३-३०४- ॥

प्राण से लेकर व्यान पर्यन्त पाँच वायु तत्तत् स्थानों में रहते हैं ।

और इनके—

रूप और शब्द को मुझसे सुनो ॥ -३०४- ॥

तत्र—

द्रुततारनिभो रक्त इन्द्रगोपकसंनिभः ॥ ३०४ ॥
क्षीराभः स्फटिकाभश्च पञ्चानां रूपलक्षणम् ।

द्रुततारं गलितं रूप्यम् ॥ ३०४ ॥

घण्टाकंसाब्दमधुरो गजनादो महाध्वनिः ॥ ३०५ ॥
प्राणादीनां तु पञ्चानामयं शब्द उदाहृतः ।

कंसं कांस्यम्, अब्दो मेघः, महाध्वनिः द्रुतनदीघोषोपमः ॥ ३०५ ॥

एषां कर्मादिशति, तत्र—

जल्पितं हसितं गीतं नृत्तं युद्धगतिः कलाः ॥ ३०६ ॥
शिल्पं च सर्वकर्माणि प्राणस्यैवं विचेष्टितम् ।

कलाश्चित्राद्याः । सर्वकर्माणीत्येतान्येव ॥ ३०६ ॥

प्रवेशयेदन्नपानं तन्मलं स्त्रावयेदधः ॥ ३०७ ॥

इनमे से—

कहा भी है—

'हृदि प्राणः गुदेऽपानः समानो नाभिदेशगः ।
कण्ठदेशे उदानः स्याद् व्यानः सर्वशरीरगः ॥'

(प्राण आदि क्रमशः) पिघली हुई चाँदी के समान, रक्त वर्ण, इन्द्रगोप (= नील वर्ण), दूध के समान और स्फटिक के समान होते हैं । ये पाँचों (वायुओं) के रूप हैं ॥ -३०४-३०५- ॥

द्रुत तार = पिघली हुई चाँदी ॥ ३०४ ॥

घण्टा, काँसा, बादल के शब्द के समान, हाथी की आवाज और महाध्वनि ये प्राण आदि पाँचों के शब्द कहे गये हैं ॥ -३०५-३०६- ॥

कंस = काँसा का बर्त्तन । अब्द = बादल । महाध्वनि = बहती हुई नदी के घोष के समान ॥ ३०५ ॥

इनके कर्मों को बतलाते हैं—

बोलना, हँसना, गीत, गाना, नाचना, युद्ध करना, कला और शिल्प ये समस्त कर्म प्राण की ही चेष्टायें हैं ॥ -३०६-३०७- ॥

कला = चित्र आदि बनाना । समस्त कर्म = उपर्युक्त ही कर्म ॥ ३०६ ॥

अन्न जल को (शरीर के अन्दर) प्रविष्ट कराना, उनके मलों को

अन्धत्वं श्रोत्ररोगं च अपानस्तु करिष्यति ।

'च'शब्दाद् ग्रहणघ्राणादि ॥ ३०७ ॥

अशितं लीढपीतं च समानः समतां नयेत् ॥ ३०८ ॥

नाडीषु सञ्चारयेत् ॥ ३०८ ॥

क्षोभो हिक्का तथा छिक्का उदानस्य विचेष्टितम् ।

छिक्का क्षुतम् ॥

स्वेदश्च रोमहर्षश्च शूलं दाहोऽङ्गभञ्जनम् ॥ ३०९ ॥
व्यानस्यैतानि कर्माणि स्पर्शं चैव स विन्दति ।

स एव लभते ॥ ३०९ ॥

नागादीनां स्थानान्यादिशति—

अङ्गुष्ठजानुहृदये लोचने मूर्ध्नि संस्थिताः ॥ ३१० ॥
नागाद्याः......

क्रमेणेत्यर्थः ॥ ३१० ॥

सर्वेषामेषां शबलरूपता शबलशब्दता च तुल्येत्याह—

नीचे गिराना, अन्धापन और कान का रोग यह सब अपान का कार्य बतलाया गया है ॥ -३०७-३०८- ॥

(श्लोकोक्त) 'च' शब्द से ग्रहण घ्राण आदि (समझना चाहिये) ॥ ३०७ ॥

समानवायु खाये-पीये चाटे गये (पदार्थों) को सम करता है ॥-३०८ ॥

समता को ले जाता है = नाड़ियों में सञ्चारित करता है ॥ ३०८ ॥

क्षोभ (= शरीर का तीव्र वेग से हिलना डुलना), हिचकी, छींक ये उदान की चेष्टायें हैं । पसीना होना, रोंगटे खड़े होना, दर्द, शरीर में जलन, अङ्गों का टूटना और स्पर्श ये व्यान के कर्म हैं ॥ ३०९-३१०- ॥

(स विन्दति =) वही (= व्यान ही) प्राप्त करता है ॥ ३०९ ॥

नाग आदि (= कूर्म, कृकर, देवदत्त और धनञ्जय) के स्थानों को बतलाते हैं—

ये नाग आदि पैर के अंगूठों, घुटनों, हृदय, नेत्रों और शिर में स्थित हैं ॥ -३१०-३११- ॥

अर्थात् क्रमशः स्थित हैं ॥ ३१० ॥

इन सबकी शबलरूपता (= रूपों का मिश्रित रंग वाला होना) तथा शबल शब्दता (= मिश्रित शब्दों वाला होना) समान है—यह कहते हैं—

.....बहुरूपश्च......

चकाराद् बहुशब्दाः ॥

.............कर्म त्वेषां निबोध मे ।

तत्राविकृतावस्थायां क्रमेण—

आह्लादोद्वेगजनकः शोषणस्त्रासनस्तथा ॥ ३११ ॥
नागः कूर्मश्च कृकरो देवदत्तश्च पञ्चमः ।
अतिनिद्राकरश्चान्यो योजकश्च धनञ्जयः ॥ ३१२ ॥

अतिनिद्रा तन्द्रा, योजको देहान्तरसम्बन्धकृत् ॥ ३१२ ॥

एषां विकृत्यवस्थायाम्—

श्वाससङ्कोचनच्छेदा घुर्घुरोत्क्रमणं तथा ।
नागादीनां तु पञ्चानां मृत्युकाले विचेष्टितम् ॥ ३१३ ॥

उत्क्रमणम् = देहविश्लेषः ॥ ३१३ ॥

धनञ्जयकूर्मयोर्विशेषस्त्वयम् यत्—

न चैव याति चोत्क्रान्तौ तनुं त्यक्त्वा धनञ्जयः ।

(ये) बहुरूप ॥ -३११- ॥

और 'च' से बहुशब्द है ॥

अब इन (= नाग आदि) के कर्मों को मुझसे जानो ॥ -३११- ॥

अविकृत अवस्था में क्रमशः—

ये नाग कूर्म कृकर और देवदत्त आह्लाद उद्वेग, शोषण और त्रास उत्पन्न करते हैं । धनञ्जय नामक पञ्चम वायु योजक है तथा अतिनिद्रा उत्पन्न करता है ॥ -३११-३१२ ॥

अतिनिद्रा = तन्द्रा । योजक = दूसरे शरीर से सम्बन्ध बनाने वाला ॥३१२॥

इनके विकृत होने पर—

नाग आदि पाँच का मृत्यु के समय श्वास (का बढ़ना) (सन्धियों का) सङ्कोच, श्वास का रुक जाना, घुर्घुर शब्द करना तथा उत्क्रमण ये क्रियायें होती हैं ॥ ३१३ ॥

उत्क्रमण = (वायुओं का अथवा जीव का) शरीर से विच्छेद ॥ ३१३ ॥

(यद्यपि पाँचों वायुओं के कार्य कह दिये गये तथापि) धनञ्जय और कूर्म का विशेष (कर्म) यह है कि—

कंचित्कालं शवशरीरं न मुञ्चति ॥

आकुञ्चयति वै कूर्मः शोषयेच्च कलेवरम् ॥ ३१४ ॥

आकुञ्चनं संधिसङ्कोचः । शोषस्ताल्वादिस्थानेषु ॥ ३१४ ॥

तदेवं दशधा स्थितम्—

प्राणमेव जयेत् पूर्वं जिते प्राणे जितं मनः ।
जिते मनसि शान्तस्य परं तत्त्वं प्रकाशते ॥ ३१५ ॥

तत्र—

प्राणापानं गुदे ध्यायेत् प्राणसमानं नाभितः ।
प्राणोदानं तु कण्ठे तु प्राणव्यानं तु सर्वगम् ॥ ३१६ ॥

प्राणशब्दोऽत्र सामान्यप्राणवाची अपानादीनां विशेषरूपाणां सामानाधिकरण्येन प्रयुक्तः । यस्तु बहिःप्रसरणात्मा विशेषरूपः प्राणस्तं पूर्वोक्तदेशे हृदि ध्यायेत् । यथोक्तवर्णशब्दाद्यात्मानश्चैते ध्याता वशीकृता भवन्ति ॥ ३१६ ॥

उत्क्रान्ति (= सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से वियोग) होने पर भी धनञ्जय शरीर को छोड़ कर नहीं जाता ॥ ३१४- ॥

कुछ समय तक मृत शरीर को नहीं छोड़ता ॥

कूर्म वायु आकुञ्चन करता है और शरीर को सुखा देता है ॥ -३१४ ॥

आकुञ्चन = जोड़ों को संकुचित करना शोष—यह तालु आदि (= हृदय कण्ठ जिह्वा आदि) में होता है ॥ ३१४ ॥

तो इस प्रकार (योगी को चाहिये कि वह) दश रूप में स्थित—

प्राण को पहले जीत ले । प्राण के जीत लिये जाने पर मन जीत लिया जाता है । मन के विजित होने पर शान्त योगी को पर तत्त्व प्रकाशित हो जाता है ॥ ३१५ ॥

इस (विजय) के विषय में—

गुदा प्रदेश में प्राण और अपान का, नाभि में प्राण और समान का, कण्ठ में प्राण और उदान का तथा प्राण और व्यान का समस्त शरीर में ध्यान करना चाहिये ॥ ३१६ ॥

यहाँ (= उक्त श्लोक में) प्राण शब्द सामान्य प्राण का वाचक है । अपान आदि उसके विशेष रूप हैं । उनके साथ वह सामानाधिकरण्येन प्रयुक्त है । जो कि (शरीर के) बाहर प्रसरण करने वाला विशेष प्राण है उसी का पूर्वोक्त हृदय प्रदेश में ध्यान करना चाहिये । पूर्वोक्त रंगों और शब्दों वाले ये ध्यान किये जाने पर वश में

एवमेव च—

नागाद्याः प्राणसंयुक्ताः..........

सामान्यप्राणसम्बद्धाः ॥

एतान् यथोक्तरूपान् पूर्वोक्तेषु—

..............स्वस्थानेषु निरोधयेत् ।

तदेतस्य दशकस्य यावता कालेन निरोधाज्जितता भवति, तत्कालं वक्तुमाह—

निरुद्धस्य च यः कालस्तं वक्ष्यामि निबोध मे ॥ ३१७ ॥
तालात् प्रभृति तं ध्यायेद्यावत् पञ्च शतं गतम् ।
जितोऽनिलो भवत्येव संक्रान्त्युत्क्रान्तिकर्मणि ॥ ३१८ ॥

अङ्गुल्या जानुभ्रमणावधिकालस्तालः । तेषां यावत्पञ्चशतं गच्छति, तावद्यदि प्राणादीनामविचलं ध्यानं सिध्यति, तदा ते जिता भवन्ति । ततश्च परशरीर-संक्रान्तौ उत्क्रान्तौ च सामर्थ्यं भवति ॥ ३१८ ॥

हो जाते हैं ॥ ३१६ ॥

इसी प्रकार—

नाग आदि भी प्राण से संयुक्त हैं ॥ ३१७- ॥

अर्थात् सामान्य प्राण से सम्बद्ध हैं ॥

ऊपर कहे गये रूप-शब्द वाले इनको पूर्वोक्त—

उनके अपने-अपने स्थानों में निरुद्ध करना चाहिये ॥ -३१७- ॥

इन दश प्राणों का जितने समय में निरोध होने के कारण इन पर विजय होती है, उस काल को बतलाते हैं—

प्राण के निरुद्ध होने का जो काल होता है अब उसको कह रहा हूँ । मुझसे उसको जानो । एक ताल से लेकर पाँच सौ ताल तक यदि उसका लगातार ध्यान करे तो संक्रान्ति और उत्क्रान्ति कर्म में प्राण का जय होता है ॥ -३१७-३१८ ॥

अंगुली को घुठने के चारों ओर घुमाने में जितना समय लगता है वह एक ताल होता है । उन तालों की पाँच सौ संख्या तक यदि प्राण आदि का निरन्तर ध्यान सिद्ध हो जाय तो उन प्राणों पर विजय हो जाती है । इसके बाद (योगी के पास) दूसरी शरीर में प्रवेश और (अपनी शरीर से प्राण की) उत्क्रान्ति के विषय में सामर्थ्य प्राप्त हो जाता है ॥ ३१८ ॥

इदं च तज्जयेऽभिज्ञानम्—

दिव्या कान्तिः शुभो गन्धः प्रज्ञा चास्य विवर्धते ।
दिव्या दृष्टिश्च श्रवणं दिव्या वाक् च प्रजायते ॥ ३१९ ॥
वायुवद्विचरेल्लोकान् सिद्धान् देवांश्च पश्यति ।
मनसा चिन्तितावाप्तिः प्रवर्तेत गुणाष्टकम् ॥ ३२० ॥
सर्वकामसुसम्पूर्णः सर्वद्वन्द्वविवर्जितः ।
संसारबन्धनिर्मुक्तः शिवतुल्यश्च जायते ॥ ३२१ ॥

गुणाष्टकमणिमादिकम् । तदियता ग्रन्थेन

'दशधा योगमार्गेण हंसस्वच्छन्दमभ्यसेत्' (७।२९३)

इति यदुपक्रान्तमभूत्तन्निर्वाहितम् ॥ ३२१ ॥

अथेदानीं सगर्भप्राणीयधारणाभियोगिनां योगोचितजाग्रदाद्यवस्था दर्शयन् दर्शनान्तरोक्तवेधसमावेशस्वरूपज्ञानं शिक्षयति—

प्राणापानौ तु संयोज्य ह्रस्वकोटिसमन्वितौ ।
नाभ्याधारे च योगीन्द्रः.........

उस (= प्राण) के जय के विषय में यह पहचान है—

(शरीर की) कान्ति दिव्य (= चमकदार), (शरीर का) गन्ध शुभ (= सुगन्ध वाला) हो जाता है । इसकी प्रज्ञा बढ़ जाती है । देखने और सुनने की शक्ति दिव्य और वाणी भी दिव्य हो जाती है । वह वायु की भाँति लोकों में विचरण करता है और सिद्धों तथा देवों को (प्रत्यक्ष) देखता है । मन से सोचे गये पदार्थ को प्राप्त कर लेता है । आठ गुणों की प्राप्ति होती है । (वह) समस्त कामनाओं से सुसम्पूर्ण, समस्त द्वन्द्वों से रहित, संसार के बन्धन से निर्मुक्त और शिवतुल्य हो जाता है ॥ ३१९-३२१ ॥

गुणाष्टक = अणिमा आदि (= महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व) । तो यहाँ तक के ग्रन्थ से—

'योगमार्ग के द्वारा दश प्रकार से हंस स्वच्छन्द का अभ्यास करना चाहिये ।' (७।२९३)

ऐसा जो उपक्रम किया गया, उसको बतलाया गया ॥ ३२१ ॥

अब सगर्भ प्राणीय धारणाओं के द्वारा योगियों की योगोचित जाग्रत आदि अवस्थाओं को दिखलाते हुए अन्य दर्शनों में वर्णित वेध समावेश के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं—

योगीन्द्र जब ह्रस्व कोटि से युक्त प्राण और अपान को संयोजित कर

यदा तिष्ठेत् तदास्य—

............स्वेदः कम्पश्च जायते ॥ ३२२ ॥

हृदये प्रशान्ताशेषतरङ्गानाहतविश्रान्त्यनन्तरं यदा मन्त्रवृद्धेरुन्मिषत्ता भवति, तदा हृदि सामरस्यावस्थितौ प्राणापानौ ह्रस्वकोट्याकारकलाविमर्शनेन युक्तावधःप्रसरणक्रमेण नाभौ संयोज्य, प्रोक्तकालं तिष्ठतः स्वेदकम्पौ भवतः ॥ ३२२ ॥

अथासौ—

पुनरेव तु हृत्स्थौ हि प्राणापानौ निरोधयेत् ।
दीर्घकोटिसमायोगात् तत्क्षणाच्च पतेद् भुवि ॥ ३२३ ॥

नाभिपदविश्रान्त्यनन्तरमूर्ध्वमारुह्य हृत्स्थं कृत्वा दीर्घात्मकमान्त्रद्वितीयकलाविमर्शनपरो निरोधयेत् इति तत्कालोच्चारस्थाने कण्ठान्ते प्रोक्तकालं तिष्ठेत्, तदेकाग्रताप्रकर्षाद् भुवि पतेत् ॥ ३२३ ॥

ततोऽपि यद्यसौ—

कण्ठस्थं च तथैवेह प्राणमेव निरोधयेत् ।

नाभ्याधार में ॥ ३२२- ॥

स्थित होता है तब इसके (शरीर में)—

स्वेद और कम्प उत्पन्न होता है ॥ -३२२ ॥

हृदय में समस्त (विचार) तरङ्गों के शान्त होने पर जब मन्त्र की वृद्धि उन्मिषित होती है, तब हृदय में समरस हुए प्राण और अपान ह्रस्व कोटि = अकार कला के विमर्श, से युक्त हो जाते हैं तो (योगी उनको) अधःप्रसरण के क्रम से नाभि में संयुक्त करता है । (जितनी देर तक यह संयुक्तावस्था रहती है) उतनी देर तक (उस योगी के शरीर में) स्वेद और कम्प उत्पन्न होता रहता है ॥ ३२२॥

इसके बाद (योगी) को चाहिये कि वह—

अकार की दीर्घ कोटि के समायोग से हृदय में स्थित प्राण और अपान को निरुद्ध करे । (निरुद्ध करने के) तुरन्त बाद (योगी) भूमि पर गिर पड़ता है ॥ ३२३ ॥

नाभिपद में विश्रान्ति के बाद ऊर्ध्व आरोहण कर प्राणापान को हृदय में स्थिर कर मन्त्रसम्बन्धी दीर्घात्मक द्वितीय कला का विमर्श करते हुए उन दोनों का निरोध करे । अर्थात् उस समय के उच्चारस्थान कण्ठान्त में उतनी देर तक रहे (= अपने प्राणयुक्त मन को वहाँ स्थिर रखें) । उस एकाग्रता के प्रकर्ष से (वह योगी सशरीर) भूमि पर लुढ़क जाता है ॥ ३२३ ॥

उसके बाद भी यदि यह—

प्लुतकोटिसमायोगात् स्वप्नवृत्तिस्ततो भवेत् ॥ ३२४ ॥

उल्लासे सत्यपानप्रशमात् प्राणमितीहोक्तं, कालम् प्लुतकोटिः, पूर्वोक्तनीत्या ताल्वन्तोच्चारी मकारकलाविमर्शः । स्वप्नोऽत्र जिज्ञासितवस्तुप्रथनात्मा योग्युचितः। एवमादिशता कम्प-स्वेद-पाता योगिजागरा इति निरूपितं भवति ॥ ३२४ ॥

यदा तु—

भ्रूमध्ये बिन्दुयोगेन प्राणरोधं तु कारयेत् ।
सुषुप्तं जायते तत्र क्षणाच्चैव प्रबुद्ध्यते ॥ ३२५ ॥

प्लुतेनैव तालुनो भेदितत्वान्मान्त्रविन्दुकलाव्याप्तिविमर्शेन भ्रूमध्ये प्रोक्तकालं तिष्ठतः प्रशान्तमनोवृत्तिः सुषुप्तावस्था उदेति, क्षणाच्च प्रबुद्ध्यत इति न लौकिकवत् तमोवरणेन अभिभूयते । तदुक्तं—

'तदन्यत्र तु चिन्मयः' (स्प० २।२)

इति ॥ ३२५ ॥

ततोऽपि—

कण्ठस्थ प्राण का उसी प्रकार निरोध करता है तो उस (= निरोध) के बाद (अकार की) प्लुत कोटि के समावेश से वह स्वप्नवृत्ति वाला हो जाता है ॥ ३२४ ॥

(प्राण का) उल्लास होने पर अपान का प्रशमन होने से यहाँ (= उक्त श्लोक में केवल) 'प्राणम्' कहा गया (न कि प्राणापानौ) । काल = प्लुतकोटि = पूर्वोक्त नीति के अनुसार तालुपर्यन्त उच्चारित होने वाला मकार कला का विमर्श । यहाँ स्वप्न का तात्पर्य है—जिज्ञासित वस्तु का विस्तार जो कि योगियों के लिये उचित होता है (साधारण लोगों के लिये नहीं) । इस प्रकार वर्णन करने वाले (परमेश्वर) ने यह बतलाया कि कम्प स्वेद और पतन योगियों की जाग्रत अवस्थायें हैं ॥ ३२४ ॥

और जब—

(योगी) बिन्दु के योग से भ्रूमध्य में प्राणरोध करता है तब उसकी सुषुप्तावस्था होती है । उस (अवस्था) में एक क्षण रह कर (वह पुनः) प्रबुद्ध हो जाता है ॥ ३२५ ॥

प्लुत के द्वारा तालु के भेदित होने पर मान्त्र विन्दु रूपी कला की व्याप्ति के विमर्श के साथ भ्रूमध्य में उक्त काल तक ठहरने वाले तथा प्रशान्तमनोवृत्ति वाले (योगी) की सुषुप्तावस्था का प्रारम्भ होता है । एक क्षण में वह जाग उठता है अर्थात् साधारण लौकिक पुरुष की तरह वह तमोगुण के आवरण से अभिभूत नहीं होता । वही कहा गया—

'उससे भिन्न स्थिति में वह चिन्मय हो जाता है' ॥ ३२५ ॥ (स्प०का० २।२२)

मूर्धद्वारं समाश्रित्य निष्कलं ध्यानमारभेत् ।
एवमभ्यसतस्तस्य प्रत्ययस्तु तदा भवेत् ॥ ३२६ ॥
पिपीलकण्टकावेधो मूर्ध्वद्वारं विभिन्दतः ।

निष्कलमिति वर्णज्योतिर्ध्वनिव्याप्त्युल्लङ्घनात् स्पर्शनानुभवरूपम्, पिपीलकण्टकावेध इति सञ्चरत्पिपीलस्पर्शतुल्यकण्टकस्पर्शतुल्यश्च स्पर्श इत्यर्थः ॥ ३२६ ॥

किं च—

भित्त्वा क्रमेण सर्वाणि उन्मन्यन्तानि यानि तु॥ ३२७ ॥
पूर्वोक्तलक्षणैर्देवि............

लक्षणैरिति प्रणवाधिकारोक्तैरनुभवैर्युज्यते इति शेषः । तावदन्तात्र तुर्यदशा ॥

अथैतत्सर्वम्—

........त्यक्त्वा स्वच्छन्दतां व्रजेत् ।

गाढगाढोन्मनापदविश्रान्तिपदप्रकर्षात् तुर्यातीतदशालाभात् चिदानन्दघनपरभैरवसमावेशमनुभवति योगीन्द्र इत्यर्थः ॥

वहाँ भी—

इसके बाद (योगी को) मूर्धाद्वार का आश्रयण कर निष्कल ध्यान का प्रारम्भ करना चाहिये । इस प्रकार अभ्यास करने वाले उस योगी को मूर्धाद्वार का भेदन करने के समय (मूर्धा में) चींटी के चलने या काँटा के धँसने का अनुभव होता है ॥ ३२६-३२७- ॥

निष्कल = वर्ण ज्योति ध्वनि की व्याप्ति का उल्लंघन कर (= उससे भिन्न) स्पर्श का अनुभव । पिपीलकण्ठकावेध = चलती हुई चींटी के स्पर्श अथवा काँटा के लगने के समान स्पर्श होता है ॥ ३२६ ॥

और भी—

हे देवि ! उन्मनापर्यन्त सब का क्रम से भेदन कर योगी पूर्वोक्त लक्षणों से (युक्त हो जाता है) ॥ -३२७-३२८- ॥

लक्षणों से = प्रणवाधिकार में वर्णित अनुभवों से । वहाँ तक पहुँचते-पहुँचते इसकी तुरीय दशा हो जाती है ॥

इसके बाद इन सब का—

त्याग कर (वह) स्वच्छन्दभैरव हो जाता है ॥ -३२८- ॥

गाढ़-गाढ़ (= अत्यन्त गम्भीर) उन्मना पद में विश्रान्ति के उत्कर्ष से उसको तुर्यातीत दशा का लाभ होता है । फलस्वरूप वह योगीन्द्र चिदानन्दघन परभैरव-

न केवलं देहोत्तीर्ण एव पदेऽस्य परसमावेशो घटते, यावत्—

जायते उन्मनस्त्वं हि देहेनानेन साधके ॥ ३२८ ॥

देहावस्थायां व्युत्थानेऽपि साधकस्य समावेशप्रकर्षात्तदानन्दरससंस्काराद् घूर्णमाणतैव भवतीत्यर्थः ॥ ३२८ ॥

किं चायं स्वातन्त्र्यशक्त्युन्मेषात्—

संक्रामेत् परदेहेषु क्षुत्तृष्णाभ्यां न बाध्यते ।
अतीतानागतं चैव त्रैलोक्ये यत् प्रवर्तते ॥ ३२९ ॥
प्रत्यक्षं तद् भवेत्तस्य सर्वज्ञत्वं च जायते ।

यच्च प्रवर्तते इति यदपि वर्तमानं किञ्चिदस्ति, तदस्य सर्वं प्रत्यक्षीभवति । सर्वज्ञत्वम् इति क्रमेणाभ्यासप्रकर्षान्मन्त्रमन्त्रेशादितुल्यो भवतीत्यर्थः ॥ ३२९ ॥

पाटलिकं प्रमेयमुपसंहरन् पटलान्तरेण सङ्गतिं दर्शयति—

प्रसङ्गेऽध्यात्मकालस्य ज्ञानं विज्ञानमेव च ॥ ३३० ॥
सर्वमेतत् समाख्यातमंशकांश्च निबोध मे ।

समावेश का अनुभव करता है ॥

इसका परसमावेश केवल देहोत्तीर्ण पद में ही घटित नहीं होता बल्कि—

इसी देह से साधक के अन्दर उन्मनस् भाव पैदा हो जाता है ॥-३२८॥

देहावस्था में व्युत्थान होने पर भी साधक के अन्दर समावेश के प्रकर्ष उसके आनन्दरस के संस्कार के कारण घूर्णमानता हो जाती है ॥ ३२८ ॥

इसके अतिरिक्त यह स्वातन्त्र्यशक्ति के उन्मेष से—

पर काया में प्रवेश कर सकता है । भूख और प्यास इसे त्रस्त नहीं करते । जो अतीत और अनागत (घटनायें हैं) तथा तीनों लोक में जो घटित हो रहा होता है वह योगी को प्रत्यक्ष दिखायी देता है और वह सर्वज्ञ हो जाता है ॥ ३२९-३३०- ॥

और जो प्रवर्त्तित होता है = जो कुछ वर्त्तमान में है; वह सब इसको प्रत्यक्ष होता है । सर्वज्ञता—क्रमिक अभ्यास के प्रकर्ष से यह मन्त्र मन्त्रेश्वर आदि के तुल्य हो जाता है ॥ ३२९ ॥

सप्तम पटल के प्रमेय का उपसंहार करते हुए इसकी आगे के पटल से सङ्गति दर्शाते हैं—

सप्तम पटल में अध्यात्मकाल का ज्ञान और विज्ञान यह सब बतला दिया गया अब मुझसे अंशकों को जानो ॥ -३३०-३३१- ॥

अध्यात्मकालकथनप्रसङ्गेन तत्त्ववृत्त्या ज्ञानं मृत्युजययोगिजागरावस्थाद्यात्मकवेधादिरूपं च विज्ञानमेतदुक्तमनुक्तमप्यनुजिघृक्षावेशात्, अतः—

'कालांशकं च देवेश कथयस्व प्रसादतः' (७।१)

इति यत् प्रश्नितम्, ततः कालस्वरूपं कथितं प्रसङ्गाज्ज्ञानं विज्ञानं चाप्यादिष्टम् । अंशकस्वरूपं तु निर्णेतुमवशिष्टम् । अतोंऽशकान् भाविपटलेन निर्णेष्यमाणन्निबोध जानीहीति पाटलिकी सङ्गतिरिति शिवम् ॥ ३३० ॥

'संवित्स्फारव्याप्त्या विश्वं प्राणान्तःस्थं सम्यग्ज्ञात्वा ।
तास्ताः सिद्धीरंशज्ञप्त्या पूर्णास्थितिं यायात् ॥'

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्यव्याख्योपेते कालाधिकारः नाम सप्तमः पटलः ॥ ७ ॥



अध्यात्मकाल के कथन के प्रसङ्ग से तत्त्ववृत्ति के द्वारा ज्ञान और मृत्युञ्जयी योगी की जागरणादि वाले वेद्य आदि रूपी विज्ञान बतला दिया गया साथ ही अनुग्रह के आवेश के कारण अनुक्त भी कहा गया । इसलिये—

'हे देवेश प्रसन्नता से कालांशक को बतलाइये ।' (७।१)

ऐसा जो प्रश्न किया गया—इस कारण काल का स्वरूप बतलाया गया । प्रसङ्गात् ज्ञान और विज्ञान का भी निर्वचन किया गया । अंशक का स्वरूप बतलाना अवशिष्ट है इसलिये आगे के पटल में उसका वर्णन करने वाले अब मुझसे उसको जानो—यह पाटलिकी सङ्गति (= इस पटल का आगे के पटल से सम्बन्ध) है ॥ ३३० ॥

'संवित्स्फार की व्याप्ति के द्वारा प्राण के भीतर स्थित विश्व को भली-भाँति जान कर उन-उन सिद्धियों को तथा अंश के ज्ञान से पूर्ण स्थिति को प्राप्त करना चाहिये ॥'

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के सप्तम पटल 'कालाधिकार' की श्रीक्षेमराजविरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ ७ ॥



अष्टमः पटलः

* स्वच्छन्दोद्योतः *

यस्य बोधमहाम्भोधेर्ब्रह्माद्या भुवनेश्वराः ।
अंशा मिता बुद्बुदवत् तं स्तुमः परभैरवम् ॥

'अंशकांश्च निबोध मे' (७।३३०)

इति यत्पटलान्ते उपक्षिप्तम्, तद्विभक्तुं श्रीभैरव उवाच—

अंशकं षड्विधं देवि कथयाम्यनुपूर्वशः ।

परस्य बोधभैरवस्य शक्तिभिर्ब्राह्मयादिभिरधिष्ठिता ब्रह्माद्यास्तथावभासिता अंशाः, ततस्तदनुग्राह्या अपि तदंशा इत्युच्यन्ते । अतोंऽशानाराध्यत्वेन स्थितान् कायति, अयं ब्रह्मांशोऽयं विष्ण्वंश इत्यादिक्रमेण यो वक्ष्यमाणो भावस्वभावादिः, सोऽंशक इत्युच्यते । स च साधकं प्रति सिद्ध्यनुकूलत्वाद् अल्पांशोऽंशक

---

* ज्ञानवती *

तत्तद् भुवनों के ईश्वर ब्रह्मा आदि (महासमुद्र के) बुल-बुले के समान जिस बोध रूपी महासमुद्र के परिमित अंश हैं; उस परभैरव की (हम) स्तुति करते हैं ।

'(अब उस महाविज्ञान के) अंशों को मुझसे जानो' (७।३३०)

जो यह वचन सातवें पटल के अन्त में प्रासङ्गिकरूप से कहा गया उसको विशेष रूप से स्पष्ट करने के लिये श्रीभैरव ने कहा—

'हे देवि ! (उस विज्ञानरूपी महाम्भोधि के) अंश छह प्रकार के हैं । उनको (मैं) क्रमशः कह रहा हूँ ॥ १- ॥

परभैरव (= स्वच्छन्द देव) की ब्राह्मी आदि शक्तियों से अधिष्ठित ब्रह्मा आदि उसी प्रकार से (= परभैरव की भाँति) अवभासित अंश हैं इस कारण उस (= भैरव) के द्वारा अनुग्राह्य होते हुए भी (ये) उसके अंश कहे जाते हैं । इस कारण आराध्य के रूप में स्थित अंशों को जो बतलाता है कि—यह अंश ब्रह्मा है, यह अंश विष्णु है—इत्यादि क्रम से जिसका वर्णन आगे किया जायेगा—वह

इत्यभिधीयते ॥

तमुद्दिशति—

भावांशकः स्वभावांशः पुष्पपातांश एव च ॥ १ ॥
मन्त्रांशकः स्मृतश्चान्यस्त्वंशकापादनं द्विधा ।

भावः सहजस्तत्तद्भक्तियुक्त आशयः । स्वभावस्तदनुगुणो व्यापारः । यस्तु पूर्वयुक्त्या बद्धनेत्रस्य पुष्पपातानुसारं निश्चीयते, तन्मन्त्रवाच्यदेवतात्मा अनुष्ठातुम्, स मन्त्रांशः । अंशकापादनमंशस्यानिरूपितस्यापि मन्त्रस्य वीरद्रव्यादिहोमेन साधकदीक्षाक्रमेण वा आराधकं प्रति क्रियते, इति द्विरूपमिति (षडं)[1]शकाः ॥

एषामाद्यस्य लक्षणमाह—

देवानुस्मरणं भावः सहजं तं विजानता ॥ २ ॥

अदत्तानुष्ठानस्यापि प्राग्जन्मवासनापरिपाकवशात् तत्तन्नियतदेवतानुस्मरणं

भावों (= पदार्थों) का स्वभाव आदि, उसे अंशक कहा जाता है । और वह साधकों को सिद्धि देने के कारण अल्प अंश होते हुए अंशक कहा जाता है । (स्पष्टार्थ यह है कि 'अंशक' शब्द दो प्रकार से निष्पन्न होता है—) १. अंशान् कायति = शब्दयति = कययति = बोधयति इति अंशकः । यहा 'कै' शब्दे धातु का प्रयोग है । २. 'अंश' शब्द से (अल्पे—पा०सू० ५।३।८५) से अल्प अर्थ में 'कन्' प्रत्यय जोड़कर अंशक शब्द बनता है । उन अंशों के नाम बतलाते हैं—

भावांशक, स्वभावांशक, पुष्पपातांशक, मन्त्रांशक (ये चार हुए । इनसे अन्य दो प्रकार का कहा गया है) ॥ -१-२- ॥

भाव = स्वाभाविक तत्तद् देवता की भक्ति वाला आशय (= भावना) । स्वभाव = उस (= भावना) के अनुरूप (कायिक वाचिक) व्यापार । पूर्वोक्त रीति के अनुसार (अज्ञात देवता वाले) बद्धनेत्र (साधक) के द्वारा एक पुष्प फेंक कर (मण्डलस्थ जिस) देवता के स्थान पर पुष्प गिरता है । उसके अनुसार उस देवता का अनुष्ठान होता है वह (पुष्पपातांश है; उसी प्रकार मन्त्र रूप अक्षर की गणना कर जो निश्चय किया जाता है) वह मन्त्रांशक होता है । अंशकापादन (का अर्थ है—) अनिरूपित अंश वाले मन्त्र का वीरद्रव्य (= मांस मद्य आदि) के होम के द्वारा अथवा साधक की दीक्षा क्रम के द्वारा जो आराधक के लिये (अनुष्ठान) किया जाता है वह दो प्रकार का (= होम और दीक्षा वाला) होता है । इस प्रकार छह अंश होते हैं ॥

उस (= भावांश) को जानने वाले के द्वारा स्वभावतः तत्तद् देवता का अनुस्मरण ही भाव (= भावांश) है ॥ -२ ॥

---

१. षोडशां ।

यत्सहजम्, स भावांशः ॥ २ ॥

द्वितीयमाह—

स्वभावश्च भवेच्चेष्टा..........

प्रोक्तभावानुगुण एवमेव लिङ्गार्चनाद्यात्मा व्यापारः ॥

तं च—

................कथयाम्यनुपूर्वशः ।
ब्रह्मांशो वेदभक्तस्तु रुद्रांशं च निबोध मे ॥ ३ ॥
रुद्रभक्तः सुशीलश्च शिवशास्त्ररतः सदा ।
विष्ण्वंशो विष्णुभक्तश्च चन्द्रांशः प्रियदर्शनः ॥ ४ ॥
सर्वदेवरतः शान्तो यक्षांशो धनसंग्रही ।
लुब्धो गर्वितमृष्टाशी वातांशश्चपलः स्मृतः ॥ ५ ॥
सर्पविस्रम्भगामी स्यान्नागांशो दीर्घशाय्यथ ।
दीर्घरोषः पूतिवक्त्रो गुरुक्षीररुचिः सदा ॥ ६ ॥

जिसने (इस जन्म में) अनुष्ठान नहीं किया किन्तु पूर्वजन्म के (कर्मों से जनित) वासना के पारिपाक के कारण जो ततत् नियत देवता का स्वाभाविक स्मरण करता रहता है उसका यह स्मरण कार्य भावांश कहलाता है ॥ २ ॥

दूसरे को बतलाते हैं—

स्वभावांश चेष्टा होती है ॥ ३- ॥

उपर्युक्त भाव के अनुसार देवता की मूर्त्ति आदि की पूजा आदि ॥

और उस (= अंश) को—

क्रम से कह रहा हूँ । जो व्यक्ति वेदों का भक्त (= वैदिक वाङ्मय में आस्था रखने वाला) होता है वह ब्रह्मांश होता है । अब मुझसे रुद्रांश को जानो । (रुद्रांश) रुद्र की भक्ति करने वाला, सुशील और शिवशास्त्र (के अध्ययन, अध्यापन, तत्संमत आचरण) में सदा निरत रहता है । विष्ण्वंश विष्णुभक्त और चन्द्रांश प्रियदर्शन, समस्त देवों के प्रति आस्थावान् तथा शान्त स्वभाव वाला होता है । यक्षांश व्यक्ति धन का संग्रह करने वाला, लालची, घमण्डी, मृष्टाशी (= स्वच्छ और चटपटा भोजन करने वाला) होता है । वातांश साधक चपल होता है । नागांश व्यक्ति सर्प की भाँति विश्वास के साथ चलने वाला (अथवा साँपों के प्रति निर्भय और विश्वास रखने वाला), दीर्घशायी (= देर तक अथवा लम्बी तान कर सोने वाला), देर तक क्रोध करने वाला, दुर्गन्ध युक्त मुखवाला तथा गरिष्ठ एवं दूध या

गान्धर्वो गायनो नित्यं शिवभक्तो वरानने ।
विद्याधरांशकः प्राणी दैत्यांशो द्वेषणः स्मृतः ॥ ७ ॥
कामांशो रूपवांश्चैव सुभगो गणिकाप्रियः ।
रक्षोंशः क्रूरनिस्त्रिंशो देवद्वेषी द्विजेषु च ॥ ८ ॥
पिशाचांशश्छलान्वेषी वासरे भीरुकातरः ।
अग्न्यंशः परुषस्तीव्र उष्णादः पिङ्गलस्तथा ॥ ९ ॥
सवित्रंशश्च तेजस्वी पूर्तधर्मरतः सदा ।
इष्टानि कुरुते नित्यं दयालुः शिवभावितः ॥ १० ॥

पूतिवक्त्रो दुरामोदलालास्यः । विद्याधरांशस्य शिवभक्तत्वं शिवशास्त्रोक्त-विधानेन गुटिकाञ्जनादिसिद्धिरसिकत्वम् । क्रूरो दारुणहृदयः । निस्त्रिंशो निर्घृण-व्यापारः । परुषो वाचा । तीव्रः कर्मणा । पूर्तं वापीकूपादिकरणम् । इष्टं यज्ञः । स्पष्टमन्यत् ॥ १० ॥

ये च यदंशास्तेषामेते ब्रह्मादयः—

स्वसिद्धेः फलदाः सर्वे स्वध्यानजपहोमतः ।

दूध निर्मित वस्तु का भोजन करने में रुचि रखता है । हे वरानने ! गन्धर्वांश नित्य गायनप्रिय और विद्याधरांशक प्राणी शिवभक्त होता है । दैत्यांश द्वेष करने वाला माना गया है । कामांश रूपवान् सुभग और गणिकाप्रिय होता है । रक्षोंश क्रूर और निस्त्रिंश (= निर्घृण, निर्मम, निर्दय), देवता और ब्राह्मणों से द्वेष करने वाला होता है । पिशाचांश छल कपट से युक्त दिन में भीरु और कातर होता है । अग्न्यंश परुष, तीव्र, गरम भोजन करने वाला तथा पिङ्गल रङ्ग का होता है । सवित्रंश (= सूर्यांश) प्राणी तेजस्वी, सर्वदा पूर्त्त धर्म में लगा हुआ, दयालु शिव-भावना से युक्त और अनेक यज्ञ करने वाला होता है ॥ -३-१० ॥

पूतिवक्त्र = दुर्गन्ध युक्त लार से भरे हुऐ मुख वाला । विद्याधरांश वाले प्राणी का शिव भक्त होने का अर्थ है—गुटिका सिद्धि (= मुंह में सिद्ध गोली रखने से सब कुछ अदृश्य पदार्थ का दर्शन) अञ्जनसिद्धि (= आँख में सिद्धअञ्जन लगाने पर अदृश्यदर्शन) आदि का रसिक होना । क्रूर = कठोर हृदय वाला होना । निस्त्रिंश = घृणास्पद कार्य करने वाला । परुष = कठोर वाणी बोलने वाला । तीव्र = कठोर कर्म करने वाला । पूर्त = तालाब, कुँआँ, तलैया इत्यादि जल संसाधनों का निर्माण एवं वृक्षारोपण आदि । इष्ट = यज्ञ । शेष स्पष्ट है ॥ १० ॥

जो (प्राणी) जिस (ब्रह्मा आदि) के अंश हैं, ये ब्रह्मा आदि सबके सब—

उनको अपने ध्यान जप होम के द्वारा अपनी (परिमित) सिद्धि के अनुसार फल देते हैं ॥ ११- ॥

यस्य यावदैश्वर्यम्, तावदेवासावाराधितः साधकेभ्यः प्रयच्छति । एवं चाभिदधदिदमाह यत् परिमितांशस्य तत्तत्पदप्रापक एव मन्त्रोदया । स च (यः)[1] येषां विशेषतः शास्त्रेषु नास्ति, तेषां प्रणव एव तन्नामनमस्कारयुक्तः ॥

यदा तु—

'यो यत्राभिलषेद् भोगान् स तत्रैव नियोजितः ।
सिद्धिभाङ् मन्त्रसामर्थ्यात्.................. ॥'

इत्युक्तस्थित्या इहत्यमन्त्रैः कृतदीक्षस्य साधकस्यैतन्मन्त्राराधनेनाराधितास्ते देवताविशेषाः तदा सर्वे भैरवरूपा एवेति सर्वसिद्धिसाधका इत्याह—

भैरवाङ्गसमालब्धाः सर्वे देवा वरानने ॥ ११ ॥
भैरवास्तु स्मृताः सर्वे सर्वसिद्धिफलप्रदाः ।

भैरवाङ्गसमालब्धा इत्युक्त्येदमाह—येषां कपालीशादिमन्त्राणां वक्त्राणि नोक्तानि, तेषामाराधकैर्नैष्कलवक्त्राङ्गानि प्रयोक्तव्यानि ।

जिस (ब्रह्मा आदि) का जितनी मात्रा में ऐश्वर्य है, आराधना करने पर वह साधकों को उतनी ही मात्रा में फल देता है ऐसा बतलाते हुए यह कहते हैं—परिमितांश के लिये तत्तद् (ब्रह्मा आदि के) पद (= लोक) को प्राप्त कराने वाला जो (तत्तद् ब्रह्मा आदि का) मन्त्रोदय है, जिन (नागांश इत्यादि) का वह (= मन्त्र) यदि विशेष रूप में शास्त्रों में वर्णित नहीं है तो उन (नाग आदि) के नाम के पहले प्रणव जोड़ कर अन्त में 'नमः' जोड़ने से (वह मन्त्र का ही काम करता है और वहीं फल देता हैं) ॥

और जब—

'जो साधक जिस लोक में भोगों को भोगना चाहता है वह वहीं पर नियुक्त किया गया मन्त्र के सामर्थ्य से सिद्धि को प्राप्त करता है ।'

इस उक्ति के अनुसार इस लोक के मन्त्रों से दीक्षा को प्राप्त साधक जब इन मन्त्रों के द्वारा देवताओं की आराधना करता है तो वे सब आराधित विशिष्ट देवतायें भैरवरूप ही हो जाती हैं, फलतः समस्त सिद्धियों को देती हैं—यह कहते हैं—

हे वरानने ! समस्त देव जब भैरवाङ्ग से युक्त हो जाते हैं तब वे सब भैरव माने जाते हैं; फलतः सर्वसिद्धिप्रद होते हैं ॥ -११-१२- ॥

'भैरवाङ्गसमालब्धाः' इस कथन से यह बतलाते हैं कि जिन कपालीश आदि मन्त्रों के वक्त्र नहीं कहे गये हैं उन (कपालीश आदि) के आराधक प्राणियों के द्वारा निष्कल के वक्त्राङ्गों का प्रयोग किया जाना चाहिये ।

१. या ।

कश्चिदत्र सर्वशब्दस्य द्विःस्थितस्य वाक्यद्वयविषयां योजनामसहमानः सर्वेदेवा इत्यत्र सर्वदैवेति सर्वसिद्धिफलप्रदा इत्यत्र च सर्वकामसमन्विता इति पठित्वा एतन्मन्त्रदीक्षिताः साधकास्तदाराधनाद् भैरवा एव पूर्णसिद्धिभाजनं भवन्तीति व्याख्यातवान् । पुराणपुस्तकेषु त्वविगानेनाद्यः पाठो दृश्यते ॥

एवम्—

स्वभावांशः समाख्यातः साधकानां हिताय वै ॥ १२ ॥

साधकपदेन मुमुक्षूणां नायं नियम इत्यादिशति ॥ १२ ॥

पुष्पपातांशं लक्षयति—

पुष्पपातवशान्नाम कर्तव्यं सुरसुन्दरि ।

अनिश्चितभावस्वभावांशस्य बुभुक्षोर्बद्धनेत्रस्य पूजितसर्वावरणे भगवन्मण्डले पूर्वोक्तस्थित्या एकं पुष्पं क्षिपतो यत्र तत्पतेत्, तन्मन्त्रवाच्यदेवतानुसारेण नाम कार्यम् ॥

अतश्च ज्ञातांशकेनाचार्येणोपदिष्टतत्त्वस्य—

कुछ लोग दो बार पढ़े गये 'सर्व' शब्द की दो वाक्यों के साथ योजना नहीं मानते । इस कारण वे 'सर्वे देवाः' के बदले 'सर्वदैव' पाठ मानते हैं । इसी प्रकार 'सर्वसिद्धिफलप्रदाः' के बदले 'सर्वकामसमन्विताः' ऐसा पाठ मानकर, इस मन्त्र के द्वारा दीक्षित साधक उस (= मन्त्र) की आराधना से भैरव होकर पूर्णसिद्धि के पात्र बनते हैं—ऐसी व्याख्या किये हैं (मेरी समझ में यह पाठ समीचीन नहीं है क्योंकि) पुरानी पुस्तकों में एकमत से प्रथम पाठ ही दृष्ट होता है ॥

इस प्रकार—

साधकों के हित के लिये स्वभावांश की व्याख्या की गयी ॥ -१२ ॥

'साधक' पद से यह बतलाते हैं कि यह नियम मुमुक्षुओं के लिये नहीं (प्रत्युत केवल भोगेच्छुओं के लिये) है ॥ १२ ॥

पुष्पपातांश को बतलाते हैं—

हे सुरसुन्दरि ! पुष्पपात के आधार पर भी नाम रखना चाहिये ॥१३-॥

जो भोगेच्छु अनिश्चित भावांश और अनिश्चित स्वभावांश वाला है, सर्वावरण वाले भगवन्मण्डल की पूजा करने के बाद उसकी आँखों को कपड़े से ढँक कर पूर्वोक्त विधि से वह एक पुष्प जहाँ (= मण्डल के जिस भाग में) गिराये उस मन्त्र के वाच्य देवता के अनुसार उसका (= साधक का) नामकरण करना चाहिये ॥

इसलिये जिसने अंश को जान लिया है ऐसे आचार्य के द्वारा उपदिष्ट तत्त्व वाले उस (= शिष्य के लिये)—

स मन्त्रः सिद्ध्यते तस्य तमेवाराधयेद् यदि ॥ १३ ॥

शास्त्रोक्तविधानेनेत्यर्थात् ॥ १३ ॥

क्रमप्राप्तं मन्त्रांशकमधिकवक्तव्यत्वात् सम्प्रत्यनुक्त्वा, अंशकापादनं प्रस्तौति—

अंशकापादनं देवि कथयामि समासतः ।

कथमित्याह—

वैहायसं ध्वजं चैव होमयेद् यस्तु साधकः ॥ १४ ॥
स मन्त्रः सिद्ध्यते तस्य अर्यन्तोऽपि हि सुव्रते ।

वक्ष्यमाणस्थित्यार्यन्तोऽपि यो मन्त्रस्तदाराधनायैव वैहायसमिति उद्बद्ध-नरमांसम्, ध्वजं च शूलारोपितनरमांसमष्टोत्तरशतं सहस्रं वा यथासम्भवव्यवसायं यः साधक इत्याराधक आचार्यस्तत्प्रयुक्तोऽन्योऽपि वा साधको होमयेद् जुहुयात्, तस्यासावेवमाराधितः सिद्ध्यति साधनानुगुणो भवति ॥

यस्य तु प्रोक्तक्रमेणाविवेचितांशकोऽपि प्रभावातिशयश्रवणात् कश्चिन्मन्त्र आरिराधयिषितो भवति, न च वीरद्रव्यक्रमे योग्यतास्ति, तस्यारिराधयिषितं पूज-

---

वह मन्त्र सिद्ध हो जाता है यदि वह शिष्य शास्त्रोक्त विधि से उस (= मन्त्र) की आराधना करता है तभी (यह सिद्ध होता है) ॥ -१३ ॥

अर्थात् शास्त्रोक्त विधि से ॥ १३ ॥

क्रमप्राप्त मन्त्रांशक के विषय में अधिक व्याख्या करनी है उस कारण अभी उसका कथन न कर अंशकापादन को कहते हैं—

हे देवि ! अब संक्षेप में अंशकापादन को बतला रहा हूँ ॥ १४- ॥

कैसे ?—यह कहते हैं—

हे सुव्रते ! जो साधक वैहायस अथवा ध्वज का (अग्नि में) हवन करता है उसके लिये अर्यन्त भी मन्त्र सिद्ध होता है ॥ -१४-१५- ॥

वक्ष्यमाण स्थिति के अनुसार जो मन्त्र अर्यन्त (= वक्ष्यमाण २० श्लोक से लेकर २२ श्लोकपर्यन्त) है उसकी आराधना के लिये । वैहायस = उद्बद्ध (= टुकड़ों में काटे गये) मनुष्य का मांस । ध्वज = शूली पर चढ़ाये गये मनुष्य का मांस । उस मांस को अपने निश्चय के अनुसार १०८ अथवा १००८ बार (हवन करे) । साधक = आराधक आचार्य या उसके द्वारा नियुक्त कोई अन्य भी साधक, होम करे = अग्नि में आहुति दे; उस (= साधक) के लिये यह (= मन्त्र) इस प्रकार आराधित होकर सिद्ध होता है = सिद्धि के अनुकूल होता है ॥

जो (साधक) उक्त क्रम से अंश की विवेचना नहीं कर सका किन्तु किसी (मन्त्र के) उत्कृष्ट प्रभाव को सुन कर उसकी आराधना करना चाहता है । किन्तु

होमादिनादौ तर्पयित्वा प्राक्प्रोक्तसाधकदीक्षाभिषेकविधानेनैव तन्मन्त्रांशकत्वापादनं कर्तव्यमित्यभिदधद् द्वितीयमंशकापादनं लक्षयति—

अनंशकोऽपि यो मन्त्रो ज्ञातचिह्नैर्वरानने ॥ १५ ॥
तदा यागं पुरा कृत्वा अग्नौ होमं तु कारयेत् ।

प्रोक्तप्रकारैर्न परिच्छिन्न अंशक आराधकः शिष्यो यस्यासावनंशकः । याग-होमौ तं शिष्यं प्रति तस्य मन्त्रस्याभिमुखीकरणाय ॥

ततः—

शिष्यस्य पूर्ववत् कर्म कृत्वा तु विधिपूर्वकम् ॥ १६ ॥
पूर्णाहुतिप्रयोगेण योजयेच्छाश्वते पदे ।

कर्मेति भगवदर्चादिपूर्वं साधकाभिषेकान्तम् । योजयेदिति तमेव शिष्यं मन्त्रेण सह शाश्वत इति परमशिवपदे, साधकाभिमते च शाश्वतभोगप्रदे सदाशिवादि-धाम्नि । शाश्वतपदयोजनादेव चायमासादितवीर्योऽनंशकतामुत्सृज्य, सदंशकत्वमेति॥

इत्थमासादितांशकोऽसौ—

वीरद्रव्य (= मांस मद्य आदि) के प्रयोग की उसकी योग्यता नहीं है वह उस आरिराधयिषित मन्त्र का समान्य पूजा होम आदि के द्वारा तर्पण कर पूर्वोक्त साधक दीक्षाभिषेक विधान के द्वारा उस मन्त्र के अंशकत्व का सम्पादन करे—ऐसा कहते हुए द्वितीय अंशकापादन को बतलाते हैं—

हे वरानने ! जो मन्त्र अनंशक है ज्ञातचिह्नों (= उपर्युक्त छह अंशों से भिन्न तथा चिह्नों के द्वारा ज्ञात उस) के द्वारा इसके लिये पहले याग कर बाद में होम करना चाहिये ॥ -१५-१६- ॥

(अनंशक का अर्थ है—) जिसका अंशक = आराधक = शिष्य उक्त प्रकारों से परिच्छिन्न न हो वह अनंशक कहा जाता है । याग और होम का अनुष्ठान उस शिष्य के प्रति उस मन्त्र को अभिमुख कराने के लिये होता है ॥

इसके बाद—

(आचार्य को) पूर्व की भाँति विधिपूर्वक शिष्यकर्म का अनुष्ठान कर पूर्ण आहुति के प्रयोग के द्वारा (शिष्य को) शाश्वत पद में जोड़ देना चाहिए ॥ -१६-१७- ॥

कर्म = भगवान् स्वच्छन्दभैरव की पूजा से लेकर साधक के अभिषेक पर्यन्त का अनुष्ठान । जोड़ दे—उसी शिष्य को मन्त्र के साथ । शाश्वत = परमशिव पद तथा साधकाभिमत शाश्वतभोगदायी सदाशिव आदि पद में । शाश्वत पद से संयुक्त होने के कारण ही यह (साधक) परवीर्य को प्राप्त कर अनंशकता का परित्याग करने के बाद संदशकता को प्राप्त कर लेता है ॥

परतत्त्वमभिध्यायन् साधयेन्मनसेप्सितम् ॥ १७ ॥

एवमंशकापादनं द्विधोक्त्वा मन्त्रांशकमाह—

मन्त्रांशं गणयित्वा तु गृह्णीयात् सुविचारितम् ।

मन्त्ररूपमंशमक्षरभेदक्रमेणांशीकृतं मन्त्रम् ॥

साधकस्य चानुरूपांशकरूपत्वादप्यंशेन—

हीनमध्यसमुत्कृष्टं कथयामि समासतः ॥ १८ ॥

तत्र—

हीनं शत्रुं विजानीयान्मध्यमं साध्यरूपिणम् ।
सिद्धं चैव सुसिद्धं च उत्तमं परिकीर्तितम् ॥ १९ ॥

कथम् ?—इत्याह—

मन्त्राक्षरं तु विश्लेष्य मात्राबिन्दुसमन्वितम् ।
आत्मनामाक्षरं तद्वदधोभागेऽस्य योजयेत् ॥ २० ॥

इस प्रकार अंश को प्राप्त कर यह (साधक)—

परतत्त्व का ध्यान करता हुआ मनोवाञ्छित फल को प्राप्त करता है ॥ -१७ ॥

इस प्रकार अंशकापादन का दो प्रकार से वर्णन कर मन्त्रांशक को कहते हैं—

मन्त्रांश की गणना कर के सुविचारित (मन्त्र) का ग्रहण करना चाहिये ॥ १८- ॥

('मन्त्रांश' का अर्थ है—) मन्त्ररूप अंश अर्थात् अक्षरभेद के क्रम से खण्ड-खण्ड किया गया मन्त्र ॥

साधक के, मन्त्र के अंश के अनुरूप होने से (अर्थात् उत्तम मध्यम हीन होने से) अंशतः—

हीन मध्य और उत्कृष्ट (मंत्रों) को संक्षेप में कह रहा हूँ ॥ -१८ ॥

उनमे से—

(मन्त्र चार प्रकार के होते हैं—हीन, मध्यम, सिद्ध और सुसिद्ध । इनमे से) हीन को शत्रु, साध्य को मध्यम और सिद्ध तथा सुसिद्ध को उत्तम कहा गया है ॥ १९ ॥

कैसे ?—यह बतलाते हैं—

मन्त्र के अक्षरों को उनकी मात्रा एवं बिन्दु के सहित अलग करना

'ॐ शिवाय नमः' इत्यादिके मन्त्रे ॐकारादि मन्त्राक्षरं मात्राभिरकारोकारादिभिर्बिन्दुना च समन्वितं विश्लेष्येत्यकारोकारादिमात्राबिन्दुं च मकारमात्राकल्पनयाऽस्य पृथक्कृत्य, एवं शिकारवाकाराभ्यामिकारमाकारं च विश्लेषयेत् । अकारमात्रा तूच्चारणार्थम्, न कुतश्चिद्विश्लेषयेत् प्रत्युत यतो वर्णान्मन्त्रान्तरं विश्लेषितम् तस्याकारमुच्चारणार्थं कल्पयेत्, अन्यथा उच्चारायोगात् । एवमात्मनः शिष्यसम्बन्धि यन्नाम विष्णुमित्रमित्यादिकम्, तत एकैकमक्षरं तद्वत् प्रोक्तमात्राभेदेन विश्लेष्य, अस्येति विभक्तमन्त्रस्याधोभागे योजयेत् । तेन अउमशइवआयनम इति दशानामक्षराणामधोविभक्तानि विष्णुमित्रनामाक्षराणि दद्यात् । यत्र मन्त्राक्षराणि बहूनि भवन्ति, तत्र नामाक्षराणि पुनः पुनर्योजयेदामन्त्राक्षरसमाप्तिं योजयेत् ॥ २० ॥

एवं स्थिते सति—

आत्मवर्णात् समारभ्य यावन्मन्त्रार्णमागतम् ।

चाहिये । उसी प्रकार (= मात्रा और बिन्दु के सहित) अपने (= साध्य के) नाम के अक्षरों को (अलग कर) इस (मन्त्र) के नीचे जोड़ देना चाहिये ॥ २० ॥

(उदाहरण प्रस्तुत करते हैं—) 'ॐ शिवाय नमः' इत्यादि मन्त्र में जो ॐकार आदि मन्त्राक्षर हैं, मात्राओं से = अकार उकार आदि से और बिन्दु से समन्वित (= युक्त) हैं उन (मन्त्राक्षरों) को, विश्लेषित (= अलग-अलग) कर (अर्थात् ॐकार के अन्दर वर्त्तमान) अकार उकार आदि मात्राओं और बिन्दु को मकार मान कर अलग-अलग करे । तत्पश्चात् इसी प्रकार ('शिवाय' के) 'शि' और 'वा' से इकार और आकार को अलग करे । प्रत्येक वर्ण के साथ अकार की मात्रा (उस वर्ण के) उच्चारण के लिये होती है । उसे किसी से भी पृथक् नहीं करना चाहिये बल्कि जिस वर्ण से मन्त्रान्तर को पृथक् किया गया है उसके उच्चारण के लिये अकार की कल्पना करनी चाहिये अन्यथा (उस वर्ण का) उच्चारण ही असम्भव हो जायेगा । इसी प्रकार अपना अर्थात् शिष्यसम्बन्धी जो नाम 'विष्णुमित्र' आदि है, उससे भी पूर्व की भाँति एक-एक अक्षर को पूर्वोक्तमात्राभेद से अलग-अलग करे । इसके = विभक्त मन्त्र के, अधो भाग में (= मन्त्र के नीचे) जोड़ दे । इस प्रकार (ॐ शिवाय नमः इस मन्त्र का अक्षरपृथक्करण) अ उ म श इ व आ य न म इन दश अक्षरों के रूप में हुआ । इसके नीचे विष्णुमित्र नाम के विभक्त अक्षरों को जोड़ना चाहिये । जहाँ मन्त्र के अक्षर (नाम के अक्षरों की अपेक्षा) अधिक हों वहाँ नाम के अक्षरों को बार-बार तब तक जोड़ना चाहिये जब तक कि मन्त्र के अक्षर समाप्त न हो जायें ॥ २० ॥

ऐसा होने पर—

अपने वर्ण से आरम्भ कर जब तक मन्त्र का (अन्तिम) वर्ण न आये

यस्मिन् स निपतेद् देवि तमायं परिकल्पयेत् ॥ २१ ॥

शिष्यनामाक्षरमेकैकमवधिं कृत्वा मातृकावर्णपाठक्रमेण गणनया एकैकनामाक्षरोर्ध्वस्थ एकैको मन्त्रवर्णो यावदागच्छति, तावद्वक्ष्यमाणेन सिद्धसाध्यसुसिद्धारिभेदगणनेन यत्रैतदन्यतमे स नामवर्णो निपतेत् संयुज्येत, तमायमिति शुभाशुभसूचकं निश्चिनुयात् । यथोक्तं मयसंग्रहे—

'आयान्तीष्टेतरार्थाय भवन्त्यायांस्तत' इति ॥ २१ ॥

अत्र गणनोपायप्रदर्शनपूर्वमायस्वरूपमादिशति—

रेखांगुलिगतं तं तु कथयामि समासतः ।

रेखोपलक्षितांगुलीगतमंगुलिरेखासु कथितं तमायम् ॥

स च—

पर्वणि प्रथमे सिद्धः साध्यश्चैव द्वितीयके ॥ २२ ॥
तृतीये तु सुसिद्धः स्यादरिर्ज्ञेयश्चतुर्थके ।

(तब तक योजना करनी चाहिये जब तक मन्त्र का अन्तिम वर्ण न आ जाये । नाम का) अन्तिम वर्ण जिस मन्त्र वर्ण में गिरे उसको शुभ-अशुभ का सूचक समझे ॥ २१ ॥

शिष्य के नाम के एक-एक अक्षर को सीमा मानकर मातृकावर्ण के पाठक्रम से गणना करने पर नाम के एक-एक अक्षर के ऊपर स्थित एक-एक मन्त्रवर्ण जब तक आये तब तक वक्ष्यमाण सिद्ध, साध्य, सुसिद्ध, अरि भेद की गणना से जहाँ (चारो में से) किसी एक में वह नाम का वर्ण गिरे = संयुक्त हो, उसके आधार पर उस मन्त्र को यह (= शिष्य अथवा गुरु) शुभाशुभ का सूचक जाने । जैसा कि (मय) संग्रह नामक ग्रन्थ में कहा है—

इष्ट के साथ-साथ अनिष्ट अर्थात् अन्य अर्थ जिसके द्वारा आते हैं वह आय है ॥ २१ ॥

यहाँ गणना का उपाय बतलाने के अनन्तर आय के स्वरूप को कहते हैं—

अब मैं संक्षेप में अंगुलियों की रेखाओं में उसे कहता हूँ ॥ २२- ॥

रेखा से उपलक्षित अंगुलि में वर्तमान अंगुलि रेखाओं में बतलाये गये (संकेत को)।

और वह (= आय)—

प्रथम पर्व में सिद्ध, दूसरे में साध्य, तीसरे में सुसिद्ध और चौथे पर्व में अरि समझना चाहिये ॥ -२२-२३- ॥

अनेन क्रमेण नामाक्षराणि मन्त्राक्षरप्राप्तिं यावद् गणयित्वा आयं परीक्षेत ॥

तत्र—

अरिसाध्यौ परित्यज्य दातव्यश्चुम्बकेन तु ॥ २३ ॥
सिद्धरूपः सुसिद्धश्च भुक्तिमुक्तिफलप्रदः[1] ।

अरिसाध्योराद्यन्तस्थितयोर्बहलयोर्वा परित्यागः, सिद्धसुसिद्धयोस्तु स्वीकारः, क्रमेण भुक्तिमुक्तिप्रदत्वात् । यथोक्तम्—

'सिद्धान्ते सिध्यतेऽवश्यं साध्यान्ते कृच्छ्रसाधनः ।
सुसिद्धः पूर्वसिद्धस्तु अर्यन्तो न प्रसिध्यति ॥' इति ।

तथा—

'एवं शुद्धौ कृतायां तु सुसिद्धोऽभ्यधिको यदि ।
सिद्धौ न लभ्यते ग्राह्यमूर्तिः साध्येऽपि साधकः ॥' इति ।

शुद्धौ कृतायामित्यंशकविषये निश्चितायां साध्येऽप्यधिके त्रिश्चतुर्वा आयाते

इस क्रम से नामाक्षरों को मन्त्राक्षर की प्राप्ति (= अन्त) तक गिन कर आय की परीक्षा करनी चाहिये ॥

उनमें से—

अरिमन्त्र एवं साध्यमन्त्र को छोड़ कर चुम्बक (= गुरु) के द्वारा सिद्धरूप और सुसिद्ध मन्त्र को (शिष्य को) देना चाहिये क्योंकि वे भुक्ति मुक्ति देने वाले हैं ॥ -२३-२४- ॥

अरिमन्त्र और साध्य मन्त्रों जो कि आदि और अन्त में स्थित हैं अथवा बहल (= अनेक स्थान में स्थित) हैं, का परित्याग और सिद्ध तथा सुसिद्ध का स्वीकार करना चाहिये । क्योंकि वे दोनों क्रम से भोग और मोक्ष देने वाले हैं । जैसा कि कहा गया—

'सिद्धान्त अवश्य सिद्ध होता है । साध्य के अन्तवाला कठिनाई से साध्य होता है । सुसिद्ध तो पहले से सिद्ध है और अरि अन्त वाला (मन्त्र कभी भी) सिद्ध नहीं होता ॥'

तथा—

'इस प्रकार शुद्धि करने पर यदि अधिक सुसिद्ध हो जाता है तो भी ग्राह्य मूर्त्ति साधक साध्य मन्त्र के विषय में भी सिद्धि को प्राप्त करता है ।'

१. यहाँ 'भुक्तिमुक्तिफलप्रदः' के स्थान पर 'सिद्धिं च लभते ध्रुवम्' पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता है । तब यह अर्थ होगा कि मन्त्र के सुसिद्ध होने पर ग्राह्यमूर्त्ति साधक साध्यमन्त्र के विषय में भी सिद्धि प्राप्त कर लेता है ।

सति मन्त्रमूर्तिराराध्यत्वेन ग्रहीतव्या, इत्यत्रार्थः । इयं चांशकपरीक्षा एकाक्षरमाला-मन्त्रयोर्न कर्तव्या । यथोक्तम्—

'एकाक्षरेषु कूटेषु मालामन्त्रेषु भामिनि ।
अंशकं न परीक्षेत परीक्षेतान्यमन्त्रगम् ॥'

इति, कूटेष्वद्वैततत्त्वेषु । अत एव—

'मायां[१] नेत्रे च देवेशि तथा द्वात्रिंशदक्षरे ।
न च तत्रारिशङ्का स्यात्................. ॥'

इत्यप्यन्यत्रोक्तम् ॥

तदित्थंविचारात्—

यस्त्वंशकाविशुद्धः स्याद् भैरवोऽत्र वरानने ॥ २४ ॥
तं मध्यमस्थं सम्पूज्य तत्स्थाने मध्यमं न्यसेत्।

य इति कपालीशाद्यन्यतमः । मध्यमस्थमिति, आराधनायां प्रधानीभूतत्वात् । तत्स्थान इति तस्यावरणकक्ष्यास्थस्य कपालीशादेः पदे । मध्यममिति श्रीस्वच्छन्द-

---

शुद्धि करने पर = अंशक के विषय में (= पूर्व वर्णित छह प्रकार के) निश्चित होने पर साध्य मन्त्र के तीन या चार बार आने पर साधक को मन्त्र की देवता की आराधना करनी चाहिये । यह अंशक परीक्षा एकाक्षर मन्त्र और माला मन्त्र के विषय में नहीं करनी चाहिये । जैसा कि कहा गया—

'हे भामिनि ! एकाक्षर मन्त्रों कूट मन्त्रों और माला मन्त्रों के विषय में अंशक-परीक्षा नहीं करनी चाहिये । अन्य मन्त्रों में स्थित अंशक की परीक्षा करनी चाहिये ।'

कूटमन्त्र = अद्वैततत्त्व वाले मन्त्र । इसीलिये—

'माला (= माला मन्त्र = ह्रीं), नेत्र मन्त्र (= ॐ जूं सः) तथा बत्तीस अक्षरों वाले किसी भी मन्त्र के विषय में अरिमन्त्र होने की शङ्का नहीं होती ।'

ऐसा अन्यत्र भी कहा गया ॥

तो इस प्रकार विचार करने से—

हे वरानने ! जो भैरव यहाँ अंशक की पद्धति से अविशुद्ध (= शुद्ध नहीं किया गया) है (प्रत्युत स्वयं शुद्ध है) मध्य में स्थित उसकी पूजा कर उसके स्थान में मध्यम का न्यास करना चाहिये ॥ -२४-२५- ॥

जो = कपालीश भैरव आदि में से कोई भी एक । मध्यमस्थ हैं क्योंकि आराधना में वह प्रधान है । उसके स्थान में = आवरणकक्ष्या में स्थित कपालीश

---

१. कोई विद्वान् यहाँ 'मालां' पाठ मानकर मालां का अर्थ माला मन्त्र समझते हैं ।

मयं तुर्यादिरूपतया परीक्ष्येति दर्शितम् ॥

अथ कथं श्रीस्वच्छन्दनाथस्य परिवारं प्रति परिवारतया न्यासः ?—इत्याशङ्कां शमयितुमाह—

यतः सर्वगतो देवः सर्वेष्वन्तर्गतः स्मृतः ॥ २५ ॥
तत्सिद्धिमुक्तिदातासौ न वर्णाः परमार्थतः ।

यः सर्वगतो व्यापको देवः क्रीडादिशीलश्चिदानन्दघनः श्रीस्वच्छन्दभट्टारकः सर्वेषु कपालीशादिषु प्रपञ्चव्याप्त्यावस्थितेष्वन्तर्गतः परमार्थरूपो यतः, तत्तस्मात् स एव तत्तत्कपालीशाद्यात्मना स्मृतः, साधकस्यांशकशुद्ध्या सिद्धिमभेदव्याप्त्या च मुक्तिं ददाति परमार्थतः, न तु व्याप्तिज्ञानशून्या वर्णाः किंचित् कुर्वन्ति । उक्तं हि प्राक्—

'अक्षरेषु कुतो मोक्षः' (७।२३८) इति ।

तेन स्वस्यावरणभेदस्यान्यथाकल्पनेऽपि न तत्त्वभूमेः काचिन्म्लानिः ॥

तदिदमंशकविचारान्ते प्रसङ्गायातं वस्तु—

आदि के साथ में, मध्यम = श्री स्वच्छन्दमय (कपालीश आदि में से किसी एक को) चतुर्थ दशा वाले के रूप में समझ कर न्यास करना चाहिये ॥

प्रश्न—स्वच्छन्दनाथ का परिवार के प्रति परिवार के रूप में न्यास कैसे किया जाता है?—इस शङ्का का समाधान करने के लिये कहते हैं—

चूँकि (स्वच्छन्द भैरव) देव सर्वगामी और सबके अन्तर्गत बतलाये गये हैं इसलिये परमार्थतः वही सिद्धि और मुक्ति को प्रदान करने वाले हैं न कि वर्ण ॥ -२५-२६- ॥

जो सर्वगत = व्यापक, देव = क्रीडा आदि स्वभाव वाले (क्योंकि 'दिव' धातु क्रीडा, विजिगीषा, व्यवहार द्युति, श्री स्वच्छन्द भट्टारक ही चूँकि प्रपञ्चव्याप्ति के द्वारा स्थित कपालीश आदि समस्त भैरवों में अन्तर्गत = परमार्थरूप हैं, इस कारण वे ही (= स्वच्छन्द भैरव ही) तत्तत् कपालीश आदि के रूप में माने गये हैं । अंशकशुद्धि के द्वारा साधक को लौकिक अभ्युदय और अभेदव्याप्ति के द्वारा परमार्थतः मोक्ष देते हैं । व्याप्तिज्ञान से शून्य वर्ण कुछ नहीं करते । पहले कहा भी गया है—

'अक्षरों में मोक्ष कहाँ ?' (२।२३८)

इसलिये अपने आवरणभेद की अन्यथा कल्पना करने पर भी तत्त्वभूमि की कोई क्षति नहीं है ॥

अंशकविचार के अन्त में प्रसङ्गवश आये विषय को—

कथितं सरहस्यं ते गुह्याद् गुह्यतरं परम् ॥ २६ ॥

अथ यत् कथितमित्युक्तम्, तत्प्रमाणीकर्तुं परमशिवात् प्रभृति गुरुपारम्पर्येणेदं रहस्यं तन्त्रमवतीर्णमिति दर्शयन् परादि दिव्यान्तं सम्बन्धषट्कं प्रदर्शयति—

अतस्तन्त्रावतारार्थं कथयामि समासतः ।

तत्र—

अदृष्टविग्रहायातं शिवात् परमकारणात् ॥ २७ ॥
ध्वनिरूपं सुसूक्ष्मं तु सुशुद्धं सुप्रभान्वितम् ।
तदेवापररूपेण शिवेन परमात्मना ॥ २८ ॥
मन्त्रसिंहासनस्थेन पञ्चमन्त्रमहात्मना ।
पुरुषार्थं विचार्याशु साधनानि पृथक् पृथक् ॥ २९ ॥
लौकिकादिशिवान्तानि परापरविभूतये ।
तदनुग्रहयोग्यानां स्वे स्वे विषयगोचरे ॥ ३० ॥
अनुष्टुप्छन्दसाऽऽबद्धं कोट्यर्बुदसहस्रधा ।

शिवात् परमाद्वयप्रथात्मकश्रेयोरूपात्, परमकारणात् शिवान्तानां कारणानां

जो कि गुह्य से भी परम गुह्यतर है, रहस्य के साथ मैंने तुमको बतलाया ॥ -२६ ॥

अब जो पूर्व श्लोक में 'कथितम्'—यह कहा गया उसको प्रमाणित करने के लिये परम शिव से लेकर गुरुपरम्परा के द्वारा यह रहस्य = तन्त्र, अवतीर्ण हुआ— इसको दिखलाते हुए पर से लेकर दिव्य पर्यन्त छह सम्बन्धों को बतलाते हैं—

इसलिये तन्त्रावतार के अर्थ (= तत्त्वार्थ, तात्पर्य) को संक्षेप में कह रहा हूँ ॥ २७- ॥

इस सन्दर्भ में—

अदृष्टशरीर वाले, शान्त, परम कारण रूप शिव से जो सुप्रभा से युक्त, सुशुद्ध, सुसूक्ष्म ध्वनिरूप (नाद उत्पन्न हुआ) वही मन्त्ररूपी सिंहासन पर स्थित पञ्चमन्त्रमहात्मा, परमात्मा अपर रूप शिव के द्वारा कोट्यर्बुदसहस्र (= दश हजार करोड़) अनुष्टुप् छन्द के द्वारा उपनिबद्ध किया गया । यह तन्त्रशास्त्र पुरुषार्थ का विचार कर पर और अपर विभूति की प्राप्ति के लिये लौकिक से लेकर शिवपर्यन्त साधनों का विचार कर रचा गया । यह शास्त्र अनुग्रहयोग्य तत्तद् व्यक्तियों को दृष्टि में रखकर तत्तद्विषयक बनाया गया ॥ -२७-३१- ॥

शिव = परम अद्वयप्रथात्मक श्रेयो रूप शिव । परम कारण = (पृथ्वी से

सर्वेषां स्वभित्तावाभासकात्, अत एवादृष्टः परद्रष्ट्रेकरूपो विग्रहः स्वरूपं यस्य तस्मात् । भिन्नमेतत्पदं छान्दसेन पञ्चम्यात्वादेशेन । अथ च तस्मिंस्तद्रूपमेवायातं प्रसरणस्फुरणं यस्य तद् ध्वनिरूपं नादामर्शात्मकं सुसूक्ष्ममप्रमेयं विश्वव्यापकं च, अकारादिकलाकलितत्वाभावात् सुशुद्धम्, सुप्रभान्वितं महाज्ञानरूपं यत्तदेवापररूपेणेत्यनाश्रितभट्टारकाख्येन शिवेन दण्डवक्त्रभंग्यवस्थितसद्योजातपञ्चमहामन्त्रशरीरे पृथक् पृथगनुग्राह्यानुसारं साधनान्यनुष्ठानानि लौकिकादिशिवान्तानि विचार्य तत्तत्सिद्धिसाधनार्थमपररूपेणैव स्थूलेन वेदादिरहस्यान्ततत्तत्स्रोतोभेदोद्भूतनानाशास्त्ररूपमनन्तग्रन्थसदर्भात्मकं निबद्धम् । मन्त्रसिंहासनस्थेन सार्धत्रिकोटिमन्त्राधिपतिनेत्येनेनैव शास्त्रानन्त्यस्यावकाशो दत्तः । पञ्चमन्त्रमहात्मनेत्यनेन श्रीकण्ठीयसंहिताद्युक्तनानास्रोतोभेदः सूचितः । तत्र—

'अदृष्टविग्रहाच्छान्ताच्छिवात् परमकारणात् ।
ज्ञानरूपं विनिष्क्रान्तमनवच्छ(ब्द)[1] महत् ॥'

इत्यादिना नादस्वरूपं निरूप्य—

लेकर) शिवपर्यन्त समस्त कारणों का, अपनी ही भित्ति (= आधारभूमि) पर अवभासक होने से चरम कारण है । इसीलिये (अदृष्टविग्रह =) नहीं देखा गया पर द्रष्टारूप विग्रह अर्थात् स्वरूप जिसका ऐसे वह, उनसे । यह (अदृष्टविग्रहात्) पद छान्दस है । यहाँ 'अदृष्टविग्रहायातं' के स्थान पर 'अदृष्टविग्रहात् आयातम्' पाठ होना चाहिये । इसके अतिरिक्त उसमें = उसी रूप में, प्रसरणस्फुरण आया है ऐसा वह ध्वनिरूप = नाद के आमर्शरूप, सुसूक्ष्म = अप्रमेय तथा विश्वव्यापक है । अ इ उ आदि कला की कलना (= स्फुरण, प्राकटय, रचना) न होने से वह सुशुद्ध है । सुप्रभान्वित = महाज्ञान रूप है । उसी ने अपररूप = अनाश्रित शिवरूप के द्वारा, दण्डवक्त्रभङ्गी (= पञ्चब्रह्म के दण्ड अर्थात् आयुध एवं मुख की भिन्नता) के द्वारा अवस्थित सद्योजात (वामदेव, अघोर, तत्पुरुष और ईशान नामक इन) महामन्त्र के शरीर में अनुग्राह्य के अनुसार पृथक् पृथक्, लौकिक से लेकर शिवपर्यन्त साधन = अनुष्ठान, का विचार कर तत्तत् सिद्धि के साधन के लिये अपर रूप = स्थूल वेद से लेकर तन्त्र पर्यन्त तत्तत् स्रोत (= परम्परा या आम्नाय) के भेद से उद्भूत अनेक शास्त्र रूप अनेक ग्रन्थसन्दर्भ वाले शास्त्र को उपनिबद्ध किया । मन्त्ररूपी सिंहासन पर स्थित अर्थात् 'साढ़े तीन करोड़ मन्त्रों के अधिपति' इस कथन से यह तन्त्रशास्त्र अनन्त है—इस विचार को अवसर दिया गया । 'पञ्चमन्त्रमहात्मना' इस कथन से श्रीकण्ठीयसंहिता आदि में वर्णित अनेक स्रोतों का भेद संकेतित किया गया । वहाँ पर—

'परम कारण, अदृष्टविग्रह एवं शान्त शिव से ज्ञानरूप महान् अनवच्छिन्न (= असीम) शब्द निकल पड़ा ।'

---

१. द ।

'ततो जातमिदं सर्वं चतुर्वर्गफलप्रदम् ।।'

इत्युक्त्वा स्रोतोभेदेन नानाशास्त्रप्रपञ्चोदयः प्रदर्शितः । तदेवेत्यादिना आबद्ध-मित्यन्तेन तत्तदनुग्राह्याशयानुसारेण भिन्नभिन्नफलान्यपि शास्त्राणि वस्तुतो वाक्यैकवाक्यतया परिपूर्णाभिन्नविमर्शस्फाराण्यासूत्रितसमस्तभेदाभेदप्रपञ्चानीति तथाविधव्याप्तिज्ञं तत्वज्ञं प्रत्यभिन्नचिदानन्दघनतत्त्वविश्रान्तिपरमार्थान्येवेति ध्वनति । तदुक्तम्—

'यतः शिवोद्भवं सर्वं शिवधामफलप्रदम् ।' इति ॥

एवं परसम्बन्धमूलतां शास्त्रप्रसरस्य प्रदर्श्य, सम्बन्धान्तरगोचरतामपि प्रदर्श-यिष्यामीत्याशयेन परमशिवेनापीत्थमिदमुत्थाप्यत इत्याह—

गुरुशिष्यपदे स्थित्वा स्वयं देवः सदाशिवः ॥ ३१ ॥
पूर्वोत्तरपदैर्वाक्यैस्तन्त्रमाधारभेदतः ।
तज्ज्ञानमीश्वरेऽदात् तदीश्वरेण शिवेच्छया ॥ ३२ ॥
विद्यायाः कथितं पूर्वं विद्येशेभ्यस्तथादरात् ।

इत्यादि के द्वारा नाद के स्वरूप का निरूपण कर—

'उस (= नाद) से चतुर्वर्गफलदायी यह सब (नानास्रोतभेदभिन्न शास्त्र) उत्पन्न हुआ ।'

ऐसा कहकर स्रोतभेद (= सम्प्रदाय के भेद) से अनेक शास्त्र के विस्तार का प्राकट्य बतलाया गया । 'तदेव' से लेकर 'आबद्धम्' तक का तात्पर्य यह है कि यद्यपि तत्तत् अनुग्राह्य की योग्यता एवं आशय के अनुसार शास्त्र भिन्न-भिन्न होते हैं तो भी परमार्थतः सबकी एकवाक्यता के द्वारा (= सबको परस्पर जोड़ने से) वे परिपूर्ण अभिन्न विमर्श के विस्तार हैं और वे यद्यपि समस्त भेदा-भेद भेद और अभेद के सिद्धान्त का विस्तार हैं तथापि उस प्रकार की (पारमेश्वरी) व्याप्ति को जानने वाले के लिये वे अभिन्न चिदानन्दघन तत्त्व रूप परमार्थ के ही प्रतिपादक हैं—ऐसा ध्वनित होता है । वही कहा गया—

'चूँकि सब शास्त्र शिव से उत्पन्न हैं अतः सबके सब शिवधाम रूपी फल को देने वाले हैं ।'

इस प्रकार शास्त्रविस्तार की परसम्बन्धमूलता (= इन शास्त्रों का मूल एक ही पर तत्त्व है इस तथ्य) को बतला कर । 'ये अन्य सम्बन्ध के विषय भी हैं इसे बतलाऊँगा' इस आशय से परमशिव भी इसको इसी प्रकार प्रस्तुत किये हैं—यह कहते हैं—

देव सदाशिव ने स्वयं गुरु और शिष्य के रूप में स्थित होकर पूर्व और उत्तर पद वाले (= प्रश्न और उत्तर वाले) वाक्यों के द्वारा इस तन्त्र शास्त्र और उससे सम्बद्ध ज्ञान को आधारभेद के अनुसार ईश्वर को दिया ।

देवः परवाक्शक्तिमयः शिवभट्टारक एव । सदाशिव इति गृहीततत्तद्भूमिकः। स्वयं गुरुशिष्यपदे स्थित्वेति प्रतिभाभुवि प्रष्टृप्रतिवक्तृभावासूत्रणेन परममहा-पश्यन्तीवाक्शक्त्यासूत्रितपूर्वोत्तरपदात्मकैर्वाक्यैरुपलक्षितं तन्त्रमशेषशास्त्रसन्दर्भमयं तज्ज्ञानं चेश्वरेऽदादिति संक्रमितवान् । आधारभेदत इति ईश्वरात्मकमाधारभेद-माश्रित्य स्वयं तदात्मना स्थित्वा इत्यर्थः । तज्ज्ञानमीश्वरे दत्तमिति तु पाठः पूर्वश्लोकान्त आसूत्र्येति योजयित्वा तेन चेत्यनुषङ्गेण व्याख्येयः । इयता महत्सम्बन्धो दर्शितः । शिवेच्छया सदाशिवेच्छया, इत्यनेनानायातशक्तिपातो नोपदेश्य इति ध्वनति । विद्याया इति—

'अष्टवर्गविभिन्ना च विद्या सा (मातृकैव तु)' (१०।११४४)

इति वक्ष्यमाणमातृकावाच्याया देव्यास्तथा वेदनप्रधानत्वाद् विद्याशब्द-वाच्यस्याशेषस्य मन्त्रग्रामस्य, अनन्तभट्टारकादिभ्यश्च विद्येशेभ्यो मन्त्रचक्रवर्तिभ्य ईश्वरेण तन्त्रं तज्ज्ञानं च कथितं संक्रमणयुक्त्या विमर्शपदं नीतम् । आदरादिति भक्त्युल्लासप्रकर्षात् । यद्यपि भगवतो मातृका तदुत्थाश्च मन्त्राः परमेशवद-

---

सदाशिव की इच्छा से वह शास्त्र और तन्निहित ज्ञान ईश्वर के द्वारा आदर के कारण विद्येश्वरों को बतलाया गया ॥ -३१-३३- ॥

देव = परावाक् शक्ति वाले शिव भट्टारक । सदाशिव ही तत्तद् भूमिका (= स्वरूप) को धारण करते हैं । स्वयं गुरु और शिष्य के स्थान में स्थित होकर = प्रतिभाभूमि पर प्रश्नकर्त्ता और उत्तरदाता के रूप में स्थित होकर, परम महापश्यन्तीवाक् शक्ति के द्वारा आसूत्रित पूर्वोत्तर पद वाले वाक्यों से उपलक्षित तन्त्र अर्थात् समस्त शास्त्र सन्दर्भ से परिपूर्ण उस ज्ञान को ईश्वर को दिया अर्थात् ईश्वर में संक्रमित किया । आधारभेद से = ईश्वरात्मक आधार भेद का आश्रयण कर अर्थात् उस रूप में स्थित होकर । 'तज्ज्ञानमीश्वरे दत्तम्' ऐसा पाठ मानने पर पूर्व श्लोक (= ३१-३१-) में 'आसूत्रण कर' इतना अपनी ओर से जोड़ कर 'और उनके द्वारा' इस अनुषङ्ग (= परस्परान्वय) से व्याख्या कर लेनी चाहिये । इतने वर्णन के द्वारा बहुत बड़ा सम्बन्ध दिखलाया गया । शिव की इच्छा से = सदाशिव की इच्छा से, इस कथन से यह ध्वनित होता है कि अनायातशक्तिपात = जिसके ऊपर शक्तिपात नहीं हुआ है ऐसे, व्यक्ति को इस तन्त्रशास्त्र का उपदेश नहीं करना चाहिये । विद्या का—

'वह पराविद्या (अवर्ग इत्यादि) आठ वर्गों में विभक्त होकर मातृका कही जाती है ।' (१०।११४४)

इस प्रकार वक्ष्यमाण मातृकापदवाच्य देवी का तथा वेदनप्रधान होने से विद्या शब्द से वाच्य समस्त मन्त्रसमूह का । ईश्वर ने मन्त्रचक्रवर्त्ती अनन्त भट्टारक आदि विद्येश्वरों को तन्त्र और उसका ज्ञान बतलाया अर्थात् संक्रमण की युक्ति से उनके विमर्शपद को प्राप्त कराया । आदर के कारण = विद्येश्वरों के अन्दर भक्ति के

भेदेनावभासिता विद्यातत्त्वधाम्नि तावदशेषविश्वाभेदव्याप्तिरत्र निमग्नेव स्थितेति तामुन्मज्जयितुमीश्वरेण विश्वानुजिघृक्षया ज्ञानसंक्रान्तिरत्र कर्तृमुपपन्नैव । इतः प्रभृत्यन्तरालसम्बन्धः आसूत्रितः—

'मयापि तव देवेशि साधिकारं समर्पितम्' (८।३६)

इत्येतावत्पर्यन्तो भविष्यति ॥

एवं पश्यन्तीप्रसरणपर्यन्तां शास्त्रस्थितिमुक्त्वा, मध्यमाप्रसरणेनाह—

मायानियतिपर्यन्तैस्तस्माद्रुद्रैरवापि तत् ॥ ३३ ॥

तस्मादिति विद्यातत्त्वचक्रवर्तिनोऽनन्तभट्टारकादित्यर्थात् । मायानियति पर्यन्तैरिति मण्डलप्रभृतिभिः कञ्चुकवासिभिश्च रुद्रैरवापीति संक्रमणयुक्त्यैव ॥ ३३ ॥

ततोऽनन्तरं तदेव ज्ञानं तथैव—

श्रीकण्ठेनेश्वरात् प्राप्तं ज्ञानं परमदुर्लभम् ।

अहं हि भगवानीश्वरात्मनः शिवस्य शिष्यः मण्डल्याद्यास्त्वनन्तशिष्याः । अत्र

उल्लास का उत्कर्ष होने के कारण । यद्यपि जिस प्रकार परमेश्वर को उसी प्रकार सदाशिव को मातृकायें और उससे बने मन्त्र अभिन्न रूप से भासित होते हैं तथापि विद्यातत्त्व में समस्त विश्वाभेदव्याप्ति निमग्न (= प्रच्छत्र, अनुद्भूत) जैसी रहती है इसलिये विश्व के ऊपर अनुग्रह करने की इच्छा से उस व्यक्ति को उन्मग्न (= प्रकाशित) करने हेतु ईश्वर के द्वारा इन विद्येश्वरों में ज्ञान की संक्रान्ति का सम्पादन उचित ही है । यहाँ से लेकर प्रारम्भ किया गया अन्तराल सम्बन्ध—

'हे देवेशि! मेरे द्वारा यह तुमको साधिकार समर्पित किया गया ।' (८।३६)

यहाँ तक रहेगा ॥

पश्यन्ती वाणी के प्रसरण पर्यन्तशास्त्र की स्थिति को बतला कर मध्यमा प्रसरण से (शास्त्र की स्थिति) कहते हैं—

उस (अनन्तनाथ) से माया से लेकर नियतिपर्यन्त के अधिष्ठाता रुद्रों के द्वारा वह (= तान्त्रिक ज्ञान और शास्त्र) प्राप्त किया गया ॥ -३३ ॥

उससे = विद्या तत्त्व के चक्रवर्त्ती अनन्त भट्टारक से । माया से लेकर नियति पर्यन्त = मण्डल आदि और (माया के कला आदि पाँच) कञ्चुकों में रहने वाले रुद्रों के द्वारा । प्राप्त किया गया—संक्रमणयुक्ति के द्वारा (न कि लौकिक अध्यापन विधि के द्वारा) ॥ ३३ ॥

इसके बाद वही ज्ञान उसी प्रकार—

वह परम दुर्लभ ज्ञान श्रीकण्ठ ने ईश्वर से प्राप्त किया ॥ ३४- ॥

मध्ये पुंस्तत्त्वाधिष्ठातारो रुद्रा बन्धहेतुतया स्थापिता इति तेषामेतज्ज्ञान-शक्तिसंक्रान्तिर्न कृता ॥

ततोऽपि तथैव—

तेनापि तदधः प्रोक्तं रुद्राणामीश्वरेच्छया ॥ ३४ ॥
प्रधानाच्छतरुद्रान्तं दीक्षयित्वा विधानतः ।
ममापि च पुरा दीक्षा तथा चैवाभिषेचनम् ॥ ३५ ॥
श्रीकण्ठेन पुरा दत्तं तन्त्रं सर्वार्थसाधकम् ।

यद्यपि गुणतत्त्वे श्रीकण्ठनाथः स्थितः, तथाप्यसौ शिवशिष्यत्वेन प्रभावातिशयवानिति स्वोर्ध्वस्थप्रकृतिवर्तिनः क्रोधाद्यष्टस्य स्वाधारतत्त्वगतानां च शतरुद्रान्तानां रुद्राणामनुग्रहीता । ममापीति कैलासवासिनस्तन्त्रप्रवक्तुर्भगवत उमापतेरुक्तिः । तदित्थमनन्ताद्याः श्रीकण्ठश्चेश्वरभट्टारकात्मनः शिवस्य शिष्याः, मण्डलिनस्त्वनन्तशिष्याः, क्रोधादयः शतरुद्रान्ता उमापतिश्च श्रीकण्ठशिष्या इत्यादिष्टं भगवता । तेन यत् खेटकनन्दनेन—

'मण्डलिनः श्रीकण्ठः क्रोधाद्याः शतभवा सवीरेशाः ।

मैं भगवान्, ईश्वररूप शिव का शिष्य हूँ । मण्डली आदि तो अनन्त (= भगवान् अनन्तनाथ के) शिष्य हैं । इस बीच पुरुषतत्त्व के अधिष्ठाता रुद्रगण बन्धन के कारण के रूप में स्थापित किये गये । इसलिये उनके अन्दर इस तन्त्रज्ञान की संक्रान्ति नहीं की गयी ॥

उनसे भी उसी प्रकार—

उनके (= श्रीकण्ठ के) द्वारा भी उन (= श्रीकण्ठ) के नीचे रहने वाले रुद्रों को भी शिव की इच्छा से (ज्ञान का) कथन किया गया । (यह ज्ञान) प्रधान से शतरुद्रपर्यन्त विधिपूर्वक दीक्षा देकर दिया गया । इसके बाद श्रीकण्ठ ने सर्वार्थसाधक तन्त्र का ज्ञान दिया ॥ -३४-३६- ॥

यद्यपि श्रीकण्ठनाथ गुणतत्त्व में स्थित हैं तो भी शिव (= सदाशिव) का शिष्य होने के कारण यह अतिशय प्रभावशाली हैं । इस कारण अपने ऊपर स्थित प्रकृति तत्त्व में रहने वाले क्रोधीश आदि आठ तथा अपने आधार तत्त्व में स्थित शतरुद्र पर्यन्त रुद्रों के ऊपर ये अनुग्रह करने की क्षमता रखते हैं । 'मेरी भी'—यह उक्ति कैलासवासी तन्त्रप्रवक्ता भगवान् उमापतिनाथ की है । तो इस प्रकार भगवान् अनन्तनाथ आदि और श्रीकण्ठ ये ईश्वरभट्टारक रूप शिव के शिष्य हैं और मण्डली लोग अनन्तनाथ के शिष्य हैं । क्रोधीश से लेकर शतरुद्रपर्यन्त और उमापतिनाथ ये सब श्रीकण्ठ के शिष्य हैं—ऐसा भगवान् ने कहा । इसलिये जो खेटकनन्दन ने कहा कि—

'मण्डली (= देवगण), श्रीकण्ठ, क्रोधीश आदि, शतभव (= शतरुद्र)........?

एते कलादियोगात् प्रकटीकृतदृक्क्रियाः परेशेन ॥' (त.सं. ३०)

इत्युक्तम्, तद्यथोक्तानुसारं क्वचित् साक्षात् क्वचित् पारम्पर्येणेति व्याख्येयम्, नत्वविशेषेण । दीक्षयित्वेति, अभिषेचनं कृत्वेति च शाक्तसमावेशसंक्रमणयुक्त्या पूर्वं शांभवसमावेशयुक्त्यैव । एवं च नादीक्षितस्य ज्ञानग्रहणे, नाप्यनभिषिक्तस्य तद्दानेऽधिकार इत्यादिष्टं भवति ॥

अथैतत्तन्त्रं च तज्ज्ञानं च संक्रमणयुक्त्यैव—

मयापि तव देवेशि साधिकारं समर्पितम् ॥ ३६ ॥

इतः प्रभृति वैखर्याः प्रसरः ॥ ३६ ॥

एवमियतान्तरालाख्यं सम्बन्धं प्रकटीकृत्य, दिव्यांन्तमादिशति—

त्वमपि स्कन्दरुद्रेभ्यो ददस्व विधिपूर्वकम् ।
ब्रह्मविष्ण्वन्द्रदेवानां वसुमातृदिवाकृताम् ॥ ३७ ॥
लोके संगृह्य नागानां यक्षाणां परमेश्वरि ।

विधिर्दीक्षाभिषेकरूपः ॥

दिव्यादिव्यसम्बन्धमाह—

इनके साथ वीरेश ये सब कला आदि के योग से परमेश्वर के द्वारा ज्ञान और क्रिया प्राप्त किये ।' (तं०सं० ३०)

यह यथोक्त (= ऊपर कहे गये) के अनुसार कहीं साक्षात् और कहीं परम्परा से (प्राप्त किये न कि समानरूप से—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये । दीक्षा दे कर और अभिषेक कर शाक्त समावेश के संक्रमण की युक्ति के द्वारा । पहले शाम्भव समावेश के द्वारा) इस प्रकार अदीक्षित का ज्ञान के लेने में और अनभिषिक्त का ज्ञान के देने में अधिकार नहीं है—यह बतलाया जाता है ॥

इसलिये यह तन्त्र और उसका ज्ञान संक्रमणयुक्ति के द्वारा ही—

हे देवेशि ! मैंने तुम्हें अधिकारपूर्वक समर्पित कर दिया ॥ -३६ ॥

इसके बाद वैखरी वाणी का प्रसरण हुआ ॥ ३६ ॥

इतने वर्णन के द्वारा आन्तरिक सम्बन्ध को बतला कर दिव्यान्त का वर्णन करते हैं—

हे परमेश्वरि ! तुम भी स्कन्द, रुद्रों, ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, देवगण, वसु, माताओं, सूर्य, नागों और यक्षों के बीच संक्षेप में विधिपूर्वक इस शास्त्र और ज्ञान का प्रचार करो ॥ ३७-३८- ॥

विधि = दीक्षा और अभिषेक ॥

कथयस्व ऋषीणां च............

एवं च देव्या विश्वानुग्रहाधिकारार्पणेन भगवता महाकारुणिकत्वं परिपोषितम् ॥

अदिव्यं सम्बन्धमाह—

............ऋषिभ्यो मनुजेष्वपि ॥ ३८ ॥

कथयस्वेति स्थितम् । देवी एव हि पराशक्तिस्वभावा विश्वाधिष्ठात्री अनुजिघृक्षारससरसहृदया तत्तदाचार्यदेहमाविश्यानुग्रहं करोति । एवं चादिव्यसम्बन्धपर्यन्तः पर एव सम्बन्धः सर्वत्र प्रपततीत्यभिहितं भवति । तदुक्तम्—

'........................सर्वः परकलामयः ।
महानवान्तरो दिव्यो मिश्रोऽदिव्यश्च तत्परः ॥'

इति त्रिकहृदये ॥ ३८ ॥

उपसंहरति—

एवं तन्त्रवरं दिव्यं सिद्धरत्नकरण्डकम् ।
त्वया गुप्ततरं कार्यं न देयं यस्य कस्यचित् ॥ ३९ ॥

दिव्यादिव्य सम्बन्ध को बतलाते हैं—

फिर ऋषियों को बतलाओ ॥ -३८- ॥

इस वर्णन से यह प्रतीत होता है कि चूँकि भगवान् शिव ने देवी पार्वती को विश्वानुग्रह का अधिकार अर्पित किया अतः वे महाकारुणिक हैं ॥

अदिव्य सम्बन्ध को कहते हैं—

ऋषियों से मनुष्यों में भी इसे प्रचारित करो ॥ -३८ ॥

प्रतिपादित करो—यह शेष है । पराशक्ति स्वभाववाली विश्वाधिष्ठात्री देवी ही अनुग्रहेच्छारस के कारण सरसहृदय वाली होकर तत्तत् आचार्य के शरीर में आविष्ट होकर (स्कन्दादि मनुष्यान्त) अनुग्रह करती हैं । इस प्रकार अदित्यसम्बन्ध तक पर सम्बन्ध ही सर्वत्र आपतित होता है—ऐसा निष्कर्ष निकलता है । वही त्रिकहृदय में कहा गया—

'सब परकलामय (= पर कला से व्याप्त) है । महान् अवान्तर दिव्य, मिश्र (= दिव्यादिव्य) और अदिव्य सब तत्पर (= उसी पर तत्त्व वाला) है' ॥ ३८ ॥

उपसंहार करते हैं—

सिद्धरत्नों की पिटारी के समान यह दिव्य श्रेष्ठतन्त्र तुम अत्यन्त गुप्त रखों । यह जिस किसी को देने योग्य नहीं है ॥ ३९ ॥

यद्यपि पूर्वोक्ते सर्वतन्त्रे तवाधिकारो दत्तस्तथापि यदेवं निर्णीतनिर्णेष्य-माणपटलगतरहस्यार्थपूर्णत्वाद् वरमुत्कृष्टमिदं दक्षिणस्रोत:समुद्भूतभैरवतन्त्रजातमध्ये प्रधानभूतं दिव्यं सर्वभोगापवर्गप्रदं तन्त्रं तत्त्वया गूहनीयं ज्येष्ठाशक्तिपात- वतामेव प्रकाश्यं नेतरेषामिति शिवम् ॥ ३९ ॥

आ देवेभ्य: क्रमान्तं निखिलमिदमियच्छासनत्राणरूपं
विश्वं यत्सम्प्रसूतं परमशिवपदाल्लोकपर्यन्तमेतत् ।
शास्त्रं वाक्यैकवाक्यस्थितमिव विगलद्भेदविश्रान्तिलब्ध-
स्वच्छस्वच्छन्दधामप्रथनपरमिदं स्तात्समग्रस्य जन्तो: ॥

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्य-व्याख्योपेते अंशकाधिकार: नाम अष्टम: पटल: ॥ ८ ॥



यद्यपि पूर्वोक्त समस्त तन्त्रों में मैंने तुम्हें अधिकार दे दिया है तो भी जो निर्णीत (= पूर्ववर्णित) और निर्णेष्यमाण (= आगे कहे जाने वाले) पटलों में निहित रहस्यार्थ से पूर्ण होने के कारण वर अर्थात् उत्कृष्ट तथा दक्षिणाम्नाय से उत्पन्न भैरवतन्त्रसमूह के मध्य प्रधान होने के कारण दिव्य = समस्त भोग और मोक्ष को देने वाला यह तन्त्र है उसे तुम गुप्त रखो अर्थात् ज्येष्ठाशक्तिपात वाले ही मनुष्यादि के लिये प्रकाशित करो दूसरों के लिये नहीं ॥ ३९ ॥

देवता से लेकर सम्पूर्ण सृष्टिक्रम पर्यन्त यह विश्व जो कि परमशिव पद से लेकर लोकपर्यन्त नाना स्तरों में उत्पन्न हुआ है, वाक्यैकवाक्य (= महावाक्य) के समान स्थित तथा शासन अर्थात् कष्ट से त्राण देने वाला यह तन्त्रशास्त्र समस्त जन्तुओं के लिये भेद के नष्ट होने के साथ उसी स्वच्छन्दभैरव के पद को प्राप्त कराने में मुख्य भूमिका निभाये ॥

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के अष्टम पटल 'अंशकाधिकार' की श्रीक्षेमराज-विरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ ८ ॥



नवम: पटल:

*** स्वच्छन्दोद्योत: ***

श्रीमन्निष्कलसद्भित्तावुट्टङ्क्य सकलस्थितिम् ।
विश्राम्यत्यकले तत्त्वे यस्तं भैरवमाश्रये ॥

साधकोद्देशेनाराध्यपञ्चप्रणवनिरूपणानन्तरं तदुपयोगिबहुप्रमेयगर्भं कालस्वरूपम-भिधायांशकसतत्त्वमुक्तम् । प्रसङ्गात् तन्त्रावतारो दर्शित: । अथ विघ्नौघविघातेन झटित्यभीष्टसिद्धिसाधनं श्रीकोटराक्षविधानं रक्षाचक्रप्रपञ्चमप्रश्नितमप्यनुजिघृक्षया प्रतिपिपादयिषु: श्रीभैरव उवाच—

अत: परं प्रवक्ष्यामि रहस्यमिदमुत्तमम् ।

अत: शब्दो व्याख्यातक्रमसूचनाय । प्रकर्षेण अनुजिघृक्षादरेण वक्ष्यामि । उत्तमं रहस्यमिति सर्वविघ्नप्रशमनं झटित्यभीष्टसिद्धिप्रदं च ॥

*** ज्ञानवती ***

जो ऐश्वर्यसम्पन्न निष्कलतत्त्व की आधारशिला पर सम्पूर्ण स्थिति को उट्टङ्कित कर उसे अकल तत्त्व में विश्रान्त कराते हैं (अथवा स्वयं अकलतत्त्व में विश्राम करते हैं), मैं उस भैरव की शरण में हूँ ॥

साधक के उद्देश्य के अनुसार आराध्य पञ्चप्रणव का निरूपण करने के बाद उस (= साधक) के लिये उपयोगी अनेक प्रमेयों से परिपूर्ण काल के स्वरूप का वर्णन कर अंशक को कहा गया । प्रसङ्गवश तन्त्रशास्त्र के अवतारक्रम का वर्णन किया गया । अब विघ्नसमूह के विघात के साथ झट से अभीष्ट सिद्धि को देने वाले रक्षाचक्रप्रपञ्चस्वरूप श्रीकोटराक्षविधान, जिसके बारे में प्रश्न नहीं किया गया, को भी अनुग्रह की कामना से प्रतिपादन करने की इच्छा वाले श्रीभैरव ने कहा—

इसके बाद मैं इस उत्तम रहस्य को बतलाऊँगा ॥ १- ॥

'अत:' शब्द का प्रयोग अब तक के व्याख्यात विषयों के क्रम की सूचना के लिये है । (प्रवक्ष्यामि का अर्थ है—) प्रकर्ष अर्थात् अनुग्रहेच्छा के आदर, के साथ कहूँगा । उत्तम रहस्य (= इस नवम पटलोक्त विषय के रहस्य की उत्तमता इसलिये

अत एव—

यन्न कस्यचिदाख्यातं तत्ते वक्ष्यामि सुव्रते ॥ १ ॥

शोभनं व्रतं परतत्त्वावहितत्वं यस्या इत्यामन्त्रणेन योग्यतमविरलशिष्यविषयत्वमस्यानुष्ठानस्येति ध्वनति। अतश्च योग्यदेवीव्यतिरेकेण नैतदन्यस्याप्युक्तम् ॥ १ ॥

एतदुद्घाटयति—

महाभैरवदेवस्य क्रीडमानस्य भामिनि ।
सृष्टिसंहारकर्तारं हृदयात्तु विनिर्गतः ॥ २ ॥

महाभैरवदेवः प्रथमपटलदर्शितनिर्वचनस्थित्या स्वच्छन्दनाथः, तस्य निःशेषविघ्नप्रशमनसर्वसिद्धिसम्पादनानुजिघृक्षात्मिकां क्रीडां ताच्छील्येन कुर्व(तो)[1], स्वस्वातन्त्र्यशक्त्यात्मकाद् हृदयात्, सृष्टिसंहारयोः कर्ता वक्ष्यमाणश्रीकोटराक्षनामा देवः, अरं शीघ्रम्, विनिर्गतः समुच्छलित इत्यर्थः । अत एव भगवानघोरहृदय इत्युच्यते ॥ २ ॥

है कि वह) समस्त विघ्नों का नाशक तथा अभीष्ट की सिद्धि देने वाला है ॥

इसीलिये—

हे सुव्रते ! जो मैंने किसी को नहीं बतलाया वह तुम्हें बताऊँगा ॥-१॥

(सुव्रते का अर्थ है—शोभन व्रत वाली) व्रत का शोभनत्व है—पर तत्त्व के प्रति ध्यानयुक्त होना, वह जिसके पास है (वह सुव्रता कहलाती है) । इस आमन्त्रण से यह ध्वनित होता है कि इसका अनुष्ठान योग्यतम विरल शिष्य ही कर सकता है । इस कारण योग्य देवी को छोड़ कर इसको अन्य को नहीं बतलाया गया ॥ १ ॥

इसका उद्घाटन करते हैं—

हे भामिनि ! महाभैरव देव जब क्रीडा करने लगे तब उनके हृदय से शीघ्र ही सृष्टिसंहार का कर्त्ता (श्री कोटराक्ष) निकल पड़ा ॥ २ ॥

महाभैरव के समान देव = प्रथम पटल में बतलायी गयी स्थिति के अनुसार श्री स्वच्छन्दनाथ जो कि समस्त विघ्नों की शान्ति और समस्त सिद्धि के सम्पादन रूप अनुग्रहेच्छा स्वरूप क्रीडा को स्वभावतः करने वाले हैं उनकी स्वातन्त्र्यशक्ति रूप हृदय[2] से, सृष्टि और संहार का कर्त्ता कोटराक्ष नामक देव, अरम् = शीघ्र, विनिर्गत हुआ = निकल पड़ा । इसीलिये भगवान् (स्वच्छन्दनाथ) को अघोरहृदय कहा जाता है ॥ २ ॥

---

१. (ता)
२. सा स्फुरत्ता महासत्ता देशकालाविशेषिणी ।
सैषा सारतया प्रोक्ता हृदयं परमेष्ठिनः ॥

तं भगवन्तं दर्शयितुमाह—

कल्पान्तवह्निवपुषं प्रलयाम्बुदनिःस्वनम् ।
तडित्पुञ्जनिभोद्दंष्ट्रं जटाज्वालासमप्रभम् ॥ ३ ॥
चन्द्रसूर्याग्निनयनं कोटराक्षं सुभीषणम् ।
बृहद्वक्षःस्थलाभोगं नागयज्ञोपवीतिनम् ॥ ४ ॥
स्फुरन्माणिक्यमुकुटं सर्पकुण्डलभूषितम् ।
सर्पहारकृताटोपं सर्पकङ्कणनूपुरम् ॥ ५ ॥
सिंहचर्मपरीधानं सर्पमेखलमण्डितम् ।
गजचर्मावृतपटं शशाङ्ककृतशेखरम् ॥ ६ ॥
पञ्चवक्त्रं शवारूढं दशबाहुं त्रिलोचनम् ।
कपालमालाभरणं खड्गखेटकधारिणम् ॥ ७ ॥
पाशाङ्कुशधरं देवं शरशार्ङ्गवितानितम् ।
कपालखट्वाङ्गधरं वरदाभयपाणिकम् ॥ ८ ॥
भिन्नाञ्जनचयप्रख्यं स्फुरिताधरभास्वरम् ।
ब्रह्मेन्द्रविष्णुनमितं त्रिदशैरपि दुर्लभम् ॥ ९ ॥

सर्वमेतत् प्रागुक्तव्याख्याभिर्व्याख्यातसतत्त्वम् । तडित्पुञ्जनिभे उद्गते दन्ष्ट्रे यस्य, जटानां ज्वालानां चासमा प्रभा दीप्तिर्यस्य, कोटरं कुहरं तदाकृतीन्यक्षीणि

उस भगवान् का स्वरूप बतलाने के लिये कहते हैं—

इनका शरीर कल्पान्त अग्नि के समान, स्वर प्रलयकालीन मेघ की भाँति, दाँत बिजली के समूह जैसे और जटा (अग्नि की) ज्वाला के समान है । चन्द्रमा, सूर्य और अग्नि उनकी आँखें हैं । ये भगवान् कोटराक्ष देखने में भयङ्कर हैं । उनका वक्षःस्थल चौड़ा है और वे साँप का यज्ञोपवीत पहने हैं । उनका मुकुट चमकती हुई माणिक्य से जटित है । सर्प का कुण्डल धारण किये हैं । उनका हार, नूपुर और कङ्गन सब साँपों का है । सिंह का चर्म वस्त्र के रूप में और साँप की करधनी पहने हैं । हाथी के चमड़े से शरीर को ढँके हुए तथा मस्तक पर चन्द्रमा धारण किये हैं । शव पर आरूढ उनके पाँच मुख दश भुजायें और तीन आँखें हैं । गले में कपाल की माला, हाथों में खड्ग, ढाल, पाश, अङ्कुश, धनुष, बाण, कपाल, खट्वाङ्ग, वरद एवं अभयमुद्रा धारण करने वाले हैं । उनका शरीर भिन्न (= सघन) अञ्जन के समूह की भाँति है और ओठ फड़क रहे हैं । ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र उनको नमस्कार कर रहे हैं देवगण से भी वे दुर्लभ हैं ॥३-९॥

इन सब श्लोकों की व्याख्या पूर्वोक्त व्याख्या से की जा चुकी है । विद्युत् समूह के समान चमकीले तथा ऊपर उभरे दो दाँत हैं जिसके वह । जटाओं और

यस्य, अनेन अन्तर्लक्ष्यतां बहिर्दृष्टित्वं च दर्शयति, सुष्ठु भीषणत्वं नाम्नैवोक्तम् । मेखलशब्दे तु ह्रस्वः ऐश्वरः । त्रिलोचनमिति प्रतिवक्त्रम् । अवतानितं मण्डलीकृतदोर्दण्डम् । स्फुरिताधरत्वं निःशेषविघ्नभक्षणपरत्वेन ॥ ९ ॥

एतद्रूपमनुग्राह्यैरुपास्यमित्याह—

एवं तं भैरवं देवं स्वच्छन्दं परिकीर्त(चिन्त)[1]येत् ।

स्वच्छन्दनाथमेव बहुरूपत्वादनेन सुभीषणेन विघ्नसन्त्रासनेन रूपेण चिन्तयेदित्यर्थः ॥

अतश्च—

स्मरणान्नाशयेद् देवः पापसङ्घातमुल्बणम् ॥ १० ॥

ध्यायिनां व्याध्याद्युद्भावकप्राक्तनमहापापप्रशमनायैव तेनैवंविधं रूपं स्वेच्छया गृहीतम् । अतः स्मरणादेवोल्बणं दुष्टभोगदानायोन्मुखीभूतं पापसङ्घातं नाशयत्येव । अत एव चतुर्वक्त्रात् श्रीव्याधिभक्षभट्टारकादयमन्य एव देवो व्याध्याधिकारणभूतमहापापभक्षण इत्यवगतम् ॥ १० ॥

ज्वालाओं की प्रभा दीप्ति असमान है (= तुल्य) जिसकी वह । कोटर = कुहर (= गड्ढा) उसकी आकृति के समान आँखें हैं जिसकी वह । इससे (उन कोटराक्ष भगवान् की शाम्भवीमुद्रा का वर्णन करते हैं जिसमें) लक्ष्य अन्दर और दृष्टि बाहर खुली रहती है । प्रखर भीषणता तो (कोटराक्ष) नाम से ही कही जा चुकी है । 'मेखल' शब्द में ह्रस्व अकार का प्रयोग ऐश्वरीय है (शुद्ध संस्कृतशब्द 'मेखला' है) । तीन लोचन वाला यह प्रत्येक (पाँचों) मुखों में है । अवतानित = भुजाओं को मण्डल बना दिया है । उनके अधर स्फुरित हैं क्योंकि वे समस्त विघ्नों का भक्षण करते रहते हैं ॥ ९ ॥

अनुग्राह्य लोगों के द्वारा इस रूप की उपासना करनी चाहिये—यह कहते हैं—

उस स्वच्छन्द भैरव देव का इस रूप में ध्यान करना चाहिये ॥ १०- ॥

चूँकि स्वच्छन्दनाथ अनेक रूपों वाले हैं इस कारण इस सुभीषण = विघ्नों के सन्त्रासक के रूप में (उनका) ध्यान करना चाहिये ॥

इसके फलस्वरूप—

वे देव स्मरण से ही उल्वण पापसङ्घात का नाश करते हैं ॥ -१० ॥

उन्होंने (= स्वच्छन्दभैरव ने) ध्यान करने वालों के व्याधि आदि के उद्भावक पूर्व जन्मार्जित महापाप के प्रशमन के लिये ही स्वेच्छा से इस प्रकार का रूप धारण किया । इसलिये केवल स्मरण से ही वे उल्बण = दुष्ट भोग के दान के लिये उन्मुख, पापसमूह का नाश करते ही हैं । इसलिये यह देव (स्वच्छन्दनाथ) चारमुखों वाले श्रीव्याधिभक्ष भट्टारक से भिन्न हैं । यह व्याधि (= शारीरिक रोग) और आधि (= मानसिक कष्ट) के कारणभूत महापाप का भक्षण करते रहते हैं—यह ज्ञात हुआ ॥ १० ॥

1. कीर्त्त ।

किं च

अस्य मन्त्रः पुराख्यातो द्वात्रिंशाक्षरसंमितः ।

यस्तं भीषणरूपानुगुणतया—

पञ्चप्रणवपूर्वान्तं तत्र लीनं जपेन्मनुम् ॥ ११ ॥

प्राग्दर्शिततत्त्वाः पञ्चः प्रणवाः पूर्वान्तयोर्यस्य तम्, तत्रैव पञ्चप्रणवस्वरूपे लीनं विश्रान्तम्, तद्धित्यर्थं तदाच्छुरितं चेमं महामन्त्रं पूजान्ते जपावसरे जपेत् । अतश्चैवं वाच्यवाचकक्रमाभ्यां दीप्तत्वादघोरीश्वर्युक्तत्वाद् भाविविशिष्टदेवतापरिवृतत्वेतराभ्यामस्य द्वात्रिंशदक्षरादन्यत्वमित्यनुष्ठानान्तरमेवैतत् ॥ ११ ॥

तदीदृशस्य—

तस्य कल्पं प्रवक्ष्यामि समासान्न तु विस्तरात् ।

कल्प्यत आराध्यतेऽनेनेति कल्पः विधानम् ॥

और—

इस (श्री कोटराक्षभट्टारक) का मन्त्र जो कि बत्तीस अक्षरों वाला है, पहले ही (स्व० तं० प्रथम पटल में) कहा गया है ॥ ११- ॥

भीषणरूप के अनुगुण होने के कारण—

उस (= पञ्चप्रणव) में लीन तथा आदि और अन्त में पाँच प्रणव वाले मन्त्र का जप करना चाहिये ॥ -११ ॥

पहले जिनको बतलाया जा चुका है ऐसे पाँच प्रणव आदि और अन्त में ही जिसके, उसको । उसी में = पञ्चप्रणव स्वरूप में, लीन = विश्रान्त । उसके आधार के लिये उससे (= पञ्चप्रणव से) आच्छुरित (= मिश्रित) इस महामन्त्र को पूजा के अन्त में जप के समय जपना चाहिये । इसलिये वाच्य क्रम और वाचक क्रम से दीप्त होने, अघोरीश्वरी के द्वारा उक्त होने के कारण भावी विशिष्ट देवता से परिवृत और इतर (= अपरिवृत) होने के कारण यह (मन्त्र) बत्तीस अक्षरों वाले (मन्त्र) से भिन्न है । इसलिये यह अनुष्ठान दूसरा है ॥ ११ ॥

तो इस प्रकार के—

इस (मन्त्र) का कल्प संक्षेप में न कि विस्तार से कहूँगा ॥ १२- ॥

तमाह—

पूर्वोक्तभूप्रदेशे च विशुद्धे शुभलक्षणे ॥ १२ ॥
पुष्पप्रकरसङ्कीर्णे गन्धधूपाधिवासिते ।
तत्र मण्डलमालिख्य पूर्वोक्तैर्वर्णकैः शुभैः ॥ १३ ॥
एकहस्तं द्विहस्तं वा चतुर्हस्ताष्टहस्तकम् ।
सुसूत्रितं समं कृत्वा चतुरस्रं समन्ततः ॥ १४ ॥
पूर्ववत् साधयित्वा तु दिग्भागांस्तु वरानने ।

पूर्वोक्तैरिति—

'धाम्ना तु रजसां पातः' (४।३५)

इति वाक्येन सूचितैः, वर्णकैः सिन्दूरादिभिः । गतार्थमन्यत् ॥

एतत् प्राक्तनमण्डलाद्विशिष्टं मण्डलमित्याह—

चतुर्द्वारसमोपेतमष्टपत्रं सकर्णिकम् ।
मध्ये पद्मं समालिख्य केसरैरुपलक्षितम् ॥ १५ ॥
द्वात्रिंशदक्षरं बाह्ये चक्रमालिख्य शोभनम् ।
एवं सुसूत्रितं कृत्वा बाह्ये चैव तु वर्तुलम् ॥ १६ ॥

जिसके द्वारा कल्पना = आराधना की जाय वह कल्प = विधान होता है ॥

उसको बतलाते हैं—

हे वरानने ! विशुद्ध, शुभलक्षणों वाली, पुष्पों से विकीर्ण, गन्ध धूप आदि से वासित भूमि पर पूर्वोक्त शुभ वर्णों (= रङ्गीन चूर्ण) से मण्डल बनाना चाहिये । (वह मण्डल) एक हाथ, दो हाथ, चार हाथ अथवा आठ हाथ का होना चाहिये । इसे सुसूत्रित (= धागे से भली भाँति गोलाकार चिह्नित), समतल, और चारो ओर से चौकोर बनाकर दिग्भागों को निश्चित करना चाहिये ॥ -१२-१५- ॥

पूर्वोक्त —

'रस्सी के के सहारे चूर्ण को गिराना चाहिये' (४।३५)

इस वाक्य से सूचित । वर्णक = सिन्दूर आदि (= कुंकुम, रोरी, अबीर, केशर आदि) । शेष श्लोक का अर्थ स्पष्ट है ॥

यह मण्डल पूर्ववर्णित मण्डल से भिन्न है—यह कहते हैं—

(इस मण्डल में) चार द्वार, उसके मध्य में कर्णिका से युक्त अष्टदल कमल जिसमें केसर भी हो, बनाना चाहिये । (कमल के) बाहर बत्तीस

चतुरस्रं तदासन्नं बाह्ये वीथीं प्रकल्पयेत् ।
मध्यपद्मप्रमाणेन द्वारं कल्पयेत पूर्ववत् ॥ १७ ॥

एवमिति चक्रपरीमाणानुसारेण, सुसूत्रितं वर्तुलं भ्रमं कृत्वा, तस्यासन्नं च चतुरस्रं कृत्वा वीथीं प्रकल्पयेत् । तद्बाह्येऽन्तःपद्मक्षेत्रमानं कण्ठकपोलशोभोपशोभाढ्यं चतसृषु दिक्षु द्वारचतुष्टयं कल्पयेत् ॥ १७ ॥

अथ निष्पन्ने मण्डले साधकः—

भस्मोद्धूलितदेहस्तु मुद्रालङ्कारभूषितः ।
केशयज्ञोपवीती च दिग्वासाः संयतेन्द्रियः ॥ १८ ॥
शङ्खार्घपात्रहस्तस्तु सकलीकृतविग्रहः ।
परितोऽस्त्रं प्रविन्यस्य भैरवं पूजयेत् प्रिये ॥ १९ ॥
प्रणवासनसंस्थं तु............

भस्मोद्धूलितत्वादिना साधकस्य मन्त्राराधनावसरे महाव्रतित्वमुक्तमत एव परभैरवानुकारित्वेनापि तदभिमानिनो विघ्ना नश्यन्ति । भाव्यस्यात्र जलस्नानादि नोक्तम्, दिग्वासाः, तदन्यस्य यत्संयमनाशयेनैव कौपीनग्रहणात् । शङ्खमत्र

अक्षरों वाला सुन्दर चक्र लिखे । इस चक्र के बाहर धागे से गोल चक्र बनाये । उसके पास में चौकोर आकार बनाकर बाहर वीथी की कल्पना (= रचना) करे । मध्य कमल के परिमाण के अनुसार पूर्व की भाँति द्वार की रचना करे ॥ १५-१७ ॥

इस प्रकार = चक्र के परिमाण के अनुसार । सुसूत्रित = गोल वृत्त खींच कर । उसके पास चौकोर (आकृति) बनाकर वीथी की कल्पना करे । उसके बाहर चारो दिशाओं में अन्तःकमल के क्षेत्र के परिमाप वाले चार दरवाजे जिसमें कण्ठ कपोल शोभा उपशोभा उत्कीर्ण हों, बनाये ॥ १७ ॥

मण्डल के बन जाने पर साधक—

अपने शरीर पर भस्म गिरा कर भस्म लिप्त करे । मुद्रा और अलङ्कार से भूषित, केश एवं यज्ञोपवीत धारण किया हुआ दिग्वासा (= नग्न) एवं जितेन्द्रिय हो जाय । हाथ में शङ्ख का अर्घपात्र लेकर शरीर को सकलीकृत (= निष्कल देवता में कला के सन्धान वाला) बनाये । हे प्रिये! तत्पश्चात् मण्डल के चारो ओर अस्त्रप्राकार की रचना कर प्रणवासन पर स्थित भैरव की पूजा करनी चाहिये ॥ १८-२०- ॥

भस्मोद्धूलित आदि होने के कथन से यह बतलाया गया कि साधक मन्त्र की आराधना के समय महाव्रती रहे । इसीलिये परभैरव का अनुकारी होने से भी तदभिमानी (= भैरवाभिमानी) साधक के विघ्न नष्ट हो जाते हैं । यहाँ भाव्य

प्रकरणसामर्थ्यान्महाशङ्खम् । परितोऽस्त्रं सर्वतोऽस्त्रप्राकारम् । प्रणवासनस्थत्वं प्राग्वत् ॥

कथं पूजयेत्, कं च भैरवमित्याह—

...........मूर्तिं हंसाक्षरेण तु ।
तमेव सकलं देवं स्वच्छन्दं परमेश्वरम् ॥ २० ॥

मूर्तिं हंसाक्षरेणेति पूर्वोक्तेन चिन्मूर्तिमन्त्रेण द्वात्रिंशदक्षरेण च सकलमूर्तिरूपेण। तमेवेति पूर्वोक्तम् ॥ २० ॥

किमविशिष्टम् ? नेत्याह—

यत्तत् परमनिर्भासमनामयमरूपकम् ।
तेन चावाहयेद् देवि...........

परम: सर्वोत्कृष्टो निर्भासो यस्य, अनामयं मायासम्बन्धहरम्, अरूपकमनाकृति, यत्पूर्वं निष्कलं तत्त्वमुक्तम्, तेन प्रोक्तनीत्याद्यन्तस्थितेन सहितमावाहनमुद्रयाऽऽवाहयेत् पूजनार्थमभिमुखीकुर्यात् ॥

(=मोक्षेच्छु) का जलस्नान आदि नहीं कहा गया । 'दिग्वासा:' इस कथन से यह प्रतीत होता है कि उससे भिन्न यदि कोई संयमी है तो उसे कौपीन धारण करना चाहिये प्रकरण के सामर्थ्य से यहाँ शङ्ख का अर्थ महाशङ्ख (= नरकपाल) समझना चाहिये । परित: अस्त्र = मण्डल के चारो ओर अस्त्र का प्राकार (= चारदीवारी) । प्रणव का आसन होना पूर्व वर्णित की भाँति (समझना चाहिये) ॥

किस प्रकार और किस भैरव की पूजा करनी चाहिये ?—यह कहते हैं—

हंस अक्षर वाले (मन्त्र) के द्वारा (मन्त्र) मूर्त्ति उसी सकल देव परमेश्वर स्वच्छन्द भैरव (की पूजा करनी चाहिये) ॥ -२० ॥

मूर्त्ति को हंसाक्षर के द्वारा—पूर्वोक्त चिन्मूर्त्ति मन्त्र तथा बत्तीस अक्षर वाले सकल मूर्त्ति के द्वारा । उसी की = पूर्वोक्त देव की ॥ २० ॥

क्या समान रूप से (पूजा करनी चाहिये)? नहीं—यह कहते हैं—

हे देवि ! (उस देव का) जो परम निर्भास, अनामय, अरूपस्वरूप कहा गया उसके सहित उसका आवाहन करना चाहिये ॥ २१- ॥

(परम निर्भास) परम = सर्वोत्कृष्ट, निर्भास (= द्युति) है जिसकी वह । अनामय (आमय = रोग =) माया सम्बन्ध (से रहित एवं) माया सम्बन्ध का हरण करने वाला (= मोक्षप्रद) । अरूपक = आकृतिहीन । जो पहले निष्कल तत्त्व कहा गया, उस उपर्युक्त नीति से आदि और अन्त में स्थित रूप से युक्त निष्कल तत्त्व, का आवाहनमुद्रा से आवाहन करना चाहिये = पूजा के लिये उनको अपने अभिमुख

किं च—

.......हृच्छिरश्च शिखां तथा ॥ २१ ॥
वर्म नेत्रे तथास्त्रं च तेनैव परिकल्पयेत् ।

तेनैवेति नैष्कलेन हृदाद्यङ्गमन्त्रेण, न तु प्राग्वत् सकलेनापि । ब्रह्मपञ्चकमन्त्राणां तु न सकलादिविभागोऽस्तीति प्राग्वत् तन्न्यासानन्तरं भगवदाकृतौ निष्कलाङ्गन्यास: ॥

इत्थं च निष्कलसकलात्मकैकरूपे भगवत्याह्वानसमये एव निष्कलसकलमन्त्रोच्चाराद् निष्कलस्थानविहितपरमीकरणे न्यस्ते वक्त्रनैष्कलाङ्गविन्यासे कृते—

स्थापनं सन्निधानं च निरोधार्घादिपूजनम्॥ २२ ॥
सर्वं तेनैव कर्तव्यमुक्तानुक्तं वरानने ।

स्थापनादि सर्वं पूर्वप्रदर्शितमुद्राबन्धपूर्वं कर्तव्यम् । तेनैवेति निष्कलसम्पुटितेन सकलेन । उक्तमिति स्थापनादि, अनुक्तं तु स्वागतपाद्याचमनस्नानादि आत्मनिवेदनपर्यन्तम् ॥

इत्थं च—

करना चाहिये ॥

तथा—

उसी (मन्त्र) से उसका हृदय, शिर, शिखा, वर्म (= कवच), नेत्र तथा अस्त्र न्यासों की कल्पना करनी चाहिये ॥ -२१-२२- ॥

उसीसे = नैष्कल हृद् आदि अङ्गमन्त्र से न कि पूर्व की भाँति सकल मन्त्र से भी ब्रह्म पञ्चक (= ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) के मन्त्रों का सकल आदि विभाग नहीं है इसलिये पूर्व की भाँति उनके न्यास के बाद भगवान् (स्वच्छन्दनाथ) की आकृति में निष्कल अङ्गन्यास होता है ॥

इस प्रकार भगवान् के निष्कलसकलात्मक एक रूप होने पर आवाहन के समय ही निष्कल-सकल मन्त्र का उच्चारण करने के कारण निष्कल स्थान में परमीकरण के सम्पन्न होने तथा वक्त्रनैष्कलअङ्गन्यास करने पर—

हे वरानने ! स्थापना, सन्निधि, निरोध, अर्घ आदि पूजन क्रियायें जो कि उक्त हैं अथवा अनुक्त भी, सब की सब उसी (मन्त्र) से की जानी चाहिये ॥ -२२-२३- ॥

स्थापना आदि समस्त कार्य पूर्वप्रदर्शित मुद्राबन्ध करने के बाद करना चाहिये। उसी से = निष्कल से सम्पुटित सकल मन्त्र से, उक्त = स्थापना आदि । अनुक्त = स्वागत पाद्य आचमन स्नान से लेकर आत्मनिवेदन तक ॥

मध्यस्थं भैरवं पूज्यमङ्गषट्कसमन्वितम् ॥ २३ ॥

मध्यस्थमिति मध्यगतम्, भैरवमिति भैरवतेज इत्यर्थः ॥ २३ ॥

किं चात्र पद्मबाह्ये द्वात्रिंशदरके चक्रे—

ततः पत्रस्थिता देवीर्द्वात्रिंशार्णैर्विशयेत् ।
पूर्वारकात् समारभ्य यावदन्ते व्यवस्थिता ॥ २४ ॥

पत्रस्थिता इति अष्टपत्रस्य पद्मस्योक्तत्वात् प्रतिदिक्पत्रानुसारिस्थिताराचतुष्टये चक्रे संनिवेशयेदिति । द्वात्रिंशार्णैरिति तकारलोप ऐश्वरः, तेन द्वात्रिंशद्देवीः द्वात्रिंशतैव अर्णैः, अर्थाद् द्वात्रिंशद्वर्णसम्बन्धिभिर्विभज्य निवेशयेत् ॥ २४ ॥

तासां नामानि वक्ष्यामि द्वात्रिंशत्परिसंख्यया ।

तानि मन्त्रस्थाक्षरस्फारसारतत्सदृशप्रथमनामाक्षररूपाणि निरूपयति—

अरुणा घोषा देवी च रेवती भोगदायिका ॥ २५ ॥
स्थापनी घोरसंज्ञा च रक्षा भारभरेति च ।
घोररूपा रवा घोणा रतिस्ताराथ रूपिणी ॥ २६ ॥

इस प्रकार—

छः अङ्गों से युक्त एवं मध्यस्थ भैरव की पूजा करनी चाहिये ॥ -२३ ॥

मध्यस्थ (= कमल के) मध्य में वर्तमान । भैरव = भैरवतेज ॥ २३ ॥

और भी—पद्म के बाहर वर्तमान तथा बत्तीस अरों वाले, चक्र में—

(अष्टदल कमल के) पत्रों पर स्थित (बत्तीस) देवियों का बत्तीस अक्षरों के द्वारा निवेश करना चाहिये । (ये देवियाँ) कमल के पत्र में वर्तमान पूर्व अरा से प्रारम्भ कर (उत्तर के) अन्तिम अर तक स्थित हैं ॥ २४ ॥

'पत्रस्थिताः' (का तात्पर्य है कमल के अष्टदलों में स्थित क्योंकि पहले) अष्टदल कमल का वर्णन किया जा चुका है । इसलिये (पूर्व आदि) प्रत्येक दिशा में स्थित चार-चार अरों वाले चक्र में संनिवेश करना चाहिये । 'द्वात्रिंशार्ण' यहाँ पर तकार का लोप ईश्वरीय है (लौकिक संस्कृत में 'द्वात्रिंशदर्ण' पाठ होना चाहिये) । इसलिये बत्तीस देवियों का बत्तीस वर्णों से निवेश कराना चाहिये । अर्थात् अलग-अलग बत्तीस वर्णों से बत्तीस देवियों का न्यास करना चाहिये ॥ २४ ॥

(अब) उनके बत्तीस नामों को बतला रहा हूँ ॥ २५- ॥

ये (नाम उन देवियों से सम्बद्ध) मन्त्र के अन्दर स्थित अक्षरों के स्फार के सार रूप में स्थित प्रथम वर्ण को ध्यान में रख कर निरूपित किये जो रहे हैं—

अरुणा, घोषा, रेवती, भोगदायिका, स्थापनी, घोरसंज्ञा, रक्षा, भारभरा,

भयहानिस्तु चण्डा वै सर्वदा च तथा वरा ।
तक्षकी च तथा शार्वी बर्बरा सर्वगा तथा ॥ २७ ॥
रौद्री च भ्रामणी चैव नागिनी च मनोहरा ।
स्तम्भनी रोषणी चैव द्रावा रुद्रा प्रशासिनी ॥ २८ ॥
भयापहारिणी देवी ज्ञेया द्वात्रिंश तत्क्रमात् ।

तत्क्रमादिति मन्त्रगताक्षरक्रमानुसारेणेत्यर्थः । एवं चाभिदधत्र केवलं मन्त्रस्य पूर्वनिर्णीतवाक्यरूपा वीर्यव्याप्तिः, यावद्वर्णानुसारेण प्रोक्तदेवताचक्रव्याप्तिमयत्वमपीत्यादिशति देवः ॥

आसां देवीनामावाहनादौ मन्त्रमाह—

प्रणवादिस्ततो वर्णो देवीनाम नतिस्तथा ॥ २९ ॥
सर्वासां तु विधिर्ह्येष कर्तव्यो विधिवेदिना ।

वर्ण इति द्वात्रिंशदक्षरसम्बन्धी क्रमेणैकैक इत्यर्थः । नाम इति चतुर्थ्यन्तमित्यर्थात् । विधिरिति पूजादिविषयो मन्त्रोच्चारणप्रकारः । विधिवेदिनेत्येष आवाहनादावामन्त्रणविभक्त्यन्तं नाम तथा तत्कर्मानुसारेण जातिप्रयोग इत्यनुमन्तव्यमिति ध्वनति ॥

घोररूपा, रवा, घोणा, रति, तारा, रूपिणी, भयहानि, चण्डा, सर्वदा, वरा, तक्षकी, शार्वी, बर्बरा, सर्वगा, रौद्री, भ्रामणी, नागिनी, मनोहरा, स्तम्भनी, रोषणी, द्रावा, रुद्रा, प्रशासिनी, भयापहारिणी ये बत्तीस देवियाँ उसके क्रम से जाननी चाहिये ॥ -२५-२९- ॥

उस क्रम से = मन्त्रस्थ अक्षरों के क्रम के अनुसार । ऐसा कहते हुए देव (शिव) यह कहना चाहते हैं कि मन्त्र की पूर्वनिर्णीत वाक्यरूपा वीर्यव्याप्ति ही नहीं है बल्कि वर्ण के अनुसार उक्त देवताचक्र की व्याप्ति भी मन्त्र में है ॥

इन देवियों के आवाहन आदि के विषय में मन्त्र बतलाते हैं—

पहले प्रणव (= ॐ), उसके बाद वर्ण, उसके बाद देवी का नाम उसके बाद नति (= नमः) (इस प्रकार मन्त्र का स्वरूप होगा—ॐ अं अरुणायै नमः; ॐ घों घोषायै नमः........ इत्यादि) विधि को जानने वाला आचार्य सब देवियों के विषय में यह विधि अपनाये ॥ -२९-३०- ॥

वर्ण = बत्तीस अक्षरों में से क्रमशः एक-एक वर्ण । नाम—उसके अन्त में चतुर्थी विभक्ति लगी हो । विधि = पूजा आदि विषयक मन्त्रोच्चारण का प्रकार । 'विधिवेदिना' कहने का तात्पर्य यह है कि आवाहन आदि के विषय में नाम के अन्त में आमन्त्रण विभक्ति (= सम्बोधन प्रथमा) तथा उस कर्म के अनुसार जाति (= नमः स्वाहा वषट् आदि) का अनुमान कर लेना चाहिये ॥

अथासां देवीनां प्रतिदिशं चतसृणां पूर्वोक्तनीत्या भैरवीयप्रपञ्चव्याप्तितत्त्वलोकपालानुसारेण भैरवानुसारेण ध्यानं निर्दिशति—

हेमाभं प्राक् चतुष्कं तदिन्द्रचापसमप्रभम् ॥ ३० ॥
चतुर्मुखं चतुर्बाहुं वज्रहस्तं सुगर्वितम् ।
कपालमालाभरणं प्रहसत्तु विचिन्तयेत् ॥ ३१ ॥

प्राक् चतुष्कमिति पद्मप्राग्दलसंश्लिष्टानां चतुष्टयनिविष्टमरुणादिचतुष्कं तद्दिक्पतितुल्यत्वाद् हेमप्रभं वज्रहस्तं च, इन्द्रचापसमप्रभमित्यन्तःस्फुरन्नानावर्णभास्वरम्, ऊर्ध्ववक्त्रस्य निष्प्रपञ्चत्वात् सिद्ध्यनुगुणता नास्तीति पञ्चवक्त्रशक्तिमदधिष्ठितमपि देवताचक्रं साधकसिद्ध्यानुगुण्येन गृहीतचतुर्मुखचतुर्भुजादिरूपं दर्शितम् । एकत्र दक्षहस्ते वज्रस्योक्तत्वादनुक्तमपि कपालखट्वाङ्गधारित्वमभयकरत्वमंशेन भैरवरूपानुकारादुक्तम्, अतश्च कपालमालाभरणत्वमपि सङ्गतमेवेति तदनुसारेण प्रतिवक्त्रं त्रिनेत्रत्वमपि मन्तव्यम् । सुगर्वितत्वं प्रहसत्त्वं च निर्विघ्नसिद्धिदानानुगुण्येन कियदेतद्वस्तु इत्याशयात् । एतच्चतुर्मुखत्वादि प्रहसितत्वान्तं सर्वत्र चतुष्केऽनुमन्तव्यम्, तथा कपालखट्वाङ्गहस्तत्वादिकं च ॥ ३१ ॥

आग्नेयं रक्तवर्णाभं शक्तिहस्तं सदा स्मरेत् ।
दण्डहस्तं स्मरेद्याम्यं कृष्णवर्णं सुभीषणम् ॥ ३२ ॥
नीलमिन्दीवराभासं नैर्ऋतं खड्गहस्तकम् ।
श्यामं वारुणदिग्भागे पाशहस्तं विचिन्तयेत् ॥ ३३ ॥
धूम्रं सामीरदिग्भागे ध्वजहस्तं सुचञ्चलम् ।
उत्तरं धवलं ज्ञेयं गदाखेटकधारि च ॥ ३४ ॥
स्फटिकाभं तथैशान्यां त्रिशूलायुधपाणिकम् ।

उत्तरस्मिन् देवीचतुष्टये खेटकधारित्वस्य स्वकण्ठेनोक्तत्वादभयपाणित्वं न ध्यातव्यम् । चतुर्मुखत्वादि सर्वमन्यत् प्राग्वत् ॥

अत्र ध्याने फलमाह—

एवं ध्यानपरो यस्तु चक्रमेतत् सदाभ्यसेत् ॥ ३५ ॥
वत्सरार्धाद् वरारोहे तस्य सिद्धिस्त्रिधा भवेत् ।

अब इन बत्तीस देवियों में से प्रत्येक दिशा (= एवं विदिशा) में चार-चार देवियों के ध्यान, जो कि पूर्वोक्त रीति के अनुसार भैरवीयप्रपञ्चव्याप्ति वाले लोकपाल भैरव के अनुसार है (अर्थात् यह ध्यान लोकपाल = दशदिग्पाल और भैरव के मिश्रित रूप का ध्यान है) का निर्देश करते हैं—

कमल के पूर्व दल में चतुष्क, स्वर्ण की कान्ति वाले, इन्द्रधनुष के समान प्रभा (= सात रङ्ग) वाले, चतुर्मुख, चतुर्बाहु, हाथ में वज्र लिये हुए, गर्वान्वित, कपाल की माला धारण किये हुए और हँसते हुए भैरव का ध्यान करना चाहिये ॥ -३०-३१ ॥

प्राक् चतुष्क—कमल के पूर्वदल में संश्लिष्ट अरुणा आदि चार देवियों के समूह के अन्दर निविष्ट भैरव, उस पूर्वदिशा के अधिपति (= इन्द्र) के तुल्य होने के कारण स्वर्णप्रभा वाला तथा हाथ में वज्र लिये हुए है । 'इन्द्रचापसमप्रभ' कथन का तात्पर्य है कि उस भैरव के अन्दर अनेक रङ्गों के चमकने से वह द्युतिमान् है । (भगवान् स्वच्छन्दनाथ का) ऊर्ध्वमुख प्रपञ्चहीन है इसलिये वह सिद्धिप्रद नहीं है । इस कारण पञ्चवक्त्र की शक्तिवाले के द्वारा अधिष्ठित भी यह देवताचक्र साधक को सिद्धि देने के लिये चारमुख और चार भुजा ही धारण किया है—यह बतलाया गया । दाहिने हाथ में वज्र के कथन से अनुक्त भीं कपाल खट्वाग जो कि भैरव का अलङ्कार है, धारण किये हैं तथा एक हाथ में अभय मुद्रा भी है । इस प्रकार आंशिक रूप से यह भैरव का अनुकृत रूप है । इसलिये कपालमाला से अलंकृत होना भी सङ्गत होता है । इसीलिये तदनुसारेण एक-एक मुख तीन नेत्रों वाला है—यह समझ लेना चाहिये । उस देवता का सुगर्वित और प्रहासयुक्त होना निर्विघ्नसिद्धि देने के कारण है यह उनके लिये कोई बड़ी बात नहीं है—इस आशय से कहा गया । चतुर्मुखत्व से लेकर प्रहसितत्त्व तक समस्त विशेषतायें सभी चतुष्कों में समझ लेनी चाहिये । उसी प्रकार कपाल खट्वाङ्ग आदि को हाथ में लिये हुए हैं—यह भी अनुमान कर लेना चाहिये ॥ ३१ ॥

अग्निकोणीय भैरव रक्तवर्ण के हैं और हाथ में शक्ति धारण किये हुये हैं—सदा ऐसा स्मरण करना चाहिये । दक्षिण दिशा के भैरव का वर्ण काला है और वे भयङ्कर हैं । नैर्ऋत दिशा के भैरव नीलकमल की कान्ति वाले तथा हाथ में खड्ग लिये हुये हैं । पश्चिम दिग्भागस्थ भैरव हाथ में पाश लिये हुए तथा श्याम रङ्ग के हैं—ऐसा चिन्तन करना चाहिये । वायव्यकोणस्थ भैरव धूम के रङ्ग वाले, चञ्चल तथा हाथ में ध्वजा लिये हुये हैं । उत्तरस्थ भैरव धवल रङ्ग के तथा गदा और खेटधारी हैं । ईशान कोण के भैरव हाथ में त्रिशूल लिये हुए तथा स्फटिक वर्ण के हैं—(ऐसा ध्यान करना चाहिये) ॥ ३२-३५- ॥

बाद की चार देवियों के हाथ में खेटक का धारण अपने कण्ठ से कहा गया है इसलिये उनका अभय मुद्रायुक्त ध्यान नहीं करना चाहिये । उनका चतुर्मुख आदि होना सबकुछ पूर्व की भाँति समझना चाहिये ॥

इस ध्यान को करने पर फल बतलाते हैं—

जो साधक इस प्रकार का ध्यान करता हुआ इस चक्र का सदा अभ्यास करता है, हे वरारोहे ! छह मास के अन्दर उसको तीन प्रकार की सिद्धि प्राप्त होती है ॥ -३५-३६- ॥

उत्तममध्यमाधमरूपा ॥

एवं ध्यानसिद्धिमुक्त्वा, तस्यैव जपसिद्ध्युचितं क्षेत्रमादिशति—

महेन्द्रे मलये सह्ये पारियात्रेऽर्बुदे तथा ॥ ३६ ॥
विन्ध्ये श्रीपर्वते चैव तथा कोलगिरौ प्रिये ।

एतान्यष्टौ सिद्ध्यनुगुणानि पर्वतस्थानानि ॥

किं च—

गङ्गायमुनासम्बाधे............

सम्बाधः सङ्कटं संमिश्रयोस्तयोः यावती प्रवाहभूमिः ॥

...............कुरुक्षेत्रे वरानने ॥ ३७ ॥
गङ्गाद्वारे प्रयागे च ब्रह्मावर्ते समास्थितः ।

सरस्वतीचर्मण्वत्योरन्तरस्थो देशो ब्रह्मावर्तः ॥

अन्तर्वेद्यां सुपुण्यायां नर्मदायां तथैव च ॥ ३८ ॥

गङ्गायमुनाप्रवाहयोर्मध्यमन्तर्वेदी । नर्मदायामपि तत्तटे ॥ ३८ ॥

उत्तम मध्यम और अधम रूपा ॥

ध्यान की चर्या से सिद्धिलाभ का कथन कर उस (= ध्यान) की ही जपसाधना के लिये उचित क्षेत्र को बतलाते हैं—

हे प्रिये ! महेन्द्र पर्वत, मलयागिरि, सह्याद्रि, पारियात्र, अर्बुद, विन्ध्याचल, श्रीशैल और कोलगिरि में (उचित क्षेत्र हैं) ॥ -३६-३७- ॥

ये आठ पर्वतस्थान सिद्धि के अनुकूल है ॥

इसके अतिरिक्त—

गङ्गा यमुना के सम्बाध में (क्षेत्र अनुकूल हैं) ॥ -३७- ॥

सम्बाध का अर्थ है—सङ्कट अर्थात् मिश्रित उन दोनों (= गङ्गा-यमुना) की जितनी प्रवाहभूमि है वह भी साधना क्षेत्र है ॥

हे वरानने ! कुरुक्षेत्र में भी है । इसके अतिरिक्त गङ्गाद्वार (= गोमुख = गङ्गोत्री) प्रयाग और ब्रह्मावर्त्त में सम्यक् स्थित (साधक सिद्धि प्राप्त करता है) ॥ -३७-३८- ॥

सरस्वती और चर्मण्वती नदी के बीच का देश ब्रह्मावर्त्त है ॥

अन्तर्वेदि तथा पुण्य नर्मदा भी सिद्धि क्षेत्र है ॥ -३८ ॥

गङ्गा एवं यमुना के प्रवाहों के बीच का भाग अन्तर्वेदि कहलाता है । नर्मदा

किं च—

सुस्निग्धदेशे भूभागे पद्मषण्डैर्मनोरमे ।

पद्मषण्डैर्मनोरमो यः सुस्निग्धो देशस्तत्र भूभागे इति योजना ॥

किं च—

येषु येषु प्रदेशेषु स्वयम्भूर्भगवाञ्छिवः ॥ ३९ ॥
तेषु स्थानेषु देवेशि नियमस्थो जितेन्द्रियः ।
वाङ्निरुद्धः प्रसन्नात्मा लक्षाक्षरजपे रतः ॥ ४० ॥
शाकभक्ष्यः फलाहारी नीवाराद्यशने रतः ।
त्रिकालपूजानिरतोऽथाग्निकार्यपरायणः ॥ ४१ ॥
भावितात्मा महासत्त्वो रक्षायाश्च विधानवित् ।

यः—

तस्य मन्त्रः प्रसिद्ध्येत्तु...........

स च—

...........साधयेत् सचराचरम् ॥ ४२ ॥

स्वयम्भूनामनुग्रहार्थमेवावतीर्णत्वात् तत्क्षेत्रस्य सातिशयं सिद्धिप्रदत्वम् ।

का अर्थ है—नर्मदा के तट पर ॥ ३८ ॥

इसके अतिरिक्त—

जो भी भूभाग सुस्निग्ध (= साफ सुथरा, बालू कङ्कण पत्थर से रहित) और कमल के पुष्पों से सुशोभित हो (वह भी सिद्धि क्षेत्र है) ॥ ३९- ॥

पद्मखण्डों से मनोरम जो स्निग्ध देश है उस भू-भाग में—

तथा—

जिन-जिन स्थानों में भगवान् शिव स्वयं प्रकट होकर विराजमान हैं । हे देवेशि ! उन स्थानों में (साधक यदि शौच, सन्तोष आदि) नियमों का पालन करता हुआ, जितेन्द्रिय, मौनी, प्रसन्नात्मा, शाकाहारी, फलाहारी, नीवार (= तिन्नी का चावल) आदि (= कुट्टू या सिङ्घाड़ा का आँटा आदि) खाने वाला होकर मन्त्र के बत्तीस लाख जप में लगा हुआ, त्रिकालपूजा में निरत, अग्निहोत्र करने वाला भावितात्मा सन्तुष्ट, भक्तिपूर्ण मन वाला, महासत्त्व (= अत्यन्त उत्कृष्ट चित्तवाला) और रक्षाविधान को जानने वाला (होकर साधना करता है) हो तो उसको मन्त्र की सिद्धि हो जाती है और वह चर अचर सबको वश में कर लेता है ॥ -३९-४२ ॥

नियमस्थ इति शौचसंतोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधाननिष्ठः । वाक् च निःशेषेण रुद्धा जपैकनिष्ठीकृता येन, प्रसन्नः त्यक्तसङ्गसंस्कार आत्मा मनो यस्य, लक्षाक्षरजपे रत इति प्राग्वत् द्वात्रिंशता लक्षैः सदशांशहोमैः, न तु यथान्ये—अक्षरं मन्त्रस्तस्य लक्षेणैकेनेति, अक्षरशब्दस्य मन्त्रवाचित्वाभावात्,

'लक्षेणाक्षरसंख्यया' (६।५१)

इति प्राक्तनोक्त्यविशेषप्रतिभासनादेतस्या उक्तेः । न च षाण्मासिकस्य प्रोक्तचक्रध्यानस्य काचिदनुपपत्तिः, तस्यैतज्जपसंख्याविधिं विना शुद्धस्यैव प्रोक्तफलहेतुत्वात् । न च ध्यानमात्रात् सिद्धिर्न भवतीति वाच्यम्, आगमेषु शतशस्तत्प्रतिपादनात्, जपे तु तथोचितं ध्यानं न प्रत्याचक्ष्महे । यदि प्रोक्तचक्रध्यानं मन्त्रजपेऽङ्गं स्यात्, तच्चक्रदेवीनामपि जपनियममभिदध्यादित्यलम् । भावितात्मा आश्वस्तहृदयः, अत एव महासत्त्वः सावष्टम्भोऽत्यन्तशुद्धचित्तः । रक्षाया दिग्बन्धास्त्रप्राकारादिरूपायाः, चकारात् क्षेत्रपालबल्यादेः, विधानविदितिकर्तव्यताज्ञः ॥ ४२ ॥

साधकों के ऊपर कृपा करने के लिये स्वयम्भुओं के अवतरित होने के कारण ये क्षेत्र अतिशययुक्त और सिद्धिप्रद हैं । नियम में स्थित = शौच, सन्तोष, तपः, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान[1] में लगा हुआ । (वाङ्निरुद्ध =) जिसके द्वारा वाणी निरुद्ध अर्थात् केवल जप में लगायी गयी है वह । प्रसन्न = जिसकी आत्मा = मन में आसक्ति का संस्कार नहीं है वह । लक्षाक्षर जप में लगा हुआ—मन्त्र का बत्तीस लाख जप और उसके दशांश होम में लगा हुआ । दूसरे लोग अक्षर शब्द का अर्थ 'मन्त्र' करते हैं और इस प्रकार व्याख्या करते हैं कि 'मन्त्र के एक लाख जप में लगा हुआ ।' यह व्याख्या ठीक नहीं है क्योंकि अक्षर शब्द मन्त्र का वाचक नहीं है । (उन लोगों के ऐसा कथन का कारण है कि)

'लक्षेणाक्षर संख्यया' (६।५१)

इस पूर्वोक्त वचन का उन्होंने सामान्य अर्थ समझा, विशेष नहीं । प्रश्न—उपर्युक्त षाण्मासिक चक्रध्यान की अनुपपत्ति हो जायेगी? उत्तर—ऐसा नहीं है । वह चक्रध्यान शुद्ध होने के कारण इस जपसंख्या विधि के बिना भी उक्त फल देता है। केवल ध्यान से ही सिद्धि नहीं होती ऐसा भी नहीं है, क्योंकि आगमों में सैकड़ों बार इसका प्रतिपादन किया जा चुका है । जप में उसके अनुकूल ध्यान का हम खण्डन नहीं करते । यदि उपर्युक्त चक्रध्यान मन्त्रजप में अङ्ग होता तो चक्रदेवियों के भी जप का नियम कहा गया होता । इतना (कथन) पर्याप्त है । भावितात्मा = आश्वस्त हृदय वाला (= जिसके मन में अडिग विश्वास हो) । इसीलिये महासत्त्व = दृढ़ता के साथ अत्यन्त शुद्ध चित्त वाला । रक्षा—दिग्बन्ध, अस्त्रप्राकार आदि रूपीरक्षा । चकार से क्षेत्रपाल बलि आदि समझना चाहिये । विधान वित् = अनुष्ठान की प्रक्रिया को जानने वाला ॥ ४२ ॥

१. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः (पा०यो०सू० ३।३)

यदुक्तं साधयेत् सचराचरमिति, तत्संक्षेपेण दर्शयन् भाविपटलप्रमेयवस्तु कटाक्षयति—

कालाग्निर्नरकाश्चैव पाताला हाटकेश्वरः ।
सप्तलोकं सब्रह्माण्डं पञ्चाष्टकमतः परम् ॥ ४३ ॥
देवयोन्यष्टकं चैव प्रधानपुरुषान्तकम् ।
नियतिः कालतत्त्वं च रागो विद्या कला तथा ॥ ४४ ॥
माया विद्येश्वरं तत्त्वं सादाख्यं शक्तिगोचरम् ।
सर्वं सिद्ध्यत्यनायासान्मन्त्रराजप्रभावतः ॥ ४५ ॥

एतत्समनन्तरपटलनिर्णेष्यमाणं शक्तितत्त्वान्तं सर्वं साधकस्य वशे भवत्यतश्च शिवरूपः साधको जायत इति यावत् ॥ ४५ ॥

यत्र चेयद्विश्वमस्य वर्तते, तत्र दण्डापूपीयन्यायो मितसिद्धीनां स्थित एवेत्याह—

पूर्वोक्तं कर्म वै क्षिप्रमधमं मध्यमोत्तमम् ।
साधयेन्नात्र सन्देहो भैरवस्य वचो यथा ॥ ४६ ॥

अधमादि प्राग्वत् । मारणोच्चाटनवश्याकर्षणशान्तिकाप्यायनादि च यदधमादि

जो ऊपर कहा गया—'साधयेत् सचराचरम्' । उसको संक्षेप में बतलाते हुए भावी (= दशम) पटल की प्रमेय वस्तु (= वर्ण्यविषय) को संकेतित करते हैं—

कालाग्नि भुवन आदि नरक, पाताल; हाटकेश्वर, (भूर्भुवः स्वः आदि) सात लोक, ब्रह्माण्ड, इसके बाद पञ्चाष्टक, आठ प्रकार की देवयोनियाँ, प्रधान, पुरुष, नियति, काल, राग, विद्या, कला, माया, विद्येश्वर तत्त्व, सदाशिव तत्त्व और शक्ति ये सब मन्त्रराज के प्रभाव से अनायास ही सिद्ध हो जाते हैं ॥ ४३-४५ ॥

आगे वाले (= दशम) पटल में बतलाया जाने वाला शक्तितत्त्व तक का समस्त विस्तार साधक के वश में हो जाता है । इसलिये साधक शिवरूप हो जाता है ॥ ४५ ॥

जहाँ इतना बड़ा विश्व इसके वश में हो जाता है वहाँ दण्डापूपीय न्याय[1] परिमित सिद्धि वालों के लिये है—यह कहते हैं—

(साधक) शीघ्र ही पूर्वोक्त अधम, मध्यम और उत्तम कार्यों को सिद्ध कर लेता है इसमें कोई सन्देह नहीं क्योंकि भैरव का वचन ऐसा है ॥४६॥

१. चूहे ने दण्ड का भक्षण कर लिया तो फिर दण्ड के पास रखा हुआ अपूप (= मालपुआ) जरूर खा गया होगा ।

कर्म पूर्वमुक्तम्, तदपि यथोक्तद्रव्ययुक्तिसहकृतमयं मन्त्रराजः पूर्वोक्तन्यायेनैव जपलक्षेण सहोमेनाराधितः साधयतीति सिद्ध एवायम् । भैरवस्य यथैव वचस्तथा अत्राश्वस्तव्यम् । आश्वासो हि अकम्पः सिद्धिलिङ्गम् ॥ ४६ ॥

अथ योग्यतमसाधकविषयमेतदेव दर्शनं द्वात्रिंशद्देवताचक्रपरिवारं विना एकवीरं निरूपयितुमाह—

अथैकवीरमाश्रित्य अङ्गषट्कसमन्वितम् ।
जातियोगयुतं कृत्वा अष्टपत्रे कुशेशये ॥ ४७ ॥
पूजयेत् पूर्वविधिना..............

एकमेव देवीपरिवाराद्यपरिवृतं वक्त्राङ्गषट्कमात्रसहितम्, वीरं साधकानां मुक्तिपर्यवसिततत्तत्सिद्धिसाधनायोद्यतम् परमेश्वरं, पूर्वोक्तविधिनेति 'भस्मोद्धूलितदेहस्तु' (९।१८) इत्यादिनोक्तेन सर्वेण क्रमेण पूर्वोक्त एव क्षेत्र आराधनार्थं होमान्तेन विधिना पूजयेत् ॥ ४७ ॥

ततः प्रोक्तसंख्याकं जपं होमं च प्रतिज्ञाय, तत्सम्पत्त्यै—

अधम आदि कार्यों को पूर्व की भाँति समझना चाहिये । मारण, उच्चाटन वशीकरण, आकर्षण, शान्तिकर्म और आप्यायन आदि जो पहले अधम आदि के नाम से कहे गये हैं, उनको भी यह मन्त्रराज पूर्वोक्त न्याय से एक लाख जप और (दशांश) होम के द्वारा आराधित होने पर सिद्ध कर देता है । उक्त कर्म यथोक्त द्रव्य और युक्ति के साथ सम्पन्न किया जाना चाहिये । इस प्रकार यह मन्त्रराज सिद्ध ही है । स्वच्छन्दभैरव का जैसा वचन है, इस मन्त्र के विषय में वैसा विश्वास करना चाहिये क्योंकि निष्कम्प (= दृढ़) विश्वास कार्यसिद्धि का चिह्न होता है ॥ ४६ ॥

अब योग्यतम साधक के लिये यही दर्शन (= प्रक्रिया) बत्तीसदेवताचक्रपरिवार के बिना भी (केवल एकवीर की पूजा से भी सम्पन्न की जा सकती है इसलिये) एकवीर का निरूपण करने के लिये कहते हैं—

छः अङ्गों से युक्त एकवीर की अष्टदल कमल के ऊपर जाति (= 'नमः' आदि) से युक्त कर पूर्वविधि के अनुसार ही पूजा करनी चाहिये ॥ ४७-४८- ॥

एक = देवीपरिवार आदि से अपरिवृत केवल छः वक्त्राङ्गों से युक्त, वीर = साधकों के लिये मुक्तिपर्यन्त तत्तत् सिद्धि को देने के लिये उद्यत, परमेश्वर की पूर्वोक्तविधि से—भस्मोद्धूलित देह वाला होकर......... इत्यादि (९।१८) उक्त समस्त क्रम के साथ पूर्वोक्त ही (महेन्द्र पर्वत आदि) क्षेत्र में आराधना के लिये होमान्त विधि के द्वारा पूजा करनी चाहिये ॥ ४७ ॥

उस (= पूजन) के बाद उक्त संख्या वाले जप और होम को बतला कर उस

..................जपहोमार्चने रतः ।
ध्यायन्नेव महादेवि स्वच्छन्दं परमेश्वरम् ॥ ४८ ॥
प्राप्नोति चिन्तितान् कामान् देवि नास्त्यत्र संशयः ।

एवं साधकसिद्ध्यानुगुण्येनाराधनप्रकारानुक्त्वा रक्षाकल्पं प्रस्तावयितुमाह—

अथ रक्षाविधानेषु अघोरं योजयेद्यथा ॥ ४९ ॥
तथाहं कथयिष्यामि तदेकाग्रमनाः शृणु ।

यत्र—

द्वात्रिंशदरसंयुक्तं चक्रमालिख्य भामिनि ॥ ५० ॥
नाभिकेसरसंयुक्तं सुसमं तु वरानने ।
गोरोचनां तु संगृह्य सिद्धालक्तकसंयुताम् ॥ ५१ ॥
दूर्वाकाण्डेन देवेशि हरितेन समालिखेत् ।

सिद्धैः सिद्धार्थकैरलक्तेन च मिश्रां गोरोचनां कृत्वा दूर्वाकाण्डेन नीलेन तत् चक्रमर्थाद् भूर्जे लिखेत् । सिद्धालक्तकमलक्तकविशेष इत्यन्ये । सिद्धा भगवती

(= लक्ष्य) की प्राप्ति के लिये—

हे महादेवि ! जप होम पूजा में नित्य लगा हुआ, स्वच्छन्द परमेश्वर का ध्यान करने वाला साधक हे देवि ! अभिलषित इच्छाओं की प्राप्ति करता है, इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ -४८-४९- ॥

इस प्रकार साधक की सिद्धि के अनुकूल आराधना के भेदों को बतलाकर रक्षाकल्प की प्रस्तावना के लिये कहते हैं—

अब रक्षा के विधानों में जिस प्रकार से अघोर को संयुक्त करना चाहिये उस प्रकार (= विधि) को अब मैं कहूँगा । एकाग्रचित्त होकर अब आप उसे सुनो ॥ -४९-५०- ॥

इस विषय में—

हे भामिनि ! इसके लिये बत्तीस अक्षरों वाला चक्र लिखना चाहिये । यह चक्र नाभि में (= मध्य में) केशर से युक्त और सम हो । इसका लेखन सिद्ध (= विशेष विधि से तैयार किये गये) अलक्तक से हरित (= ताजी, सूखी नहीं) दूर्वा के अंकुरों के द्वारा भोजपत्र के ऊपर लिखना चाहिये ॥ -५०-५२- ॥

सिद्ध = सिद्धार्थक (= पीली सरसो) और अलक्तक से मिश्रित गोरोचन से नील (= हरे ताजे) दूर्वाङ्कुर के द्वारा उस चक्र को भोजपत्र पर लिखना चाहिये । सिद्ध अलक्तक का अर्थ है—विशेष प्रकार का अलक्तक—ऐसा दूसरे लोग कहते

चण्डिका, तत्पादाद् गृहीतेन कुङ्कुमेनेति त्वसत् ॥

अथास्य चक्रस्य—

विद्याराजं कर्णिकास्थं बिन्दुनादसमन्वितम् ॥ ५२ ॥
शक्त्यवसानं देवेशि तस्मिन् साध्यं समालिखेत् ।
कषमध्ये वरारोहे नयनाद्यन्तरोधितम् ॥ ५३ ॥
ईकारवेष्टितं कृत्वा.................

विद्याराजं नवात्ममन्त्रम् । कर्णिकास्थमिति द्वात्रिंशदरचक्रनाभिगतकमलकर्णिकागतमिति यावत् । बिन्दुनादशक्तयोऽत्र लिपिक्रमेण लेखितव्याः । साध्यमिति तन्नाम, एवं चाभिदधद्वाच्यस्य वाचकाभिन्नत्वमीशेच्छाकृतमिति सूचयति। कषमध्य इति नवात्मसम्बन्धिनः क्षकारस्य यौ ककारषकारौ तयोर्मध्य इति, कादुत्तरस्य षस्य प्रथमभागे। नयनेन त्र्यक्षरेण पूर्वोक्तेन नेत्रमन्त्रेण, रोधितमिति सम्पुटीकृतम्। तत्र च नेत्रमन्त्राक्षराणामादावनुलोमक्रमः पश्चात् प्रतिलोमक्रम इति सम्प्रदायः । ईकारवेष्टितं कृत्वेति मायाबीजमालिख्य तदीकारेण नेत्रमन्त्रसम्पुटितं तत्साध्यनाम

हैं । (जो लोग सिद्धालक्तक का—) सिद्धा = भगवती चण्डिका, उसके पैर से लिया गया अलक्तक = कुंकुम—यह अर्थ करते हैं, वह ठीक नहीं है (क्योंकि चक्र देवता का विग्रह होता है और 'चरण रज से विग्रह की रचना अनुचित है) ॥

इसके बाद इस चक्र के—

बिन्दु और नाद से युक्त विद्याराज (मन्त्र) को, जिसके अन्त में शक्तिबीज जुड़ा हो, कर्णिका में लिखना चाहिये । हे देवेशि! उस (मन्त्र के बीच) में साध्य का नाम लिखना चाहिये । हे वरारोहे! (उस विद्याराज मन्त्र के घटक) क ष वर्णों के बीच (साध्य के नाम को) त्र्यक्षर (= ॐ जूं सः) से आदि और अन्त में वेष्टित कर अर्थात् सम्पुटित कर उस त्र्यक्षर को भी ईकार से वेष्टित करे ॥ -५२-५४- ॥

विद्याराज = नव वर्णों वाला मन्त्र । कर्णिकास्थ = बत्तीस अरों वाले चक्र की नाभि (= मध्य) में स्थित कमल की कर्णिका में स्थित । बिन्दु नाद और शक्तियों का लेखन यहाँ लिपि के क्रम से होना चाहिये । साध्य अर्थात् साध्य का नाम, ऐसा कहते हुए ग्रन्थकार यह सूचित करते हैं कि वाच्य और वाचक अर्थात् साध्य और उसका नाम दोनों ईश्वर की इच्छा से अभिन्न हो जाते हैं । क ष के मध्य में—नवात्मसम्बन्धी क्षकार के जो 'क' और 'ष' (अवयव), उन दोनों के मध्य में 'क' के बाद 'ष' के प्रथम भाग से (लिखना चाहिये) । नयन = त्र्यक्षर वाले पूर्वोक्त नेत्रमन्त्र (= ॐ जुं सः) से, रोधित = सम्पुट किया गया । इस (सम्पुटित किये गये) नेत्रमन्त्र के अक्षरों का क्रम पहले अनुलोम (= ॐ जूं सः) होता है बाद में प्रतिलोम (= सः जूं ॐ)—ऐसा एक सम्प्रदाय का मत है । इकार से

त्रिवेष्टितं कषमध्ये लिखेदित्यर्थः ॥

इत्थं कर्णिकायां लिखित्वा—

...............अरकस्था निवेशयेत् ।
पूर्वोक्तदेवता देवि.............

पूर्वोक्ता अरुणाद्या यथोक्तैकैकमन्त्राक्षररूपाः साध्यान्ते भगवत्सम्मुखत्वेन, न तु तत्पराङ्मुखतयेत्याम्नायोऽत्र ॥

अथ—

.............तद्गर्भे साध्यमालिखेत् ॥ ५४ ॥

साध्यमिति तन्नाम ॥ ५४ ॥

कथम्—

भवगर्भे तु तत्कृत्वा ईकाराख्येन वेष्टयेत् ।
त्रीन् वारांस्तु वरारोहे ध्यानयोगसमाश्रितः ॥ ५५ ॥

भव इह प्रणवः, तत्पूर्वस्य देवीमन्त्रस्योक्तत्वात् तस्य गर्भे मध्ये । तदिति

वेष्टित कर — माया बीज (= ह्रीं) को लिख कर उसके ईकार से नेत्रमन्त्रसम्पुटित उस साध्य का नाम जो कि तीन बार वेष्टित हो, 'क' 'ष' के मध्य में लिखना चाहिये—यह अर्थ है ॥ ५२-५३ ॥

इस प्रकार कर्णिका में लिख कर—

हे देवि ! पूर्वोक्त देवताओं को जो कि अ र क में स्थित हों निवेशित करना चाहिये ॥ -५४- ॥

पूर्वोक्त अरुणा आदि (९।२५-२८-) जो कि यथोक्त एक-एक मन्त्र की (प्रथम) अक्षर रूपा है, को साध्य के अन्त में भगवान् के सम्मुख न कि उनके पराङ्मुख निवेशित करना चाहिये—यह यहाँ सम्प्रदाय का नियम है ॥

इसके बाद—

उसके गर्भ में साध्य अर्थात् उसका नाम लिखे ॥ -५४ ॥

साध्य = उसका नाम ॥ ५४ ॥

किस प्रकार—

हे वरारोहे ! (आचार्य को चाहिये कि वह) ध्यान और योग के साथ भव के गर्भ में उसको करके (= लिखकर) उसे ईकार नामक (माया बीज) से तीन बार वेष्टित करे ॥ ५५ ॥

साध्यनाम कृत्वा पश्चादुपरिवर्तिमायाबीजसत्केनेकारेण प्राग्वद् वेष्टयेत् । तदीदृगिति-कर्तव्यताविशेषितं साध्यनाम एकैकारानिविष्टदेवीमन्त्राक्षरमध्ये आलिखेदित्यर्थः । एवं घोशब्दस्य रेशब्दस्य अन्यस्य च प्रथमकुटिलभागात्मनि मध्ये एतत् लेखनीयम् । तथाभूतं चैतदेकैकं देवीमन्त्राक्षरं कर्णिकागतमन्त्रराजसम्मुखं पूर्वादि-क्रमेणारासु निवेशयेत् । ध्यानयोगसमाश्रित इति भगवतो देवतानां च स्वरूपं सिद्धिसमुचितयथोक्ताकारं ध्यात्वा तद्व्याप्तिं च भावयित्वा लिखेत् ॥ ५५ ॥

तदेवं लिखितमेतत् सर्वमेव चक्रम्—

ऊर्ध्वे चैव तु संरोध्य क्रोंकारेण वरानने ।

दिगष्टकेऽस्याष्टौ बहिः क्रोंकारा दातव्या इत्यर्थः ॥

अथैतत्—

इन्दुनाच्छुरितं कृत्वा पुष्पधूपैः प्रपूजयेत् ॥ ५६ ॥

इन्दुः कर्पूरम् । पूजनं मध्यमन्त्रात् प्रभृति सर्वमन्त्रैः यथास्थानम्, यथा-

---

यहाँ 'भव' का अर्थ है—प्रणव (= ॐकार) क्योंकि उसके बाद ही देवीमन्त्र को कहा गया है । उस (= भव) के गर्भ = मध्य में, उसको = साध्य के नाम को, कर के (= लिख कर) बाद में उपर स्थित मायाबीज वाले ईकार से पूर्व की भाँति (साध्य के नाम को) वेष्टित करे । इस प्रकार की इतिकर्त्तव्यता से विशिष्ट किये गये उस साध्यनाम को एक एकार से अनिविष्ट देवीमन्त्र के अक्षरों के मध्य इस (= साध्य) नाम को लिखना चाहिये—यह अर्थ है । इस प्रकार (देवीमन्त्र—ॐ ह्रीं अघोरेश्वरि हूँ फट् के अवयवभूत) घो शब्द रे शब्द और अन्य शब्द के प्रथम कुटिलभागस्वरूप मध्य में इस (= साध्यनाम) को लिखना चाहिये । इस प्रकार बनाये गये देवीमन्त्र के एक-एक अक्षर, जो कि कर्णिका के अन्दर वर्त्तमान मन्त्रराज के सम्मुख है, को पूर्व आदि के क्रम से अराओं में लिखना चाहिये । ध्यानयोगसमाश्रित = भगवान् (स्वच्छन्दनाथ) और अन्य देवताओं के उन स्वरूपों, जो कि सिद्धि के लिये उचित आकार वाले हैं, का ध्यान कर और (उस यन्त्र में) उनकी व्याप्ति की भावना कर, लेखन करना चाहिये ॥ ५५ ॥

तो इस प्रकार से लिखित इस सम्पूर्ण चक्र को—

हे वरानने ! 'क्रों' से संरुद्ध करना चाहिये ॥ ५६- ॥

इस (चक्र) के बाहर आठों दिशाओं में 'क्रों' लिखना चाहिये ॥

तत्पश्चात् इसको—

कपूर से छुरित (= उभार) कर पुष्प धूप आदि से पूजा करनी चाहिये ॥ -५६ ॥

लेखोत्पुंसनं च सम्पद्यते ॥ ५६ ॥

अथ—

वेष्टयेच्चैव तद्भूर्जमरन्ध्रं निर्व्रणं समम् ।
पञ्चरङ्गकसूत्रेण वेष्टयित्वा वरानने ॥ ५७ ॥
सिक्थेन मुटयेत् पश्चात् क्षौद्रमध्ये निधापयेत् ।

सिक्थं मधूच्छिष्टम् । क्षौद्रं माक्षिकं सर्वौषधिरससारभूतमिति तन्मध्ये स्थापनं साध्यस्याप्यायनाय ॥

अस्य रक्षाविधेः फलमाह—

यदा मृत्युवशाघ्रातं कालेन कलितं प्रिये ॥ ५८ ॥
अरिष्टचिह्नितं ज्ञात्वा रक्षामेतां समालिखेत् ।
तस्य मृत्युर्न जायेत इत्येवं भैरवोऽब्रवीत् ॥ ५९ ॥

'यदा'शब्दो भिन्नक्रमः समालिखेदित्यस्यादौ योज्यः । अस्य च पश्चात् तदेत्यध्याहार्यम्, तेन कालाधिकारप्रोक्तैरन्यैर्वारिष्टैः चिह्नितम्, तत एव च—

इन्दु = कपूर । पूजन की प्रक्रिया मध्य मन्त्र से लेकर समस्त मन्त्रों के द्वारा यथा स्थान और स्मृति आदि के अनुसार लेख के उत्पुंसन (= पुंसवन संस्कार) के अनुसार सम्पादित होती है ॥ ५६ ॥

इसके बाद—

चक्रलिखित उस भोजपत्र को पाँच रङ्गों वाले सूत्र से इस प्रकार लपेटना चाहिये कि वह कहीं से भी छिद्र युक्त न हो न टूटे और समानरूप से वेष्टित हो । हे वरानने! उसके बाद उसको मधु के उच्छिष्ट (= मोम) से मुटित (= उपलिप्त) कर मधु के अन्दर रख देना चाहिये ॥ ५७-५८- ॥

सिक्थ = मधु निकालने के बाद बची हुई मोम । क्षौद्र = मधुमक्खी के द्वारा उत्पादित समस्त औषधियों के रस का सारभूत । उसके अन्दर यन्त्र की स्थापना साध्य की तृप्ति और पुष्टि के लिये करनी चाहिये ॥

इस रक्षाविधि का फल बतलाते हैं—

हे प्रिये जब (कोई व्यक्ति) मृत्यु के निकट हो, काल से ग्रस्त हो तब उसके अरिष्ट (= अशुभ) चिह्न को समझ कर यदि इस रक्षाचक्र का लेखन किया जाय तो (जिसके लिये यह रक्षायन्त्र तैयार किया जाता है) उसकी मृत्यु नहीं होती—ऐसा भैरव ने कहा है ॥ -५८-५९ ॥

'यदा' शब्द का क्रम भिन्न है । उसे 'समालिखेत्' के पहले जोड़ना चाहिये और इसके बाद 'तदा' का अध्याहार करना चाहिये (इस प्रकार शाब्दबोध होगा—

'एकोत्तरं मृत्युशतमस्मिन् देहे प्रतिष्ठितम् ।
तत्रैकः कालमृत्युः स्याच्छेषास्त्वागन्तवः स्मृताः ॥'

इति स्थित्यागन्तुशतेनाघ्रातं कालमृत्युना च एकेन कलितं साध्यं ज्ञात्वा गुरुरिमां रक्षां यदा समालिखेत्, तदा तस्य मृत्युः कोऽपि न स्यादिति भगवतैवोक्तमेतदिति नात्र संशयितव्यम् । लिपिमात्रात् कथमेतद्भवतीति ? यतः श्रीसर्ववीरश्रीभर्गशिखानिरूपितनीत्या लिपिरपि पराशक्तिप्रसररूपैव, अतो भगवतैवैवं प्रतिज्ञातत्वात् सत्यमेवैतन्मन्तव्यम् ॥ ५९ ॥

मृत्युरक्षणे प्रकारान्तरमाह—

कपालीशस्य गर्भे तु नाम यस्य समालिखेत् ।
भूर्जपत्रे वरारोहे रोचनाया रसेन तु ॥ ६० ॥
ओंकारपुटमध्यस्थं रोधितं नयनाक्षरैः ।
वौषड्जातिप्रयोगेण तस्य मृत्युर्न जायते ॥ ६१ ॥

कपालीशः पूर्वोक्तः, तस्य गर्भे प्राग्वत् कषमध्ये । कीदृशं नाम । ओंकारपुटमध्यस्थमाद्यन्तयोरोंकारसम्पुटीकृतम् । तथाकृतं च सत्पूर्वोक्तैर्नयनाक्षरैर्वौषड्-

---

जब यह यन्त्र लिखा जाय तो मृत्यु नहीं होती) । इससे कालाधिकार में वर्णित या अन्य अशुभ सूचक चिह्नों (लक्षणों) से युक्त । इसीलिये—

'इस शरीर में एक सौ एक प्रकार की मृत्यु प्रतिष्ठित है । उसमें एक मृत्यु तो समय पूरा होने पर होती है । शेष सौ आगन्तुक (अकाल) मृत्यु हैं ।'

इस वचन के अनुसार साध्य को एक सौ आकस्मिक और एक कालिक मृत्यु से युक्त समझ कर गुरु यदि इस रक्षाचक्र का लेखन करे तो उस साध्य की कोई भी मृत्यु नहीं होती—ऐसा भगवान् शिव या भैरव ने ही कहा है । इसलिये इस विषय में सन्देह नहीं करना चाहिये कि अक्षर की लिपि से यह कैसे हो जाता है । क्योंकि श्रीसर्ववीर और श्रीभर्गशिखा में निरूपित नीति के अनुसार लिपि भी परा शक्ति का ही प्रसरण है इस कारण भगवान् के द्वारा ही ऐसी प्रतिज्ञा करने से इसे सत्य ही मानना चाहिये ॥ ५९ ॥

मृत्यु से रक्षा के विषय में प्रकारान्तर को बतलाते हैं—

हे वरारोहे ! भोजपत्र के ऊपर गोरोचन के द्रव से कपालीश के मध्य में जिसका नाम लिखे और यह नाम ॐकार से सम्पुटित तथा नयनाक्षर (= ॐ जूं सः) से रोधित तथा अन्त में 'वौषट्' जाति जुड़ी हो, तो उस (= साध्यक) की मृत्यु नहीं होती ॥ ६०-६१ ॥

कपालीश का वर्णन पहले किया जा चुका है, उसके गर्भ में अर्थात् पूर्व की भाँति क और ष के मध्य में । यह नाम किस प्रकार लिखा जाय? (उत्तर देते

जातिप्रयोगेण पश्चात्कृतेनोपलक्षितैः रोधितमिति प्राग्वदनुलोमप्रतिलोमक्रमाभ्यामाद्यन्तयोः सम्पुटीकृतम् । दिग्विशेषानुपादानादष्टासु दिक्षु इति । अत्र च प्राग्वद् दूर्वाकाण्डलेखनपूजनादिक्षौद्रमध्यनिधानपर्यन्तं सर्वमनुसर्तव्यम् ॥ ६१ ॥

एवं परिवारस्थभैरवाष्टकाद्यन्तस्थकपालीशविद्याराजाश्रयेण रक्षाविधानेन मृत्युजयमुक्त्वा, प्रसङ्गात् कर्मान्तरसिद्धिमपि यन्त्रक्रमेणादिशति देवः—

शिख्याह्वेन तु देवेशि साध्यनाम विदर्भयेत् ।
अनलार्णमधश्चोर्ध्वे साध्यार्णेषु नियोजयेत् ॥ ६२ ॥

शिख्याह्वेन शिखिवाहनमन्त्रेण पूर्वोक्तेन । विदर्भयेदिति—

'अभिधेयं भवेत् पूर्वं ततो मन्त्रः सकृद् भवेत्'

इति शास्त्रान्तरोक्तस्थित्यानुविन्यस्तमन्त्रं कुर्यात्, अनलार्णं रेफः, तदेकैकत्र साध्यनामाक्षरं ऊर्ध्वाधो नियोजयेत् । इत्थं विदर्भितमेतदाग्नेयमण्डलान्तस्थवायुमण्डलसंस्थितं कुर्यात्, आग्नेयमण्डलं त्रिकोणं तद्बहिर्वायुमण्डलं षट्कोणं

हैं—) ॐकारपुट के मध्य में स्थित = नाम के पहले और बाद में ऊङ्कार लिखना चाहिये । वैसा किया गया (नाम) पूर्वोक्त नयनाक्षरों, जिसके बाद में वौषट् जाति का प्रयोग किया गया हो, से रोधित = पूर्व की भाँति अनुलोम प्रतिलोम क्रम से आदि और अन्त में सम्पुटित होना चाहिये । (यहाँ) किसी विशेष दिशा का कथन न होने से यह रोधन आठों दिशाओं से होना चाहिये (यह ध्यातव्य है) । यहाँ पूर्व की भाँति दूर्वाकाण्ड के द्वारा चक्र का लेखन, उसका पूजन आदि और अन्त में मधु के अन्दर रखना आदि सबका अनुसरण करना चाहिये ॥ ६१ ॥

इस प्रकार परिवारस्थ आठ भैरव से लेकर अन्तस्थ कपालीश विद्याराज के आधार पर बने हुए रक्षाविधान के द्वारा मृत्युजय का निर्वचन कर भगवान् शिव प्रसङ्गतः प्राप्त अन्य कर्मों की सिद्धि को भी यन्त्र के क्रम से बतलाते हैं—

हे देवेशि ! शिखिवाहन मन्त्र के द्वारा साध्य के नाम को विदर्भित करना चाहिये । इसके नीचे और ऊपर साध्य के नामाक्षरों में अग्निवर्ण को जोड़ना चाहिये ॥ ६२ ॥

शिख्याह्व के द्वारा = पूर्वोक्त शिखिवाहन मन्त्र (= ह्रूं—१।७७) के द्वारा । विदर्भित करना चाहिये—

'पहले अभिधेय (= साध्य नाम, का उच्चारण) होना चाहिये; तत्पश्चात् एक बार मन्त्र (का पाठ) होना चाहिये ।'

इस ग्रन्थान्तरोक्त स्थिति के अनुसार (साध्य के नाम के) पीछे मन्त्र को जोड़ना चाहिये । अनल अर्ण = रेफ, को साध्य के नाम के एक-एक अक्षर के ऊपर नीचे रखना चाहिये । आग्नेय मण्डल त्रिकोण को कहते हैं, उसके बाहर

वर्तुलम् ॥ ६२ ॥

एतच्च यस्य लिख्यते—

तस्य वै जायते दाहः............

वाय्वाध्माताग्निदीपितत्वादग्निवर्णमध्यगताक्षरत्वात् शिखिवाहनविदर्भितत्वाच्च ॥

किं शिखिवाहनविदर्भितमात्रमेव नामाग्नेयमण्डलान्तः क्रियते । न तन्मात्रमेव, किं तु—

..............फट्काराद्यन्तरोधितम् ।

फट्कारान्तशिखिवाहनबीजविदर्भितमिति व्याख्यनमसत्, तथा वाक्यार्थस्याभावात् ॥

एतल्लेखनानन्तरं च मन्त्रनाथं पूजयित्वा,

एतच्चक्रमध्यगतमेव—

ज्वलन्तं चिन्तयेत् साध्यं दिनानां सप्तकं यदि ॥ ६३ ॥

वायुमण्डल छः कोणों वाला होता है और गोल होता है ॥ ६२ ॥

यह यन्त्र जिस (साध्य के नाम के साथ जिस) के लिये लिखा जाता है—

उसके (शरीर में) जलन होने लगती है ॥ ६३- ॥

क्योंकि वायु से आध्मात (= हवा किये गये) अग्नि से (अथवा अग्नि की भाँति) अग्निवर्ण के मध्य में (साध्य के नाम का) अक्षर रहता है तथा वह यन्त्र शिखिवाहन मन्त्र से विदर्भित होता है ॥

क्या केवल शिखिवाहन मन्त्र से विदर्भित ही नाम आग्नेय मण्डल के भीतर लिखा जाता है केवल नाम मात्र नहीं (इसके उत्तर में कहते हैं कि केवल नाम मात्र ही नहीं किन्तु—)

(वह नाम) आदि और अन्त में फट्कार से सम्पुटित हो ॥ -६३- ॥

जो लोग 'फट्काराद्यन्तरोधितम्' की फट्कारान्त शिखिवाहन मन्त्र से विदर्भित होना चाहिये—ऐसी व्याख्या करते हैं वह व्याख्या असमीचीन है । क्योंकि वाक्य का अर्थ वैसा नहीं है ॥

इसको लिखने के बाद मन्त्रनाथ की पूजा कर—

इस चक्र के मध्य से—

यदि सात दिनों तक साध्य को इस चक्र के मध्य से स्थित होकर जलता हुआ ध्यान करे ॥ -६३ ॥

ततस्तस्य—

तत्क्षणाज्जायते दाहो भैरवस्य वचो यथा ।

क्रोधराजप्रयोगेण मारणमाह—

क्रोधराजनिरुद्धं तु श्मशानपटमध्यगम् ॥ ६४ ॥
श्मशानादलिना लेख्यं विषरक्तान्वितेन तु ।
यस्य नाम वरारोहे हुंफट्कारविदर्भितम् ॥ ६५ ॥
मारयेतिसमायोगात् क्रूरजातिसमन्वितम् ।
म्रियते सप्तरात्रेण यो रक्षाभिः सुरक्षितः ॥ ६६ ॥

सोऽपीति शेषः । श्मशानादलिः श्मशानाङ्गारः, तेन प्रेतरक्तविषमिश्रेण मषीं कृत्वा, प्रेतपटखण्डे यस्य नाम हुंफट्कारविदर्भितमित्यन्ते विन्यस्य हुंफट्कारं कृत्वा, पश्चात् प्रागुक्तेन क्रोधराजेन निरुद्धमित्याद्यन्तरोधितम्, ततोऽपि मारयेत्यनेन युक्तम्, ततोऽपि क्रूरजात्या हुंफट्इत्यनेन समन्वितं लिख्यते, स रक्षाभी रक्षितोऽपि सप्तरात्रान्म्रियते । अत्र श्रीक्रोधराजरूपं शत्रुसंहारोचितमुग्रं चिन्त्यम् ॥ ६६॥

अथ शत्रोस्त्रासनाय विकरालप्रयोगमाह—

तो उसका—

उसी क्षण दाह होने लगता है जैसा कि भैरव का वचन है ॥ ६४- ॥

क्रोधराज के प्रयोग के द्वारा मारण को बतलाते हैं—

हे वरारोहे ! श्मशानपट (= कफन) के मध्य में श्मशान अङ्गार एवं मृत व्यक्ति के रक्त को विष से मिश्रित कर बनायी गयी स्याही से जिस साध्य व्यक्ति का नाम हुं फट्कार से विदर्भित एवं 'मारय' को जोड़ कर क्रूर जाति से युक्त कर लिखा जाय तो रक्षाओं से सुरक्षित भी वह सात रात के अन्दर मर जाता है ॥ -६४-६६ ॥

'यो रक्षाभिः सुरक्षितः' के साथ 'सोऽपि (= वह भी) जोड़ना चाहिये । श्मशान से अलि = श्मशान का कोयला । उसके साथ प्रेतव्यक्ति का रक्त एवं विष को मिला कर स्याही बनाये । उससे प्रेतपट (= कफन) के टुकड़े पर जिस साध्य का नाम, हुंफट्कार से विदर्भित—नाम के अन्त में विन्यस्त कर = हुंफट्कार कर बाद में पूर्वोक्त क्रोधराज मन्त्र (= क्षूं—१।७८) से निरुद्ध = आदि और अन्त में सम्पुटित करे । फिर 'मारय' से युक्त करे । इसके बाद क्रूरजाति = हुंफट् से समन्वित कर लिखा जाय तो वह साध्य रक्षाओं से रक्षित होने पर भी सात रात के अन्दर मर जाता है । इस अनुष्ठान के समय शत्रुसंहार के लिये उचित क्रोधराज के उग्ररूप का चिन्तन करे ॥ ६६ ॥

अब शत्रु के त्रास के लिये विकराल प्रयोग को बतलाते हैं—

विकरालो महादेवि ऊर्ध्वाधः पाशसंस्थितः ।
साध्यनाम्नस्तु देवेशि हुंफट्कारविदर्भिणः ॥ ६७ ॥
न क्षामयत्ययत्नेन.............

यस्य साध्यनाम्नः प्रोक्तयुक्तया हुंफट्कारविदर्भितस्य विकरालाख्यो मन्त्रविशेष चतुर्दिग्गतः प्रोक्तया मष्या लिख्यते, तस्यास[illegible]यत्नेनहेलयैव न क्षमते । क्षामयतीत्यैशः पाठः ॥

किमस्य न क्षमणमित्याह—

................तस्य शत्रोर्भयं भवेत् ।

अत्र च श्रीविकरालस्वरूपं मध्यस्थितस्य साध्यस्य चतसृषु दिक्षु त्रासकत्वेनोत्थितं चिन्तनीयम् ॥

अथ मन्मथप्रयोगं वशीकारायाह—

मन्मथेन युतं कृत्वा साध्यनाम वरानने ॥ ६८ ॥
ध्रुवाद्यं स्वाहयान्तेन रक्तध्यानसमन्वितम् ।
अमुकोऽत्र वरारोहे तद्दिशोऽभिमुखः स्थितः ॥ ६९ ॥
अमुकस्य वशं यातु जपहोमौ समाचरेत् ।

हे देवेशि ! हे महादेवि ! विकराल मन्त्र हुंफट्कार से विदर्भित साध्य के नाम के ऊपर और नीचे पाश में संस्थित हो तो वह (साध्य) विना प्रयास के असहिष्णु हो जाता है ॥ ६७-६८- ॥

जिस साध्य के हुंफट्कार विदर्भित नाम के चारो ओर विकराल नामक मन्त्र (= भ्रूं—१।७९-८०) उपर्युक्त स्याही से यदि लिखा जाय तो वह साध्य विना अन्य किसी प्रयास के सन्त्रस्त हो जाता है । 'क्षामयति' यह पाठ ईश्वर पठित है । (पाणिनि व्याकरण के अनुसार 'क्षमते' पाठ होगा) ॥

इस साध्य का अक्षमण क्या है ?— यह कहते हैं—

उस (साध्य) को शत्रु से भय होने लगता है ॥ -६८- ॥

इस अनुष्ठान में मध्यस्थ साध्य की चारो दिशाओं में श्री विकराल का स्वरूप त्रासक के रूप में उठा हुआ ध्यान करना चाहिये ॥

अब वशीकार के लिये मन्त्रप्रयोग को बतलाते हैं—

हे वरानने ! साध्य के नाम को आदि में ध्रुव (= प्रणव) युक्त और स्वाहान्त मन्मथ मन्त्र (= ह्वौं) से युक्त कर उस साध्य को रक्त ध्यान से समन्वित करे । हे वरारोहे ! यदि साधक उस (= साध्य मन्त्र) की दिशा के सामने बैठा हुआ 'इसके वश में हो जाय' ऐसा मन में चिन्तन करता

सप्ताहाद् वशमायाति इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥ ७० ॥

पूर्वोक्तेन ह्वऊऔकारसमुदायात्मना सबिन्दुकेन पिण्डाक्षरेण मन्मथेन युक्तं यत्साध्यनाम, तदेव विभजति । अमुक इति अमुकस्य वशं यातु इत्येतदन्तं स्वाहया स्वाहाशब्देनान्तेनान्तस्थेन युतं कृत्वा च । ईदृशा प्रणवपूर्वेण मन्त्रेण । रक्तध्यानसमन्वितमिति तं साध्यं रक्तं ध्यायन् तदवस्थितिदिगभिमुखः साधको यदि सप्ताहं जपं होमं च वशीकरणोचितैर्द्रव्यैः करोति तदास्य साध्यो वशमायात्येवेत्यत्रार्थः ।

अत्र च यन्त्रप्रकरणादेतन्निश्चितम् यदेवंविधं मन्त्रं लिखित्वा सम्पूज्य जप होमौ कार्यौ ॥ ७० ॥

मेघनादप्रयोगमुच्चाटनायाह—

मेघनादावसाने तु नाम यस्य समालिखेत् ।
यकाराद्यन्तसंरुद्धं मन्त्रं फड्द्वितयान्वितम् ॥ ७१ ॥
प्रेतस्थाने निधाप्यैतद् भैरवं तत्र पूजयेत् ।
अक्षपुष्पैर्वरारोहे तद्दिशोऽभिमुखः स्थितः ॥ ७२ ॥

हुआ जप और होम करे तो एक सप्ताह के अन्दर साध्य वश में हो जाता है—ऐसा शास्त्र का निश्चय है ॥ -६८-७० ॥

पूर्वोक्त ह् व् ऊ औ इन चारो अक्षरों को समूह रूप से पिण्डाक्षर एव विन्दुयुक्त (= ह्वौं) करे । यह मन्मथ मन्त्र है । साध्य के नाम को इससे जोड़कर बाद में अमुक के वश में हो जाय- ऐसा कह कर अन्त में 'स्वाहा' शब्द जोड़ दे । (इस प्रकार मन्त्र का स्वरूप होगा—ॐ ह्वौं देवदत्तः यज्ञदत्तस्य अथवा मम वशं यातु स्वाहा) इस मन्त्र के जप के समय साध्य को रक्तवर्ण का ध्यान करता हुआ साधक उस यन्त्र के सम्मुख होकर यदि सात दिनों तक वशीकरण के लिये उचित द्रव्यों के द्वारा जप और होम करता जाय, तो साध्य उस (साधक) के वश में हो जाता है ।

यहाँ यन्त्र का प्रकरण होने के कारण यह निश्चित है कि इस प्रकार के मन्त्र को लिखने के बाद उस यन्त्र की पूजा करने के बाद ही जप और होम करना चाहिये ॥ ७० ॥

उच्चाटन के लिये मेघनाद प्रयोग को कहते हैं—

हे वरारोहे ! मेघनादमन्त्र के अन्त में यकार से आदि और अन्त में सम्पुटित तथा दो 'फट्' से युक्त जिसका नाम लिख कर प्रेत के स्थान (= श्मशान) में रखे और वहाँ से उस दिशा में स्थित होकर अक्ष पुष्प से भैरव की पूजा करे तो हे देवि ! साधक उस (= साध्य) को शीघ्र ही

तमुच्चाटयते क्षिप्रं देवि नास्त्यत्र संशयः ।

मेघनादो ह् र् य् ऊबिन्दुसमुदायात्मा । यकारेति सविसर्गयकारसम्पुटितमित्याम्नायः । एतदित्येवं लिखितं भूर्जे । निधाप्येति श्मशानभूम्यन्तर्गतं कृत्वा तत्र ईदृशे भूर्जे । अक्षा विभीतकाः । तदिति साध्यदिगभिमुखः । सप्ताहादिति स्थितमेव । स्पष्टमन्यत् ॥

सोमराजप्रयोगं विभवार्थं वशीकृत्यर्थं चाह—

सोमराजेन देवेशि आदिमध्यान्तसंयुतम् ॥ ७३ ॥
नाम यस्य समालिख्य वषड्जातिसमन्वितम् ।
संनिधाप्य त्रिमधुरे स्थापयेत् सुरसुन्दरि ॥ ७४ ॥
सप्तरात्रप्रयोगेण त्रिकालाष्टशतेन च ।
असाध्यं साधयत्याशु धनं च विपुलं लभेत् ॥ ७५ ॥

सोमराजो हुङ्कारः, तेन साध्यनाम आदिमध्यान्तसम्बद्धं कृत्वेति नाम्न आदौ मध्येऽन्ते च त्रिः सोमराजं लेखित्वा, ततो वषडन्तं कृत्वा, तद्यन्त्रं संनिधाप्य पूजयित्वा सिक्थसंमुटितं क्षीरक्षौद्रशर्करापात्रसम्पुटगं कृत्वा, सप्तदिनं यस्त्रिसंध्यं

उच्चाटित कर देता है—इसमें संशय नहीं है ॥ ७१-७३- ॥

मेघनाद अर्थात् ह् र् य् ऊ और बिन्दु का समुदाय रूप (= ह्र्यूं) से 'यकाराद्यन्त संरुद्धं' का अर्थ है—विसर्ग से युक्त यकार (= यः) से आदि और अन्त में सम्पुटित । यह = इस प्रकार से भोजपत्र पर लिखा गया । निधापित कर = श्मशान भूमि के अन्दर ऐसे भोजपत्र पर लिख कर गाड़ दे । अक्षपुष्प से = बहेड़े के फूल, से । वह = साध्य की दिशा के अभिमुख । एक सप्ताह में—स्थित । शेष स्पष्ट है ॥

धनसम्पत्ति एवं वशीकरण के लिये सोमराज प्रयोग को बतलाते हैं—

हे देवेशि ! जिसके नाम को आदि मध्य और अन्त में सोमराज मन्त्र से सम्पुटित कर वषट् जाति से युक्त कर लिखा जाय तथा हे सुरसुन्दरि! उसे त्रिमधु में रख दिया जाय तो सात दिनों तक तीनों काल (= प्रातः, मध्याह्न एवं सायंकाल) में (उस सोमराजयुक्त साध्य नाम का) १०८ बार जप किया जाय तो साधक असाध्य (व्यक्ति) को सिद्ध (= वश में) कर लेता है और प्रचुर धन को प्राप्त करता है ॥ -७३-७५ ॥

सोमराज = हुङ्कार, उसको साध्य के नाम के आदि मध्य और अन्त में जोड़ कर अर्थात् नाम के आदि मध्य और अन्त में तीन बार सोमराज को लिख कर उसके बाद अन्त में 'वषट्' लिखे । फिर उस यन्त्र को (आसन पर) रख कर उसका पूजन करे । तत्पश्चात् उसको सिक्थ (= मोम) से सम्मुटित (= लेप के

तथैव जपेदसाध्यं साधयितुमशक्यमपि साधयति वशीकरोति, श्रियं चाप्नोति ॥ ७५ ॥

पुनः प्रोक्तस्य क्रोधराजस्य जपहोमाभ्यां प्रयोगमुन्मादार्थमाह—

पञ्चाङ्गेन पिशाचस्य क्रोधराजावसानिकाम् ।
संज्ञां समुच्चरेद् देवि क्रूरजातिसमन्वितम् ॥ ७६ ॥
उन्मत्तो जायते साध्यो होमेन च जपेन च ।

पिशाचस्य विभीतकस्य मूलकाण्डपत्रकुसुमफलानि पञ्चाङ्गानि, तैर्मिलितं सप्ताहं प्रणवादिक्रोधराजहुंफडन्तं साध्यनामोच्चार्य, त्रिसंध्यमष्टोत्तरशतं यो जुहुयात्, तस्यासौ साध्यः शत्रुरुन्मत्तो भवति ॥

पुनरप्यनुग्रहहेवाकितया मृत्युजिद्विधिमाह—

मृत्युञ्जयं प्रवक्ष्यामि तमेकाग्रमनाः शृणु ॥ ७७ ॥
भूर्जपत्रं समादाय नीरन्ध्रं निर्व्रणं समम् ।
तस्मिन् समालिखेत् पद्ममष्टपत्रं सकर्णिकम् ॥ ७८ ॥

द्वारा छिद्ररहित) कर तथा दूध मधु शक्कर वाले पात्र में रखकर उसे पात्र से ढँक कर जो साधक सात दिनों तक तीनों सन्ध्या काल में उसी प्रकार (= साध्यनामयुक्त वषट्युक्त सोमराज को) जपे तो वह साधक असाध्य = सिद्ध करने में असम्भव (= वशीकरण करने में असम्भव व्यक्ति) को भी साध लेता है = वश में कर लेता है एवं लक्ष्मी को प्राप्त करता है ॥ ७५ ॥

पुनः जप होम के द्वारा पागल बनाने के लिये क्रोधराज के प्रयोग को कहते हैं—

पिशाच (= बहेड़ा वृक्ष) के पञ्चाङ्ग (= जड़ तना पत्ती पुष्प एवं फल) के द्वारा अन्त में क्रोधराज से युक्त एवं क्रूर जाति से समन्वित कर साध्य के नाम का उच्चारण करे तो हे देवि! जप और होम के द्वारा साध्य उन्मत्त हो जाता है ॥ ७६-७७- ॥

पिशाच के = विभीतक के, पञ्चाङ्ग = मूल काण्ड पत्र पुष्प और फल, से मिश्रित (उनसे मिलाकर बनी मषी से) पहले प्रणव और अन्त में क्रोधराज एवं हुंफट् से युक्त साध्य के नाम का उच्चारण करते हुए तीनों सन्ध्याओं में जो १०८ बार हवन करता है उसका यह साध्य = शत्रु, उन्मत्त हो जाता है ॥

अनुग्रह का हेवाकी (= उत्कट इच्छा वाला) होने के कारण मृत्युञ्जय विधि को पुनः कहते हैं—

(हे देवि ! मैं) मृत्युञ्जय प्रयोग को पुनः बतलाता हूँ; एकाग्रचित्त होकर उसे सुनो । छिद्ररहित निर्व्रण एवं समतल भोजपत्र को लेकर उस पर

तस्मिन् वै कर्णिकामध्ये साध्यनाम समालिखेत् ।
संवेष्ट्याष्टौ दिशो देवि स्वच्छन्देन कृशोदरि ॥ ७९ ॥
प्रणवेन तु संवेष्ट्य................

स्वच्छन्देनेति सिद्धिप्रदानेन सकलेन साध्यनामाष्टौ दिशश्चक्रवदावरणक्रमेण संवेष्ट्य ततः प्रणवेन संवेष्ट्य कर्णिकामध्ये लिखेदिति योजना ॥

कर्णिकावत् प्रतिपत्रं लिखेदित्याह—

................पत्रेष्वेवं समालिखेत् ।

अष्टस्वपि ।

किं च—

पत्राष्टकेऽप्यघोरस्य नामाधस्तात् समालिखेत् ॥ ८० ॥

पत्रबाह्य आवरणक्रमेण व्योमरेखामित्यर्थः ॥

एवं लिखित्वा प्राग्वत् कर्पूरादिना पूरयित्वा सम्पूज्य विज्ञप्त्यर्थम्—

वक्तव्यं देव संरक्ष शरणं त्वामुपागतम् ।

साध्यमित्यर्थात् । तत एषा रक्षा सिक्थकादिना संवेष्ट्य पयसि क्षेप्या ।

कर्णिकायुक्त अष्टदल कमल लिखे । उसमें कर्णिका के मध्य साध्य का नाम लिखे । हे कृशोदरि ! वह नाम स्वच्छन्द मन्त्र एवं प्रणव से संवेष्टित होना चाहिये ॥ -७७-८०- ॥

स्वच्छन्द = सिद्धिप्रद सकल मन्त्र, के द्वारा, साध्य का नाम, आठो दिशाओं में चक्र की भाँति आवरणक्रम से संवेष्टित करे । तत्पश्चात् प्रणव से संवेष्टित कर कर्णिका के मध्य में लिखे । (अर्थात् कर्णिका के मध्य में साध्य का नाम, उसके बाहर चारो ओर स्वच्छन्द मन्त्र और उसके बाहर चारो ओर प्रणव लिखे) ॥

इसी प्रकार अष्ट दलों पर भी लिखना चाहिये ॥ -८०- ॥

तथा—

आठों पत्तों पर नीचे की ओर अघोर का नाम लिखे ॥ -८० ॥

पत्तों के बाहर आवरणक्रम से व्योमरेखा को लिखे ॥

इस प्रकार लिख कर पूर्ववर्णित की भाँति कपूर आदि से उसे आपूरित करे । तत्पश्चात् पूजन कर विज्ञप्ति के लिये—

कहना चाहिये कि—हे देव ! रक्षा करो । मैं अब तुम्हारी शरण में आया हूँ ॥ ८१- ॥

पयसि क्षीरे निक्षिप्तमात्रैव सती साध्यस्य सद्योमृत्युविनाशिनीति कर्णिकायां लिखित्वा तल्लग्नेष्वष्टसु पत्रेष्वेवमेव लिखेत् ॥

अथ शान्तिकमाह—

आदौ त्र्यक्षरविन्यासं स्वच्छन्दं तदनन्तरम् ॥ ८१ ॥
जन्मनाम तु साध्यस्य अक्षरान्तरितं लिखेत् ।
पुनस्त्र्यक्षरविन्यासं वषडन्तं नियोजयेत् ॥ ८२ ॥

नेत्रमन्त्राक्षराणि त्रीणि चतुष्कलं च लिखित्वा जन्मसमयकृतं साध्यनामाक्षरैरिति, अर्थादघोरसत्कैरन्तरितमेकैकतदक्षरव्यवहितम्, 'अ देवदत्तः घो देवदत्तः, इत्यादिक्रमेण लिखित्वा पुनर्वषडन्तानि प्राग्वल्लिखेत् ॥ ८२ ॥

इमां च रक्षां सम्पूज्य—

मुटित्वा सिक्थकेनैव क्षीरमध्ये तु प्रक्षिपेत् ।

इत्थं च साध्यस्य—

जायते परमा शान्तिः...........

(किसकी रक्षा करो—ऐसा प्रश्न होने पर उत्तर है—) साध्य की । इसके बाद यह रक्षा सिक्थ आदि से संवेष्टित कर दूध में डुबो देनी चाहिये । दूध में क्षिप्तमात्र वह रक्षा साध्य की मृत्यु का तत्काल नाश करती है । इसलिये कर्णिका में लिखने के बाद उससे संलग्न आठों पत्रों पर भी उसे लिखना चाहिये ॥

अब शान्तिप्रयोग को कहते हैं—

पहले त्र्यक्षर मन्त्र का उसके बाद स्वच्छन्द मन्त्र के एक-एक अक्षर से अन्तरित साध्य का जन्मनाम लिखना चाहिये । तत्पश्चात् त्र्यक्षर लिख कर अन्त में 'वषट्' का उल्लेख करना चाहिये ॥ -८१-८२ ॥

नेत्रमन्त्र के तीन अक्षर और चतुष्कल (= अकार) का उल्लेख कर जन्म के समय रखा गया साध्य का नाम । अघोर से अन्तरित = एक-एक अक्षर से व्यवहित जैसे कि—अ देवदत्त घो देवदत्त र देवदत्त आदि के क्रम से लिख कर पुनः 'वषट्' तक पूर्व की भाँति लिखना चाहिये ॥ ८२ ॥

इस रक्षायन्त्र की पूजा कर—

मोम से उसको बन्द करके दुग्ध के मध्य में स्थापित कर देना चाहिए ॥ ८३- ॥

इस प्रकार साध्य को—

परम शान्ति मिलती है ॥ -८३- ॥

किं च—

.................पुनरन्यन्निबोध मे ॥ ८३ ॥

कथम्—

जुं सः सम्पुटमध्यस्थं प्रणवोभयसंयुतम् ।
नाम कृत्वा वरारोहे प्रक्षिपेन्मधुरत्रये ॥ ८४ ॥

जुं स इत्यनेन प्राग्वत् प्रागनुलोमं पश्चात्तु प्रतिलोमं विन्यस्तेन सम्पुटीकृतं नाम पश्चात् प्रणवेन सम्पुटितं कुर्यादित्यर्थः । मधुरत्रयं प्राग्वत् ॥ ८४ ॥

इत्थं च—

परां शान्तिमवाप्नोति मृत्युरोगैर्न बाध्यते ।

साध्य इत्यर्थात् ॥

पुनर्मृत्युजयप्रकारान्तरमाह—

भूर्जपत्रं समादाय रोचनाया वरानने ॥ ८५ ॥
मातृकान्तरितं नाम दूर्वाकाण्डेन चालिखेत् ।
तदभ्यन्तरगर्भे तु स्वरैरन्तरितं कुरु ॥ ८६ ॥

इसके अतिरिक्त—

मुझसे अन्य प्रकार को जानो ॥ -८३ ॥

किस प्रकार—

हे वरारोहे ! साध्य के नाम को दो प्रणव से युक्त 'जुं सः' से सम्पुटित कर त्रिमधु में डुबो देना चाहिये ॥ ८४ ॥

पूर्व की भाँति पहले अनुलोम बाद में प्रतिलोम विन्यस्त जुं सः के द्वारा सम्पुटित नाम को बाद में प्रणव से सम्पुटित करना चाहिये । (इस प्रकार यन्त्र का स्वरूप होगा ॐ जुं सः देवदत्तः सः जुं ओम्) । त्रिमधु को पहले की भाँति समझना चाहिये ॥ ८४ ॥

इस प्रकार साध्य—

परम शान्ति को प्राप्त करता है और मृत्युसम्बन्धी रोगों से पीड़ित नहीं होता ॥ ८५- ॥

अर्थात् साध्य ॥

पुनः मृत्यञ्जय यन्त्र का दूसरा प्रकार बतलाते हैं—

हे वरानने ! भोजपत्र को लेकर गोरोचन से दूर्वाकाण्ड के द्वारा साध्य

पुनर्गर्भे समालिख्य साध्यनाम वरानने ।
ध्रुवेण वेष्टयेत् पश्चाद् वकारेण ततः प्रिये ॥ ८७ ॥
सकारं च क्षकारं च लिखेच्च तदनन्तरम् ।
पुनर्वेष्ट्य ठकारेण मायाबीजेन सुव्रते ॥ ८८ ॥
अङ्कुशेन निरुद्ध्येत रक्षां मृत्युविनाशिनीम् ।
स्वच्छन्दसहितां देवि प्रणवेनादियोजिताम् ॥ ८९ ॥
वषड्जातिसमोपेतां कर्पूरक्षोदचर्चिताम् ।
गन्धपुष्पादिनापूज्य प्रक्षिपेन्मधुरत्रये ॥ ९० ॥

गर्भे साध्यनाम । प्रणवेनादियोजितामपि प्रणवान्तर्गर्भीकृतां विधाय स्वच्छन्द-सहितां वषड्जातिसमोपेतां रक्षां कृत्वेति गर्भीकृतनाम्नः प्रणवस्य बहिरघोरं वषडन्तं परिवेष्टनया लिखेत् तच्च तदभ्यन्तरगर्भे तु स्वरैरन्तरितं कुर्वीत । बहिर्विन्यस्तका-दिक्षान्तमातृकाया अभ्यन्तरे षोडशभिः स्वरैरन्तःकृतैः परिमण्डलेन लिखितैर्व्याप्तं करणीयम् । यदाह—मातृकान्तरितमिति । एतच्च सर्वं पुनर्ध्रुवेण वेष्टितं सत् क्रमेण वकारसकारक्षकारठकारैर्वेष्टयेत् । तदनु मायाबीजसत्केकारेण त्रिर्वेष्टयेत् । पश्चादष्टसु दिक्षु क्रोंकारेण रोधयेदिति व्यवहितवाक्यार्थसङ्गत्यनुसारेण चक्रमेतत् प्रदर्शितम् ॥ ९० ॥

के नाम को मातृका (= कादि क्षान्त अक्षरों) से अन्तरित कर लिखे । उसके भीतर साध्य के नाम को स्वरों से अन्तरित करे । इस सबको पुनः ध्रुव (= ॐकार) से वेष्टित करे । हे प्रिये ! बाद में वकार लिखे । उसके बाद सकार क्षकार लिखे । बाद में ठकार से वेष्टित कर मायाबीज (= ई) से तत्पश्चात् अङ्कुश (= क्रों) से निरुद्ध करे । हे देवि ! स्वच्छन्द सहित, प्रणव के द्वारा आदि में योजित, वषट्जाति से युक्त, कपूर के चूर्ण से अलंकृत इस रक्षा यन्त्र की गन्ध पुष्प आदि से पूजा कर उसे त्रिमधु में डुबो देना चाहिये ॥ -८५-९० ॥

गर्भ में साध्य के नाम को (स्वरों से अन्तरित करे) । पहले प्रणव लगाये जाने पर भी बीच में प्रणव लगाना पड़ेगा । स्वच्छन्द (= अघोर) सहित वषट् जाति से युक्त रक्षायन्त्र को बना कर, जिसके अन्दर नाम लिखा गया है उस प्रणव के बाहर 'अघोर' और अन्त में 'वषट्' परिविष्टन क्रम से लिखे । और उसे उसके अभ्यन्तरगर्भ में स्वरों से अन्तरित करना चाहिये । बाहर 'क' से लेकर 'क्ष' तक की मातृका के तथा अन्दर अन्तःकृत सोलह स्वरों जो कि गोलाई में लिखे गये हैं; से व्याप्त करना चाहिये । जैसा कि कहा—मातृकाओं से अन्तरित । इस सबको बाद में ध्रुव से वेष्टित करते हुए वकार सकार क्षकार और ठकार से वेष्टित करना चाहिये । तत्पश्चात् उसे मायाबीज = ईकार, से तीन बार वेष्टित करना चाहिये । पश्चात् आठो दिशाओं में (अङ्कुश =) क्रोंकार से रुद्ध करना चाहिये । यह चक्र

अर्चयित्वा चैतत् सिक्थकेन मुटितं मधुरत्रये यस्य क्षिप्यते, तस्य—

जायते परमा शान्तिर्नात्र कार्या विचारणा ।

निश्चितमतिनैतत् प्रयुक्तमभीष्टं साधयत्येव ॥

अथवा गुटिकां कृत्वा कण्ठे बाहौ च धारयेत् ॥ ९१ ॥

यः—

तस्य व्याधिर्न जायेत इत्येवं भैरवोऽब्रवीत् ।

गुटिकां कृत्वेति जतुबद्धां कनकादिभूषितां विधाय कण्ठे भुजे वा धारयेत् । चो वार्थे ॥

गुटिकां विना विशिष्टमन्त्राभिमन्त्रितभोजनपानक्रमेण सततं क्रियमाणेन मृत्युजिद्विधिमाह—

त्र्यक्षरं मूलमन्त्रं च वषड्जातिसमन्वितम् ॥ ९२ ॥
भोजनोदकपाने तु मन्त्रयित्वाश्नतः सदा ।
न तस्य जायते मृत्युर्भैरवस्य वचो यथा ॥ ९३ ॥

नेत्रमन्त्रचतुष्कलनाथाभ्यां वषडन्ताभ्यां भोजनपाने द्वे सततमभ्यवहरतो न

व्यवहित वाक्यार्थ की सङ्गति के अनुसार दिखलाया गया ॥ ९० ॥

पूजन करने के बाद सिक्थ के द्वारा मोटन कर जिसके नाम से इसे त्रिमधु में रखा जाता है, उसको—

परम शान्ति मिलती है । इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये ॥ ९१- ॥

दृढ बुद्धि वाले साधक के द्वारा प्रयुक्त यह यन्त्र अभीष्ट की सिद्धि करता है ॥

अथवा जो व्यक्ति इसकी गोली बना कर अपने गले अथवा बाहु में धारण कर लेता है उसको कोई व्याधि नहीं होती—ऐसा स्वच्छन्द भैरव ने कहा ॥ -९१-९२- ॥

गुटिका बनाकर—लाख से बाँध कर सुवर्ण आदि से अलंकृत कर उसे कण्ठ अथवा बाँह में धारण करे ॥ उक्त श्लोक में 'च' का प्रयोग 'वा' (= अथवा) अर्थ में है ॥

गुटिका के बिना विशिष्ट मन्त्र से अभिमन्त्रित एवं निरन्तर क्रियमाण भोजन अथवा पान के द्वारा मृत्युञ्जय विधि को बतलाते हैं—

'वषट्' जाति से समन्वित त्र्यक्षर और मूलमन्त्र के द्वारा भोजन और जलपान को सदा अभिमन्त्रित कर खाने पीने वाले साध्य को मृत्यु से भय नहीं होता क्योंकि ऐसा भैरव का वचन है ॥ -९२-९३ ॥

मृत्युर्भवति ॥ ९३ ॥

अथ विषादिहेतुर्यस्यापि मृत्युर्न, तं समादिशति—

अथाहिना महादेवि दूषितः साधको यदा ।

तदा—

मूलमन्त्रसमोपेतमघोरं तत्र योजयेत् ॥ ९४ ॥

मूलमन्त्रः श्रीचतुष्कलः, तेन समोपेतं सम्पुटीकृतम् । तत्रेति अहिदूषण-प्रशान्तिनिमित्तम् । अस्यान्ते 'भगवन् विषं शमय-शमय हुं फट्' इति क्रूरजात्यन्त ऊहः प्रयोक्तव्य इत्यर्थात् ॥ ९४ ॥

प्रयोगावसरे च—

आत्मनो भैरवं रूपं कृत्वा चैव सुदारुणम् ।
दंष्ट्राकरालविकटं ज्वालामालोपशोभितम् ॥ ९५ ॥
सपै(र्ल)[1]लम्बमानैः खड्गहस्तं सुभीषणम् ।

अन्त में 'वषट्' जुड़े हुये नेत्रमन्त्र और चतुष्कलनाथमन्त्र (= स्वच्छन्द मन्त्र) के द्वारा अभिमन्त्रित भोजन पान का निरन्तर प्रयोग करने वाले की (अस्वाभाविक) मृत्यु नहीं होती ॥ ९३ ॥

अब जिसकी विषदान आदि के कारण मृत्यु नहीं होती उस साध्य को बतलाते हैं—

हे महादेवि ! यदि साधक साँप आदि से दष्ट हो जाय ॥ ९४- ॥

तो—

मूलमन्त्र से संयुक्त अघोर को जोड़ना चाहिये ॥ -९४ ॥

मूलमन्त्र = श्री चतुष्कल मन्त्र, उससे समोपेत = सम्पुटित । उस विषय में = सर्पादिदंशजन्य विषप्रभाव के प्रशम के लिये । इस (मन्त्र संयोजन) के अन्त में 'भगवन् विषं शमय शमय हुं फट्'—इस प्रकार जिसके अन्त में क्रूर जाति (= हुं फट्) जुड़ी हुई है ऐसे मन्त्र का ऊह (= तर्कबुद्धि के द्वारा योजना) करनी चाहिये ॥ ९४ ॥

और (मन्त्र) प्रयोग के समय—

हे महादेवि ! (विषवैद्य को चाहिये कि वह) अपने को सुदारुण, विकराल दाँतों से विकट, ज्वालाओं की माला से उपशोभित, अतिशयेन लम्बमान सर्पों से अलंकृत, हाथ में खड्ग लिये हुए, भयङ्कर, पूर्ववर्णित

---

१. र्ल ।

पूर्वरूपसमोपेतं सूर्यकोटिसमप्रभम् ॥ ९६ ॥
तेनाक्रान्तं महादेवि दष्टकं तु विचिन्तयेत् ।
तज्ज्वालाभिः सुदीप्ताभिर्दग्धं संचिन्तयेद् विषम् ॥ ९७ ॥
तत्क्षणाद् देवदेवेशि निर्विषः स तु जायते ।

कृत्वेति ध्यात्वा, सर्पैरिति हारकटकादिस्थैरुपलक्षितम् । पूर्वरूपं श्रीकोटराक्षसम्बन्धि । अहिदूषितत्वं विषदूषितत्वोपलक्षणपरम् ॥

किं च—

ग्रहेष्वेवंविधं ध्यानं यः कुर्यात्.........

सः—

..................मोचयेत् क्षणात् ॥ ९८ ॥

तेभ्योऽपस्मारादिग्रहेभ्यः साध्यमित्यर्थात् । अत्र च 'भगवन्नस्य साध्यस्य ग्रहं शमय शमय हुं फट्' इत्यन्तपूर्वोक्तमन्त्राभिमन्त्रितेनाम्भःकुसुमादिना साध्यं ताडयेदित्यर्थात् ॥ ९८ ॥

ध्यानासमर्थं प्रति विषशमनं कारुणिकत्वादोषधिप्रयोगैरप्यादिशति शम्भुः—

(९।३-९) रूप वाले करोड़ों सूर्य के समान कान्तिवाले भैरव के रूप में ध्यान करे । दष्टक व्यक्ति को अपने उक्त रूप से आक्रान्त हुआ चिन्तन करे । यह भी ध्यान करना चाहिये कि उस भैरव की सुदीप्त ज्वालाओं से विष दग्ध हो गया । हे देवदेवेशि ! (ऐसा करने पर) वह (= दष्ट व्यक्ति) तत्क्षण निर्विष हो जाता है ॥ ९५-९८- ॥

कृत्वा = ध्यान कर । सर्पों से = हार कटक आदि के स्थान पर वर्त्तमान सर्पों से । पूर्वरूपक = श्री कोटराक्ष वाले रूप का । साँप से दूषित होना उपलक्षण है—इसका तात्पर्य है, किसी भी विषैले जन्तु के द्वारा दष्ट ॥

इसके अतिरिक्त—

जो व्यक्ति ग्रहों के विषय में इस प्रकार का ध्यान करती है वह तत्क्षण (साध्य को) मुक्त करा देती है ॥ -९८ ॥

उन अपस्मार मिर्गी आदि (रोगों को उत्पन्न करने वाले) ग्रहों से साध्य को (मुक्त करा देता है) । यहाँ पूर्वोक्तमन्त्र के अन्त में 'भगवन्नस्य साध्यस्य ग्रहं शमय शमय हुंफट्'-इतना जोड़कर फिर इस मन्त्र से अभिमन्त्रित जल पुष्प आदि के द्वारा साध्य का ताडन करना चाहिये इतना अर्थात् (= अपनी बुद्धि से, समझ लेना चाहिये) ॥ ९८ ॥

कारुणिक होने के कारण भगवान् शिव ध्यान करने में असमर्थ व्यक्ति के प्रति

अथ ध्याने ह्यकुशलो यदा कश्चिन्नरो भवेत् ।
तदागदैर्महादेवि निर्विषं कुरुते क्षणात् ॥ ९९ ॥

दष्टं भक्षितविषं च ॥ ९९ ॥

अगदमाह—

कुमारिद्वितयं गृह्य नागिन्या तु सहैकतः ।
गोकर्णिकासितं मूलं सोमाह्वामूलसंयुतम् ॥ १०० ॥
आमगोक्षीरसंपिष्टं भक्षयेन्निर्विषो भवेत् ।

कुमार्याख्यौषधिः सफला बन्ध्या चेति द्विरूपापि, नागिन्यामहागोनासाह्वया सह गोक्षीरपिष्टमित्येकः प्रयोगः । गोकर्णिका गिरिकर्णिका, सोमाह्वा सोमराजी, तयोः सितं मूलं गोक्षीरपिष्टमिति द्वितीयः, क्षीरेण पिष्टमप्येतद्घृतेन सह पाने नस्ये वा प्रयोक्तव्यम् ।

यद्वक्ष्यति—

ओषधि के प्रयोगों के द्वारा विषशमन को बतलाते हैं—

यदि कोई आदमी ध्यान करने में सक्षम नहीं है तो हे महादेवि ! (विषैले जन्तु से) दष्ट अथवा विषभक्षण किये हुए रोगी को अगद (= ओषधियों) से निर्विष किया जाता है ॥ ९९ ॥

सर्प से दंश हुए या विषभक्षण वाले रोगी को ॥ ९९ ॥

औषधि को बतलाते हैं—

(सफला और बन्ध्या) दोनों प्रकार की कुमारी (= घृत कुमारी) नागिनी (= नागदमनी = एक प्रकार का पौधा जो सापों के विष को दूर करता है) इनको एक साथ गाय के कच्चे दूध में अथवा गोकर्णिका (= चिनार, गिरिकर्णिका) एवं सोमराजी (= बकुची) दोनों की जड़ को यदि गाय के कच्चे दूध में पीस कर पीया जाय तो (विषजन्तु से दष्ट व्यक्ति) निर्विष हो जाती है ॥ १००-१०१- ॥

कुमारी नामक औषधि जो कि फलवाली और बन्ध्या दो प्रकार की होती है, उन दोनों को, नागिनी अर्थात् महागोनासा नामक औषधि के साथ गाय के कच्चे दूध में पीसा जाय—यह (विष दूर करने का) एक प्रयोग है । गोकर्णिका = गिरिकर्णिका तथा सोमाह्वा = सोमराजी, उन दोनों की सफेद जड़ गाय के कच्चे दूध में पीसा जाय तो यह (विषापहारक) दूसरा प्रयोग है । दूध में पीसे गये इस द्रव्य को (गाय के) घी साथ पीने या नस्य लेने के रूप में प्रयोग करना चाहिये (अर्थात् उक्त पिसे गये द्रव्य को घी के साथ पीने या नस्य लेने पर विष दूर हो जाता है)।

'अगदान् घृतसंयुक्तान् पिबेत्' (९।१०८) इत्यादि ॥

किं च—

गोनिम्बस्य च मूलेन निर्विषत्वं प्रजायते ॥ १०१ ॥

गोनिम्बो भूम्यामलकी । क्वचित्तु ऐरण्डस्य मूलेनेति पाठः । अत्रापि आमगोक्षीरपिष्टत्वं स्थितमेव ॥ १०१ ॥

अश्वमारस्य मूलं तु उदकेन तु पेषयेत् ।
पाने नस्ये प्रदातव्यं तदा भवति निर्विषः ॥ १०२ ॥

अश्वमारः करवीरकम् ॥ १०२ ॥

आरग्वधस्य मूलं तु उदकेन च पेषयेत् ।
पाने नस्ये प्रदातव्यं तदा भवति निर्विषः ॥ १०३ ॥

आरग्वधमारोचकमिति प्रसिद्धम् ॥ १०३ ॥

मधुकस्य तु सारं यन्नस्ये पाने प्रयोजयेत् ।
निर्विषस्तु प्रजायेत भैरवस्य वचो यथा ॥ १०४ ॥

जैसा कि कहेंगे—

'औषधियों को घी में मिलाकर पीना चाहिये' ॥ (९।१०८)

और भी—

गोनिम्ब (= चिरायता) के मूल से (साध्य) निर्विषत्व होता है ॥ १०१॥

गोनिम्ब = भूमि आमलकी । कहीं-कहीं (गोनिम्बस्य के स्थान पर ऐरण्डस्य) (= रेंड़ या रेंड़ी) के मूल के साथ-ऐसा पाठ है । यहाँ भी गाय के कच्चे दूध में पीने की बात है ही ॥ १०१ ॥

अश्वमार (= कनेर) की जड़ को पानी के साथ पीसे । यदि पान अथवा नस्य के रूप में उसे दिया जाय तो (साध्य) निर्विष हो जाता है ॥ १०२॥

अश्वमार = करवीर (= कनेर, यह तीन प्रकार का होता है—सफेद फूल वाला पीले फूल वाला तथा लाल फूलों वाला) ॥ १०२ ॥

आरग्वध (= अमलतास—इसका फल कत्थई रङ्ग का, डंडा की तरह होता है) की जड़ को पानी के साथ पीसे । पान और नस्य में देने पर (साध्य) निर्विष हो जाता है ॥ १०३ ॥

आरग्वध = आरोचक के नाम से प्रसिद्ध है ॥ १०३ ॥

मधुक (= महुआ) का सार (= फूल का रस) नस्य और पान में दिया

मधुकस्य मधूकस्य सार आन्तरो भागस्तं द्वयोः । प्रक्रान्तत्वाद् उदकेन क्षीरेण वा पिष्ट्वा, नस्ये पाने प्रदातव्यम् । मधुकं मधुयष्टिरित्यन्ये ॥ १०४ ॥

जम्बुलासिकमूलं तु पाने नस्ये प्रयोजयेत् ।
निर्विषस्तु भवेद् देवि नात्र कार्या विचारणा ॥ १०५ ॥

जम्बुलासिकमूलं जम्बुवृक्षमूलम् । अत्रापि गोक्षीरपिष्टमिति स्थितमेव ॥१०५॥

अथ विषानाक्रमणहेतुमगदगुटिकाप्रयोगमाह—

षड्बिन्दुपटखर्जूरसूक्ष्मचूर्णं तु कारयेत् ।
मयूरपित्तसंयुक्तं गुटिकां कारयेत् प्रिये ॥ १०६ ॥
त्रिलोहवेष्टितां कृत्वा करे कण्ठे निधापयेत् ।
न विषं क्रमते तस्य यश्च दष्टो महोरगैः ॥ १०७ ॥

षड्बिन्दुः प्राणिविशेषः । पटखर्जूरं शतपदी । गुटिकां कारयेदित्यनन्तरं तां चेति, निधापयेदित्यनन्तरं 'यतः' इति चाध्याहार्यम् । त्रिलोहं हेमरजतताम्रम् ॥ १०७॥

जाय तो साध्य निर्विष हो जाता है—ऐसा भैरव का वचन है ॥ १०४ ॥

मधुक का = मधूक का, सार = भीतर का हिस्सा, उसको, जल और दूध दोनों के प्रकरण प्राप्त होने से जल अथवा दूध के साथ पीस कर नस्य और पान में देना चाहिये । कुछ लोगों का विचार है कि मधुक का अर्थ है—मधुयष्टि (अर्थात् मुल-हठी) ॥ १०४ ॥

हे देवि ! जम्बुलासिक (= जामुन) की जड़ का पान और नस्य में प्रयोग करे । (ऐसा करने पर साध्य) निर्विष हो जाता है । इसमें विचारणा (= सन्देह) नहीं करना चाहिये ॥ १०५ ॥

जम्बुलासिक मूल = जामुन के वृक्ष की जड़ । यहाँ भी गाय के दूध में पिसा गया-यह पहले की भाँति समझना ही है ॥ १०५ ॥

अब जिससे विष का आक्रमण (= प्रभाव) ही न हो ऐसी अगद गुटिका को बतलाते हैं—

षड्विन्दु (= काले रङ्ग का एक कीड़ा जिसकी पीठ पर छह सफेद बिन्दु बने होते हैं) पटखजूर (= कनखजूरा) का सूक्ष्मचूर्ण बनाये । उसको मयूर के पित्त से संयुक्त कर हे प्रिये ! गुटिका (= गोली) बनाये । उसको त्रिलोह से वेष्टित कर अपने हाथ में या कण्ठ में धारण कर ले । ऐसा करने पर जो महासर्प से दष्ट हो उसके भी शरीर में विष का संक्रमण (= प्रभाव) नहीं होता ॥ १०६-१०७ ॥

षड्विन्दु = प्राणीविशेष । पटखजूर = सौ पैरों वाला सरीसृप । गुटिका

अगदप्रयोगे शेषविधिमाह—

अगदान् घृतसंयुक्तान् पिबेद् वै विषदूषितः ।
न विषं क्रमते तस्य इति शास्त्रस्य निश्चयः ॥ १०८ ॥

एतेष्वगदेषु वान्येषु वा पृथक्पृथक् कुण्डलीयगारुड्येकवीराबलामोटादिमूलविषयेषु निष्कम्पप्रतिपत्तिना प्रयुज्यमानेष्वविसम्वादिता भवतीति दर्शयन् पटलमुपसंहरति—

एवमन्येऽपि ये योगाः स्वच्छन्देन विनिर्मिताः ।
कालाग्निर्नरकाश्चैव पाताला हाटकेश्वरः ॥ १०९ ॥
प्रदद्याद् भावितात्मा च सिद्ध्यन्ते नात्र सशयः ।

स्वच्छन्देनेति सर्वं हि परमेश्वरेण प्रवर्तितम् । यदुक्तं श्रीश्रीकण्ठ्याम्—

'प्रवर्तेतेश्वरात् सर्वं निवर्तेत तथेश्वरात् ।
ईश्वराधिष्ठितं सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥
महादेवात् परं नास्ति सत्यमेतन्न चान्यथा ।'

बनाये—इसके बाद उस गुटिका को रखे । 'निधापयेत्' के बाद 'यतः' का अध्याहार करना चाहिये । त्रिलोह = सोना, ताँबा और चाँदी ॥ १०७ ॥

औषधि के प्रयोग में शेषविधि को बतलाते हैं—

विष से दूषित व्यक्ति को औषधियों को घृत में मिलाकर पीना चाहिए । (ऐसा करने पर) उसके शरीर में विष संक्रमित नहीं होता—ऐसा शास्त्र का निश्चय है ॥ १०८ ॥

इन औषधियों या अन्य औषधियों जैसे कुण्डलीय (= ओषधि विशेष) गारुडी (= ओषधि विशेष) एक वीरा (= ओषधि विशेष) बला (= वरियरा, खरहँटी) मोटा (= मोचरसा) आदि के विषय में पृथक्-पृथक् दृढ़ विश्वास वाले के द्वारा यदि ये सब प्रयुक्त हों तो अविसंवादिता (= शास्त्रोक्त विषय के साथ व्यवहार की तुल्यता (अर्थात् जैसा वर्णन है वैसा ही) होती है । इसे बतलाते हुए पटल का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार स्वच्छन्द भैरव के द्वारा जो योग बनाये गये तथा कालाग्निभुवन, नरक, पाताल, हाटकेश्वर आदि, वे सब भावितात्मा होने पर अभीष्ट सिद्धि देते ही हैं—इसमें सन्देह नहीं है ॥ १०९-११०- ॥

स्वच्छन्द भैरव के द्वारा—क्योंकि सब कुछ स्वच्छन्द भैरव के ही द्वारा प्रवर्त्तित है । जैसा कि श्री श्रीकण्ठीसंहिता में कहा गया—

'ईश्वर से सब उत्पन्न होता है और ईश्वर के कारण ही सब निवृत्त होता है । स्थावर जङ्गमात्मक समस्त जगत् ईश्वर के द्वारा अधिष्ठित है । तात्पर्य यह है कि

इति । च एवार्थे, भावितात्मैव प्रयुञ्जीतेत्यर्थः । पाटलिकी सङ्गतिरदूर एव—

'कालाग्निर्नरकाश्चैव पाताला हाटकेश्वरः' (९।१०९)

इत्यादिना पटलान्तं कटाक्षयता ग्रन्थेन कृतेति शिवम् ॥

'व्याधीनामगदं दिव्यमाधीनां मूलकर्तनम् ।
उपद्रवाणां दलनं महादेवमुपास्महे ॥'

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्यव्याख्योपेते नवमः पटलः ॥ ९ ॥



महादेव से अतिरिक्त कुछ नहीं है । यह कथन अन्यथा नहीं है ।'

उक्त उद्धरण में 'च' का प्रयोग 'एव' अर्थ में है । पटल की सङ्गति दूर नहीं है । यह सङ्गति—

'कालाग्नि भुवन, नरक, पाताल और हाटकेश्वर' (९।१०९)

इत्यादि कथन के द्वारा पटलान्त को कटाक्षित करते हुए ग्रन्थ के द्वारा बतलायी ॥

'हम व्याधियों की दिव्य औषधि, आधियों के दिव्य मूलकर्त्तन और उपद्रवों के दिव्य दलन स्वरूप महादेव की उपासना करते हैं ॥'

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के नवम पटल की श्रीक्षेमराजविरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ ९ ॥



दशमः पटलः

*** स्वच्छन्दोद्योतः ***

आ कालाग्नेः शिवपुरपरो योऽयमध्वा स सर्वो
मूर्त्याभासा स्फुरति लहरी यस्य यश्चाखिलं तम् ।
मेयत्वेन प्रथयति परां मातृतां भक्तिभाजां
व्यङ्क्तुं देवो जयति स महाभैरवः श्रीस्वतन्त्रः ॥

नवमपटलोपान्ते कालाग्निरित्यादिना कटाक्षिताध्वस्वरूपावबोधार्थं श्रीदेव्युवाच—

अध्वायं तु महादेव सूचितो न तु वर्णितः।
कथयस्व प्रसादेन साधकानां हिताय तम् ॥ १ ॥

पारमेशधामप्राप्त्युपायः प्रबुद्धैरदनीयश्चाध्वायमिति नवमपटलोपक्रान्तो भुवना-

---

*** ज्ञानवती ***

कालाग्नि भुवन से लेकर शिवतत्त्व पर्यन्त वर्त्तमान जो यह षडध्वा है वह समस्त अध्वा रूपी लहर जिनकी मूर्त्ति के आभास से स्फुरित होता है और जो उस सम्पूर्ण अध्वा को अपने भक्तों की परप्रमातृता को व्यक्त करने के लिये प्रमेय के रूप में विस्तृत करते हैं वे श्री स्वच्छन्द महाभैरव सबसे बढ़ कर हैं ।

नवम पटल के अन्त में 'कालाग्निः.....' इत्यादि के द्वारा सङ्केतित अध्वस्वरूप को जानने के लिये श्री देवी ने कहा—

हे महादेव ! आपने इस अध्वा का सङ्केत तो किया किन्तु उसका वर्णन नहीं किया । अतः साधकों के हित के लिये उसे विस्तारपूर्वक प्रसन्नता के साथ कहिये ॥ १ ॥

जो परमेश्वर के धाम (= स्थान, स्वरूप) की प्राप्ति का उपाय तथा प्रबुद्ध (शैव साधकों) के द्वारा अदनीय (= भक्षणीय, आस्वाद्य, अनुभवनीय साक्षात्करणीय) है, वह भुवनस्वरूप है जिसका नवम पटल के अन्त में उपक्रम

त्मा, साधकानामिति भुक्तिं मुक्तिं च साधयतामाचार्यादीनाम् ॥ १ ॥

एतत्प्रश्ननिर्णयं श्रीभैरव उवाच—

अध्वानं सम्प्रवक्ष्यामि साधकानां हिताय वै।

अध्वानमिति भुवनरूपम्, सम्यक् तत्तद्भुवनेशाधिष्ठितक्रमेण प्रकर्षेण वैतत्येन वक्ष्यामि ॥

तं प्रस्तौति—

अथ कालाग्निरुद्राधः कटाहः संव्यवस्थितः ॥ २ ॥
कोटियोजनबाहुल्यः.............

पृथ्व्याः सर्वतत्त्वावृतत्वात् तदीयब्रह्माण्डान्तरवस्थितं कालाग्निरुद्रभुवनमादौ, तस्याधः कटाहो ब्रह्माण्डकर्परः कटाह इव च यत्र निमज्ज्योन्मज्ज्यते कृच्छ्रात् । बाहुल्यं घनता ॥

किं च—

.............तस्योर्ध्वे भुवनानि तु ।
नवनवतिकोट्यश्चाप्यण्डानां तु सहस्रकम् ॥ ३ ॥

किया गया है । साधकों के = भोग और मोक्ष की सिद्धि के लिये प्रयत्नशील आचार्य आदि के (हित के लिये कहें) ॥ १ ॥

इस प्रश्न के निर्णय को श्री भैरव ने बतलाया—

(अब मैं) साधकों के हित के लिये अध्वा का निर्वचन करूँगा ॥ २-॥

अध्वा = भुवन । (सम्प्रवक्ष्यामि का तात्पर्य है—) सम्यक् = तत्तत् भुवनेश्वरों के द्वारा अधिष्ठित क्रम से अथवा प्रकर्ष के साथ कहूँगा ॥

उसकी प्रस्तावना करते हैं—

कालाग्नि रुद्र भुवन के नीचे एक करोड़ योजन तक विस्तृत कटाह स्थित है ॥ -२-३- ॥

चूँकि पृथ्वी (जल आदि) समस्त तत्त्वों से घिरी हुई है इसलिये इस (= पृथिवी) के ब्रह्माण्ड के भीतर पहले कालाग्नि रुद्र भुवन स्थित है । उसके नीचे कटाह = ब्रह्माण्ड कर्पर (= ब्रह्माण्डरूपी कड़ाही) है । यह ब्रह्माण्ड कर्पर बहुत बड़े कड़ाह के समान है जिसमें डूबा हुआ (जीव) बहुत कष्ट के बाद ऊपर आता है । बाहुल्य = सघनता ॥

तथा—

उसके ऊपर भुवन हैं । इनकी संख्या निन्यानबे करोड़ है (अर्थात् ये

कोटीनां सप्ततिर्लक्षाण्ययुतानां सहस्रकम् ।
अर्बुदान्यथ वृन्दानि खर्वाणि च तथैव च ॥ ४ ॥
पद्मानि चाप्यसंख्यानीत्येवमादीन्यनेकशः ।
तेषां वै नायको ह्यत्र त्वनन्तः परमेश्वरः ॥ ५ ॥

तस्य कटाहस्योर्ध्वे पृष्ठे कर्परबाह्ये इत्यर्थः । नवनवतिकोट्य इत्यादिना तद्बहिर्वर्तिनां भुवनानां ब्रह्माण्डानां च निःसंख्यत्वमुच्यते । यथोक्तं श्रीमालिनीविजये ब्रह्माण्डं प्रकृत्यण्डं चाधिकृत्य—

'पृथग्द्वयमसंख्यातम्' (२।५०)

इति । श्रीकण्ठसंहितायामपि—

'ब्रह्माण्डं कोटिविस्तीर्णम्'

इत्युक्तम् । यत्तु टीकाकारैः—

'अथ कालाग्निरुद्राधः' (१०।२)

इत्यत्र कालाग्निरुद्रभुवनसामीप्यादाद्यं पार्थिवमनन्तभुवनमुक्तम्, अण्डानामित्यत्र चाण्डशब्देन भुवनान्युच्यन्ते, तेषां च कालाग्निब्रह्माण्डकवाट-

---

असंख्य हैं) । अण्डों की संख्या करोड़ों हजार, सत्तर लाख, सहस्र अयुत (= १००० × १०००० = १००००००००) है । अरबों खरबों पद्मों (= एक संख्या जो दश खरब का एक नील और दश नील का एम पद्म होती है) अर्थात् असंख्य है । इन भुवनों और अण्डों के नायक भगवान् अनन्तनाथ है ॥ -३-५ ॥

उस कटाह के ऊंपर = पीठ के ऊपर अर्थात् कर्पर के बाहर । 'निन्यानबे' करोड़' इत्यादि कथन के द्वारा (यह सङ्केत है कि) ब्रह्माण्डकटाह के बाहर वर्त्तमान भुवनों एवं ब्रह्माण्डों की संख्या नहीं है । जैसा कि ब्रह्माण्ड और प्रकृत्यण्ड को आधार मान कर मालिनीविजय तन्त्र में कहा गया—

'दोनो (= प्रकृत्यण्ड और ब्रह्माण्ड) पृथक् और असंख्य है ।' (मा०वि०तं० २।५०)

श्रीकण्ठीसंहिता में भी कहा गया—

'ब्रह्माण्ड करोड़ों (अर्थात् असंख्य योजन) विस्तीर्ण हैं ।'

और जो कुछ टीकाकारों ने—

'अथ कालाग्निरुद्राधः' (१०।२)

की यह व्याख्या है कि कालाग्निरुद्र भुवन के समीप होने के कारण पहला अनन्त भुवन पार्थिव है; (श्लोक सं० ३ में उक्त) 'अण्डानां' का अर्थ भुवन है

योर्मध्यवर्तित्वमिति व्याख्यातम्, तदनागमिकं स्वयंकल्पितमित्युपेक्ष्यम् । यतोऽनन्तभुवनस्य प्रथमत्वेऽपि शतरुद्रमध्यवर्तित्वेनाण्डबाह्याधोभागगतत्वमेवागमेषु दृश्यते । यथोक्तं श्रीमालिनीविजये—

'तद्बहिः शतरुद्राणां भुवनानि पृथक्पृथक्' (५।१२)

इत्युपक्रम्य......

'अनन्तः प्रथमस्तेषां' (५।१३) इति ।

इहाप्येकादशे भविष्यति—

'अनाथोऽनन्तरूपेण स्थितश्चाध्वनि धारकः' (११।२२) इति ।

तथा—

'संस्थितश्चाम्भसो मूर्ध्नि शक्त्याधारस्तु हूहुकः' (११।२४) इति ।

एतच्चानन्तरमेव व्यक्तीभविष्यति । अण्डशब्दस्य च भुवनवाचकत्वमप्रसिद्धम् । एवमपि पृथग् भुवनशब्दोऽनुपादातव्यः स्यात् । वक्ष्यमाणे च ब्रह्माण्डान्तर्वर्तिभुवनमानसंख्यामध्येऽनन्तभुवनमानस्यानुद्देशात्र कर्परिकाकालाग्नि-

---

और वे भुवन कालाग्नि भुवन और ब्रह्माण्ड कवाट के मध्य में रहते हैं—यह व्याख्या आगमसम्मत न होने तथा स्वयं कल्पित होने से उपेक्षणीय है । क्योंकि यद्यपि अनन्तनाथ का भुवन तो आदि में है तो भी यह शतरुद्रों के भुवन के मध्य में होने के कारण अण्ड के बाह्य अधो भाग में ही है—ऐसा आगमों में वर्णन मिलता है । जैसा कि श्री मालिनीविजय तन्त्र में कहा गया—

'उस (= कालाग्नि भुवन) के बाहर शतरुद्रों के पृथक् पृथक् भुवन हैं ।'

ऐसा प्रारम्भ कर—

'उनमे पहले अनन्तनाथ (का भुवन) हैं ।' (५।१३)

यह कहा गया ।

इस स्वच्छन्द तन्त्र के एकादश पटल में कहेंगे—

'अनाथ (= विष्णु) अनन्त के रूप में स्थित होकर अध्वा के धारक होते हैं ।' (११।२२)

तथा—

'शक्ति का आधार हुहूक जल के ऊपर स्थित है ।' (११।२४)

कहा गया । यह अभी बाद में स्पष्ट हो जायेगा । अण्ड शब्द भुवन के वाचक के रूप में प्रसिद्ध नहीं है । ऐसा होने पर भुवनशब्द का पृथक् उपादान नहीं करना चाहिये था । आगे कहे जाने वाले, ब्रह्माण्डान्तर्वर्त्ति भुवनमान की संख्या के मध्य में अनन्तनाथ के भुवन के मान का कथन न होने से यह समझना चाहिये कि अनन्त

भुवनयोर्मध्येऽनन्तभुवनम्, अपित्वधः कर्परिकाबाह्यपृष्ठभागेऽधःस्थशतरुद्रदशकमध्ये, इत्यलम् ॥ ५ ॥

तदित्थं प्रपञ्चव्याप्त्याऽनन्तब्रह्माण्डाश्रया भूः । तस्यात एवानन्तशब्दवाच्यस्य भगवतः शुद्ध्या सर्वब्रह्माण्डाधोवर्तिनिःसंख्यभुवनशुद्धिरूहकाख्यैः रुद्रभुवनैः सहास्यां भुवनदीक्षायां सम्पद्यत इत्याह—

तेन शुद्धेन शुद्धानि त्वण्डान्यत्रोहकैः सह ।

ऊहन्ते तर्कयन्ति परिछिन्दन्ति विश्वमित्यूहकाः ॥

कीदृशैरूहकैरित्याह—

शक्त्याधाराश्रयैरेव...............

शक्तिः पारमेश्वर्येव विश्वभित्तिभूतत्वादाधार इवाधारस्तदाश्रयैरेव शक्तिविश्रान्तैरित्यर्थः ॥

ते चोहकाः कियन्तः, कीदृशाः, के ?—इत्याह—

.............द्वात्रिंशत्परिसंख्यया ॥ ६ ॥

कोटिकोटिपरीवारास्त्वनौपम्यगुणान्विताः ।

का भुवन कर्परिका और कालाग्निभुवन के मध्य में नहीं है । बल्कि कर्परिका के नीचे बाह्यपृष्ठ भाग में नीचे स्थित दश शतरुद्रों के मध्य में स्थित है ॥ ५ ॥

तो इस प्रकार विस्तार की व्याप्ति की दृष्टि से यह पृथ्वी अनन्त ब्रह्माण्डों का आधार है । इसीलिये अनन्त शब्द वाच्य उस भगवान् (अनन्त नाथ) की शुद्धि से भुवनदीक्षा में ऊहक नामक रुद्र भुवनों के साथ समस्त ब्रह्माण्डों के नीचे स्थित असंख्य भुवन की शुद्धि सम्पन्न हो जाती है—यह कहते हैं—

उसके शुद्ध होने से यहाँ ऊहकों के साथ समस्त अण्ड शुद्ध हो जाते हैं ॥ ६- ॥

जो ऊह करते हैं = तर्क करते हैं = विश्व को परिच्छिन्न करते हैं वे ऊहक हैं ॥

वे ऊहक किस प्रकार के हैं ?—यह बतलाते हैं—

ये शक्ति में रहने वाले होते हैं ॥ -६- ॥

शक्ति = परमेश्वर की स्वातन्त्र्यरूपा शक्ति, वही विश्व की भित्ति होने से आधार के समान आधार है, उसमें रहने वाले अर्थात् शक्तितत्त्व में विश्राम करने वाले (ऊह कहलाते हैं) ॥

वे ऊहक कितने, किस प्रकार के और कौन हैं—यह बतलाते हैं—

इनकी संख्या बत्तीस है । इनके परिवारों की संख्या करोंड़ों में है । ये

दिव्याङ्गनौघसङ्कीर्णा भ्रूभङ्गललितेक्षणैः ॥ ७ ॥

सूर्यायुतप्रतीकाशास्तोरणाट्टालमण्डिताः ।

किं च—

न तत्र दुःखितः कश्चिन्मुक्त्वा दुःखमनङ्गजम् ॥ ८ ॥

रमन्ते तत्र वै वीरा नारीभिः सह लीलया ।

भुवनेषु विचित्रेषु योन्याकारेषु संस्थिताः ॥ ९ ॥

अनेन स्त्रैणभोगप्राधान्यमेवैषां भुवनानामुपोद्बलितम् ॥ ९ ॥

तदित्थम्—

भुवनान्येवमुक्तानि भुवनान्तरवासिनाम् ।

'तस्योर्ध्वे भुवनानि' (१०।३) इति यान्युपक्रान्तानि, तानीहानन्तभुवनमध्यगतेषु भुवनविशेषेषु ये वसन्त्यूहकास्तेषामाश्रयत्वेनोक्तानि ॥

एवं च दीक्षायाम्—

सर्वाणि शुद्धिमायान्ति तान्यनन्ते विशोधिते ॥ १० ॥

अनुपम गुणों से युक्त हैं । भ्रूभङ्ग से युक्त सुन्दर आँखों वाली दिव्य स्त्रियों के समूह से घिरे हुए, अयुत (= दश हजार) सूर्यों के समान (तेजस्वी), ये सब तोरण और अट्टालिका से मण्डित हैं ॥ -६-८- ॥

तथा—

वहाँ कामज दुःख को छोड़ कर और किसी प्रकार का दुःख किसी को नहीं है । योनि के आकार वाले विचित्र भुवनों में स्थित वे वीर वहाँ नारियों के साथ क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ -८-९ ॥

इस वर्णन से यह ध्वनि निकलती है कि ये भुवन स्त्रैणभोगप्रधान हैं (अर्थात् यहाँ प्रधानतया स्त्रियों के साथ रमण ही होता है) ॥ ९ ॥

तो इस प्रकार—

अन्य भुवनों में रहने वालों के भुवनों का वर्णन किया गया ॥ १०- ॥

'तस्योर्ध्वे भुवनानि' (१०।३) कथन के द्वारा जिनका उपक्रम किया गया था वे भुवन उन ऊहकों के आश्रय के रूप में कहे गये जो कि अनन्त भुवन के मध्य में वर्त्तमान विशिष्ट भुवनों में रहते हैं ॥

इस प्रकार दीक्षा होने पर—

अनन्त के शोधित किये जाने पर वे सब (भुवन) शोधित हो जाते हैं ॥ -१० ॥

स्वामिन्यनन्तभट्टारके दीक्ष्यं प्रति भोगप्रदत्वान्निवर्तिते तदधिष्ठिता ऊहकास्तद्भुवनानि चानन्तानि शुद्ध्यन्ति न भोगदत्वेन बन्धकानि भवन्तीत्यर्थः । एवमेव चोत्तरत्रापि तत्तद्भुवनेशशुद्धिद्वारेण भुवनशुद्धिर्मन्तव्या । शोधने चोपस्थानादिपूर्वं विधिमग्रे वक्ष्यति । एवं कर्परिकाया बाह्योऽनन्तभुवनम् ॥ १० ॥

ततस्तु—

अथोपरिष्टात् कालाग्निः श्रीकण्ठेन निवेशितः ।
अधिकारं प्रकुरुते तदाज्ञानुविधायकः ॥ ११ ॥
अनेकरुद्रकोटीभिरुपेतस्तिष्ठति प्रिये ।

उपरिष्टादिति कटाहस्य । काल:(ग्नि) संहारकृदग्निः । यद्यपि पूर्वोक्तनीत्या स्वतन्त्रभट्टारकमयत्वाद् विश्वस्योर्ध्वाधरप्रविभागो नास्ति, तथापि तदिच्छयैवारुरुक्षूणामुपदेश्योपदेशकानामयमित्थमाभासितः क्रमः । कालाग्न्यादिश्च परभैरवमयत्वाद् व्यापकोऽपि तदिच्छयैव तथावभासितस्तत्र तत्र तथा संनिविष्टः ॥

एवं कटाहस्याध ऊर्ध्वे च भुवनद्वयमुक्त्वा पुरप्रमाणं निर्णिनीषुरुपक्रमते—

दीक्ष्य के प्रति भोगप्रद होने से अनन्त भट्टारक जब निवर्त्तित हो जाते हैं तब उनके द्वारा अधिष्ठित ऊहक और उन (= ऊहकों) के अनन्त भुवन भी शोधित हो जाते हैं अर्थात् भोगदाता के रूप में उस दीक्षित व्यक्ति को बन्धन में नहीं डालते । इसी प्रकार आगे भी तत्तद् भुवनेशों की शुद्धि के द्वारा तत्तद् भुवनों की शुद्धि समझनी चाहिये । शोधन में उपस्थान आदि के बाद होने वाली विधि आगे कही जायेगी । इस प्रकार यह स्पष्ट हो गया कि अनन्तनाथ का भुवन कर्परिका के बाहर है ॥ १० ॥

इसके बाद—

(कटाह के) ऊपर श्रीकण्ठनाथ के द्वारा निवेशित कालाग्नि हैं । हे प्रिये ! उन (= श्रीकण्ठनाथ) की आज्ञा के अनुसार वह कालाग्नि (अपने) भुवन पर शासन करते हैं । ये कालाग्नि अनेक करोड़ रुद्रों से युक्त होकर रहते हैं ॥ ११-१२- ॥

उपरिष्टात् (= ऊपर) = कटाह के ऊपर । कालाग्नि = संहारकारी अग्नि । यद्यपि पूर्वोक्त वर्णन के अनुसार विश्व के स्वच्छन्द भट्टारकमय होने से इसका ऊपर नीचे-जैसा कोई विभाग नहीं है, तथापि उन स्वच्छन्दभट्टारक की इच्छा से ही मोक्षपथ पर आरोहण करने की इच्छा वाले उपदेश्य उपदेशक जनो के लिये इस प्रकार का क्रमं (परमेश्वर के द्वारा) आभासित किया गया । यद्यपि कालाग्नि आदि परभैरवमय होने के कारण व्यापक हैं तो भी उन परभैरव की इच्छा से ही जगह-जगह उस प्रकार अवभासित किये गये हैं अर्थात् उस-उस प्रकार से संनिवेशित हैं ॥

अधुना सम्प्रवक्ष्यामि प्रमाणं शिवनिर्मितम् ॥ १२ ॥
योजनानां वरारोहे............

तच्चोपक्रमत एव—

............यथा भवति तच्छृणु ।

तत्र—

अव्यक्ताद्दशभिर्भागैर्महान् स्थूलो विभाव्यते॥ १३ ॥
द्विपञ्चभागो महतो भूतादिः स्थूल उच्यते ।

इह योगिनः प्रति विश्वं मेयम्, अयोगिनस्तु प्रकृतितत्त्वात् प्रभृति मेयव्यवस्था, मायायाः पुरुषं प्रत्याच्छादकत्वात् कलादेश्च कञ्चुकरूपत्वेन ग्राहकशक्तिमयत्वात् । प्रकृतितत्त्वं तु वेद्यसामान्यरूपं मुमूर्षावसरे कण्ठगतमिव स्मर्यमाणं प्रतिभात्येव । कण्ठो हि प्रकृत्यधिष्ठातुः विष्णोः स्थितिधाम । तदित्थं वेद्यरूपादव्यक्ताद्दशगुणं स्थूलत्वं महतो बुद्धेः । बुद्धिर्ह्यध्यवसायव्यापाररूपा स्वसम्वेदनेन सम्वेद्यते । तस्याश्च प्रोक्तप्राकृतरूपाद् वेद्यात् स्थूलत्वं प्रतीति-

---

कटाह के नीचे और ऊपर दो भुवनों (= अनन्त भुवन और कालाग्नि भुवन) को बतला कर पुर प्रमाण (= परिमाण) को बतलाने के लिये उपक्रम करते हैं—

हे वरारोहे ! अब मैं आपको योजनों के शिवनिर्मित प्रमाण को बतलाऊँगा ॥ -१२-१३- ॥

उसको बतलाते हैं—

(वह प्रमाण) जैसा है उसको सुनो ॥ -१३- ॥

इस विषय में—

अव्यक्त (= प्रकृति) से दश गुना स्थूल महत् तत्त्व माना जाता है । महत् से दो पाँच (= ५ × २ = १०) गुना स्थूल भूतादि (= तन्मात्रायें) माना जाता है ॥ -१३-१४- ॥

योगी के लिये सम्पूर्ण विश्व प्रमेय (= यथार्थ ज्ञान का विषय) होता है किन्तु अयोगी के लिये प्रकृति तत्त्व से आगे (महत् अहङ्कार आदि) प्रमेय होते हैं । क्योंकि माया तत्त्व पुरुष का आवरक है और कला आदि (= विद्या राग काल और नियति) कञ्चुक के रूप में ग्राहक (= प्रमाता) की शक्ति हैं । जहाँ तक प्रकृति तत्त्व का प्रश्न है वह वेद्यसामान्य रूप है और आसन्नमृत्यु वाले पुरुष को कण्ठगत के समान स्मरण का विषय बनती है । कण्ठ का तात्पर्य है—प्रकृत्यण्ड के अधिष्ठाता विष्णु की स्थिति का स्थान । तो इस प्रकार वेद्यरूप अव्यक्त की अपेक्षा महत् तत्त्व अर्थात् बुद्धि तत्त्व दश गुना अधिक स्थूल है । बुद्धि अध्यवसाय (= निश्चयात्मक) व्यापाररूपा है । वह अपने संवेदन से जानी जाती है । उसकी

साक्षिकमेव । एवंभूतान्महतो द्विपञ्चभाग इति दशगुण एव, भूतानामादिः कारणं तन्मात्रं स्थूलः, न तु भूतादिरहङ्कारो व्याख्येयस्तस्य महत आधिक्येनासञ्चेत्यत्वात् । तन्मात्रस्वरूपं तु वासनारूपतयान्तः स्थितं वृद्धस्येवाभिलाषास्पदीभूतं प्रमदामात्ररूपं स्फुरत्येव । तच्चाध्यवसायात्मनो बुद्धेराकारतया स्फुरत्स्थूलतां धत्त एव ।

तदेतदन्तःकरणैकपरिच्छेद्यमित्याह—

भूतादेः परिमाणं च भावग्राह्यं न चाक्षुषम् ॥ १४ ॥

तदीदृशात्—

भूतादेर्यद्दशगुणमणीयो दृश्यते रजः ।
जालान्तरगते भानौ परमाणुः स उच्यते ॥ १५ ॥

अणीयः स्वल्पतरं, भूताद्यपेक्षया तु दशगुणं स्थूलं चाक्षुषत्वात् । अयं च परमाणुः तार्किकोपगतपरमाणुविलक्षणः ॥ १५ ॥

स्थूलता उपर्युक्त प्राकृत रूप वेद्य की अपेक्षा प्रतीतिसाक्षी वाली है । (अर्थात् बुद्धि की स्थूलता का भान हो सकता है) इस प्रकार के महत् तत्त्व की अपेक्षा दो पाँच भाग अर्थात् दश गुना स्थूल भूतादि है । भूतादि का अर्थ है स्थूल पञ्च महाभूतों का आदि अर्थात् कारणतन्मात्रायें न कि अहङ्कार क्योंकि वह महत् तत्त्व की अपेक्षा अधिक असञ्चेत्य (= जड़) है । और तन्मात्राओं का स्वरूप तो वासना रूप होने के कारण व्यक्ति के अन्दर उसी प्रकार स्फुरित होता है जैसे कि वृद्धव्यक्ति के अन्तःकरण में प्रमदामात्र का रूप और वह अध्यवसायरूपा बुद्धि के आकार के रूप में स्फुरित होता हुआ स्थूलता को प्राप्त होता ही है ॥

तो यह (= भूतादि) केवल अन्तःकरण से परिच्छेद्य (= ज्ञेय) है—यह कहते हैं—

भूतादि के परिमाण को भावना से जाना जा सकता है न कि चक्षु के द्वारा ॥ -१४ ॥

तो इस प्रकार—

भूतादि से जो दश गुना स्थूल है वह छोटा सा धूलकण प्रातःकालीन सूर्य की किरणों के खिड़की के अन्दर आने पर दिखलायी पड़ता है उसे परमाणु कहते हैं ॥ १५ ॥

अणीय = छोटा । यह भूतादि की अपेक्षा दश गुना स्थूल है क्योंकि इसका चाक्षुष प्रत्यक्ष होता है । यह परमाणु नैयायिकों के परमाणु से विलक्षण है (नैयायिकों का परमाणु सूर्य की किरणों के जाल के अन्दर आने पर दिखलायी पड़ने वाले धूलीकण का छठाँ भाग होता है) ॥ १५ ॥

ईदृशश्च—

अष्टानां परमाणूनां समवायस्तु यो भवेत् ।
त्रसरेणुः स विख्यातः तत्पद्मरज उच्यते ॥ १६ ।

समवायः सङ्घट्टनम् । तस्य त्रसरेणुः, पद्मरज इति नामद्वयम् ॥ १६ ॥

त्रसरेणवश्च ये त्वष्टौ बालाग्रं तु विधीयते ।
बालाग्राणि तथा त्वष्टौ लिक्षेति परिकीर्तिता ॥ १७ ॥
लिक्षाचाश्टौ विदुर्यूकां यूकाश्चाष्टौ यवो भवेत् ।
अष्टौ यवा वरारोहे पर्वांगुष्ठमथांगुलम् ॥ १८ ॥
द्वादशांगुलमानेन वितस्तिस्ताल उच्यते ।
तालद्वयं भवेद्धस्तश्चतुर्विंशतिकांगुलः ॥ १९ ॥

बालाग्रादीनि प्रमाणविशेषाभिधानानि । पर्वणोऽङ्गुष्ठमंगुलमिति पर्यायः, वितस्तेस्तु तालः ॥ १९ ॥

चतुर्हस्तो धनुर्दण्डो नालिका यूप एव च ।

धनुष एव दण्डो नालिका यूप इति च नाम ॥

धनुःसहस्रे द्वे पूर्णे क्रोशः समभिधीयते ॥ २० ॥

इस प्रकार के—

आठ परमाणुओं का जो समवाय होता है वह त्रसरेणु कहा गया है । उसे पद्मरज भी कहा जाता है ॥ १६ ॥

समवाय = सङ्घट्ट (= परस्पर संयुक्त रूप) । उसका त्रसरेणु और पद्मरज ये दो नाम है ॥ १६ ॥

जो आठ त्रसरेणुओं (का सङ्घट्ट) है उसे बालाग्र कहते हैं । आठ बालाग्रों की एक लिक्षा (= गन्दगी के कारण शिर में उत्पन्न हुआ छोटा क्रिमि जो कि काटता रहता है) कही गयी है । आठ लिक्षा की एक यूका (= शिर में स्थित क्रिमि = जूं) होता है । आठ यूका का एक यव (= खाने वाला अन्न) होता है । हे वरारोहे! आठ यव का एक अंगुष्ठ पर्व या एक अंगुल होता है । बारह अंगुल का एक वितस्ति (= बीता) या ताल होता है । दो ताल या चौबीस अंगुल का एक हाथ होता है ॥ १७-१९ ॥

बालाग्र आदि प्रमाण (= परिमाप) विशेष के नाम हैं । पर्व या अङ्गुल यह अंगूठे का पर्याय है । वितस्ति का पर्याय ताल है ॥ १९ ॥

चार हाथ का एक धनुष दण्ड, नालिका या यूप होता है ॥ २०- ॥

धनुष का ही नाम दण्ड नालिका या यूप है ॥

क्रोशद्वयेन गव्यूतिर्गव्यूती द्वे तु योजनम् ।

एतत्प्रकृते योजयति—

अनेन परिमाणेन योजनानां यशस्विनि ॥ २१ ॥
सिंहासनं महादीप्तं सहस्रद्वयविस्तृतम् ।
सहस्रमुच्छ्रितं तस्य..........

तस्येति कालाग्नेः ॥

.............महापीठेषु सुव्रते॥ २२ ॥
तिष्ठते यत्र देवेशः कालो द्वादशलोचनः ।

तिष्ठते प्रकाशते ॥

स पश्चिमोत्तरप्राग्दक्षतः—

सितरक्तपीतकृष्णाश्चतुर्वक्त्रो महाबलः ॥ २३ ॥

ऊर्ध्ववक्त्रमस्यानुन्मीलितं भगवता दर्शितं मा भूद् भूरादिलोकदाह इति ॥ २३ ॥

किं च—

दो हजार धनुष का एक कोस होता है । दो कोस की एक गव्यूति और दो गव्यूति का एक योजन होता है ॥ -२०-२१- ॥

इस परिमाण को प्रकृत (= प्रस्तुत) से जोड़ते हैं—

हे यशस्विनि ! इस परिमाण से उस कालाग्नि देव का दो हजार योजन चौड़ा और एक हजार योजन ऊँचा अत्यन्त दीप्यमान सिंहासन है ॥ -२१-२२- ॥

उसका = कालाग्नि का ।

हे सुव्रते ! इस महापीठ पर द्वादशलोचन कालाग्नि देव स्थित हैं ॥ -२२-२३- ॥

स्थित हैं = प्रकाशित होते हैं ॥

वह (= कालाग्निरुद्र) पश्चिम उत्तर पूर्व और द्रक्षिण दिशाओं के क्रम से—

श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण वर्ण के चार मुख वाले तथा अत्यन्त बलशाली हैं ॥ -२३ ॥

भगवान् ने इनके ऊर्ध्ववक्त्र को बन्द दिखाया है ताकि भू आदि लोक का दाह न हो जाय ॥ २३ ॥

रक्ताङ्गोऽथ करालश्च पिङ्गभ्रू श्मश्रुलोचनः ।
वक्त्रज्वाला जटाज्वाला लोमज्वालाः सुजाज्वलाः ॥ २४ ॥
ज्वलन्त्यस्यायुधज्वालाः सुतीव्राः करमध्यगाः ।

इत्थं चायम्—

ज्वलत्पर्वतवद् दीप्तो ज्वलज्ज्वालाभिराजितः ॥ २५ ॥
दशबाहुर्महात्मा वै खड्गखेटकधारकः ।
शरशार्ङ्गविहस्तश्च पाशाङ्कुशधरस्तथा ॥ २६ ॥
कपालखट्वाङ्गधरो वरदाभयपाणिभृत् ।

विहस्तो विशिष्टहस्तः ॥

अपि च—

दश योजनलक्षाणि शरीरं भाति भास्वरम् ॥ २७ ॥

एतद् भावस्वरायाः कान्तेः प्रमाणम् न तु शरीरस्य, अन्यथा प्रागुक्तासनमानस्यासङ्गतत्वापत्तिः । शरीरमानं त्विह नोक्तम् ॥ २७ ॥

कोटियोजनमानेन भुवनं चास्य जाज्वलम् ।

और भी—

(यह कालाग्निरुद्र) रक्ताङ्ग, विकराल हैं । इनकी भ्रू श्मश्रु (= दाढ़ी) एवं आँखें पिङ्ग (नारङ्गी के रङ्ग की) हैं । इनके मुख जटा और रोमों से महा ज्वालायें निकलती रहती हैं । इनके हाथों में जो आयुध हैं उनसे भी ज्वालायें निकलती रहती हैं ॥ २४-२५- ॥

इस प्रकार के यह देव—

जलते हुए पर्वत के समान कान्तिमान्, ज्वालाओं से शोभायमान यह महात्मा दश भुजाओं वाले हैं । हाथों में खड्ग, खेटक (= ढाल), बाण, धनुष, पाश, अंकुश, कपाल, खट्वाङ्ग, वरद मुद्रा और अभय मुद्रा धारण किये हैं ॥ -२५-२७- ॥

विहस्त = विशिष्ट हाथों वाले ॥

और भी—

उनका भास्वर शरीर दश लाख योजन दूर तक चमकता है ॥ -२७ ॥

यह (= दश लाख योजन उनकी) भास्वर कान्ति का परिमाप है न कि उनके शरीर का । ऐसा न मानने पर उनके पूर्वोक्त आसन के परिमाण से सङ्गति नहीं बैठेगी । यहाँ शरीर का मान नहीं कहा गया ॥ २७ ॥

तच्च—

सम्भृतं रुद्रकन्याभी रुद्रैर्ज्वलितशूलिभिः ॥ २८ ॥
नानारूपविमानैश्च प्रज्वलद्भिः समावृतम् ।

किं च—

ज्वालास्तस्य विनिष्क्रान्ताः कोटयो दश चोर्ध्वतः ॥ २९ ॥

तस्येति भुवनस्य ॥ २९ ॥

तस्योपरिष्टाद् देवेशि पञ्च कोट्यो वरानने ।
न कश्चिन्निवसत्यत्र धूमोष्मपरिवारितः ॥ ३० ॥

एवं कटाहः कोटिस्तदुपरि कालाग्निभुवनं कोटिः, भुवनज्वाला दश कोटयः, शून्यं पञ्च कोटय इति सप्तदश । न चात्र मध्येऽनन्तभुवनपरीमाणमुक्तमिति मध्ये तत्परिकल्पनमसदित्युक्तमेव ॥ ३० ॥

अतः परं वरारोहे नरकाः परिकीर्तिताः ।
पञ्चाशत्कोटयो देवि कथिता ह्यनुपूर्वशः ॥ ३१ ॥

इनका भुवन एक करोड़ योजन विस्तृत और प्रकाशमय है ॥ २८- ॥

और वह—

हाथ में जलते हुए शूल ली हुई भयङ्कर रुद्रकन्याओं से भरा है । इस भुवन में जलते हुए अनेक रूपों वाले विमान भी भरे पड़े हैं ॥ -२८-२९- ॥

तथा—

उस भुवन की दश करोड़ ज्वालायें ऊपर की ओर उठ रही हैं ॥ -२९॥

उसकी = भुवन की ॥ २९ ॥

हे देवेशि ! उसके ऊपर पाँच करोड़ योजन (शून्य) है । हे वरानने ! (यह पाँच करोड़ योजन शून्य) धूम और गर्मी से भरा हुआ है । इसमें कोई नहीं रहता ॥ ३० ॥

इस प्रकार कटाह की एक कोटि योजन, उसके ऊपर कालाग्निभुवन की एक कोटि योजन, उसके ऊपर भुवन की ज्वाला दश कोटि योजन, उसके ऊपर पाँच कोटि योजन, इस प्रकार (१ + १ + १० + ५ =) सत्रह करोड़ योजन परिमाण बतलाया गया । इसमें अनन्त भुवन का परिमाण नहीं कहा गया । इसलिये इस (सत्रह कोटि योजन) के बीच उसकी कल्पना असत् है ॥ ३० ॥

हे वरारोहे ! इसके बाद नरकों की स्थिति का वर्णन है । हे देवि !

अन्तर्भावितण्यर्थत्वाद् नरान् काययन्ति साक्रन्दान् सम्पादयन्ति दुःखानुभवेनेति नरकाः कथिता इति महासंहितासु ॥ ३१ ॥

इह तु—

प्रधानं सम्प्रवक्ष्यामि शतं तत्र वरानने ।
चत्वारिंशत्समोपेतं कथितं.......

यन्महासंहितासु तत्

.................नामतः शृणु ॥ ३२ ॥
अवीची रौरवश्चैव महारौरव एव च ।
तामिस्रश्चान्धामिस्रः सञ्जीवनसुजीवनौ ॥ ३३ ॥

तदेते—

'अवीचिर्वीचिभिश्छन्नः पूयासृक्कर्दमादिभिः ।
रुदन्तः प्राणिनो यत्र निक्षिप्यन्ते स रौरवः ॥'
'तामिस्रस्तमसा मिश्रः शर्वरीध्वान्तधूसरः ।
तथारूपोऽन्धतामिस्रस्त्वविभावितदिङ्मुखः ॥'

इति श्रीपरायां निरुक्ताः । रौरव एव सातिशयो महारौरवः । यातनाभिर्मृतकल्पानां पुनर्यातनार्थं यत्र सम्यग्जीवनम्, सुष्ठु भूयोभूयश्च जीवनं तौ

इनकी संख्या क्रम से पचास करोड़ कही गयी है ॥ ३१ ॥

(नरक शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—शब्दनार्थक 'कै' धातु से) अन्तर्भावित णिच् के प्रयोग के कारण नरक शब्द का विग्रह होगा नरान् (= मनुष्यों या जीवों को) काययन्ति (= शब्द कराते हैं) अर्थात् दुःखों के अनुभव के द्वारा क्रन्दनयुक्त बनाते हैं—इसलिये महासंहिताओं में वे नरक कहे जाते हैं ॥ ३१ ॥

किन्तु यहाँ—

हे वरानने ! मैं यहाँ एक सौ चालिस नरकों का वर्णन करूँगा जो कि महासंहिताओं में कहे गये हैं उनको नाम पूर्वक सुनो । अवीची, रौरव, महारौरव, तामिस्र, अन्धतामिस्र, सञ्जीवन और सुजीवन ॥ ३२-३३ ॥

ये नरक श्री परासंहिता में कहे गये हैं—

'अवीचि नरक पूय (= फोड़े फुंसी से निकला मल-पीब) असृक् (= रक्त) कीचड़ आदि की लहरों से भरा हुआ है । रौरव नरक वह है जिसमें रोते हुए प्राणी फेंक दिये जाते हैं । तामिस्र अन्धकार से भरा हुआ तथा रात्रि के अन्धकार जैसा धुसर है । अन्धतामिस्र भी वैसा ही है जिसमें दिशाओं का ज्ञान नहीं होता ।'

रौरव ही कुछ और विशेषताओं से युक्त होने पर महारौरव होता है । यातनाओं

सञ्जीवनसुजीवनौ ॥ ३३ ॥

पद्मश्चैव महापद्मः कालसूत्रस्तथैव च ।

एते च श्रीपरायाम्—

'पद्मः पद्मसमाकारः सुशीतो हिमकर्दमः ।
महापद्मस्तथारूपः किन्तु शीतहिमोत्तरः ॥
कालसूत्रोऽसितः पाशस्त्रिकण्टदृढवेष्टनः ।'

इति निरुक्ताः ॥

सूचीमुखः........

एषोऽपि—

'सूचीमुखः सुतीक्ष्णाग्रसूचीवत्प्रविभेदकः ।'

इति तत्रैवोक्तः ॥

......महाकायः......

महान् दुर्वाहः कायो यत्र ॥

..............क्षुरधारोऽसिपर्वतः ॥ ३४ ॥

के द्वारा मृतप्राय जीवों को जहाँ पुनः यातना के लिये सम्यक् जीवित कर दिया जाता है तथा जहाँ अच्छी तरह बार-बार जीवित किया जाता है वे दोनों क्रमशः सञ्जीवन और सुजीवन नरक हैं ॥ ३३ ॥

पद्म महापद्म और कालसूत्र (भी नरक हैं) ॥ ३४- ॥

श्रीपरासंहिता में इनका वर्णन इस प्रकार है—

'पद्म नामक नरक कमल के समान आकार वाला है । यह अत्यन्त ठंडा और बर्फ के कीचड़ से भरा है । महापद्म भी वैसा ही है किन्तु उसमें शीतता पहले से भी ज्यादा है। कालसूत्र नामक नरक काले पाश वाला है जो त्रिकण्टकों से दृढता के साथ वेष्टित है ॥'

सूचीमुख का भी वहाँ वर्णन किया गया है ॥ -३४- ॥

'सूचीमुख नामक नरक तीक्ष्ण अग्रभाग वाली सूची के समान अत्यधिक चुभने वाला है ।'

महाकाय (नरक भी है) ॥ -३४- ॥

यहाँ शरीर महान् अर्थात् दुर्वाह होता है ॥

क्षुरधार और असिपर्वत नामक अन्य नरक हैं ॥ -३४ ॥

'क्षुरधारो लुनात्यङ्गं क्षुरधारानिरन्तरः ।'

इत्युक्तः । असिः खड्गस्तन्मयश्च पर्वतो गच्छतां दुःखदः ॥ ३४ ॥

असिस्तालो द्रुमश्चैव द्रुममस्तक एव च ।
द्रुमारामश्च विख्यातः..........

असिसंज्ञः—

'खड्गश्छिनत्ति गात्राणि खड्गधारापरिग्रहः ।'

इति परायां निरुक्तः । तालोऽपि—

'तालस्तालवदङ्गस्थैर्विदारयति वल्कलैः'

इति निरुक्तः । द्रुमो दारुणवाताभिभवनीयद्रुमाकारो निश्चलदेहहेतुः । द्रुमो मस्तके यत्र स द्रुममस्तकः । एवं द्रुमाणामारामः समूहो यत्राङ्गेषु स द्रुमारामः ॥

...........कुम्भीपाकस्तथैव च ॥ ३५ ॥

'कुम्भीपाको बृहद्घोरः कुम्भवक्त्रोज्ज्वलच्छिखः ।'

इति निरुक्तः ॥ ३५ ॥

'क्षुरधार नरक अङ्गों को काट देता है इसमें सघन क्षुरधारायें हैं ।'

ऐसा कहा गया है । असि = खड्ग । इससे भरा हुआ है । यह उसमें जाने वाले जीवों को महाकष्ट देता है ॥ ३४ ॥

असि, ताल, द्रुम, द्रुममस्तक और द्रुमाराम नरक प्रसिद्ध है ॥ ३५-॥

असि नामक नरक परासंहिता में इस प्रकार कहा गया है—

'खड्ग नामक नरक शरीरों को काट देता है । उसमें तलवार की धारा फैली हुई है ।'

ताल नरक भी—

'तालनरक ताल के समान है जो अपने अङ्ग में स्थित बल्कलों से शरीर को फाड़ देता है ।'

इस प्रकार कहा गया है । द्रुम नामक नरक वृक्ष के आकार का होता है । वह दारुण वात से ही हिलता डुलता है । वहाँ पर जीवों का देह निश्चल हो जाता है । द्रुममस्तक नरक में जीवों के शिर पर वृक्ष स्थित हो जाता है । इसी प्रकार द्रुमाराम नरक में जीवों के अङ्गों में वृक्ष उग आते हैं ॥

इसी प्रकार कुम्भीपाक नरक भी है ॥ -३५ ॥

'कुम्भीपाक बहुत बड़ा एवं भयङ्कर है । इसका मुख कुम्भ के मुख की भाँति है और इसमें आग की लपटें ऊपर उठती रहती हैं ।'

अम्बरेषोऽङ्गारराशिः...........

'अम्बरेषोऽम्बराद्यस्मात् सुतीक्ष्णेषून् प्रवर्षति ।
तप्ताङ्गारोऽग्निसङ्काशो लोहाङ्गारनिकेतनः ॥'

इति निरुक्तावेतौ ॥

...........तीक्ष्णतुण्डस्तथैव च ।
वज्रतुण्डश्च शकुनिः.............

एवंविधशकुनिभिर्जना यत्र ताड्यन्ते ॥

...............मीनोदरखरोदरौ ॥ ३६ ॥

मीनखरयोरुदरे महासन्तापदे यत्र जनाः पीड्यन्ते ॥ ३६ ॥

सन्दंशः........

सन्दंशो यत्र सन्तप्तैः सन्दंशैर्जनाः पीड्यन्ते ॥

.....वज्रकायश्च.....

यत्र महायातनानुभववतां वज्रमयः कायः ॥

...............मेदकश्च वरानने ।

ऐसा कहा गया ॥ ३५ ॥

अम्बरेष और अङ्गारराशि नामक अन्य नरक हैं ॥ ३६- ॥

'अम्बरेष वह नरक है जिसमें आकाश से तीक्ष्ण बाणों की वर्षा होती है । अङ्गारराशि नामक नरक जलते हुए अङ्गार वाला और अग्नि के समान है । इसमें लोहे का जलता हुआ अङ्गार भरा रहता है ।'

इस प्रकार ये दोनों (नरक) कहे गये हैं ॥

तीक्ष्णतुण्ड (शकुनि) और वज्रतुण्ड शकुनि नरक हैं ॥ -३६- ॥

इन नरकों में उक्त प्रकार के पक्षियों के द्वारा लोग पीड़ित होते हैं ॥

मीनोदर और खरोदर नरक भी हैं ॥ -३६ ॥

मछली और गदहे के उदर वाले नरक महासन्ताप देने वाले हैं । इसमें जीव महाकष्ट पाते हैं ॥ ३६ ॥

सन्दंश (= संड़सी) नामक नरक है ॥ ३७- ॥

जिसमें जलती हुई संड़सी से लोग पीड़ित किये जाते हैं ॥

वज्रकाय नामक नरक है ॥ -३७- ॥

जहाँ महायातना का अनुभव करने वालों का शरीर वज्रमय हो जाता है ॥

यत्र महासन्तापवति मेदोमयशरीरता ॥

उष्ट्रग्रीवो महाकायो वेतालो वडवामुखः ॥ ३७ ॥

उष्ट्रस्येवातिदीर्घत्वात् कृच्छ्रेणाशनीयप्रापणी ग्रीवा, (महा)कायश्च महान् बह्वन्नभरणीयः, वेताला ज्वालास्या भयानका यत्र । वडवामुखाकारो दारुणोऽनलः सन्तापनो यत्र ॥ ३७ ॥

असृक्पूयह्रदश्चैव.........

असृग्ह्रदः पूयह्रदश्च ॥

...........भ्रमरो मषकस्तथा ।

यत्र भ्रमरा मषकाश्च विषमा दंशकारिणः ॥

संग्रहश्च............

यत्र तप्तोदकवज्जनाः संगृह्यन्ते क्वाथ्यन्ते ॥

.......कपालश्च......

यत्र कपालेष्विवापूपाः जनाः पच्यन्ते ॥

हे वरानने ! मेदक नामक नरक है ॥ -३७- ॥

महासन्ताप वाले जिस नरक में जीवों का शरीर मेदोमय हो जाता है ॥

उष्ट्रग्रीव, महाकाय, वेताल और बडवामुख नामक नरक हैं ॥ -३७ ॥

(उष्ट्रग्रीव नरक में) जीवों की गर्दन ऊँट की गर्दन के समान बहुत लम्बी हो जाती है जिसमें भोजन बहुत कष्ट से पहुँचता है । (महाकाय नरक) में जीवों का शरीर इतना बड़ा हो जाता है कि कभी भी अन्न से पूरित नहीं होता । वेताल नरक में जीव वेताल के समान ज्वाला से जलते हुए मुख वाले हो जाते हैं । यहाँ वडवा (= घोड़ी, खच्चरी) के मुख के आकार का दारुण अनल जीवों को ताप देता है ॥ ३७ ॥

असृग्ह्रद और पूयह्रद नामक नरक हैं ॥ ३८- ॥

असृक्ह्रद और पूयह्रद (नामक नरक रक्त और पीब भरे रहते हैं जिसमें जीवों को डुबोया जाता है) ॥

भ्रमर और मकर नरक हैं ॥ -३८- ॥

जहाँ भयङ्कर भौंरे और घड़ियाल काटते रहते हैं ॥

संग्रह नामक नरक है ॥ -३८- ॥

यहाँ खौलते हुए पानी में जीवों को खौलाया जाता है ॥

कपाल नामक नरक है ॥ -३८- ॥

................तप्तकवच एव च ॥ ३८ ॥

यत्र तप्तकवचान्तर्निविष्टाङ्गानि पीड्यन्ते ।

गजपादो महावक्त्रः कूर्माख्यो नकुलस्तथा ।

यत्र गजपादैर्जनाः पीड्यन्ते । यत्र महावक्त्रैः प्राणिभिः ग्रसनम् । यत्र कूर्मैर्नकुलैश्च जना भक्ष्यन्ते त्रास्यन्ते च ॥

पीडनश्चैव..........

यत्र महाशिलाभिर्जनाः पीड्यन्ते ॥

........कुम्भीरः......

एतन्नाममहाजलचरभीषणः ॥

..............क्रकचः शूलमेव च ॥ ३९ ॥

यत्र क्रकचैरङ्गच्छेदनम् । यत्र च शूलारोपणम् ॥ ३९ ॥

अनङ्गश्चाङ्गारोद्गारः............

यहाँ मनुष्य उसी तरह पकाये जाते हैं जैसे कि कड़ाही में हलवा ॥

तप्तकवच नरक भी है ॥ -३८ ॥

जहाँ जीवों के अङ्ग जलते हुए कवच के भीतर डालकर पीड़ित किये जाते हैं॥

गजपाद, महावक्त्र, कूर्म और नकुल नरक हैं ॥ ३९- ॥

(गजपाद में) लोग हाथी के पैरों के नीचे कुचल दिये जाते हैं । (महावक्त्र में) बड़े-बड़े मुख वाले प्राणी जीवों को खा जाते हैं । (कूर्म और नकुल नामक नरक में) लोग कछुओं और नेवलों के द्वारा खाये और त्रस्त किये जाते हैं ॥

पीडन (नरक) नामक नरक है ॥ -३९- ॥

इसमें नारकीय जन विशाल शिलाओं से पीड़ित होते हैं ॥

कुम्भीर नामक नरक है ॥ -३९- ॥

(जिसका वर्णन नेत्रतन्त्र में मिलता है अथवा एक प्रकार का घड़ियाल) ॥

इस नाम का एक भयङ्कर जलचर प्राणी ॥

क्रकच और शूल नामक नरक है ॥ -३९ ॥

जहाँ क्रकचों (= आरा) के द्वारा अङ्गों को काटा जाता है । (शूल नरक शरीर में) शूल धँसाया जाता है ॥ ३९ ॥

अनङ्ग और अङ्गारोद्गार नामक नरक हैं ॥ ४०- ॥

यत्र तापेनाङ्गानि विलीयन्ते । यत्र चाङ्गारोद्गारैर्महोष्मभिः सन्तापः ॥

..............प्रदीप्तस्त्रिमुखस्तथा ।

पञ्चवक्त्रः शतास्यश्च..........

प्रदीप्तोऽन्यत्र—

'अन्तःसन्तापकृत्तापः शोषितोदरकन्धरः'

इत्युक्तः । त्रिपञ्चशतमुखाश्च प्राणिनो यत्र दशन्ति ॥

.............जलौको बिलधूमकः ॥ ४० ॥

यत्र जलौकःसमाख्यैः प्राणिभिरुपद्रवः । यत्र च धूमबहुलेषु विलेषु जन्म ॥४०॥

सुतप्तौ जतुपङ्कश्च..........

'सुतप्तस्तापकृत्प्रोक्तः केवलोज्ज्वलितानलः ।
जतुपङ्को ज्वलल्लाक्षाप्रलेपप्लुष्टविग्रहः ॥'

इति श्रीपरायां निरुक्तः ॥

..............घोररूपोऽतिदारुणः ।

जहाँ गर्मी से अङ्गों को गला दिया जाता है । (अङ्गारोद्गार में) अत्यन्त उष्ण अङ्गारों के उद्गार से (जीवों के शरीर में) ताप उत्पन्न किया जाता है ॥

प्रदीप्त, त्रिमुख, पञ्चवक्त्र और शतास्य नरक भी है ॥ -४०- ॥

प्रदीप्त का अन्यत्र वर्णन है—

'(यह शरीर के) अन्दर सन्ताप उत्पन्न करता है तथा पेट एवं कन्धों को सुखा देता है ।'

त्रिमुख, पञ्चवक्त्र और शतवक्त्र नरकों में तीन, पाँच और सौ मुखों वाले प्राणी (नारकीय जीवों को) काटते रहते हैं ॥

जलौक और बिलधूमक (नरकों में) ॥ -४० ॥

जोंक नामक प्राणियों के द्वारा जीव उपद्रुत होता है । (बिलधूमक नरक में जीवों का) जन्म धूम से भरे बिल में होता है ॥ ४० ॥

सुतप्त और जतुपङ्क नामक नरक है ॥ ४१- ॥

'सुतप्त नरक ताप करने वाला कहा गया है । उसमें केवल आग जलती रहती है । जतुपङ्क नरक में जीव का देह जलती हुई लाक्षा के प्रलेप से प्लुष्ट (= दग्ध) हो जाता है ।'

यह श्रीपरासंहिता में कहा गया है—

अतिदारुण घोररूप नरक में है ॥ -४१- ॥

यत्र घोररूपा भीषयन्ते, अत एवातिदारुणोऽयम् ॥

अस्थिभङ्गः पूतिमांसः..........

यत्रास्थ्नां भङ्गः । यत्र च पूतिमयमांसदेहता ॥

..............द्रव्यश्चैव त्वमेध्यकः ॥ ४१ ॥

यत्र द्रव्ये बहुमूत्रमध्येऽमेध्यमध्ये च निवासः ॥ ४१ ॥

उलूकः परशुर्दण्डः काकाख्यश्च तथैव च ।

यत्रोलूकैर्भक्षणम्, परशुना छेदः, दण्डैस्ताडनम्, काकैश्च भक्षणं जनानाम् ॥

सोच्छ्वासश्च निरुच्छ्वासः.......

'सोच्छ्वासः श्वसनप्रायो निश्चेष्टकृतकाश्रयः ।
निरुच्छ्वासोऽक्षसंरोधान्निरुच्छ्वसनलक्षणः ॥'

..............वृकास्यश्च तथैव च ॥ ४२ ॥

अश्वास्यो गोपलादश्च..........

महतां वृकाणां सृगालानामश्वानां च भक्षणार्थमास्ये यत्र जनाः सृज्यन्ते ।

इसमें घोररूप जीव जन्तु नारकीयों को डराते हैं । इसीलिये यह (नरक) अत्यन्त दारुण है ॥

अस्थिभङ्ग और पूतिमांस में ॥ -४१- ॥

(नारकीय जीवों की क्रमशः) हड्डियों को तोड़ दिया जाता है तथा यहाँ पूति से भरे हुए मांस को देह बनाया जाता है ॥

अमेध्यद्रव्य नामक नरक हैं ॥ -४१ ॥

यहाँ जीवों का द्रव्य = बहुमूत्र तथा अमेध्य (= अपवित्र वस्तुओं मल आदि) के मध्य में निवास होता है ॥ ४१ ॥

उलूक, परशु, दण्ड और काक नामक नरक भी हैं ॥ ४२- ॥

यहाँ क्रमशः उल्लुओं के द्वारा जीव के शरीर का भक्षण, परशु (= कुल्हाड़ी) के द्वारा शरीर का छेदन, दण्डों के द्वारा ताड़न और कौओं के द्वारा लोगों का भक्षण होता है ॥

सोच्छ्वास और निरुच्छ्वास नरक के विषय में कहा गया है ॥-४२-॥

'सवोच्छ्वास में श्वासप्रक्रिया बढ़ जाती है और जीव निश्चेष्ट हो जाता है । निरुच्छ्वास नामक नरक में इन्द्रियों का संरोध हो जाने से साँस रुक जाती है ।'

इसी प्रकार वृकास्य, अश्वास्य और गोपलाद नरक है ॥ -४२-४३- ॥

गावः पशवः पलं मांसमदन्ति यत्र । यदुक्तम्—

'मांसादः सर्वदेहस्थसर्वमांसापकर्षकः ।' इति ॥

..............अलोको दहनस्तथा ।

यत्राविद्यमानोऽन्यो लोकः । यश्च दहनः—

'उष्णोऽत्युष्णज्वरारम्भः सर्वाङ्गपरितापकः ।'

इत्यन्यत्रोष्ण इति प्रोक्तः ॥

श्ववक्त्रोऽथ दवाग्निश्च......

श्ववक्त्रः श्ववक्त्रवान् । दवाग्निमध्ये जन्म यत्र ॥

.............क्षारकूपस्तथा.....

यत्र क्षारमये कूपे जनः क्षिप्यन्ते ॥

........तमः ॥ ४३ ॥

'तमःसंज्ञो महामोहश्चैतन्यगुणमोहकः ।' इति निरुक्तः ॥ ४३ ॥

वृकास्य नामक नरक में जीवों को बड़े-बड़े वृकों = सृगालों के मुख में भक्षण के लिये डाल दिया जाता है ।

अश्वास्य नामक नरक में लोगों को बड़े-बड़े घोड़ों के मुख में भक्षणार्थ डाल दिया जाता है । गोपलाद में गायें जीवों का पल = मांस, खाती हैं । जैसा कि कहा गया—

'मांसाद पशु सब जीवों के देह में स्थित सम्पूर्ण मांस को खींचते हैं ।'

अलोक और दहन नरक हैं ॥ -४३- ॥

(अलोक नरक में नरक को छोड़ कर) कोई अन्य लोक नहीं हैं और जो दहन (नामक नरक) है वह—

'अति उष्ण, अति उष्ण ज्वर का आरम्भक तथा समस्त अङ्गों को परितप्त करने वाला है ॥'

श्ववक्त्र और दवाग्नि नरक है ॥ -४३- ॥

कुत्ते के मुख में जीव को डालने वाला है । दवाग्नि में जीव का जन्म दवाग्नि में होता है (और वहाँ वह जलता रहता है) ॥

क्षारकूप नरक है ॥ -४३- ॥

जहाँ लोग नमक के कुयें में फेंक दिये जाते हैं वह क्षारकूप नरक है ॥

तम के बारे में कहा गया ॥ -४३ ॥

अहीनां निचयश्चैव..........

भयानककृष्णसर्पमयः ॥

...............तप्तपाषाण एव च ।

'सुदाहकृज्ज्वलल्लोहपाषाणपरिपूरितः ।'

इति निरुक्तः ॥

विरूपो रूपवांश्चैव...........

वैरूप्यप्रद एकः । रूपवद्दुर्लभाभिलषणीयजनदर्शनसम्भाषणाभ्यां दुःखासिकाप्रदो द्वितीयः ॥

...............चित्री चित्रधरस्तथा ॥ ४४ ॥

चित्रं श्वित्रिवच्छबलरूपं मुहुर्मुहुरन्यदन्यद् यत्र भूम्ना जुगुप्सापदं जायते । चित्रधरस्तु यत्र जन्तोश्चित्रमेकमेव रूपम् ॥ ४४ ॥

कृष्णपिङ्गलरक्तास्यः.............

कृष्णं पिङ्गलं रक्तमास्यमतीव विभीषणं यत्र ॥

'तम नामक नरक महामोह वाला है । वहाँ लोगों की चेतना लुप्त हो जाती है' ॥ ४३ ॥

अहिनिचय नामक नरक है ॥ ४४- ॥

भयानक काले सर्पों से भरा हुआ है ॥

तप्तपाषाण के विषय में कहा गया ॥ -४४- ॥

'यह नरक अत्यन्त जलते हुए लाल रङ्ग वाले पत्थरों से भरा हुआ है' ॥

विरूप और रूपवान् नरकों में से ॥ -४४- ॥

एक (= पहला) वैरूप्य देता है (अर्थात् रूप को विकृत कर देता है) और दूसरा रूपवान् दुर्लभ और अभिलषणीय लोगों के दर्शन एवं सम्भाषण के कारण दुःखदायी होता है (क्योंकि नारकीय जन वहाँ उनसे बात नहीं कर सकते, न उनके साथ बैठ सकते हैं ।) ॥

चित्री और चित्रधर नरक हैं ॥ -४४ ॥

चित्र का अर्थ है श्वित्री (= सफेद दाग वाले शरीर) के समान चित्रविचित्र रूप वाला जिसका रूप बार-बार बदलने से वह अत्यन्त घृणास्पद हो जाता है । चित्रधर नरक वह है जहाँ जीव का एक ही प्रकार का चित्रविचित्र (अतएव घृणास्पद) रूप रहता है ॥ ४४ ॥

कृष्णपिङ्गलरक्तास्य नरक है ॥ ४५- ॥

..............महिषो राक्षसस्तथा ।

यत्र भीमैर्महिषै राक्षसैश्च वित्रास्यमाना जायन्ते ॥

कुब्जः........

कुब्जा एव यत्र जायन्ते ॥

.....उत्तप्ततैलाख्यः.....

उत्तप्तं तैलमङ्गेषु निषिच्यते यत्र ॥

..............अशनी वृष्टिमुद्गरौ ॥ ४५ ॥

वृष्टिमुद्गरावशनिरूपौ यत्रोपरिष्टात् पततः ॥ ४५ ॥

मुसलः.........

मुसलवृष्टिः ॥

.....अनातपश्चैव......

अनातपः शीत इत्युक्तः । तथाच श्रीपरायाम्—

'शीतः शीतज्वरारम्भः समस्ततनुतापकृत् ।' इति ॥

जहाँ लोगों का मुख काला, पिङ्गल (= रक्तपीत) और लाल रङ्ग का होने के कारण अत्यन्त भयङ्कर होता है ॥

महिष और राक्षस नरक हैं ॥ -४५- ॥

जहाँ भयङ्कर भैसों एवं राक्षसों से लोग अत्यन्त त्रस्त किये जाते रहते हैं ॥

कुब्ज नरक में ॥ -४५- ॥

लोग कूबड़ वाले उत्पन्न होते हैं ॥

उत्तप्त तैल नामक नरक में ॥ -४५- ॥

लोगों के अङ्गों पर खौलता हुआ तेल गिरा दिया जाता है ॥

अशनी वृष्टिमुद्गर ॥ -४५ ॥

यहाँ ऊपर से वज्र की वर्षा होती है तथा वज्र जैसे मुद्गर गिराये जाते हैं ॥ ४५ ॥

मुसल नामक नरक में ॥ ४६- ॥

जीवों के ऊपर मुसल की वृष्टि की जाती है ॥

अनातप नामक नरक भी है ॥ -४६- ॥

अनातप को शीत कहा गया है । श्रीपरासंहिता में कहा गया है—

..............यमलाद्रिस्तथैव च ।

'युग्माद्रिः कर्कशाश्माद्रिः सन्दंशपरिपीडितः ।'

इत्युक्तः ॥

क्रिमिकूटः.......

'क्रिमीणां निचयः प्रोक्तः केवलक्रिमिसञ्चयः ।'

इत्युक्तः । तन्मध्ये यत्र जन्मेत्यर्थः ॥

........बहुशाखः शाल्मलिश्च फडिस्तथा ॥ ४६ ॥
निगडो लोहरज्जुश्च लोहपञ्जर एव च ।

फडिः पादबन्धः, निगडः शृङ्खलैकदण्डादिबन्धः, लोहरज्जुः सर्वत्र बन्धाय । एवं लोहपञ्जरः सर्वगात्रनिश्चेष्टत्वोत्पादनाय ॥

तनुभेदश्चोरगश्च वृश्चिकः काल एव च ॥ ४७ ॥

यत्र तनोर्देहस्य भेदश्चूर्णनम् । यत्रोरगैर्जना बाध्यन्ते । यत्र वृश्चिकैर्दश्यन्ते । कालः संहर्तृपुरुषपूर्णः ॥ ४७ ॥

'शीतनामक नरक शीतज्वर का आरम्भक होता है । यह समस्त शरीर को तप्त करता रहता है ।'

इसी प्रकार यमलाद्रि नरक है ॥ -४६- ॥

'दो पर्वत हैं जिनमें कर्कश पत्थर हैं । संड़सी की भाँति इन दोनों पर्वतों के बीच मनुष्य पीड़ित होता है अर्थात् दबा दिया जाता है ॥'

कृमिकूट के विषय में कहा गया है ॥ -४६- ॥

'यहाँ कीड़ों का समूह है अर्थात् केवल कृमि ही यहाँ सञ्चित हैं ।'

इसके मध्य में जीव का जन्म होता है (और क्रिमि उसको काटते रहते हैं)॥

अनेक शाखाओं वाला शाल्मलीवृक्ष, फडि, निगड, लोहरज्जु, लोहपञ्जर नामक नरक हैं ॥ -४६-४७- ॥

(शाल्मली = सेमर, के नुकीले पत्ते गिरकर लोगों का शरीर छेदते हैं) फडि = पैर को बाँधने वाली वस्तु । निगड = जञ्जीर एक दण्ड आदि बन्धन । लोहे की रस्सी यह सब जीव को बाँधने के लिये होती है। इसी प्रकार लोहे का पिञ्जड़ा सम्पूर्ण शरीर को निश्चेष्ट बनाने के लिये होता है ॥

तनुभेद, उरग, वृश्चिक और काल ये भी नरक हैं ॥ -४७ ॥

तनुभेद में शरीर को चूर्णित कर दिया जाता है । उरग नामक नरक में लोग साँपों से त्रस्त कर दिये जाते हैं । वृश्चिक नामक नरक में लोगों को विच्छू डङ्क

वज्रकणः कटाहश्च.........

तप्तवज्रकणपतिताः कटाहपतिताश्च यत्र जनाः ॥

............पट्टः......

यत्र तप्तैर्लोहपट्टैर्नरा निबध्यन्ते । एष च लोहस्तम्भ इत्यन्यत्रोक्तः यदुक्तम्—

'लोहस्तम्भो ज्वलल्लोहपट्टकप्लुष्टविग्रहः ।' इति ॥

.....संकुल एव च ।

यत्र संकुले स्थाने निःस्पन्दतयाङ्गक्लेशः ॥

घोरश्चाजगरश्चैव...........

यत्र घोरा अजगरा ग्रसन्ते ॥

................महावैतरणी तथा ॥ ४८ ॥

'वैतरण्यां वितार्यन्ते जन्तवः पूयपूरिताः ।
तस्मादसौ नदी घोरा दुर्गन्धा तु वहेत् सदा ॥' इति ।

मारते हैं । काल नरक में संहार करने वाले पुरुष भरे पड़े रहते हैं ॥ ४७ ॥

वज्रकण और कटाह नामक नरक है ॥ ४८- ॥

इनमें लोग जलते हुए वज्र (= हीरा, लोहा) के टुकड़ों के ऊपर तथा तप्त कटाह में गिरा दिये जाते हैं ॥

पट्ट (नामक नरक में) ॥ -४८- ॥

लोग जलती हुई लोह की पट्टियों से बाँध दिये जाते हैं । अन्यत्र कहा गया कि पट्ट का अर्थ है—लोहे का खम्भा । जैसा कि कहा गया है—

'लोहस्तम्भ उस नरक को कहते जिसमें जलती हुई लोहे की पटरी से बाँधने पर शरीर जल जाता है ।'

और संकुल ॥ -४८- ॥

में संकुल स्थान में चुपचाप अङ्गों में पीड़ा होती है ॥

घोराजगर नामक नरक ॥ -४८- ॥

में भयङ्कर अजगर लोगों को निगल जाते हैं (और अन्दर जाकर महाकष्ट होता है) ॥

महा वैतरणी नदी है ॥ -४८ ॥

'इस वैतरणी नदी में पूय से भरे हुए जन्तु वितारित किये जाते हैं । इस

वितारणं पिपासातुराणां जलभ्रान्तिजननम् ॥ ४८ ॥

गृद्ध्रश्च कुररश्चैव कुक्कुटश्च प्रमर्दकः ।

गृद्ध्राद्यभिधहिंस्रपक्षिसंकुला एते चत्वारः ॥

कर्दमः........

यत्र कर्दममध्ये मग्ना जायन्ते ॥

.........दुर्दुरश्चैव लम्बोष्ठो वज्रनासिकः ॥ ४९ ॥
चिपिटः खञ्जरीटश्च..........

दुर्दुरो मण्डूकबहलः । लम्बोष्ठादय एतद्रूपभयानकप्राणिबहुला नरकाः । खञ्जरीट एतन्नामकोपघातकपक्षिपूर्णः ॥

............शबलो नील एव च ।

शबलो विचित्रो नीलो नीडो यत्र ॥

काकः.........

विषमकाककपूर्णः ॥

कारण यह नदी घोर और दुर्गन्धयुक्त होकर सदा बहती रहती है ।'

वितारण का अर्थ है—प्यास से आतुर लोगों के मन में जल की भ्रान्ति उत्पन्न करना ॥ ४८ ॥

गृध्र, कुरर (= क्रौंच पक्षी), कुक्कुट (= मुर्गा), प्रमर्दक (= पक्षी विशेष जो जीवों को मसल देता है) ॥ ४९- ॥

ये चार नरक गृध्र आदि हिंसक पक्षियों से पूर्ण रहते हैं ॥

कर्दम नामक नरक है ॥ -४९- ॥

कीचड़ के मध्य में जीवों को डुबा दिया जाता है ॥

दर्दुर, लम्बोष्ठ, वज्रनासिक, चिपिट और खञ्जरीट नामक नरकों में से ॥ -४९-५०- ॥

दर्दुर नरक मेढकों से भरा है । लम्बोष्ठ आदि नरक उस प्रकार के भयानक प्राणियों से भरे पड़े हैं। खञ्जरीट नरक खञ्जरीट नामक घातक पक्षियों से पूर्ण है ॥

शबलनीड नरक ॥ -५०- ॥

मे शबल = विचित्र, नील = नीड (= घोंसले) हैं (जिनमें जीवों को प्रविष्ट कराकर बन्द कर दिया जाता है) ॥

काक नरक ॥ -५०- ॥

..........कङ्कमुखश्चैव......

कङ्कः सन्दंशः, तदाकारमुखपक्षिमयः ॥

..........शिवारावस्ततः परः ॥ ५० ॥

यत्र शिवाभिरारावैर्जनास्त्रास्यन्ते ॥ ५० ॥

गजनादो महानादः सिंहनादस्तथैव च ।

स्पष्टार्था एते त्रयः ॥

महाग्राहस्तथा नक्रो मूषिकाकीटसागरः ॥ ५१ ॥

ग्राहा अतिक्रूरा नक्राख्यजलचरविशेषव्यतिरिक्ताः प्राणिनः, ते महान्तो यत्र स महाग्राहः । तथा नक्र इति महानक्रः । मूषिकामयः सागरः । कीटसागरः सूक्ष्मक्रिमिबहुलामेध्यसागरः । यस्तु श्रीपरायाम्—

'विण्मूत्रो विट्छिलाशीर्णचूर्णास्यकृतपूरणः ।'

इत्युक्तः ॥ ५१ ॥

अवाक्शिराः..........

भयङ्कर कौओं से पूर्ण है ।

कङ्कमुख नरक ॥ -५०- ॥

कङ्क = सन्दंश, (यह नरक) उसके आकार के मुखवाले पक्षियों से भरा हुआ है ॥

उसके बाद शिवाराव नरक है ॥ -५० ॥

इसमें सृगालियों के भयङ्कर राव से लोग भयभीत किये जाते हैं ॥ ५० ॥

गजनाद, महानाद और सिंहनाद नरक हैं ॥ ५१- ॥

इन तीनों नरकों का अर्थ स्पष्ट है ॥

महाग्राह, नक्र, मूषिकासागर और कीटसागर नरक हैं ॥ -५१ ॥

महाग्राह = अत्यन्तक्रूर, नक्र नामक जलचरविशेष से भिन्न प्राणी, वे जिसमें रहते हैं वह महाग्राह नामक नरक है । नक्र अर्थात् महानक्र (जो भैंस के आकार का पानी में रहने वाला जन्तु है) । मूषिकासागर मूसों से भरा है । कीटसागर छोटे-छोटे कीड़ों से भरा हुआ गन्दा सागर है जिसे कि श्रीपरासंहिता में—

'विण्मूत्र' नाम से कहा गया है । यह नरक अथवा सागर मल (मूत्र) पत्थर के छोटे चूर्ण से भरे मुखों वाले क्रिमियों से पूरित रहता है अथवा मल मूत्र, विट्छिला (= सम्भवतः विट नामक नमक की शिला के चूर्ण से पूरित मुख वाले क्रिमियों से पूरित)' कहा गया ॥ ५१ ॥

अवाग् अधः शिरः, ऊर्ध्वं तु पादौ यत्र ॥

.........**त्रिरावर्तः**.........

त्रिरावर्तन्ते समन्तात् प्रवर्तन्ते यत्र । यदुक्तं श्रीपरायाम्—

'त्रिर्निवासः पिपासार्तिबुभुक्षापीडितोदरः' इति ॥

.............**चक्रपीडनकस्तथा** ।

यत्र तिलवज्जनाश्चक्रेण पीड्यन्ते ॥

त्रपुलेपस्त्रपुकूप.........

गलितत्रपुणा तप्तेन यत्राङ्गानि लिप्यन्ते । यत्र च तादृगेव कूपः ॥

.......**इक्षुयन्त्रः**......

यत्र इक्षुवज्जनाः पीड्यन्ते ॥

.........**गिरेर्लता** ॥ ५२ ॥

गिरिप्रभवाभिर्विषलताभिर्यत्र जनास्ताड्यन्ते ॥

कटङ्कटश्च विख्यातः..........

अवाक् शिरा—इसमें ॥ ५२- ॥

जीवों के शिर अवाक् = नीचे रहते हैं और पैर ऊपर ॥

त्रिरावर्त्त में ॥ -५२- ॥

लोग तीन बार घुमाये जाते हैं । जैसा कि श्री परासंहिता में कहा गया—

'भूख प्यास से पीड़ित उदर वालों का इसमें तीन बार निवास होता है ।'

चक्रपीडनक ॥ -५२- ॥

जहाँ मनुष्य लोग चक्र के द्वारा तिल की भाँति पेरे जाते हैं ॥

त्रपुलेप त्रपुकूप ॥ -५२- ॥

यहाँ जलते हुए पिघले लाख का अङ्गों में लेप किया जाता है । यह उसी प्रकार के लाह का कूप है ॥

इक्षुयन्त्र ॥ -५२- ॥

जिसमें लोग ईख की भाँति पीड़ित किये जाते हैं ।

गिरिलता ॥ -५२ ॥

इसमें पहाड़ में उत्पन्न विषलताओं के द्वारा लोग ताड़ित होते हैं ॥

कटङ्कट ॥ ५३- ॥

एतन्नाममहाकटाहप्रख्योऽतिविषमः कूपः ॥

...............**तप्तवालुक एव च** ।

यत्राततप्तासु वालुकासु पापीयांसः सञ्चार्यन्ते ॥

तदेते सचत्वारिंशच्छतसंख्याताः—

एतेऽतिघोरा नरकास्त्रिकोणाः परिकीर्तिताः ॥ ५३ ॥

नरकदेशानां संस्थानतस्त्रिकोणत्वमित्यर्थः ॥

एते च—

असत्कर्मरतानां च प्राणिनां पातनाय तु ।

असद् एकादशपटलवक्ष्यमाणात् सामान्यविशेषात्मनः स्वस्मात् शास्त्राद् बहिष्कृतम् ॥

विशेषतस्तु—

निस्त्रिंशकर्मकर्तॄणां शठानां पापिनां तथा ॥ ५४ ॥

निस्त्रिंशकर्म परवधादिकम्, शठानां निवारणयाप्यनिवर्तमानानाम्, अत एव प्रागर्जितादेव पापसंस्कारात् पुनरपि पापिनामित्याह ॥

इस नाम का महाकटाह सदृश अत्यन्त विषम कूप है ॥

तप्तबालुक ॥ -५३- ॥

जहाँ पापी लोग अत्यन्त जलते हुए बालू पर चलाये जाते हैं ॥

इन एक सौ चालिस संख्या वाले—

अत्यन्त घोर नरकों का आकार त्रिकोण कहा गया है ॥ -५३ ॥

नारकीय देशों की रचना त्रिकोण होती है ॥

और ये—

असत् कर्म में निरत प्राणियों को उनमें गिराने के लिये हैं ॥ ५४- ॥

असत् = ग्यारहवें पटल में कहे जाने वाले सामान्यविशेष रूप अपने शास्त्र से बहिष्कृत, कर्म ॥

विशेष रूप में—

(ये नरक) क्रूर कर्म करने वाले, दुष्टों और पापियों हेतु हैं ॥ -५४ ॥

निस्त्रिंश कर्म = दूसरे की हत्या आदि । शठ = निवारित करने पर भी न रुकने वाले इसीलिये पूर्वजन्म में अर्जित पाप के संस्कार से पुनः पाप करने वालों

इत्थं चैषाम्—

निर्दयाधमजातीनां परहिंसारतात्मनाम् ।

तथा—

परदाररतानां च............

विशेषत:—

...........शिवशास्त्रस्य दूषिणाम् ॥ ५५ ॥
देवद्रव्यापहर्तॄणां ब्रह्मघ्नपितृघातिनाम् ।
गोघ्नानां च कृतघ्नानां मित्रविस्रम्भघातिनाम् ॥ ५६ ॥

कृतमुपकारं घ्नन्तीति कृतघ्ना: । मित्रं विस्रम्भेण विश्वासेन घ्नन्तीति तच्छीला मित्रविस्रम्भघातिन: ॥ ५६ ॥

किं च—

सुवर्णभूमिहर्तॄणां शौचाचारनिवर्तिनाम् ।
दयादाक्षिण्यहीनानां पैशुन्यानृतचेतसाम् ॥ ५७ ॥
नरकास्तु समाख्यातास्त्वकर्मपथवर्तिनाम् ।

शौचमाचारश्च निजनिजशास्त्रोक्तौ । अन्यथा—

के लिये (ये नरक हैं) ॥

जिनके लिये ये नारकीय स्थान हैं उनकी वर्णना करते हैं—

जो निर्दय अधम जाति वाले, पर हिंसा में लगे हुये, दूसरे की पत्नी से सम्भोग करने वाले, शिवशास्त्र के निन्दक, देवता के द्रव्य का अपहरण करने वाले, ब्राह्मण, माता, पिता की हत्या करने वाले, गोवधकारी, कृतघ्न, मित्र के साथ विश्वासघात करने वाले हैं ॥ ५५-५६ ॥

(कृतघ्न शब्द की व्याख्या करते हैं—) किये गये उपकार को जो नष्ट कर देते हैं (अर्थात् नहीं मानते और प्रत्युपकार नहीं करते) । जो मित्र को विश्वास में लेकर घात करते हैं ऐसे स्वभाववाले मित्र विस्रम्भघाती कहलाते हैं ॥ ५६ ॥

तथा—

सुवर्ण और भूमि का अपहरण करने वाले, पवित्रता एवं सदाचार से रहित, निर्दयी एवं दूसरे के साथ रुक्ष व्यवहार करने वाले, चुगली करने वाले, मन वाणी एवं कर्म से झूठा आचरण करने वाले तथा असत्कर्म के करने वालों के लिये ये नरक कहे गये हैं ॥ ५७-५८- ॥

शौच और आचार से तात्पर्य अपने-अपने शास्त्र में कहे गये शौच और

'किञ्चिज्ज्ञैर्या स्मृता शुद्धि: साशुद्धि: शम्भुदर्शने ।
न शुद्धिर्ह्यशुचिस्तस्मान्निर्विकल्पो भवेन्नर: ॥'

इत्यादिश्रुतेर्निर्विषयत्वं स्यात्—

'जिह्मजेनोपवीतेन' (३।२)

इत्यादि च पूर्वोक्तमवाच्यं स्यात् । अत्र च यथायोगं शरीरमनोवाग्विषयत्वं योज्यम् । एतदेवाकर्मपथवर्तित्वं यत् स्वशास्त्रविरुद्धाचरणम् । प्रकर्षाप्रकर्षयोगाच्चैषां पापानां तदुचितनरकसम्बन्ध: ॥

ये तु एतद्विपरीतास्ते—

शुभकर्मरता लोका नरके न पतन्ति हि ॥ ५८ ॥

यच्च तेषां सम्बन्धि सु(शं)[1] कर्म—

तत्समासेन वक्ष्यामि यथावदनुपूर्वश: ।

अनुपूर्वश:-

आचार । अन्यथा—

'अल्पज्ञ लोगों ने जिसको शुद्धि माना है शैव दर्शन के अनुसार वह अशुद्धि ही है । इस प्रकार शुद्धि और अशुद्धि कुछ नहीं है । इस कारण मनुष्य को निर्विकल्प होना चाहिये ॥' (वि०भै० १२३)

इत्यादि श्रुति निर्विषयक हो जायेगी । तथा—

जिह्म (= मृतव्यक्ति, के बालों से) उत्पन्न अर्थात् बनाये गये यज्ञोपवीत से युक्त—

इत्यादि पूर्वोक्त (३।२) कथन अवाच्य हो जायेगा । यहाँ प्रकरण के अनुसार शरीर मन और वाणी का विषय समझना चाहिये (जैसे पैशुन्य वाणी का विषय निर्दयता मन का और हिंसा शरीर का विषय है) । अपने शास्त्र के विरुद्ध आचरण ही अकर्म पथ पर चलना कहा जाता है । इन पापों के प्रकर्ष और अप्रकर्ष के अनुसार जीवों का तत्तत् नरक से सम्बन्ध होता है ॥

और जो लोग इसके विपरीत हैं—

अर्थात् जो लोग शुभ कर्म में लगे हुए हैं वे नरक में नहीं जाते ॥ -५८ ॥

जो इन मनुष्यों के लिये शुभ कर्म हैं—

(मैं) उनको संक्षेप में यथावत् क्रमश: कहूँगा ॥ ५९- ॥

---

१. खं ।

'वाच्यर्था नियताः सर्वे वाङ्मूला वाङ्निबन्धनाः'

इत्युक्तत्वाद् वाचिकादिक्रमेण ॥

तच्च—

सत्यं क्षान्तिरहिंसा च...........

एतानि वाङ्मनःकायकर्माणि सुखानि ॥

किं च—

.............शौचं स्नानमकल्कता ॥ ५९ ॥
दयालौल्यं च यस्यासौ नरकान् नाधिगच्छति।

शौचं प्राग्वत् । स्नानं भसमादिनापि । अकल्कता शुभसङ्कल्पता । अलौल्यमिन्द्रियाचापलम् ।

शान्तो दान्तः सुहृष्टात्मा त्वनहङ्कारवान् समः ॥ ६० ॥
अद्रोही चानसूयश्च परैश्वर्ये च निःस्पृहः ।

'समस्त अर्थ वाणी में नियमित होते हैं । वाक् ही इनका मूल, वाक् ही इनका निबन्धन (= संयोजक) है ।'

ऐसा कथन होने से अनुपूर्वशः का तात्पर्य है—वाचिक आदि के क्रम से ॥

और वह (शुभ कर्म) है—

सत्य, क्षमा, अहिंसा ॥ -५९- ॥

ये वाणी, मन और शरीर के शुभ कर्म हैं ॥

तथा—

जिसके पास शौच, स्नान, अकल्कता, दया और अलौल्य रहते हैं वह नरकों को प्राप्त नहीं होता ॥ -५९-६०- ॥

शौच की पूर्व को भाँति (समझना चाहिये) । स्नान—(यह केवल जल से ही नहीं) भस्म आदि (= सूर्य की किरणों, गोधूलि आदि के भेद से सात प्रकार का होता है)[१] । अकल्कता = अशुभसङ्कल्पहीनता । अलौल्य = इन्द्रियचपलता का न होना ।

---

१. मान्त्रं भौमं तथाऽग्नेयं वायव्यं दिव्यमेव च ।
वारुणं मानसं चैव सप्तस्नानान्यनुक्रमात् ॥
आपो हि ष्ठादिभिर्मान्त्रं मृदालम्भस्तु पार्थिवम् ।
आग्नेयं भस्मना स्नानं वायव्यं गोरजः स्मृतम् ॥
यत्तु सातपवर्षेण स्नानं तद् दिव्यमुच्यते ।
अवगाहो वारुणं स्यान् मानसं ह्यात्मचिन्तनम् ॥ (आचारमयूख)

नरकान्नाधिगच्छतीत्येव । शान्तो जितचित्तः । दान्तो जितेन्द्रियः । अतश्च विषयवैवश्याभावात् सुहृष्टात्मा, निरहङ्कारश्च । समः शत्रुमित्रादि साम्येन पश्यन् । परैश्वर्ये निःस्पृहः सन्तुष्टः ॥

किं च—

अमात्सर्यममानित्वं शिवभक्तिरचापलम् ॥ ६१ ॥
जपध्यानरतिः स्थैर्यं कार्पण्यस्य च वर्जनम् ।
व्रतानि नियमाश्चैव स्वाध्यायश्च त्रिसंध्यता ॥ ६२ ॥
सर्वत्र श्रद्दधानत्वमार्जवं ह्रीर्मनस्विता ।
तेजः प्रशान्तिः सन्तोषोऽप्रियवाक्यविवर्जनम् ॥ ६३ ॥
समीक्ष्यकारिता नित्यं मनोहङ्कारनिग्रहः ।
अदम्भित्वममायित्वमकल्को ज्ञानशीलता ॥ ६४ ॥
पितृदेवार्चने भक्तिर्गोब्राह्मणशरण्यता ।
अग्नौ होमो गुरोर्दानं ज्ञानिनां पर्युपासनम् ॥ ६५ ॥
एकान्ते च रतिर्ध्यानमात्मन्येव च तुष्टता ।
अव्यापारः परार्थेषु औदासीन्यमनागसः ॥ ६६ ॥
अक्रोधित्वमनालस्यमेते धर्माः प्रकीर्तिताः ।

शान्त, दान्त, प्रसन्नात्मा, अहङ्काररहित, समभाव वाला, अद्रोही, अनसूयक (दूसरों की निन्दा न करने वाला) और दूसरे के ऐश्वर्य के प्रति निःस्पृह (व्यक्ति नरक को नहीं जाती) ॥ -६०-६१- ॥

शान्त = मन को जीतने वाला । दान्त = इन्द्रियजयी । इस कारण विषयों के वश में न होने से सुप्रसन्नात्मा । साथ ही अहङ्काररहित । समःशत्रु और मित्र में समदृष्टि रखने वाला । दूसरे के ऐश्वर्य के प्रति लोभरहित (अर्थात् अपने में सन्तुष्ट) ॥

(अब धर्मों को बतलाते हैं)—

अमात्सर्य (ईर्ष्या का अभाव), अमानित्व, शिवभक्ति, अचापल्य, जप और ध्यान में लगन, स्थिरता, अकार्पण्य, व्रत, नियम, स्वाध्याय (= किसी धार्मिक ग्रन्थ का प्रतिदिन पाठअथवा किसी मन्त्र का नियमानुसार प्रतिदिन जप), त्रिकालसन्ध्या, सर्वत्र श्रद्धा, सरलता, लज्जा, स्वाभिमानिता, तेज, शान्ति, सन्तोष, कटुवचन का परिहार, विचारकारिता, मन एवं अहङ्कार का सदा नियन्त्रण, दम्भशून्यता, मायाहीनता, अकल्कता, ज्ञानशीलता, पिता माता एवं देवता की पूजा में भक्ति, गो एवं ब्राह्मण की रक्षा करना, अग्नि में होम, गुरु के लिये दान, ज्ञानियों की सेवा, एकान्तप्रियता, ध्यान, आत्मसन्तोष, दूसरे के धन को लेने में

शिवभक्तिर्मुख्यो धर्मः । अचापलं कर्तव्यविषया रुढिः, विशेषात्तु जपध्यान-विश्रान्तौ । तेजः परानभिभवनीयत्वम् । प्रशान्तिः सौम्यदर्शनता । मनोहङ्कार-योर्निग्रहो यत्र तत्र वर्तनपरिहारः । दम्भो मिथ्याचारता । माया परवञ्चनम् । अकल्कोऽपापचित्तः । परार्थेषु परवित्तेषु, अव्यापारो मनसाप्यचिन्तनम् । औदासीन्यमिति व्यवहारविषयम् । अनागस इत्यनागस्त्वं गुर्वाज्ञादावप्रमादित्वम् । अनालस्यमित्युपादेयानुष्ठानोद्योगः । एते धर्माः शुभा आचाराः ॥

अतश्च—

यस्त्वेतान् भजते भावान् सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ६७ ॥

शिवे भक्तिरेकैव मोक्षप्रदा किमङ्गैतद्धर्मान्तरसहिता ॥ ६७ ॥

यस्मात्—

नश्यन्ति पौरुषाः पाशा येऽप्यनन्ताः प्रकीर्तिताः ।
शिवाचाररतानां तु धार्मिकाणां हि देहिनाम् ॥ ६८ ॥

अव्यापार, उदासीनता, पापराहित्य, क्रोध का अभाव और अनालस्य, ये धर्म कहे गये हैं ॥ -६१-६७- ॥

इनमें शिवभक्ति मुख्य धर्म है । अचापल = कर्त्तव्यविषयक दृढता, वह भी विशेषतया जप और ध्यान की विश्रान्ति में । तेज = दूसरे के द्वारा अभिभूत न होना। प्रशान्ति = सौम्यदर्शनवाला होना । मन और अहङ्कार का नियन्त्रण = जहाँ कहीं भी व्यवहार न करना । दम्भ = मिथ्या आचार । माया = दूसरे को ठगना । अकल्क = मन में पाप का न होना । परार्थ = दूसरे के धन के प्रति, अव्यापार = मन से भी उस धन को पाने की इच्छा का न होना । औदासीन्य-यह व्यवहार के विषय में होता है । अनागस = गुरु की आज्ञा के पालन में प्रमाद न करना । अनालस्य = उपादेय अनुष्ठान में उद्योग करना । ये धर्म = शुभ आचार हैं ॥

इसलिये—

जो मनुष्य इन भावों के अनुसार जीवनयापन करता है वह अमर (= मुक्त अथवा देवता) हो जाता है ॥ -६७ ॥

केवल शिवभक्ति ही मोक्षप्रद होती है और यदि वह इन अन्य धर्मों के साथ की जाय तो क्या कहना ॥ ६७ ॥

चूँकि—

शिवाचाररत धार्मिक मनुष्यों के अनन्त पौरुष पाश[1] नष्ट हो जाते हैं

---

१. पाश अर्थात् अज्ञान । ये दो प्रकार के होते हैं—बौद्ध अज्ञान और पौरुष अज्ञान । बौद्ध अज्ञान लौकिक प्रमाणों से दूर होते हैं किन्तु पौरुष अज्ञान को हटाने के लिये शिवभक्ति आदि धर्मों की आवश्यकता होती है ।

तस्मादेवं तु विज्ञाय मनो धर्मे नियोजयेत् ।

पुरुषतत्त्वभुवनावसरे पौरुषा ये पाशा वक्ष्यन्ते, तेऽपि शिवभक्तिभाजां नश्यन्ति । धर्म इति प्रोक्तरूपे ॥

किं च—

यस्य चित्तमसम्भ्रान्तं निर्विकल्पमकल्मषम् ॥ ६९ ॥
स याति परमांल्लोकान्नरकांश्च न पश्यति ।

अकल्मषत्वादपापत्वाद् निर्विकल्पं कृत्वा तात्त्विकेऽर्थे समाश्वस्तम् । न पश्यतीति दर्शनमात्रमप्यस्य नास्तीति तदुपभोगे कैव सम्भावना ॥

यस्य बुद्धिरसंमूढा सर्वभूतेष्वपातकी ॥ ७० ॥
अकल्कवान् सत्त्ववान् यो नरकान् न पश्यति ।

असंमूढा निवृत्ताज्ञाना । अकल्कवान् शुद्धाशयः, अत एव सत्त्ववृत्ति-निष्ठः ॥

जितानि येनेन्द्रियाणि मनो यस्य वशे स्थितम् ॥ ७१ ॥

इसलिये ऐसा जान कर मन को धर्म में लगाना चाहिये ॥ ६८-६९- ॥

पुरुषतत्त्वभुवन वर्णन के अवसर पर जिन पाशों का वर्णन किया जायेगा शिवभक्ति करने वालों के वे भी पाश नष्ट हो जाते हैं । धर्म में = ऊपर कहे गये धर्म में ॥

और भी—

जिसका मन भ्रमयुक्त नहीं होता है वरन् निर्विकल्पक और पापरहित होता है वह परम लोकों को प्राप्त होता है । और उसे नरकों के दर्शन भी नहीं होते हैं ॥ -६९-७०- ॥

कल्मषरहित = पापरहित, होने से उनका मन निर्विकल्पक होकर तात्त्विक अर्थ में समाश्वस्त हो जाता है । नहीं देखता = इसको नरकों का दर्शन भी नहीं होता वहाँ जाना उनको भोगना हो दूर की बात है ॥

जिसकी बुद्धि मोहयुक्त नहीं होती है; जो समस्त प्राणियों के प्रति पापी नहीं होता है; जो अकल्कवान् और सत्त्ववान् होता है वह नरकों को नहीं देखता है ॥ -७०-७१- ॥

असंमूढ = अज्ञानरहित । अकल्कवान् = शुद्ध विचारवाला फलतः सत्त्ववृत्ति = सात्त्विक व्यवहार से लगा हुआ ॥

जिसने इन्द्रियों को जीत लिया है, जिसका मन वश में है, इस विजय

तज्जयेन जितं सर्वं त्रैलोक्यं सचराचरम् ।

सर्वाभोगभूरनेन सुप्रापेत्यर्थः ॥

एतदेव श्लाघते—

स्वकार्ये परकार्ये वा यस्य बुद्धिः स्थिरा भवेत् ॥ ७२ ॥
एतदेव हि पाण्डित्यं शेषाः पुस्तकवाचकाः ।

स्वकार्यमात्मज्ञाननिष्ठत्वम्, परकार्यं परेषामात्मज्ञाने योजनम् ॥

उपसंहरति—

इत्येष तान्त्रिको न्यायः कथितस्तु समासतः ॥ ७३ ॥
अतान्त्रिकाणामन्येषां परिसंख्या न विद्यते ।

तान्त्रिकः परमेशसंहिताप्रसिद्धः । अतान्त्रिकाः धर्मसूत्रकारादिप्रसिद्धाः ॥

असामान्यैराचारैः—

शिवशास्त्ररता ये तु गुरुभक्तिपरायणाः ॥ ७४ ॥
परतत्त्वविदो ये तु न तेषां दुरितं भवेत् ।

के कारण उसने चराचर वाले तीनों लोक को जीत लिया ॥ -७१-७२- ॥

अर्थात् समस्त भोगभूमियों को वह प्राप्त कर लेता है ॥

इसी की प्रशंसा करते हैं—

अपने कार्य में अथवा दूसरे के कार्य में जिसकी बुद्धि स्थिर रहती है यही (उस व्यक्ति का) पाण्डित्य है । शेष लोग केवल पुस्तकों के वाचक होते हैं (पण्डित नहीं) ॥ -७२-७३- ॥

अपना कार्य = आत्मज्ञान में रत होना । परकार्य = दूसरों को आत्मज्ञान में नियोजित करना ॥

(अब इस प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

यह मैंने संक्षेप में तान्त्रिक न्याय बतलाया । अन्य अतान्त्रिकों की संख्या नहीं है ॥ -७३-७४- ॥

तान्त्रिक = पारमेश्वर शास्त्रों में प्रसिद्ध । अतान्त्रिक = धर्मसूत्रकार आदि के द्वारा प्रसिद्ध ॥

असाधारण आचार के अनुष्ठान के साथ—

जो लोग शिवशास्त्र में लगे हुए हैं और जो गुरुभक्तिपरायण हैं; साथ ही जो परतत्त्व के वेत्ता हैं उनको कोई पाप नहीं लगता ॥ -७४-७५- ॥

दुष्टमितमागमनं जन्मेत्यर्थः ॥

एवं प्रसङ्गादुक्त्वा प्रकृतमाह—

एतेषां नरकाणां तु प्रधानानि निबोध मे ॥ ७५ ॥
पञ्चत्रिंशत्तु नरकाः..........

यस्मादेत एव—

.............चतुर्भेदाः प्रकीर्तिताः ।

पञ्चत्रिंशत् चतुर्भिर्गुणिताश्चत्वारिंशदधिकं शतं भवतीत्यर्थः ॥

तदाह—

चत्वारिंशच्छतं ह्येतत् समासात् परिकीर्तितम् ॥ ७६ ॥

यस्मात्—

तैर्विशुद्धैर्विशुद्ध्यन्ति पञ्चाशत्कोटयस्तु ताः ।

तैरिति चत्वारिंशदधिकशतसंख्यैः । ता इति पूर्वोपक्रान्ताः ॥

यदि वा—

पञ्चत्रिंशद्यदा वैते द्वात्रिंशद्वा विशोधिताः ॥ ७७ ॥

'दुरित' शब्द का अर्थ बतलाते हैं—दुः = दुष्ट, इत = आगमन = जन्म अर्थात् दोष के कारण उनका आगमन = जन्म नहीं होता ॥

प्रसङ्गात् यह सब कहकर अब प्रस्तुत को बतलाते हैं—

अब इन एक-सौ चालीस नरकों में से प्रधान नरकों को मुझसे जानो । ये नरक पैंतीस हैं ॥ -७५-७६- ॥

चूँकि ये ही—

चार प्रकार के कहे गये हैं ॥ -७६- ॥

पैंतीस को चार से गुणा करने पर एक सौ चालिस होता है ॥

उसको बतलाते हैं—

संक्षेप में मैंने एक सौ चालिस नरक बतलाये ॥ -७६ ॥

उन (नरकों) के शुद्ध होने पर वे पचास करोड़ नरक शुद्ध हो जाते हैं ॥ ७७- ॥

उन = एक सौ चालिस । वे = पूर्वोक्त नरक ॥

अथवा—

चत्वारिंशच्छतं शुद्धं तदेतत् स्याद्वरानने ।

अवीचीकुम्भीपाकरौरववर्जं वक्ष्यमाणनामानो द्वात्रिंशत् ॥

यद्वा—

त्रिभिः शुद्धैस्तु द्वात्रिंशच्छुद्धा एव भवन्ति हि ॥ ७८ ॥

निर्विशेषं न सामान्यमिति स्थित्या सामान्यशुद्धया विशेषशुद्धिः, विशेषाणां वा गर्भीकृतसामान्यानां शुद्धया सामान्यशुद्धिः । अत्र चायं गुरूणामाशयः—यस्य दीक्ष्यस्य पापभूयस्त्वं निश्चितम्, तस्य वितत्य नरकशुद्धिः कर्तव्या, अन्यस्य तु संक्षेपेणेति प्रघट्टकचतुष्टयेन शुद्धिरत्रोक्ता किरणायां तु प्रघट्टकत्रयेण । यदुक्तम्—

'चत्वारिंशत्समधिकं यदेतेषां प्रकीर्तितम् ।
द्वात्रिंशत्तत्र राजानो राजराजेश्वरास्त्रयः ॥' इति ।

श्रीमालिनीविजये कूष्माण्डरुद्रशुद्धयैव तच्छुद्धिरुक्तेति प्रक्रियाभेदः ॥ ७८ ॥

अथ—

हे वरानने ! जब पैंतीस या बत्तीस नरक शुद्ध कर दिये जाते हैं तब एक-सौ चालिस नरकों का यह समूह शुद्ध हो जाता है ॥ -७७-७८- ॥

(पैंतीस में से) अवीचि कुम्भीपाक और रौरव नरकों को छोड़ कर शेष बत्तीस नरकों, जिनके नाम आगे कहे जायेंगे, (को शुद्ध करने पर सब शुद्ध हो जाते हैं) ॥

अथवा—

तीन के शुद्ध होने पर बत्तीस शुद्ध ही हो जाते हैं ॥ -७८ ॥

'सामान्य विशेषरहित नहीं होता'—इस नियम के अनुसार सामान्य नरकों की शुद्धि से विशेष की शुद्धि हो जाती है । अथवा जिनके गर्भ में सामान्य निहित हैं ऐसे विशेषों की शुद्धि से सामान्य की शुद्धि हो जाती है । इस विषय में गुरुओं का यह अभिप्राय है—जिस दीक्ष्य के पापों की अत्यधिकता निश्चित है उसकी नरकशुद्धि विस्तार के साथ करनी चाहिये और अन्य की संक्षेप में । इसी कारण यहाँ नरकों के चार समूहों की शुद्धि कही गयी । किरणसंहिता मे (नरकों के) तीन ही समूह (की शुद्धि कही गयी है । जैसा कि कहा गया—)

'जो एक सौ चालिस नरक कहे गये उनमें से बत्तीस राजा हैं । उन बत्तीस में से भी तीन राजराजेश्वर हैं ।'

मालिनीविजय तन्त्र में कुष्माण्डरुद्र की शुद्धि से उसकी शुद्धि कही गयी है । इस प्रकार (दोनों ग्रन्थों में) प्रक्रियाभेद है ॥ ७८ ॥

अब—

तेषां नामानि वक्ष्यामि त्रयाणां वरवर्णिनि ।
अवीचिश्चैव विख्यातः कुम्भीपाकश्च दारुणः ॥ ७९ ॥
महारौरवराजश्च............

अथ—

............स्थानं तेषां निबोध मे ।
अधोमध्योर्ध्वभागेषु संस्थितास्ते यथाक्रमम् ॥ ८० ॥

किं च—

व्याप्तिं तेषां प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

द्वात्रिंशन्नरकास्त्रिभिर्यथान्तर्गर्भीकारेण व्याप्ताः, तथेत्यर्थः ॥

अत्र—

नरकैकादशगतमवीचिं शोधयेत् प्रिये ॥ ८१ ॥
आत्मना द्वादशं देवि कुम्भीपाकं विशोधयेत् ।
महारौरवसंज्ञं चाप्येवमेव न संशयः ॥ ८२ ॥

तानेतान्—

पञ्चत्रिंशत् प्रवक्ष्यामि समासेन वरानने ।
अवीचिः क्रिमिनिचयो नदी वैतरणी तथा ॥ ८३ ॥

हे वरवर्णिनि ! उन तीनों के नाम बतलाऊँगा । अवीचि कुम्भीपाक और महारौरवराज ये (तीन) अत्यन्त दारुण (नरक) हैं ॥ ७९-८०- ॥

अब—

मुझसे उनके स्थान को जानो । (वे तीनों इस ब्रह्मकटाह के) नीचे, मध्य और ऊर्ध्व भागों में क्रमशः स्थित हैं ॥ -८० ॥

साथ ही—

उनकी यथानुकूल व्याप्ति को क्रमशः बतलाऊँगा ॥ ८१- ॥

जिस प्रकार बत्तीस नरक इन तीनों में गर्भीकृत होकर व्याप्त हैं वैसा मैं कहूँगा ॥

इसमें—

हे प्रिये ! अवीचि नरक के शोधन से ग्यारह नरकों का शोधन होता है । हे देवि ! आत्मा के शोधन से बारह नरकों वाले कुम्भीपाक को और इसी प्रकार (= नरकों वाले) महारौरव का शोधन जानना चाहिये । हे वरानने ! उन पैंतीस नरकों को संक्षेप में बतलाऊँगा । वे हैं—कृमिनिचय,

लोहश्च शाल्मलिश्चैवाप्यसिपर्वत एव च ।
सोच्छ्वासश्च निरुच्छ्वासः पूतिमांसः परस्तथा ॥ ८४ ॥
तप्तत्रपुः क्षारकूपो जतुलेपस्तथैव च ।
अन्तर्भूता अवीचौ तु..........

अवीचिरेव क्रिमिनिचयपदेन विशेषितो न तु पूर्वनिर्दिष्टादसौ व्यतिरिक्तः संख्याधिक्यंप्रसङ्गात् ॥

अथ—

............कुम्भीपाकस्य श्रूयताम् ॥ ८५ ॥
अस्थिभङ्गः क्रकचच्छेदः कूपश्चापि कटङ्कटः ।
वसामिश्रो ह्ययस्तुण्डस्त्रपुलेपः प्रकीर्तितः ॥ ८६ ॥
कुम्भीपाकश्च विज्ञेयस्तीक्ष्णासिश्च तथैव च ।
तप्तलोहश्च विज्ञेयः क्षुरधारपथस्तथा ॥ ८७ ॥
अशनिश्च सुतप्तश्च द्वादशैते प्रकीर्तिताः ।
एकादशान्तर्विज्ञेयाः कुम्भीपाकस्य दारुणाः ॥ ८८ ॥
महारौरवराजे च अत ऊर्ध्वं निबोध मे ।
कालसूत्रो महापद्मः कुम्भः सञ्जीवनेक्षुकौ ॥ ८९ ॥
पाशोऽम्बरेषकश्चैव अयःपट्टस्तथैव च ।
दण्डयन्त्रस्त्वमेध्यश्च घोररूपस्तथापरः ॥ ९० ॥
महारौरव एतेषामुपरिष्टाद् व्यवस्थितः ।

वैतरणी नदी, लोह, शाल्मली, असिपर्वत, सोच्छ्वास, निरुच्छ्वास, पूतिमांस, तप्तत्रपु, क्षारकूप और जतुलेप । ये सब अवीचि नामक नरक के अन्तर्भूत हैं ॥ -८१-८५- ॥

अवीचि ही कृमिनिचय नाम से कहा गया । यह पूर्वनिर्दिष्ट अवीचि नरक अतिरिक्त नहीं है क्योंकि तब संख्या अधिक हो जायेगी (अर्थात् ग्यारह से बारह हो जायगी) ॥

अब—

कुम्भीपाक के (अन्तर्गत आने वाले नरकों को) सुनो । अस्थिभङ्ग, क्रकचछेद, कूप, कटङ्कट, वसामिश्र, अयस्तुण्ड, त्रपुलेप, तीक्ष्णासि, तप्तलोह, क्षुरधारपथ, अशनि और सुतप्त ये बारह कहे गये हैं । कुम्भीपाक के अन्दर उक्त ग्यारह नरक हैं (एक कुम्भीपाक स्वयं है) । इसके बाद मुझसे महारौरवराज में (नरकों को) जानो । कालसूत्र, महापद्म, कुम्भ, सजीवन, इक्षुक, पाश, अम्बरेषक, अयःपट्ट, दण्डयन्त्र, अमेध्य

वसामिश्र इति यः पूर्वं मेदक उक्तः । अयस्तुण्डस्तु तीक्ष्णतुण्ड इति, तीक्ष्णासिरसिरिति, कुम्भस्तु कुम्भीर इति, अशनिरित्यशनी वृष्टिमुद्गराविति, पाशोऽप्युरग इति, दण्डयन्त्रो दण्ड इति पूर्वमुक्तः ॥

यदाऽऽदाववीच्यादित्रयमेव शोध्यते, तदा—

अवीचौ कृमिनरकान् कुम्भीपाके सुदारुणान् ॥ ९१ ॥
महारौरवकेऽमेध्यानन्तर्भूतान् विचिन्तयेत् ।

अथैतैस्त्रिभिर्व्याप्तानाम्—

द्वात्रिंशन्नरकाणां च मानं चैव निबोध मे ॥ ९२ ॥

तत्र योजनानाम्—

नवनवतिर्लक्षाणि एकैकस्योच्छ्रयः स्मृतः ।

एते च—

लक्षमात्रान्तरा ज्ञेया द्वात्रिंशच्चाप्यनुक्रमात् ॥ ९३ ॥

एवमेतन्मानं द्वात्रिंशत्कोटयो नरकभूः ॥ ९३ ॥

अथ—

घोररूप और इनके ऊपर महारौरव स्थित है ॥ -८५-९१- ॥

जो पहले भेदक के नाम से कहा गया वही यहाँ वसामिश्र है । अयस्तुण्ड तीक्ष्णतुण्ड है । तीक्ष्णासि को असिपत्र कहते हैं । कुम्भ का अर्थ है—कुम्भीर । अशनि = अशनी अर्थात् वृष्टि और मुद्गर । पाश भी उरग है । दण्ड का अर्थ है—दण्डयन्त्र, यह पहले कहा गया है ॥

जब पहले अवीचि आदि तीन का ही शोधन हो जाता है तब—

अवीचि में क्रिमिनिचय को, कुम्भीपाक में सुदारुण को और महारौरव में अमेध्य को अन्तर्भूत कर शोधन करना चाहिये ॥ -९१-९२- ॥

अब उपर्युक्त इन तीन से व्याप्त—

बत्तीस नरकों का विस्तार मुझसे जानो ॥ -९२ ॥

उनमें से—

एक-एक नरक की ऊँचाई निन्यानबे लाख योजन है ॥ ९३- ॥

और इन—

बत्तीस नरकों का परस्पर अन्तर एक-एक लाख योजन का है ॥-९३॥

इस प्रकार सम्पूर्ण नरक भूमि का विस्तार बत्तीस करोड़ योजन है ॥ ९३ ॥

एतेषामुपरिष्टात्तु प्रभुत्वेन वरानने ।
योगैश्वर्यगुणोपेतः कूष्माण्डाधिपतिः स्थितः ॥ ९४ ॥

एष च—

'क्विति क्षितिः समुद्दिष्टा तस्यामूष्मानुलोमतः ।
सो(ऽण्डो)[1] यद्वद्दुरालोकः कूष्माण्डस्तद्वदुद्भटः ॥'

इति श्रीपरायां निरुक्तः । अस्य च कुकर्मजनानुशासकत्वात् क्रूररूपत्वं क्रूररूपनिर्वृत्तत्वं च श्रीपरायामुक्तमतः समस्तनरकशुद्धिं कृत्वैतच्छ्रावणा कार्या । एवमन्यत्र ॥ ९४ ॥

किं च—

नवनवतिर्लक्षाणि पुरं तस्य प्रकीर्तितम् ।

अथ—

तस्योपरिष्टात् पातालान् कथयामि समासतः ॥ ९५ ॥

अब—

हे वरानने ! इन बत्तीस नरकों के ऊपर योग एवं ऐश्वर्य गुणों से युक्त कूष्माण्डाधिपति स्वामी के रूप में स्थित हैं ॥ ९४ ॥

श्री परासंहिता में इनका निर्वचन इस प्रकार है—

'(कूष्माण्ड शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—) कु का अर्थ है—क्षिति = पृथिवी उस पृथिवी में ऊष्मा के अनुलोम से वह अण्ड जिस प्रकार दुरालोक (= अत्यन्त गर्मी के कारण कष्ट के साथ दर्शनीय) है इस कारण वह उद्भट कूष्माण्ड के नाम से प्रसिद्ध है ।'

कुकर्मी जनों का अनुशासक होने के कारण इनका रूप बहुत क्रूर है और यह कर्म भी क्रूर ही करते हैं—ऐसा श्रीपरासंहिता में कहा गया है । इसलिये समस्त नरकों की शुद्धि करने के बाद दीक्ष्य को इनका श्रावण करना चाहिये । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ॥ ९४ ॥

तथा—

इस (= कूष्माण्डाधिपति) का पुर निन्यानबे लाख योजन विस्तृत कहा गया है ॥ ९५- ॥

अब—

इसके ऊपर स्थित पातालों का अब मैं आपसे संक्षेप में वर्णन

---

१. ऽण्डे ।

आभासं वरतालं च शर्करं च गभस्तिमत् ।
महातलं च सुतलं रसातलमतः परम् ॥ ९६ ॥
सौवर्णमष्टमं ज्ञेयं सर्वकामसमन्वितम् ।

विशेषणमेतत्सर्वसाधारणम् । आ समन्तात् सर्वरत्नादिभिर्भासनात्, वरभोगयोगात्, शर्करावत् स्पृहणीयगुणत्वात्, भास्वरत्वात्, महाभोगयुक्तत्वात्, शोभनतलत्वात्, रसास्वादयुक्तत्वात्, सुवर्णमयत्वाच्च एतान्येषां नामानि । यदुक्तं श्रीपरायाम्—

'समन्तात् सर्वरत्नानां भासो यस्माद्विभान्त्यलम् ।
तद्धर्म्याणां च तत्स्त्रीणामाभासं तेन तत्स्मृतम् ॥'

इत्यादि । शर्कराख्यं तु तत्र नितरां भोगसम्पत्त्यादितलमित्युक्तम् ॥

अथ—

आभासाद्यावत् सौवर्णं प्रमाणं कथयामि ते ॥ ९७ ॥
सहस्रनवकोत्सेधमेकैकं तु पुरोत्तमम् ।

उत्सेध औन्नत्यम् ॥

करूँगा । आभास, वरताल, शर्कर, गभस्तिमान्, महातल, सुतल, रसातल और इसके बाद सर्वकामसमन्वित सौवर्ण नामक आठवाँ पाताल जानना चाहिये ॥ -९५-९७- ॥

यह (= आभासन आदि) विशेषण सभी पातालों के साथ है । (आभासन का अर्थ स्पष्ट करते हैं—आभास नामक पाताल) आ = सब ओर से समस्त रत्न आदि से भासित होने के कारण (आभास कहलाता है । वरताल) वर (= उत्तम) भोग के योग के कारण (उक्त नाम वाला है । शर्कर) शक्कर के समान स्पृहणीय, (गभस्तिमान्) भास्वर होने के कारण, (महातल) महाभोग युक्त होने के कारण (सुतल) सुन्दर तल होने से, (रसातल) रसास्वादयुक्त होने से (और सौवर्ण) सुवर्णमय होने से तत्तत् नाम वाला है । जैसा कि श्रीपरासंहिता में—

'चूँकि यहाँ समस्त रत्नों की चमक विराजमान है साथ ही उन रत्नों के समान देदीप्यमान स्त्रियाँ भी वहाँ हैं इसलिये वह आभास कहा गया है ।'

इत्यादि कहा गया है । शर्कर नाम वहाँ की भूमि के अत्यधिक भोगसम्पत्ति आदि से युक्त होने के कारण पड़ा ॥

अब मैं आभास से लेकर सौवर्ण तक के पातालों का प्रमाण (= विस्तार) तुमको बतलाता हूँ । एक-एक उत्तम पातालपुर नव हजार योजन उत्सेध = ऊँचा है ॥ -९७-९८- ॥

उत्सेध = ऊँचा ।

तथा—

एकैकस्यान्तरं ज्ञेयं सहस्रपरिसंख्यया ॥ ९८ ॥

एवं पातालात्यशीतिसहस्राणि ॥ ९८ ॥

किं च—

छत्राकाराणि सर्वाणि तेषां वै भुवनानि तु ।
सर्वकामैः समेतानि गुणैः सर्वैर्युतानि तु ॥ ९९ ॥
हेमप्राकारशिखरैश्छत्रध्वजसमाकुलैः ।
किङ्किणीजालमुखरैस्तोरणाट्टालमण्डितैः ॥ १०० ॥
निर्गमैः सगवाक्षैश्च दिव्यवस्त्रविभूषितैः ।
तन्त्रीमुरजवाद्यैश्च गेयतूर्यरवाकुलैः ॥ १०१ ॥
नानाभुवनपङ् क्त्योघैः सर्वरत्नसमुज्ज्वलैः ।
प्रसादैस्तुङ्गशिखरैश्चन्द्रातपसमप्रभैः ॥ १०२ ॥
रथ्यामार्गवरारामैः सदापुष्पफलान्वितैः ।
कोकिलारावमधुरैः शिखिषट्पदसेवितैः ॥ १०३ ॥
हंसकारण्डवाकीर्णैश्चक्रवाकोपशोभितैः ।
सारसारावसंघुष्टपद्मिनीषण्डमण्डितैः ॥ १०४ ॥

तथा—

एक पाताल से दूसरे पाताल का अन्तर एक हजार योजन है ॥ -९८ ॥

इस प्रकार सम्पूर्ण पाताल वर्ग (का विस्तार ८ × ९ = ७२ + ८ =) अस्सी हजार योजन है ॥ ९८ ॥

उन (= पातालों) के भुवन छत्राकार हैं । ये सब कामनाओं से तथा समस्त गुणों से परिपूर्ण हैं । इनमें स्थित प्रासाद सोने के प्राकार (= चार दीवारी) शिखरों, छत्र, ध्वज से युक्त, किङ्किणीजाल से मुखर, तोरण, अट्टालिका से अलङ्कृत, दरवाजों और खिड़कियों, दिव्यवस्त्र से अलंकृत, तन्त्री (= वीणा सितार आदि) मुरज वाद्यों गेय तूर्य की ध्वनि से व्याप्त है । अनेक भुवन की पंक्तियों, समस्त रत्नों से उज्जवल हैं । इनमें चन्द्रकिरणों के समान कान्ति वाले शिखर हैं । रथ्या (= गली) और मार्ग (= चौड़ा रास्ता) वाले तथा सदा पुष्प और फलों से युक्त बगीचे वाले हैं । ये बगीचे में कोकिल की मधुर ध्वनि तथा मयूरों और भौरों से व्याप्त हैं । इन बगीचों के बीच तालाब और झीलें हैं जिनमें स्वच्छ जल है । ये तालाब हंस कारण्डव से व्याप्त, चक्रवाक से उपशोभित, सारसों की

तडागैः स्वच्छतोयाढ्यैर्दीर्घिकाभिर्युतानि तु ।
पुरुषैश्च महाकायैर्महाबलपराक्रमैः ॥ १०५ ॥
सर्वैश्वर्यस्वरूपाढ्यैः सर्वलक्षणसंयुतैः ।
दिव्यवस्त्रैः सुताम्बूलैर्दिव्यगन्धानुलेपनैः ॥ १०६ ॥
दिव्याभरणसंयुक्तैर्मुकुटै रत्नमण्डितैः ।

युक्तानीत्येव । मुकुटैरित्युपलक्षितैरित्यर्थः ॥

किं च—

शिवाराधनसक्ता ये तत्प्रसादेन साधकाः ॥ १०७ ॥
ते विशन्ति महादेवि पातालं सिद्धसेवितम् ।

तत्प्रसादेनेति काकाक्षिवद् योज्यम् ॥

विष्ट्वा तु—

रसं रसायनं दिव्यं सिद्धद्रव्यं लभन्ति ते ॥ १०८ ॥

आवाज से संघुष्ट, कमलिनी के समूह से मण्डित हैं । प्रासादों में रहने वाले पुरुष महाकाय, महाबली, महापराक्रमी, समस्त ऐश्वर्य से सम्पन्न रूप वाले, समस्त लक्षणों से युक्त, दिव्यवस्त्रधारी, ताम्बूल और दिव्यगन्ध के उपलेप वाले, दिव्य आभरण से युक्त, मुकुट एवं रत्नों से सुशोभित हैं ॥ ९९-१०६- ॥

(समस्त तृतीयान्त पदों के जो अर्थ हैं पातालस्थ भुवन उनसे) युक्त हैं (—यह स्पष्टार्थ है) । मुकुट (का अर्थ है—) मुकुटों से उपलक्षित ॥

हे महादेवि ! जो साधक शिव की आराधना में लगे हुए होते हैं वे उनकी कृपा से सिद्धसेवित इस पाताल में पहुँचते हैं ॥ -१०७-१०८- ॥

यहाँ 'तत्प्रसादेन' पद का काकाक्षिगोलकन्यायेन[१] प्रयोग करना चाहिये (तात्पर्य यह है कि इस पद का एक बार 'सिद्धसेवितम्' के साथ और फिर 'विशन्ति' के साथ) अथवा एक बार 'विशन्ति' के साथ और एक बार 'शिवाराधनसक्ताः' साथ । इस प्रकार इसका अर्थ होगा—जो साधक शिव की आराधना में लगे हुए हैं वे शिव की कृपा से सिद्धों द्वारा सेवित उस पाताल में शिव की कृपा से प्रवेशलाभ करते हैं ॥

प्रवेश करने के बाद—

१. कौवे के शिर में अक्षिगोलक तो दो होते हैं किन्तु आँख एक ही होती है । वह उस आँख को कभी बायें गोलक में ले जाता है तो कभी दायें गोलक में । इस प्रकार वह दोनों गोलकों से देखता है । उसी प्रकार एक ही शब्द जब दो शब्दों से क्रम से सम्बद्ध होता है तो वहाँ इस न्याय का प्रयोग माना जाता है।

रसं हेमसाधनम् । रसायनं शरीरस्थैर्यहेतुः । सिद्धद्रव्यं पादुकादि । तदुचितसिद्ध्यर्थं लब्ध्वा यथारुचि भुवनानि चरन्तीत्यर्थः ॥ १०८ ॥

ये तु ततो न निर्यान्ति, ते—

क्रीडन्ति चान्ये सततं दिव्यानां योषितां गणैः ।
कामिनः(कामरूपाभिः)[1] मत्तमातङ्गगामिभिः ॥ १०९ ॥
सर्वाभरणसंयुक्तैः कामशास्त्रसुपेशलैः ।
दिव्यवस्त्रपरीधानैः स्तनभारसमानतैः ॥ ११० ॥
मध्यक्षामैः प्रसन्नास्यैस्तरलायतलोचनैः ।
सकिङ्किणीनितम्बैश्च हारकेयूरशोभितैः ॥ १११ ॥
सुगन्धिगन्धलिप्ताङ्गैः काञ्चीमेखलमण्डितैः ।
एवं ते कथिता देवि पातालान्तरवासिनः ॥ ११२ ॥

किं च—

त्रयोऽसुरास्तथा नागा राक्षसाश्च विभागतः ।

वे वहाँ पर दिव्य रस, दिव्य रसायन और सिद्ध द्रव्य प्राप्त करते रहते हैं ॥ -१०८ ॥

रस (= लोहे से ताँबे से) सोना बनाने का साधन । रसायन = शरीर को स्थिर रखने का साधन । सिद्ध द्रव्य = (सिद्ध) पादुका आदि । ऐसे शिवभक्त तत्तत् उचित सिद्धि के लिये पदार्थों को प्राप्त कर अपनी रुचि के अनुसार भुवनों में भ्रमण करते रहते हैं ॥ १०८ ॥

जो लोग इस पाताल लोक से बाहर नहीं जाते, वे—

दिव्य स्त्रियों के समूह के साथ क्रीड़ा करते हैं । कामी लोग कामरूपिणी स्त्रियों के साथ रमण करते हैं । ये स्त्रियाँ मत्त गज की चालवाली, समस्त अलङ्कारों से युक्त, कामशास्त्र में निपुण, दिव्यवस्त्रधारण की हुई, स्तनों के भार से आनम्र, मध्य (= कटि) में क्षीण, प्रसन्न मुखों वाली, तरल और विशाल नेत्रों वाली, नितम्ब पर किंकिणी बाँधे हुई, हार और केयूर से सुशोभित, सुन्दर गन्ध वाले द्रव्यों का शरीर में लेप की हुई, सुवर्ण की करधनी से मण्डित, हैं । इस प्रकार मैंने तुमको पातालान्तरवासी (= पाताल के अन्दर रहने वाले) जनों के विषय में बतलाया ॥ १०९-११२ ॥

और भी—

---

१. कामरूपैस्तु ।

एकैकत्र च पाताले कथितास्ते वरानने ॥ ११३ ॥

कथिता इत्येतदन्यशास्त्रोक्तं श्रीभैरवः श्रीदेवीं स्मारयति । तथा च श्रीपरायाम्—

'आभासे शङ्कुकर्णाख्यः कुटिलो विकलः पतिः ।
वरतालेऽपि प्रह्लादो वासुकिर्लोहितानन ॥
(वि)[1] तले शिशुपालाख्यः कम्बलो यमदंष्ट्रकः ।
गभस्त्याख्ये सकर्कन्धुः कर्कटो विकटाननः ॥
महातले हिरण्याख्यः कालाङ्गश्च कराङ्कः ।
रसातले बृहद्भोगो दुर्दर्शो भीमनिःस्वनः ॥
षडेतानि त्रिखण्डानि भोग्यान्येभिर्महात्मभिः ।
सुतले संस्थितोऽधस्ताद् बलिस्तक्षकपिङ्गलौ ॥'

इत्युक्तम् ॥ ११३ ॥

किं च—

पातालसप्तके ज्ञेयास्तथान्ये भुवनाधिपाः ।
बलो ह्यतिबलश्चैव बलवान् बलविक्रमः ॥ ११४ ॥
सुबलो बलभद्रश्च बलाध्यक्षश्च कीर्तिताः ।

हे वरानने ! अलग-अलग पाताल में रहने वाले असुर नाग और राक्षस तीनों को मैंने तुमको बतलाया ॥ ११३ ॥

'कथिताः' (= कहे गये) इस कथन से भैरव देवी को यह स्मरण दिलाते हैं कि इसे अन्य शास्त्र में कहा गया । जैसे कि श्रीपरासंहिता में—

'आभास में शङ्कुकर्ण कुटिल विकल; वरताल में प्रह्लाद वासुकि लोहितानन; वितल में शिशुपाल कम्बल यमदंष्टक; गभस्ति में कर्कन्धु कर्कट विकटानन; महातल में हिरण्याक्ष, कालाङ्ग कराङ्क; रसातल में वृहद्भोग दुर्दर्श भीमनिःस्वन रहते हैं । ये छह नरक तीन-तीन खण्डों वाले तथा उपर्युक्त तीन-तीन महात्माओं के द्वारा भोग्य है । नीचे सुतल नामक पाताल में बलि रहता है । उसके साथ तक्षक और पिङ्गल भी रहते हैं' ॥ ११३ ॥

तथा—

सात पातालों में अन्य भुवनाधिप रहते हैं । उनके नाम इस प्रकार बतलाये गये हैं—बल, अतिबल, बलवान्, बलविक्रम, सुबल, बलभद्र और बलाध्यक्ष ॥ ११४-११५- ॥

---

१. नि ।

यतः सप्तसु पातालेषु यथाक्रमं स्थिता एते रुद्रास्ततः—

एतैः शुद्धैरिमे शुद्धाः सप्तपातालवासिनः ॥ ११५ ॥

सप्तसु पातालेषु भूम्ना वसनं यैः स्वकर्मार्जितैर्भोगविशेषैः, त इमे प्रोक्ता भोगविशेषाः शुद्ध्यन्तीत्यर्थः ॥ ११५ ॥

अतस्तु—

यदूर्ध्वे चैव सौवर्णं पातालं परिकीर्तितम् ।
तत्र वसत्यसौ देवो हाटकः परमेश्वरः ॥ ११६ ॥
पुरकोटिसहस्रैस्तु समन्तात् परिवारितः ।
सिद्धै रुद्रगणैर्दिव्यैर्भगिनीमातृभिर्वृतः ॥ ११७ ॥

सिद्धैः रुद्रैरिति सिद्धविशेषाप्तरुद्रमूर्तिभिः, भगिन्यो ब्राह्म्याद्यङ्कोशद्भूता देव्यः, मातरस्तु ब्राह्म्याद्याः, ता हि प्रपञ्चव्याप्त्या परापरभावेन प्रायः सर्वत्र स्थिताः ॥ ११७ ॥

किं च—

योगिनीयोगकन्याभी रुद्रैश्चैव सकन्यकैः ।

चूँकि ये रुद्र क्रम से सातों पातालों में रहते हैं इस कारण—

इन लोगों के शुद्ध होने से सातों पातालों में रहने वाले लोग शुद्ध हो जाते हैं ॥ -११५ ॥

(सप्तपातालवासिनः का अर्थ है—) सातो पातालों में अपने कर्मों से अर्जित विशेष भोगों के द्वारा वे बहुत काल तक रहते हैं । वे विशिष्ट भोग वाले शुद्ध होते हैं ॥ ११५ ॥

इसके—

ऊपर जो सौवर्ण नामक पाताल कहा गया है उसमें हाटक (= सुवर्णमय शरीर होने से उस नाम वाले) परमेश्वर देव रहते हैं । वे सब ओर से एक करोड़ पुर से परिवारित हैं । साथ ही ये सिद्ध रुद्रगण दिव्य भगिनियों माताओं से घिरे हुये हैं ॥ ११६-११७ ॥

सिद्ध रुद्रों से = सिद्धविशेष के द्वारा प्राप्त रुद्र मूर्त्ति वालों से । भगिनियाँ = ब्राह्मी आदि के अंश से उत्पन्न ।[१] मातायें = ब्राह्मी आदि । ये सब विस्तार की व्याप्ति के द्वारा पर अपर भाव से प्रायः सर्वत्र स्थित हैं ॥ ११७ ॥

(ये हाटकेश्वर देव) योगिनियों, योगकन्याओं और कन्यायुक्त रुद्रों से (परिवृत हैं) ॥ ११८- ॥

---

१. इनका वर्णन नेत्रतन्त्र में मिलता है ।

योगिन्यो योगेन सिद्धाः, योगकन्यास्तु जातमात्रा एव संस्मारितयोगाः ॥

किं च—

सिद्धद्रव्यसमैर्मन्त्रैश्चिन्तामणिरसायनैः ॥ ११८ ॥

सिद्धद्रव्यसमत्वं प्राप्तमात्राणामेवाभीष्टप्रदत्वम् । चिन्तामणिभिः रसायनैश्चेत्यर्थः ॥ ११८ ॥

तदित्थम्—

सिद्धविद्यासमृद्धं वै हाटकेशस्य मन्दिरम् ।

एतच्च उक्तरुद्राद्युपलक्षणपरम् ॥

हाटकपदं निर्वक्ति—

हठात् प्रवेशयेल्लोकांस्तद्भावगतमानसान् ॥ ११९ ॥
तेनासौ हाटकः प्रोक्तो देवदेवो महेश्वरः ।

देवानां बलादीनां देवः । भगवतः श्रीकण्ठस्यैवेत्थं भोगप्रदत्वेनानया मूर्त्या

योगिनी = योग के द्वारा सिद्ध होती हैं । और योगकन्यायें जन्म से ही योगिक संस्मरण वाली होती हैं ॥

इसके अतिरिक्त—

(वे हाटकेश्वर) सिद्ध द्रव्य के साथ सिद्धमन्त्रों चिन्तामणियों और अनेक प्रकार के रसायनों से (युक्त हैं) ॥ -११८ ॥

सिद्धद्रव्यसम होने का अर्थ है—केवल प्राप्त होने से अभीष्टप्रद होना (चिन्तामणिरसायनैः का अर्थ है—) चिन्तामणियों और रसायनों से ॥ ११८ ॥

तो इस प्रकार—

हाटकेश्वर का मन्दिर सिद्धविद्या से समृद्ध है ॥ ११९- ॥

(सिद्धविद्यापद) उक्तरुद्र आदि का उपलक्षण[१] है ॥

हाटक पद की निरुक्ति बतलाते हैं—

चूँकि वे देवाधिदेव महेश्वर उस (परमेश्वर) की भावना से युक्त चित्त वाले मनुष्यों को तत्तत् उचित लोकों से हठात् प्रवेश कराते हैं इसलिये हाटक कहे गये हैं ॥ -११९-१२०- ॥

(देवदेव का अर्थ है—) देवों अर्थात् बल आदि का देव (= अधिष्ठाता) ।

---

१. स्वबोधकत्वे सति स्वेतरबोधकत्वमुपलक्षणत्वम् ।

स्थितत्वान्महेश्वरः ॥

एवं चान्तर्भूतपातालसप्तके तत्पुरशुद्धौ हाटकरुद्रोपस्थापनपूर्वं चतुर्थपटलोक्ताध्वसन्धानादिसमस्तेतिकर्तव्यतां श्रावणान्तां कुर्यात् । एवं प्रतिभुवनेशमेतदेव स्मर्तव्यम् । तदेवं भूकटाहः कोटिः, कालाग्निरुद्रपुरं कोटिः, तज्ज्वाला दश कोटयः, धूमः पञ्च कोटयः, नरका द्वात्रिंशत्कोटयः, कूष्माण्डपुरं नवनवतिलक्षाणि, पातालमशीतिसहस्राणि, इत्येवं सहस्रविंशत्यूनाः पञ्चाशत्कोटयः । एतावदन्तोऽध्वा कोटिपञ्चाशतैव, शिष्टानि तु—

तस्योर्ध्वे तु सहस्राणि योजनानां तु विंशतिः ॥ १२० ॥
भूकटाहः समुद्दिष्टः समन्तात्तु वरानने ।

भूकटाहो मनुष्याधारभूः । एवमियदन्तं ब्रह्माण्डस्यार्धम् ॥

अतो भगवती पृथ्वी नानाजनपदाकुला ॥ १२१ ॥
तस्या मध्ये महामेरुः सौवर्णश्च वरानने ।
तस्याचलस्य विस्तारमूर्ध्वाधः कथयामि ते ॥ १२२ ॥

जनपदो लोकानां निवासः ॥ १२२ ॥

चूँकि भगवान् श्रीकण्ठ ही इस प्रकार भोगप्रद होने के कारण इस मूर्त्ति से स्थित हैं अतः वे महेश्वर हैं ॥

इस प्रकार सातो पाताल जिसके अन्दर हैं ऐसे उस पुर की शुद्धि होने पर हाटकेश्वर रुद्र की स्थापना करने के बाद चतुर्थपटल में उक्त अध्वसन्धान से लेकर श्रवणपर्यन्त इतिकर्त्तव्यता का अनुष्ठान करना चाहिये । प्रत्येक भुवनेश के प्रति यह इतिकर्त्तव्यता होती है—ऐसा स्मरण रखना चाहिये । इस प्रकार भूकटाह एक करोड़, कालाग्निरुद्रपुर एक करोड़, उस (= कालाग्निरुद्रपुर) की ज्वाला दश करोड़, उसका धूम पाँच करोड़, नरक बत्तीस करोड़, कूष्माण्डपुर निन्यानबे लाख, पाताल अस्सी हजार, इस प्रकार (१ + १ + १० + ५ + ३२ = ४९ करोड़ + ९९०००० + ८०००० =) ४९९९८०००० योजन विस्तृत अध्वा हैं। अवशिष्ट—

उसके ऊपर चारो ओर बीस हजार योजन भूकटाह बतलाया गया है ॥ -१२०-१२१- ॥

भूकटाह = मनुष्यों की आधार भूमि । यहाँ तक आधा ब्रह्माण्ड है ॥

इसके बाद अनेक देशों से भरी हुई भगवती पृथिवी है । हे वरानने ! उसके बीच सुवर्णमय महामेरु (= सुवर्णगिरि) है । अब मैं तुमको उस पर्वत का ऊपर नीचे विस्तार बतलाऊँगा ॥ -१२१-१२२ ॥

जनपद = मनुष्यों का निवास स्थान ॥ १२२ ॥

तत्र—

योजनानां सहस्राणि चतुरशीतिरुच्छ्रितः ।
षोडशैव सहस्राणि अधोभागे प्ररोपितः ॥ १२३ ॥

वैपुल्यमस्याह—

तान्येव मूलविस्तारः..........

तानीति षोडशैव ॥

.............द्विगुणो मूर्धविस्तरः ।

द्वात्रिंशन्मूर्धविस्तारोऽस्येत्यर्थः ।

'भैरवीयं च तल्लिङ्गं धरणी चास्य पीठिका ।' (तं०आ० ८।४५)

इति गुरवः । एष च श्रीपरायां कर्णिकाकारमस्तक इत्युक्तः ॥

अथ—

तस्योर्ध्वे तु सभा दिव्या नाम्ना चैव मनोवती॥ १२४ ॥
चतुर्दश सहस्राणि योजनानां प्रमाणतः ।
सर्वरत्नसुशोभाढ्या स्त्रीसहस्रसमन्विता ॥ १२५ ॥
सर्वभोगगणोपेता ब्रह्मणस्तु महात्मनः ।

वहाँ—

(वह पर्वत) चौरासी हजार योजन ऊँचा और सोलह हजार योजन नीचे के भाग में (= धरती के अन्दर) प्ररोपित है ॥ १२३ ॥

इसके विस्तार को बतलाते हैं—

उतना ही = सोलह हजार योजन ही इसके मूल का विस्तार है । इसका मूर्ध विस्तार दो गुना है ॥ १२४- ॥

अर्थात् मूर्धा का विस्तार बत्तीस हजार योजन है ।

'वह भैरव का लिङ्ग है और धरणी इसकी पीठिका है ।' (तं०आ० ८।४५)

ऐसा हमारे गुरु (= श्रीअभिनवगुप्त) कहते हैं । श्रीपरासंहिता में यह कर्णिकाकार मस्तक वाला कहा गया है ॥

तत्पश्चात्—

इसके ऊपर महात्मा ब्रह्मा की मनोवती नाम वाली दिव्य सभा है । इसका विस्तार चौदह हजार योजन है । यह सभी रत्नों से सुशोभित हजारों स्त्रियों से समन्वित समस्त भोगसमूह से युक्त है ॥ -१२४-१२६- ॥

ब्रह्मणः सत्यलोकस्थब्रह्मांशावतारस्यास्थानभूः, अतश्च सर्वत्र मध्यं ब्रह्मस्थानमुच्यते ॥

सा च—

सिद्धविद्याधराकीर्णा ऋषिभिः परिवारिता ॥ १२६ ॥
तस्या ईशानदिग्भागे ज्योतिष्कं शिखरं स्मृतम्।

ज्योतिष्कं स्फाटिकम् ॥

तच्च—

सूर्यकोटिप्रतीकाशं गणप्रथमसेवितम् ॥ १२७ ॥
सर्वर्तुकुसुमोपेतं देवगन्धर्वसेवितम् ।
स्त्रीसहस्रसमाकीर्णं सर्वैश्वर्यसमन्वितम् ॥ १२८ ॥

गणप्रथमाः प्रधानगणाः ॥ १२८ ॥

तत्रास्ते भगवान् देवस्त्र्यम्बकः परमेश्वरः ।
लोकपालैर्वृतोऽसौ हि ब्रह्मविष्ण्विन्द्रनायकः ॥ १२९ ॥
ममांशं तं विजानीयाः सुरसिद्धनमस्कृतम् ।

कैलासवासिन उमापतेरियमुक्तिः ॥

यह ब्रह्मा सत्य लोक में रहने वाले ब्रह्मा के अंशावतार हैं । यह सभा उनकी भूमि है । इसीलिये सर्वत्र मध्य को ब्रह्म का स्थान कहा गया है ॥

और वह—

वह (सभा) सिद्धों विद्याधरों से भरी हुई और ऋषियों से परिवारित है। उसके ईशानकोण में ज्योतिष्क शिखर स्थित है ॥ -१२६-१२७- ॥

ज्योतिष्क = स्फटिक वाला ॥

और वह (शिखर)—

करोड़ों सूर्य के समान द्युतिमान्, प्रधान गणों से सेवित, सब ऋतुओं में उत्पन्न होने वाले फूलों से भरा, देवताओं एवं गन्धर्वों से सेवित, सहस्रों स्त्रियों से व्याप्त और समस्त ऐश्वर्य से युक्त है ॥ -१२७-१२८ ॥

गणप्रथम = प्रधानगण ॥ १२८ ॥

उस शिखर पर भगवान् त्रिनेत्र परमेश्वर निवास करते हैं । ब्रह्मा विष्णु और इन्द्र को नियन्त्रित करने वाले ये परमेश्वर समस्त लोकपालों से घिरे रहते हैं । देवताओं सिद्धों के द्वारा नमस्कृत उनको मेरा ही अंश जानो ॥ १२९-१३०-॥

यह कथन कैलासवासी उमापति का है ॥

स च तत्र—

अधिकारं प्रकुरुते परेच्छासम्प्रचोदितः ॥ १३० ॥

एवं चाभिदधत् पर एवाहं श्रीसदाशिवेशानन्तश्रीकण्ठरूपतया विष्णुभुवनोर्ध्वस्थरुद्रत्वेन मेरुशिखरगतत्र्यम्बकत्वेन च प्रपञ्चव्याप्त्यावस्थितो न तु पृथक्त्वमेषामित्यादिशति । अधिकारं ब्रह्मविष्ण्विन्द्रनायकत्वमेव । एतच्च शृङ्गप्रधानत्वादिहोक्तम्, न त्वेतदेवास्ति, श्रीचन्द्रगर्भादौ—

'शृङ्गत्रयसमोपेता ब्रह्मविष्णुहरालयाः' इति,

श्रीकिरणायां तु—

'त्रिभिः शृङ्गैः समायुक्तो रुक्मकाञ्चनरत्नजैः' ।

इति प्रतिपादितत्वात् ॥ १३० ॥

अस्य च मेरोः—

सभाया ब्रह्मणोऽधस्तात् सहस्राणि चतुर्दश ।
योजनानां परित्यज्य चक्रवाटः समन्ततः ॥ १३१ ॥

और वे (त्र्यम्बक परमेश्वर)—

पर (= स्वच्छन्दभैरव) की इच्छा से प्रेरित होकर अपने अधिकार का प्रयोग करते हैं ॥ -१३० ॥

ऐसा कहते हुए उमापतिनाथ यह बतलाना चाहते हैं कि—परमतत्त्व स्वरूप मैं ही सदाशिव ईश्वर अनन्तनाथ श्रीकण्ठनाथ के रूप में विष्णु भुवन के ऊपर स्थित रुद्र के रूप में तथा सुमेरु गिरि के शिखर पर स्थित त्र्यम्बक के रूप में प्रपञ्चव्याप्ति के साथ वर्त्तमान रहता हूँ । ये सब मुझसे पृथक् नहीं हैं । अधिकार = ब्रह्मा विष्णु और इन्द्र के नायक के रूप में । प्रधान होने के कारण इस सुमेरुशृङ्ग की चर्चा यहाँ की गयी । यह नहीं समझना चाहिये कि केवल यही एक शृङ्ग है क्योंकि श्रीचन्द्रगर्भ आदि ग्रन्थों में—

'ब्रह्मा विष्णु और हर के आलय तीन-तीन शृङ्गों वाले हैं ।'

कहा गया है और श्रीकिरणसंहिता में—

'(हर का निवास स्थान) रुक्म (= लोहा) काञ्चन (सोना) और रत्न (= स्फटिक, इन्द्रनील, माणिक्य आदि) वाले तीन शृङ्गों वाला है ।'

ऐसा कहा गया है ॥ १३० ॥

इस सुमेरु पर्वत के—

चारो ओर ब्रह्मा की सभा के नीचे चौदह हजार योजन छोड़ कर चक्रवाट स्थित है ॥ १३१ ॥

चक्राकारो वाटः पुरीणां समूहः ॥ १३१ ॥

एष एव च—

स्वर्गाष्टकं समुद्दिष्टं.......

यतः—

............तत्र तिष्ठन्ति लोकपाः ।

इन्द्रादयः ॥

तत्र—

पूर्वेणेन्द्रस्य विख्याता पुरी नाम्नामरावती ॥ १३२ ॥
तेजोवती तथाग्नेय्यां चित्रभानोः प्रकीर्तिता ।
दक्षिणे यमराजस्य नाम्ना संयमनी पुरी ॥ १३३ ॥
कृष्णाङ्गारा तु नैर्ऋत्यां राक्षसेशस्य कीर्तिता ।
पश्चिमेन जलेशस्य नाम्ना शुद्धवती स्मृता ॥ १३४ ॥
वायव्यां तु पुरी वायोर्नाम्ना गन्धवहा प्रिये ।
उत्तरेणापि सोमस्य पुरी नाम्ना महोदया ॥ १३५ ॥
ऐशान्यामीशराजस्य पुरी नाम्ना यशोवती ।

तथा—

(चक्रवाट का अर्थ है—) चक्राकार, वाट = पुरियों का समूह ॥ १३१ ॥

यही (चक्रवाट)—

स्वर्गाष्टक कहा गया है ॥ १३२- ॥

क्योंकि—

वहाँ लोकपाल रहते हैं ॥ -१३२- ॥

(लोकपाल =) इन्द्र आदि ॥

इन पुरियों में—

पूर्व दिशा में इन्द्र की पुरी है जो अमरावती नाम से प्रसिद्ध है । आग्नेयी दिशा में अग्नि की तेजोवती नगरी है । दक्षिण में यमराज की संयमनी नामक पुरी है । नैर्ऋत दिशा में राक्षसेश्वर की कृष्णाङ्गारा नामक पुरी कही गयी है । पश्चिम में जलेश (= वरुण) की शुद्धवती नगरी कही गयी है । हे प्रिये ! वायव्य कोण में वायु की गन्धवहा पुरी है । उत्तर में सोम की महोदया नामक पुरी है और ईशान कोण में ईशानदेव की यशोवती नामक नगरी है ॥ -१३२-१३६- ॥

एतासामुत्तरे देवि शृणु षड्विंशतिं पुरीः ॥ १३६ ॥
दक्षिणेनामरावत्याः कामवत्यप्सरःपुरी ।
सौवर्णी सिद्धसङ्घानां तस्या वै दक्षिणेन तु ॥ १३७ ॥
तस्या वै दक्षिणैनान्या पद्मरागोपशोभिता ।
आदित्यानां पुरी ख्याता नाम्ना चांशुमती शुभा ॥ १३८ ॥
साध्यानां राजती दिव्या ख्याता वै कुसुमावती ।

दक्षिणेनेत्येव । कामवती रेवत्याः पुरीत्यसत्. कामवती सौवर्णीति हि नामनी ॥

वह्नेः पश्चिमदिग्भागे विश्वेषां रेवती पुरी ॥ १३९ ॥

रेवत्याख्या, विश्वे देवा यत्र स्थिताः ॥ १३९ ॥

तस्यास्तु पश्चिमे देवि दिव्या वै विश्वकर्मणः ।

दिव्येति नाम्ना ॥

पश्चिमे धर्मराजस्य मातृनन्दा पुरी स्मृता ॥ १४० ॥
क्रीडन्ति मातरस्तत्र मधुपानाविघूर्णिताः ।
रुद्राणां पश्चिमे तस्या रोहिता नाम काञ्चनी ॥ १४१ ॥
तत्र शूलधरा रुद्रा यमस्य परिचारकाः ।

तथा—

हे देवि ! इनके उत्तर में छब्बीस नगरियाँ हैं उनको सुनो । अमरावती के दक्षिण में अप्सराओं की कामवती नामक नगरी है । उसके दक्षिण में सिद्ध सङ्घों की सौवर्णी पुरी है । उसके दक्षिण पद्मराग मणियों से उपशोभित अंशुमती नामक नगरी आदित्यों की है । उसके दक्षिण साध्यों की रजतमयी कुसुमावती नामक दिव्य नगरी है ॥ -१३६-१३९- ॥

'कामवती रेवत्याःपुरी'-यह पाठ असत् है क्योंकि कामवती और सौवर्णी ये दो (भिन्न-भिन्न) नाम है ॥

अग्नि के पश्चिम दिग्भाग में विश्वेदेवों की रेवती नामक पुरी स्थित है ॥ -१३९ ॥

रेवती का अर्थ रेवती नामक पुरी है । इसमें विश्वेदेव रहते हैं ॥ १३९ ॥

हे देवि ! उसके पश्चिम दिशा में विश्वकर्मा की दिव्या नामक नगरी स्थित है ॥ १४०- ॥

उसके पश्चिम में धर्मराज की मातृनन्दा नामक पुरी है । वहाँ पर मधुपान से विघूर्णित मातायें क्रीडा करती रहती हैं । उसके पश्चिम में रुद्रों

तस्याः पश्चिमतो ज्ञेया नाम्ना गुणवती पुरी ॥ १४२ ॥
एकादशानां रुद्राणां वज्रप्राकारतोरणा ।
निर्ऋतेः पूर्वभागे तु पिङ्गला नाम वै पुरी ॥ १४३ ॥
स्वकर्मसंज्ञा देवेशि पिशाचास्तत्र संस्थिताः ।

स्वेन कर्मणा पिशिताशनेन निमित्तेन संज्ञा येषाम् ॥

नैर्ऋत्युत्तरसामीप्ये पुरी कृष्णावती स्मृता ॥ १४४ ॥
निस्त्रिंशा नाम तत्रैव वसन्ति राक्षसाः सदा ।

नैर्ऋत्या दिश उत्तरं यत्सामीप्यं समीपम्, तत्र ॥

तस्या अप्युत्तरे भागे पुरी हैमी सुखावती ॥ १४५ ॥
मित्रो वसति तत्रैव बहुभृत्यजनावृतः ।

सुखावतीति नाम्ना ॥

तस्या अप्युत्तरे हैमी गान्धर्वी नाम विश्रुता ॥ १४६ ॥
वसन्ति तत्र गन्धर्वा दिव्यकन्यासमावृताः ।
दशकोटिसहस्राणि तेषां संख्या प्रकीर्तिता ॥ १४७ ॥
भूतानां सिद्धसेना तु वरुणस्य तु दक्षिणे ।

की रोहिता नामक सुवर्णमयी पुरी है । उसमें यम के परिचारक त्रिशूलधारी रुद्र रहते हैं । उसके पश्चिम दिशा में गुणवती नामक पुरी स्थित है । वज्र की चहारदीवारी एवं तोरण वाली यह पुरी एकादश रुद्रों की है । निर्ऋति के पूर्वभाग में पिङ्गला नामक पुरी स्थित है । हे देवेशि! यहाँ स्वकर्म नामक पिशाच रहते हैं ॥ -१४०-१४४- ॥

(स्वकर्म की निरुक्ति बतलाते हैं—) अपने कर्म अर्थात् मांसभक्षण के कारण उनका स्वकर्म नाम है ॥

नैर्ऋति के उत्तर दिशा में पास में ही कृष्णावती पुरी है । इसमें निस्त्रिंश नामक राक्षस सदा निवास करते हैं ॥ -१४४-१४५- ॥

नैर्ऋति दिशा के उत्तर में जो समीप स्थान है वहाँ वह पुरी है ॥

उसके भी उत्तर भाग में सोने से बनी सुखावती नामक नगरी है । वहाँ अनेक भृत्यों से परिवारित मित्र नामक देव रहते हैं ॥ -१४५-१४६- ॥

अर्थात् सुखावती नामक—

उसके भी उत्तर में सुवर्णमयी गान्धर्वी नगरी है । वहाँ दिव्य कन्याओं से समावृत गन्धर्व रहते हैं । इन गन्धर्वों की संख्या दश करोड़ है । वरुण के दक्षिण में भूतों की सिद्धसेना नामक पुरी है और वरुण की पुरी के

हेमसंज्ञा वसूनां तु वरुणस्यापि चोत्तरे ॥ १४८ ॥

वरुणस्येति तत्पुर्याः ॥ १४८ ॥

तस्यास्तूत्तरतो देवि नाम्ना सिद्धवती पुरी ।
सर्वविद्याधराणां तु सा पुरी परिकीर्तिता ॥ १४९ ॥
वायोर्दक्षिणतो देवि सिद्धा नाम पुरी स्मृता ।
वसन्ति किन्नरास्तत्र पुरैर्हैमार्कसप्रभैः ॥ १५० ॥
वायोः पूर्वेण गान्धर्वी हैमी चित्ररथस्य तु ।
गन्धर्वराजमुख्यस्य दिव्यगन्धर्वनादिता ॥ १५१ ॥
आस्ते भगवती साक्षात् सप्तस्वरविभूषिता ।
ग्रामत्रयपरीधाना जातिमेखलमण्डिता ॥ १५२ ॥
मूर्च्छनातानचित्राङ्गी नानातालकलोदया ।
लक्षणव्यञ्जनोपेता मध्यमेनावगुण्ठिता ॥ १५३ ॥
गन्धर्वैर्गीयमाना सा तत्र देवी सरस्वती ।
नारदाद्यैश्च ऋषिभिर्नागकिन्नरसेविता ॥ १५४ ॥

ग्रामाः षड्मध्यमगान्धाराः । षाड्जीनन्दयन्त्याद्या जातयोऽष्टादश, ता एव मेखलाः । स्वरा मूर्च्छन्ति गुम्फनया समुच्छ्रायं नीयन्ते याभिस्ता मूर्च्छना उत्तरमन्द्राद्याः,

---

उत्तर में वसुओं की हेमसंज्ञा नामक नगरी है ॥ -१४६-१४८ ॥

वरुण के अर्थात् उस पुरी के ॥ १४८ ॥

हे देवि ! उस पुरी के उत्तर में सिद्धवती पुरी है । वह समस्त विद्याधरों की पुरी कही गयी है । वायु के दक्षिण में हे देवि! सूर्य की किरणों के समान कान्तिमान् गृहों से युक्त सिद्धा नामक पुरी कही गयी है । उसमें किन्नर रहते हैं । वायु के पूर्व गन्धर्वराज चित्ररथ की दिव्यगन्धर्वों से नादित स्वर्णमयी गान्धर्वी नगरी है । वहाँ पर साक्षात् भगवती सरस्वती निवास करती है । वह सप्त स्वर (= षड्ज ऋषभ आदि) से युक्त, तीन ग्राम के परिधान वाली, जाति रूपी मेखला से मण्डित, मूर्च्छना ताल रूपी विचित्र अङ्गों वाली, नानाताल कला के उदय वाली, लक्षणा व्यञ्जना से युक्त, मध्यम से अवगुण्ठित, गन्धर्वों से गीयमाना और नारद आदि ऋषियों नागों एवं किन्नरों से सेवित है ॥ १४९-१५४ ॥

ग्राम = षड्ज मध्यम गान्धार । षाड्जी नन्दयन्ती आदि जातियाँ अठारह संख्या वाली हैं । वही सरस्वती की मेखला है । जिनके द्वारा स्वर मूर्च्छित होते हैं अर्थात् गम्फना के द्वारा ऊँचाई पर ले जाये जाते हैं वह मूर्च्छना कही जाती है ।

'क्रमयुक्ताः स्वराः सप्त मूर्च्छनेत्यभिशब्दिताः ।' (२८।३४)

इति भरतनाट्यशास्त्रे लक्षिता एकविंशतिः, तास्तायन्ते विस्तार्यन्ते यैस्ते तानाः, एकोनपञ्चाशत् पञ्चत्रिंशच्च । यदुक्तं तत्रैव—

'षट्पञ्चस्वरकास्ताना' (२८।३४)

इत्युपक्रम्य—

'तत्र मूर्च्छनाश्रयास्तानाश्चतुरशीतिरेकान्नपञ्चाशत्षट्स्वराः, पञ्चत्रिंशत्पञ्चस्वराः' (२८।३५) इति ।

तालाश्चञ्चत्पुटाद्या यत्यात्मकाः । कलास्तु तालाक्षररूपा गुरुलघुमात्राः । लक्षणानि—

'भूषणाक्षरसङ्घातौ शोभोदाहरणे तथा ।'

इत्यादीनि षट्त्रिंशत् । व्यञ्जनेति व्यज्यन्ते येषु गीतकविशेषेषु तैरुपेता । मध्यमेनेति मध्यमाख्येन स्वरेण श्रव्यतातिशययोगादवगुण्ठिता । नायिकापक्षे रूपकाणां श्लेषच्छाया स्पष्टा ॥ १५४ ॥

तस्याः पूर्वेण चित्रा वै तुम्बुरोर्नारदस्य च ।

जैसे उत्तर मन्द्र आदि । भरतनाट्यशास्त्र में कहा गया है—

'सात स्वर जब क्रम युक्त होते हैं (अर्थात् क्रम से उच्चरित होते हैं) तब उनको मूर्च्छना कहा जाता है ।' (२८।३४)

सातो स्वरों के उच्च मध्य और निम्न उच्चारण से इनकी संख्या २१ है । वे मूर्च्छनायें जिनके द्वारा तानित = विस्तारित की जाती हैं वे तान कहलाते हैं । इनकी संख्या (७ × ७ =) ४९ और (७ × ५ =) ३५ है । वही वहाँ कहा गया—

'वे तान षट् पञ्च स्वर वाले होते हैं' (२८।३४)

यहाँ से प्रारम्भ कर—

'उनमें से मूर्च्छना के अधीन तान चौरासी हैं । छः स्वर उन्चास तान वाले तथा पाँच स्वर पैंतीस तान वाले हैं (इस प्रकार ४९ + ३५ = ८४ तान होते हैं ।)' (२८।३५)

ताल के नाम चञ्चत् पुट आदि हैं वे यति स्वरूप होते हैं और कलायें ताल के अक्षर स्वरूप गुरु लघु मात्रा वाली होती हैं । लक्षण—

'भूषण, अक्षरसङ्घात, शोभा, उदाहरण'

इत्यादि कुल छत्तीस हैं । व्यञ्जन—विशेष गीतों में जिनके द्वारा (भाव) व्यक्त होते हैं उन (व्यञ्जनाओं) से युक्त । नायिका के पक्ष में रूपकों की श्लेषच्छाया स्पष्ट है ॥ १५४ ॥

सोमस्य पश्चात् प्रमदा गुह्यकानां पुरी स्मृता ॥ १५५ ॥
पूर्वेणैव तु सोमस्य नाम्ना चित्रवती पुरी ।
सर्वधातुमयी चित्रा कुबेरस्य महात्मनः ॥ १५६ ॥

स हि तत्र—

षड्विंशतिसहस्त्रैस्तु कोटीनां परिवारितः ।
यक्षाणामुत्तमः श्रीमानास्ते भोगैरनुत्तमैः ॥ १५७ ॥

युक्तः ॥ १५७ ॥

तस्याः पूर्वे शुभा नाम्ना जाम्बूनदमयी पुरी ।
तत्र वै कर्मदेवास्तु..........

ते च—

..............देवत्वं कर्मणा गताः ॥ १५८ ॥

वाजपेयादिना ॥ १५८ ॥

पश्चिमेनेशराजस्य विष्णोर्वै श्रीमती पुरी ।
तत्रास्ते श्रीपतिः श्रीमानतसीपुष्पसन्निभः ॥ १५९ ॥
शङ्खचक्रगदापाणिः पीतवासा जनार्दनः ।

उस (= गान्धर्वी नगरी) के पूर्व भाग में तुम्बुरु और नारद की चित्रा नामक नगरी है । सोम के बाद गुह्यकों की प्रमदा नामक पुरी है । सोम के पूर्व में ही महात्मा कुबेर की सर्वधातुमयी एवं विचित्र चित्रवती नामक नगरी है ॥ १५५-१५६ ॥

वहाँ—

वह श्रीमान् एवं उत्तम कुबेर छब्बीस हजार यक्षों के परिवार से घिरे हुए तथा उत्तमोत्तम भोगों से युक्त (होकर निवास करते) हैं ॥ १५७ ॥

युक्त होकर रहते हैं ॥ १५७ ॥

उसके पूर्व भाग में सोने से बनी शुभा नामक पुरी है । वहाँ कर्मदेव रहते हैं ॥ १५८- ॥

और वे—

अपने वाजपेय आदि कर्मों से देवत्व को प्राप्त हुए होते हैं ॥ -१५८॥

वाजपेय आदि यज्ञों से ॥ १५८ ॥

ईशान के पश्चिम में विष्णु की श्रीमती नामक नगरी है । उसमें अलसी के पुष्प की कान्तिवाले हाथ में शङ्ख चक्र गदा लिये हुए, पीतवस्त्रधारी

ईशस्य दक्षिणे भागे नाम्ना पद्मवती पुरी ॥ १६० ॥
महापद्मोपविष्टस्य पद्ममालाधरस्य तु ।
पद्मपत्रायताक्षस्य ब्रह्मणः पद्मजन्मनः ॥ १६१ ॥

सत्यलोकनिवासिब्रह्मांशावतारस्य ॥ १६१ ॥

तस्या दक्षिणतो देवि नाम्ना कामसुखावती।
अश्विनौ तत्र देवेशि..........

देववैद्यौ ॥

.........तथा धन्वन्तरिः स्थितः ॥ १६२ ॥

गोवैद्यः ॥ १६२ ॥

उत्तरे त्वमरावत्या महामेधेति विश्रुता ।
विनायकानां सा दिव्या वसतिस्तत्र कल्पिता ॥ १६३ ॥

ते हि पूर्वम्—

दशकोटिसहस्राणि वीर्यवन्तः शुभास्तथा।
विनायका महादीप्ता अग्निज्वलिततेजसः ॥ १६४ ॥
असुराणां वधार्थाय अंगुष्ठान्निर्मिता मया ।

अंगुष्ठात् कालाग्निस्थानान्निर्मितत्वाद् दीप्तत्वमेषाम् ॥

जनार्दन लक्ष्मीपति रहते हैं । ईशान के दक्षिणभाग में, महापद्म पर बैठे हुए पद्ममालाधारी, पद्मपत्र के समान विशाल लोचन वाले पद्मजन्मा ब्रह्मा की पद्मवती नगरी है ॥ १५९-१६१ ॥

(ये पद्मजन्मा ब्रह्मा) सत्यलोक निवासी ब्रह्मा के अंशावतार हैं ॥ १६१ ॥

हे देवि ! उसके दक्षिण में कामसुखावती नामक (नगरी) है । हे देवेशि ! वहाँ देववैद्य अश्विद्वय तथा गोवैद्य (= पृथिवी के वैद्य) धन्वन्तरि निवास करते हैं ॥ १६२ ॥

देववैद्य = अश्विनीकुमार, गोवैद्य = धन्वन्तदि ॥ १६२ ॥

अमरावती के उत्तर में विनायकों की महामेधा नामक दिव्य नगरी कल्पित है ॥ १६३ ॥

पहले—

वीर्यवान् एवं शुभ दश हजार करोड़, महादीप्त और जलती हुई अग्नि के समान तेजस्वी वे विनायक असुरों के वध के लिये मेरे द्वारा पैर के अंगूठे से बनाये गये ॥ १६४-१६५- ॥

उपसंहरति—

एवंविधैरधश्चोर्ध्वं मेरुः पुरवरैर्वृतः ॥ १६५ ॥

ऊर्ध्वं ब्रह्मसभाया ज्योतिष्कगतत्र्यम्बकपुरेण ॥ १६५ ॥

एताश्च—

पुर्यश्च याः समाख्याता मेरोश्चैव समन्ततः ।
पुरकोटिसहस्रैस्तु सर्वास्ता सम्भृताः प्रिये ॥ १६६ ॥
सर्वैश्वर्यसुसम्पूर्णाः सर्वरत्नसमुज्ज्वलाः ।
दिव्यस्त्रीभिः समाकीर्णा दिव्यपुम्भिः समाकुलाः ॥ १६७ ॥

तत्र—

आनन्दा सततं देवि देवानां च पुरे पुरे ।
विमाननगरारामैश्चतुरोद्यानमण्डपैः ॥ १६८ ॥
छत्रध्वजपताकाभिर्गजवाजिसमाकुलैः ।
दुन्दुभीनन्दिशब्दैश्च शङ्खकाहलनिः स्वनैः ॥ १६९ ॥
गीतनृत्तैस्तथाकीर्णं देवानां मन्दिरं सदा ।

आकीर्णमाकुलम् ॥

अंगूठा कालाग्नि का स्थान है । उससे निर्मित होने के कारण वे विनायक अत्यन्त दीप्त हैं ॥

उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार सुमेरु पर्वत नीचे और ऊपर श्रेष्ठ नगरों से घिरा हुआ है ॥ -१६५ ॥

ब्रह्मसभा के ऊपर ज्योतिष्क में रहने वाले त्र्यम्बक पुर से घिरा है ॥ १६५ ॥

हे प्रिये ! जो ये नगर सुमेरु के चारो ओर स्थित बतलाये गये हैं वे हजारों करोड़ पुरों से भरे पड़े हुये हैं । साथ ही ये समस्त ऐश्वर्य से सम्पूर्ण, सर्वरत्नसमुज्ज्वल, दिव्य स्त्रियों से समाकीर्ण और दिव्य पुरुषों से व्याप्त हैं ॥ १६६-१६७ ॥

वहाँ—

हे देवि ! देवताओं के नगर-नगर में निरन्तर आनन्द छाया रहता है । देवताओं के वे सभी नगर विमानो, नगरों, बगीचों, चौराहों, गृहवाटिकाओं, मण्डपों, छत्रों, ध्वजों, पताकाओं, हाथी, घोड़ों, दुन्दुभियों, नन्दी के शब्दों, शङ्ख एवं काहल की ध्वनियों, गीतों और नृत्यों से आकीर्ण = भरे रहते हैं ॥ १६८-१७०- ॥

अतश्च—

इष्टापूर्तरता देवि ये नरा पुण्यभारते ॥ १७० ॥
त्र्यम्बकं सकृदर्चन्ति मेरुं गच्छन्ति ते नराः ।

पु(ण्य)जनाश्रये वक्ष्यमाणे भारते वर्षे इष्टापूर्ते रता ये च त्र्यम्बकं महेश्वरं सकृदेकवारं हेलामात्रेणार्चयन्ति ते मेरुं प्राप्नुवन्ति, गृहीतदीक्षास्तु सततं तदर्चापरा मुच्यन्त एव ॥

येऽपि—

गङ्गातोयसुसंसिक्ताः...........

तेऽपि तत्र—

............क्रीडन्ति सुरसत्तमाः ॥ १७१ ॥

प्राप्तप्रधानसुरभावाः ॥ १७१ ॥

एवं श्रुतगङ्गाप्रभावा तज्जिज्ञासार्थं श्रीदेव्युवाच—

कथं गङ्गा समुत्पन्ना सुरसिद्धनमस्कृता ।

आकीर्ण = भरे हुए ॥

इसलिये—

हे देवि ! जो लोग पवित्र भारत भूमि पर इष्ट और पूर्त में लगे हुये हैं और त्र्यम्बक की एक बार भी पूजा करते हैं वे मनुष्य सुमेरु पर्वत पर जाते हैं ॥ -१७०-१७१- ॥

पुण्यवानों से सेवित वक्ष्यमाण भारतवर्ष में जो लोग इष्ट और पूर्त्त में रत हैं और जो लोग त्रिनेत्र भगवान् शिव की पूर्वक मात्र से भी एक बार पूजा करते हैं वे सुमेरु को प्राप्त होते हैं । जो लोग दीक्षा प्राप्त हैं और सर्वदा शिवार्चन में लगे हैं वे तो निश्चित ही मुक्त हो जाते हैं ॥

और जो लोग—

गङ्गा जल से स्नान करते हैं ॥ -१७१- ॥

वे भी वहाँ—

उत्तम देवता बन कर क्रीडा करते हैं ॥ -१७१ ॥

(सुरसत्तमाः का अर्थ है—) प्रधानदेवत्व को प्राप्त ॥ १७१ ॥

इस प्रकार गङ्गा के प्रभाव को सुनने वाली श्रीदेवी ने उस (= गङ्गा) के विषय में जानने के लिये कहा—

कथयस्व प्रसादेन समासात् सुरसत्तम ॥ १७२ ॥

श्रीभैरव उवाच—

गङ्गायाश्च समुत्पत्तिं कथयिष्यामि सुव्रते ।

तां वक्तुमुपक्रमते—

जगन्माता महादेवि मम पत्नी पुरा हि सा ॥ १७३ ॥

मम परया व्याप्त्या विश्वकारणस्य परयैव व्याप्त्या स्थिता पत्नी क्षयाख्या शक्तिरत एव पुरा जगन्माता आदिसर्गे विश्वप्रसरहेतुः ॥

स्वातन्त्र्याद् गृहीतरुद्रलोकाधिष्ठातृरुद्रमूर्त्तेस्त्वसौ—

मम नेत्रोदकं चैव............

आनन्दाश्रु इत्यर्थः ॥

यस्मादाकृतिमत्या प्रणयकेलिवशेन कदाचित्—

............करजैश्छादिते मम ।
पुनरुद्घाटिते नेत्रे जगन्मातः पुरा त्वया ॥ १७४ ॥

हे सुरसत्तम ! देवताओं और सिद्धों के द्वारा प्रणम्य गङ्गा कैसे उत्पन्न हुई । इसको मुझे संक्षेप में बतलाइये ॥ १७२ ॥

श्री भैरव ने कहा—

हे सुव्रते ! गङ्गा की उत्पत्ति तुमको बतलाऊँगा ॥ १७३- ॥

उसको कहने का उपक्रम करते हैं—

हे महादेवि ! यह जगन्माता गङ्गा पहले मेरी पत्नी थी ॥ -१७३ ॥

विश्व के कारणभूत मेरी परा व्याप्ति के द्वारा यह परा व्याप्ति के ही रूप में स्थित थी । पत्नी = क्षया नामक शक्ति । इसलिये यह पहले जगन्माता थी = सृष्टि के प्रारम्भ में विश्वप्रसर की कारणभूता थी ॥

अपने स्वातन्त्र्यवश जब मैंने रुद्रलोक के अधिष्ठाता रुद्र की मूर्त्ति धारण की तो यह—

मेरी आँखों का पानी बन गयी ॥ १७४- ॥

नेत्रोदक = आनन्द के आँसू ॥

चूँकि आकृति धारण करने वाली तुम्हारे द्वारा प्रणयकेलि (= प्रेमक्रीडा) के वश कभी—

करज (= अंगुलियों) से मेरे नेत्रों को हे जगन्माता ! तुमने ढँक लिया

मन्नेत्रेभ्योऽस्रवत्तोयं त्वदीयांगुलिभिः प्रिये ।

एवं चाभिदधदुमापतिरुर्ध्वस्थरुद्रलोकवर्तिरुद्रभट्टारकाभेद आत्मनः, तत्रस्थ-देव्यभेदश्चोमाभट्टारिकाया इत्यादिशति ॥

यच्च तत्तोयमंगुलिभिः स्रुतम्, तदेव ॥

दशधा निःसृता गङ्गा............

तासां मध्यात्—

.............कपालावरणे मम ॥ १७५ ॥

सप्तैव संस्थितास्तत्र..........

कान् प्रजापतीन् पालयतीति कपालो रुद्रस्तदावरणे तल्लोके ब्रह्माण्डोर्ध्वकपालोपलक्षितावरणे रुद्रलोके इत्यर्थः । यद्वक्ष्यति—

'वरेण्या वरदा चैव वरिष्ठा वरवर्णिनी ।
वसिष्ठा च वराहा च वरारोहा च सप्तमी ॥
गङ्गा ह्येताः समाख्याता रुद्रलोकवहाः सदा ।'(१०।५५०-५५१)

इति ॥

तिसृणां मध्यात्तु—

और फिर खोल दिया । इसके फलस्वरूप हे प्रिये ! तुम्हारी अंगुलियों के द्वारा मेरे नेत्रों से आँसू गिरे ॥ १७४-१७५- ॥

इस प्रकार का कथन करते हुए उमापतिनाथ यह बतलाना चाहते हैं कि वे ऊर्ध्वस्थ रुद्रलोकवर्त्ती रुद्रभट्टारक से अभिन्न हैं और उमाभट्टारिका भी उस रुद्रलोक वर्त्तिनी देवी से अभिन्न हैं ॥

और जो दशो अंगुलियों से जल स्रवित हुआ वही ॥

दश प्रकार से निकलकर दश गङ्गा हो गयी ॥ -१७५- ॥

उन दश गङ्गा में से—

मेरे कपालावरण में सात गङ्गायें ही रुकीं ॥ -१७५-१७६- ॥

(कपालावरण का अर्थ बतलाते हैं—) जो क = प्रजापतियों, की पालना = रक्षा, करता है वह कपाल कहलाता है अर्थात् रुद्र । उसके आवरण में = उसके लोक में अर्थात् ब्रह्माण्ड के ऊपर वर्त्तमान कपालोपलक्षित आवरण मे = रुद्रलोक में । जैसा कि कहेंगे—

'वरेण्या, वरदा, वरिष्ठा, वरवर्णिनी, बसिष्ठा, वराहा, वरारोहा, ये सात गङ्गाये रुद्रलोक में सदा प्रवाहित होने वाली कही गयी हैं ।' (१०।५५०-५५१)

..........एका विष्णुपुरे स्थिता ।

द्वितीया ब्रह्मलोकोर्ध्वे............

ब्रह्मलोकस्य सत्यलोकस्य यदूर्ध्वम्—

'कोटियोजनमानेन सत्यलोकोपरि प्रिये ।
ब्रह्मासनमिति ख्यातं जपासिन्दूरसप्रभम् ॥' (१०।५३४)

इति यद् ब्रह्मणो निवासस्थानम्, तत्र ॥

.............तृतीया सत्यलोकगा ॥ १७६ ॥

तृतीयैव प्राकाम्यवशात्—

स्वर्गे चैव.........

किं च—

.........पुनः सा वै संस्थिता सोममण्डले ।

सोमलोके ॥

एषैव तु—

सोमाच्चैव विनिःसृत्य पुराकाशे व्यवस्थिता ॥ १७७ ॥

सोमात् सोमलोकात् ॥ १७७ ॥

शेष तीन (धाराओं) में से—

एक विष्णु लोक में चली गयी । दूसरी ऊर्ध्व ब्रह्मलोक में ॥-१७६-॥

ब्रह्मलोक = सत्यलोक, का जो ऊर्ध्व—

हे प्रिये ! सत्यलोक के ऊपर एक करोड़ योजन मान वाला, ब्रह्मा का आसन है । उसका रङ्ग जपा कुसुम अथवा सिन्दूर के समान है । (१०।५३४) इस श्लोक में वर्णित जो ब्रह्मा का निवासस्थान है (गङ्गा) वहाँ है ॥

तीसरी सत्य लोक में चली गयी ॥ -१७६ ॥

तीसरी गङ्गा ही अपनी इच्छा से—

स्वर्ग में और पुनः सोममण्डल में स्थित हुई ॥ १७७- ॥

(सोम मण्डल =) सोमलोक ॥

फिर यही—

सोम से निकल कर आकाश में व्यवस्थित हो गयी ॥ -१७७ ॥

सोम से = सोमलोक से ॥ १७७ ॥

ततोऽहं संस्तुतो देवि ब्रह्मविष्णुपुरःसरैः ।

यथा—

गङ्गा नदीं महापुण्यां मर्त्यानां हितकाम्यया॥ १७८ ॥
अवतार्य महादेव मर्त्यलोकं विसर्जय ।

आकाशादित्यर्थात् ॥

ततो मया सुरेशानि प्रोक्ता सा त्वपराजिता॥ १७९ ॥
लोकानां तु हितार्थाय आगच्छ सुरसुन्दरि ।

अथासौ—

आगत्य मम मूर्धानं............

ममेति ज्योतिष्कशिखरगतस्य ॥

...............मेरुमूर्ध्नि पुनर्गता ॥ १८० ॥
तस्मान्निर्गत्य देवेशि चतुर्दिक्षूदधिं गता ।

सा च—

पूर्वे सीता समुद्दिष्टा सुवहा दक्षिणेन तु ॥ १८१ ॥
सुनन्दा पश्चिमे भागे भद्रसोमा तथोत्तरे ।

इसके बाद हे देवि ! ब्रह्मा विष्णु को आगे कर (देवताओं ने) मेरी स्तुति की ॥ १७८- ॥

उनका कहना था—

हे महादेव ! मनुष्यों के हित की इच्छा से आप महापुण्या गङ्गा नदी को आकाश से अवतारित कर मर्त्यलोक मे भेजिये । हे सुरेशानि ! इसके बाद मैंने उस अपराजिता से कहा—हे सुरसुन्दरि ! लोगों के हित के लिये तुम नीचे आओ ॥ -१७८-१८०- ॥

इसके बाद वह—

आकर मेरे मूर्धा पर (बैठ गयी) ॥ -१८०- ॥

मेरे = ज्योतिष्कशिखर पर स्थित मेरे । (अर्थात् सुमेरु के शिखर पर बैठे हुए मेरे)

हे देवेशि ! पुनः (वहाँ से उतर कर) सुमेरु पर्वत पर चली गयी । फिर उस (पर्वत) से निकल कर चारो दिशाओं में (प्रवाहित होती हुई) समुद्र में लीन हो गयी ॥ -१८०-१८१- ॥

वह—

बहुपर्वतादिव्यवहितचतुर्दिग्गतोदधिप्राप्तिर्गंगायाः प्राकाम्यादिति मन्तव्यम् ॥

प्रसङ्गाद् गङ्गामाहात्म्यमुक्त्वा प्रकृतमाह—

मन्दरस्तु महादेवि गन्धमादनसंज्ञकः ॥ १८२ ॥
विपुलश्च सुपार्श्वश्च पूर्वाद्या उत्तरान्तकाः ।
विष्कम्भाश्च समाख्याताः........

अवष्टम्भका इत्यर्थः । यदुक्तं श्रीतन्त्रालोके—

'एतैर्भुवमवष्टभ्य मेरुस्तिष्ठति निश्चलः ।' (८।६०) इति ॥

एषां पर्वतानाम्—

..........वर्णांश्चैव निबोध मे ॥ १८३ ॥
सितं चैव हरिद्राभं नीलं दाडिमसप्रभम् ।

स्फटिकहेममहानीलपद्मरागसमा एते इत्यर्थः ॥

एषां च पृथङ्मानस्यानुक्तत्वाद् भाविनवसहस्रेलावृताङ्गतैव मन्तव्या । तथा च श्रीकिरणायाम्—

पूर्वदिशा में सीता, दक्षिण में सुवहा, पश्चिम में सुनन्दा और उत्तर में भद्रसोमा कही गयी ॥ -१८१-१८२- ॥

अनेक पर्वतों से व्यवहित होती हुई चारो दिशाओं में बहती हुई गङ्गा का समुद्र को प्राप्त होना उसके प्राकाम्य से ही हुआ—यह मानना चाहिये ॥

प्रसङ्गप्राप्त गङ्गा के माहात्म्य को बतलाकर प्रस्तुत को कहते हैं—

हे महादेवि ! मन्दर, गन्धमादन, विपुल और सुपार्श्व ये चार पर्वत पूर्व से लेकर उत्तर तक (पृथ्वी के) विष्कम्भ = अवष्टम्भक (= स्थिर रखने वाले) कहे गये हैं ॥ -१८२-१८३- ॥

जैसा कि तन्त्रालोक में कहा गया—

'इनके द्वारा पृथिवी को अवष्टम्भि कर सुमेरु निश्चल होकर स्थित हैं ।'

इन पर्वतों के—

वर्णों को मुझसे जानो । इनके रङ्ग क्रमशः श्वेत, हल्दी के रङ्ग का, नील और अनार के रङ्ग के हैं ॥ -१८३-१८४- ॥

ये स्फटिक, सुवर्ण, नीलम और पद्मराग के रङ्ग वाले हैं ॥

इन पर्वतों के परिमाण अलग-अलग नहीं कहे गये इसलिये भावी नव हजार योजन विस्तार वाले इलावृत पर्वत के अङ्ग के रूप में इन्हें समझना चाहिये ।

'...............................इलावृतम् ।
मेर्वन्तं चतुरस्रं तु सहस्रनवसंयुतम् ॥'

इति तस्योक्तत्वात्, अर्थात्तदेकदेशता पादपर्वतानाम् ॥

किं च—

प्राग्विष्कम्भसमीपे तु नाम्ना चित्ररथं वनम् ॥ १८४ ॥
तत्रारुणोदकं नाम तडागं पद्ममण्डितम् ।
गन्धमादनसामीप्ये नन्दनं तु महावनम् ॥ १८५ ॥
तस्य मध्येऽम्बुजच्छन्नं मानसं तु सरोवरम् ।
विपुलस्य समीपे तु वैभ्राजं तु महावनम् ॥ १८६ ॥
सितोदं तस्य मध्ये तु तडागं विमलोदकम् ।
वनं पितृवनं नाम स्वपार्श्वस्य समीपतः ॥ १८७ ॥
तस्यान्तस्तु महाभद्रं तडागं च मनोरमम् ।

अत्रैव—

कल्पद्रुमांश्च चतुरः कथयामि निबोध तान् ॥ १८८ ॥
मन्दरेऽथ कदम्बं स्यान्मस्तके तु व्यवस्थितम् ।
सहस्रयोजनायामं शाखापञ्चशतोच्छ्रितम् ॥ १८९ ॥

किरणसंहिता में कहा गया—

'..........इलावृत पर्वत मेरुपर्यन्त नव हजार योजन विस्तृत है ।'

इस प्रकार वह (= परिमाण) कहा गया । अर्थात् पादपर्वत उसके एक अवयव है ॥

तथा—

पूर्व दिशा में वर्त्तमान विष्कम्भ (= मन्दर) के समीप चित्ररथ नामक वन है । उस वन में अरुणोदक नामक तालाब है जो कमलों से भरा है । गन्धमादन के समीप नन्दन नामक महावन है । उसके बीच में कमल से आच्छन्न मानस नामक सरोवर है । विपुल पर्वत के समीप वैभ्राज नामक महावन है । उसके बीच स्वच्छजल से पूर्ण सितोद नामक तालाब है । स्वपार्श्व के समीप पितृवन नामक वन है जिसके बीच महाभद्रनामक मनोरम तालाब है ॥ -१८४-१८८- ॥

यहीं पर—

चार कल्पवृक्षों को बतला रहा हूँ । उनको जानो । मन्दराचल के शिखर पर कदम्ब नामक कल्पवृक्ष व्यवस्थित है । इसका विस्तार एक

पुष्पैः कुम्भप्रमाणैश्च भ्राजते तत्सुपुष्पितम् ।

कदम्बं वृक्षः । तच्च शाखाभिः सह सार्धसहस्रयोजनोच्छ्रायम् ॥

तत्प्रमाणा स्मृता जम्बूर्गन्धमादनमूर्धनि ॥ १९० ॥
तस्याः फलसमूहोत्थो रसो ज्ञेयोऽमृतोपमः ।
तेन जम्बूनदी जाता प्रिये वेगवती भृशम् ॥ १९१ ॥

तेनेति रसेन ॥ १९१ ॥

स च—

मेरुं प्रदक्षिणीकृत्य जम्बूमूलं विशेत् स्वकम् ।
तत्सम्पर्कात् समुत्पन्नं कनकं देवभूषणम् ॥ १९२ ॥
तेन जाम्बूनदं लोके ज्ञायते भूषणोत्तमम् ।
तत्र वृक्षलतागुल्माः पक्षिणः श्वापदादयः ॥ १९३ ॥
जाम्बूनदमयाः सर्वे ये चान्ये तत्रवासिनः ।

किं च—

विपुलेऽपि तथाश्वत्थः केतुमाल इति श्रुतः ॥ १९४ ॥

हजार योजन है । इसमें पाँच सौ शाखायें हैं । इसके पुष्प कुम्भ के समान हैं जिनसे वह सुशोभित है ॥ -१८८-१९०- ॥

कदम्ब नामक कल्पवृक्ष । वह शाखाओं के साथ डेढ हजार योजन ऊँचा है ॥

गन्धमादन के शिखर पर उतना ही बड़ा जामुन का कल्पवृक्ष है । उसके फलसमूह से निकला हुआ रस अमृत के समान होता है । हे प्रिये ! उससे अत्यन्त वेगवती जम्बू नदी उत्पन्न हुई है ॥ -१९०-१९१ ॥

उससे = उस रस से ॥ १९१ ॥

और वह रस—

सुमेरु पर्वत की प्रदक्षिणा कर वह उस जम्बू वृक्ष की जड़ में प्रवेश कर गया । उसके सम्पर्क से देवताओं का आभूषण सोना उत्पन्न हुआ । इसी से लोक में जाम्बूनद (= सोना) उत्तम भूषण माना जाता है । वहाँ पर वृक्ष, लता, गुल्म (= छोटे वृक्ष), पक्षी, श्वापद (= जानवर) आदि और भी जो वहाँ रहने वाले हैं सबके सब जाम्बूनदमय (= स्वर्णमयी देह वाले) हैं ॥ १९२-१९४- ॥

तथा—

तथेति तत्प्रमाणकः ॥ १९४ ॥

केतुमालसंज्ञां व्याचष्टे—

तस्येन्द्रेणासुरान् जित्वा रत्नमाला प्रलम्बिता ।
तेनासौ केतुमालेति ख्यातः सिद्धनिषेवितः ॥ १९५ ॥

किं च—

न्यग्रोधश्च सुपार्श्वे तु तत्तुल्यः परिकीर्तितः ।

प्रमाणमहत्त्वाभ्याम् ॥

तदित्थम्—

अनेकगुणसम्पन्नो मेरुः ख्यातः समासतः ॥ १९६ ॥

अथ यथायं समासत उक्तः—

तत्पार्श्वस्थान् प्रिये देशान् कथयामि समासतः ।

तत्रादौ—

विपुल पर्वत पर उसी प्रकार का अश्वत्थ (= पीपल का वृक्ष) है जो केतुमाल नाम से प्रसिद्ध है ॥ -१९४ ॥

उसी प्रकार का = उसी परिमाण वाला ॥ १९४ ॥

केतुमाल नाम की व्याख्या करते हैं—

इन्द्र ने असुरों को जीत कर (उनसे प्राप्त) रत्नों की माला उस (वृक्ष) में लटका दी । (वह माला विजय केतु अर्थात् विजयपताका के रूप में लटकायी गयी) इसलिये उसका नाम केतुमाल पड़ गया । यह सिद्धों के द्वारा सेवित है ॥ १९५ ॥

तथा—

सुपार्श्वपर्वत पर उन्हीं (वृक्षों) के समान न्यग्रोध (= बरगद) (व्यवस्थित) कहा गया है ॥ १९६- ॥

परिमाण और महत्ता में (उनके तुल्य है) ॥

तो इस प्रकार—

सुमेरु पर्वत संक्षेप में अनेक गुणों से सम्पन्न कहा गया ॥ -१९६ ॥

जिस प्रकार यह (पर्वत) संक्षेप में बतलाया गया (उसी प्रकार)—

हे प्रिये ! उसके पास में स्थित देशों को भी संक्षेप में बतला रहा हूँ ॥ १९७- ॥

मेरुमध्याच्चतुर्दिक्षु लक्षार्धं तु समासतः ॥ १९७ ॥
लवणोदधिपर्यन्तं जम्बुद्वीपं समन्ततः ।

मेरुमूलमध्यात् पञ्चाशत्सहस्राणि, तत्पार्श्वद्वयकलनया लक्षं भवति ॥

पर्वतान्तरितास्तत्र नव भागा भवन्ति हि ॥ १९८ ॥

तत्रेति जम्बुद्वीपे । भागाः खण्डाः ॥

तथाहि—

दक्षिणे चैव दिग्भागे त्रयो ज्ञेया महीधराः ।
निषधो हेमकूटश्च हिमवानिति ते त्रयः ॥ १९९ ॥

'निषिद्धो यत्र वै तार्क्ष्यः शेषाहिं हन्तुमुद्यतः ।' इति,
'हेमकूटस्तथा सोऽद्रिर्यत्र दत्तः प्रजापतेः ।
सुवर्णस्य महाकूटो यागार्थं धनदेन तु ॥' इति
'...........................हिमवान् हिमकूटवान् ।
रत्नाढ्योऽपि हिमप्रायस्तेनासौ हिमवान् गिरिः ॥'

उनमें से पहले—

मेरु के मध्य से चारो दिशाओं में आधा लाख (= पचास हजार योजन) लवण के सागर पर्यन्त चारो ओर जम्बूद्वीप कहा गया है ॥ -१९७-१९८- ॥

सुमेरु के मूल को मध्य मानने पर उससे पचास सहस्र योजन एक तरफ का विस्तार है । उस (मेरु) के दोनों पार्श्वों की गणना से एक लाख योजन जम्बू द्वीप का विस्तार समझना चाहिये ॥

उसमें पर्वतों से अन्तरित (= व्यवहित) नव भाग हैं ॥ -१९८ ॥

उसमे = जम्बू द्वीप में । भाग = खण्ड (= टुकड़े) ॥

वह इस प्रकार—

(मेरु के) दक्षिण दिग्भाग में तीन पर्वत हैं । वे तीन हैं—निषध, हेमकूट और हिमवान् ॥ १९९ ॥

'शेष नाग को मारने के लिये उद्यत तार्क्ष्य (= गरुड़) जहाँ जाने के लिये निषिद्ध कर दिये गये (निषिद्ध होने के आधार पर) वह निषध पर्वत कहा गया है ।'

'हेमकूट पर्वत वह है जहाँ कुबेर प्रजापति के यज्ञ के लिये सुवर्ण का महाकूट (= विशाल भण्डार) दान किया था ।'

इति श्रीपरायां निरूपितम् ॥ १९९ ॥

किं च—

उत्तरे चापि मेरोस्तु नीलः श्वेतोऽथ शृङ्गवान् ।

'शनिस्तत्र सुनीलाभो जातो नीलस्त्वतो गिरिः ।
नीलवच्च गिरिः श्वेतो यत्र श्वेतो महामुनिः ॥
मृत्युना ग्रस्यमानोऽपि रक्षितश्चन्द्रमौलिना ।' इति,
'श्वेतवच्च त्रिशृङ्गोऽद्रिर्वज्रपातोपमर्दनः ।
त्र्यश्रितस्तेषु शृङ्गेषु किल देवास्त्रयः स्थिताः ॥'

इत्यपि तत्रैवोक्तम् ॥

एषां मानमाह—

प्राक्पश्चिमायता ह्येते षडेव तु महीधराः ॥ २०० ॥

पूर्वाब्धेः पश्चिमाब्धिं प्राप्ताः ॥ २०० ॥

तत्रापि—

'हेमकूट या हिमवान् हिमके कूट (= भण्डार) वाला है । रत्न से भरा हुआ भी वह हिमाच्छादित ही रहता है। इसलिये इस पर्वत का नाम हिमवान् है ।'

ऐसा श्री परासंहिता में वर्णन किया गया है ॥ १९९ ॥

तथा—

मेरु के उत्तर में नील और श्वेत पर्वत हैं ॥ २००- ॥

'चूँकि उस पर्वत पर नीलकान्ति वाले शनि का जन्म हुआ इसलिये उसका नाम नीलगिरि पड़ा । साथ ही वह नीलमणि वाला भी है (इसलिये भी उसका वह नाम है) । (श्वेत गिरि नाम पड़ने का कारण यह है कि) वहाँ श्वेत नामक महामुनि के मृत्यु से ग्रसित होने पर चन्द्रमौलि (भगवान् शङ्कर) ने मृत्यु से उनकी रक्षा की ।'

'इस पर्वत पर तीन शृङ्ग (= शिखर, चोटी) हैं । यह वज्रपात को भी नष्ट करने वाला है । यह पर्वत त्र्यश्रित (= तीन कोणों वाला) है । इसके तीन शृङ्गों पर तीन देव स्थित हैं ।

यह सब भी वहीं (= श्रीपरासंहिता में ही) कहा गया है ॥

इनके विस्तार को बतलाते हैं—

छः पर्वत पूर्व से पश्चिम की ओर फैले हुए है ॥ -२०० ॥

(ये पर्वत) पूर्व समुद्र से लेकर पश्चिम सागर तक व्याप्त हैं ॥ २०० ॥

नीलश्च निषधश्चैव लक्षायामौ प्रकीर्तितौ ।

मध्यासन्नत्वात् ॥

द्वीपवर्तुलतानुपाततस्तु—

श्वेतश्च हेमकूटश्च सहस्रनवतिः स्मृतौ ॥ २०१ ॥
हिमवान् शृङ्गवांश्चैव सहस्राशीतिरेव तु ।

तदेते—

लवणोदधिपर्यन्ताः.........

पार्श्वमानात्तु—

............सहस्रद्वयविस्तृताः ॥ २०२ ॥

किं च—

कैलासयुक्तो हिमवांस्त्रिशृङ्गश्च सजारुधिः ।

हिमवतो मध्ये कैलासः शृङ्गरूपः । यदुक्तं देवीयामले—

'तस्य मध्ये महाशृङ्ग शतयोजनविस्तृतम् ।'

उनमें से—

नील और निषध एक लाख योजन विस्तार वाले हैं ॥ २०१- ॥

क्योंकि ये मध्य में परस्पर आसपास हो जाते हैं ॥

द्वीप की गोलाई का अनुपात (बतलाते हैं)—

श्वेत और हिमकूट (ये दोनो पर्वत) नब्बे हजार योजन तथा हिमालय एवं शृङ्गवान् ये दोनों अस्सी हजार योजन गोलाई में है ॥ -२०१-२०२- ॥

तो वे सब—

नमक सागर तक (फैले हुये हैं) ॥ -२०२- ॥

इनके पार्श्व का मान—

दो हजार योजन विस्तार वाला है ॥ -२०२ ॥

इसके अतिरिक्त—

हिमालय कैलास से युक्त है और जारुधि के सहित तीन चोटियों वाला है ॥ २०३- ॥

हिमालय के बीच में कैलास है जो शृङ्ग (= शिखर) रूपी है । जैसा कि देवीयामल में कहा गया—

इत्युपक्रम्य,

'तत्रासावमरैः सार्धं शूली वसति सर्वदा' इति ।

शृङ्गवतस्तु जारुधिः संलग्नः ॥

एषां प्रातिलोम्यतो वर्णं निरूपयति—

शृङ्गवांश्चन्द्रकनिभः सितः श्वेतो विराजते ॥ २०३ ॥
नीलरत्नमयो नीलो निषधः पद्मरागभः ।
सौवर्णो हेमकूटश्च हिमाभो हिमवानिति ॥ २०४ ॥

मेरोः पूर्वपश्चिमयोः पर्वतावाह—

पूर्वेण माल्यवान् मेरोः पर्वतस्तु विराजते ।
चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि योजनानां सुरेश्वरि ॥ २०५ ॥
याम्योत्तरायतो भाति सहस्रं तस्य विस्तृतिः ।
तथैवापरदिग्भागे तत्तुल्यो गन्धमादनः ॥ २०६ ॥

आयामविस्ताराभ्याम् । अयं च दक्षिणस्थाद्विष्कम्भकगन्धमादनादन्यः । एतौ च श्रीपरायाम्—

'उस (= हिमालय) के बीच में एक सौ योजन विस्तृत महाशृङ्ग है ।'

ऐसा प्रारम्भ कर—

'वहाँ पर देवताओं के साथ ये भगवान् शङ्कर सदा निवास करते हैं ।' कहा गया है ।

जारुधि शृङ्गवान् से जुड़ा हुआ है ॥

इनके रङ्गों को उल्टे क्रम से बतलाते हैं—

शृङ्गवान् चन्द्रक (= मयूर के पङ्ख की आँख) के समान है । श्वेत सफेद रंग वाला है । नीलगिरि नीलम के रंग का, निषध पद्मराग के समान, हेमकूट सोने के रंग का और हिमवान् हिम की कान्ति के समान बतलाया गया है ॥ -२०३-२०४ ॥

सुमेरु के पूर्व और पश्चिम में स्थित दो पर्वतों को बतलाते हैं—

सुमेरु के पूर्व माल्यवान् पर्वत विराजमान है । हे सुरेश्वरि ! यह चौंतीस हजार योजन चौड़ा है । उसी प्रकार (मेरु के) पश्चिम दिग्भाग में उसी के समान विस्तार वाला गन्धमादन पर्वत है ॥ २०५-२०६ ॥

आयाम और विस्तार = लम्बाई और चौड़ाई से । यह गन्धमादन पर्वत दक्षिण में स्थित विष्कम्भरूप गन्धमादन से अन्य है । श्रीपरासंहिता में इन दोनों का वर्णन

'दृष्ट्वा माल्यानि दिव्यानि ब्रह्मसेवार्थमागतैः ।
सम्भृतानि यतः सिद्धैर्माल्यवांस्तेन लप्यते ॥'

इति तथा च—

'मदमत्ता पुरा दृष्टा माल्या विद्याधरी किल ॥
ऋषिणा नारदेनास्मिन्नाघ्राता मोदभाविता ॥
गन्धो मे मादनो विप्रेत्युक्तस्तद् गन्धमादनः ।'

इति निरुक्तौ ॥ २०६ ॥

एषां सर्वेषामुच्छ्रायमानमाह—

नीलश्च निषधश्चैव माल्यवान् गन्धमादनः ।
चत्वारिंशत्सहस्राणि योजनानां समुच्छ्रिताः ॥ २०७ ॥

नीलादयो मेरोः प्रतिप्राकारस्थानीयत्वेन स्थिताः एवंप्रमाणकाः । दक्षिणोत्तरगतानां तु श्वेतशृङ्गवद्धेमकूटहिमवतां दशयोजनसहस्रोच्छ्रित्वम् । यदुक्तं श्रीमृगेन्द्रोत्तरे—

'सहस्रद्वयविष्कम्भा दशोत्सेधाः नवान्तराः' (१३।६५) इति ।

इस प्रकार किया गया है—

'ब्रह्मा की सेवा के लिये आये हुए सिद्धों के द्वारा दिव्य मालायें चूँकि यहीं पर एकत्रित की गयीं इसलिये यह पर्वत माल्यवान् कहा जाता है ।'

तथा—

'प्राचीन काल में नारद ने मदमत्त माल्या नामक (अथवा मालाओं से युक्त किसी) विद्याधरी को इस पर्वत पर सूँघा । आमोद से भावित (विद्याधरी ने) कहा— हे विप्र ! मेरा गन्ध मादन (= मदमत्त करने वाला है) । इस कारण (यह पर्वत) गन्धमादन के नाम से विख्यात हुआ ॥'

इस प्रकार की निरुक्ति श्रीपरासंहिता में कही गई है ॥ २०६ ॥

इन सब (पर्वतों) की ऊँचाई का मान बतलाते हैं—

नील, निषध, माल्यवान् और गन्धमादन (ये चारो पर्वत) चालिस हजार योजन ऊँचे हैं ॥ २०७ ॥

नील आदि पर्वत सुमेरु के प्रतिप्राकार (= समानान्तर) स्थानीय के रूप में स्थित होने पर इस परिमाण वाले हैं । दक्षिण से उत्तर की ओर फैले हुए श्वेत, शृङ्गवान्, हेमकूट और हिमालय की ऊँचाई दश हजार योजन है । जैसा कि मृगेन्द्रोत्तर तन्त्र में कहा गया है—

'दो हजार योजन विस्तार वाले दश हजार योजन ऊँचे हैं । इनमें नव हजार

एवं दक्षिणोत्तरस्थैस्त्रिभिस्त्रिभिः पूर्वपश्चात्स्थाने च एकैकेनेत्यष्टाभिः पर्वतैर्विभक्तं नवधा जम्बुद्वीपं जातम् ॥ २०७ ॥

किं च—

चतुर्दिक्षु गतौ मेरोर्द्वौ द्वौ सीमान्तपर्वतौ ।

पूर्वादिदिगभिमुखौ समुद्रान्तं प्राप्तौ ॥

तत्र—

जठरो हेमकूटस्तु पूर्वभागे व्यवस्थितौ ॥ २०८ ॥
कैलासो हिमवांश्चैव दक्षभागे व्यवस्थितौ ।
निषधः पारियात्रश्च अपरेण महीधरौ ॥ २०९ ॥
जारुधिः शृङ्गवांश्चैव उत्तरेण व्यवस्थितौ ।

पूर्वोक्तहेमकूटादिसमनामानोऽन्य एवामी हेमकूटाद्याः । एते चाष्टावलङ्घ्यत्वात्रवधा विभक्तस्य जम्बुद्वीपस्य नवभागान्तरहेतव इति ॥

पूर्वोक्तपर्वतैर्नवविभक्तेऽत्र नामभेदेन देशविभागमाह—

मेरोः समन्ततो रम्यमिलावृतमुदाहृतम् ॥ २१० ॥

योजन का अन्तर है ।' (मृ०तं० १३।६५)

इस प्रकार यह जम्बूद्वीप दक्षिण से उत्तर तक तीन-तीन और पूर्व से पश्चिम तक एक-एक (= ३ + ३ + १ + १) की स्थिति से आठ पर्वतों के द्वारा नव भागों में विभक्त है ॥ २०७ ॥

और भी—

मेरु की चारो दिशाओं में दो-दो सीमान्त पर्वत हैं ॥ २०८- ॥

(ये पर्वत) पूर्व आदि दिशाओं के अभिमुख होकर समुद्रान्त को प्राप्त हैं ॥

उनमे से—

जठर और हेमकूट पूर्व दिशा में, कैलास और हिमालय दक्षिण में, निषध और पारियात्र पर्वत पश्चिम में तथा जारुधि और शृङ्गवान् उत्तर दिशा में व्यवस्थित हैं ॥ -२०८-२१०- ॥

ये आठो पर्वत पूर्वोक्त इन्हीं नामों वाले हेमकूट आदि से भिन्न हैं । ये आठो अलंघ्य होने से नव भाग में विभक्त जम्बूद्वीप के नव भिन्न भागों के हेतु हैं ॥

पूर्वोक्त पर्वतों से नव भागों में विभक्त इस (= जम्बू द्वीप) में नामभेद के साथ देशविभाग को बतलाते हैं—

अधस्ताच्चक्रवाटस्य नवसाहस्रविस्तृतम् ।
योजनानां चतुर्दिक्षु चतुरश्रं समन्ततः ॥ २११ ॥

तेन मध्यवर्तिनः षोडशसाहस्रिकस्य मेरोः पार्श्वद्वयं नव नव सहस्राणीत्याकलय्य दैर्घ्यदिशां चतुस्त्रिंशत्सहस्रमेतद्भवति । अत एव पूर्वपश्चात्स्थयोर्माल्यवद्गन्धमादनयोश्चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि दैर्घ्यमिति युक्तमुक्तम् । अस्य च निर्वचनम्—

'इला नामाप्सरा दिव्या रूपयौवनशालिनी ।
दृष्टा सामृतरूपेण विचरन्ती मनोहरा ॥
भुजाभ्यामावृता रागात्तेनेलावृतमुच्यते ।'

इति श्रीपरायामुक्तम् ॥ २११ ॥

अत्र च चक्रवाटावृतत्वात्—

नातपो भानुजस्तत्र न च सोमस्य रश्मयः ।
प्रभवन्ति हि लोकानां..........

किन्त्वेतत्—

..........मेरोर्भासा प्रभासितम् ॥ २१२ ॥

सुमेरु के चारो ओर रमणीय इलावृत देश है । यह चक्रवाट के नीचे नव हजार योजन विस्तृत है । यह विस्तार चारो दिशाओं में सर्वत्र और चौकोर है ॥ -२१०-२११ ॥

मध्यवर्त्ती तथा सोलह हजार योजन वाले इस मेरु के दोनों ओर नव-नव हजार योजन मान कर इस इलावृत सहित मेरु का विस्तार (९ + ९ + १६ =) चौंतीस हजार योजन होता है । इसीलिये (इस सुमेरु के) पूर्व और पश्चिम में स्थित माल्यवान् और गन्धमादन पर्वतों की लम्बाई चौंतीस हजार योजन जो कही गयी वह ठीक है । इस (= इलावृत) की निरुक्ति इस प्रकार है—

'चूँकि यहाँ इला नाम की दिव्या, रूपयौवनशालिनी मनोहर अप्सरा को विचरण करती हुई देख कर अमृतरूप ने रागानुषक्त हो उसे भुजाओं से आवृत कर लिया इस कारण यह देश इलावृत (= इला आवृता यत्र सः) नामवाला कहा जाता है ।'

ऐसा श्रीपरासंहिता में कहा गया है ॥ २११ ॥

चक्रवाट (= चारदीवारी) से आवृत होने के कारण यहाँ—

न तो सूर्य की धूप पहुँचती है और न चन्द्रमा की किरणों का लोगों पर प्रकाश पड़ता है ॥ २१२- ॥

किन्तु यह (= इलावृत देश)

सुमेरु की दीप्ति से प्रकाशमान होता रहता है ॥ -२१२ ॥

अत एव—

प्रत्यग्राम्बुजपत्राभा जनाश्चातीव कोमलाः ।
जम्बूरसफलाहारा जरामृत्युविवर्जिताः ॥ २१३ ॥
त्रयोदशाब्दसाहस्रं तेषामायुः प्रकीर्तितम् ।

अतश्चाकालमृत्युविवर्जिता इत्युक्तं भवति ॥

किं च—

देवगन्धर्वसिद्धाश्च ऋषयोऽथ विनायकाः ॥ २१४ ॥
गणमातृभगिन्यश्च वेताला राक्षसादयः ।
एवमाद्यैरसंख्यातैर्वृतं चैतदिलावृतम् ॥ २१५ ॥

अथ—

गन्धमादनवारुण्यां समुद्रस्य च पूर्वतः ।
केतुमालमिति ख्यातं वर्षं सर्वगुणोत्तमम् ॥ २१६ ॥

मेरुपश्चात्स्थगन्धमादनस्य या वारुणी, सा पश्चिमाब्धेः पूर्वैव भवति । उक्तं च श्रीपरायाम्—

'देवासुराणामारम्भे दारुणे समुपस्थिते ।
अकस्मात्तत्र केतूनां या माला सहसोत्थिता ॥

इसलिये—

यहाँ के लोग नवीन कमल की पंखुड़ी के समान अत्यन्त कोमल होते हैं। ये जामुन के फल के रस का भोजन करते हैं और जरा तथा मृत्यु से रहित होते हैं । इनकी आयु तेरह हजार वर्ष कही गयी है ॥२१३-२१४-॥

इसलिये ये लोग अकालमृत्यु से रहित हैं ॥

और भी—

यह इलावृत देश देवता, गन्धर्व, सिद्ध, ऋषि, विनायक, गणों, माताओं, भगिनियों, वेताल और राक्षस आदि असंख्य लोगों से युक्त बतलाया गया है ॥ -२१४-२१५ ॥

इसके बाद—

गन्धमादन की पश्चिम दिशा में और समुद्र के पूर्व केतुमाल नामक देश है जो सर्वगुणोत्तम है ॥ २१६ ॥

मेरु के पश्चिम स्थित गन्धमादन की जो पश्चिम दिशा है वह पश्चिम समुद्र से पूर्व ही होगी । श्रीपरासंहिता में कहा गया है—

तां दृष्ट्वा विबुधा भीताः केतुमालमतो मतम् ।' इति ।

वर्षं जनपदः ॥ २१६ ॥

नीलोत्पलदलश्यामा जनास्तत्र सुशोभनाः ।
पनसस्य रसं पीत्वा जीवन्त्ययुतमेव च ॥ २१७ ॥

दश सहस्राणि अयुतम् ॥

किं च—

जयन्तो वर्धमानश्च अशोको हरिपर्वतः ।
विशालः कम्बलः कृष्णस्तत्र सप्त कुलाद्रयः ॥ २१८ ॥

मेरोरग्रे तु—

माल्यवत् पूर्वभागेन समुद्रस्यापरेण तु ।
वर्षं भद्राश्वसंज्ञं च तत्रापि त्वयुतायुषः ॥ २१९ ॥
जनाश्चन्द्रप्रतीकाशाः कालाम्रफलभोजनाः ।

उक्तं च श्रीपरायाम्—

'उच्चैःश्रवास्तु भद्राश्वः क्षीरोदमथनोद्गतः ।

'देवताओं और राक्षसों के दारुण संग्राम उपस्थित होने पर वहाँ अकस्मात् जो ध्वजापताकाओं की माला उत्पन्न हो गयी उसको देख कर देवता लोग डर गये । इसलिये इस वर्ष का नाम 'केतुमाल' पड़ा ।'

वर्ष = देश ॥ २१६ ॥

वहाँ के लोग नीलकमलदल के समान सुन्दर हैं । पनस (= कटहल के फल) का रस पीकर वे अयुत वर्षों तक जीवित रहते हैं ॥ २१७ ॥

अयुत = दश हजार ॥

इस (केतुमाल वर्ष) में जयन्त, वर्धमान, अशोक, हरिपर्वत, विशाल, कम्बल और कृष्ण ये सात कुलपर्वत हैं ॥ २१८ ॥

सुमेरु के आगे—

पूर्व दिशा में और समुद्र के पश्चिम केतुमाल के समान भद्राश्व नामक देश है । वहाँ के लोग चन्द्रमा के समान (श्वेतवर्ण) कालाम्र फल (के रस) का आहार लेने वाले तथा अयुतायुष हैं ॥ २१९-२२०- ॥

श्री परासंहिता में कहा भी गया है—

'क्षीरसागर के मन्थन से उत्पन्न उच्चैश्रवा को ही भद्राश्व कहते हैं । चूँकि वह

तस्मिंश्चरति येनाश्वो भद्राश्वं तेन तत्स्मृतम् ॥' इति ॥

किं च—

कौरञ्जः श्वेतपर्णश्च नीलो मालाग्रकस्तथा ॥ २२० ॥
पद्मश्चैव समाख्यातास्तत्र पञ्च कुलाद्रयः ।

एते च केतुमालभद्राश्वे—

द्वात्रिंशत्तु सहस्राणि पूर्वपश्चायते स्मृते ॥ २२१ ॥
चतुस्त्रिंशत्सहस्राणि दक्षिणोदक्समायते ।

एवं च केतुमालभद्राश्वे प्राक् पश्चाद् द्वात्रिंशद् द्वात्रिंशत् सहस्राणि, गन्धमादनो माल्यवांश्चैकमेकं सहस्रम्, इलावृतमुभयपार्श्वगतमष्टादश, षोडश मेरुरित्येवं लक्षयोजनं जम्बुद्वीपं पूर्वापरतः । जठरादिसीमान्तपर्वतमानं जयन्तादिकुलपर्वतमानं च तत्रैवैकदेशी भूतत्वान्न पृथग्गणनीयम् ॥

एवं पूर्वपश्चिमयोर्वर्षस्थितिमुक्त्वोत्तरेऽपि तामाह—

वर्षे द्वे तु समाख्याते...........

उस देश में चरता है अर्थात् सञ्चरण करते हुए आहार लेता है इसलिये वह देश भद्राश्व कहा गया है' ॥

तथा—

इस (वर्ष) में पाँच कुलपर्वत हैं जिनके नाम हैं—कौरञ्ज, श्वेतपर्ण, नील, मालाग्रक और पद्म ॥ -२२०-२२१- ॥

केतुमाल और भद्राश्व ये दोनों—

पूर्व से पश्चिम बत्तीस हजार योजन चौड़े तथा उत्तर से दक्षिण चौंतिस हजार योजन लम्बे परिमाण वाले हैं ॥ -२२१-२२२- ॥

केतुमाल और भद्राश्व पूर्व से पश्चिम बत्तीस-बत्तीस हजार योजन, गन्धमादन और माल्यवान् एक-एक हजार, (सुमेरु के) दोनों पार्श्वों में इलावृत अट्ठारह और मेरु सोलह योजन, इस प्रकार जम्बूद्वीप पूर्व और पश्चिम में (३२ + ३२ + १ + १ + १८ + १६ =) एक लाख योजन विस्तृत है । जठर आदि सीमान्तवर्त्ती पर्वतों का परिमाण तथा जयन्त आदि कुलपर्वतों का मान उसी के एक देश हैं अतः उनकी गणना पृथक् नहीं करनी चाहिये ॥

(सुमेरु के) पूर्व और पश्चिम में वर्षों की स्थिति को बतला कर उत्तर में भी उस (= वर्षस्थिति) को कहते हैं—

दो वर्षों का वर्णन किया जा चुका ॥ -२२२- ॥

समाख्याते इत्युपसंहारोपक्रमयोः काकाक्षिवद्योजनीयम् । पूर्वपश्चाद्गते केतुमालभद्राश्वे समाख्याते ॥

मेरोरुत्तरे तु ये वक्ष्यमाणविभागे कुरुहिरण्मये वर्षे, तयोर्मध्यात्—

..............कुरुवर्षनिवासिनः ॥ २२२ ॥
कुरवो नाम लोकास्ते..........

यस्मात्—

.............कुरुवृक्षफलाशिनः ।

अतश्च—

त्रयोदशसहस्राणि जीवन्ति स्थिरयौवनाः॥ २२३ ॥
युग्मं युग्मं प्रसूयन्ते वियोगभयवर्जिताः ।

तुल्यकालं जायन्ते, तथैव म्रियन्ते इत्यर्थात् । अतश्च पतिमनुयातानां स्त्रीणामनुजन्म सम्भाव्यते ॥

किं चात्र—

श्यामापुष्पनिभाः स्निग्धाः सुरूपाः पुरुषाः स्त्रियः ॥ २२४ ॥

'समाख्याते (= कहे गये)' इस पद को काकाक्षिगोलकन्यायेन प्रारम्भ और अन्त में जोड़ना चाहिये । पूर्व और पश्चिम में केतुमाल और भद्राश्व कहे गये ॥

सुमेरु के उत्तर में जो दो वर्ष-कुरु और हिरण्मय है और जिनका विभाग आगे कहा जायेगा, उन दोनों में से—

कुरुवर्ष में रहने वाले लोग कुरु कहलाते हैं ॥ -२२२-२२३- ॥

चूँकि—

वे कुरु नामक वृक्ष के फलों का भोजन करते हैं ॥ -२२३- ॥

इसलिये—

स्थिर यौवन वाले वे लोग तेरह हजार वर्षों तक जीवित रहते हैं । युग्म-युग्म (= स्त्री पुरुष के जोड़े के रूप में) वे उत्पन्न होते हैं और (परस्पर) वियोग के भय से रहित होते हैं ॥ -२२३-२२४- ॥

अर्थात् वे एक साथ जन्म लेते हैं और उसी प्रकार (= एक साथ) मरते हैं । इसलिये पतिव्रता स्त्रियों का जन्म वहाँ सम्भावित होता है ॥

इसके अतिरिक्त यहाँ—

यहाँ के स्त्री और पुरुष श्यामा पुष्प (= नील के फूल) के समान

स्त्रियश्चेत्यर्थः ॥ २२४ ॥

तथा—

सर्वरत्नमयी भूमिर्हिमवालुकया चिता ।

एतच्च कुरुवर्षं पार्श्वमानात्—

नवयोजनसाहस्रं धन्वाकारं प्रकीर्तितम् ॥ २२५ ॥

धन्वाकारमित्यत्र सकारलोपश्छान्दसः । दैर्घ्यादेतच्छृङ्गवत्प्रमाणम् । अनुपातेन वलयाकृत्यवस्थितोत्तराब्धिसमीपगतत्वाद् धनुराकारतैवास्य भवति ॥

सूर्यकान्तेन्दुकान्तौ च द्वौ तत्र कुलपर्वतौ ।
कल्पवृक्षः कुरुर्नाम तत्रैव कुसुमोज्ज्वलः ॥ २२६ ॥
तस्य नाम्ना तु तज्ज्ञेयं कुरुवर्षं सुशोभनम् ।

श्रीमत्परायाम्—

'रम्यवत् कुरुवर्षाख्यमुपमन्युहरिण सः ।
कुर्वेवं तु पिब क्षीरं यत्रोक्तस्तेन तत्कुरु ॥'

(कान्ति वाले) स्निग्धा और सुन्दर रूप वाले होते हैं ॥ -२२४ ॥

अर्थात् स्त्रियाँ ॥ २२४ ॥

तथा—

हिम और बालू से बनी यहाँ की भूमि सर्वरत्नमयी है ॥ २२५- ॥

यह कुरुवर्ष पार्श्वमान से—

नव हजार योजन और धनुष के आकर वाला कहा गया है ॥-२२५ ॥

'धन्वाकार' इस पद में सकार का लोप छान्दस है (लौकिक संस्कृत के अनुसार यहाँ 'धनुषाकार' होना चाहिये) लम्बाई में यह शृङ्गवान् के परिमाण वाला है । अनुपात के अनुसार वलय (= कङ्गन) की आकृति के समान अवस्थित उत्तरसागर के समीप तक पहुँचने से यह धनुष् के आकार का हो गया है ॥

इस देश में सूर्यकान्त और चन्द्रकान्त नामक दो कुलपर्वत हैं । यहाँ कुरु नाम का कल्प वृक्ष है जो फूलों से चमकता रहता है । उस (= कल्प-वृक्ष) के नाम से इसको सुन्दर कुरुवर्ष जानना चाहिये ॥ २२६-२२७- ॥

श्री परासंहिता में—

'कुरुवर्ष सुन्दर है । यहाँ हर ने उपमन्यु से कहा कि कुरुवर्ष को रमणीय बनाओ और कुरुवृक्ष का दूध पीयो । इस कारण यह देश कुरु (= कुरुवर्ष नाम से प्रसिद्ध हुआ) ।'

इति निरुक्तम् ॥ २२६ ॥

अथ—

तस्य चोत्तरदिग्भागे प्रविश्य लवणोदधिम् ॥ २२७ ॥
पञ्चयोजनसाहस्रं चन्द्रद्वीपं प्रकीर्तितम् ।
तथा वायव्यदिग्भागे प्रविश्य लवणोदधिम् ॥ २२८ ॥
योजनानां सहस्राणि चत्वार्येव वरानने ।
दशयोजनसाहस्रं द्वीपं भद्रं प्रकीर्तितम् ॥ २२९ ॥
भद्राकारमिति ज्ञेयं सर्वकामफलप्रदम् ।

चत्वार्येवेत्येवकारात् पूर्वत्राप्यब्धिप्रवेश एतत्सम्बध्यत एव ॥ २२९ ॥

किं च—

अयुतायुषो जनास्तत्र दिव्यामृतफलाशिनः ॥ २३० ॥

इत्थमेव—

चन्द्राख्येऽप्ययुतं चायुर्जीवन्ति फलभोजिनः ।

एवं शृङ्गवदुत्तराभ्यन्तराले कुरुवर्षमुक्त्वा हिरण्मयं वर्षमाह—

ऐसी निरुक्ति की गयी ॥ २२६ ॥

इसके बाद—

उसके उत्तर दिग्भाग में क्षारसागर में प्रवेश कर पाँच हजार योजन वृस्तृत चन्द्रद्वीप बतलाया गया है । हे वरानने ! उसी प्रकार वायव्य कोण में लवणोदधि में प्रवेश कर हजार योजन के चार द्वीप स्थित हैं । दश हजार योजन भद्रद्वीप स्थित है । इसे भद्राकार और सर्वकाम फलप्रद जानना चाहिये ॥ -२२७-२३०- ॥

'चत्वारि एव' यहाँ एवकार से (यह समझना चाहिये कि) पूर्वत्र भी समुद्र का प्रवेश इससे सम्बद्ध ही है ॥ २२९ ॥

तथा—

यहाँ के लोग दश हजार वर्ष की आयु वाले और दिव्य अमृत फल का भोजन करने वाले होते हैं ॥ -२३० ॥

इसी प्रकार—

चन्द्र नामक द्वीप में भी लोग दश हजार वर्ष की आयु तक जीवित रहते तथा फल खाने वाले होते हैं ॥ २३१- ॥

इस प्रकार शृङ्गवत् और उत्तर के बीच में स्थित कुरुवर्ष का कथन कर

श्वेतशृङ्गवतोश्चैव मध्ये ज्ञेयं हिरण्मयम् ॥ २३१ ॥

हेममयत्वादिहैवमुक्तम् । परायां तु—

'यत्र गन्धर्वमुख्येन रमणा रमिता बलात् ।
रमणं तत्परं वर्षम्........................ ॥'

इति संज्ञान्तरेणोक्तम् । गन्धर्वमुख्येन चित्ररथेन, रमणाख्या अप्सरा: ॥२३१॥

लकुचस्य फलं प्राश्य जनास्तत्रेन्दुसन्निभाः ।
जीवन्त्यब्दसहस्राणि मानेनार्धत्रयोदश ॥ २३२ ॥

अथ—

नीलस्योत्तरदिग्भागे तथा श्वेतस्य दक्षिणे ।
रम्यकं नाम वर्षं तु............

एतदपि परायाम्—

'उर्वशी याप्सरा भद्रा दृष्ट्वा चन्द्रमसा किल ।
प्रोक्ता रम्येति तद्वाक्यात्तेनेदं रम्यनामकम् ॥'

हिरण्मय वर्ष को कहते हैं—

श्वेत और शृङ्गवत् के मध्य में हिरण्मय वर्ष को जानना चाहिये ॥ -२३१ ॥

(वर्ष के) हेममय होने से यहाँ ऐसा कहा गया । श्रीपरासंहिता में तो—

'जहाँ मुख्यगन्धर्व के द्वारा रमणा नामक अप्सरा बलपूर्वक रमित की गयी वह रमण नामक दूसरा वर्ष है ।'

इस कथन के द्वारा (हिरण्मय का) दूसरा नाम बतलाया गया । गन्धर्वों में मुख्य = चित्ररथ । (रमणा =) रमणा नामक अप्सरा ॥ २३१ ॥

वहाँ के लोग चन्द्रमा के समान कान्तिमान् है और लकुच (= बड़हर) का फल खाकर एक हजार वर्षों जीवित रहते हैं । इस रमण वर्ष का परिमाण साढ़े तेरह हजार योजन है ॥ २३२ ॥

इसके बाद—

नील पर्वत के उत्तर तथा श्वेत के दक्षिण में रम्यक नाम का वर्ष है ॥ २३३- ॥

परासंहिता में इसकी भी निरुक्ति इस प्रकार की गयी है—

'चन्द्रमा ने उर्वशी नाम वाली भद्र अप्सरा को देख कर जो कहा कि—यह रम्या है—तो इस वाक्य से इस वर्ष का नाम रम्य या (रम्यक) पड़ा' ॥

इति निरुक्तम् ॥

तत्र च—

.............न्यग्रोधफलभोजनाः ॥ २३३ ॥
नीलोत्पलदलश्यामा जरारोगविवर्जिताः ।

अतश्च—

द्वादशाब्दसहस्राणि तेषामायुः प्रकीर्तितम् ॥ २३४ ॥

एतच्च दैर्घ्यमानात् पूर्वमुक्तमपि, पार्श्वतः—

नवसाहस्रविस्तारं रम्यकं च हिरण्मयम् ।

रम्यकं च हिरण्मयं चेत्यर्थः ॥

मेरोरुत्तरे वर्षस्थितिमुक्त्वा दक्षिणे क्रमेणाह—

हेमकूटस्य सौम्येन दक्षिणे निषधस्य तु ॥ २३५ ॥
हरिवर्षं समाख्यातं रौप्याभास्तत्र जन्तवः ।
द्वादशैव सहस्राणि जीवन्तीक्षुरसाशिनः ॥ २३६ ॥
अतीव शोभनं तच्च नवसाहस्रविस्तृतम् ।

एतच्च—

वहाँ—

लोग न्यग्रोध (= बरगद) का फल खाते हैं । नीलकमल के दल के समान श्याम ये लोग जरा और रोग से रहित होते हैं ॥ -२३३-२३४- ॥

इसलिये—

इनकी आयु बारह हजार वर्ष की होती है ॥ -२३४ ॥

इसकी लम्बाई पहले कही गयी है । किन्तु चौड़ाई में—

रम्यक और हिरण्मय दोनों नव हजार योजन के विस्तार वाले बतलाये गये हैं ॥ २३५- ॥

सुमेरु के उत्तर में वर्षों (= जनपदों) की स्थिति बतला कर दक्षिण में क्रम से (वर्षस्थिति) बतलाते हैं—

हेमकूट के उत्तर और निषध के दक्षिण हरिवर्ष नामक देश है । वहाँ के जीव चाँदी के समान कान्ति वाले हैं । ईख के रस का पान कर ये लोग बारह हजार वर्षों तक जीवित रहते हैं । यह वर्ष अत्यन्त सुन्दर और नव हजार योजन विस्तृत है ॥ -२३५-२३७- ॥

'यत्र नागेन शेषेण हरिराराधितस्तथा'

इति श्रीपरायां निरुक्तम् ॥

अथ—

हेमकूटस्य याम्येन हिमवतस्त्वथ(चो)[1]त्तरे ॥ २३७ ॥
वर्षं किंपुरुषं नाम तत्र हेमनिभा जनाः।
नववर्षसहस्राणि जीवन्ति प्लक्षभोजनाः ॥ २३८ ॥
नवैव तु सहस्राणि विस्तारस्तत्र कीर्तितः ।

किंपुरुषम् । एतदपि—

'यत्र विद्याधरी रम्या विद्याधरकरच्युता ।
किं त्वया पुरुषस्त्यक्त इत्युक्ता......... ॥'

इति परायां निरुक्तम् ॥

अथ—

याम्ये हिमाचलेन्द्रस्य उत्तरे लवणोदधेः ॥ २३९ ॥
भारतं नाम वर्षं तु तत्र चाल्पं सुखं स्मृतम्।

यह श्रीपरासंहिता में—

'जहाँ पर शेषनाग ने हरि की आराधना की ।'

(इसलिये इस देश का नाम हरिवर्ष पड़ा)

इस प्रकार निरुक्त किया अर्थात् कहा गया है ॥

इसके बाद—

हेमकूट के दक्षिण तथा हिमालय के उत्तर में किंपुरुष नामक देश है । वहाँ के लोग सुवर्ण के समान कान्ति वाले हैं । प्लक्ष (= पाकड़) के फल का भोजन करने वाले वहाँ के लोग नव हजार वर्षों तक जीवित रहते हैं । इस वर्ष का विस्तार नव हजार योजन है ॥ -२३७-२३९- ॥

यह भी श्रीपरासंहिता में निरुक्त है—

'जहाँ पर विद्याधर के हाथ से विद्याधरी च्युत हो गयी तो किसी ने विद्याधरी से पूछा—'क्या तुमने पुरुष का त्याग कर दिया ?' (इसलिये इसका नाम किंपुरुष वर्ष पड़ा) ॥

इसके बाद—

---

१. थो ।

यतः—

जना रोगभयत्रस्ता दुःखिता मन्दसम्पदः ॥ २४० ॥
सुरूपा मन्दरूपाश्च सुभगा दुर्भगाः परे ।
भोगिनो मन्दभोगाश्च तथान्येऽत्यन्तदुःखिताः ॥ २४१ ॥
गौराः श्यामास्तथा कृष्णा बभ्रवः श्वेतपिङ्गलाः ।
वर्णजातिप्रभेदेन नानाकर्मानुरूपतः ॥ २४२ ॥
चतुर्वर्णा अन्त्यजाश्च जायन्ते भारताह्वये ।

वर्णो ब्राह्मणादिः । जातिः पुलस्त्यपुलहादिगोत्ररूपा । एतदपि वर्षम्—

'भरतेन भृतं दुःखं यत्र पुत्रैः कुमार्गगैः ।'

इति श्रीपरायां निरुक्तम् । एवमेतानि नव वर्षाणि श्रीपरायां निरुक्तानि, इह त्विलावृताद्याख्यस्वाम्यधिष्ठितत्वादिति वक्ष्यति ॥

अत्र च—

स्वदेशभाषायुक्तानि द्वीपद्वीपान्तराणि च ॥ २४३ ॥
पण्डिताश्च तथा मूर्खाः शिल्पविज्ञानिनस्तथा ।

हिमालय के दक्षिण और क्षारसागर के उत्तर भारत नाम वर्ष कहा गया है । वहाँ अल्पमात्रा में सुख है ॥ -२३९-२४०- ॥

क्योंकि—

यहाँ के लोग रोग भय से त्रस्त, दुःखी, मन्द (= अल्प) सम्पत्ति वाले सुरूप और मन्दरूप (= कुरूप) हैं । दूसरे लोग सुभग तो अन्य लोग दुर्भग हैं । कुछ लोग अत्यधिक भोग करते हैं। कुछ मन्द भोगी हैं । अन्य लोग अत्यन्त दुःखी हैं । वहाँ के लोग गोरे, साँवले, काले, भूरे, श्वेतपिङ्गल रङ्ग के हैं । वर्ण जाति के भेद से नाना कर्मों के अनुरूप वे लोग चार वर्ण वाले तथा अन्त्यज के रूप में भारत नामक देश में उत्पन्न होते हैं ॥ -२४०-२४३- ॥

वर्ण—ब्राह्मण आदि । जाति-पुलस्त्य पुलह आदि गोत्रवाले । यह वर्ष भी—

'जहाँ भरत ने लोगों का भरण किया तथा जहाँ कुमार्गगामी पुत्रों ने दुःख उत्पन्न किया ।'

श्री परासंहिता में निरुक्त है । इस प्रकार ये नव वर्ष श्रीपरासंहिता में कहे गये हैं । ये इलावृत आदि नाम वाले स्वामियों से अधिष्ठित हैं—यह आगे कहेंगे ॥

यहाँ—

द्वीप-द्वीपान्तर अपने-अपने देश की भाषा से युक्त कहे गये हैं । हे

योगिनो ज्ञानियश्चैव धर्मिष्ठाः पापिनोऽपरे ॥ २४४ ॥
याचकाश्चापि जायन्ते दातारश्चापरे जनाः ।
प्रेष्या दासाश्च बहवो मानवाः सततं प्रिये ॥ २४५ ॥

द्वीपेष्वन्तर्द्वीपानि द्वीपान्तराणि । प्रेष्या विनियोज्या अदासा अपि भवन्ति ॥२४५॥

तदित्थं दोषवत्यपि—

गुणस्त्वेकः स्थितस्तत्र शुभाशुभफलार्जनम् ।

द्वयमप्यत्र सम्भवति । सचेतसस्तु अशुभवर्जनेन शुभार्जनाय उद्यच्छन्ति । यदुक्तं श्रीमृगेन्द्रायाम्—

'गुण एको यदुद्युक्तो नेष्टं किञ्चिन्न साधयेत्' (१३।९२) इति ॥

किं च भारतवर्जमन्यवर्षेषु—

नाष्टासु विद्यते काचिद्युगत्रयमयी स्थितिः ॥ २४६ ॥

कृतयुगव्यतिरेकेण त्रेतादिमयी ॥ २४६ ॥

तस्मात्—

प्रिये ! यहाँ बहुत से मनुष्य पण्डित, मूर्ख, शिल्पविज्ञानी, योगी, ज्ञानी, धर्मात्मा, पापी, याचक, दाता, प्रेष्य एवं दास निरन्तर ही उत्पन्न होते रहते हैं ॥ -२४३-२४५ ॥

द्वीपों के भीतर स्थित द्वीप को द्वीपान्तर कहते हैं । प्रेष्य = विनियोज्य (= किसी काम में लगाये जाने वाले) अदास भी प्रेष्य होते हैं ॥ २४५ ॥

तो इस प्रकार दोषवान् भी (इस देश) में—

एक गुण हैं, (वह यह कि) यहाँ शुभ और अशुभ (दोनों प्रकार के कर्मों का शुभ-अशुभ) फल मिलता है ॥ २४६- ॥

दोनों ही यहाँ सम्भव है । जो समझदार हैं वे अशुभ को छोड़ कर शुभ (कर्म के फल) को प्राप्त करने के लिये उद्यम करते हैं । जैसा कि श्रीमृगेन्द्रतन्त्र में कहा गया है—

'(इस देश में) एक ही गुण है कि उद्यमी पुरुष किसी अनिष्ट की प्राप्ति नहीं करता ।' (मृ०तं० १३।९२)

और भी, भारतवर्ष को छोड़कर अन्य—

आठ वर्षों में कोई भी (= एक बार भी) युगत्रयमयी स्थिति नहीं होती है ॥ -२४६ ॥

सत्ययुग को छोड़कर अन्य त्रेता आदि वाली स्थिति (उनमे नहीं है) ॥ २४६ ॥

चतुर्युगवती ज्ञेया भारताख्ये वरानने ।

एवं च—

तत्रैव यत्कृतं कर्म शुभं वा यदि वाऽशुभम् ॥ २४७ ॥
वसन्ति तेन लोकाश्च शिवाद्यवीचिमध्यगाः ।

अत्रैव भोगमोक्षसिद्धिसाधनस्वयम्भूपुण्यतीर्थमहानदीसम्पदस्तीत्याह—

महाकालस्तथैकाम्रमेवमादि वरानने ॥ २४८ ॥
तीर्थानां कोटिरुद्दिष्टा महापुण्यफलोदया ।
गङ्गादीनां नदीनां च तत्र पञ्च शतानि च ॥ २४९ ॥

एवमादीत्यादिशब्दात् श्रीअमरेशादिपञ्चाष्टकानां वाराणस्यादिगतश्रीमहादेवाष्टषष्टेश्च परिग्रहः । तीर्थानामिति प्रभासादीनाम् । यदुक्तं श्रीदेवीयामले—

'प्रभासाद्या तु तीर्थानां कोटिरेका वरानने ।
पञ्चाष्टकं तु तत्रैव लोकानुग्राहकं सदा ॥' इति ॥ २४९ ॥

कुरुवर्षं च—

इसलिये—

हे वरानने ! भारत नामक (वर्ष) में चारो युगों वाली स्थिति जाननी चाहिये ॥ २४७- ॥

इस प्रकार—

इस (भारतवर्ष) में जो भी शुभ या अशुभ कर्म दिया जाता है उस (शुभाशुभ कर्म) के कारण लोग ऊर्ध्ववर्त्ती शिव लोक से लेकर अवीचि नामक नरक के बीच में निवास करते हैं ॥ -२४७-२४८- ॥

यहीं पर भोग एवं मोक्ष की सिद्धि की साधनभूत स्वयम्भू पुण्यतीर्थ और महानदीरूपी सम्पत्ति है—यह कहते हैं—

हे वरानने ! यहाँ (उज्जैन में) महाकाल तथा (काञ्चीवरम् में) एकाम्र इत्यादि एक करोड़ तीर्थ हैं जो महापुण्यफल देने वाले है । इसी प्रकार वहाँ गङ्गा आदि पाँच सौ नदियाँ हैं ॥ -२४८-२४९ ॥

'एवमादि' यहाँ 'आदि' पद से अमरेश आदि पाँच अष्टक (= चालिस) एवं वाराणसी आदि में स्थित श्री महादेव (= विश्वनाथ) आदि अंड़सठ का ग्रहण होता है । तीर्थों का = प्रभास आदि का । जैसा कि देवीयामल में कहा गया—

'हे वरानने ! (भारत वर्ष में) प्रभास आदि एक करोड़ तीर्थ हैं । उनमें से पञ्चाष्टक (अर्थात् चालिस तीर्थ) सर्वदा लोगों पर कृपा करने वाले हैं' ॥ २४९ ॥

और कुरुवर्ष—

नवयोजनसाहस्त्रं धन्वाकारं निबोध तम् ।

भारते च वर्षे—

नव भेदाः स्मृतास्तत्र सागरान्तरिताः प्रिये ॥ २५० ॥

हिमवद्दैर्घ्येण अवतारितैः सामुद्रैर्वारिभिः कृतव्यवधानाः । अत्र चाष्टमो वारिदेशो बिन्दुसरःसंज्ञः । यद्वक्ष्यति—

'बिन्दुसरःप्रभृत्येव कुमार्याह्वं ....।' (१०।२५४) इति ॥ २५० ॥

तदत्र योजनानाम्—

एकैकस्य तु द्वीपस्य सहस्त्रं परिकीर्तितम् ।

जलेन सह मानमेतदित्यर्थः ॥

यदाह—

शतानि पञ्च विज्ञेयं स्थलं पञ्च जलं तथा ॥ २५१ ॥

एतत् पार्श्वमानम् । दैर्घ्यं तु हिमवद्यथानुपातमर्धं पञ्चशतिकजलव्यवहितत्वात् ॥ २५१ ॥

नव हजार योजन विस्तृत और धनुष् के आकार का है । अब उसको जानो ॥ २५०- ॥

और भारतवर्ष में—

हे प्रिये ! समुद्रों से व्यवहित नव भाग कहे गये हैं ॥ -२५० ॥

हिमालय की लम्बाई के अनुसार अवतारित समुद्री जल के द्वारा व्यवधान वाले (नव भाग है) इनमें से आठवाँ भाग विन्दुसर नामक वारिदेश है । जैसा कि कहेंगे—

'विन्दुसर से ही कुमारी नामक (द्वीप कहा गया है)' ॥ २५० ॥ (१०।२५४)

यहाँ—

एक-एक द्वीप एक-एक हजार योजन (परिमाण वाले) कहे गये हैं ॥ २५१- ॥

(द्विपों का) यह मान जल के सहित है ॥

जैसा कि कहा गया—

पाँच सौ योजन स्थल और पाँच (सौ योजन) जल भाग जानना चाहिये ॥ -२५१ ॥

यह अगल-बगल का मान है और लम्बाई हिमालय के अनुपात के अनुसार है

एवं च—

परस्परमगम्यास्ते...........

ते इति द्वीपविशेषाः ॥

...........तेषां नामानि मे शृणु ।

इन्द्रद्वीपं कशेरुं च ताम्रवर्णं गभस्तिमत् ॥ २५२ ॥

नागद्वीपं च सौम्यं च गान्धर्वं वारुणं तथा ।

द्वीपं कुमारिकाख्यं च नवमं परिकीर्तितम् ॥ २५३ ॥

द्वीपाष्टकस्य सागराः सप्त व्यवधायका उक्ताः । नवमस्य त्ववधिनिरूपणेन व्यवधायकमाह—

बिन्दुसरःप्रभृत्येव कुमार्याह्वं प्रकीर्तितम् ।

पूर्वेभ्योऽस्यायं विशेषः यदयम्—

योजनानां सहस्त्रं तु...........

नेतरवत् पञ्चशतिकम् । केवलं साहस्त्रिकस्यास्य विभागो वारुणान्तस्थेन बिन्दुसरसा कृतः ॥

एतच्च—

क्योंकि पाँच सौ योजन जल का व्यवधान है ॥ २५१ ॥

इस प्रकार—

वे परस्पर अगम्य हैं ॥ २५२- ॥

वे = विशिष्ट द्वीप ॥

अब मुझसे उनके नामों को सुनो । इन्द्रद्वीप, कशेरु, ताम्रवर्ण, गभस्तिमत्, नागद्वीप, सौम्य, गान्धर्व, वारुण और नवाँ कुमारी द्वीप कहा गया है ॥ -२५२-२५३ ॥

सात समुद्र आठ द्वीपों के व्यवधायक हैं । नवें का व्यवधायक अवधि के निरूपण के द्वारा बतलाते हैं—

बिन्दुसर से आगे कुमारी नामक द्वीप कहा गया है ॥ २५४- ॥

पूर्ववर्णित द्वीपों से इस द्वीप की यह विशेषता है कि—

यह एक हजार योजन, विस्तार वाला है ॥ -२५४- ॥

न कि अन्य (= द्वीपों) की भाँति पाँच सौ योजन विस्तृत । केवल एक सहस्त्र योजन वाले इस द्वीप का विभाग समुद्र के अन्त में स्थित बिन्दुसर के द्वारा किया गया ॥

...........नानावर्णाश्रमान्वितम् ॥ २५४ ॥

वर्णा ब्राह्मणाद्याः ॥ २५४ ॥

किं च—

ये पूर्वोक्ता गुणा लोके भारते वरवर्णिनि ।
ते तत्रैव स्थिता लोके कुमारीसंज्ञके प्रिये ॥ २५५ ॥

गुणाः शुभार्जनस्वयम्भूतीर्थपुण्यनद्यधिष्ठानादिरूपाः कुमारीद्वीप एव । यदुक्तं श्रीश्रीकण्ठ्याम्—

'तत्र मध्ये महद्द्वीपं कुमारीद्वीपसंज्ञकम् ।
तत्र रुद्रशतं पूर्णमवतीर्णं शुभङ्करम् ।
पशूनां हेतुभूतं च स्मरणात् पापनाशनम् ॥'

इति । इन्द्रद्वीपादिस्तु म्लेच्छादिप्रायाणां निवासो देवतातीर्थाद्यनधिष्ठितश्च । तदुक्तमन्यत्र—

'वर्णाश्रमसमाचारः कुमार्याख्ये न संशयः ।
इतरे म्लेच्छसंज्ञेयाः शिष्टाचारबहिष्कृताः ॥' इति ॥ २५५ ॥

अन्यच्च—

और यह (द्वीप)—

नाना वर्णों और नाना आश्रमों से युक्त है ॥ -२५४ ॥

वर्ण = ब्राह्मण आदि ॥ २५४ ॥

इसके अतिरिक्त—

हे वरवर्णिनि ! भारतवर्ष में जो गुण पहले कहे गये हे प्रिये! कुमारी नामक द्वीप में भी वे (गुण) स्थित हैं ॥ २५५ ॥

गुण = शुभार्जन, स्वयम्भूतीर्थ, पुण्य नदी का अधिष्ठान आदि गुण कुमारी द्वीप में हैं । जैसा कि श्रीकण्ठी संहिता में कहा गया—

'उस (= समुद्र) के बीच में कुमारी संज्ञक महा द्वीप है । उसमें शुभङ्कर एक सौ रुद्र पूर्णरूप में अवतीर्ण हैं । वे पशुओं (की मुक्ति) के कारण हैं । उनके स्मरण से ही पाप नष्ट हो जाते हैं ।'

इन्द्रद्वीप आदि म्लेच्छ आदि जैसे लोगों का निवास स्थान है । उसमें देवता, तीर्थ आदि नहीं है । वही अन्यत्र कहा गया—

'कुमारी नामक द्वीप में वर्ण-आश्रम के आचारों का पालन होता है । इसमें सन्देह नहीं है । अन्य द्वीपों को म्लेच्छ द्वीप जानना चाहिये । वे शिष्टाचार से रहित हैं' ॥ २५५ ॥

भूधराः सप्त विज्ञेयास्तत्रैव तु सुशोभनाः ।
महेन्द्रो मलयः सह्यः शक्तिमानृक्षपर्वतः ॥ २५६ ॥
विन्ध्यश्च पारियात्रश्च भान्त्येते कुलपर्वताः ।

सुशोभना सिद्धिसाधनानुगुणाः । केतुमालस्थात् पारियात्रादयमन्यः । एवमन्यत्र॥

अथ—

दक्षसागरमध्यस्थान्युपद्वीपानि षट् प्रिये ॥ २५७ ॥

तान्याह—

अङ्गद्वीपं यवाख्यं च मलयं शङ्खसंज्ञकम् ।
कुमुदं च वराहं च इत्येवं परिकीर्तितम् ॥ २५८ ॥

एषां मध्यात्—

कथितो मलयद्वीपे मलयो नाम पर्वतः ।
तस्य पादे त्रिकूटो वै लङ्का तस्योपरि स्थिता ॥ २५९ ॥

पादे पर्यन्ते ॥ २५९ ॥

सा च—

और भी—

वहाँ सात सुन्दर पर्वत हैं । १. महेन्द्र, २. मलय, ३. सह्य, ४. शक्तिमान्, ५. ऋक्ष पर्वत, ६. विन्ध्य और ७. पारियात्र—ये कुल-पर्वत वहाँ शोभायमान है ॥ २५६-२५७- ॥

सुशोभन = सिद्धिप्रदान करने वाले । केतुमाल में स्थित पारियात्र से यह (= यहाँ का पारियात्र) भिन्न हैं । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ॥

इसके बाद—

हे प्रिये ! दक्षिणसागर के मध्य में छह उपद्वीप स्थित हैं ॥ -२५७ ॥

उनको बतलाते हैं—

१. अङ्गद्वीप, २. यवद्वीप, ३. मलयद्वीप, ४. शङ्ख, ५. कुमुद, ६. वराह—ये उनके नाम हैं ॥ २५८ ॥

इनमें से—

मलयद्वीप में मलय नामक पर्वत हैं । उसके पाद में त्रिकूट पर्वत है । उस (त्रिकूटपर्वत) के ऊपर लङ्का नगरी स्थित है ॥ २५९ ॥

पाद में = अन्त में ॥ २५९ ॥

चामीकरमयी शुभ्रा चत्वरोद्यानमण्डिता ।

चत्वरैः शिवाधिष्ठितैश्चतुष्पथैर्मुक्तिदैः, उद्यानैश्च भोगस्थानैर्भूषिताः ॥

तथा—

चित्रप्राकाररचिता वज्रवैदूर्यमण्डिता ॥ २६० ॥
अनन्तविभवास्तत्र राक्षसा देवकन्यकाः ।
रमन्ते कन्यकासक्ता महाबलपराक्रमाः ॥ २६१ ॥

पराक्रम उत्साहः ॥ २६१ ॥

अन्यच्च—

अगस्त्यशिखरं तत्र मलये भूधरोत्तमे ।
तत्राश्रमो महापुण्य आगस्त्यः स्फटिकप्रभः ॥ २६२ ॥
तत्रान्योन्यविरुद्धास्तु सत्त्वाः क्रीडन्त्यशङ्किताः ।
न तत्र जायते मारी नाकालः सम्प्रवर्तते ॥ २६३ ॥
न जरा न च शोकश्च नोपसर्गभयं क्वचित् ।

मारी बहुमरणम् । अकालो वर्षातपवैपरीत्यम् । उपसर्गा व्याधयः ॥

और वह—

सोने की बनी सुन्दर चौराहों और उद्यानों से अलङ्कृत है ॥ २६०- ॥

चत्वर = शिव के द्वारा अधिष्ठित मुक्तिदायी चौराहे । उद्यानों = भोग स्थानों से अलङ्कृत है ॥

और—

विचित्र प्राकार से युक्त बनायी गयी यह वज्र (= हीरा) और वैदूर्य से मण्डित है । वहाँ अनन्त धनसम्पत्ति है । वहाँ राक्षस और देवकन्यायें रहती हैं । महाबल और पराक्रम से युक्त राक्षस लोग कन्याओं में आसक्त होकर उनके साथ रमण करते रहते हैं ॥ -२६०-२६१ ॥

पराक्रम = उत्साह ॥ २६१ ॥

और भी—

उस उत्तम पर्वत पर अगस्त्य नामक एक शिखर है । उस पर स्फटिक के समान स्वच्छ देदीप्यमान महापवित्र आश्रम है । (महर्षि अगस्त्य के) उस (आश्रम) में परस्पर वैर रखने वाले जन्तु भी (एक दूंसरे के प्रति) निःशङ्क होकर क्रीडा करते रहते हैं । वहाँ न अधिक मृत्यु होती है न अकाल और न दुःख । कहीं भी व्याधि का भय नहीं है ॥ २६२-२६४- ॥

किं च—

न वदत्यनृतं कश्चिद्रागद्वेषो न कुत्रचित् ॥ २६४ ॥
अगस्त्यस्य प्रभावेण त्वज्ञानं दूरतो गतम् ।
तत्र वै ऋषयो वीरा ज्ञानयोगकृतश्रमाः ॥ २६५ ॥
जपाध्ययनहोमादिपूजास्तुतिपरायणाः ।
त्र्यम्बकस्य महादेवि नित्यमाराधने रताः ॥ २६६ ॥
अगस्त्यसहिताः सर्वे मोक्षाभ्युदयवादिनः ।
तिष्ठन्ति भावितात्मानः शापानुग्रहकारिणः ॥ २६७ ॥

मोक्षमेवाभ्युदयं वदन्ति तच्छीलाः । भावितः शिवत्वं प्रापित आत्मा यैः ॥ २६७ ॥

उपसंहरति—

लक्षयोजनविस्तीर्णं जम्बुद्वीपं समन्ततः ।

पूर्वपश्चिमतः प्राग्दर्शितं दक्षिणोत्तरतस्तूच्यते । कुरुहिरण्मयरम्यकहरिकिंपुरुष-

---

मारी = बहुत मरण (= ऐसी बीमारी जिसमें बहुत लोग मरते हैं) । अकाल = वर्षा और धूप की विपरीतता । उपसर्ग = व्याधियाँ (= शारीरिक कष्ट) ॥

और भी—

वहाँ कोई भी झूठ नहीं बोलता । कहीं भी राग द्वेष नहीं है । अगस्त्य ऋषि के प्रभाव से अज्ञान दूर चला गया है । वहाँ के ऋषि वीराचारी, ज्ञान और योग के विषय में श्रम करने वाले, जप अध्ययन, होम आदि, पूजा स्तुति में निरत रहते हैं । हे महादेवि ! (यहाँ के लोग) सर्वदा त्र्यम्बक की आराधना में लगे रहते हैं । अगस्त्य समेत सभी ऋषि मोक्ष को ही अभ्युदय मानने वाले अथवा मोक्ष और अभ्युदय की चर्चा करने वाले हैं । शाप से युक्त व्यक्ति के ऊपर कृपा करने वाले ये लोग भावितात्मा होकर रहते हैं ॥ -२६४-२६७ ॥

(मोक्षाभ्युदयवादी पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं—) मोक्ष को ही अभ्युदय कहने के स्वभाव वाले । (भावितात्मा का अर्थ है—) भावित = शिवत्व को प्रापित है अपनी आत्मा जिनके द्वारा वे ॥ २६७ ॥

(जम्बूद्वीप की चर्चा का) उपसंहार करते हैं—

(इस प्रकार) जम्बूद्वीप चारो तरफ से एक लाख योजन विस्तीर्ण है ॥ २६८- ॥

(इस द्वीप का) पूर्व से पश्चिम तक विस्तार पहले बतलाया जा चुका है । अब

भारतवर्षाणि षट् प्रत्येकं नवसहस्राणि, इति चतुष्पञ्चाशत् । प्रत्येकं द्विसाहस्रिकाः शृङ्गवच्छ्वेतनीलहेमकूटनिषधहिमवन्तः, इति द्वादश । मेरोः सव्यापसव्यगतमिलावृतमष्टादश । मेरोः षोडश सहस्राणि, इत्येवं लक्षयोजनं जम्बुद्वीपं भवति ॥

अस्य च—

लक्ष्योजनविस्तीर्णं लवणाम्भः स्थितं बहिः॥ २६८ ॥

लवणाम्भः क्षारसमुद्रः ॥ २६८ ॥

तच्च—

त्रिगुणं परिणाहेन स्थितं वै मण्डलाकृति ।

उक्तं च श्रीमलये—

'सर्वत्र त्रिगुणो नाहः........................ ।' इति ॥

किं च—

वृत्रारिभयसंत्रस्ताः प्रविष्टास्तत्र पर्वताः ॥ २६९ ॥
द्वादशैव महावीर्यास्तान् ब्रवीमि समासतः ।

दक्षिण से उत्तर तक का विस्तार बतलाते हैं—कुरु, हिरण्मय, रम्यक, हरिपर्वत, किम्पुरुष और भारतवर्ष ये छः देश प्रत्येक नव हजार योजन चौड़ाई वाले हैं । इस प्रकार कुल विस्तार (९ × ६ =) चौवन हजार योजन हुआ । शृङ्गवान्, श्वेत, नील, हेमकूट, निषध और हिमालय- ये छः पर्वत प्रत्येक दो हजार योजन आयाम वाले हैं । इस प्रकार (६ × २ =) बारह हजार योजन हुआ । सुमेरु के दायें बायें फैला इलावृत अट्ठारह हजार योजन और स्वयं मेरु का अपना विस्तार सोलह हजार योजन, इस प्रकार जम्बूद्वीप (५४ + १२ + १८ + १६ =) एक लाख योजन विस्तार वाला है ॥

इसके—

बाहर एक लाख योजन विस्तीर्ण क्षारसागर है ॥ -२६८ ॥

लवणाम्भः = नमक का समुद्र ॥ २६८ ॥

और वह (= क्षारसमुद्र)—

मण्डल की आकृति वाला तीन गुने परिणाह (= विस्तार) से स्थित है ॥ २६९- ॥

श्रीमलय नामक ग्रन्थ में कहा भी गया है—

'सर्वत्र तीन गुना नाह (= विस्तार) है.......... ॥'

इसके अतिरिक्त—

वृत्रारिरिन्द्रः ॥

तानाह—

वृषभो दुन्दुभिर्धूम्रः प्रविष्टाः पूर्वभागतः ॥ २७० ॥
चन्द्रः कङ्कस्तथा द्रोणः प्रविष्टा उत्तरेण तु ।
अशोकोऽथ वराहश्च नन्दनश्च तृतीयकः ॥ २७१ ॥
अपरेण नगास्तत्र प्रविष्टा लवणोदधिम् ।
चक्रो मैनाकसंज्ञश्च तृतीयस्तु बलाहकः ॥ २७२ ॥
दक्षिणेन वरारोहे प्रविष्टाश्चैव भूधराः ।

अत्र च—

चक्रमैनाकयोर्मध्ये तिष्ठेद्वै वडवामुखः ॥ २७३ ॥

तदेवमब्धिपरिवृतम्—

जम्बुद्वीपं समाख्यातं.........

अथैषां वर्षाणामिलावृतादिनामकस्वाम्यधिष्ठानादेव ताः संज्ञा इति देवतासंज्ञानामुत्पत्तिहेतुरूपं प्रभवं दर्शयितुमुपक्रमते—

.............प्रभवस्त्वधुनोच्यते ।

वृत्रासुर के शत्रु (= इन्द्र) के भय से सन्त्रस्त महाबली बारह पर्वत इस (क्षारसमुद्र) में प्रविष्ट हो गये । उनको अब आपको संक्षेप में बतला रहा हूँ ॥ -२६९-२७०- ॥

उन (पर्वतों) को बतलाते हैं—

वृषभ, दुन्दुभि और धूम्र पूर्व भाग से प्रवेश किये । चन्द्र, कङ्क तथा द्रोण उत्तर से प्रविष्ट हुए । पश्चिम से अशोक वराह और नन्दन ने प्रवेश किया । हे वरारोहे ! चक्र मैनाक और बलाहक नामक पर्वत दक्षिण दिशा से प्रवेश किये ॥ -२७०-२७३- ॥

और यहाँ—

चक्र और मैनाक के बीच वाडवाग्नि रहता है ॥ -२७३ ॥

इस प्रकार समुद्र से घिरा हुआ—

जम्बूद्वीप बतलाया गया ॥ २७४- ॥

अब इन वर्षों के इलावृत आदि नामवाले स्वामी के अधिष्ठान के कारण (उनकी) वे संज्ञायें हैं । इसलिये देवतासंज्ञाओं की उत्पत्ति के कारणस्वरूप प्रभव (= जन्म स्थान) को बतलाते हैं—

तत्राद्यो भूपतिः—

स्वायम्भुवो मनुर्नाम............

अभूत् ॥

...............तस्य पुत्रः प्रियव्रतः ॥ २७४ ॥
तस्याथ दश पुत्रा वै जाता वीर्यबलोत्कटाः ।
अग्नीध्रश्चाग्निबाहुश्च मेधा मेधातिथिर्वपुः ॥ २७५ ॥
ज्योतिष्मान् द्युतिमान् हव्यः सवनः सत्र एव च।

एषां मध्यात्—

मेधाः सत्रोऽग्निबाहुश्च एते प्रव्रजितास्त्रयः ॥ २७६ ॥
सप्तद्वीपेषु ये शेषा अभिषिक्ता महाबलाः।

तत्र—

जम्बुद्वीपे तथाग्नीध्रः............

तथेत्यभिषिक्तः ॥

............तस्य पुत्रा नव स्मृताः ॥ २७७ ॥
नाभिः किंपुरुषश्चैव हरिश्चैव इलावृतः ।

अब प्रभव को बतलाया जा रहा है ॥ -२७४- ॥

(महा प्रलय के बाद) प्रथम राजा—

स्वायम्भुव (= स्वयम्भू अर्थात् ब्रह्मा के पुत्र) मनु हुए ॥ -२७४- ॥

'हुए' यह शेष है ॥

उनके पुत्र प्रियव्रत हुए । उनके अत्यन्त बलशाली दश पुत्र पैदा हुए जिनके नाम अग्नीध्र, अग्निबाहु, मेधा, मेधातिथि, वपुष्मान्, ज्योतिष्मान्, द्युतिमान्, हव्या, सवन और सत्र थे ॥ -२७४-२७६- ॥

इनमें से—

मेधा, सत्र तथा अग्निबाहु इन तीन ने संन्यास ले लिया । शेष जो सात बचे थे वे महाबली सात द्वीपों (के राजा के रूप) में अभिषिक्त हुए ॥ -२७६-२७७- ॥

उनमें से—

जम्बूद्वीप में अग्नीध्र ॥ -२७७- ॥

अभिषिक्त हुए ॥

भद्राश्वः केतुमालश्च रम्यकश्च हिरण्मयः ॥ २७८ ॥
नवमस्तु कुरुर्नाम............

एते—

............नववर्षाधिपाः स्मृताः ।
अग्नीध्रतस्तु जाता वै शूराश्चातिबलोत्कटाः ॥ २७९ ॥
तेषां नामाङ्कितानीह नववर्षाणि पार्वति ।

तत्र भारतं वर्षं प्रथमं नाभिनामाङ्कितमभूत् ॥

पश्चात् तु—

नाभेः पुत्रो महावीर्यो वृषभो धर्मतत्परः ॥ २८० ॥
तस्यापि हि सुतो ज्ञेयो भरतस्तु प्रतापवान् ।
तन्नाम्नैव तु विज्ञेयं भारतं वर्षमुत्तमम् ॥ २८१ ॥

अथ—

तस्याप्यष्टौ पुनः पुत्रा जाता कन्यापरा प्रिये ।

तेषां मध्यात्—

भारते त्वष्टद्वीपेऽत्र अष्टौ पुत्रा निवेशिताः॥ २८२ ॥

उस अग्नीध्र को नव पुत्र हुए । उनके नाम थे—नाभि, किंपुरुष, हरि, इलावृत, भद्राश्व, केतुमाल, रम्यक, हिरण्मय और कुरु ॥ -२७७-२७९-॥

ये (जम्बूद्वीप के)—

नव वर्षों के अधिपति कहे गये हैं । अग्नीध्र से अत्यन्त बलवान्, शूरवीर नव पुत्र उत्पन्न हुए । हे पार्वति ! उनके नाम से नव वर्ष अङ्कित हुए ॥ -२७९-२८०- ॥

उनमें से भारत वर्ष नाभि के नाम से अङ्कित हुआ था ॥

बाद में—

नाभि के पुत्र वृषभ उत्पन्न हुए जो महाबली और धर्मतत्पर थे । उनके पुत्र प्रतापी भरत उत्पन्न हुए जिसके नाम से उत्तम भारत वर्ष को जाना जाता है ॥ -२८०-२८१ ॥

इसके बाद—

हे प्रिये ! भरत को आठ पुत्र और एक कन्या हुई ॥ २८२- ॥

उनमें से—

नवमस्तु कुमार्याह्वः कुमार्याः प्रतिपादितः ।

कन्याप्रतिपादनादेव कुमार्याह्वः ॥

ततश्च—

तेषां नाम्ना तु ते द्वीपा भरतेन प्रकीर्तिताः ॥ २८३ ॥

ये पूर्वम्—

'इन्द्रश्चैव कशेरुश्च' (१०।२५२)

इत्युक्ताः ॥ २८३ ॥

तदेवं सप्तदशधाविभक्तजम्बुद्वीपानुवादपूर्वं द्वीपान्तराण्याह—

जम्बुद्वीपं च शाकं च कुशं क्रौंचं च शाल्मलिम् ।
गोमेदं पुष्करं चैव सप्त द्वीपानि पार्वति ॥ २८४ ॥

यैः समुद्रैर्वलयितानि द्वीपानि, तान्—

अधुना सम्प्रवक्ष्यामि समुद्रांस्तव सुव्रते ।

भारत के आठ द्वीपों में आठ पुत्रों को अधिकृत किया गया । नवाँ द्वीप जो कुमारी द्वीप है वह कुमारी (के नाम से कुमारी द्वीप) द्वीप कहा गया ॥ -२८२-२८३- ॥

कन्या का प्रतिपादक होने से कुमारी नाम है ॥

इसके पश्चात्—

भरत ने उनके नाम से उन द्वीपों को नामाङ्कित किया ॥ -२८३ ॥

(ये वे द्वीप हैं) जिनको पहले—

'इन्द्र और कशेरु' (१०।२५२)

(श्लोक में) कहा गया ॥ २८३ ॥

इस प्रकार सत्रह भागों में विभक्त[१] जम्बूद्वीप का अनुवाद कर अन्य द्वीपों को बतलाते हैं—

हे पार्वति ! जम्बूद्वीप, शाक, कुश, क्रौंच, शाल्मली, गोमेद और पुष्कर ये सात द्वीप हैं ॥ २८४ ॥

जिन समुद्रों ने इन द्वीपों को घेर रखा है—

---

१. नववर्ष और उनको पृथक् करने वाले आठ पर्वत । इस प्रकार जम्बुद्वीप सत्रह भागों में विभक्त है ।

क्षारः क्षीरं दधि घृतं तथा इक्षुरसोऽपि च ॥ २८५ ॥
मदिरोदश्च स्वादूदः समुद्राः सप्त कीर्तिताः ।

प्रोक्तद्वीपानुसारमेते यथोक्तक्रमेणैव स्थिताः, सर्वेषु पारमेशेष्वेवमेवोक्तत्वात् । तेनेक्षुरससुराघृतदधिक्षीरस्वादूदका इति पातञ्जले यः क्रमो दृश्यते, स लेखकदोषाद्विपर्यस्त इति मन्तव्यम् ॥

अथोक्तजम्बुद्वीपप्रमाणानुवादेनैषां द्वीपसमुद्राणां प्रमाणमाह—

जम्बुद्वीपं स्मृतं लक्षं योजनानां प्रमाणतः ॥ २८६ ॥
परिमण्डलतो ज्ञेयः क्षारोदस्तत्समो बहिः ।

परिमण्डलत इति वैपुल्यात् ॥

एवं द्विगुणवृद्ध्यात्र समुद्रा द्वीपसंस्थिताः ॥ २८७ ॥

संस्थिता इति संशब्दः सहार्थे । तेन शाकादिभिः द्वीपैः सह क्षीरादिसमुद्राः क्रमाद् द्विगुणवृद्ध्या स्थिताः । तद्यथा शाकद्वीपं द्वे लक्षे, तथा क्षीराब्धिः । कुशद्वीपं लक्षाणि चत्वारि, तथैव दध्यब्धिः क्रौञ्चमष्टौ, तथैव च घृताब्धिः ।

हे सुव्रते ! अब तुमको उन द्वीपों को बतलाऊँगा । क्षारसागर, क्षीरसागर, दधि, घृत, इक्षु रस, मदिरोद और स्वादुद ये सात समुद्र कहे गये हैं ॥ -२८५-२८६- ॥

उपर्युक्त द्वीप के अनुसार ये उन्हीं के क्रम से स्थित हैं । क्योंकि सभी पारमेश्वर शास्त्रों में ऐसा ही कहा गया है । इस कारण पातञ्जल (योगसूत्र ३।२६) में जो इक्षुरस सुरा घृत दधि क्षीर स्वादूदक यह क्रम दीख पड़ता है वह लेखक के दोष से उलट-पलट हो गया है—ऐसा समझना चाहिये ॥

अब उक्त जम्बूद्वीप के प्रमाण को पुनः बतलाते हुए द्वीपसमुद्रों का प्रमाण बतलाते हैं—

जम्बूद्वीप एक लाख योजन परिमाण वाला कहा गया । उसके बाहर (अर्थात् उसके चारो ओर) परिमण्डलता की दृष्टि से क्षारोद भी उतना ही जानना चाहिये ॥ -२८६-२८७- ॥

परिमण्डलता से = चौड़ाई की दृष्टि से ॥

इस प्रकार दो गुनी वृद्धि से (अन्य) समुद्र द्वीपों के साथ स्थित हैं ॥ -२८७ ॥

'संस्थिताः' में 'सम्' (उपसर्ग का प्रयोग) 'सह' अर्थ में है । इससे-शाक आदि द्वीपों के साथ क्षीर आदि समुद्र क्रमशः दो गुनी वृद्धि से स्थित हैं । जैसे कि-शाकद्वीप दो लाखयोजन (विस्तृत है), उतना ही क्षीराब्धि भी है । कुशद्वीप चार

शाल्मलिः षोडश, तद्वदिक्षुरसाब्धिः । गोमेदो द्वात्रिंशत्, तद्वद् मदिराब्धिः । पुष्करश्चतुष्शष्टिः, तथैव स्वादूदः । एतच्च द्वीपसमानत्वमब्धीनामुपसंहरिष्यति—

'पुष्करद्वीपगुणितः स्वादूदोऽन्ते व्यवस्थितः' (१०।३२७)

इति । इत्थं च मेर्वर्धात् स्वादूदान्तं कोटिद्वयं त्रिपञ्चाशल्लक्षाणि पञ्चाशच्च सहस्राणि भवन्ति । यद्वक्ष्यति—

'पञ्चाशच्च सहस्राणि त्रिपञ्चाशत्तथैव च ।
योजनानां तु लक्षाणि कोटिद्वितयमेव च ॥
मेर्वर्धाद्यावत् स्वादूदं प्रमाणं परिकीर्तितम् ।' (१०।३२८-३२९)

इति ॥ २८७ ॥

तथा च—

अग्नीध्रश्च समाख्यातो जम्बुद्वीपे वरानने ।

तथा—

शाके मेधातिथिर्नाम वपुष्मान् कुशसंज्ञके ॥ २८८ ॥
राजा क्रौञ्चेऽथ ज्योतिष्मान् शाल्मलौ द्युतिमान् स्मृतः ।
गोमेदे हव्यनामा तु सवनः पुष्करे तथा ॥ २८९ ॥

लाख योजन (विस्तृत) उतना ही विस्तृत दधिसागर । क्रौंचद्वीप आठ लाख योजन उतना ही घृताब्धि । शाल्मलि सोलह लाख उतना ही इक्षुरस सागर । गोमेद बत्तीस लाख (योजन) उतना ही मदिराब्धि । पुष्कर चौसठ लाख उतना ही स्वादूद । समुद्रों की इस द्वीपसमानता का उपसंहार करेगे—

'अन्त में पुष्कर द्वीप का दो गुना स्वादूद स्थित है ।' (१०।३२७)

इस प्रकार सुमेरु के आधे से स्वादूदक उदधिपर्यन्त दो करोड़ तिरपन लाख पचास हजार योजन होते हैं । जैसा कि कहेंगे—

'दो करोड़ तिरपन लाख पचास हजार योजन मेरु के अर्धभाग से स्वादूद पर्यन्त जम्बू द्वीप का विस्तार कहा गया' ॥ २८७ ॥ (१०।३२८-३२९)

तथा—

हे वरानने ! जम्बूद्वीप में अग्नीध्र राजा कहे गये ॥ २८८- ॥

उसी प्रकार—

शाकद्वीप में मेधातिथि, कुश में वपुष्मान्, क्रौंच में ज्योतिष्मान्, शाल्मलि में द्युतिमान् राजा कहे गये । गोमेद मे हव्य और पुष्कर में सवन राजा थे ॥ -२८८-२८९ ॥

किं च—

त्रेतायुगसमः कालः शाकगोमेदवासिनाम् ।
तथा वर्णाश्रमाचारा ज्ञेयास्तत्र निवासिनाम् ॥ २९० ॥

तथेति त्रेतायुगानुगुणाः । अन्यत्र विशेषानभिधानाच्चतुर्युगसमत्वं सम्भाव्यते ॥ २९० ॥

शाकादिद्वीपविभागान्तरमाह—

मेधातिथेः सप्त पुत्राः शाकद्वीपेऽभिषेचिताः ।
शान्तोऽभयस्त्वशिशिरः सुखदो नन्दकः शिवः ॥ २९१ ॥
क्षेमकश्च ध्रुवश्चेति वर्षनाम्ना तु तेऽङ्किताः ।

प्रसिद्धवर्षनामानुसारीणि तेषां नामानीत्यर्थः ॥

वर्षाणि सप्त ख्यातानि..........

तत्प्रविभागहेतून्—

..............पर्वतांश्च निबोध मे ॥ २९२ ॥
गोमेदश्चन्द्रसंज्ञश्च नारदो दुन्दुभिस्तथा ।
सोमक ऋषभश्चैव वैभ्राजश्च कुलाद्रयः ॥ २९३ ॥

और भी—

शाकद्वीप और गोमेद में रहने वालों का जीवनकाल त्रेतायुगीन पुरुषों के काल के बराबर होता है । उनमें रहने वालों का वर्ण आश्रम और आचार भी वैसे ही जानने चाहिये ॥ २९० ॥

तथा का अर्थ है—त्रेतायुग के अनुसार । अन्यत्र विशेष कथन न होने के कारण चारों युग में समानता की सम्भावना है ॥ २९० ॥

शाक आदि द्वीपों का विभागान्तर बतलाते हैं—

मेधातिथि के सात पुत्र शाकद्वीप में राजा बनाये गये । वे थे—शान्त, अभय, अशिशिर, सुखद, शिव, नन्दक, क्षेमक और ध्रुव । उनके नाम वर्ष के नामों के अनुसार रखे गये ॥ २९१-२९२- ॥

उनके नाम प्रसिद्ध वर्षों के नाम के अनुसार हैं—यह अर्थ है ॥

(इस प्रकार) सात वर्ष कहे गये ॥ -२९२- ॥

उनके विभाग के कारणभूत पर्वतों को अब आप मुझसे जानो । १. गोमेद, २. चन्द्र, ३. नारद, ४. दुन्दुभि, ५. सोमक, ६. ऋषभ और ७. वैभ्राज—ये सात कुलाद्रि हैं ॥ -२९२-२९३ ॥

एते च शाकद्वीपस्य पार्श्वमानविभागेन स्थिताः सप्तधात्वं कुर्वन्ति । एवमन्यत्र ॥ २९३ ॥

किं च—

सुकृता चानसूया च सुमुखी च तृतीयका ।
विपाशा त्रिदिवा कुम्भी तथा चामृतनालिका ॥ २९४ ॥
एता एव महानद्यो गिरिष्वेतेषु निर्गताः ।

संस्थिताः सत्य एभ्यो निर्गता इत्यर्थः ॥

एताश्च—

पूर्वादारभ्य निष्क्रान्ताः प्रविष्टाः क्षीरसागरम् ॥ २९५ ॥

अत्र च—

शाकद्वीपे तु ये लोकाः क्षीराहाराः फलाशिनः ।

अतश्च—

चन्द्रकान्तसमाः सर्वे सुरूपाः प्रियदर्शनाः ॥ २९६ ॥
क्रीडन्ति दिव्यनारीभिः सर्वैश्वर्यसमन्विताः ।

तदेवम्—

ये शाकद्वीप के पार्श्वमान विभाग के अनुसार स्थित होकर उसके सात भाग बनाते हैं । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ॥ २९३ ॥

इन पर्वतों से सुकृता, अनसूया, सुमुखी, विपाशा, त्रिदिवा, कुम्भी और अमृतनालिका नामक महानदियाँ निकली हैं ॥ २९४-२९५- ॥

(ये नदियाँ उनमें) स्थित होती हुई निकली हैं ॥

ये (नदियाँ)—

पूर्व से निकल कर क्षीरसागर में प्रविष्ट हो गयी हैं ॥ -२९५ ॥

इस—

शाकद्वीप में जो लोग रहते हैं वे दूध और फल का आहार करते हैं ॥ २९६- ॥

इस कारण—

वे सब चन्द्रकान्तमणि के समान सुरूप और प्रियदर्शन लगते हैं । वे सभी समस्त ऐश्वर्यों से समन्वित होकर दिव्य स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ -२९६-२९७- ॥

कुशे वपुष्मता पूर्वं सप्त पुत्रा निवेशिताः ॥ २९७ ॥
श्वेतलोहितजीमूता हरितो वैद्युतस्तथा ।
मानसः सुव्रतश्चेति वर्षनाम्नैव चाङ्किताः ॥ २९८ ॥

अत्र च विभागहेतवः—

कुमुदश्चोर्वदश्चैव वाराहो द्रोणकङ्कतौ ।
महिषः कुसुमश्चैव सप्त सीमान्तपर्वताः ॥ २९९ ॥

अत्र च—

श्वेततोया तथा कृष्णा चन्द्रा शुक्ला च लोचनी।
वीवृता च विवृन्दा च सप्तैतास्तु सरिद्वराः ॥ ३०० ॥
दध्युदकं प्रविष्टास्ता निम्नगाः पावनोदकाः ।
जनास्तु सुखिनस्तत्र दध्नामृतफलाशिनः ॥ ३०१ ॥
दिव्यभोगरताः सर्वे क्रीडन्त्येते सयोषितः ।

दध्ना सहामृतमयानि फलानि चाश्नन्ति । एवमुत्तरत्र ॥

ज्योतिष्मता सप्त पुत्राः क्रौञ्चद्वीपे निवेशिताः ॥ ३०२ ॥

इसी प्रकार—

कुश द्वीप में वपुष्मान् ने सात पुत्रों को अभिषिक्त किया । श्वेत, लोहित, जीमूत, हरित, वैद्युत, मानस और सुव्रत नामक ये सब (पुत्र) वर्षों के नाम से नामाङ्कित हुए ॥ -२९७-२९८ ॥

यहाँ पर विभाग के हेतुभूत—

१. कुमुद, २. उर्वद, ३. वाराह, ४. द्रोण, ५. कङ्कत, ६. महिष और ७. कुसुम—ये सात सीमान्त पर्वत हैं ॥ २९९ ॥

और यहाँ—

यहाँ १. श्वेततोया, २. कृष्णा, ३. चन्द्रा, ४. शुक्ला, ५. लोचनी, ६. वीवृता और ७. विवृन्दा—ये सात महानदियाँ बहती हैं । पवित्र जल वाली ये नदियाँ दधिसागर में प्रविष्ट होती हैं । दधि के साथ अमृतफल खाने वाले यहाँ के लोग सुखी हैं । दिव्य भोगों में लीन ये स्त्रियों के साथ क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ ३००-३०२- ॥

दधि खाते है और उसके साथ अमृतमय फल भी खाते हैं । इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये ॥

ज्योतिष्मान् ने क्रौंच द्वीप में सात पुत्रों को नियुक्त किया । उद्भिज्ज,

उद्भिज्जश्च समाख्यातो वेणुर्मण्डल एव च ।
रथकारश्च लवणो धृतिमान् सुप्रभाकरः ॥ ३०३ ॥
कपिलश्चेति राजानो वर्षनाम्ना च तेऽङ्किताः ।

अत्रापि विभागहेतवः—

वैद्रुमो हेमनाभश्च द्युतिमान् पुष्पदन्तकः ॥ ३०४ ॥
कुशलो हरिमर्दश्च सप्तैते तु कुलाद्रयः ।

तेभ्यः—

मही धाता शिवापापा पवित्रासन्ततद्युतिः ॥ ३०५ ॥
दम्भा चेति समाख्याताः सप्तैताः सरितः स्रुताः ।
घृतोदं प्रविशन्त्येताः सर्वाः पापहराः प्रिये ॥ ३०६ ॥
जनास्तद्वासिनः सर्वे सुरूपास्तेजसोत्कटाः ।
घृतामृतफलाहाराः सुतृप्ताः स्मरपीडिताः ॥ ३०७ ॥
क्रीडन्ति वनितायुक्ताः पद्मपत्रायतेक्षणाः ।

स्मरपीडितत्वं सम्भोगैकनिष्ठत्वम् ॥

तथा—

सप्त द्युतिमता पुत्राः शाल्मलावभिषेचिताः ॥ ३०८ ॥

वेणुमण्डल, रथकार, लवण, धृतिमान्, सुप्रभाकर और कपिल ये राजा वर्षों के नाम के अनुसार इन्हीं नामों से जाने गये ॥ -३०२-३०४- ॥

यहाँ भी विभाग के हेतुभूत—

वैद्रुम, हेमनाभ, द्युतिमान्, पुष्पदन्तक, कुशल और हरिमर्द ये सात कुलपर्वत हैं ॥ -३०४-३०५- ॥

उनसे—

मही, धाता, शिवा, अपापा, पवित्रा, सन्ततद्युति और दम्भा ये सात नदियाँ निकली हैं । हे प्रिये ! पापहरा ये सारी नदियाँ घृतोद में प्रविष्ट होती हैं । यहाँ के समस्त निवासी सुरूप, तेजस्वी, घृत के साथ अमृतफल को खाने वाले, सुतृप्त, पद्मपत्र के समान विशाल नेत्र वाले, स्त्रीयुक्त, स्मरपीड़ित होकर क्रीड़ा करते हैं ॥ -३०५-३०८- ॥

स्मरपीड़ित होने का अर्थ है—निरन्तर सम्भोग में लगे रहना ॥

तथा—

द्युतिमान् के द्वारा शाल्मली द्वीप में सात पुत्र अभिषिक्त किये गये ।

मनोनुगस्तथोष्णश्च पावनो ह्यन्धकारकः ।
मुनिर्दुन्दुभिनामा च कुशलश्चेति ते स्मृताः ॥ ३०९ ॥
वर्षनामानि तेषां वै सप्तानां सप्त तु क्रमात् ।
क्रौञ्चोऽथ वामनश्चैवाप्यन्धकारो दिवाकृतिः ॥ ३१० ॥
द्विबिन्दुः पुण्डरीकश्च दुन्दुभिश्च कुलाद्रयः ।
पौण्डरी कौशिकी गौरी सिद्धा चैव कुमुद्वती ॥ ३११ ॥
सन्ध्या रात्री च विख्याता समासात् परिकीर्तिताः ।
नद्यस्ताः शैलनिष्क्रान्ता गच्छन्तीक्षुरसार्णवम् ॥ ३१२ ॥
पिबन्तीक्षुरसं तत्र ये जनास्तन्निवासिनः ।
दिव्यकान्तियुताः शान्ताः सुरूपाः प्रियवादिनः ॥ ३१३ ॥
नानानारीसमाकीर्णाः सर्वकामसुखोदयाः ।

एवम्—

हव्यराजः सुतान् सप्त गोमोदे चाभ्यषेचयत् ॥ ३१४ ॥
जलदश्च कुमारश्च सुकुमारो मरीचकः ।
कुमुदश्चोन्नतश्चैव महाभद्र इति स्मृताः ॥ ३१५ ॥
तेषां नाम्ना च वर्षाणि अङ्कितानि स्वनामतः ।
उदयः केसरश्चैव जठरोऽथ सुरैवतः ॥ ३१६ ॥
श्यामोऽम्बिकेयो मेरुश्च शैलाः सीमान्तगास्त्विमे ।

उनके नाम मनोनुग, उष्ण, पावन, अन्धकार, मुनि, दुन्दुभि और कुशल कहे गये ॥ -३०८-३०९ ॥

उन सातों (पुत्रों) के नाम से वर्षों के नाम भी सात हैं । क्रमशः—क्रौञ्च, वामन, अन्धकार, दिवाकृति, द्विबिन्दु, पुण्डरीक और दुन्दुभि ये कुलपर्वत हैं । पौण्डरी, कौशिकी, गौरी, सिद्धा, कुमुद्वती, सन्ध्या और रात्रि ये सात नदियाँ सात कुल पर्वतों से निकल कर इक्षुरस समुद्र में जाती हैं ॥ ३१०-३१२ ॥

जो लोग उससे रहते हैं वे दिव्यकान्तियुक्त, शान्त, सुरूप, प्रियवादी, अनेक स्त्रियों से समाकीर्ण एवं समस्त कामसुख भोगने वाले होते हैं ॥ ३१३-३१४- ॥

इस प्रकार—

हव्यराज ने सात पुत्रों को गोमेद द्वीप में नियुक्त किया । वे जलद, कुमार, सुकुमार, मरीचक, कुमुद, उन्नत और महाभद्र कहे गये । उन्हीं के नाम से वर्षों का भी नाम रखा गया । उदय, केसर, जठर, सुरैवत,

गभस्ती सुकुमारी च कुमारी नलिनी तथा ॥ ३१७ ॥
वेणुका चाप्यथेक्षू च धेनुकेति सरिद्वराः ।
मदिरोदं वहन्त्येताः पुण्याः पुण्यजलोद्वहाः ॥ ३१८ ॥
अमृतोपमानि स्वादूनि फलान्यत्र वरानने ।
भक्षयन्ति च तल्लोकाः पिबन्ति मदिरामृतम् ॥ ३१९ ॥

मदिरोदमिति 'कालभावगन्तव्याध्वानः कर्मसंज्ञाः' ॥ ३१९ ॥

ते च—

सर्वकामसमृद्धाश्च सुरूपा व्याधिवर्जिताः ।
नानायुवतिवृन्दैश्च रूपयौवनगर्वितैः ॥ ३२० ॥
मदालसैः पानमत्तै रमन्ते सततं प्रिये ।
अतश्च पुष्कराख्ये च सवनस्तत्र नायकः ॥ ३२१ ॥
द्वौ पुत्रौ तेन विख्यातौ पुष्कराख्ये निवेशितौ ।

वक्ष्यमाणसंज्ञौ ॥

तत्र च—

श्याम, अम्बिकेय और मेरु ये सात उस वर्ष के सीमान्तवर्त्ती पर्वत हैं । वहाँ गभस्ती, सुकुमारी, कुमारी, नलिनी, वेणुका, इक्षू और धेनुका ये श्रेष्ठ नदियाँ हैं । पवित्र एवं पवित्र जल का प्रवाह करने वाली ये मदिरासमुद्र की ओर प्रवाहित होती हैं । हे वरानने! यहाँ अमृत के समान स्वादिष्ट फल होते हैं । वहाँ के लोग उस फल को खाते और मदिरारूपी अमृत का पान करते रहते हैं ॥ -३१४-३१९ ॥

मदिरोदम्—यहाँ 'काल भाव और गन्तव्य अध्वा (= मार्ग) कर्म संज्ञावाले होते हैं' इस नियम के अनुसार मदिरोद पद की कर्म संज्ञा हुई है ॥ ३१९ ॥

वे पुरुष—

समस्त कामनाओं से समृद्ध, सुरूप, व्याधिरहित, रूप और यौवन के कारण मदमत्त मदालस और पानमत्त युवतियों के समूह के साथ निरन्तर रमण करते रहते हैं ॥ ३२०-३२१- ॥

उसके बाद पुष्कर नामक द्वीप है । वहाँ का नायक सवन हैं । उसके द्वारा दो पुत्र, जिनके नाम आगे कहे जायेंगे, पुष्कर नामक द्वीप में नियुक्त किये गये ॥ -३२१-३२२- ॥

आगे कहे जाने वाले ॥

वहाँ पर—

पर्वतो वलयाकारो मानसोत्तरसंज्ञितः ॥ ३२२ ॥
पञ्चाशदुच्छ्रयस्तस्य विस्तारः पञ्चविंशतिः ।
योजनानां वरारोहे............

स च—

...............सर्वरत्नसमन्वितः ॥ ३२३ ॥

तेन द्विधाकृते देशे सति—

धातकी मध्यमे राजा महवीतो बहिर्नृपः ।

मध्यम इति भूगोलापेक्षया ॥

अत्र च—

ईर्ष्यया रागतृष्णाभिरीतिभिश्च विवर्जिताः ॥ ३२४ ॥

ईतय आधिदैविकदुःखहेतवः ॥ ३२४ ॥

अत एव—

सर्वे ते सुखिनस्तत्र तस्मिन् वर्षद्वये जनाः ।

स च पर्वतः—

चक्राकारस्तु बोद्धव्यो मानसस्तु वरानने ॥ ३२५ ॥

मानसोत्तर नामक पर्वत वलयाकार में स्थित है । हे वरारोहे वह पचास योजन ऊँचा और पच्चीस योजन चौड़ा है । वह समस्त रत्नों से भरा पड़ा है ॥ -३२२-३२३ ॥

उस (सवन) के द्वारा देश का दो भाग किये जाने पर—

मध्य भाग का राजा धातकी बना और बाहर का राजा महवीत हुआ ॥ ३२४- ॥

भूगोल की अपेक्षा से मध्यम कहा है ॥

यहाँ पर लोग—

ईर्ष्या, राग, तृष्णा और ईतियों से रहित है ॥ -३२४ ॥

ईतियाँ—आधिदैविक दुःख की कारण ॥ ३२४ ॥

इसलिए—

उन दो वर्षों में सब लोग सुखी हैं ॥ ३२५- ॥

और वह पर्वत—

अथ—

चतुर्णां लोकपालानां पुरीस्त्वत्र ब्रवीमि ते ।

अत्रेति पर्वते ॥

तत्र पूर्वादिक्रमेण—

हरेर्वस्वेकसाराख्या याम्या संयमनी पुरी ॥ ३२६ ॥
सुखाह्वा वारुणी चैव सोमस्य तु विभावरी।

पूर्वोद्दिष्टस्वरूपमानमेव स्वादूदस्येति स्मारयति ॥

पुष्करद्वीपगुणितः स्वादूदोऽन्ते व्यवस्थितः ॥ ३२७ ॥

गुणित इति क्रमद्विगुणवृद्ध्या चतुःषष्टिलक्षसंख्यो तथा विभक्तं प्राक् ॥

तदित्थं मेरुमध्यात् स्वादूदान्तमुक्तं प्रमाणं सङ्कलयति—

पञ्चाशत्तु सहस्राणि त्रिपञ्चाशत्तथैव च ।
योजनानां तु लक्षाणि कोटिद्वितयमेव च ॥ ३२८ ॥

हे वरानने ! वहाँ मानस नामक पर्वत गोलाकार में है ॥ -३२५ ॥

अब—

इस पर्वत पर चार लोकपालों की नगरियों को अब मैं तुम्हें बतला रहा हूँ ॥ ३२६- ॥

अत्र = इस पर्वत पर ॥

वहाँ पूर्व आदि के क्रम से—

(पूर्व दिशा में) हरि (= इन्द्र) की वस्वेकसारा, यम की संयमनी, वरुण की सुखा और सोम की विभावरी नामक नगरी है ॥-३२६-३२७-॥

पूर्व में कहे गये स्वरूप का परिमाण ही स्वादूद का परिमाण है-यह स्मरण कराते हैं ॥

इस पुरी के अन्त में पुष्कर द्वीप का दो गुना स्वादूद सागर स्थित है ॥ -३२७ ॥

गुणित का अर्थ है—क्रमशः दो गुना वृद्धि के साथ अर्थात् चौंसठ लाख योजन, जैसा कि पहले विभक्त हुआ ॥

तो इस प्रकार सुमेरु के मध्य से स्वादूदक सागर पर्यन्त उक्त परिमाण को संगृहीत करते हैं—

मेरु के आधे भाग से लेकर स्वादूदक सागर पर्यन्त पचास हजार

मेरुवर्धाद्यावत् स्वादूदं प्रमाणं परिकीर्तितम् ।

एतत्प्रागेव व्याख्यातम् ॥

ततो हेममयी भूमिर्दश कोट्यो वरानने ॥ ३२९ ॥
देवानां क्रीडनार्थाय लोकालोकस्त्वतः परम् ।
पर्वतो वलयाकारो योजनायुतविस्तृतः ॥ ३३० ॥
लक्षमात्रसमुत्सेधो योजनानां वरानने ।

अयुतं दशसहस्राणि ॥

स च—

सर्वरत्नसमोपेतो हेमवर्णः प्रकीर्तितः ॥ ३३१ ॥

किं च—

तस्यान्तर्भासयेद् भानुर्न बहिः सुरसुन्दरि ।

लोकोऽन्तःस्थितानां चतुर्दशभूतात्मनां लोकानामालोको यत्र । यद्वा लोकः प्रकाशोऽलोकश्च तमोऽन्तर्बहिश्च यस्य स लोकालोकः, आदित्यस्य लोकालोक-समानोच्छ्रायत्वाद् मेरोस्तदन्तरालवर्तित्वाच्च न तद्बहिर्भासकत्वम् ॥

अन्यच्च—

तिरपन लाख और दो करोड़ योजन परिमाण कहा गया ॥ ३२८-३२९- ॥

इसकी पहले ही व्याख्या की जा चुकी है ॥

हे वरानने ! इसके बाद देवताओं की क्रीडा के लिये दश करोड़ योजन स्वर्णमयी भूमि है । इसके बाद अयुत = दश हजार योजन विस्तार वाला वलयाकार लोकालोक पर्वत है । हे वरानने ! यह पर्वत एक लाख योजन ऊँचा है ॥ -३२९-३३१- ॥

अयुत = दस हजार ॥

और वह (पर्वत)—

समस्त रत्नों से युक्त स्वर्ण वर्ण वाला कहा गया है । हे सुरसुन्दरि ! सूर्य का प्रकाश उसके अन्दर पड़ता है बाहर नहीं ॥ -३३१-३३२- ॥

('लोकालोक' शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—) जहाँ पर लोक = अन्तःस्थित चौदह भूतों का आलोक है वह । अथवा जिसके भीतर लोक = प्रकाश और बाहर अलोक = अन्धकार है वह लोकालोक कहा जाता है । चूँकि सूर्य लोकालोक के समान ऊँचा है और सुमेरु उसके बीच में स्थित है इस कारण वह बाहर प्रकाशित नहीं होता ॥

लोकपालाः स्थितास्तत्र रुद्राश्चामोघशक्तयः ॥ ३३२ ॥

च एवार्थे । रुद्रा एव भगवन्तोऽन्तर्वर्तिसमग्रलोकपालास्तत्र स्थिताः, न तु तावदध्वपालने इन्द्रादीनां सामर्थ्यमस्ति, अतो रुद्राणामेवात्र नियोगः । इन्द्रादयस्तु भगवच्छक्तिमयामोघशक्त्या एतद्रुद्रांशाधिष्ठानादेव लोकपाला उच्यन्ते, अत एव भगवदावरणत्वेन पूज्यत्वमेषाम् ॥

एतान्नामत उद्दिशति—

विरुजो वसुधामा च शङ्खपात् कर्दमस्तथा ।
हिरण्यरोमा पर्जन्यः केतुमान् भाजनस्तथा ॥ ३३३ ॥

एते—

जाम्बूनदमये शुभ्रे सिद्धामरनिवेशने ।
पूर्वादारभ्य क्रमशो यावदीशानगोचराः ॥ ३३४ ॥
लोकपालाः स्थितास्ते वै पालयन्त इमाः प्रजाः ।

सिद्धानां योगिनाममराणां च निवेशनेऽर्धस्थितिधाम्नि । इमा इति, अन्तर्द्वीपवर्तिचतुर्दशविधभूतसर्गात्मनः ॥

और भी—

वहाँ अमोघ शक्ति वाले रुद्र ही लोकपाल के रूप में स्थित बतलाये गये हैं ॥ -३३२ ॥

उक्त श्लोक में 'च' का प्रयोग 'एव' अर्थ में है । वहाँ पर भगवान् रुद्रलोग ही अन्तर्वर्त्ती समग्र लोकपाल के रूप में स्थित हैं । उतने विशाल अध्वा का पालन करने में इन्द्र आदि का सामर्थ्य नहीं है । इसलिये रुद्रों को ही वहाँ नियुक्त किया गया है । इन्द्र आदि तो भगवत्शक्ति से युक्त अमोघ शक्ति के द्वारा इन रुद्रों के अंश से ही अधिष्ठित होने के कारण लोकपाल कहे जाते हैं । अत एव भगवान् के आवरक होने के कारण ये पूज्य हैं ॥

उनके नामों का उल्लेख करते हैं—

विरुज, वसुधामा, शङ्खपात्, कर्दम, हिरण्यरोमा, पर्जन्य, केतुमान् तथा भाजन (ये आठ रुद्र लोकपाल हैं) ॥ ३३३ ॥

ये—

ये लोकपाल सिद्धों और अमरों के स्वर्णमय शुभ गृहों में पूर्व से लेकर ईशान दिशा तक स्थित हैं और उनमें स्थित इन प्रजाओं का पालन करते रहते हैं ॥ ३३४-३३५- ॥

('सिद्धामरनिवेशने' की व्याख्या करते हैं—) सिद्ध योगियों और अमरों के

तदाह—

अस्य मध्ये वरारोहे योनयस्तु चतुर्दश ॥ ३३५ ॥
चेष्टन्ते विविधाकाराः स्वकर्मपरिरञ्जिताः ।

यदुक्तम्—

'तस्यान्तर्भासयेद् भानुः' (१०।३३२)

इति, तस्य लोकालोकसंनिकर्षविप्रकर्षोन्मिषितगतिवैचित्र्येण दक्षिणोत्तरायणस्थितिमादिशति—

लोकालोकोपरिष्टात्तु सवितुर्दक्षिणायनम् ॥ ३३६ ॥
तथोत्तरायणं तत्र उत्तरेण प्रकीर्तितम् ।

इह मेरुलोकालोकयोरन्तर्वर्तिगगनपथमध्ये सञ्चरन् भूपीठिकाप्रतिष्ठितलिङ्गमूर्तिमेरुमनवरतं परमेश्वरनियतिनियन्त्रितषष्टिघटिकात्मना बाह्यकालेन प्रदक्षिण्यन् ध्रुवनाभिनिबद्धभचक्रसञ्चारिग्रहमध्यगो ग्रहग्रामणीस्तत्तद्राशिसञ्चारानुसारितत्तद्दत्तसहभावादाश्रिततीव्रमन्दामन्दादिदीप्तिभेदोऽन्यरूपो भूतसर्गवर्तनीं विचित्रां वर्तयति । अतश्च

निवेशन में = रहने के स्थान में । इनका = द्वीप के अन्दर रहने वाले चौदह प्रकार के भूत सर्ग का ॥

उसको बतलाते हैं—

हे वरारोहे ! इसके बीच चौदह योनियाँ अपने कर्मों से परिरञ्जित अर्थात् प्रभावित होकर अनेक आकार में चेष्टा करती हैं ॥-३३५-३३६-॥

जैसा कि कहा गया—

'उसके भीतर सूर्य भासित करता है...... ।' (१०।३३२)

लोकालोक के संनिकर्ष और विप्रकर्ष के कारण उस (सूर्य) की गति के विचित्र होने से दक्षिणायन और उत्तरायण की स्थिति को बतलाते हैं—

लोकालोक के ऊपर (= निकट) सूर्य का दक्षिणायन होता है । उसी प्रकार उत्तर होने से उत्तरायण कहा गया है ॥ -३३६-३३७- ॥

ग्रहग्रामणी (= ग्रहों का स्वामी सूर्य) जो कि ध्रुव नक्षत्र की नाभि में निबद्ध नक्षत्रमण्डल में सञ्चारी ग्रह के मध्य में चलता है, मेरु और लोकालोक पर्वतों के बीच वर्त्तमान गगनपथ के मध्य में सञ्चरण करता हुआ भूपीठिका में प्रतिष्ठित लिङ्गस्वरूप मेरु की परमेश्वर की नियतिशक्ति से नियन्त्रित साठ घड़ी रूपी बाह्य काल के द्वारा अनवरत प्रदक्षिणा करता है । (उसी क्रम में वह) तत्तत् राशिसञ्चार का अनुसारी उन-उन राशियों के द्वारा प्रदत्त सहचारी भाव के कारण तीव्र मन्दामन्द और मन्द प्रकाश वाला हो जाता है और इसके परिणामस्वरूप विचित्र भूतसृष्टि

स विभुः । लोकालोकोपरिष्टादिति तत्रैकट्येन भ्रमणात् । तत्रेति, लोकालोकमेर्वन्तरालवर्तिनि विषये स्थित्वा क्रमात्क्रमं मेरुनिकटाद् बहिर्निःसरणेन भ्रमणात् कर्कटादिराशिषट्कसञ्चाररूपं दक्षिणायनम्, लोकालोकसंनिकर्षान्मेरुनैकट्येनान्तरन्तः प्रवेशात्मनोत्तरेण भ्रमणान्मकरादिसञ्चाररूपं तूत्तरायणं भवति । वक्ष्यति हि—

'सर्वेषामुत्तरे मेरुर्लोकालोकस्तु दक्षिणे'[1] इति ।

एवं सङ्गतागमिकप्रक्रिययैव एतद् व्याख्येयम्, न तु परस्परविसम्वादिज्योतिःशास्त्रमतानुसरणसङ्गत्या ॥

एवं दक्षिणोत्तरायणस्थितिमुक्त्वोदयास्तमयभेदमाह—

अर्धरात्रोऽमरावत्यामस्तमेति यमस्य च ॥ ३३७ ॥
मध्याह्नश्चैव वारुण्यां सौम्ये सूर्योदयः स्मृतः ।
यदैव चामरावत्यामुदयस्तस्य दृश्यते ॥ ३३८ ॥
तदास्तमेति वारुण्यामित्यादित्यगतागतम् ।

निर्दिष्टनीत्या मेरुं प्रदक्षिणयतः सूर्यस्य यदा सौम्य इति मेरोरुत्तरे भागे उदयो

करता है । इसलिये वह (= सूर्य) विभु है । लोकालोक के ऊपर = उसके निकट भ्रमण के कारण । वहाँ = लोकालोक और सुमेरु के बीच में, स्थित होकर, क्रमशः मेरु के निकट से बाहर निकलने से भ्रमण के कारण कर्क से लेकर छः राशियों (= कर्क, सिंह, कन्या, तुला, वृश्चिक और धन) पर सञ्चरण करता है । यह दक्षिणायन है । लोकालोक के पास से मेरु के निकट भीतर-भीतर प्रवेश रूप उत्तर की ओर भ्रमण करने से मकर आदि रूप (मकर, कुम्भ, मीन, मेष, वृष और मिथुन) में सञ्चार होता है । यह उत्तरायण कहा जाता है । आगे कहेंगे—

'मेरु सबके उत्तर और लोकालोक सबके दक्षिण में है ।'

इस प्रकार सङ्गत आगमिक प्रक्रिया से ही इसकी व्याख्या करनी चाहिये न कि विरुद्ध विचार वाले ज्योतिष् शास्त्र के मत के अनुसार ॥

दक्षिणायन और उत्तरायण की स्थिति को बतला कर उदय अस्तमय भेद को बतलाते हैं—

जब अमरावती (= पूर्व दिशा) में आधी रात होती है तब यम की दिशा (= दक्षिण दिशा) में सूर्य अस्त होता है तथा वारुणी (= पश्चिम दिशा) में मध्याह्न और सौम्य (= उत्तर) दिशा में सूर्योदय होता है । जब उस (= सूर्य) का उदय अमरावती में दिखायी देता है तब वारुणी दिशा में वह अस्त होता है । यही सूर्य का गमनागमन है ॥ -३३७-३३९- ॥

---

१. वचनमेतत् ३४० तमश्लोकव्याख्यायां दृश्यते ।

वारुण्या आगच्छतो दर्शनं तदा मेरुतत्पार्श्वस्थप्रोक्तपर्वतच्छायावशाद् यमस्य दिशि सूर्योऽस्तमेति, न दृश्यते तत्प्रकाश इत्यर्थः । तदैव च वारुण्यां दिशि मध्याह्नः, तत्पूर्वगस्यार्कस्योदयदेशाद् दक्षिणदिशः पञ्चदशघटिकावधेर्गतेः सम्पन्नत्वात् तदैव त्वमरावत्यामर्धरात्रः, घटिकापञ्चदशकेनात्र सूर्योदयस्य भविष्यत्त्वात् । इत्थं च यदैवामरावत्यामस्योदयः, तदैव वारुणीवर्तिनां सौरस्य त्रिंशद्घटिकावाहस्य जातत्वाद् वारुण्यां सूर्योऽस्तमेति दिनान्तो जायते, इत्यनेन प्रकारेणादित्यगतागतं विदिक्ष्वपि मन्तव्यम्, प्रतिपादितक्रमस्य उपलक्षणभूतत्वात् ॥

अत्र च—

सुवीथी उत्तरे तस्य अजवीथी च दक्षिणे ॥ ३३९ ॥

एतद् व्याचष्टे—

पितृदेवपथो ह्येष कथितस्तु मया तव ।

शोभना वीथी मार्गो देवपथः । न जाता उत्पत्तिस्थाने सम्प्रति न किमपि

निर्दिष्ट नियम के अनुसार सूर्य मेरु की प्रदक्षिणा करता रहता है । इस क्रम में वह जब सौम्य अर्थात् मेरु के उत्तर भाग में उदित होता है तो पश्चिम दिशा में आने वाले उसका दर्शन होता है तब मेरु और उसके पास में स्थित उक्त पर्वत की छाया के कारण वह सूर्य यम की दिशा में अस्त हो जाता है अर्थात् उसका प्रकाश नहीं दिखायी पड़ता । उसी समय पश्चिम दिशा में मध्याह्न होता है । क्योंकि उस पूर्वगामी सूर्य के उदयस्थल से दक्षिण दिशा की गति पन्द्रह घड़ी में सम्पन्न होती है । उसी समय अमरावती में आधी रात होती है । क्योंकि पन्द्रह घड़ी के बाद यहाँ (अमरावती में) सूर्योदय होगा । इस प्रकार जब अमरावती में इस सूर्य का उदय होता है उसी समय पश्चिम दिशा में वर्तमान लोगों के लिये सूर्य का गमन तीस घड़ी होने से पश्चिम दिशा में सूर्य अस्त होता है अर्थात् दिन का अन्त हो जाता है । इसी प्रकार विदिशाओं में भी सूर्य का गमनागमन समझना चाहिये क्योंकि (दिशाओं में जो सूर्य का गमनागमन)—क्रम प्रतिपादित हुआ है वह उपलक्षण है ॥

और यहाँ—

उस (सूर्य) के उत्तर (= उत्तरायण) होने पर सुवीथी और दक्षिण (= दक्षिणायन) होने पर अजवीथी होती है ॥ -३३९ ॥

इसकी व्याख्या करते हैं—

मैंने तुमको यह पितृयान और देवयान बतलाया ॥ ३४०- ॥

जो शोभना (= सुन्दर, शुभकारी) वीथी = मार्ग है वह देवपथ होता है । (अजवीथी का अर्थ है—अज अर्थात्) इस समय उत्पत्ति स्थान में कुछ भी नहीं

प्राप्ता इत्यजाः पितरः, तेषां वीथी पन्था इति यथासम्भवं योज्यम् । उत्तरायणस्य दिव्यसिद्धिहेतुत्वाद् देवमार्गता, दक्षिणायनस्य त्वैहिकसिद्धिपूरकत्वात् पितृमार्गतेत्यर्थः । एतच्च कालाधिकारोक्तनीत्याऽन्तरिव बहिरपि ज्ञेयम् । यदुक्तं गीतासु—

'शुक्लकृष्णे गती ह्येते जगतः शाश्वते मते।
अनयोर्यात्यनावृत्तिमेकयावर्ततेऽन्यया ॥' (८।२६) इति ।

अन्तरपि हृत्पद्मकर्णिकैव मेरुः, तदुपरिचिज्ज्योतिर्मात्ररूपस्यात्मनो ध्रुवस्यानुलग्नः प्राणादित्यः कालाकारोक्तसकलभचक्रग्रहाद्यनुयातः कर्णिकोपकण्ठगतप्रधाननाडीमुखस्पर्शेन प्रदक्षिणमनारतमावर्तमानस्तिष्ठन् तत्तन्मकरादिसंक्रान्तिक्रमेणोत्तरदक्षिणादिविभागं दर्शयतीत्युक्तप्रायम् । यतश्च मेरुं (मेरुलोकालोकान्तरालस्थव्योमपथमध्येन) प्रदक्षिणयत्यनिशं दिनेशः, तत एव तदुदयस्थानात्मकपूर्वदिगभिमुखानाम् इलावृतवर्जप्रतिपादितवर्षाष्टकद्वीपान्तरादिस्थानां जनानां[1] सर्वेषामुत्तरे मेरुर्लोकालोकस्तु दक्षिणे । मेरुं प्रदक्षिणयन् हि भास्करतत्पश्चात्केतुमालादिवासिनां मेरोर्दक्षिणत उदेति, तदुत्तरस्थकुरुवर्षादिवासिनां पश्चिमतः, तत्पूर्वभद्राश्वादिवासिना-

प्राप्त किये इसलिये अज अर्थात् पितृगण, उनकी वीथी = पथ = रास्ता । इस प्रकार जैसा सम्भव हो वैसी योजना कर लेनी चाहिये । उत्तरायण दिव्य सिद्धि का कारण है इसलिये वह देवमार्ग है । दक्षिणायन सांसारिक सिद्धि देता है इसलिये वह पितृमार्ग है । कालाधिकार में वर्णित नीति के अनुसार इसे भीतर के समान बाहर भी समझना चाहिये । जैसा कि गीता में कहा गया—

'संसार की शुक्ल कृष्ण ये गतियाँ शाश्वत मानी गयी हैं । इन दोनों में से एक (= शुक्ल) गति के द्वारा जीव अनावृति (= अपुनर्जन्म) को और दूसरी (कृष्ण) गति के द्वारा बार-बार जन्म को प्राप्त होता है ।' (८।२६)

(अब बाहर के बाद भीतर की स्थिति बतलाते हैं—) शरीर के अन्दर भी हृदयकमल की कर्णिका ही मेरु पर्वत है । उसके ऊपर चेतन प्रकाश रूप आत्मा ध्रुव है । उससे सटा हुआ प्राण ही सूर्य है । कालाधिकार में उक्त सकल नक्षत्र मण्डल ग्रह आदि इसके पीछे-पीछे चलते हैं । कर्णिका के समीप वर्त्तमान प्रधान नाड़ी (= सुषुम्ना) के मुख के स्पर्श से वह प्राण निरन्तर प्रदक्षिणा = बाहर भीतर गमनागमन, करता हैं । इसके द्वारा तत्तत् मकर आदि में संक्रान्ति के क्रम से उत्तरायण और दक्षिणायन दिग्विभाग बतलाया गया । चूँकि सूर्य (मेरु और लोकालोक के बीच में वर्त्तमान व्योमपक्ष से) रात दिन प्रदक्षिणा करता रहता है इसीलिये उसके उदयस्थानात्मक पूर्व दिशा की ओर रहने वाले वे लोग जो इलावृत को छोड़ कर आठ वर्षों और अन्य द्वीपों में रहते हैं । उनके उत्तर में मेरु है और दक्षिण में लोकालोक । सूर्य मेरु की प्रदक्षिणा करता हुआ केतुमाल आदि वर्षों में रहने वालों के लिये मेरु के दक्षिण में उदित होता है । उसके उत्तर में वर्त्तमान

१. पूर्वम् (१०।३३७) उद्धृतवचनसामर्थ्यान्मूले स्थापनीयमेतत् ।

मुत्तरतः, तद्दक्षिणहरिवर्षादिनिष्ठानां पूर्वत इति स्थित्या सर्वेषां द्वीपान्तरगतानामपि मेरुलोकालोकौ उदग्दक्षिणस्थौ भवत इलावृतवर्जम्, तत्रापि वा छायामात्रेण सूर्यप्रकाशानुसारिणी काचिदवस्थितिरस्तीति कल्पनीयम् ॥

एवं प्रसङ्गाद् दक्षिणोत्तरायणे उदयास्तमयस्थितिं च प्रतिपाद्य प्रकृतमाह—

अस्य बाह्ये तमो घोरं दुःप्रेक्ष्यं जीववर्जितम् ॥ ३४० ॥
पञ्चत्रिंशत्स्मृताः कोट्यो लक्षाण्येकोनविंशतिः ।
चत्वारिंशत्सहस्राणि योजनानां वरानने ॥ ३४१ ॥

लोकालोकविष्कम्भो दश सहस्राण्युक्तः, तैः सह पञ्चाशत् मेर्ववाग् जम्बुद्वीपः । पञ्चाशदित्यनेन लक्षेण प्राक्सङ्कलनासङ्कलितेन कोटिद्वयेन हेमभूकोटिदशकेन च सह सप्तचत्वारिंशत्कोटयो भवन्ति ॥ ३४१ ॥

अथ—

सप्तसागरमानं तु गर्भोदस्तत्समः स्मृतः ।

गर्भेऽन्तः सप्तसागरसम्बन्ध्युदकोपलक्षितलोकालोकतमपर्यन्तं विश्वं यस्य स

कुरु वर्ष आदि वासियों के पश्चिम में, उसके पूर्व भद्राश्व आदि देशों मे रहने वालों के लिये उत्तर में, उसके दक्षिण हरिवर्ष आदि में रहने वालों के लिये पूर्व में उदित होता है—इस स्थिति के अनुसार अन्य द्वीपों में रहने वाले सब लोगों के लिये इलावृत को छोड़ कर मेरु और लोकालोक क्रमशः उत्तर और दक्षिण में स्थित रहते हैं । अथवा वहाँ (= इलावृत में) भी छायामात्र से सूर्य के प्रकाश का अनुसरण करने वाली स्थिति है—ऐसी कल्पना कर लेनी चाहिये ॥

प्रसङ्गतः दक्षिणायन और उत्तरायण तथा उदयमय अस्तमय स्थिति का प्रतिपादन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

इस (= लोकालोक) के बाहर घोर अन्धकार है जो दुष्प्रेक्ष्य और जीवरहित है । हे वरानने! इस अन्धकार का विस्तार पैंतीस करोड़ उन्नीस लाख चौवालिस हजार योजन है ॥ -३४०-३४१ ॥

लोकालोक का विस्तार दश हजार योजन कहा गया । उसके साथ पचास लाख योजन जम्बूद्वीप है जो कि मेरु के दक्षिण है । पूर्व सङ्कलना से सङ्कलित पचास लाख योजन के साथ दो करोड़ योजन और दश करोड़ योजन स्वर्ण भूमि, इस प्रकार सैंतालिस करोड़ (—पैंतीस करोड़ उन्नीस लाख चौवालीस हजार + दो करोड़ पचास लाख + दश करोड़ = सैंतालीस करोड़ उनसठ लाख चौवालीस हजार) योजन विस्तार है ॥ ३४१ ॥

जो सात समुद्रों का परिमाण है वही गर्भोद है । गर्भोद का परिमाण उसके (= क्षाराब्धि के) बराबर माना गया है ॥ ३४२- ॥

गर्भोदः । तत्सम इति क्षाराब्धिरसतुल्यः । यदुक्तं परातन्त्रे—

'गदिता येऽब्धयः सप्त तेऽत्र गर्भे यतः स्थिताः।
प्रथितस्तेन गर्भोदः समस्ताब्धिरसोद्वहः ॥' इति ।

स च सप्तानां क्षारादिसागराणामेकलक्षात् प्रभृति द्विगुणवृद्ध्या यन्मानं कोटिरेका सप्तविंशतिर्लक्षाणि तत्तुल्यमानः । एवमियदवधि प्राक्तनेन मानेन सहैकोनपञ्चाशत्कोटयो भवन्ति । ब्रह्माण्डकर्परिका च कोटिरिति पञ्चाशत्कोटयो मेरुमध्यात् कर्परिकान्तम् ॥

तदाह—

ब्रह्मणोण्डकटाहेन युक्ता वै मेरुमध्यतः ॥ ३४२ ॥
पञ्चाशत्कोटयो ज्ञेया दशदिक्षु समन्ततः ।

उभयपार्श्वकलनया तु—

एवमेतच्छतं ज्ञेयं कोटीनां पार्थिवं महत् ॥ ३४३ ॥

पार्थिवमिति पृथ्वीगतं वैपुल्यम् ॥ ३४३ ॥

सप्तसागर से सम्बद्ध उदक से उपलक्षित लोकालोक अन्धकार पर्यन्त विश्व जिसके गर्भ में अर्थात् भीतर है वह गर्भोद कहलाता है । उसके समान = क्षाराब्धि रस के तुल्य । जैसा कि परातन्त्र में कहा गया है—

'जो सात समुद्र कहे गये हैं वे चूँकि यहाँ गर्भ में स्थित हैं इसलिये यह गर्भोद कहा गया है । यह समस्त समुद्रों के रस को धारण करता है ।'

क्षार आदि सात समुद्रों का एक लाख से प्रारम्भ कर दोगुनी वृद्धिका जो मान होता है (अर्थात् एक लाख + दो लाख + चार लाख + आठ लाख + सोलह लाख + बत्तीस लाख + चौसठ लाख) वह एक करोड़ सत्ताइस लाख योजन है । गर्भोद का भी यही परिमाण है । पूर्वमान के साथ इसको जोड़ने पर (= ४७६९४४००० + १२७००००० = ४८९६४४००० अर्थात्) लगभग उञ्चास करोड़ योजन होते हैं। इसके साथ एक करोड़ योजन विस्तृत ब्रह्माण्ड कर्पटिका को जोड़ने से सुमेरु के मध्य से कर्परिका तक का मान पचास करोड़ योजन होता है ॥

वही कहते हैं—

मेरु के मध्य से लेकर ब्रह्मा के अण्डकटाह से युक्त दशो दिशाओं में चारो ओर पचास करोड़ योजन विस्तार है ॥ -३४२-३४३- ॥

दोनों पार्श्वों को जोड़ने से—

पृथिवी का यह विस्तार एक करोड़ योजन होता है ॥ -३४३ ॥

पार्थिव = पृथिवी में रहने वाला विस्तार ॥ ३४३ ॥

एवं पृथिव्या अधो मध्ये मानमुक्तम्, अधुना तु—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि प्रमाणं वरवर्णिनि ।

ऊर्ध्वमिति भुवर्लोकाधिगतम् ॥

आस्तां वैतत्, भूर्लोकगतभुवनशुद्धौ पूर्वोक्तसंस्कारक्रमं मा विस्मार्षीदुपदेश्य इत्याशयेन तमेव तावत् स्मारयितुमाह—

अथवात्र महादेवि परिपाट्या समन्ततः ॥ ३४४ ॥
दीक्षाकाले तु संस्काराः..........

ये कर्तव्याः

..........क्रमं तेषां निबोध मे ।

कलादीक्षायां कलोपस्थापनपूर्वं ये संस्कारा उक्ताः, त एवेह भुवनोपस्थापनपूर्वं यद्यपि क्रियन्ते, तथापि शिष्यहितत्वात् परमेश्वरस्तान् स्मारयति वक्तव्यशेषं च योजयति ॥

शक्तिं तत्त्वं च भुवनं योनिं चैव निवेशयेत्॥ ३४५ ॥

संस्कृताग्नौ आदावध्वसन्धितदवलोकनतदुपस्थापनतत्सांनिध्यानन्तरं शक्तिमाधार-

---

इस प्रकार पृथिवी के नीचे का मान बतलाया गया; अब—

हे वरवर्णिनि ! अब मैं इस (पृथ्वी) के ऊपर का मान आपको बतलाऊँगा ॥ ३४४- ॥

ऊर्ध्व = भुवः लोक में वर्तमान ॥

अथवा इस कथन को यहीं पर रोक दीजिये । भूर्लोक में वर्तमान भुवनों की शुद्धि होने पर पूर्वोक्त संस्कारक्रम का विस्मरण न हो जाय इस विचार से उस (= संस्कार क्रम) का ही स्मरण कराने के लिये कहते हैं—

अथवा हे महादेवि! यहाँ परम्परा के अनुसार दीक्षाकाल में जो संस्कार करणीय होते हैं अब मुझसे उनका क्रम जानो ॥ -३४४-३४५- ॥

कलादीक्षा में कला की उपस्थापना के बाद जो संस्कार कहे गये वे यहाँ यद्यपि भुवनस्थापना के बाद किये जाते है तो भी शिष्य के लिये हितकारी होने के कारण परमेश्वर (अभी उनका) स्मरण करा दे रहे हैं और शेष वक्तव्य को जोड़ दे रहे हैं ॥

शक्ति, तत्त्व, भुवन और योनि का निवेश करना चाहिये ॥ -३४५ ॥

संस्कार की गयी अग्नि में पहले अध्वसन्धि, उसका अवलोकन, उसका उपस्थापन, उसका सान्निध्य करने के बाद आधाररूपा शक्ति, उसके बाद भुवनों का

रूपां ततोऽपि भुवनाश्रयं तत्त्वं ततोऽपि भुवनेशसहितं भुवनं निवेशयेत् शोध्यत्वेनाभिसन्दधीत । ततोऽपि हृदा वागीशी सर्वयोनिव्यापिकां न्यसेत् ॥ ३४५ ॥

ततः—

तेषां गन्धोपचारं तु कृत्वा चैव यथाक्रमम् ।

तेषामित्याधारशक्तितत्त्वभुवनादीनाम् ॥

अत्र च शोधनीयानि भुवनेशसहितानि भुवनानि क्रमेण दर्शयति—

अनन्तं चैव कालाग्निं नरकांश्च यथाक्रमम् ॥ ३४६ ॥
पातालानि ततश्चोर्ध्वे शोधयेदनुपूर्वशः ।

नरकानिति प्रोक्तप्रघट्टकमध्यादेकतमेन भेदेन शोधने चात्र कलादीक्षोक्तप्रक्रिया भुवनेशश्रावणान्ता सर्वानुसर्तव्या ॥

इयदन्तं संशोध्य—

उपस्थानं ततः कुर्याद् भुवर्लोकस्य वरानने ॥ ३४७ ॥

'धामादिः प्रणवादिश्च' (४।१०१)

आश्रयभूततत्त्व, उसके बाद भुवनेशसहित भुवन का निवेश करना चाहिये अर्थात् शोध्य के रूप में अनुसन्धान करना चाहिये । इसके बाद भी हृदय (मन्त्र) से सर्वयोनि की व्यापिका वागीशी का न्यास करना चाहिये ॥ ३४५ ॥

इसके बाद—

क्रम से उनका गन्धोपचार करना चाहिये ॥ ३४६- ॥

उनका = आधारशक्ति, तत्त्व, भुवन आदि का ॥

यहाँ शोधनीय भुवनेश और भुवनों को क्रम से दिखलाते हैं—

अनन्त, कालाग्नि, नरकसमूह और उनके बाद पातालों का क्रमशः शोधन करना चाहिये ॥ -३४६-३४७- ॥

नरकों को—उक्त प्रघट्टक (= अनुच्छेद) के मध्य से एकतम (= किसी एक) का भेद के द्वारा शोधन करने में यहाँ कलादीक्षा में वर्णित भुवनेशश्रावणपर्यन्त सम्पूर्ण प्रक्रिया अपनानी चाहिये ॥

यहाँ तक संशोधन कर—

हे वरानने! उसके बाद इस भुवः लोक का उपस्थान करना चाहिये ॥ -३४७ ॥

'धामादिः प्रणवादिश्चः...... ।'

इत्यादिना मन्त्रेण पूर्वोक्तेन केवलं कलास्थाने भुवनानामप्रक्षेप्यता । उपस्थानं च कलशाद्यग्न्यन्ताधिकरणषट्के न्यसनम् ॥ ३४७ ॥

एवं कृत्वा—

ततो वागीश्वरी देवी सम्पूज्या कुसुमादिभिः ।
ततः पशुस्तु सम्प्रोक्ष्यस्ताड्यो विश्लेष्य एव च ॥ ३४८ ॥

अथास्य—

छेदनं च तथाकर्षो ग्रहणं योजनं ततः ।
गर्भधारित्वजनने अधिकारं तथैव च ॥ ३४९ ॥
योगं भोगं लयं चैव ततो योनिविशोधनम् ।

कुर्यात् । सर्वमेतत् प्रागेव व्याख्यातम् ॥

यदुक्तं योनिविशोधनमिति, तत्र या योनीः—

चतुर्दश समासेन कथयाम्यनुपूर्वशः ॥ ३५० ॥
पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वं त्वैन्द्रमेव च ।
सौम्यं तथा च प्राजेशं ब्राह्मं चैवाष्टमं विदुः ॥ ३५१ ॥

एतच्चोक्तमेव ॥ ३५१ ॥

इत्यादि पूर्वोक्त मन्त्र के द्वारा केवल कला के स्थान में भुवनों की अप्रक्षेप्यता होती है । उपस्थान = कलश से लेकर अग्निपर्यन्त छह अधिकरणों में न्यास ॥ ३४७ ॥

ऐसा करने के बाद—

पुष्प आदि से वागीश्वरी देवी की पूजा करनी चाहिये । तत्पश्चात् पशु का सम्प्रोक्षण, ताडन और विश्लेषण करना चाहिये ॥ ३४८ ॥

इसके पश्चात् इसका—

छेदन, आकर्षण, ग्रहण, योजन, गर्भाधान, जन्म, अधिकार, योग, भोग, लय और सबके बाद योनिविशोधन करना चाहिये ॥ ३४९-३५०- ॥

इन सबकी व्याख्या पहले ही कर दी गयी है ॥

जो पहले योनिविशोधन कहा गया उस विषय में उन—

चौदह योनियों को संक्षेप में क्रम से अब आपसे कह रहा हूँ । पैशाच, राक्षस, याक्ष, गान्धर्व, ऐन्द्र, सौम्य, प्राजेश और ब्राह्म—ये आठ योनियाँ हैं ॥ -३५०-३५१ ॥

संहारक्रमयोगेन शोधनीयाः शिवाध्वरे ।

संहारक्रमयोगेन इत्यनेन चेदमाह-यत् स्थावरादि पश्वन्तं तामसं पञ्चकं संशोध्य मानुष्यं शोधयेत् । ततः पैशाचादि ब्रह्मान्तं देवयोन्यष्टकमित्येष एव च क्रमोऽग्रे स्फुटीभविष्यति ॥

एवं योन्यष्टकमुद्घाट्य योनिषट्कमप्याह—

पशुपक्षिमृगाश्चैव तथान्ये च सरीसृपाः ॥ ३५२ ॥
स्थावरं पञ्चम चैव षष्टं मानुषयोनिकम् ।

तदेतत्—

देवयोनिसमायुक्तं प्रोक्तं संसारमण्डलम् ॥ ३५३ ॥
चतुर्दशविधं चैव..........

एतच्च—

...........भूर्लोके तु विशोधयेत् ।

भूर्लोके कर्मानुसारेण एतदर्ज्यते, इत्यत्र विभागेनैतत्सर्वं शोधनीयम्, अन्यत्र तु सामान्येनापीत्याशयः ॥

शिवयाग में इनका संहार क्रम से शोधन करना चाहिये ॥ ३५२- ॥

'संहारक्रमयोग' कथन के द्वारा यह कहते हैं कि—स्थावर से लेकर पशु पर्यन्त पाँच तामस योनियों का शोधन कर मनुष्य योनि का शोधन करना चाहिये । इसके बाद पैशाच से लेकर ब्राह्म पर्यन्त आठ देवयोनियों का शोधन । यही क्रम आगे स्पष्ट होगा ॥

आठ योनियों को बतला कर अब शेष छ: योनियों को बतलाते हैं—

पशु (= पालतू जानवर), पक्षी, मृग (= जङ्गली जानवर), सरीसृप (= रेंग कर चलने वाले सर्प, गोजर, विच्छू आदि), स्थावर (वृक्ष, लता आदि जो कि स्थिर रहते हैं) ये पाँच और मनुष्य ये कुल छह योनियाँ बतलायी गयी हैं ॥ -३५२-३५३- ॥

इस प्रकार—

देवयोनि के साथ संयुक्त ये छह योनियाँ ही संसार मण्डल कहा गया है । यह चौदह प्रकार का ही है । भूर्लोक में इनका शोधन करना चाहिये ॥ -३५३-३५४- ॥

भूर्लोक में कर्मों के अनुसार ये योनियाँ (जीवों को) प्राप्त होती हैं । यहाँ इन सबका अलग-अलग शोधन करना चाहिये । अन्यत्र तो सामान्यतया किया जाना चाहिये—यह आशय है ॥

कस्माच्चैतत् संसारमण्डलम् ?—इत्याह—

आत्मा संसरति ह्यत्र मायाद्यवनिगोचरे ॥ ३५४ ॥
संसारः प्रोच्यते तस्मात् पर्यटेत् स यतस्ततः ।

संसारश्च—

सुखं दुःखं तथा मोहं भुंक्ते चैवाध्वमध्यगः ॥ ३५५ ॥
बन्धत्रयसमायुक्तो वामाशक्त्या त्वधिष्ठितः ।
ईश्वरेण निमित्तेन सृष्टिसंहारवर्त्मनि ॥ ३५६ ॥

साक्षान्मन्त्रमहेशादिमुखेन वा ईश्वरेण संसारवमनारूपया स्वया वामाशक्त्याधिष्ठितः परतन्त्रीकृतः, तत एव चाणवादिबन्धत्रयेण समायुक्तः सम्यगाक्रान्तोऽभिभूतः सुखादित्रयं भुञ्जानः ॥ ३५६ ॥

पुनः पुनश्चाध्वमध्ये युज्यते स शुभाशुभैः ।

अतश्च—

अध्वमध्ये तु ये पाशा ज्ञेयाश्चानन्तकोटयः ॥ ३५७ ॥
प्रधानगुणभेदेन यावच्चानाश्रितं पदम् ।

इसे संसार मण्डल क्यों कहा जाता है ?—यह बतलाते हैं—

चूँकि आत्मा माया से लेकर पृथिवी पर्यन्त इस (योनि मण्डल) में संसरण करता रहता है । इसलिये यह संसार कहलाता है । इसमें आत्मा इधर-उधर भटकता रहता है ॥ -३५४-३५५- ॥

और यह संसार—

ईश्वरनिमित्तक सृष्टि—संहार के पथ में वामा शक्ति से अधिष्ठित होता हुआ यह संसार (आणव-मायीय-कार्म रूप) तीन बन्धनों से बँधा हुआ अध्वा के मध्य में स्थित होकर सुख-दुःख और मोह का भोग करता रहता है ॥ -३५५-३५६ ॥

(यह संसार) साक्षात् मन्त्रमहेश्वर आदि के मुख से अथवा ईश्वर के द्वारा (प्रोद्भूत) संसार की वमनारूपा अपनी वामा शक्ति से अधिष्ठित अर्थात् परतन्त्र कर दिया गया है । इसी कारण आणव आदि तीन बन्धनों से समायुक्त = पूरी तरह आक्रान्त = अभिभूत हुआ (यह संसार अथवा जीव) सुख आदि तीन का भोग करता है ॥ ३५६ ॥

यह शुभ और अशुभ कर्मों के द्वारा अध्वा के मध्य में बार-बार गिरता है ॥ ३५७- ॥

इसलिये—

तदुक्तम्—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्' (४।४१०) इति ॥

यतश्चैवम्—

तस्मादेवं विजानीयात्............

किं च—

..........अध्वा बन्धस्य कारणम् ॥ ३५८ ॥

तदियति संसारमण्डले कर्मैव कारणमित्याह—

चतुर्दशविधं यच्च प्रोक्तं संसारमण्डलम् ।
तस्य भेदा ह्यनन्ताश्च............

ये ते—

...............भिद्यन्ते कर्मभेदतः ॥ ३५९ ॥

तदित्थं संसारमण्डलहेतुभूताः—

कर्मवल्ल्यो ह्यनन्ताश्च कर्मेशानादिकारकाः ।

अनादिमायाशक्तिमुषितमहिमा हि अणुः स्वोपभोगाय चेष्टमानोऽनन्ताभिः

अध्व के मध्य में जो पाश हैं अनाश्रित शिवपर्यन्त ये (पाश) प्रधानगुणभेद से अनन्त करोड़ हैं ॥ -३५७-३५८- ॥

वही कहा गया है—

'हे वरारोहे ! समना तक यह पाश जाल अनन्त है ॥ (४।४१०)

चूँकि ऐसा है—

इस कारण ऐसा समझना चाहिये ॥ -३५८- ॥

और भी—

अध्वा ही बन्धन का कारण होता है ॥ -३५८ ॥

तो इतने बड़े संसारमण्डल में कर्म ही करण है—यह कहते हैं—

जो चौदह प्रकार का संसारमण्डल कहा गया उसके जो अनन्त भेद कहे गये वे कर्म के भेद से भिन्न होते हैं ॥ ३५९ ॥

तो इस प्रकार संसारमण्डल की हेतुभूत—

कर्मलतायें अनन्त हैं और वे ही (जीव को) कर्मों का स्वामी बनाती हैं ॥ ३६०- ॥

कर्मसन्ततिभिर्बद्धः ॥

न चैतदस्यान्यतः क्वचिदायातम्, अपि त्वपूर्णंमन्यतयैवेत्याह—

आत्मना बद्ध्यते ह्यात्मा..........

बद्धं च तमसामर्थ्यात्—

................मुञ्चेन्नात्मानमात्मना ॥ ३६० ॥

परमेश्वरानुग्रहं विनेत्यर्थात् । मुञ्चेदात्मानमिति पाठो न सङ्गतः ॥ ३६० ॥

एतद्दृष्टान्तेन स्फुटयति—

कोशकारो यथा कीट आत्मानं वेष्टयेद् दृढम् ।
न चोद्वेष्टयितुं शक्त आत्मानं स पुनर्यथा ॥ ३६१ ॥
तथा संसारिणः सर्वे बद्धाः स्वैरेव बन्धनैः ।
न च मोचयितुं शक्ताः पशवः पाशबन्धनाः ॥ ३६२ ॥
स्वयमेव स्वमात्मानं यावद्वै नेक्षते शिवः ।

अनुग्रहशक्त्या ॥

अनादि माया शक्ति के द्वारा जिसकी महिमा अपहृत कर ली गयी है ऐसा अणु अपने भोग के लिये चेष्टा करता हुआ अनन्त कर्माशयों से बद्ध होता रहता है ॥

इसका यह बन्धन कहीं अन्यत्र से नहीं आया । इसकी अपूर्णमन्यता के ही द्वारा यह बन्धन है—यह कहते हैं—

यह आत्मा आत्मा (= अपने स्वयं) से ही बद्ध होता हैं ॥ -३६०- ॥

और असामर्थ्य के कारण बद्ध—

अपने को अपने से मुक्त नहीं करा पाता ॥ -३६० ॥

अर्थात् परमेश्वर के अनुग्रह के बिना (मुक्त नहीं होता) इतना अर्थात् (समझ लेना चाहिये) । (मुञ्चेन्नात्मानं की जगह) मुञ्चेदात्मानम् यह पाठ असङ्गत है ॥३६०॥

इसको दृष्टान्त के द्वारा स्पष्ट करते हैं—

जिस प्रकार कोशकार कीट (= रेशम का कीड़ा) अपने को (अपने द्वारा) मजबूती से वेष्टित कर लेता है लेकिन वह अपने को पुनः उद्वेष्टित नहीं कर पाता उसी प्रकार ये सब संसारी जीव अपने ही बन्धन से बद्ध होते हैं किन्तु पाशबन्धन वाले ये पशु अपने को (पाश से) तब तक मुक्त नहीं कर सकते जब तक कि शिव अपनी अनुग्रह शक्ति के द्वारा इनको नहीं देखते ॥ ३६१-३६३- ॥

यतः—

शिवशक्तिनिपातात्तु मुच्यन्ते पाशबन्धनात् ॥ ३६३ ॥
अन्यथा नैव जानन्ति स्वरूपं यत्सुनिर्मलम् ।
यत्तत् स्वाभिजनं शुद्धमनौपम्यमनामयम् ॥ ३६४ ॥

सुनिर्मलं परमशिवैकरूपम्, अत एव द्वितीयाभावाद् अनौपम्यम्, तथा स्व आत्मैव अभिजनं कारणं यस्य तत्, अनन्यकार्यं स्वतन्त्रवस्त्वित्यर्थः । यस्मात् शुद्धं चिदेकघनमतश्च अनामयं मायासंस्पर्शशून्यम्, यत्तदिति लोकोत्तरम् ॥ ३६४ ॥

कस्मादेतत्स्वरूपं न जानन्तीत्याह—

मोहिता मलमोहेन बद्धाः कर्मकलादिना ।
निगूढास्तत्र तिष्ठन्ति काष्ठे वह्निर्यथा तथा ॥ ३६५ ॥

'अभिलाषो मलोऽत्र तु' (४।१०५)

इति यः पूर्वमपूर्णमन्यतात्मा स्वरूपाख्यातिरूपो मल उक्तः, स एव मोहोऽज्ञानम्, तेन मोहिता अज्ञीकृताः, अतश्च तत्रैव पाशबन्धे निगूढा निमग्न-

---

अनुग्रह शक्ति के द्वारा ॥
क्योंकि—

शिव के शक्तिपात के द्वारा ही (अणु) पाशबन्धन से मुक्त होते हैं । अन्यथा वे उनका जो स्वाभिजन, शुद्ध, अनुपम, अनामय निर्मल स्वरूप है उसे नहीं जानते ॥ -३६३-३६४ ॥

सुनिर्मल = केवल परम शिवरूप । इसीलिये किसी द्वितीय के न होने से अनुपम । तथा (स्वाभिजन =) स्व = आत्मा ही जिसका अभिजन = कारण है अर्थात् अनन्य कार्य अर्थात् स्वतन्त्र वस्तु । चूँकि वह शुद्ध और चिदेकघन है इसलिये अनामय = (आमय =) माया के संस्पर्श से शून्य है । अर्थात् वह लोकोत्तर है ॥ ३६४ ॥

इस स्वरूप को क्यों नहीं जानते—यह कहते हैं—

मल के मोह से मोहित कर्म कला आदि से बद्ध जीव वहाँ पर उसी प्रकार निगूढ (= छिपे हुए) होकर रहते हैं जैसे कि काष्ठ में अग्नि (छिपी रहती है) ॥ ३६५ ॥

'यहाँ अभिलाषा ही मल है' (४।१०५)

इस प्रकार जो पहले अपूर्णमन्यता वाला स्वरूपाख्यातिरूप मल कहा गया वही मोह अर्थात् अज्ञान है । उसके द्वारा मोहित = अज्ञ किये गये इसलिये अपने भोगों की प्राप्ति के लिये चेष्टा करने वाले, कर्म और उसके कारण उत्पन्न कला से लेकर

प्रोक्तस्वस्वरूपास्तिष्ठन्ति, यथा काष्ठेऽन्तरग्निः ॥ ३६५ ॥

स चेत् काष्ठनिगूढः—

उद्धृतस्तु यथा वह्निर्मन्थकस्य वशात् स्फुटम् ।
स्वस्वरूपं प्रपश्येत भास्वरं यत्सुनिर्मलम् ॥ ३६६ ॥
अन्येषामपि जन्तूनां तिमिराक्रान्तचक्षुषाम् ।
प्रकाशयति वस्तूनि हत्वा वै रश्मिभिस्तमः ॥ ३६७ ॥
तथात्मा तु विजानाति यत्स्वरूपमनादिमत् ।
मन्थकस्य वशाद् देवि नान्यथा तु कथंचन ॥ ३६८ ॥

मन्थकस्य वशादित्युक्तिं विभजति—

मन्थकस्त्विह देवेशि स्वयमेव सदाशिवः ।
आचार्यतनुमास्थाय सदा चानुग्रहे स्थितः ॥ ३६९ ॥

च एवार्थे ॥ ३६९ ॥

मन्त्रा मन्थनवज्ज्ञेया अध्वा चात्रारणिर्यथा ।
वागीशी योनिसंस्थाना धूमो ज्ञेयो मलादिवत् ॥ ३७० ॥
आत्मा वै वह्निवज्ज्ञेयो बोधकस्तु परः शिवः ।

पृथ्वी पर्यन्त देह आदि रूप मायीय मल से बद्ध = अस्वतन्त्र, किये गये, इसलिये उसी में = पाश बन्ध में, निगूढ = अपने डूबे हुये स्वरूप वाले होकर, उसी प्रकार रहते हैं जैसे काष्ठ के भीतर अग्नि छिपी रहती है ॥ ३६५ ॥

वह काष्ठ में निगूढ—

अग्नि जैसे मन्थक (= मथनी) के कारण उद्धृत होकर अपने भास्वर निर्मल स्वरूप को देखता है साथ ही तिमिर से आक्रान्त नेत्र वाले अन्य जन्तुओं के अन्धकार को अपनी रश्मियों से दूर कर उनके लिये वस्तुओं का प्रकाश करता है हे देवि! उसी प्रकार मन्थक के द्वारा आत्मा अपने आदि स्वरूप को जानता है अन्यथा किसी प्रकार भी नहीं ॥३६६-३६८॥

'मन्थक के वश से' इस वचन को स्पष्ट करते हैं—

हे देवेशि ! यहाँ मन्थक स्वयं सदाशिव हैं । वही आचार्य का शरीर धारण कर सदैव अनुग्रह करते रहते हैं ॥ ३६९ ॥

उक्त श्लोक में 'च' का प्रयोग 'एव' अर्थ में है ॥ ३६९ ॥

मन्त्रों को मन्थन के समान, अध्वा को अरणिवत्, वागीशी (= शुद्ध विद्या) को योनिवत् और मलों को धूम समझना चाहिये । आत्मा को वह्निवत् और परमशिव को मन्थक समझना चाहिये ॥ ३७०-३७१- ॥

मन्थानं मथनकारणं वैशाखं तद्वन्मन्त्राः, समनान्तोऽध्वाऽरणिः, यदावृत आत्मा वह्निः पूर्वनिर्णीतव्याप्तिदृशा वागीशीयोनौ धूमस्थानीयाख्यातिरूपतुच्छ-मलापासनं परमशिवेन प्रबोध्यते गुरुमूर्तिस्थसदाशिवभट्टारकप्रयुक्त्या ॥

अतश्च—

उद्बोधितो यथा बह्निर्निर्मलोऽतीव भास्वरः ॥ ३७१ ॥
न भूयः प्रविशेत् काष्ठं तथात्माध्वन उद्धृतः ।
मलकर्मकलाद्यैस्तु निर्मुक्तो विगतक्लमः ॥ ३७२ ॥
तत्रस्थोऽपि न बध्येत यतोऽतीव सुनिर्मलः ।

मलादिनिर्मोकादे(वा)[1] संसारतया विगतक्लमः तत्रस्थोऽप्युपनतभोगातिवाहन-मात्रप्रयोजनतस्तन्मध्यवर्त्यपि न बध्येत तदहंभावाभिमानवान् न भवति, अपि तु सुष्ठु निर्मलचिद्घनात्माविष्ट एव सर्वदा ॥

किं च—

रसवह्निसमायोगात्ताम्रं कालिकया यथा ॥ ३७३ ॥

मन्थान = मन्थन क्रिया करने का साधन अर्थात् वैशाख । मन्त्र उसी के समान हैं । (पृथ्वी से लेकर) समना स्तर तक का अध्वा अरणि है जिससे आवृत आत्मा रूपी अग्नि, पूर्व वर्णित व्याप्ति के अनुसार वागीशीयोनि में धूम स्थानीय अज्ञान रूप तुच्छ मल को हटाने के साथ परमशिव के द्वारा प्रबुद्ध की जाती है । (परमेश्वर प्रच्छन्न कारण होते हैं वे) गुरुमूर्त्ति में स्थित सदाशिव भट्टारक की नियुक्ति के द्वारा (उक्त कार्य सम्पन्न कराते हैं) ॥

जिस प्रकार उद्बोधित अग्नि अत्यन्त निर्मल और भास्वर हो जाता है और पुनः काष्ठ में प्रविष्ट होकर निगूढ नहीं होता उसी प्रकार से आत्मा (क्षित्यादि समनान्त) अध्वा से उद्धृत होकर मल, कर्म एवं कला आदि से निर्मुक्त होकर क्लमरहित हो जाता है । चूँकि वह अतीव सुनिर्मल हो गया होता है अतः उस (अध्वा) में रहते हुए भी वह बद्ध नहीं होता ॥ -३७१-३७३- ॥

मल आदि के निर्मोक से उसके लिये संसार नहीं रहता (अर्थात् वह संसरण नहीं करता) अत एव क्लेश रहित होकर वह उस संसार में रहते हुए भी प्राक्तन प्रारब्ध कर्म के भोगों का अतिवाहन करने के लिये ही संसार में रहते हुए भी बद्ध नहीं होता अर्थात् (वह शरीर आदि के प्रति) अहंभाव मय भाव के अभिमान से रहित होता है वह सर्वदा सुष्ठु भली प्रकार निर्मल चिद्घन ही रहता है ॥

और भी—

---

१. व ।

विश्लेषितं तु तत्त्वज्ञैर्हेमत्वं प्रतिपद्यते ।
न भूयस्ताम्रतां याति तथात्मा न कदाचन ॥ ३७४ ॥

अख्यातिरूपया कालिकया गुरुणा वियोजित आत्मा न पुनर्युज्यत इत्यर्थः ॥ ३७४ ॥

अत्र च—

रसवन्मन्त्रशक्तिस्तु क्रिया ज्ञेया तु वह्निवत् ।
तज्ज्ञश्चैव शिवो ज्ञेय आचार्यतनुविग्रहः ॥ ३७५ ॥
आत्मा वै हेमवज्ज्ञेयो मलो ज्ञेयस्तु कालिका ।

क्रिया दीक्षा, तज्ज्ञो रसवह्नियोजनावज्ज्ञानयोगक्रियामयदीक्षासतत्त्ववित् ॥३७५॥

अतश्च—

मन्त्रद्रव्यक्रियायोगाद्वह्न्याधारे तथा प्रिये ॥ ३७६ ॥
गुरुणा तन्त्रविदुषा ह्यात्मा वै निर्मलीकृतः ।
न भूयो मलतां याति शिवत्वं याति निर्मलम् ॥ ३७७ ॥

जिस प्रकार तत्त्वज्ञ लोगों के द्वारा ताँबा, रस (= पारद) और अग्नि के समायोग से कालिका (= कालिमा) से पृथक् कर दिये जाने पर सोना बन जाता है और फिर लौट कर ताँबा नहीं बनता है उसी प्रकार से आत्मा भी एक बार बन्धन से अलग हो जाने पर पुनः बन्धन में नहीं पड़ती ॥ -३७३-३७४ ॥

गुरु के द्वारा अज्ञानरूपी कालिका से वियोजित हुआ आत्मा पुनः (अज्ञान से) युक्त नहीं होता ॥ ३७४ ॥

यहाँ पर—

मन्त्र शक्ति को रस (= पारद) के समान और क्रिया (= दीक्षा) को अग्नि के समान समझना चाहिये । उस क्रिया को जानने वाले को आचार्यशरीरधारी शिव समझना चाहिये । आत्मा को स्वर्ण और मल को कालिका के समान समझना चाहिये ॥ ३७५-४७६- ॥

क्रिया = दीक्षा । तज्ज्ञ = रसवह्नियोजना की भाँति ज्ञान और योग क्रियामयी दीक्षा के तत्त्व को जानने वाला ॥ ३७५ ॥

हे प्रिये ! मन्त्र, द्रव्य और क्रिया के योग से जब वह्नि के आधार (शिष्य की देह) में तन्त्रवेत्ता गुरु के द्वारा जब आत्मा निर्मल हो जाता है तब पुनः मलिन नहीं होता प्रत्युत निर्मल शिवत्व को प्राप्त हो जाता है ॥ -३७६-३७७ ॥

तथेति चतुर्थपटलोक्तप्रक्रियायोजनिकाक्रमेण । तन्त्रविदुषेति तन्त्रज्ञानमत्र पर उपाय इति शिक्षयति ।[१] उक्तं हि—

'न चावज्ञा क्रियाकाले संसारोद्धरणं प्रति ।
मन्त्रदानव्रतादेशे शिष्यध्रुङ् नारकी भवेत् ॥' इति ।

मलतामित्यपूर्णंमन्यतारूपामख्यातिम्, शिवत्वं परशिवैक्यम् ॥ ३७७ ॥

उपसंहरति—

एवं ज्ञात्वा वरारोहे दीक्षा कार्या यथा पुरा।

चतुर्थपटलोक्तक्रमेण । वक्ष्यति हि—

'नास्ति दीक्षासमो मोक्षः' (११।१९९) इति ॥

तत्र च दीक्षायाम्—

शोधयेन्मुख्यपाशांश्च ये प्रोक्तास्ते मया पुरा ॥ ३७८ ॥

'मलकर्म निमित्तं तु नैमित्तिकमतः परम्'

उस प्रकार = चतुर्थ पटल में वर्णित प्रक्रिया = योजनिका दीक्षा के क्रम से । तन्त्रवित् के द्वारा—इस कथन से ग्रन्थकार ईश्वर यह बतलाना चाहते हैं कि इस विषय में तन्त्रज्ञान श्रेष्ठतम उपाय है । कहा भी गया है—

'संसार से उद्धार के विषय में क्रिया करते समय अवज्ञा नहीं करनी चाहिये । मन्त्र दान और व्रत के आदेश के विषय में शिष्य का द्रोह करने वाला गुरु नारकी होता है ।'

मलता को = अपूर्णंमन्यता रूप अज्ञान को । शिवत्व = परशिव के साथ एकता ॥ ३७७ ॥

उपसंहार करते हैं—

हे वरारोहे ! ऐसा जान कर पूर्व कथन के अनुसार दीक्षा करनी चाहिये ॥ ३७८- ॥

(यथा पुरा =) चतुर्थ पटल में उक्त क्रम से । जैसा कि आगे कहेंगे—

'दीक्षा के समान मोक्ष नहीं है ।'

उस दीक्षा में—

जिनको मैंने पहले बतलाया है उन मुख्य पाशों का शोधन करना चाहिये ॥ -३७८ ॥

---

१. तन्त्रालोक (२३।२९-३०) समुद्धृतसिद्धातन्त्रवचनेन तुलनीयम् ।

इति तन्त्रान्तरे ॥ ३७८ ॥

अतश्च—

गुणभूतास्तु ये पाशास्तेऽपि शुध्यन्ति तद्वशात् ।

गुणभूताः मदमोहादयः, तद्वशादित्याणवकार्ममायीयशुद्धिवशात् ॥

किन्तु गुणभूतमपीदम्—

चतुर्दशविधं चैव यदुक्तं तु मया पुरा ॥ ३७९ ॥
संसारमण्डलं देवि शोध्यं तदवनीतले ।

शोध्यमिति पृथगेवेत्यर्थः ॥

अतश्च—

तद्वक्ष्यामि क्रमात् सर्वं यथा शोध्यं शिवाध्वरे ॥ ३८० ॥

अदूर एव ॥ ३८० ॥

यच्च—

'मलकर्म निमित्त है इसके अतिरिक्त सब कुछ नैमित्तिक हैं ।'

यह अन्य तन्त्र में कहा गया है ॥ ३७८ ॥

इस कारण—

जो पाश गुणभूत (= गौण) हैं वे भी उस (= मुख्यपाश शोधन) के कारण शुद्ध हो जाते हैं ॥ ३७९- ॥

गुणभूत = मद मोह आदि । उसके कारण = आणव मायीय और कार्ममलों की शुद्धि के कारण ॥

किन्तु गुणभूत भी यह—

चौदह प्रकार वाला संसार मण्डल जिसे मैंने पहले बतलाया है हे देवि ! इस पृथिवीतल पर उसका शोधन करना चाहिये ॥ -३७९-३८०- ॥

शोध्य—अर्थात् पृथक् करके (न कि मुख्यपाशों के साथ) ॥

इसलिये—

शिवयाग में वह संसारमण्डल जिस प्रकार शोध्य है उस सबको मैं क्रमशः शीघ्र ही बतलाऊँगा ॥ -३८० ॥

शीघ्र ही—

और जो कि—

ब्रह्मादिस्तम्भपर्यन्तं प्राधान्येन विशोधयेत् ।

न त्वन्तर्भावेनेत्युक्तम् ॥

तत् क्रमेण तावदुद्दिशति—

ब्राह्मं चैव तु प्राजेशं सौम्यमैन्द्रं तथैव च ॥ ३८१ ॥
गान्धर्वं चापरं याक्षं राक्षसं च तथापरम् ।
पैशाचं क्रमतः शोध्यं स्थावरं मानुषं तथा ॥ ३८२ ॥

स्थावरं पञ्चविधं तिर्यग्योन्युपलक्षणम् । क्रमत इति संहारक्रमेण ॥ ३८२ ॥

यदुक्तम्—

'संहारक्रमयोगेन ते च शोध्याः' (१०।३५२).

इति संहारक्रमेण शोधनं तत्तत्स्थावरादिजातीयमध्यगतप्रधानभूतैकैकक्रमेण प्रस्तावयति—

सप्तच्छदं स्थावराणां सर्पाणां वासुकिं तथा ।
पक्षिणां गरुडं चैव मृगाणां सिंहमेव च ॥ ३८३ ॥
पशूनां चैव गोयोनिं............

ब्रह्माजी से लेकर स्तम्भ पर्यन्त तप का प्रधानतया शोधन करना चाहिये ॥ ३८१- ॥

न कि अन्तर्भाव के द्वारा यह कहा गया ॥

उसका क्रम से नाम लेकर बतलाते हैं—

ब्राह्म, प्राजेश, सौम्य, ऐन्द्र, गान्धर्व, याक्ष, राक्षस, पैशाच, स्थावर और मानुष का क्रम से शोधन करना चाहिये ॥ -३८१-३८२ ॥

स्थावर-पाँच प्रकार का । यह तिर्यक् योनि का भी उपलक्षण है । क्रम से = संहार क्रम से (= अर्थात् सबसे पहले स्थावर और सबके अन्त में ब्राह्म का शोधन करना चाहिये) ॥ ३८२ ॥

जैसा कि कहा गया—

'उनका संहारक्रम से शोधन करना चाहिये......' ॥ (१०।३५२)

संहारक्रम से शोधन को तत्तत् स्थावर आदि जाति के मध्य में वर्त्तमान प्रधानभूत एक-एक व्यक्ति के क्रम से प्रस्तुत करते हैं—

स्थावरों में सप्तच्छद (= एक गुच्छ से सात पत्तों वाला क्षीर वृक्ष, छितवन), सर्पों में वासुकि, पक्षियों में गरुड, मृगों में सिंह और पशुओं में गाय (का शोधन करना चाहिये) ॥ ३८३-३८४- ॥

अत्र च देवदत्तात्मने प्राक्कर्मार्जितस्थावरादिजातिप्रधानभूतं सप्तच्छदं शोधयामि स्वाहा, इत्याद्यूहः कार्यः ॥

एवं तैर्यग्योनं पञ्चप्रकारं प्रातिलोम्येन संशोध्य—

............मनुष्यांश्च विशोधयेत् ।

तानपि प्रातिलोम्येन ॥

अन्त्यजान् शूद्रविट्क्षत्रब्राह्मणांश्च विशोधयेत् ॥ ३८४ ॥

तदेतासु सर्वासु जातिषु—

पञ्चभिर्ब्रह्मभिर्देवि त्वधिकारान् विशोधयेत् ।

अधिकारान् प्राक्कर्मवशसम्भाव्यमानतत्तज्जातिसम्बन्धात् ॥

कथम्—

दशाहुतिप्रयोगेण अन्त्यजान् ब्राह्मणावधि ॥ ३८५ ॥

'तिस्रः पञ्चदशैका वा' (४।४४८)

यहाँ शोधन के लिये 'देवदत्तात्मने.........स्वाहा' (अर्थात् देवदत्त नामक आत्मा के लिये पूर्व जन्म के कर्मों से अर्जित स्थावर जाति के प्रधानभूत सप्तच्छद को शोधित कर रहा हूँ—स्वाहा) इस प्रकार की योजना करनी चाहिये ॥

इस प्रकार तिर्यक् योनि के पाँच प्रकारों (= स्थावर, सरीसृप, पक्षी, मृग और पशु) का उल्टे क्रम (स्थावर से प्रारम्भ कर पशुतक के क्रम) से संशोधन कर—

मनुष्यों का शोधन करना चाहिये ॥ -३८४- ॥

उनका भी उल्टे क्रम से (शोधन होना चाहिये) ॥

पहले अन्त्यज और वाद में क्रम से शूद्र वैश्य क्षत्रिय और ब्राह्मणों का शोधन करना चाहिये ॥ -३८४ ॥

इन सब जातियों में—

हे देवि ! पाँच ब्रह्म (ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) के द्वारा अधिकारों का शोधन करना चाहिये ॥ ३८५- ॥

ये अधिकार पूर्व जन्म के कर्मवश सम्भाव्यमान तत्तत् जाति के सम्बन्ध से प्राप्त होते हैं ॥

(यह शोधन) कैसे (करना चाहिये—यह कहते हैं—)

अन्त्यज से लेकर ब्राह्मणपर्यन्त दश आहुतियों को दे कर करना चाहिये ॥ -३८५ ॥

इति प्रागुक्तेरिहायमपवादः । तत्र स्थावरादिपश्वन्ते पञ्चकेऽन्त्यजादिब्राह्मणान्ते च पञ्चके प्रातिलोम्येन सद्योजातादय ईशानान्ताः प्रणवपूर्वका मन्त्रा मन्तव्याः ॥ ३८५ ॥

ब्राह्मणस्य षट्कर्माधिकारित्वात् (त)[1]च्छुद्धौ विशेषमाह—

ब्राह्मणस्याधिकाराष्टौ चत्वारिंशतमेव च ।

विशोधयेदित्येव ॥

तान् क्रमेणाह—

गर्भः पुंसवनं चैव सीमन्तो जातकर्म च ॥ ३८६ ॥
नाम निष्क्रमणं चैव अन्नप्राशनचूडकम् ।
अनेनैव वरारोहे शोध्यास्त्वष्टौ प्रकीर्तिताः ॥ ३८७ ॥

सीमन्तोऽङ्गोपाङ्गविभागसम्पत्तिः, निष्क्रमणमादित्यदर्शनम्, चूडकं शिखाक्लृप्तिः । अनेनैवेति, प्रोक्तक्रमायातविनियोगेनेशानभट्टारककारणकेन दशाहुति-

---

(यह कथन)—

'तीन पाँच दश अथवा एक आहुति......'

इस पूर्व वचन का यह अपवाद है । इस (संशोधन क्रम) में स्थावर से लेकर पशु पर्यन्त एवं अन्त्यज से लेकर ब्राह्मण पर्यन्त पञ्चकों में विपरीत क्रम से सद्योजात से लेकर ईशान पर्यन्त विपरीत क्रम से प्रयुक्त होने वाले मन्त्रों के पहले प्रणव लगाना चाहिये ॥ ३८५ ॥

चूँकि ब्राह्मण षट् कर्म (= यजन-याजन, पठन-पाठन, दान-प्रतिदान अथवा मारण, मोहन, उच्चाटन, स्तम्भन, विद्वेषण, वशीकरण) का अधिकारी होता है इसलिये उसकी शुद्धि में विशेष बतलाते हैं—

ब्राह्मण के अँड़तालिस संस्कारों का शोधन करना चाहिये ॥ ३८६- ॥

शोधन करना चाहिए ॥

उन संस्कारों को क्रम से कहते हैं—

हे वरारोहे ! गर्भाधान, पुंसवन, सीमन्तोन्नयन, जातकर्म, नामकरण, बहिर्निष्क्रमण, अन्नप्राशन और चूडाकरण—ये आठ संस्कार इसी के द्वारा शोध्य कहे गये हैं ॥ -३८६-३८७ ॥

सीमन्त = अङ्ग और उपाङ्ग का विभाजन करना । निष्क्रमण = सूर्य का प्रथम दर्शन । चूडक = शिखा का निर्धारण । इसी के द्वारा = प्रोक्त क्रम से आयात

१. तत्त ।

प्रयोगेण ॥ ३८७ ॥

अतश्च—

एतैर्निवर्तितैर्देवि ततोऽसौ जायते द्विजः ।

अविप्लुताभ्यां ब्राह्मणाभ्यामेकं वैदिकैर्मन्त्रैः संस्कारैश्च द्वितीयं जन्म द्विजस्य यत्सिद्धं तदुभयमपीहत्यैरेव मन्त्रैः कृतमिति ॥

एवमस्य द्विजस्य—

नवमो व्रतबन्धस्तु...............

संस्कारः ।

.............स चाङ्गी परिकीर्तितः ॥ ३८८ ॥

यतस्तेनास्य—

अङ्गानि सम्प्रवक्ष्यामि यथावदनुपूर्वशः ।

तान्याह—

मेखला दन्तकाष्ठं च अजिनं त्र्यायुषं तथा ॥ ३८९ ॥

विनियोग के द्वारा जिसमें ईशान भट्टारक कारण होते हैं और दश आहुतियाँ दी जाती हैं ॥ ३८७ ॥

इसलिये—

हे देवि ! इन संस्कारों से शोधित होने के बाद तब यह पुरुष द्विज होता है ॥ ३८८- ॥

अविप्लुत (= शुद्ध) ब्राह्मण माता पिता से एक जन्म होता है । वैदिक मन्त्रों के द्वारा सम्पादित संस्कारों से द्विज का जो दूसरा जन्म सिद्ध होता है यह दोनों यहीं के मन्त्रों के द्वारा किया गया होता है ॥

इस प्रकार इस द्विजन्मा का—

नवम संस्कार व्रतबन्ध है ॥ -३८८- ॥

'संस्कार'—यह शेष है ।

और वह (= नवम संस्कार) अङ्गी माना गया है ॥ -३८८ ॥

क्योंकि इसके द्वारा इस (शिशु) के—

अङ्गों का यथावत् क्रम से वर्णन करूँगा ॥ ३८९- ॥

उन (अङ्गों) को बतलाते हैं—

सध्यां वह्नेरुपासां च भिक्षां वै सप्तमं विदुः ।

त्र्यायुषं भस्मत्रिपुण्ड्रकम् । एतानि च मेखलाव्रतानि सप्त, एतानि ब्रह्मचारी समाचरेत् ॥

नियन्तॄणि च दृष्टानि दीक्षाकाले वरानने ॥ ३९० ॥

दीक्षाकाले मण्डलोपलक्षितभाविगोदानसमयेऽनिष्पन्नानि सन्त्येतानि नियन्तॄणि प्रथमाश्रमावस्थितेर्लोपो मा भूदित्यवश्यानुष्ठेयानि ॥ ३९० ॥

किं च—

भौतेशं पाशुपत्यं च गाणं गाणेश्वरं तथा ।
उन्मत्तकासिधारं च घृतेशं सप्तमं विदुः ॥ ३९१ ॥
सप्तैतानि तु दृष्टानि व्रतानि ब्रह्मचारिणाम् ।

दृष्टानीति पारमेश्वरे शास्त्रे, वेदे तु उच्छिन्नशाखापक्षे स्थितानि, अद्यत्वेऽननुष्ठेयत्वात् ॥

एतानि च—

चर्याव्रतानि बोध्यानि.........

मेखला, (= करधनी) दन्तकाष्ठ (= दातौन) अजिन (= मृगचर्म), त्र्यायुष (= भस्मधारण), सन्ध्या, वह्नि की उपासना (= अग्निहोत्र) और भिक्षा ये सात कहे गये हैं ॥ -३८९-३९०- ॥

त्र्यायुष = भस्म का त्रिपुण्ड्र लगाना । उपर्युक्त ये सात मेखलाव्रत हैं । इसे ब्रह्मचारी को करना चाहिये ॥

हे वरानने ! दृष्ट नियमों का दीक्षाकाल में (शोधन करे) ॥ -३९० ॥

दीक्षाकाल में = मण्डलोपलक्षित भावी गोदान के समय अनिष्पन्न होने वाले ये नियम प्रथम आश्रम में अवस्थित होने के कारण लुप्त न हो जाय इसलिये इनका अनुष्ठान अवश्य करना चाहिये ॥ ३९० ॥

तथा—

भौतेश, पाशुपत्य, गाणपत्य, गाणेश्वर, उन्मत्तक, असिधार और सातवाँ घृतेश्वर—ये सात ब्रह्मचारियों के दृष्ट व्रत हैं ॥ ३९१-३९२- ॥

दृष्ट हैं—पारमेश्वर शास्त्र (= आगम) में वेद । में तो ये उच्छिन्नशाखा पक्ष में स्थित हैं क्योंकि आजकल इनका अनुष्ठान नहीं होता ॥

इन सबको—

चर्याव्रत समझना चाहिये ॥ -३९२- ॥

व्रत(बन्धा)[1]वसरे चरणीयानि ।

एतानि च—

.........अङ्गत्वे कीर्तितानि तु ॥ ३९२ ॥

फलेन फलवतो व्रतबन्धाख्यस्य संस्कारस्यैतान्यङ्गभूतानि व्रतान्तराणि ॥ ३९२ ॥

अतश्च—

एभिस्तु सहितं ह्येकं नवमं व्रतबन्धनम् ।
तस्यान्तर्भूतमेवैतत् कथितं व्रतसप्तकम् ॥ ३९३ ॥

तदेवं मेखलादीनि सप्त, भौतेशादीनि च सप्तेति कृत्वा—

चतुर्दश व्रतान्येवं होतव्यानि वरानने ।

पृथक् पृथक्, न तु व्रतबन्धान्तर्भावमात्रेणेत्याशयः ॥

अथ—

वेदव्रतानि चत्वारि होतव्यानि न संशयः ॥ ३९४ ॥

होमेन सम्पाद्यानि ॥ ३९४ ॥

(चर्याव्रत का तात्पर्य है—) व्रतबन्ध के अवसर पर करणीय ।

और इनका—

अङ्ग के रूप में सङ्कीर्त्तन है ॥ -३९२ ॥

फल के कारण फलवान् व्रतबन्ध नामक संस्कार के ये अङ्गभूत दूसरे व्रत हैं ॥ ३९२ ॥

इसलिये—

इनके साथ एक नवम संस्कार व्रतबन्ध है । ये सात व्रत उसी के अन्तर्गत कहे गये हैं ॥ ३९३ ॥

तो इस प्रकार मेखला आदि सात और भौतेश आदि सात ये मिल कर—

चौदह व्रत होते हैं । हे वरानने ! इनमे हवन करना चाहिये ॥ ३९४- ॥

ये हवन पृथक्-पृथक् होंगे न कि व्रतबन्ध के अन्तर्भाव मात्र से एक ही बार—यह आशय है ॥

इसके बाद—

चार वेदव्रत का हवन करना चाहिये । इसमें संशय नहीं है ॥ -३९४ ॥

---

१. सन्धा ।

तान्याह—

ऐष्टिकं पार्विकं चैव भौतिकं सौमिकं तथा ।

इष्टिपर्वभूतसोमयज्ञप्रतिपादकवैदिकग्रन्थपाठेन कालकार्याणि व्रतान्यैष्टिकादि-शब्दैः पारमेश्वरेषु ग्रन्थेषु उक्तानि । यज्ञसूत्रे तु—

'त्रैविद्यं च चतुर्होत्रं गोदानं स्नानमित्यपि ।
वेदव्रतानि चत्वारि .... ॥'

इत्येवमुक्तानि । इह तु गोदानं पृथगेव भविष्यति ॥

एते च वेदाध्ययनाधिकारदानेन व्रतान्तरापेक्षया प्राधान्यात्—

व्रतेश्वरास्तु चत्वारो ब्रह्मचारिनियामकाः ॥ ३९५ ॥

ब्रह्मचारिणां नियामकास्तथात्वसम्पादकाः ॥ ३९५ ॥

तदेतावत्पर्यन्तमेतान् संस्कारान्—

त्रयोदश विजानीयात्...............

एभिरनुष्ठितश्चायं वेदेष्वधिकृत इत्याह—

(होतव्य का अर्थ है—) होम के द्वारा सम्पाद्य ॥ ३९४ ॥

उन (वेद व्रतों) को बतलाते हैं—

ऐष्टिक, पार्विक, भौतिक और सौमिक (ये चार वेदव्रत हैं) ॥ ३९५-॥

इष्टि, पर्व, भूत और सोम यज्ञों के प्रतिपादक वैदिक ग्रन्थ के पाठ के द्वारा समय-समय पर करणीय व्रत पारमेश्वर ग्रन्थ में ऐष्टिक आदि शब्दों से कहे गये हैं और यज्ञसूत्र में—

'त्रैविद्य (= तीनों वेदों का अध्ययन) चतुर्होत्र (= प्रातः, मध्याह्न, सायं और अर्धरात्रि में सम्पाद्य होम), गोदान और स्नान ये चार वेदव्रत हैं ।'

इस प्रकार कहे गये हैं । यहाँ गोदान अलग सम्पाद्य होता है ॥

वेदाध्ययन का अधिकार प्रदान करने के कारण अन्य व्रतों की अपेक्षा प्रधान होने से ये—

चार व्रतेश्वर ब्रह्मचारी के नियामक हैं ॥ -३९५ ॥

('ब्रह्मचारिनियामकाः' पद की व्याख्या करते हैं—) ब्रह्मचारियों के नियामक अर्थात् ब्रह्मचर्य के सम्पादक ॥ ३९५ ॥

यहाँ तक इन संस्कारों को—

तेरह (की संख्या वाला) जानना चाहिये ॥ ३९६- ॥

............ततो वै वेदभाजनम् ।

किं च—

ततो भवति गोदानं तच्चतुर्दशकं प्रिये ॥ ३९६ ॥

वेदाध्ययनान्ते उपाध्याय गोमिथुनदानेनोपलक्षितमात्मनः केशदिवपनं गोदानम् ॥ ३९६ ॥

अथ गुरुभिर्गार्हस्थ्यायानुज्ञातः—

स्नात उद्वाहयेद् भार्यां ज्ञानसिद्धः कुमारिकाम् ।

वेदाध्ययनेन लब्धशुद्धिः स्नात उच्यते । अध्ययनान्ते हि स्नानमनेनैवाशये-नाम्नातम्, अत एवायं वेदार्थाधिगमात्मना ज्ञानेन सिद्धः सम्पूर्णः ॥

अथ वा 'ब्रह्मचर्यादेव प्रव्रजेत्' इति चोदितत्वात् शीघ्रमेव प्राव्राज्यमिच्छन्—

कृत्वा दर्भमयीं पत्नीं तया सह यजेत् क्रतून् ॥ ३९७ ॥

इनके द्वारा अनुष्ठित यह पुरुष वेदाध्ययन के लिये अधिकृत होता है । यह कहते हैं—

इसके बाद (वह) वेद (के अध्ययन) का पात्र होता है ॥ -३९६- ॥

तथा—

हे प्रिये ! इसके बाद गोदान होता है और वह चौदहवाँ संस्कार कहा गया है ॥ -३९६ ॥

वेदाध्ययन के बाद उपाध्याय के लिये गोमिथुन (= गाय-बछड़ा) के दान से उपलक्षित अपने केश आदि का वपन (= छुरे से साफ करना) गोदान कहलाता है ॥ ३९६ ॥

इसके बाद गुरु के द्वारा गृहस्थाश्रम में जाने के लिये आज्ञाप्राप्त—

स्नातक ज्ञानसिद्ध होने के बाद कुमारी को भार्या के रूप में विवाहित करे ॥ ३९७- ॥

वेदाध्ययन के द्वारा शुद्ध हुआ वह स्नातक कहलाता है । इसी आशय से अध्ययन के बाद स्नान कहा गया है । इसीलिये यह व्यक्ति वेदार्थ के अधिगमरूपी ज्ञान से सिद्ध = सम्पूर्ण है ॥

अथवा 'ब्रह्मचर्य से ही संन्यास ले लेना चाहिये' ऐसा कथन होने के कारण शीघ्र संन्यास चाहने वाला (स्नातक)—

कुश की पत्नी बना कर उसके साथ यज्ञ करे ॥ -३९७ ॥

गृहस्थाश्रमचोदितनित्यनैमित्तिकरूपमित्थमुद्वाहात्मकसंस्कारसम्पादनरूपमेतत् कर्म—

तज्ज्ञेयं पञ्चदशमं............

अनेनैव च—

'पितृदेवमनुष्याणां भूतानां तर्पणं तथा ।
ब्रह्मणोऽध्ययनं चेति महायज्ञास्तु पञ्च वै ॥'

इति यज्ञसूत्रप्रतिपादिता नित्ययज्ञाः संगृहीताः । तदुक्तम्—

'पञ्च सूना गृहस्थस्य चुल्ली पेषण्युपस्करः ।
खण्डनी चोदकुम्भश्च बध्यते यस्तु वाहयन् ॥
तासां क्रमेण सर्वासां निष्कृत्यर्थं महात्मभिः ।
पञ्च क्लृप्ता महायज्ञाः प्रत्यहं गृहमेधिनाम् ॥
अध्यापनं ब्रह्मयज्ञः पितृयज्ञस्तु तर्पणम् ।
होमो दैवो बलिर्भौतो नृयज्ञोऽतिथिपूजनम् ॥'

इत्येवमुद्वाहेनैवैते नित्ययज्ञाः संग्रहीता इत्याशयः ॥ ३९७ ॥

नैमित्तिकानाह—

यह कर्म गृहस्थाश्रम के लिये वर्णित नित्य नैमित्तिक रूप तथा इस प्रकार उद्वाहसंस्कार का सम्पादन रूप है ॥

इसको पन्द्रहवाँ कर्म समझना चाहिये ॥ ३९८- ॥

इसी से—

'पितृ देव मनुष्य (= ऋषि) और भूतों का तर्पण तथा ब्रह्म (= वेद) का अध्ययन ये पाँच महायज्ञ है ।'

इस प्रकार यज्ञसूत्र ग्रन्थ में प्रतिपादित नित्य यज्ञों का संग्रह किया गया । वही कहा गया—

'गृहस्थ के पाँच सूना (= हत्या के साधन) हैं—चूल्हा, चक्की, उपस्कर (= झाड़ू), खण्डनी (= मुसल-ओखली) और उदकुम्भ (= पोंछा लगाने वाला बर्त्तन) । जो इनका उपयोग करता है वह बन्धन में पड़ता है । उन सबकी निष्कृति (= प्रायश्चित्त) के लिये महात्माओं ने गृहस्थों के लिये प्रतिदिन करणीय पाँच महायज्ञ बतलाये हैं । वे हैं—वेद का अध्यापन ब्रह्मयज्ञ है, तर्पण पितृयज्ञ है। होम (दैवयज्ञ), बलि भूतयज्ञ तथा अतिथि का पूजन मनुष्य यज्ञ हैं ।'

इस प्रकार उद्वाह के द्वारा ही ये नित्य यज्ञ संगृहीत हुए हैं—यह आशय है ॥ ३९७ ॥

अब नैमित्तिक कर्मों को कहते हैं—

...........ततः पाकमखाः क्रमात् ।
नैमित्तिकांश्च तानाहुः प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ ३९८ ॥
अष्टकाः पार्वणी श्राद्धं श्रावण्याग्रायणी तथा ।
चैत्री चाश्वयुजी चेति सप्त पाकमखाः क्रमात् ॥ ३९९ ॥

पौषादिकृष्णपक्षगताः शाकाद्या अष्टकाः । पार्वणी सितासितपक्षाद्यदिने, तत्रत्यो यागस्तथोक्तः । श्राद्धं पित्र्यादिदिनोक्तो विधिः । श्रावण्यां यागः श्रावणी । आग्रायणी नवान्नयागः । एवं चैत्र्यादिरपि बोद्धव्यः । अन्ये तु आग्रायणीद्वयमिति पठित्वा शरद्वसन्तयोर्नवान्नयागद्वयं व्याचक्षते, ते च पार्वणं श्राद्धमेकमेव वर्णयन्ति । एते च पाकयज्ञा वेदे तु पुरोडाशादिभिः कार्या उक्ताः, वक्ष्यमाणास्तु हविर्यज्ञाः सक्त्वादिभिः । इह तु विशेषानभिधानात् प्रस्तुतैस्तिलैरेव कार्या इति ज्ञेयम् ॥ ३९९ ॥

तदेवम्—

इसके बाद क्रम से पाक यज्ञ होते हैं । उनको (लोगों ने) नैमित्तिक कहा है । उन (= पाकयज्ञों) को क्रम से बतला रहा हूँ । अष्टका, पार्वण, श्राद्ध, श्रावणि, आग्रायणी, चैत्री और आश्वयुजी (= आश्विन में होने वाली) ये क्रमशः सात पाकयज्ञ है ॥ -३९८-३९९ ॥

पौष आदि मास के कृष्ण पक्षों में शाक आदि आठ याग अष्टका[1] हैं । पार्वणी शुक्ल कृष्ण पक्षों के प्रथम दिन में (सम्पाद्य) होती है । इसमें सम्पाद्य यज्ञ भी पार्वण कहा जाता है । श्राद्ध-पिता आदि के परलोकगमन की तिथि में करणीय याग होता है । श्रावण की पूर्णिमा को किया जाने वाला याग श्रावणी है । आग्रायणी[2] = नयी फसल से सम्पाद्य याग । इसी प्रकार चैत्री आदि को भी समझना चाहिये । अन्य विद्वान् 'आग्रायणी तथा' के स्थान पर 'आग्रायणीद्वयम्' ऐसा पाठ मान कर शरद् और वसन्त ऋतुओं में दो नवान्न याग करने चाहिये—ऐसी व्याख्या करते हैं । और वे पार्वण श्राद्ध को एक ही मानते हैं । वेद में ये पाकयज्ञ पुरोडाश आदि के द्वारा करणीय कहे गये हैं । और वक्ष्यमाण हविर्यज्ञ सत्तू आदि से करणीय हाते हैं । यहाँ किसी विशेष द्रव्य का कथन न होने से प्रस्तुत तिलों से ही किये जाने चाहिये—यह समझना चाहिये ॥ ३९९ ॥

तो इस प्रकार—

---

१. कृष्ण पक्ष की सप्तमी, अष्टमी और नवमी को सम्पाद्य होने के कारण इसे अष्टका कहते हैं । ये चार हैं। उनमें शाक अपूप आदि द्रव्यों का विनियोग होता है ।

२. आग्रायणी याग नवीन अन्न से सम्पाद्य होता है । यह दो बार किया जाता है । एक बार अगहन मास में और फिर चैत्र मास में क्योंकि इन्हीं दो महीनों में नवान्न का संग्रह होता है ।

एतैः सह विजानीयाद् द्वाविंशत् परिसंख्यया ।

एतैः सप्तभिः सह पूर्वोक्तान् पञ्चदशसंस्कारान् ।

अथ—

आग्नेयं चाग्निहोत्रं च दर्शं चैव ततः परम् ॥ ४०० ॥
पौर्णमासी तथा ज्ञेया चातुर्मास्यं तथैव च ।
पशुबन्धः समुद्दिष्टः सौत्रामणिरतः परम् ॥ ४०१ ॥
हविर्यज्ञाः समाख्याताः सप्तैते पावनाः प्रिये ।

आग्नेयमरणिक्रमेणाग्न्यानयनम् । अग्निहोत्रं सायंप्रातश्च होमः । दर्शो विपरीतलक्षणयाऽदृश्यमानचन्द्र आमावस्यो यागः । चातुर्मास्यं फाल्गुनात् चैत्राद्वा प्रभृति मासचतुष्टयान्ते पौर्णमासीभवो विशिष्टो यागः । पौर्णमासीशब्देन तु सर्वपौर्णमासीगतः सामान्ययाग उक्तः । पशुबन्धो यागविशेषो यत्र पशोर्मांसवसादि हूयते । सौत्रामणिः सुत्रामदेवताकः सुरायागः ॥

एतानपि सङ्कलयति—

एभिः सह विजानीयात् संस्कारैकोनत्रिंशकम् ॥ ४०२ ॥

इन सात के साथ पूर्वोक्त पन्द्रह संस्कारों को (जोड़ने पर इनकी) संख्या बाईस जाननी चाहिये ॥ ४००- ॥

इनके साथ पूर्वोक्त पन्द्रह संस्कारों को जोड़ने पर ।

इसके बाद—

हे प्रिये ! आग्नेय, अग्निहोत्र, इसके बाद दर्श, पौर्णमास, चातुर्मास्य, पशुबन्ध और सौत्रामणि—ये कुल सात पवित्र करने वाले हविर्यज्ञ बतलाये गये हैं ॥ -४००-४०२- ॥

आग्नेय यज्ञ का अर्थ है—अरणिमन्थन के द्वारा अग्नि का आनयन । अग्निहोत्र = सायङ्काल और प्रातःकाल अग्नि में हवन । दर्श = विपरीत लक्षणा के द्वारा अदृश्य चन्द्र वाला याग जो कि अमावास्या के दिन सम्पन्न होता है । चातुर्मास्य = फाल्गुन या चैत्र से लेकर अग्रिम चार मास के अन्त तक पूर्णमासी में सम्पन्न होने वाला विशिष्ट याग । पौर्णमास = सभी पूर्णमासियों में होने वाला सामान्य याग । पशुबन्ध = यह एक विशेष प्रकार का याग होता है जिसमें पशु के माँस चर्बी आदि का हवन होता है । सौत्रामणि याग = सुत्रामन् देवता से सम्बद्ध याग जो कि सुरा से सम्पाद्य होता है ॥

इनका भी सङ्कलन करते हैं—

इनके साथ उन्तीस संस्कार होते हैं ॥ -४०२ ॥

अथ—

अग्निष्टोमात्यग्निष्टोमौ उक्थ्यः षोडशिका तथा ।
वाजपेयोऽतिरात्रस्तु आप्तोर्यामस्तु सप्तमः ॥ ४०३ ॥

त एते यागविशेषाः—

सोमसंस्था समाख्याताः..............

ग्रहकरणकसोमपानयुक्ता यज्ञरूपाः क्रियाः सोमसंस्थाः ॥

एतावदन्तानेतान् संस्कारान्—

............षट्त्रिंशत् परिसङ्ख्यया ।

प्रोक्तमन्त्राहुतिक्रमेण कुर्यादिति शेषः ।

अथ—

हिरण्यपादः प्रथमस्तथा गुह्यहिरण्यधृत् ॥ ४०४ ॥
हिरण्यमेढ्रो हिरण्यनाभिर्हिरण्यगर्भ एव च ।
हिरण्यश्रोत्रो हिरण्यत्वग् हिरण्याक्षस्तथैव च ॥ ४०५ ॥
हिरण्यजिह्वस्तच्छृङ्गो दश यज्ञाः प्रकीर्तिताः ।

गर्भो हृदयम् । एते पक्ष्याद्याकारा अग्निचित्याविशेषा येषां पादादिस्थानेषु

अब (सात विशेष यागों को बतलाते हैं—)

अग्निष्टोम, अत्यग्निष्टोम, उक्थ्य, षोडशिका, वाजपेय, अतिरात्र और आप्तोर्याम ॥ ४०३ ॥

ये याग विशेष—

सोम के अन्दर स्थित बतलाये जाते हैं ॥ ४०४- ॥

जो उचित ग्रह और करण के समय सोमपान युक्त यज्ञरूप क्रियायें होती हैं वे सोमसंस्था यज्ञ कहे जाते हैं ।

यहाँ तक कि इन संस्कारों को—

जिनकी संख्या छत्तीस है ॥ -४०४- ॥

प्रोक्त मन्त्र (का उच्चारण करते हुए) आहुति के क्रम से करना चाहिये ।

इसके बाद—

हिरण्यपाद, हिरण्यगुह्य, हिरण्यधृत, हिरण्यमेढ्र, हिरण्यनाभि, हिरण्यगर्भ, हिरण्यश्रोत्र, हिरण्यत्वक्, हिरण्याक्ष, हिरण्यजिह्व और हिरण्यशृङ्ग—ये दश यज्ञ कहे गये हैं ॥ -४०४-४०६- ॥

हिरण्यं दीयते ॥

येषां तत्तत्पक्ष्याद्याकृतिभेदात्—

शतेन तु घृतं चात्र एकैकं तु विजायते ॥ ४०६ ॥

एतत्सम्पत्त्यर्थं होमे विशेषमाह—

एते सर्वे सहस्रेण शुद्ध्यन्ते..........

स एव सहस्रहोमसम्पाद्यो हिरण्यपादादिश्चित्ययज्ञः ।

.....सप्तत्रिंशकः ।

किं च—

अश्वमेधं ततः पश्चाज्जुहुयात्तु यथाक्रमम् ॥ ४०७ ॥

ब्राह्मणस्यापि कर्मवशप्राप्तसार्वभौमभूपतित्वस्यायमश्वमेधः कार्य एव ॥ ४०७ ॥

एवं विवाहात् प्रभृति एतावदन्तैः—

एवं कृतैस्तु तैः सर्वैस्ततश्चैव गृही भवेत् ।

गर्भ = हृदय । ये यज्ञ पक्षी आदि के आकार वाले विशेष प्रकार के अग्निचित्य यज्ञ होते हैं जिनके पाद आदि स्थानों में सुवर्ण का दान किया जाता है ॥

इन यज्ञों के तत्तत् पक्षी आदि की विशिष्ट आकृति से भिन्न होने के कारण—

एक-एक याग को घृत के द्वारा एक-सौ आठ आहुति देकर सम्पन्न करते हैं ॥ -४०६ ॥

इसकी सम्पन्नता के लिये विशेष होम बतलाते हैं—

ये सब (दशों याग) एक सहस्र होम से शुद्ध होते हैं ॥ ४०७- ॥

एक हजार होम से सम्पाद्य हिरण्यपाद आदि दश यज्ञ ही चित्ययज्ञ हैं ।

यह सैतीसवाँ (संस्कार) है ॥ -४०७- ॥

इसके अतिरिक्त—

इसके पश्चात् क्रमानुसार अश्वमेध याग करना चाहिये ॥ -४०७ ॥

(यद्यपि अश्वमेध क्षत्रिय द्वारा कर्त्तव्य याग है तथापि) ब्राह्मण भी यदि कर्मवश सार्वभौम भूपतित्व को प्राप्त कर लेता है तो अश्वमेध याग कर सकता है ॥४०७॥

इस प्रकार विवाह से लेकर यहाँ तक के—

इस प्रकार के किये गये उन सब कृत्यों से व्यक्ति गृहस्थ होता है ॥ ४०८- ॥

द्वितीयाश्रमस्थः ॥

अष्टात्रिंशत्तमं तं तु..........

अश्वमेधाख्यं संस्कारं जानीयादित्यर्थः ।

................वानप्रस्थं ततो भवेत् ॥ ४०८ ॥

पारिव्राज्यं ततोऽन्तेष्टिमेवं ब्राह्मण्यमाप्नुयात् ।

वानप्रस्थं पारिव्राज्यं चाश्रमद्वयरूपं संस्कारद्वयम् । अन्तेष्टिर्विहितानानुष्ठान-सम्भाव्यमानप्रायश्चित्तशुद्ध्यर्थं गार्हस्थ्यावस्थितस्य कार्या, न तु वानप्रस्थस्याश्रित-पारिव्राज्यस्य वा, तेनासौ पृथङ् न गण्यते । एवमिति पारमेश्वरमन्त्रहोमक्रमेण, पाशवे तु विधौ सत्यपि बीजाहरादिदोषसद्भावान्न सम्यग् ब्राह्मण्यं भवति । इदं तु पारिव्राज्यलक्षणं चत्वारिंशत्तमसंस्कारमेतैः सह विजानते, एतैः सह गणितमिति यावत् ॥

अत आत्मगुणानष्टौ कथयामि समासतः ॥ ४०९ ॥
दया सर्वेषु भूतेषु क्षान्तिश्चाप्यनसूयता ।
शौचं चैवमनायासो मङ्गलं चाप्यतः परम् ॥ ४१० ॥
अकार्पण्यं चास्पृहा चेत्यष्टावात्मगुणाः स्मृताः ।

अर्थात् द्वितीय आश्रम में स्थित होता है ॥

इस अड़तीसवें को ॥ -४०८- ॥

अश्वमेध नामक संस्कार जानना चाहिये ।

इसके बाद वानप्रस्थ संस्कार होता है । इसके बाद संन्यास और अन्त्येष्टि संस्कार करने के बाद व्यक्ति इस प्रकार ब्राह्मणत्व को प्राप्त करता है ॥ -४०८-४०९- ॥

वानप्रस्थ और संन्यास ये आश्रम दो संस्कार हैं । अन्तेष्टि का अनुष्ठान गृहस्थाश्रम में स्थित व्यक्ति यदि किसी कारणवश कुछ करणीय अनुष्ठान को न कर सके तो उससे सम्भाव्यमान प्रायश्चित्त की शुद्धि के लिये किया जाता है । न कि यह वानप्रस्थ या संन्यास आश्रम वाले के लिये है । इसलिये इस अन्तेष्टि की पृथक् गणना नहीं होती । एवम्—पारमेश्वरमन्त्र के होम के क्रम से । पाशव विधि में बीज आहार आदि दोष के होने से पूर्ण ब्राह्मणत्व सम्भव नहीं है । यह परिव्रज्या वाला चौतींसवाँ संस्कार इनके साथ समझा जाता है अर्थात् उसकी गणना इन संस्कारों के साथ होती है ॥

अब आत्मा के आठ गुणों को संक्षेप में बतला रहा हूँ । समस्त प्राणियों के ऊपर दया, क्षमा, अनसूया, शौच, अनायास, मङ्गल, अकार्पण्य और अस्पृहा ये आठ आत्मा के गुण माने गये हैं ॥ -४०९-४११- ॥

दया परानुकम्पा, क्षान्तिरपकारिषु शक्तत्वेऽप्यप्रतिक्रिया, परगुणसहत्वमनसूयता, चित्तवाक्शरीरशुद्धिः शौचम्, अक्लेशावहकर्मकारित्वमनायासः, मङ्गल्यद्रव्याणां दर्शनस्पर्शनचिन्तनानि मङ्गलम्, यथाशक्ति दातृत्वमकार्पण्यम्, अस्पृहा सन्तोषः, इत्येते आत्मन आत्मसंनिकृष्टस्यान्तःकरणवागादेर्गुणाः, न त्वात्मनस्तस्य चिदेकरूपत्वात् । तत्र (च)[1] दीक्ष्यात्मनो ब्राह्मण्याय गर्भाधानं करोमि स्वाहा, इत्यनेन सप्रणवेशानोच्चारपूर्वेण मन्त्रेणादौ पञ्चकृत्वो हुत्वा पुनर्गर्भाधानं सम्पन्नमस्तु, इत्यन्तेन पञ्चकृत्वो जुहुयात् । इत्थमेव चत्वारिंशदन्तान् संस्कारान् निधाय वक्ष्यमाणमन्त्रक्रमेण गुणाष्टकोत्थापनपूर्वं ब्राह्मणमस्यापाद्येशानेनैवाधिकारभोगादिपूर्वं ब्राह्मण्यमस्य शोध्यम् ॥

इत्थमेव—

चत्वारिंशदथाष्टौ तु संस्काराश्च समासतः ॥ ४११ ॥
एतैः शुद्धैस्तु शुद्ध्यन्ति असंख्या येऽपि सुव्रते ।

दया = दूसरे के ऊपर कृपा । क्षमा = समर्थ होने पर भी अपकारी लोगों के प्रति प्रतिकार न करना । दूसरे के गुणों को सहना अनसूया है । मन वाणी और शरीर की शुद्धि शौच है । क्लेशकारी कर्मों को न करना अनायास है । मङ्गल = मङ्गलकारी द्रव्यों (= शङ्ख, कमल, दूर्वा, गौ आदि) का दर्शन स्पर्श चिन्तन । यथाशक्ति दान देने का स्वभाव अकार्पण्य है । अस्पृहा का अर्थ है—सन्तोष । ये आत्मा के अर्थात् आत्मा से संयुक्त अन्तःकरण वाणी आदि के गुण हैं न कि आत्मा के क्योंकि वह चिदेकरूप है । इस विषय में 'दीक्ष्यात्मनो .... स्वाहा' (अर्थात् दीक्ष्य आत्मा के ब्राह्मणत्व के लिये गर्भाधान कर रहा हूँ) ऐसे प्रणव तथा ईशान (= ॐ हं) से युक्त मन्त्र का उच्चारण करते हुए पहले पाँच बार आहुति देनी चाहिये । पुनः 'गर्भाधानं सम्पन्नमस्तु' इस अन्तवाले (अर्थात् 'ॐ हं दीक्ष्यात्मनो ब्राह्मण्याय गर्भाधानं सम्पन्नमस्तु स्वाहा'—इस मन्त्र से) पाँच बार आहुति दे । इसी प्रकार (दीक्ष्य के अन्दर '.... पुंसवनं करोमि .... पुंसवनं सम्पन्न मस्तु ...' इत्यादि योजना के साथ हवन करते हुए) चालिस संस्कारों का आधान करना चाहिये । तत्पश्चात् वक्ष्यमाण मन्त्रक्रम से आठ गुणों को (दीक्ष्य की आत्मा में) उत्थापित कर इसका ब्राह्मणत्व सम्पन्न कर ईशान बीज (हं) के ही द्वारा इसके अधिकार भोग आदि पूर्वक ब्राह्मणत्व का शोधन करना चाहिये ॥ ४०९-४१०- ॥

इस प्रकार—

संक्षेप में चालिस और आठ संस्कार बतलाये जाते हैं । हे सुव्रते ! इनके शोधित होने पर अन्य जो असंख्य संस्कार हैं वे भी शुद्ध हो जाते हैं ॥ -४११-४१२- ॥

---

१. न ।

चत्वारिंशद्देहविषयाः, अष्टौ तु पुर्यष्टकनिष्ठाः । असंख्या इत्याचाराध्यायोक्तविविधाचाररूपाः ॥

यत एते आत्मगुणाश्चत्वारिंशद्देहसंस्कारानन्तरमुक्ताः—

अतोऽन्तेष्टिं तु हुत्वा वै गुणानापादयेच्छिशोः ॥ ४१२ ॥

अत्रापि ब्राह्मण्यशुद्धौ सामान्योक्त्येशानमन्त्रस्य विनियोगे प्राप्ते विश्लेषमाह—

पञ्च पञ्चाहुतीर्हुत्वा ब्रह्मभिश्चाप्यनुक्रमात् ।

चशब्द एवार्थे, ब्रह्मभिरेव, अपिशब्दात्समुचितोहयुक्तैः । अनुक्रमशब्दस्यायमर्थः—प्रागुक्तक्रमेण सद्यआदिचतुष्टयेन दयाक्षान्त्यनसूयाशौचाख्यं चतुष्टयं प्रोक्तयुक्त्या पञ्चधा पञ्चधा हुत्वा, ईशानेनायासमङ्गलाकार्पण्यास्पृहाख्यं चतुष्टयं तथैवाहुतिभिः सम्पादयेदिति ॥

आहुतिषु करणमाह—

(उपर्युक्त अँड़तालिस संस्कारों में से) चालिस देहविषयक हैं और आठ पुर्यष्टक (= सूक्ष्मशरीर) में रहने वाले । असंख्य = आचाराध्याय में वर्णित विविध आचार रूप ॥

चूँकि ये आत्मा के गुण चालिस देहसंस्कारों के बाद कहे गये हैं—

इसलिये अन्तेष्टि हवन करने के बाद शिशु के अन्दर गुणाधान करना चाहिये ॥ -४१२ ॥

यहाँ भी ब्राह्मण्य की शुद्धि में सामान्य उक्ति के द्वारा ईशान मन्त्र का विनियोग प्राप्त होने पर विश्लेष को बतलाते हैं—

ब्रह्म[1] के द्वारा क्रमशः पाँच-पाँच आहुतियाँ देनी चाहिये ॥ ४१३- ॥

'च' शब्द का प्रयोग 'एव' अर्थ में है । इस प्रकार अर्थ होगा—'ब्रह्मभिः एवं' 'अपि' शब्द का अर्थ है—समुचित ऊहयुक्त (ब्रह्ममन्त्रों) के द्वारा । अनुक्रम शब्द का यह अर्थ है—पूर्वोक्त क्रम से सद्योजात आदि चार (= सद्योजात, वामदेव अघोर और तत्पुरुष) मन्त्रों के द्वारा दया क्षमा अनसूया और शौच नामक चार गुणों को उपर्युक्त युक्ति के द्वारा पाँच-पाँच बार आहुति देकर ईशान मन्त्र के द्वारा अनायास मङ्गल अकार्पण्य और अस्पृहा नामक चार गुणों की उसी प्रकार आहुति देकर सम्पादन करना चाहिये ।

आहुतियों के लिये साधन बतलाते हैं—

---

१. भगवान् शिव के ईशान सद्योजात वामदेव अघोर और तत्पुरुष मुख ही ब्रह्म कहे जाते हैं (अथवा ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर और सदाशिव ये पाँच ब्रह्म कहे जाते हैं ।)

तिलैर्घृतेन वा तांश्च...............

दत्त्वेति सम्बन्धः । तिलाः स्नेहमयबीजात्मकाः, आज्यं मूर्तः स्नेह इति । संस्कारबीजानां संस्काराभिलाषस्नेहस्य चैतत्र(ति)कृतिरूपं वासनास्नेहदाहात्मके दीक्षाकर्मणि होतव्यम् ॥

एवं कृत्वा—

............ऊर्ध्वे तु विनियोजयेत् ॥ ४१३ ॥

किमूर्ध्वमित्याह—

ऊर्ध्वशब्देन चाशुद्धं यत्कर्म परिकीर्तितम् ।

मनुष्यजातिप्रदस्य कर्मणो भूर्लोके शोधितत्वात् तदुपरिवर्तिदेवयोनिप्रदं कर्म यत्तदूर्ध्वमुच्यते ॥

तच्छुद्धये च दीक्ष्यस्य—

तस्मिन् संयोजनं कार्यं..............

न तु तं त्यक्त्वान्यत्रेत्याह—

..............न चान्यत्र विधीयते ॥ ४१४ ॥

(घृतमिश्रित) तिल अथवा केवल घृत ॥ -४१३- ॥

देकर उन (संस्कारों को शुद्ध करना चाहिये)—ऐसा अन्वय है । तिल स्नेहमय बीज होते है जब कि घृत मूर्तिमान् स्नेह है । यह तिल संस्कार बीजों की और संस्काराभिलाष स्नेह की प्रतिकृति (= छाया, प्रतिरूप) है । इसलिये वासना रूपी स्नेह के दाह वाले दीक्षाकर्म में इनका हवन करना चाहिये ॥

ऐसा करने के बाद—

इस दीक्ष्य का ऊर्ध्व कर्म में विनियोग करना चाहिये ॥ -४१३ ॥

ऊर्ध्व क्या है—इसको बतलाते हैं—

जो अशुद्ध कर्म है वही 'ऊर्ध्व' शब्द से कहा गया है ॥ ४१४- ॥

मनुष्य जन्म देने वाले कर्मों का भूलोक में शोधन होने के कारण इस लोक के ऊर्ध्ववर्त्ती जो देवयोनिप्रद कर्म है वही ऊर्ध्व कहा जाता है ॥

और उसकी शुद्धि के लिये दीक्ष्य का—

उसमें संयोजन करना चाहिये ॥ -४१४- ॥

न कि उसको छोड़ कर—

अन्यत्र विधान करना चाहिये ॥ -४१४ ॥

एतत् स्फुटयति—

तस्मान्नोद्धरणं कार्यं न चापि नयनं क्वचित् ।
यत्तत्र परिपाट्या तु कर्म तत्र नियोजयेत् ॥ ४१५ ॥

उद्धरणमुल्लङ्घनम् । नयनमस्य स्थानेऽन्यस्य शोधनम् । नियोजयेत् इति दीक्ष्यम् ॥ ४१५ ॥

एवं स्थावरादिक्रमेण मनुष्यजातिभेदान् संशोध्य देवयोनीः शोधयितुमाह—

ततोऽणिमादिरापाद्यो ब्रह्मभिश्चाप्यनुक्रमात् ।
पञ्चाहुतिप्रयोगेण भोगार्थं चैवमात्मनः ॥ ४१६ ॥

प्राग्वत् संहारक्रमेण प्रणवसद्योजातोच्चारपूर्वं 'देवदत्तस्य पैशाचाणिमादिमापादयामि स्वाहा' इत्याहुतीः पञ्च हुत्वा तद्भोगप्राप्तिमस्य सञ्चिन्त्य तेनैव मन्त्रेण 'पैशाचभोगमस्य शोधयामि स्वाहा' इति पञ्चाहुतीर्दद्यात् । अनेन क्रमेण वामदेवाघोरतत्पुरुषैः राक्षसयाक्षगान्धर्वान् संशोध्य ऐन्द्रादिब्रह्मान्तचतुष्टयं सत्त्वप्रधानमीशानभट्टारकेणैव शोधयेत् ॥ ४१६ ॥

इसको स्पष्ट करते हैं—

इस कारण न तो उल्लङ्घन करना चाहिये और न कहीं ले जाना चाहिये । वरन् परम्परा के अनुसार जो वहाँ कर्म हैं उसमें दीक्ष्य को नियोजित करना चाहिये ॥ ४१५ ॥

उद्धरण = उल्लङ्घन । नयन = इसके स्थान में किसी दूसरे दीक्ष्य का शोधन नियोजित करना चाहिये ॥ ४१५ ॥

इस प्रकार स्थावर आदि के क्रम से मनुष्य जाति के भेदों का संशोधन कर देवयोनियों का शोधन करने के लिये कहते हैं—

इसके बाद ब्रह्मयों के द्वारा क्रमशः पाँच आहुति के प्रयोग से आत्मा के भोग के लिये अणिमा आदि (अष्ट सिद्धियों) का आपादन करना चाहिये ॥ ४१६ ॥

पूर्व की भाँति संहारक्रम से प्रणव और सद्योजात (= ॐ सद्योजात) का उच्चारण करते हुए 'देवदत्तस्य पैशाचअणिमादिमापादयामि स्वाहा—इस मन्त्र से पाँच आहुतियाँ देकर इस दीक्षा को उस (अणिमादि) का भोग प्राप्त हो गया है ऐसा सोच कर उसी मन्त्र से 'अस्य पैशाचभोगं शोधयामि स्वाहा' इस मन्त्र से पाँच आहुतियाँ देनी चाहिये । इसी क्रम से वामदेव अघोर और तत्पुरुष के नामों अथवा उनके (बीजाक्षरों क्रमशः क अथवा घ, अं और (अं/तं) के द्वारा राक्षस याक्ष और गान्धर्व संस्कारों का संशोधन कर इन्द्र से लेकर ब्रह्मापर्यन्त चार जो कि सत्त्वप्रधान हैं, का ईशान भट्टारक (= हं) के द्वारा शोधन करना चाहिये ॥ ४१६ ॥

न च मानुष्यादनन्तरं देवयोनीरुर्ध्वस्थाः शोध्याः, इति मत्वा बुद्धितत्त्ववर्तिनीस्ताः शोधयेत्, अपि तु—

ऊर्ध्वशब्देन तज्ज्ञेयं यद्भूर्लोकं समाश्रितम् ।
तस्मिन् युक्तस्य कर्तव्यं न चान्यस्मिन् कदाचन ॥ ४१७ ॥

भूर्लो(क स)[1] माश्रितं भूर्लोके देवयोन्युपपत्तिदं यत्कर्म, तदत्रोर्ध्वं ज्ञातव्यम् । तत्र युक्तस्य भोगार्थं योजितस्य मन्त्रैः कर्तव्यं शोधनमित्यर्थात्, न तु बुद्धितत्त्वे, तत्र सुनन्दकरालादिनामविशेषोच्चारणेन शोधनस्य वक्ष्यमाणत्वात् ॥ ४१७ ॥

युक्तं चैतत्, अन्यथा क्रमप्राप्तात् शोध्यस्थानाद् दीक्ष्यात्मनि—

अनुद्धृते कथं योगः.............

न च ततस्तावदुद्धरणं युज्यते—

................यावत् कर्म न भुज्यते ।

दीक्ष्येण दीक्षाप्रभावादिति शेषः ॥

यतश्चायं कर्मफलमवश्यं भोजयितव्यः ततो योजनमस्य तत्तत्कर्मवास-

मनुष्ययोनि के बाद ऊर्ध्वस्थ देवयोनि का शोधन करना चाहिये—ऐसा मानकर बुद्धि तत्त्व में वर्तमान उन देवयोनियों का शोधन नहीं करना चाहिये । बल्कि—

'ऊर्ध्व' शब्द से वह समझना चाहिये जो भूलोक में है । उसमें स्थित का शोधन करना चाहिये न कि अन्य में स्थित का शोधन कभी करना चाहिये ॥ ४१७ ॥

भूलोक में समाश्रित का तात्पर्य है—भूलोक में देवयानि की सिद्धि देने वाला जो कर्म, उसे यहाँ ऊर्ध्व समझना चाहिये । उसमें युक्त = भोग के लिये योजित व्यक्ति, का मन्त्रों के द्वारा शोधन करना चाहिये न कि बुद्धितत्त्व में स्थित का, क्योंकि वहाँ सुनन्द कराल अदि विशिष्ट नामों के उच्चारण से शोधन कहा जायेगा ॥ ४१७ ॥

यह ठीक भी है, अन्यथा क्रम से प्राप्त शोध्यस्थान से दीक्ष्य आत्मा का उद्धार न होने से—

अनुद्धृत होने पर (उसका ऊर्ध्व कर्म से) कैसे योग होगा ॥ ४१८-॥

और उद्धरण तब तक सम्भव नहीं है—

जब तक कि दीक्षा के प्रभाव से दीक्ष्य के द्वारा कर्मों का भोग सम्पन्न नहीं होता ॥ -४१८- ॥

दीक्षा के प्रभाव से दीक्ष्य के द्वारा—यह जोड़ना चाहिए ।

---

१. क ।

नैकतानतामयमाचार्येण भावनया क्रियत इत्याह—

तस्मात्तु योगशब्देन तत्तत्कर्मैकचिन्तना ॥ ४१८ ॥
निवर्त्यते महादेवि.............

अथ—

............निष्कृतिं जुहुयात्ततः ।
शिवेनाष्टशताहुत्या............

शिवेनेति निष्कलेन । एतच्चतुर्थपटल एव निर्णीतं तथा वक्ष्यमाणमपि ॥

यदाह—

............ततस्तु भुवनाधिपान् ॥ ४१९ ॥
भुवनान्तर्निवासांश्च भुवनानां यथाक्रमम् ।
होमेनैव तु संशोध्य विश्लेषं छेदनं तथा ॥ ४२० ॥
पूर्णां चैव समुद्धारं तत्स्थत्वं चाप्यनुक्रमात् ।

कुर्यादिति शेषः । भुवनानां शोधने प्रस्तुते भुवनेशान् कालाग्न्यादीन् प्रधानभूतान् भुवनान्तर्वासिनश्चान्यानपि तदङ्गभूतानाहूय आहुतिभिः स्मर्तव्यश्रावणादिपूर्वं विसर्जयेदिति । तेषां शोधनं कृत्वा भुक्तेभ्यो भोगेभ्यो दीक्ष्यस्य

चूँकि इस कर्मफल का भोग अवश्य कराना है इसलिये आचार्य इसका तत्तत् कर्मवासना की एकतानता वाला योजन करते हैं—यह कहते हैं—

इसलिये हे महादेवि ! योग शब्द से तत्तत् कर्म की एकचिन्तना सम्पन्न की जाती है ॥ -४१८-४१९- ॥

इसके बाद—

शिव के द्वारा एक-सौ आठ बार निष्कृति हवन करना चाहिये ॥ -४१९-॥

शिव के द्वारा = निष्कल शिव के द्वारा । इसका वर्णन चौथे पटल में किया जा चुका है और आगे किया भी जायेगा ॥

जैसा कि कहा गया—

इसके बाद भुवनेश्वरों, भुवनों के अन्दर रहने वालों और भुवनों का क्रम से होम के द्वारा शोधन कर विश्लेष, छेदन, पूर्णाहुति, समुद्धार और तत्स्थत्व संस्कारों को क्रम से करना चाहिये ॥ -४१९-४२१- ॥

कुर्यात् = करना चाहिये—यह जोड़ना चाहिए । भुवनों का शोधन प्रस्तुत होने पर प्रधानभूत कालाग्नि आदि भुवनेश्वरों, भुवनों के अन्दर रहने वालों तथा भुवनाङ्गभूत अन्यों का आवाहन कर आहुतियों के द्वारा स्मरणीय का श्रावण कराने

विश्लेषो वियोजनम्, छेदनं तु सूत्रस्य भुवनात्मनः पाशस्य, समुद्धारं ततो भुवनात्, तत्स्थत्वं शिष्यहृन्निवेशमित्यादि पूर्वमेव निर्णीतम् । यथाक्रममिति वदन्नुद्धारादनन्तरमात्मस्थीकरणम्, ततस्तत्स्थीकरणम्, ततो भुवनेशाह्वानमिति प्रागुक्तमेव क्रमं स्मारयति भूर्लोकेशाधिपतिर्भगवान् शर्व इत्यग्रे भविष्यति ॥

किं च—

प्रायश्चित्तं ततो हुत्वा न्यूनाधिकनिमित्ततः ॥ ४२१ ॥

उत्तरं कर्म कार्यमिति शेषः ॥ ४२१ ॥

एतत्सर्वं भूर्लोकोक्तं भुवनान्तरशुद्धावप्यतिदिशति—

एवमादिक्रमेणैव धामान्तं च विशोधयेत् ।

धाम समनावधिकशिवतत्त्वरूपं तदन्तम् । यदुक्तम्—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्' (४।४१०) इति ।

के बाद विसर्जन करना चाहिये । उनका शोधन करने के बाद दीक्ष्य का भुक्त भोगों से विश्लेष = वियोजन करना चाहिये । छेदन तो सूत्र का होता है । यह सूत्र भुवनस्वरूप पाश का प्रतीक होता है । इसके बाद उस भुवन से समुद्धार होता है। 'तत्स्थत्व' का अर्थ है—शिष्य के हृदय में निवेश । यह सब पहले ही बतलाया जा चुका है । 'यथाक्रमम्' ऐसा कहते हुए ग्रन्थकार भगवान् शिव उद्धार के बाद आत्मस्थीकरण उसके बाद तत्स्थीकरण, तत्पश्चात् भुवनेश्वर का आह्वान—इत्यादि पूर्वोक्त क्रम का स्मरण कराते हैं । भूलोक के ईश के अधिपति भगवान् शर्व हैं— यह आगे कहा जायेगा ॥

तथा—

इसके बाद न्यूनाधिक्य दोष के परिहार के लिये प्रायश्चित्त होम करने के बाद ॥ -४२१ ॥

उत्तर कार्य करना चाहिये ॥ ४२१ ॥

भूर्लोक के विषय में उक्त यह सब कृत्य अन्य भुवनों की शुद्धि के विषय में भी करने का अतिदेश करते हैं—

इसी प्रकार के क्रम से धाम (= शिवतत्त्व) पर्यन्त शोधन करना चाहिये ॥ ४२२- ॥

धाम = समना के बाद स्थित (उन्मना या) शिवतत्त्व । वहाँ तक अर्थात् उस शिव तत्त्व के पहले तक (शोधन करना चाहिये) । जैसा कि कहा गया—

'हे वरारोहे ! यह समना तक पाश जाल अनन्त है ।' (४।४१०)

एवमादिक्रमेणेति, प्रोक्षणादिपूर्वं शिष्यात्मनस्तत्र प्रागुक्तसंस्कारान्तरोपस्कृतान् जन्माधिकारभोगलयनिष्कृतिविश्लेषपाशच्छेदपूर्णाहुत्युच्चारात्मस्थतत्स्थत्वसंस्कारान् कृत्वा भुवनेशाह्वानतर्पणश्रावणाविसर्जनादियुक्त्येत्यर्थः ॥

तदेतत् प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमनुबध्नाति—

भूर्लोकस्तु समाख्यातो भुवोलोकं निबोध मे ॥ ४२२ ॥
भूपृष्ठाद्यावदादित्यं लक्षमेकं प्रमाणतः ।

तत्र च—

दश वायुपथा मध्ये त्वयुतायुतसंख्यया ॥ ४२३ ॥

अयुतं दश सहस्राणि, अयुतायुतमन्तरमिति पाठे तेषामयुतायुतमन्तर्निवासस्थानमिति व्याख्येयम् ॥ ४२३ ॥

तत्र—

आद्ये वायुपथे मेघान् कथयामि यथास्थितान् ।

परमेश्वरेच्छानियमितवायुविततविहरणोपभोगभूमयो वायुपथाः ॥

इसी प्रकार के क्रम से—प्रोक्षण आदि करने के बाद शिष्य की आत्मा का वहाँ पूर्वोक्त संस्कार के अन्दर उपस्कृत जन्म, अधिकार, भोग, लय, निष्कृति, विश्लेष, पाशच्छेद, पूर्णाहुति, उच्चार, आत्मस्थत्व और तत्स्थत्व संस्कारों को सम्पन्न कर भुवनेश्वर के आवाहन तर्पण श्रावण विसर्जन आदि युक्ति के द्वारा (शोधन करना चाहिये) ॥

प्रसङ्गवश प्राप्त इसका कथन कर प्रस्तुत को कहते हैं—

भूलोक का वर्णन किया गया अब मुझसे भुवः लोक को जानो । यह लोक भूमितल से सूर्यपर्यन्त एक लाख योजन परिमाण वाला बतलाया गया है ॥ -४२२-४२३- ॥

उसमें—

अयुत-अयुत की संख्या से मध्य में दश वायुपथ हैं ॥ -४२३ ॥

अयुत = दश हजार । (अयुतायुतसंख्यया के स्थान पर) 'अयुतायुत मन्तरम्'—ऐसा पाठ मानने पर उन वायुपथों का अयुत-अयुत के अन्दर निवास स्थान है—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये ॥ ४२३ ॥

उन वायुपथों में से—

प्रथम वायुपथ में यथास्थित मेघों को बतला रहा हूँ ॥ ४२४- ॥

वायुपथ वे भोग भूमियाँ हैं जिनमें परमेश्वर की इच्छा से नियमित वायु विस्तार

तत्र—

पञ्चाशद्योजनादूर्ध्वमृतर्द्धिर्नाम मारुतः ॥ ४२४ ॥
यो विवर्धयते पुष्टिमोषधीनां बलं तथा ।
बृंहयेच्च महीं सर्वामाप्याययति चाव्ययः ॥ ४२५ ॥

अव्यय इति सदा आप्यायादि कुर्वन्नपि न क्षीयते ॥ ४२५ ॥

किं च—

दिवा हंसः स वै वायुर्मनुजानां सुखावहः ।

स एव—

यतो गृद्ध्रान् धारयति तेन गृद्ध्रधरः स्मृतः ॥ ४२६ ॥

एक एवायं नानासंज्ञो नानाव्यापारश्चेत्यर्थः ॥ ४२६ ॥

तदुपरि—

प्राचेतसो नाम वायुः प्रचेतोऽभिविनिर्मितः ।
स वै नाशयते वृक्षान् कदाचित् सम्प्रवर्तयेत् ॥ ४२७ ॥

के साथ विहरण करते रहते हैं ॥

वहाँ—

पचास योजन के ऊपर ऋतर्धि नामक वायु है जो ओषधियों के बल और पुष्टि को बढ़ाता है । साथ ही अव्यय वह सम्पूर्ण पृथिवी का वर्धन और आप्यायन करता है ॥ -४२४-४२५ ॥

अव्यय का तात्पर्य है कि सदा आप्यायन आदि करता हुआ भी वह क्षीण नहीं होता ॥ ४२५ ॥

और भी—

दिन में हंस नाम वाला वह वायु मनुष्यों को सुख देता है ॥ ४२६- ॥

और वही—

चूँकि गृध्रों (= प्राण अथवा जीवन के लोभी प्राणिवर्ग) को धारण करता है इसलिये गृध्रधर कहा गया है ॥ -४२६ ॥

एक ही यह वायु अनेक नाम वाला और अनेक कार्य वाला है ॥ ४२६ ॥

उसके ऊपर—

प्रचेता (= वरुण) के द्वारा निर्मित प्राचेतस नामक वायु है । वह कभी वृक्षों का नाश करता है कभी उनको संवर्धित करता है ॥ ४२७ ॥

प्रचेतसा वरुणेनाभिविनिर्मित उत्पादितः । नाशयते दहति । प्रवर्तयत्युद्भिन्नाङ्कुरान् सम्पादयति ॥ ४२७ ॥

वायोः कथं दाहकत्वमित्याह—

अग्निः प्राचेतसो नाम तेनैव सह तिष्ठति ।

तत्साहित्यादसौ—

यदा दहति वेश्मानि तदासौ समुदाहृतः ॥ ४२८ ॥

एतन्नामैवेत्यर्थः ॥ ४२८ ॥

अयं चाग्निर्वडवात्मेत्याह—

सुखी समुद्रे वसति..........

अयत्नोपनतनानानीरपानाशनः ॥

वसंश्चात्र—

............स जलान्नोपशाम्यति ।

प्रत्युत ज्वलति ॥

अथ—

(प्राचेतस का अर्थ है—) प्रचेताः = वरुण, के द्वारा अभिविनिर्मित = उत्पादित । नाश करता है = जलाता है । प्रवर्त्तित करता है = अङ्कुरित करता है ॥ ४२७ ॥

वायु दाहक कैसे होता है—यह बतलाते हैं—

चूँकि उसके साथ प्राचेतस अग्नि रहता है ॥ ४२८- ॥

अतः उसके साथ रहने से—

जब यह घरों को जलाता है तब वह प्राचेतस नाम वाला कहा जाता है ॥ -४२८ ॥

अर्थात् इसी नाम का अग्नि ॥ ४२८ ॥

यह अग्नि वाडव भी है—यह कहते हैं—

यह सुख के साथ समुद्र में रहता है ॥ ४२९- ॥

विना प्रयत्न के इसे अनेक प्रकार का भोजन पान मिलता रहता है ॥

इसमें रहते हुए भी—

वह जल से बुझता नहीं ॥ -४२९- ॥

बल्कि (और तेज) जलता है ॥

योजनानां शतादूर्ध्वं सेनानीर्वायुरुच्यते ॥ ४२९ ॥

'नीचवायुरिति स्मृतः' इति केचित्पठन्ति । शतादूर्ध्वमित्यत्रायमाशयः—भूपृष्ठात् पञ्चाशद्योजनोर्ध्वं योजनपञ्चाशति ऋतर्द्धिः, प्रचेताश्च पञ्चाशति ॥ ४२९ ॥

विद्युद्वन्तो मूकमेघा वसन्त्यस्मिंश्च मारुते ।

चो ह्यर्थे ॥

ते भुवः क्रोशमात्रेण तिष्ठन्तोऽपसृजन्त्यपः ॥ ४३० ॥
योजनानां शतादूर्ध्वं मेघाः सत्त्ववहाः स्मृताः ।
मत्स्यमण्डूककूर्मांश्च वर्षन्त्येते च दुर्दिने ॥ ४३१ ॥

यत ईदृशास्ततः सत्त्ववहा इत्यर्थः ॥ ४३१ ॥

एतस्मात् सत्त्ववहव्याप्तात्—

योजनानां शतादूर्ध्वं वायुरोधः प्रकीर्तितः ।
तस्मिंस्तु रोगदा मेघा वर्षन्ति च विषोदकम् ॥ ४३२ ॥
तेनोपसर्गा जायन्ते............

इसके बाद—

एक सौ योजन ऊपर सेनानी नामक वायु रहता है ॥ -४२९ ॥

कुछ लोग ('सेनानीर्वायुरुच्यते' के स्थान पर) 'नीचवायुरिति स्मृतः'—ऐसा पाठ मानते हैं । यहाँ एक सौ योजन ऊपर कहने का अभिप्राय यह है—भूपृष्ठ से पचास योजन ऊपर ऋतर्द्धि है और उससे ऊपर पचास योजन प्राचेतस वायु है ॥ ४२९ ॥

इस वायुपथ में विद्युत् वाले मूक (= न गरजने वाले) मेघ रहते हैं ॥ ४३०- ॥

श्लोकस्थ 'च' हि (= क्योंकि) अर्थ में प्रयुक्त है ॥

वे पृथिवी के एक कोस क्षेत्र में रहते हुए जल बरसाते हैं । एक सौ योजन के ऊपर सत्त्ववह नामक बादल रहते हैं । वे दुर्दिन[1] में (आकाश से) मछली, मेढक एवं कछुओं की बरसात करते हैं ॥ -४३०-४३१ ॥

चूँकि वे ऐसे (= प्राणियों की वर्षा करने वाले) हैं इसलिये इनको सत्त्ववह (= प्राणी का हवन करने वाला) कहा जाता है ॥ ४३१ ॥

सत्त्ववह से व्याप्त इस (स्थान) से—

एक सौ योजन ऊपर वायुरोध (नामक वायुपथ) है । उसमें वर्त्तमान

---

१. मेघाच्छन्नं तु दुर्दिनम् ।

चो ह्यर्थे ॥

तैश्चोपसर्गैः पीडादिभिः—

...............मारकाः सर्वदेहिनाम् ।

प्रवर्तन्ते ॥

अथ—

तस्मादूर्ध्वं तु ताव(द्)[1]भो देव्यमोघः स्थितो मरुत् ॥ ४३३ ॥
तस्मिंस्ते मारका मेघा अमोघे सम्प्रतिष्ठिताः ।

तावद्भः पञ्चाशत इत्यर्थः । तावच्छब्दो व्यवहितपञ्चाशद्योजनामर्शकः ॥

अथ—

वज्राङ्गो नाम वै वायुः पञ्चाशद्योजनस्थितः ॥ ४३४ ॥
तस्मिंस्तूपलका नाम मेघास्तूपलवर्षिणः ।

तदुपरि—

तावद्भिर्योजनैरेव ततो वै वैद्युतोऽनिलः ॥ ४३५ ॥

रोगद बादल हैं जो जहरीला पानी बरसते हैं । इसके कारण उपसर्ग (= रोग-व्याधि) उत्पन्न होते हैं ॥ ४३२-४३३- ॥

श्लोक में 'च' 'हि' (= क्योंकि) के अर्थ में प्रयुक्त है ।

उन रोगों और पीड़ा आदि के द्वारा—

(वे) समस्त देहधारियों के मारक होते हैं ॥ -४३३- ॥

इसके बाद—

हे देवि ! उससे उतने ही भ (= ऊपर गोलाई में) अमोघ नामक वायु स्थित है । उस अमोघ में वे मेघ स्थित हैं जो मारक हैं ॥ -४३३-४३४- ॥

उतना ही = पचास योजन । यहाँ 'तावत्' शब्द व्यवहित पचास योजन को बतलाता है ॥

इसके बाद—

वज्राङ्ग नामक वायु पचास योजन में स्थित है । उसमें उपलक नामक मेघ हैं जो उपल (= पत्थर) की वर्षा करते हैं ॥ -४३४-४३५- ॥

उसके ऊपर—

---

१. द्य् ।

मेघाश्च वैद्युतास्तस्मिन् निवसन्ति तु वैद्युते ।

तावद्भिः पञ्चाशता ॥

वैद्युतत्वमेतेषां विद्युत्कारणत्वेनेत्याह—

अशनिर्वायुसंक्षोभात्तेष्वसौ जायते महान् ॥ ४३६ ॥

अशनिर्विद्युत् । तेषु मेघेषु ॥ ४३६ ॥

तदूर्ध्वं योजनानां च पञ्चाशद्रैवतः स्मृतः ।
तस्मिन् पुष्टिवहो नाम पुष्टिं वर्षति देहिनाम् ॥ ४३७ ॥

रैवत इति तदाख्यः । पुष्टिवहाख्यो मेघः ॥ ४३७ ॥

तदुपरि स्थिते—

संवर्ते रोगदा मेघास्ते रोगोदकवर्षिणः ।
पञ्चाशद्योजने ते वै तस्मिंस्तिष्ठन्ति तोयदाः ॥ ४३८ ॥

ततोऽपि—

विषावर्तो नाम वायुः पञ्चाशदुपरि स्थितः ।

उतने ही (= पचास ही) योजन से (व्याप्त क्षेत्र में) वैद्युत वायु है । उस वैद्युत वायु पथ में वैद्युत मेघ रहते हैं ॥ -४३५-४३६- ॥

उतना ही = पचास योजन ॥

इनका वैद्युतत्त्व विद्युत् के कारण होने से है—यह कहते हैं—

उनमें वायु के संक्षोभ से महान् अशनि उत्पन्न होता है ॥ -४३६ ॥

अशनि = विद्युत् । उनमें = बादलों में ॥ ४३६ ॥

उसके पचास योजन ऊपर रैवत नामक वायु मार्ग है । उसमें पुष्टिवह नामक (मेघ) है जो शरीरधारियों के लिये पुष्टि की वर्षा करता है ॥४३७॥

रैवत = रैवत नामक वायुपथ । पुष्टि = पुष्टि नामक मेघ ॥ ४३७ ॥

उसके ऊपर स्थित—

संवर्त्ताश्रय नामक वायुपथ में रोगद नामक मेघ हैं जो रोग वाला पानी बरसाते हैं । वे बादल उस (वायुपथ) में पचास योजन (के क्षेत्र) में स्थित हैं ॥ ४३८ ॥

उससे भी—

पचास योजन ऊपर विषावर्त्त नामक वायु है । उसमें क्रोधोदक नामक

तस्मिन् क्रोधोदका नाम मेघा वै सम्प्रतिष्ठिताः ॥ ४३९ ॥
ते क्रोधरागबहुलं संग्रामबहुलं तथा ।
राज्ञां क्षयकरं चैव प्रजानां क्षयदं तथा ॥ ४४० ॥
वर्षं चैवात्र कुर्वन्ति यदा वर्षन्ति ते घनाः ।

ते घनाः, संवर्ताश्रयस्य पञ्चाशत उपरि पञ्चाशदुपरि । विषावर्तस्य तु मानमग्रे वक्ष्यति । क्रोधसहितो रागः क्रोधरागस्तेन बहुलं पूर्णं तत्सम्पादकमिति यावत् ॥

ओघादीन् सप्त वायून् धर्मसाम्येन विशिनष्टि—

ओघोप्यमेघो वज्राङ्गो वैद्युतो रैवतस्तथा ॥ ४४१ ॥
सम्वर्तश्च विषावर्तो वायवो घोरवेगिनः ।

घोरवेगिन इति, घोरो वेगो भूम्ना विद्यते येषाम् ॥

एतत्सप्तकं येषामास्पदं तान् क्रमेणाह—

ओघे वसन्ति वै दिव्याः पिशाचाः स्कन्ददेहजाः ॥ ४४२ ॥
त्रिंशत्कोटिसहस्राणि स्कन्दस्यानुचराः स्मृताः ।
ते वै दिव्यैश्च कुसुमैरर्चयन्ति हरात्मजम् ॥ ४४३ ॥

तदूर्ध्वस्थे—

मेघ सम्प्रतिष्ठित हैं । वे बादल जब बरसते हैं तो क्रोध रागबहुल, संग्रामबहुल, राजाओं की नाशक, प्रजाओं का क्षय करने वाली वर्षा करते हैं ॥ ४३९-४४१- ॥

संवर्त्ताश्रय के पचास योजन ऊपर वे बादल है । विषावर्त्त वायुपथ का मान आगे बतलायेंगे । 'क्रोधराग' का अर्थ है—क्रोधसहित राग; उससे बहुल = पूर्ण अर्थात् उसको उत्पन्न करने वाला ॥

ओघ आदि सात वायुओं को धर्मसाम्य के द्वारा पृथक् करते हैं—

ओघ, अमोघ, वज्राङ्ग, वैद्युत, रैवत, संवर्त्त और विषावर्त्त—ये (सात) वायु घोर वेग वाले हैं ॥ -४४१-४४२- ॥

घोरवेगी = जिनका वेग बहुत अधिक घोर है ॥

ये सात (वायु) जिनके आस्पद हैं उनको क्रम से बतलाते हैं—

ओघ में स्कन्द के देह से उत्पन्न दिव्य पिशाच रहते हैं । ये स्कन्द के तीस करोड़ अनुचर हैं जो दिव्य पुष्पों से हरात्मज (= शिव के पुत्र-स्कन्द) की पूजा करते रहते हैं ॥ -४४२-४४३ ॥

उस (ओघ) के ऊपर स्थित—

अमोघे विनायका घोरा महादेवसमुद्भवाः ।
त्रिंशत्कोटिसहस्राणि तस्मिन् वायौ प्रतिष्ठिताः ॥ ४४४ ॥
ये हरन्ति कृतं कर्म नराणामकृतात्मनाम् ।

अकृतात्मनामसंयमवताम् ॥

वज्राङ्गेऽपि तथा वायौ मातङ्गाः क्रूरकर्मिणः ॥ ४४५ ॥
भिन्नाञ्जननिभा घोरास्तापना नाम विश्रुताः ।

तदारोहिणश्च—

विद्याधराणामधमा मनःपवनगामिनः ॥ ४४६ ॥

मनः पवनवन्मातङ्गारोहादेव गच्छन्ति तच्छीलाः, अत एवाधमाः । उत्तमास्तु विद्यादिप्रभावेणैव तत्तद्देशप्राप्तिमन्तः ॥ ४४६ ॥

किं च—

ये विद्यापौरुषे ये च वेतालादीन् श्मशानतः ।
साधयित्वा ततः सिद्धास्तेऽस्मिन् वायौ प्रतिष्ठिताः ॥ ४४७ ॥

अमोघ में महादेव से उत्पन्न घोर विनायक हैं । तीस करोड़ की संख्या में ये उस वायु में प्रतिष्ठित हैं । वे अकृतात्मा नरों के द्वारा किये गये कर्मों (= पुण्यों) का हरण कर लेते हैं ॥ ४४४-४४५- ॥

अकृतात्मा = संयम रहित ॥

वज्राङ्ग वायु में भी क्रूरकर्मा मातङ्ग (= हाथी) रहते हैं । वे अञ्जन के समूह के समान (काले) तथा घोर हैं । वे तापन के नाम से विख्यात हैं ॥ -४४५-४४६- ॥

उन पर आरोहण करने वाले—

विद्याधर हैं जो निम्नकोटि के तथा मन पवन के समान द्रुतगामी हैं ॥ -४४६ ॥

ये सब मातङ्ग पर आरोहण करने से मनःपवन मन एवं पवन अथवा मन से स्थित पवन अथवा मनयुक्तपवन के समान गति वाले होते हैं । इसीलिये अधम हैं । उत्तम कोटि के (विद्याधर) तो विद्या आदि के प्रभाव से ही तत्तद् देश आदि को प्राप्त होते रहते हैं ॥ ४४६ ॥

इसके अतिरिक्त—

जो (मनुष्य) विद्यापौरुष में सिद्ध हैं अथवा श्मशान से वेताल आदि की साधना करते हुये सिद्ध (= मृत) हो जाते हैं वे इस वायु में प्रतिष्ठित

विद्यापौरुषे शास्त्रविद्यादिस्पर्धायां तथा वेतालादीन् साधयित्वा ये प्रसिद्धा मृता इत्यर्थः ॥ ४४७ ॥

वैद्युतेऽप्सरसस्तस्मिन् वासवेन प्रयोजिताः ।
तिष्ठन्ति सर्वदा तत्र पृथिवीपुरपालने ॥ ४४८ ॥

पृथिवीपुरपालनं चैतत् तासां यत् तन्निवासिसदाचारजनपदस्य विमानैः स्वभूमिप्रापणम् ॥ ४४८ ॥

तदाह—

भृगौ वह्नौ जले वापि संग्रामेष्वनिवर्तकाः ।
गोग्रहे बन्दिमोक्षे वा म्रियन्ते पुरुषोत्तमाः ॥ ४४९ ॥
ते व्रजन्ति ततस्तूर्ध्वं विमानैर्मणिचिह्नितैः ।
पताकादीर्घिकाकीर्णैर्दिव्यघण्टानिनादितैः ॥ ४५० ॥

न निवर्तन्त इत्यनिवर्तकाः सम्मुखं ये म्रियन्त इत्यर्थः । गवां ग्रहः सिंहादिभिराक्रमणम् । बन्द्यो बलाद्गृहीता हठम्रियमाणाः परयोषितः । एते च संग्रामादौ

होते हैं ॥ ४४७ ॥

विद्यापौरुष में = शास्त्रविद्या आदि की स्पर्द्धा में, तथा वेताल आदि की सिद्धि करके प्रसिद्ध = मृत, होते हैं (वे इस लोक में प्रतिष्ठित होते हैं) ॥ ४४७ ॥

वैद्युत वायुपथ में इन्द्र के द्वारा प्रयोजित अप्सरायें रहती हैं जो सदा पृथिवीपुर के पालन में लगी रहती हैं ॥ ४४८ ॥

'पृथिवीपुरपालन' का अर्थ है—पृथिवीपुर में रहने वाले सदाचारी जनों को विमान के द्वारा अपनी भूमि में ले जाना ॥ ४४८ ॥

उसको बतलाते हैं—

जो उत्तमपुरुष (सदाचारी जीवनयापन करते हए) भृगु (= पर्वत की समतल चोटी से गिरकर) अग्नि में जलकर, जल में डूबकर मरने वाले, रण में जाकर न लौटने वाले, गाय के सङ्कट में बन्दी को छुड़ाने में मरने वाले हैं वे मणिचिह्नित, पताकायुक्त वावड़ी आदि के चित्रों से व्याप्त, दिव्यघण्टा आदि से निनादित विमानों के द्वारा वहाँ से ऊर्ध्व लोक को जाते हैं ॥ ४४९-४५० ॥

जो नहीं लौटते वे अनिवर्त्तक होते हैं अर्थात् सामने मरने वाले (न कि पीठ दिखाकर भागते हुए मारे जाने वाले) । (गोग्रह =) गायों का ग्रह = सिंह आदि के द्वारा आक्रमण । बन्दिनियाँ = बलात् पकड़ कर लायी गयी और हठात् मर रहीं दूसरी—शत्रुओं की स्त्रियाँ । ये सब संग्राम आदि में मरने वाले सदाचारी होने से

मृताः सदाचारत्वात् पुरुषोत्तमाः, न तु पूर्वे—

'असूर्या नाम ते लोका अन्धेन तमसावृताः ।'
तांस्ते प्रेत्याभिगच्छन्ति ये के चात्महनो (जनाः)[१] ॥' (ईशा० ३)

इति श्रुतौ तेषामनुत्तमत्वेनोक्तत्वात् । तत इति स्वभूमेः ॥ ४५० ॥

कथं व्रजन्तीत्याह—

स्त्रीसहस्रपरीवारैर्विमानैस्तान्नयन्ति ताः ।

यत इति शेषः । ता इत्यप्सरसः ।

रैवते तु महात्मानः सिद्धा वै सम्प्रतिष्ठिताः ॥ ४५१ ॥
गोरोच(नाञ्ज)[२]ने भस्मपादुके अजिनादि च ।
साधयित्वा महात्मानः सिद्धास्ते कामरूपिणः ॥ ४५२ ॥

सिद्धाः सम्पन्नाः ॥ ४५२ ॥

ततश्चात्र—

ते वसन्ति महात्मानो दिव्यां सिद्धिमवस्थिताः ।

पुरुषोत्तम होते हैं न कि पहले के लोग, क्योंकि वे सब—

'वे असूर्या नामक लोक हैं जो कि गाढ अन्धकार से आच्छन्न हैं । जो मनुष्य आत्मघाती होते हैं वे मर कर उन नरकों में जाते हैं ।' (ईशा० ३)

इस श्रुति में अनुत्तम कहे गये हैं । वहाँ से = अपनी भूमि से ॥ ४५० ॥

किस प्रकार जाते हैं—यह बतलाते हैं—

'वे' सहस्रों स्त्रियों से परिवारित विमान के द्वारा उनको ले जाती हैं ॥ ४५१- ॥

यतः = जहाँ से । वे = अप्सरायें ।

रैवत वायुलोक में सिद्ध महात्मा निवास करते हैं । वे सभी महात्मागण गोरोचन, अञ्जन, भस्म, पादुका, चर्म की सिद्धि कर सिद्ध हो गये होते हैं और कामरूपी (= इच्छानुसार अपना रूप परिवर्त्तन करने वाले) होते हैं ॥ -४५१-४५२ ॥

सिद्ध = सम्पन्न ॥ ४५२ ॥

इसलिये यहाँ—

वे महात्मा दिव्य सिद्धि को प्राप्त कर रहते हैं ॥ ४५३- ॥

---

१. नराः । २. ञ्ज ।

वज्राङ्गस्थत्वेन तद्रूपत्वाद् विद्याधराधमा उक्ताः ॥

संवर्तेऽपि महावायौ विद्याधरगणाः स्मृताः ॥ ४५३ ॥
दश त्रिंशच्च कोट्यस्ते दिव्याभरणभूषिताः ।
दिव्यगन्धानुलिप्तास्ते दिव्यस्रग्धामभूषिताः ॥ ४५४ ॥

दश ये गणाः संक्षेपतः, त एव विस्तरतस्त्रिंशत्कोटय इत्यत्रार्थः । एते च विद्याधरा देवयोनिभेदा एव, न तु मनुष्याः सन्तः खड्गादिसिद्ध्या सिद्धाः ॥

अथैतदुपरि—

आग्नेया धूमजा मेघाः शीतदुर्दिनदाः स्मृताः ।
विषावर्तं नावमिव ते वायुं यान्ति मिश्रिताः ॥ ४५५ ॥
तत्र गान्धर्वकुशला गन्धर्वसहधर्मिणः ।
वंशवीणाविधिज्ञाश्च पक्षिणः कामरूपिणः ॥ ४५६ ॥

गन्धर्वसहधर्मिता गान्धर्वेण महेश्वराराधकत्वम् ॥ ४५६ ॥

ब्रह्मजा नाम वै मेघा ब्रह्मनिः श्वाससम्भवाः ।
उपरिष्टाद्योजनशताद् दुर्जयस्योपरि स्थिताः ॥ ४५७ ॥

वज्राङ्ग वायुलोक में रहने के कारण उसी (= वज्राङ्ग) रूप होने के कारण वे विद्याधर अधम कहे गये हैं ॥

संवर्त्त (नामक) महा वायुलोक में विद्याधर गण रहते हैं । उनकी संख्या (संक्षेप में) दश और (विस्तार से) तीस करोड़ है । वे दिव्य आभरण से भूषित दिव्य गन्ध से अनुलिप्त दिव्य माला एवं दिव्य धाम (= तेज) से विभूषित हैं ॥ -४५३-४५४ ॥

जो संक्षेप में दश गण हैं वे ही विस्तार के साथ तीस करोड़ हो जाते हैं । ये विद्याधर देवयोनि के एक भेद हैं न कि मनुष्य होते हुए खड्ग आदि की सिद्धि से सिद्ध होते हैं ॥

फिर इसके ऊपर—

अग्नि से उत्पन्न धूम से जायमान मेघ रहते हैं । वे शीत और दुर्दिन पैदा करने वाले कहे गये हैं । जैसे नाव वायु के साथ भागती है उसी प्रकार ये मेघ विषावर्त्त वायु में मिश्रित होकर उसी के साथ चलते हैं । (इस विषावर्त्त वायु में) गन्धर्वविद्या में कुशल, गन्धर्व के सहधर्मी, बाँस की वंशी को बजाने की विधि को जानने वाले कामरूपी पक्षी (= पङ्खधारी यक्ष) निवास करते हैं ॥ ४५५-४५६ ॥

गन्धर्वसहधर्मिता = गन्धर्वों के साथ महेश्वर का आराधक होना ॥ ४५६ ॥

विषावर्ताख्यवायुव्याप्तयोजनशतोपरिष्टाद् यो दुर्जयो नाम वायुः, तस्योपरि ब्रह्मजा मेघाः स्थिता इति सङ्गतिः ॥ ४५७ ॥

किं च—

तत्र वै दुर्जया नाम इन्द्रस्य परिरक्षकाः ।
परावहाभिधं वायुं ते समाश्रित्य संस्थिताः ॥ ४५८ ॥
महावीर्यबलोपेता दश कोट्यः प्रकीर्तिताः ।

तत्रेति दुर्जयसमीपे परावहाभिधं वायुं समाश्रित्येति सङ्गतिः ॥

अतोऽप्यूर्ध्वम्—

पुष्करावर्तका नाम मेघा वै पद्मजोद्भवाः ॥ ४५९ ॥

तथा—

शक्रेण पक्षा ये च्छिन्नाः पर्वतानां महात्मनाम् ।
परावहस्तान् वहति मनुजानिव वारणः ॥ ४६० ॥

दुर्जन के एक सौ योजन ऊपर ब्रह्मज नाम के मेघ हैं । वे ब्रह्मा के निःश्वास से उत्पन्न हुये हैं ॥ ४५७ ॥

विषावर्त्त नामक वायु से व्याप्त एक सौ योजन के ऊपर जो दुर्जय नाम वाला वायु है उसके ऊपर ब्रह्मा से जायमान मेघ स्थित हैं—यह अन्वय है ॥ ४५७ ॥

और भी—

वहाँ जो इन्द्र के परिरक्षक हैं उनका नाम दुर्जय है । वे परावह नामक वायु को आधार बना कर रहते हैं । वे रक्षक दश करोड़ की संख्या में हैं और महावीर्य और महाबल से युक्त हैं ॥ ४५८-४५९- ॥

वहाँ = दुर्जय के समीप, परावह नामक वायु का आश्रयण लेकर (स्थित हैं-) यह अन्वय है ॥

इसके भी ऊपर—

पुष्करावर्त्तक[1] नामक मेघ हैं जो पद्मज (= ब्रह्मा) से उत्पन्न बतलाये गये हैं ॥ -४५९ ॥

तथा—

इन्द्र ने महात्मा पर्वतों के जिन पङ्खों को काट डाला परावह वायु उन पक्षों तथा पुष्करावर्त्तक मेघों का उसी प्रकार वहन करता है जैसे हाथी

1. इसकी चर्चा मेघदूत में भी है—जातं वंशे भुवनविदिते पुष्करावर्त्तकानाम् ।

तानिति पुष्करावर्तकान् पर्वतपक्षांश्च परावहाख्यो वायुर्वहति ॥ ४६० ॥

किं च—

तस्मिन् वायुगमा नाम गन्धर्वा गगनालयाः ।
एकादश तु वै कोट्यस्तेषां तु समुदाहृताः ॥ ४६१ ॥

तथा—

जीमूता नाम ये मेघा देवेभ्यो जीवसम्भवाः ।
द्वितीयमावहं वायुं मेघास्ते च समाश्रिताः ॥ ४६२ ॥
तस्मिन् जीमूतका नाम विद्याधरगणा दश ।

जीवसमुद्भवा इति—जीवः श्वासः, ततं उद्भवाः । द्वितीयमावहमिति पुष्करावर्तकाश्रयं परावहमित्यर्थः, न तु प्रथमं दुर्जयानामाधारम् ॥

अथ—

आवहस्तु ततो वायुर्यत्र द्रोणाः समाश्रिताः ॥ ४६३ ॥
तस्मिन् द्रोणाः समाख्याता मेघानां परिरक्षकाः ।

द्रोणा नाम मेघविशेषा अधोवर्तिमेघानामयथाकारित्वं रक्षन्ते ॥

मनुष्यों का ॥ ४६० ॥

उनको = पुष्करावर्त्तक और पङ्खों को । परावह नामक वायु ढोता रहता है ॥ ४६० ॥

तथा—

उसमें वायुगम नामक गन्धर्व रहते हैं जिनका आलय आकाश है । उन गन्धर्वों की संख्या ग्यारह करोड़ हैं ॥ ४६१ ॥

तथा—

जो जीमूत नामक मेघ हैं वे देवताओं के जीव (= श्वास) से उत्पन्न हैं । वे मेघ द्वितीय आवह वायु को आधार बनाकर रहते हैं । उसमें जीमूतक नामक विद्याधरों का दश समूह रहता है ॥ ४६२-४६३- ॥

जीवसमुद्भव = जीव = श्वास, उससे उत्पन्न । द्वितीय आवह = पुष्करावर्त्तक आश्रय वाला परावह, न कि प्रथम आश्रय जो कि दुर्जयों का आधार है ॥

इसके बाद—

महावह नामक वायु है जिसमें द्रोण रहते हैं । इसमें रहने वाले द्रोण मेघों के रक्षक हैं ॥ -४६३-४६४- ॥

यतः—

हितार्थं तु प्रजानां वै निर्मितास्ते मया पुरा ॥ ४६४ ॥

मयेति कैलासस्थेनेति तत्र प्रवक्तुरुक्तिः । हितमधोवर्तिमेघेभ्य उपद्रवपरिरक्षा ॥ ४६४ ॥

अथैषाम्—

उपरिष्टात् कपालोत्थाः संवर्ता नाम वै घनाः ।
महापरिवहो नाम वायुस्तेषां समाश्रयः ॥ ४६५ ॥

कपालोत्था इति ममैवेत्यर्थात् ॥ ४६५ ॥

उपसंहरति—

आद्ये वायुपथे ह्येवं मेघा वै वायुभिः सह ।
सिद्धाश्च पतयश्चैव कथिता मेघचारिणः ॥ ४६६ ॥

दशसहस्रोन्मानो योऽयमाद्यो वायुपथस्तस्य भुव ऊर्ध्वं शून्यं पञ्चाशद्योजनानि, तदूर्ध्वमृतर्द्धिः, प्राचेतसः, सेनानीः, सत्त्ववहः, ओघः, अमोघः, वज्राङ्गः, वैद्युतः रैवतः, संवर्तः, विषावर्त इति । एत एकादश ये वायवस्तेषां मध्यात् सेनानीः सत्त्ववहश्च शते शते योजनानां स्थितः, शेषाः, प्रत्येकं पञ्चाशद्योजनावस्थितय इति कलनया भूपृष्ठाद्विषावर्तान्ते योजनसप्तशती । तदुपरि सहस्रनवके शतत्रये च दुर्जयपरावहद्वयावहावहमहापरिवहाख्याः पञ्च वायवः स्थिता इति ॥ ४६६ ॥

आद्यं वायुपथं वितत्योक्त्वा, अन्यान् संक्षेपेण विभजते—

द्वितीये वायुपथे ज्ञेया अग्निकन्याश्च मातरः ।
ता वसन्ति गुणोपेता रुद्रशक्त्या त्वधिष्ठिताः ॥ ४६७ ॥

मातरोऽपरेण रूपेण ब्राह्म्याद्याः । गुणेन सर्वज्ञत्वादिनोपेता यतो रुद्रशक्त्यधिष्ठिताः ॥ ४६७ ॥

अथ—

तृतीये वायुपथे चैव वसन्ते सिद्धचारणाः ।
स्वकर्मभोगसंसिद्धाः सर्वसिद्धैरधिष्ठिताः ॥ ४६८ ॥

स्वं प्राक्तनं शुभं कर्म, भोगस्तत्तत्पदोचितसुखात्मकः, तद्वशेन संसिद्धाः प्राप्ततत्पदाः । सर्वसिद्धैरप्यन्यैरपि तत्तत्पदोचितयोगसिद्धैरधिष्ठिता आसादिताः ॥ ४६८ ॥

द्रोण एक प्रकार के मेघ हैं जो अधोवर्त्ती मेघों के अयथाकारित्व की रक्षा करते हैं (अर्थात् विपरीत एवं अहित क्रिया को रोकते हैं) ॥

क्योंकि—

प्राचीन काल में मेरे द्वारा वे प्रजाओं के हित के लिये ही रचे गये हैं ॥ -४६४ ॥

मेरे द्वारा = कैलास पर स्थित मेरे द्वारा—यह प्रवक्ता का कथन है । हित = अधोवर्त्ती मेघों के उपद्रव से रक्षा ॥ ४६४ ॥

फिर इनके—

ऊपर मेरे ही कपाल से उत्पन्न संवर्त्त नामक मेघ हैं । उनका आधार महापरिवह नामक वायु है ॥ ४६५ ॥

कपाल से उठे हुए अर्थात् मेरे कपाल से ॥ ४६५ ॥

उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार प्रथम वायुपथ में वायुओं के साथ मेघ और मेघ में सञ्चरण करने वाले सिद्ध और पति लोगों का कथन किया गया ॥ ४६६ ॥

जो प्रथम वायुपथ दश हजार योजन ऊर्ध्वमान वाला कहा गया उसकी भूमि के ऊपर पचास योजन उन्मान शून्य है । उसके ऊपर ऋतर्धि, प्राचेतस, सेनानी, सत्त्ववह, ओघ, अमोघ, वज्राङ्ग, वैद्युत, रैवत, संवर्त्त और विषावर्त्त ये ग्यारह वायु हैं इनमें से सेनानी और सत्त्ववह सौ योजन क्षेत्र में स्थित हैं । शेष नव में से प्रत्येक पचास-पचास योजन की स्थिति वाले हैं । इस प्रकार जोड़ने से भूपृष्ठ से लेकर विषावर्त्त के अन्त तक (१०० + १०० (५० × ९ = ४५०) = ६५० अर्थात् सात सौ योजन स्थिति हैं । उसके ऊपर ९३०० योजन क्षेत्र में दुर्जय परावह द्वयावह, आवह और महापरिवह नामक पाँच वायु स्थित हैं ॥ ४६६ ॥

प्रथम वायुपथ को विस्तार के साथ बतला कर अन्य वायुपथों का संक्षेप में विभाग करते हैं—

दूसरे वायु पथ में अग्निकन्या नामक मातायें रहती हैं । वे गुणों से सम्पन्न तथा रुद्रशक्ति से अधिष्ठित होती हैं ॥ ४६७ ॥

मातायें = अपर रूप धारण कर ब्राह्मी आदि । गुण = सर्वज्ञता तृप्ति आदि, क्योंकि वे रुद्रशक्ति से अधिष्ठित हैं (और रुद्र सर्वज्ञता आदि गुणों वाला है) ॥ ४६७ ॥

इसके बाद—

तीसरे वायुपथ में सिद्ध चारण रहते हैं । वे अपने कर्म एवं भोग से संसिद्ध तथा समस्त सिद्धों से अधिष्ठित हैं ॥ ४६८ ॥

अपना जो पूर्वजन्म का शुभ कर्म और तत्तत् पदोचित सुखात्मक भोग उसके

तदुपरि—

चतुर्थे पथि चैवात्र वसन्त्यायुधदेवताः ।
नाराचचक्रचापर्ष्टिशूलशक्तीषुमुदगराः ॥ ४६९ ॥

ऋष्टिरायुधविशेषः । एते च खड्गखट्वाङ्गादीनप्युपलक्षयन्ति । आयुधानामेव च तद्देवतानाम ॥ ४६९ ॥

अथ—

पञ्चमे पथि देवेशि वसन्त्यैरावतादयः ।
ऐरावतोऽञ्जनश्चैव वामनश्च महागजः ॥ ४७० ॥
सुप्रतीको गजेन्द्रश्च पुष्पदन्तस्तथैव च ।
कुमुदः पुण्डरीकश्च सार्वभौमोऽपि चाष्टमः ॥ ४७१ ॥

वामनस्य विशेषणं महागज इति । तथा सुप्रतीकस्य करीन्द्र इति ॥ ४७१॥

त एते—

दिग्गजा इति विख्याताः स्वासु दिक्षु व्यवस्थिताः ।

कारण संसिद्ध = तत्तत् पद को प्राप्त किये हुए । समस्त सिद्धों = अन्य भी सिद्धों जो कि तत्तत् पदोचित योगसिद्ध हैं, के द्वारा अधिष्ठित = प्राप्त हैं ॥ ४६८ ॥

उसके ऊपर—

चौथे वायुपथ में आयुध और उनके देवता रहते हैं । वे हैं—नाराच (= लोहे का बाण) चक्र, धनुष, ऋष्टि, शूल, शक्ति इषु (= सामान्य बाण) मुद्गर ॥ ४६९ ॥

ऋष्टि = एक प्रकार का शस्त्र । उपर्युक्त आयुधों के नाम खड्ग खट्वाङ्ग आदि को भी उपलक्षित करते हैं । आयुधों का नाम ही तत्तद् देवताओं का भी नाम है ॥ ४६९ ॥

इसके बाद—

हे देवेशि ! पाँचवें वायुपथ में ऐरावत आदि रहते हैं । उनके नाम हैं—ऐरावत, अञ्जन, महागज वामन, गजेन्द्र सुप्रतीक पुष्पदन्त, कुमुद, पुण्डरीक और सार्वभौम—ये आठ हैं ॥ ४७०-४७१ ॥

महागज शब्द वामन का विशेषण है । इसी प्रकार गजेन्द्र सुप्रतीक का ॥ ४७१ ॥

ये—

व्यवस्थिता इति पूर्वादिक्रमेण नभस्येव ॥

ततोऽपि—

षष्ठे वायुपथे देवि पक्षिराजो महाबलः ॥ ४७२ ॥
गरुत्मानिति विख्यातो दुर्जयोऽतीव वीर्यवान् ।
सप्तमे व्योमगङ्गा तु नानाजलचरानुगा ॥ ४७३ ॥
दिव्यामृतजला पुण्या त्रिधा सा परिकीर्तिता ।

दिव्यममृततुल्यं जलं यस्याः सा । त्रिधेति सत्यलोकस्वर्लोकभुवर्लोकस्थित्या ॥

सा भ्रान्ता नभसो मध्ये समन्तात् परिमण्डला ॥ ४७४ ॥
आकाशगङ्गा प्रथिता देवानां सततोत्सवा ।
पुष्पमालेव सा भाति नभसः शिरसि स्थिता ॥ ४७५ ॥
तत्र सिद्धैर्महाभागैर्विद्याधरगणैस्तथा ।
गन्धर्वैरप्सरोभिश्च साध्यैर्विश्वैर्मरुद्गणैः ॥ ४७६ ॥
रुद्रैर्वसुभिरादित्यैः पितृदेवमहर्षिभिः ।
रक्षोभिर्गुह्यकैश्चैव दिव्यस्तुतिपरायणैः ॥ ४७७ ॥
स्तुवद्भिश्च जपद्भिश्च गायद्भिश्च महात्मभिः ।

दिग्गज कहे जाते हैं और अपनी-अपनी दिशाओं में स्थित हैं ॥ ४७२- ॥

व्यवस्थित हैं—पूर्व आदि दिशा के क्रम से आकाश में ही स्थित हैं ॥

हे देवि ! सातवें वायुपथ में महाबली पक्षिराज स्थित हैं । जो गरुड़ के नाम से विख्यात हैं । यह अत्यन्त वीर्यवान् और दुर्जय हैं । सातवें पथ में आकाश गङ्गा है । इसमें अनेक जलचर हैं । यह पवित्र नदी दिव्य अमृत-जल वाली तीन प्रकार की कही गयी है ॥ -४७२-४७४- ॥

('दिव्यामृतजला' का व्याख्यान करते हैं—) दिव्य अमृत तुल्य जल है जिसका वह । त्रिधा—सत्यलोक स्वर्गलोक और भूलोक में स्थिति के कारण (वह तीन है) ॥

वह आकाश के मध्य में चारो ओर मण्डल के रूप में होकर चक्कर काट रही है । यह आकाशगङ्गा के नाम से विख्यात है । देवताओं का उत्सव रूप है । आकाश के शिर में स्थित वह पुष्प माला की भाँति शोभायमान होती है । उसमें महासिद्ध, विद्याधरों का समूह, गन्धर्व, अप्सरायें, साध्य, विश्वेदेव, मरुद्गण, रुद्र, वसु, आदित्य, पितृगण, देवगण, ऋषिगण, राक्षस, दिव्य स्तुति में लगे हुए गुह्यक, स्तुति जप

नृत्यद्भिर्वल्गमानैश्च दिव्यदुन्दुभिनिःस्वनैः ॥ ४७८ ॥
भेरीमृदङ्गवाद्यैश्च वल्लकीनां च निःस्वनैः ।
वंशवादित्रनादैश्च मनोवायुसमीरितैः ॥ ४७९ ॥

तत्र सिद्धैरिति सिद्धादिभिरुपलक्षिता । रुद्रादीनां त्रयाणां विशेषणं पितृदेवैरिति । स्तुवद्भिश्चेत्यादिभिर्विशेषणैः पूर्वे यथायोगं विशेष्याः । दिव्यदुन्दुभिनिःस्वनैरित्याद्या नृत्तं वल्गनं च प्रति हेतुतृतीयाः । मनोधिष्ठितेन वायुनेति प्राणेन समीरितैः पूरितैरिति योज्यम् ॥ ४७९ ॥

किं च—

वैदूर्यनालैः कमलैर्हेमपत्रैः सुगन्धिभिः ।
केसरैः पद्मरागैश्च महाचक्रप्रमाणकैः ॥ ४८० ॥
नृत्यन्तीव सरिच्छ्रेष्ठा विमानशतमण्डिता ।
मण्डिता च वनैर्दिव्यैर्धर्माधारा महानदी ॥ ४८१ ॥

केसरैः पद्मरागैरिति पद्मरागात्मककेसरयुक्तैः पद्मैरित्यर्थः । धर्म आ समन्ताद्धार्यते दर्शनस्पर्शनादिना सम्पाद्यते यया ॥ ४८१ ॥

गान नृत्य उछलना कूदना करते हुए महात्मा, दिव्य दुन्दुभि की ध्वनि, भेरी मृदङ्ग वाद्य, वीणा की आवाज, प्राण वायु से प्रेरित बाँस के बने बाजों के नाद विराजमान हैं ॥ -४७४-४७९ ॥

वहाँ सिद्धों से = वह नदी सिद्धों आदि से उपलक्षित है । 'पितृदेवैः'—यह रुद्र आदि (= वसु और आदित्य) का विशेषण है । 'स्तुवद्भिः' इत्यादि विशेषणों को पूर्व रुद्र आदि के साथ यथायोग्य जोड़ना चाहिये । 'दिव्यदुन्दुभिनिःस्वनैः' इत्यादि पद नृत्त और वल्गन (= गात्रविक्षेपमात्र और उछलना कूदना) के प्रति हेतु में तृतीया विभक्ति वाले हैं (अर्थात् दुन्दुभि के आवाज के अनुसार वे नृत्त एवं वल्गन करते हैं) । ('मनोवायुसमीरितैः' का अर्थ है—) मन के द्वारा अधिष्ठित वायु अर्थात् प्राण से समीरित = पूरित वायु ॥ ४७९ ॥

इसके अतिरिक्त—

सोने की पंखुड़ियों एवं वैदूर्य (= नीलम) की नाल वाले सुगन्धयुक्त केसर एवं महाचक्र के परिमाण वाले पद्मराग से युक्त वह श्रेष्ठ नदी मानो नृत्य कर रही हो । धर्म का आधार वह महानदी दिव्य वनों और सैकड़ों विमानों से अलङ्कृत हैं ॥ ४८०-४८१ ॥

'केसरैः पद्मरागैः' का अर्थ है—पद्मराग मणि वाले केसरों से युक्त कमलों से (मण्डित) । धर्माधारा = जिसके द्वारा दर्शन स्पर्शन आदि के माध्यम से धर्म पूर्ण रूपेण धारण किया जाता है वह ॥ ४८१ ॥

युक्तं चैतत्, यतः—

मम नेत्राद्विनिष्क्रान्ता क्रियाशक्तिः परा हि सा ।

एतत्पूर्वमेव निर्णीतम् ॥

सैषा—

महामन्दाकिनी देवी त्रिदशैः पर्युपासिता ॥ ४८२ ॥
महाविमानकोटीभिर्निरन्तरमवस्थितैः ।
शोभितासौ भगवती नित्यमास्ते नभस्तले ॥ ४८३ ॥

महत्त्वं प्रभावातिशयादस्याः । अवस्थितैरिति त्रिदशविशेषणम् ॥ ४८३ ॥

तत्रैषा मेरुशिरसि मम वै मस्तकाच्च्युता ।
पपात धरणीपृष्ठे लोकानां हितकाम्यया ॥ ४८४ ॥

एषा गङ्गा पूर्ववर्णितयुक्त्या देवैरभ्यर्थितेन मया मर्त्यलोकपावनाय समाहूय विसृष्टा सती मेरुशिरःस्थितस्य मम मस्तकं प्राप्य, ततश्च्युता मेरुशिरसि स्थिता, पश्चाद् धरणीपृष्ठे पपातेति सङ्गतिः । उक्तं च प्राक्—

'आगत्य मम मूर्धानं मेरुमूर्ध्नि पुनर्गता ।

यह ठीक भी है क्योंकि—

वह मेरे नेत्र से निकली हुई मेरी परा क्रियाशक्ति है ॥ ४८२- ॥

इसकी व्याख्या पहले की जा चुकी है ॥

वह—

महा मन्दाकिनी देवी निरन्तर करोड़ों महाविमानों में स्थित देवताओं के द्वारा उपासित है । शोभायुक्त यह भगवती आकाश तल में नित्य विराजमान है ॥ -४८२-४८३ ॥

इसका महत्त्व इसके अतिशय प्रभाव के कारण हैं । 'अवस्थितैः'—यह त्रिदश का विशेषण है ॥ ४८३ ॥

यह नदी वहाँ मेरे मस्तक से च्युत होकर सुमेरु के शिखर पर आयी और वहाँ से लोगों के हित की इच्छा से धरणी तल पर आ पड़ी ॥ ४८४ ॥

पूर्ववर्णित युक्ति के अनुसार देवताओं के द्वारा प्रार्थना किये जाने पर मैंने मर्त्यलोक को पवित्र करने के लिये इस गङ्गा को बुला कर विसर्जित किया । मेरु पर्वत पर स्थित मेरे मस्तक में आकर फिर वहाँ से च्युत हुई (यह गङ्गा) सुमेरु की चोटी पर आ गयी । बाद में भूतल पर पतित हुई । पहले कहा भी गया है—

'हे देवेशि ! यह गङ्गा मेरे मस्तक पर आकर पुनः (वहाँ से च्युत होकर) सुमेरु

तस्मान्निर्गत्य देवेशि चतुर्दिक्षूदधिं गता ॥' (१०।१८१)

इति ॥ ४८४ ॥

किं च, मदीयनियतिशक्तिनियन्त्रणतः—

अक्षोभ्या साप्यसौ गङ्गा तिष्ठत्यनिलधारिता ।

अन्यथा कथमनिलेन न क्षोभ्येत कथं वाह्येत ॥

योजनानां शतं पूर्णं विस्तारोऽस्याः प्रकीर्तितः ॥ ४८५ ॥
परिणाहस्ततः कोट्यः.............

तत इति तस्मिन्नाकाशे । कोट्य इति बह्वयः कोटय इत्यर्थः ॥

एषा चात्र—

..................महावेगवती शुभा ।
सा भ्रमन्तीव संतिष्ठेत् समन्तात् परिमण्डला ॥ ४८६ ॥

परिमण्डलेति ब्रह्माण्डान्तराकाशस्य तथात्वात् ॥ ४८६ ॥

ध्रुवमापूर्य सा देवी त्वत्यद्भुतमवस्थिता ।

ध्रुवमिति तन्नाभिनिबद्धभचक्रमित्यर्थः । देवी द्योतमाना । अत्यद्भुतं

के शिखर पर चली गयी । वहाँ से निकल कर चारो दिशाओं में प्रवाहित होती हुई वह समुद्र में चली गयी' ॥ ४८४ ॥ (१०।१८१)

इसके अतिरिक्त मेरी नियति शक्ति के नियन्त्रण के कारण—

अक्षोभ्या भी यह गङ्गा वायु के द्वारा धारित होकर बहती है ॥४८५-॥

अन्यथा वायु से यह क्षुब्ध कैसे न होती और कैसे प्रवाहित न होती ॥

इसका विस्तार पूरा सौ योजन और परिणाह (= लम्बाई) वहाँ करोड़ों योजन है ॥ -४८५-४८६- ॥

वहाँ = आकाश में । करोड़ों = अनेक कोटि ॥

यह यहाँ—

महावेगवती और शुभ है । वह चारो ओर चक्कर काटती हुई मण्डल (= गोलाकार रूप में) स्थित है ॥ -४८६ ॥

परिमण्डला—ब्रह्माण्ड के भीतर आकाश के वैसा (= मण्डलाकार) होने से (यह भी मण्डलाकार है) ॥ ४८६ ॥

वह देवी ध्रुव को पूरित कर अद्भुत रूप में स्थित हैं ॥ ४८७- ॥

कृत्वावस्थिता ॥

किं च—

दिव्यामृतवहा पुण्या सर्वपापप्रणाशिनी ॥ ४८७ ॥

दिवि भवं दिव्यं लोकोत्तरममृतं जलं वहति ॥ ४८७ ॥

अथ—

अष्टमे वृषराजस्तु सपत्नीकः सनन्दनः ।
वसति त्वप्रतीघातः प्रत्यक्षो धर्म एव सः ॥ ४८८ ॥

वृषराज इति महेश्वरस्य वाहनम् । अप्रतीघातः स्वेच्छाविहारी । धर्म इति—

'वृषो धर्मः स देवस्य गुणो ज्ञानक्रियात्मकः।
धत्ते स चिदचिद्यस्माद्धर्मस्तेनोच्यते बुधः ॥'

इति श्रीमन्मयसंग्रहोक्तसतत्त्वः ॥ ४८८ ॥

नवमे पथि चात्रास्ते दक्षो नाम प्रजापतिः ।
ब्रह्मैव साक्षाद्वसति ब्रह्मशक्त्या त्वधिष्ठितः ॥ ४८९ ॥

ध्रुव = उसकी नाभि में निबद्ध तारामण्डल । देवी = चमकती हुई । अति अद्भुत रूप में स्थित है ॥

तथा—

वह दिव्य अमृत प्रवाहित करने वाली पवित्र और समस्त पापों को नष्ट करने वाली है ॥ -४८७ ॥

दिव्य का अर्थ है—स्वर्ग में होने वाला अर्थात् लोकोत्तर । अमृत = जल । वह उसमें प्रवाहित होता रहता है ॥ ४८७ ॥

इसके बाद—

अष्टम वायुपथ में वृषराज पत्नी एवं नन्दन (= पुत्र) के साथ रहते हैं । वह अप्रतीघात और प्रत्यक्ष धर्म स्वरूप हैं ॥ ४८८ ॥

वृषराज = महेश्वर का वाहन । अप्रतीघात = स्वेच्छापूर्वक विहार करने वाला । धर्म—

'देव (= परमेश्वर) का धर्म वह वृष उनका ज्ञान क्रियात्मक गुण है । चूँकि वह चित् अचित् दोनों को धारण करता है इसलिये विद्वान् लोग उसे धर्म कहते हैं ।'

ऐसा श्रीमयसंग्रह के वचन के अनुसार तत्त्व वाला है ॥ ४८८ ॥

नवम पथ में दक्ष प्रजापति ब्रह्मा ब्रह्मशक्ति से अधिष्ठित होकर साक्षात्

ब्रह्मणः शक्तिर्निर्मातृरूपा ॥ ४८९ ॥

दशमे वायुपथे देवि वसुरुद्रदिवाकराः ।

एते च पूर्वं गङ्गासेवार्थमितोऽवतीर्णा वर्णिताः ॥

तत्र प्राधान्यादादौ रुद्रान्नामतो दर्शयति—

अत्र चाङ्गारकः सर्पिर्नैर्ऋतः सदसत्पतिः ॥ ४९० ॥
बुधश्च धूमकेतुश्च विख्यातश्च ज्वरस्तथा ।
अजश्च भुवनेशश्च मृत्युः कापालिकस्तथा ॥ ४९१ ॥
एकादश स्मृता रुद्राः सर्वकामफलोदयाः ।

सदसस्पतिरिति यः क्वचिदुक्तः । ज्वरो विख्यातः त्रिजगत्प्रसिद्धः । सर्वेषां कामफलानामुदयो येभ्य इति समासः ॥

तदित्थम्—

धाता ध्रुवश्च सोमश्च वरुणश्चानिलोऽनलः ॥ ४९२ ॥
प्रत्यूषश्च प्रदोषश्च वसवोऽष्टौ प्रकीर्तिताः ।

तदित्थम्—

निवास करते हैं ॥ ४८९ ॥

ब्रह्मा की शक्ति (ब्रह्मशक्ति है जो कि) निर्मात्री रूपा है ॥ ४८९ ॥

हे देवि ! दशम वायुपथ में वसु रुद्र और दिवाकर रहते हैं ॥ ४९०-॥

ये पहले गङ्गा की सेवा के लिये यहाँ से अवतीर्ण कहे गये हैं ॥

प्रधानता के कारण पहले रुद्रों का नाम लेकर बतलाते हैं—

यहाँ अङ्गारक, सर्पिः, नैर्ऋत, सदसत्पति, बुध, धूमकेतु, प्रख्यात ज्वर, अज, भुवनेश, मृत्यु, कापालिक ये ग्यारह रुद्र रहते हैं जो समस्त कामफल को देने वाले हैं ॥ -४९०-४९२- ॥

सदसत्पति का कहीं अन्यत्र वर्णन किया जा चुका है । ज्वर तीनों जगत् में प्रसिद्ध है । ('सर्वकामफलोदय' शब्द का समास विग्रह बतलाते हैं—) समस्त कामफलों का जिनसे उदय होता है वे ॥

तो इस प्रकार—

इसी प्रकार धाता, ध्रुव, सोम, वरुण, अनिल, अनल, प्रत्यूष और प्रदोष ये आठ वसु कहे गये हैं ॥ -४९२-४९३- ॥

तो इस प्रकार—

वसवः कथिता ह्येते आदित्यांश्च निबोध मे ॥ ४९३ ॥
अर्यमा इन्द्रवरुणौ पूषा विष्णुर्गभस्तिमान् ।
मित्रश्चैव समाख्यातस्त्वजघन्यो जघन्यकः ॥ ४९४ ॥
विवस्वांश्चैव पर्जन्यो धाता वै द्वादशः स्मृतः ।
काश्यपेयान् विदुस्त्वेतान्..........

कश्यपस्यामी काश्यपेयाः, कश्यपापत्यानीत्यर्थः ॥

................तेषां तेजोनिधेरथ ॥ ४९५ ॥
अमृतोद्भवो रथो दिव्यः सर्वदेवसमन्वितः ।

तेषां वसुरुद्रादित्यानां मध्यात् तेजोनिधेरादित्यस्य क्षीरोदोद्भवो रथः, तस्यैव तदारूढस्य जगत्प्रकाशाय नियुक्तत्वात् । तेजोनिधेश्चिदर्कस्य परशक्त्यमृतोत्थितः पूर्वोक्तदृशा सर्वदेवमयः प्राणरूपो रथ इत्यपि सूचितम् ॥

अनेन यदुक्तं सर्वदेवमय इति, तद्विभजते—

यज्ञश्चक्रं रथे तस्मिन् सर्वज्ञानमयी च धूः ॥ ४९६ ॥
सप्ताश्वाश्च स्वराः सप्त वेदहुङ्कारनिःस्वनाः ।
नागा योक्त्राणि तेषां वै अरुणश्चैव सारथिः ॥ ४९७ ॥
सत्यं च मञ्चकं तस्य वायुर्वेगो रथस्य तु ।

ये आठ वसु कहे गये । अब मुझसे आदित्यों को जानो । अर्यमा, इन्द्र, वरुण, पूषा, विष्णु, गभस्तिमान्, मित्र, अजघन्य, जघन्यक, विवस्वान्, पर्जन्य और धाता । इनको लोग काश्यपेय (= कश्यप के पुत्र) समझते हैं ॥ -४९३-४९५- ॥

कश्यप ऋषि के अपत्य (= पुत्र) काश्यप होते हैं ॥

उनमें से तेजोनिधि का अमृतोद्भव नामक दिव्य रथ है जिसमें समस्त देवता रहते हैं ॥ -४९५-४९६- ॥

उन = वसु रुद्र और आदित्यों में से तेजोनिधि आदित्य का रथ क्षीरसागर से उत्पन्न है । क्योंकि उस पर आरुढ वे (= तेजोनिधि) ही जगत् प्रकाश के लिये नियुक्त हैं । तेजोनिधि का एक अर्थ और है—चित् सूर्य । उस चित् की पराशक्ति-रूपी अमृत से उत्थित पूर्वोक्त नियम के अनुसार सर्वदेवमय प्राणरूपी रथ है ॥

इस (ग्रन्थकार) ने जो कहा कि 'सर्वदेवमय' उसको स्पष्ट करते हैं—

रथ में यज्ञ चक्र है । सर्वज्ञानमयी (वाग्देवी) धुरा है । (षड्ज ऋषभ आदि) सात स्वर उस रथ के सात घोड़े हैं । वेद का हुङ्कार रथ की आवाज है । नाग उन (= अश्वों) के योक्त्रा (= रथ से संयोग करने वाले)

यज्ञः क्रियाशक्त्यात्मा देवता, अस्य रथस्य चक्रम्, तद्वशादूर्ध्वाधरस्थसर्वलोकयात्रासम्पत्तेः । यदुक्तं गीतासु—

'तस्मात् सर्वगतं ब्रह्म नित्यं यज्ञे प्रतिष्ठितम्' (३।१५) इति ।

विश्वान् यजतीत्याम्नातत्वात् सर्वशास्त्रज्ञानमयी वागीश्वरी अस्य धूः, यत्र लग्ना अश्वा वहन्ति । ते च समस्तवाचकात्मवेदप्रधानभूतहूङ्काररूपहेषाशब्दव्यञ्जकाः षड्जाद्याः सप्त स्वराः । एवं च नदन्नादामर्शोत्थिततत्वं ज्ञानक्रियादेवताकाण्डरूपत्वात्परापरतदुभयसिद्धिमयत्वं च ऊर्ध्वाधरशक्तिसम्बन्धेन वेदानां प्रतिमन्त्रमुद्रास्थानीयत्वेन दर्शयति । योक्त्राणि बन्धनरज्जवः । नागा अनन्ताद्याः तेषां षड्जादीनाम् । न अगाः सततगतिशीलाः सङ्कल्पा नियोक्तारः । अरुणोऽनूरुदीप्तोऽहङ्कारश्च । सत्यं च ऋतम् । मञ्चकमासनम् । प्रतिप्रकाशमाने विश्वत्र साध्वाधारतया स्थितं सत्त्वात्मकं बुद्धितत्त्वम् । रथस्य वेगो वाय्वाख्या देवता । प्राणनात्मन आन्तरस्य च रथस्य प्राणापानादिरूपो वाय्वात्मैव वेगः ॥

तदेवमीदृग्रथारुढस्य—

हैं और अरुण (उस रथ का) सारथि है । सत्य ही उस रथ का मञ्च है और वायु वेग ॥ -४९६-४९८- ॥

यज्ञ = क्रियाशक्तिरूप देवता इस रथ का चक्र है क्योंकि उसके कारण ऊपर नीचे स्थित समस्त लोकों की यात्रा सम्पन्न होती है । जैसा कि गीता में कहा गया—

'इसलिये सर्वव्यापी ब्रह्म यज्ञ में नित्य प्रतिष्ठित है ।' (भ०गी० ३।१५)

'सबका यजन करती है ।'—ऐसा शास्त्रवचन होने से सर्वशास्त्र में निहित ज्ञानवाली वागीश्वरी इस (= रथ) की धुरा है जिसमें संलग्न घोड़े (रथ का) वहन करते हैं । समस्त वाचकरूप वेद के प्रधानभूत हूङ्कार रूप षड्ज ऋषभ आदि सात स्वर ही व्यञ्जक वे (घोड़े) की हेषा (= हिन हिनाहट) के व्यञ्जक हैं । इस प्रकार नदन करते हुए नाद से उत्थित होना और ज्ञानकाण्ड क्रियाकाण्ड तथा देवताकाण्ड रूप होने के कारण पर अपर और परापर की सिद्धि से युक्त होना ऊर्ध्व और अधरशक्ति सम्बन्ध के द्वारा वेदों के एक-एक मन्त्र और मुद्रायें हैं । योक्त्रा = बाँधने के रस्सियाँ । नाग = अनन्त आदि । उनका = षड्ज आदि का । (नाग शब्द की व्याख्या करते हैं—) न (= कभी नहीं) अग = (गमनरहित अर्थात्) सतत गतिशील जो सङ्कल्प है वही नियोक्ता हैं । अरुण = अनूरु (= जिस की उरु = जङ्घा नहीं है वह) ही दीप्त अहङ्कार है । सत्य = ऋत है । मञ्चक आसन (= मचान) है । (यह आसन) सत्त्वात्मक बुद्धि तत्त्व है जो प्रकाशमान विश्व में उचित आधार के रूप में स्थित है । वायु नामक देवता रथ का वेग है । प्राण, अपान आदि रूप वायु ही प्राणनात्मक आन्तर रथ का वेग है ॥

नवयोजनसाहस्रो विग्रहो भास्करस्य तु ॥ ४९८ ॥
त्रिगुणं मण्डलं तस्य त्रैलोक्ये भाति भास्वरम् ।

जीवादित्यस्यापि नवतालो विग्रहः । मण्डलं च प्रकाशात्मकं त्रिभिः सत्त्वादिभिर्गुणैरुपेतम् ॥

स चायमसामान्य इत्याह—

ज्ञानशक्तिः परा ह्येषा तपत्यादित्यविग्रहा ॥ ४९९ ॥

सर्वशक्तेर्महेश्वरस्य विश्वप्रकाशिका ज्ञानशक्तिर्जीवादित्यबाह्यादित्यरूपतया स्थितेत्यर्थः ॥

इत्थं पारमेशज्ञानशक्त्यात्मका द्वादशादित्याः—

मासवारप्रयोगेण सञ्चरन्ति शिवेच्छया ।

मासेन वारः, स एव प्रयोगो नियोगः । जीवादित्यस्य मासादिविभागः प्रागेव निर्णीतः । द्वादशधात्वं चास्य बुद्धिभेदात् । शिवेच्छयेति नात्रान्यस्येच्छा प्रभवतीत्यर्थः ॥

तो इस प्रकार के रथ पर आरुढ—

सूर्य का विग्रह (= शरीर) नव हजार योजन विस्तार वाला है । उसका तीन गुना (अर्थात् सत्ताईस हजार योजन) भास्वर मण्डल त्रैलोक्य में भासित हो रहा है ॥ -४९८-४९९- ॥

जीवरूपी आदित्य का भी विग्रह नवताल (= एक परिमाण) वाला है । प्रकाशात्मक मण्डल (त्रिगुण) अर्थात् सत्त्व, रजस्, तमस् तीन गुणों से युक्त है ॥

वह यह (भास्कर) असामान्य है—यह कहते हैं—

(परमेश्वर की) यह परा ज्ञानशक्ति आदित्य के रूप में ताप उत्पन्न करती है ॥ -४९९ ॥

सर्वशक्तिमान् महेश्वर की विश्वप्रकाशिका ज्ञानशक्ति जीवादित्य और बाह्य आदित्य के रूप में स्थित है ॥ ४९९ ॥

इस प्रकार परमेश्वर की ज्ञानशक्ति रूप जो बारह आदित्य हैं वे—

शिव की इच्छा से मास दिन (= एक महीने का एक दिन) के प्रयोग से सञ्चरण करते रहते हैं ॥ ५००- ॥

एक मास से एक दिन, वही प्रयोग अर्थात् नियोग है । जीवादित्य का मास आदि विभाग पहले ही बतलाया जा चुका है । इस (जीवादित्य) का बारह प्रकार का होना बुद्धि के भेद से होता है । शिव की इच्छा से—क्योंकि इस विषय में

अतश्च—

अहोरात्रं भ्रमन्त्येते भुवर्लोकं समन्ततः ॥ ५०० ॥

एतच्च—

'उदयो योऽमरावत्या' (१०।३३८)

इति प्रोक्तानुसारेण योज्यम् । यत्तु—वृहट्टीकाकारराजानकभुल्लकेन यावदशेष-भुवनप्रकाशनव्याप्तिः सूर्यस्य नास्ति, तावत्सूर्यसंयमाद् भुवनज्ञानं कथं पनतञ्जलिनोक्तम्[1], अत आ पातालात् सत्यलोकान्तं सूर्यस्य प्रकाशकत्वमिति स्वरुच्या व्याख्यातम्, तदसारत्वादुपेक्ष्यम् ॥ ५०० ॥

अथ सूर्योपरि चन्द्रादीनां स्थितिविभागमाह—

ततः सोमस्तु लक्षेण आदित्योपरि संस्थितः ।
आप्याययन् जगत्सर्वं सुधाधाराप्रवर्षणैः ॥ ५०१ ॥

इत्थं च—

चन्द्ररूपेण तपति क्रियाशक्तिः शिवस्य तु ।

दूसरे की इच्छा समर्थ नहीं है ॥

इसलिये—

ये (बारह सूर्य) भुवः (= अन्तरिक्ष) लोक के चारो ओर चक्कर लगाते रहते हैं ॥ -५०० ॥

यह तथ्य—

'जो अमरावती से उदय है.......... ।' (१०।३३८)

इसे पूर्व वर्णन के अनुसार जोड़ना चाहिये । और जो कि वृहट्टीका के रचयिता राजानक भुल्लक ने अपने मन से यह व्याख्या की कि—जब सूर्य की प्रकाशन-व्याप्ति सम्पूर्ण भुवन में नहीं है तो पतञ्जलि ने यह कैसे कहा कि सूर्य में संयम करने से भुवन का ज्ञान होता है (= भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् पा०यो०सू० ३।२६) इसलिये पाताल लोक से लेकर सत्य लोक तक सूर्य प्रकाश करता है—यह व्याख्या तत्त्वहीन होने से उपेक्षणीय है ॥ ५०० ॥

अब सूर्य के ऊपर चन्द्रमा आदि की स्थिति का विभाग बतलाते हैं—

इसके बाद सुधाधारा की वर्षा से समस्त संसार को आप्यायित करता हुआ चन्द्रमा आदित्य से एक लाख योजन ऊपर स्थित है ॥ ५०१ ॥

इस प्रकार—

---

१. 'भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात्' (३।२६) इत्यत्र ।

इन्दूर्ध्वे लक्षमात्रेण स्थितं नक्षत्रमण्डलम् ॥ ५०२ ॥

नक्षत्रमण्डलं ताराचक्रम् ॥ ५०२ ॥

लक्षद्वयेन तस्योर्ध्वं संस्थितो भूमिनन्दनः ।
लक्षद्वयेन तस्योर्ध्वे संस्थितः सोमनन्दनः ॥ ५०३ ॥
सुराचार्योऽपि तस्योर्ध्वे द्विलक्षेणैव संस्थितः ।
तस्योर्ध्वेऽपि द्विलक्षेण तिष्ठते भृगुनन्दनः ॥ ५०४ ॥
तस्योपरि द्विलक्षेण सौरिः सर्पति लीलया ।

सर्पति राशिषु सञ्चरति । लीलयेति मन्दमन्दम्, यतोऽयं शनैश्चरः ॥

तस्योपरि—

लक्षमात्रेण तु ऋषीन् कथयामि समासतः ॥ ५०५ ॥

तान्यथावस्थितिक्रमेणाह—

अत्रिश्चैव वशिष्ठश्च पुलस्त्यः पुलहः क्रतुः ।
भृग्वङ्गिरा मरीचिश्च...........

भृग्वङ्गिरा गोत्रनामक्रमाभ्यामेक एव ॥

परमेश्वर की क्रिया शक्ति चन्द्रमा के रूप में प्रकाशन करती है । इस चन्द्रमा के एक लाख योजन ऊपर नक्षत्रमण्डल स्थित है ॥ ५०२ ॥

नक्षत्रमण्डल = ताराओं का चक्र (= समूह) ॥ ५०२ ॥

उसके दो लाख योजन ऊपर मङ्गल है और उस मङ्गल के दो लाख योजन ऊपर सोमनन्दन (= बुध) स्थित है । सुराचार्य वृहस्पति भी उस बुध के दो लाख योजन ऊपर है । उसके भी दो लाख योजन ऊपर भृगुनन्दन (= शुक्र) हैं । उसके दो लाख योजन ऊपर सूर्यपुत्र शनि लीला पूर्वक सरकते रहते है ॥ ५०३-५०५- ॥

सर्पण करते हैं = राशियों पर सञ्चरण करते रहते हैं । लीला के साथ = धीरे-धीरे । इसीलिये इसे शनैश्चर (= धीरे-धीरे चलने वाला) कहा जाता है ॥

एक लाख योजन के ऊर्ध्व में रहने वाले सात ऋषियों को संक्षेप में बतला रहा हूँ ॥ -५०५ ॥

अवस्थिति के क्रमानुसार उनको बतलाते हैं—

ये अत्रि, वशिष्ठ, पुलस्त्य, पुलह, क्रतु, भृग्वाङ्गिरा और मरीचि हैं ॥ ५०६- ॥

भृग्वङ्गिरा शब्द एक ही ऋषि को बतलाता है जिसमें भृगु उनका गोत्र है और

एते सप्त—

.........ऋषयः सम्प्रकीर्तिताः ॥ ५०६ ॥

यमनियमतो ह्येते शापानुग्रहकारकाः ।

अहिंसाद्या यमाः[1] । शौचाद्या नियमाः[2] ॥ ५०६ ॥

किं च—

भीताश्च परपीडायाः..........

प्रत्यवायिनामपि निग्रहं न कुर्वन्ति, दयापरतन्त्रत्वात् ॥

तथा—

...........शूराः शास्त्रविचारणे ॥ ५०७ ॥

शूरास्तीक्ष्णधियः ॥ ५०७ ॥

अत एवानुग्राह्याणाम्—

ज्ञानखड्गोद्यताः सर्वे त्वज्ञानपटलापहाः ।

अङ्गिरा उनका नाम ॥

ये सात—

ये सात ऋषि कहे गये हैं । यम और नियम के द्वारा ये शाप के प्रति अनुग्रह करते हैं ॥ -५०६-५०७- ॥

अहिंसा आदि (सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और असंग्रह) यम हैं । शौच आदि (= सन्तोष, तपस्, स्वाध्याय, ईश्वरप्रणिधान) नियम हैं ॥ ५०६ ॥

तथा—

ये दूसरों के द्वारा पहुँचायी गयी पीड़ा से डरते हैं ॥ -५०७- ॥

(ये) विघ्नकर्त्ता लोगों का भी निग्रह नहीं करते क्योंकि ये दयावान् हैं ॥

तथा—

शास्त्र के विचार में शूर होते हैं ॥ -५०७ ॥

शूर = तीक्ष्ण बुद्धि वाले ॥ ५०७ ॥

इसलिये अनुग्राह्यों के लिये—

ये सब ज्ञान रूपी खड्ग को हाथ में लिये रहते हैं तथा अज्ञानपटल

---

१. अहिंसासत्यास्तेयब्रह्मचर्यापरिग्रहा यमाः । पा०यो०सू० २।३०

२. शौचसन्तोषतपःस्वाध्यायेश्वर प्रणिधानानि नियमाः । २।३२

अज्ञानमेव चित्प्रकाशावरकत्वात् पटलस्तमपघ्नन्ति ॥

तदर्थमेव च—

मन्त्रयोगक्रियाचर्यासंनद्धा दुरतिक्रमाः ॥ ५०८ ॥

योगैश्वर्यगुणोपेता शिवाराधनतत्पराः ।

मननसारा मन्त्राः, योगो ध्यानधारणादिः, क्रिया नित्यनैमित्तिकानुष्ठानम्, चर्या व्रतादिरूपा, एतैर्मन्त्रादिभिः संनद्धाः परिष्कृताः । अत एव दुरतिक्रमा अज्ञानेन न कदाचिदभिभूयन्ते । अतश्च योगैश्वर्यगुणैरणिमादिसिद्धिभिरुपेताः । तथापि शिवाराधनप्रधानकर्मणि तत्परा नित्यासक्ताः ॥

अथ—

तेभ्यो लक्षाद् ध्रुवो देवि तारकाः स चतुर्दश ॥ ५०९ ॥

एक एव सन् ॥ ५०९ ॥

अतश्चतुर्दशभिस्तारकाभिः—

(= नेत्ररोग) का नाश करने वाले हैं ॥ ५०८- ॥

अज्ञान ही चित्प्रकाश का आवरक होने के कारण पटल (= आखों का जाला जो आगे चल कर मोतियाबिन्द हो जाता है) है उसको नष्ट करते हैं ॥

इस (= अज्ञानपटल को दूर करने) के लिये—

(ये ऋषिगण) मन्त्र, योग, क्रिया और चर्या में लगे रहते हैं फलतः ये (अज्ञान के द्वारा) दुरतिक्रम हैं (अर्थात् कभी भी अज्ञानावृत नहीं होते) । ये ऋषि योग के ऐश्वर्यगुणों से युक्त और शिव की आराधना में लगे रहते हैं ॥ -५०८-५०९- ॥

मन्त्र = मनन तत्त्व वाले । योग = ध्यान धारणा समाधि । क्रिया = नित्य नैमित्तिक कर्मों का अनुष्ठान । चर्या = व्रत आदि । इन मन्त्र आदि के द्वारा वे संनद्ध = परिष्कृत हैं । अत एव दुरतिक्रम हैं = अज्ञान के द्वारा कभी भी अभिभूत नहीं होते । इसी के कारण योग के जो ईश्वरीय गुण अणिमा आदि हैं उनसे ये सदा युक्त रहते हैं । इतना होने पर भी ये शिव की आराधना में नित्य तत्पर = लगे हुए होते हैं ॥

इसके बाद—

हे देवि ! उन (सप्तर्षियों) से एक लाख योजन दूर ध्रुव नक्षत्र है । यह चौदह ताराओं का समूह है ॥ -५०९ ॥

एक ही समूह है ॥ ५०९ ॥

शरीरं घटितं ताभिर्ध्रुवस्य वरवर्णिनि ।

तथा च—

'उत्तानपान्मखहनुः शुचिधर्ममूर्धा
नारायणाश्विवरुणार्यमहृत्पदोरुः ।
संवत्सरप्रजननो जघनस्थमित्रो
वह्नीन्द्रकश्यपमरीच्यभयाख्य पुच्छः ॥'

इति ज्योतिःशास्त्रे हनुशिरःप्रभृतिगात्रारम्भोऽस्य यज्ञधर्मादिदेवताभिरुक्तः ।

एष च—

ब्रह्मैवापररूपेण ब्रह्मस्थाने नियोजितः ॥ ५१० ॥

सत्यलोकस्थो ब्रह्माण्डेनापररूपेण भुवर्लोकमध्ये नियुक्तः ॥ ५१० ॥

इत्थं मध्ये चक्रनाभिवदवस्थितस्य—

तस्य ज्योतिर्गणो देवि निबद्धो भ्रमते सदा ।
निश्चलः स तु विज्ञेयः शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः ॥ ५११ ॥

इसलिए चौदह ताराओं का समूह—

इसलिये हे वरवर्णिनि ! ध्रुव का शरीर चौदह छोटी-छोटी तारिकाओं से बना हुआ है ॥ ५१०- ॥

और भी—

'उत्तानपात् यज्ञ के हनु है । पवित्र धर्म शिर है । नारायण अश्वि वरुण अर्यमा हृदय पैर और उरु हैं । संवत्सर लिङ्ग है । मित्र जघन हैं । वह्नि इन्द्र कश्यप मरीचि और अभय (उस यज्ञ पशु की) पूंछ है ।'

ऐसा ज्योतिष् शास्त्र में इस ध्रुव का हनु, शिर आदि के द्वारा शरीराम्भ यज्ञ धर्म आदि देवताओं के माध्यम से कहा गया है ।

और यह (ध्रुव)—

ब्रह्म ही है जो ब्रह्म के स्थान में किसी भी दूसरे रूप में नियोजित है ॥ -५१० ॥

सत्य लोक में स्थित ध्रुव अपर रूप ब्रह्माण्ड के रूप में भुवः लोक के मध्य में नियुक्त है ॥ ५१० ॥

इस प्रकार भुवर्लोक के मध्य में स्थित ध्रुव चक्र की नाभि में स्थित धुरें के भाँति नियुक्त है—

हे देवि ! उससे निबद्ध ज्योतिर्गण सदा चक्कर लगाते रहते हैं । शिव की

शिवशक्त्यैवेत्थं व्यवस्थापित इत्यर्थः । एष चान्तरस्थित्याऽविचलश्चिदात्मैव समध्यवाहत्रयोदशेन्द्रियताराचक्रपरिवृतः कालाधिकारोक्तस्थित्याशेषग्रहर्क्षाद्याश्रयण-प्राणापानसूर्यसोमसञ्चारप्रवर्तक इति बोद्धव्यम् । अत एवात्मप्रतिनिधिरूपध्रुवस्य—

'यदह्ना कुरुते पापं दृष्ट्वा तन्निशि मुच्यते ।
अधिकं च भवत्यायुर्ध्रुवान्तानां समाः समाः ॥'

इत्यस्य ज्योतिःशास्त्रादौ श्रूयते । यत्तु तत्र ध्रुवनाभिनिबद्धस्य ग्रहनक्षत्र-चक्रस्य बहिर्भूगोलं यन्निवर्तनम्, सूर्यादीनां भूम्यादेश्चान्वथावस्थानपरिमाणादि श्रूयते, तत्—

'यदुपचितमन्यजन्मनि शुभाशुभं तस्य कर्मणः पङ्क्तिम् ।
व्यञ्जयति शास्त्रमेतत्तमसि द्रव्याणि दीप इव ॥' (सू०जा० १।३)

इति तदुक्तप्रक्रिययैव पूर्वकर्मानुसारितेजोगोलकाधिष्ठातृसूर्यादिरूपदेवतापेक्षया कर्मार्जनस्थानस्थभूम्यपेक्षया च तथा, इदं तु तेजोगोलकाद्यधिष्ठातृसूर्यादिरूप-देवतापेक्षया । यथोक्तप्रक्रिययैव सूर्यादीनामवस्थानसंनिवेशभ्रमणादि पातालभूम्यादि-

---

शक्ति से अधिष्ठित उसको (= ध्रुव को) निश्चल समझना चाहिये ॥ ५११ ॥

शिवशक्ति के द्वारा ही यह (ध्रुव) इस प्रकार व्यवस्थित किया गया है । यह आन्तर स्थिति से अविचल चिदात्मा ही है जो कि मध्यवाह (= सुषुम्ना नाडी) के साथ तेरह इन्द्रिय (५ कर्मेन्द्रिय + ५ ज्ञानेन्द्रिय + मन + बुद्धि + अहङ्कार) रूप ताराचक्र से घिरा है । तथा कालाधिकार में वर्णित स्थिति के अनुसार समस्त ग्रह नक्षत्र आदि के आश्रयभूत प्राण अपान रूपी सूर्य सोम के सञ्चार का प्रवर्त्तक है— यह समझना चाहिये । इसीलिये आत्मप्रतिनिधि रूप ध्रुव के बारे में ज्योतिष् शास्त्र आदि में ऐसा सुना जाता है—

'मनुष्य दिन में जो पाप करता है रात में ध्रुव को देखने से वह पाप से मुक्त हो जाता है । उस द्रष्टा की आयु अनेक वर्षों की वृद्धि के क्रम से ध्रुव पर्यन्त हो जाती है ।'

और जो कि वहाँ (= ज्योतिष शास्त्र आदि में) ध्रुवनाभि से निबद्ध ग्रह नक्षत्र भूगोल के बाहर निवर्त्तन, तथा सूर्य आदि और भूमि आदि का अन्यथा अवस्थान-परिमाण आदि सुना जाता है वह—

'जो अन्य जन्म में शुभाशुभ कर्म किया गया है, यह शास्त्र उस कर्म की पंक्ति को उसी प्रकार व्यक्त करता है जैसे दीपक अन्धकार में द्रव्य (= वस्तु) को ।' (सू०जा० १।३)

इस उक्त प्रक्रिया से ही पूर्व कर्मानुसारी तेजोगोलक के अधिष्ठाता सूर्य आदि रूप देवता तथा कर्मार्जन स्थान में स्थित भूमि दोनों की अपेक्षा से वैसा (कहा गया) और यह कथन केवल तेजोगोलक के अधिष्ठाता सूर्य आदि रूप देवता की

परिमाणादि वास्तवम् । सर्वसर्वज्ञमहेश्वरपरिदृष्टमेतदेवेति न तेन सह संवादविसंवादादिचर्चा कार्या । अत एव—

'शास्त्रान्तरैर्न यद्दृष्टं तद्दृष्टं पारमेश्वरे ।
नियत्यादि शिवान्तं वाक् क्वान्यत्र परिदृश्यते ॥'

इतीयमेव प्रक्रिया साध्वी ॥ ५११ ॥

दश पञ्च च लक्षाणि ध्रुवान्तं भूमिमण्डलात् ।

भुवः सूर्येन्दुभचक्राणि प्रत्येकं लक्षान्तरितानि, प्रत्येकं लक्षद्वयेन भौमाद्याः पञ्च, लक्षेण सप्तर्षयः । लक्षेण ध्रुव इति पञ्चदशलक्षमेव ध्रुवान्तं भवति ॥

किं च—

वायुस्कन्धान् स्थितांस्त्वत्र कथयामि समासतः ॥ ५१२ ॥

अत्रेति पञ्चदशयोजनलक्षोन्मानभुवःस्वर्लोकद्वये । ईश्वरशक्तिनियमितवायुसंनिविष्टभुवनादिरूपान् वायुस्कन्धान् कथयामि ॥ ५१२ ॥

अपेक्षा से है । पूर्वोक्त प्रक्रिया से ही सूर्य आदि का अवस्थानसन्निवेश भ्रमण आदि तथा पाताल भूमि आदि का परिमाण आदि वास्तविक है। यह सब कुछ सर्वज्ञ महेश्वर के द्वारा परिदृष्ट ही है इसलिये उनके साथ संवाद विसंवाद आदि की चर्चा नहीं करनी चाहिये । अत एव—

'जिसको अन्य शास्त्र नहीं बतलाते वह पारमेश्वर शास्त्र में वर्णित है । नियति से लेकर शिव पर्यन्त का वर्णन अन्यत्र कहाँ मिलता है । (अर्थात् कहीं नहीं मिलता) ।'

इस प्रकार यही प्रक्रिया समीचीन है ॥ ५११ ॥

भूमिमण्डल से लेकर ध्रुव पर्यन्त दश और पाँच अर्थात् पन्द्रह लाख योजन क्षेत्र है ॥ ५१२- ॥

पृथिवी से लेकर सूर्य चन्द्रमा और अन्य नक्षत्रों का समूह प्रत्येक एक-एक लाख योजन की दूरी पर है । भौम आदि पाँच (= भौम, बुध, गुरु, शुक्र और शनि) प्रत्येक दो-दो लाख योजन की दूरी से, सप्तर्षि एक लाख योजन और ध्रुव एक लाख, इस प्रकार ३ + (५ × २ =) १० + २ = १५ लाख योजन ध्रुव पर्यन्त का क्षेत्र है ॥

और भी—

यहाँ स्थित वायुस्कन्धों को संक्षेप में बतला रहा हूँ ॥ -५१२ ॥

यहाँ = पन्द्रह लाख योजन उन्मान वाले भुवः और स्वर्ग दोनों लोकों में । ईश्वरशक्ति से नियन्त्रित वायु से सन्निविष्ट भुवन आदि रूप वायुस्कन्धों को

तेषां कक्ष्याभेदमाह—

आ मेघाद्भास्करात् सोमान्नक्षत्राद् ग्रहमण्डलात् ।
ऋषिसप्तकनिर्देशादाध्रुवान्तं च सप्तमः ॥ ५१३ ॥

आ मेघादिति प्रोक्तवायुपथगतेभ्यो मेघेभ्यः प्रभृति ध्रुवान्तं सप्तसु कक्ष्यासु सप्त वायुस्कन्धाः स्थिताः । यदुक्तं पुराणेषु—

'पृथिव्यां प्रथमः स्कन्ध आ मेघेभ्यो य आवहः ।
द्वितीयश्चापि मेघेभ्य आ सूर्यात् प्रवहस्तु यः ॥
सूर्यादूर्ध्वं तथा सोमादुद्वहो यस्तु वै स्मृतः ।
सोमादूर्ध्वं तथर्क्षेभ्यश्चतुर्थः संवहस्तु यः ॥
ऋक्षोर्ध्वं ग्रहपर्यन्तं पञ्चमो विवहस्तु यः ।
ऊर्ध्वं ग्रहादृषिभ्यस्तु षष्ठो योऽसौ परावहः ॥
सप्तर्षिभ्यस्तथैवोर्ध्वमा ध्रुवात् सप्तमः स्मृतः ।
वातस्कन्धः परिवह................................॥' इति ।

तत्रैव च प्रत्येकं शुक्रज्योतिः सत्यज्योतिश्चित्रज्योतिर्ज्योतिष्मानित्यादिसंज्ञाः सप्त सप्तावान्तरभेदा उक्ताः ॥ ५१३ ॥

तदयम्—

आदित्यादिध्रुवान्तश्च स्वर्लोकः परिकीर्तितः ।

कहूँगा ॥ ५१२ ॥

उनके कक्ष्याभेद को बतलाते हैं—

मेघ से लेकर सूर्य, सोम, नक्षत्र, ग्रहमण्डल, सप्तर्षि और ध्रुव तक सात (वायु स्कन्ध) हैं ॥ ५१३ ॥

मेघ से लेकर—प्रोक्त वायुपथ में स्थित मेघों से लेकर ध्रुवपर्यन्त सात कक्ष्याओं से सात वायुस्कन्ध स्थित हैं । जैसा कि पुराणों में कहा गया—

'पृथिवी से मेघपर्यन्त आवह नामक प्रथम वायुस्कन्ध है । सूर्य से लेकर मेघ पर्यन्त दूसरा प्रवह नामक स्कन्ध है । सूर्य से ऊपर चन्द्रमा तक जो स्कन्ध है उसे उद्वह कहा गया है । सोम से ऊपर नक्षत्रों तक के चतुर्थ स्कन्ध का नाम संवह है । नक्षत्रों से ऊपर ग्रहपर्यन्त विवह नामक पञ्चम वायुस्कन्ध है । ग्रहों से ऊपर सप्तर्षि मण्डल तक छठाँ परावह स्कन्ध है और सप्तर्षि से लेकर ध्रुव पर्यन्त परिवह नामक सातवाँ वायुस्कन्ध है ।'

वहीं पर प्रत्येक स्कन्ध में शुक्रज्योति, सत्यज्योति, चित्रज्योति, ज्योतिष्मान् इत्यादि नाम वाले सात सात अवान्तर भेद कहे गये हैं ॥ ५१३ ॥

तो यह—

अत्र राजा महेन्द्रो वै तिष्ठते सुरपूजितः ॥ ५१४ ॥
ऋषिदेवैः सगन्धर्वैर्वृतश्चाप्सरसां गणैः ।

भूपृष्ठादादित्यान्तो भुवर्लोको योजनानां लक्षमेकम् । ततो ध्रुवान्तः स्वर्गलोकश्चतुर्दश लक्षाणि ॥

ईदृशं चामुम्—

अग्निहोत्रं क्रतून् वापि कृत्वा ज्ञानविवर्जिताः ॥ ५१५ ॥
स्वर्लोकं तु नरा यान्ति पुनरायान्ति मानुषम् ।

अग्निहोत्रं नित्याग्निनिष्ठो होमः, क्रतवस्तु ज्योतिष्टोमादयः । ज्ञानविवर्जितत्वाद् देहान्ते स्वर्लोकं यान्ति । तत्र स्वकर्मोपचितफलं भुक्त्वा पुनर्मानुषादिकमायान्ति । ज्ञानिनस्तु यज्ञादि कुर्वन्तोऽपि निष्कामत्वान्मुच्यन्त इत्याशयः ॥

इत्थमेवंविधस्य—

स्वर्लोकस्योपरिष्टात्तु द्वे कोटी योजनानि तु ॥ ५१६ ॥
पञ्चाशीतिश्च लक्षाणि महर्लोको वरानने ।

आदित्य से लेकर ध्रुवपर्यन्त स्वर्लोक कहा गया है । यहाँ देवताओं से पूजित इन्द्र राजा है । यह इन्द्र ऋषि, देवता, गन्धर्व और अप्सराओं के समूह से घिरे रहते हैं ॥ ५१४-५१५- ॥

भूपृष्ठ से सूर्य तक भुवः (= अन्तरिक्ष) लोक है । यह एक लाख योजन (विस्तृत) है । फिर वहाँ से लेकर ध्रुवपर्यन्त स्वर्गलोक है जो चौदह लाख योजन (विस्तृत) है ॥

इस प्रकार के इस—

स्वर्गलोक को वे मनुष्य प्राप्त होते हैं जो आत्मज्ञानरहित होते हुए भी अग्निहोत्र या यज्ञों को करते हैं । (वहाँ कुछ काल तक सुख भोगने के बाद वे) पुनः मनुष्य लोक में आ जाते हैं ॥ -५१५-५१६- ॥

अग्निहोत्र = अग्नि में नित्य किया जाने वाला होम । क्रतु = ज्योतिष्टोम आदि । ज्ञान से रहित होने के कारण वे स्वर्गलोक को जाते हैं । वहाँ अपने कर्म से उपचित (= प्राप्त) फल का भोग कर पुनः मनुष्य आदि योनियों में आ जाते हैं । और ज्ञानी जन यज्ञ आदि कर्म करते हुए भी निष्काम होने के कारण भुक्त हो जाते हैं—यह आशय है ॥

इस प्रकार ऐसे—

स्वर्गलोक के दो करोड़ पचासी लाख योजन ऊपर महः लोक है ॥ -५१६-५१७- ॥

एवमिहत्यप्रक्रियया सूर्यान्तो भुवर्लोकः । ध्रुवान्तः स्वर्लोकः तदूर्ध्वे सपञ्चाशीतिलक्षं कोटिद्वयं महर्लोकः । श्रीपरामृगेन्द्रादौ तु ध्रुवान्तो भुवर्लोकः, तदूर्ध्वम्—

'पञ्चाशीतिमितैर्लक्षैः स्वर्लोकः स्वर्गसंश्रयः ।
कोटिद्वयं महर्लोको महान्तो यत्र संस्थिताः ॥' इति,
'तिथिलक्षैर्भुवर्लोको ध्रुवप्रान्तो महीतलात् ।
तदूनकोटिः स्वर्लोक........................ ॥' (१३।११४)

इति प्रक्रियाभेदो दृश्यते, स तद्ग्रन्थसंग्रहकर्तृभिस्तथानिबद्धत्वात् । इदं तु साक्षात्परमेश्वरेणोक्तम्—

'भूर्भुवःस्वर्ध्रुवान्तं स्याल्लक्षाणि........... ।'

'..................महान् कोटिद्वयं भवेत् ॥'

इति किरणादिग्रन्थेन भगवदुक्तेन च संसवादमित्ययमेव क्रमो युक्तः ॥

अत्र महर्लोके—

ऋषयश्चैव सिद्धाश्च मार्कण्डाद्या वसन्ति वै॥ ५१७ ॥

इस प्रकार यहाँ की प्रक्रिया के अनुसार सूर्यपर्यन्त भुवः लोक है । ध्रुवपर्यन्त स्वर्ग लोक है । उसके ऊपर दो करोड़ पच्चासी लाख योजन तक महः लोक है । श्री परातन्त्र तथा मृगेन्द्रागम आदि में भुवः लोक ध्रुव पर्यन्त कहा गया है । उसके ऊपर—

'पच्चासी लाख योजन स्वर्ग लोक है । उसके ऊपर दो करोड़ योजन तक महः लोक है, जहाँ महान्त (= पितामह मातामह आदि) रहते हैं ।'

'महीतल से ध्रुवपर्यन्त तिथिलक्ष (= पन्द्रह लाख) योजन भुवःलोक है । उस (= पन्द्रह से) ऊन (= एक करोड़ कम अर्थात् चौदह) करोड़ योजन स्वर्ग लोक है ।'

इस प्रकार जो प्रक्रिया भेद दिखलायी पड़ता है । वह उन ग्रन्थ के कर्त्ताओं द्वारा उस-उस प्रकार निबद्ध होने से (वैसा कहा गया) । यह स्वच्छन्द तंत्र तो साक्षात् परमेश्वरप्रणीत है ।

'भूर्भुवः स्वः ध्रुवपर्यन्त पच्चासी लाख दो करोड़ योजन तक महान् (लोक) (= मह लोक) है ।'

इस भगवदुक्त किरणसंहिता आदि से संवादित (= मिलता जुलता) है । इस लिये यही क्रम ठीक है ॥

यहाँ महः लोक में—

अथ—

कोट्यष्टकं महादेवि योजनानां वरानने ।
महर्लोकोपरिष्टात्तु जनलोको व्यवस्थितः ॥ ५१८ ॥

किं च—

एकपादोऽथ जह्नुश्च कपिलश्चासुरिस्तथा ।
भौतिको वाड्वलिश्चैव जनलोकनिवासिनः ॥ ५१९ ॥

अथ—

द्वादशैव तथा कोट्यो जनलोकोर्ध्वतः प्रिये ।
तपोलोकः समाख्यात ऋषियोगेश्वराकुलः ॥ ५२० ॥

तानाह—

सनकश्च सनन्दश्च सनत्कुमारः सनन्दनः ।
शङ्कुश्चैव त्रिशङ्कुश्च तपोलोकनिवासिनः ॥ ५२१ ॥

अथ प्रसङ्गाद्भूर्लोकात् सत्यलोकान्तं भुवनसंख्यामाह—

पद्माः षट्पञ्चपञ्चशत् कोट्यो लक्षाणि विंशतिः ।
भूर्लोकान्तं समारभ्य यावत्सत्यं वरानने ॥ ५२२ ॥

मार्कण्ड आदि ऋषिगण और सिद्ध रहते हैं ॥ -५१७ ॥

इसके बाद—

हे वरानने ! हे महादेवि ! महर्लोक से आठ करोड़ योजन ऊपर जन लोक है ॥ ५१८ ॥

एकपाद, जह्नु, कपिल, आसुरि, भौतिक और वाड्वलि जनलोक के निवासी हैं ॥ ५१९ ॥

इसके बाद—

हे प्रिये ! जनलोक से बारह करोड़ योजन ऊपर तपःलोक कहा गया है । यह ऋषियों और योगीश्वरों से भरा पड़ा है ॥ ५२० ॥

उन (ऋषियों आदि) को बतलाते हैं—

सनक, सनन्दन, सनातन, सनत्कुमार, शङ्कु और त्रिशङ्कु ये तपोलोक में रहते हैं (इनके अतिरिक्त अन्य पुण्यात्मा तपस्वी इस लोक में तथा अन्य अधोवर्त्ती लोकों में रहते हैं) ॥ ५२१ ॥

अब प्रसङ्गवश भूलोक से सत्य लोक तक भुवनों की संख्या बतलाते हैं—

इयं संख्या समाख्याता भुवनानां वरानने ।

परमेश्वरेण बृहत्तन्त्र इति शेषः । पद्मसंख्या एकादशपटले वक्ष्यमाणा ।

प्रकृतमाह—

कोट्यः षोडश मानेन तपोलोकोर्ध्वतः प्रिये ॥ ५२३ ॥
सत्यलोकः समाख्यातो यत्र ब्रह्मा स्वयं स्थितः ।
क्रीडते भगवान् देवो वृत आत्मसमैर्द्विजैः ॥ ५२४ ॥

यतस्ते तत्र—

कर्मज्ञानेन संसिद्धा अद्वैतपरिनिष्ठिताः ।
आनन्दपदसम्प्राप्ता आनन्दपदमागताः ॥ ५२५ ॥

कर्मणा नित्यनैमित्तिकानुष्ठानेन ज्ञानेन च वेदान्तोक्तेन समुच्चितेन सम्यक् सिद्धाः, अत एव 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ०उ० ३।९।३४) इत्युक्ताद्वैतपदे परिनिष्ठिता रूढभावनाः, अतश्च सत्यलोकाख्यमिदमानन्दपदं महाभोगस्थानं सम्प्राप्ता अधिरूढाः, अत्रापि चानन्दपदमागताः स्वात्मारामा एवेत्यर्थः ॥ ५२५ ॥

किं च—

हे वरानने ! भूलोक से ले कर सत्यलोक तक भुवनों की संख्या ग्यारह पद्म पचास करोड़ बीस लाख कही गयी है ॥ ५२२-५२३- ॥

परमेश्वर ने बृहत् तन्त्र में यह संख्या बतलायी है । पद्मसंख्या का वर्णन ग्यारहवें पटल में करेंगे ॥

अब प्रस्तुत को कहते हैं—

हे प्रिये ! तपोलोक के सोलह करोड़ योजन ऊपर सत्य लोक कहा गया है जहाँ स्वयं ब्रह्मा स्थित हैं । यह भगवान् देव अपने जैसे ब्राह्मणों से घिरे होकर क्रीडा करते हैं ॥ -५२३-५२४ ॥

क्योंकि वे ब्राह्मण वहाँ—

कर्म और ज्ञान से सम्यक् सिद्ध, अद्वैत भाव में परिनिष्ठित, आनन्दपद को प्राप्त और आनन्दपद में आये हुए होते हैं ॥ ५२५ ॥

(ये ब्राह्मण) नित्यनैमित्तिक अनुष्ठान रूप कर्म तथा वेदान्तोक्त समुच्चित ज्ञान के द्वारा सम्यक् सिद्ध हैं । इसलिये 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' इस वचन के द्वारा उक्त अद्वैतपद में परिनिष्ठित = रूढ (= दृढ़) भावना वाले हैं । इस कारण सत्यलोक नामक इस आनन्दपद = महाभोगस्थान को, सम्प्राप्त = अधिरूढ़ हैं । यहाँ आरूढ़ होकर भी वे आनन्दपद को प्राप्त = स्वात्माराम ही हैं ॥ ५२५ ॥

और भी—

ऋग्वेदो मूर्तिमांस्तस्मिन्निन्द्रलीनसमद्युतिः ।
दिव्यगन्धविलिप्ताङ्गो दिव्याभरणभूषितः ॥ ५२६ ॥
संस्थितः पूर्वतस्तस्य दीप्यमानः स्वतेजसा ।
उत्तरेण यजुर्वेदः शुद्धस्फटिकसंनिभः ॥ ५२७ ॥
दिव्यकुण्डलधारी च महाकायो महाभुजः ।
स्थितः पश्चिमदिग्भागे सामवेदः सनातनः ॥ ५२८ ॥
रक्ताम्बरधरः श्रीमान् पद्मरागसमप्रभः ।
स्रग्दामधारकश्चित्रमालाभूषणभूषितः ॥ ५२९ ॥
अथर्वाञ्जनवच्छ्यामः स्थितो दक्षिणतस्तथा ।
पिङ्गाक्षो लोहितग्रीवो हरिकेशो महातनुः ॥ ५३० ॥

ऋचां कर्मदेवतास्तुतिमात्रपरायणानामनुष्ठानास्फुटतया श्यामता । यजुषां तु तत्स्फुटतया सितत्वम् । साम्नां गीतिप्राधान्येन रञ्जकत्वाद्रक्तत्वम् । अथर्वण अभिचाराद्यैहिककर्मपरतया कृष्णत्वं शबलता च ॥ ५३० ॥

किं चात्र—

षडङ्गानीतिहासाश्च पुराणान्यखिलानि तु ।
वेदोपनिषदश्चैव मीमांसारण्यकं तथा ॥ ५३१ ॥

उस (= सत्य लोक) में ऋग्वेद मूर्त्ति धारण कर स्थित है । वह नीलमणि के समान कान्ति वाला, अङ्गों में दिव्यगन्ध का लेप किये हुए, दिव्य आभरणों से भूषित, अपने तेज से दीप्यमान होकर सत्यलोक के पूर्व में स्थित है । उत्तर में यजुर्वेद स्थित है । वह शुद्ध स्फटिक के समान धवल, दिव्य कुण्डलधारी, महाकाय और विशाल भुजा वाला है । (सत्यलोक के) पश्चिम दिग्भाग में सनातन सामवेद स्थित है । वह पद्मराग मणि के समान कान्तिवाला, लाल वस्त्र धारण किये हुए, लाल रङ्ग के फूलों की माला तथा विचित्र भूषण से भूषित है । अञ्जन के समान श्याम वर्ण वाला अथर्ववेद (उस लोक के) दक्षिण में स्थित है । इसकी आँखें पिङ्गल, ग्रीवा लोहित, केश हरित वर्ण के हैं । यह विशाल शरीर वाला है ॥ ५२६-५३० ॥

कर्मदेवता की स्तुति में लगी हुई ऋचाओं का अनुष्ठान अस्फुट होने से इस वेद का वर्ण श्याम है । किन्तु यजुषों का वह (= अनुष्ठान) स्फुट है इसलिये वे श्वेतवर्ण के हैं । साम में गीत प्रधान है और गीत का रङ्ग लाल होता है इसलिये वह लाल रङ्ग के है । अभिचार आदि ऐहिक कर्मपरक होने से अथर्ववेद कृष्ण और शबल (= बहुरङ्गी) है ॥ ५३० ॥

इसके अतिरिक्त यहाँ—

स्वाहाकारवषट्कारौ रहस्यानि तथैव च ।
गायत्री च स्थिता तत्र यत्र देवश्चतुर्मुखः ॥ ५३२ ॥

अङ्गानीति वेदस्य शिक्षाकल्पव्याकरणनिरुक्तच्छन्दोज्योतिःशास्त्राणि । इतिहासः भारतादीनि । व्यासाद्युक्तानि शास्त्राणि पुराणानि । वेदोपनिषदो वेदान्ताः । वेदविचारशास्त्रं मीमांसा । आरण्यकं बृहदारण्यकं वेदान्तेऽपि पृथगुक्तमरण्येऽनूद्यमानत्वात् । दीप्त्याप्यायविषयौ मन्त्रौ स्वाहाकारवषट्कारौ । रहस्यानि तैत्तिरीयादिवेदान्तविशेषा रहस्यत्वादेव पृथगुक्तानि । गायत्री वेदमाता । सर्वा एता आकृतिमत्यो देवताः ॥ ५३२ ॥

सोऽयं सत्यलोकः—

भोगस्थानं ब्रह्मणः स्यात्............

स तत्र निर्वर्तिताधिकारः—

............परं ब्रह्म ततो व्रजेत् ।

अनाकृति 'विज्ञानमानन्दं ब्रह्म' (बृ०उ० ३।९।३४) इति यदुक्तम् तदित्यर्थः ॥

(वेद के) छः अङ्ग, इतिहास, समस्त पुराण, वेदों की उपनिषदें, मीमांसा, आरण्यक, स्वाहा, वषट्, रहस्य और गायत्री वहाँ स्थित है जहाँ कि भगवान् चतुर्मुख ब्रह्मा स्थित हैं ॥ ५३१-५३२ ॥

अङ्ग—वेद के । वे हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष-शास्त्र । इतिहास = महाभारत आदि । व्यास आदि के द्वारा प्रणीत शास्त्र—पुराण हैं । वेद की उपनिषदें = वेदान्त शास्त्र । मीमांसा = वेदविचार शास्त्र । आरण्यक = बृहदारण्यक । वेदान्त में भी यह पृथक् कहा गया क्योंकि इसका प्रवचन अरण्य में होता है । दीप्ति और तृप्ति विषय वाले मन्त्र स्वाहाकार और वषट्कार कहलाते हैं । रहस्य = तैत्तिरीय आदि विशिष्ट वेदान्त । रहस्य होने के कारण ये पृथक् कहे गये । गायत्री = वेदों की जननी । ये सब देवतायें आकृतिमती हैं ॥ ५३२ ॥

यह सत्यलोक—

ब्रह्मा का भोग स्थान है ॥ ५३३- ॥

वहाँ पर अपने अधिकारों को (= जिनके सम्पादन के लिये वे शिव के द्वारा अधिकृत किये गये है उन कर्त्तव्य कर्मों को) सम्पन्न करने के बाद वह (= ब्रह्मा)—

पर ब्रह्म को प्राप्त हो जाते हैं ॥ -५३३- ॥

(पर ब्रह्म का अर्थ है—) अनाकृति और 'विज्ञान तथा आनन्द स्वरूप जो ब्रह्म' उसको प्राप्त होते हैं ॥

अथ—

कोटियोजनमानेन सत्यलोकोर्ध्वतः प्रिये ॥ ५३३ ॥
ब्रह्मासनमिति ख्यातं जपासिन्दूरसप्रभम् ।

आस्यतेऽस्मिन्नित्यासनं भुवनं सत्यलोकस्योर्ध्वम् ॥

तत्रासौ—

रक्तेन्दीवरमध्यस्थः पद्मरागसमप्रभः ॥ ५३४ ॥
चतुर्मुखश्चतुर्वेदश्चतुर्युगवशानुगः ।
ब्रह्मविद्भिः समाकीर्णो ब्रह्मा मुनिनिषेवितः ॥ ५३५ ॥
ऐश्वर्याष्टकसंयुक्तः षड्विधसृष्टिकारकः ।
धर्मादिफलसम्बन्धप्रदाता च युगे युगे ॥ ५३६ ॥
तिर्यङ्नारकिसत्त्वानां दिव्यानां मनुजैः सह ।
स्रष्टा च सर्वभूतानां सदेवासुरमानुषे ॥ ५३७ ॥

चत्वारो युगा वशा अनुगा यस्येति पूर्वनिपातव्यत्ययः । ऐश्वर्याष्टकमणिमादि । षड्विधेति नारकिस्थावरसरीसृपादिपश्वन्ता त्रिविधा तामसी, रजस्तमोमयी मानुषी,

---

इसके बाद—

हे प्रिये ! सत्यलोक के ऊपर ब्रह्मा का एक करोड़ योजन तक फैला हुआ आसन कहा गया है जो कि जपाकुसुम (= गुड़हल, अँड़हुल) अथवा सिन्दूर के समान कान्ति वाला है ॥ -५३३-५३४- ॥

जिस पर बैठा जाय वह आसन होता है अर्थात् भुवन । यह सत्य लोक के ऊपर है ॥

वहाँ पर यह—

ब्रह्मा लाल कमल के मध्य में स्थित तथा स्वयं पद्मराग के समान कान्तिवाले हैं । इनके चार मुख हैं, चार वेद इनके हाथ में हैं । ये चारो युग इनके वश में हैं । यह ब्रह्मज्ञानियों से समाकीर्ण तथा मुनिगण से सेवित हैं । आठ ऐश्वर्यों से संयुक्त ये छह प्रकार की सृष्टि के रचयिता और प्रत्येक युग में धर्म आदि के फल के प्रदाता हैं । तिर्यक् नारकीय दिव्य मानव के स्रष्टा हैं । देवता असुर और मनुष्य वाले संसार में ये समस्त भूतों के स्रष्टा हैं ॥ -५३४-५३७ ॥

('चतुर्युगवशानुगा' की व्याख्या करते हैं—) चारो युग वश में तथा अनुयायी है जिसके वह । यहाँ पूर्वनिपात व्यत्यय के कारण हुआ है । (वैसे यहाँ होना चाहिये—वशानुगचतुर्युगः) । ऐश्वर्य—अणिमा आदि (= महिमा लघिमा गरिमा प्राप्ति

रजःसत्त्वरूपा मौनी, सात्त्विकी दैवी चेत्येकादशे भविष्यति । युगे युग इति धर्मादिफलप्रदः । तिर्यगादीनां सर्वेषां भूतानां चतुर्दशसंख्यानां सदेवासुरमानुषे जगति स्रष्टा ॥ ५३७ ॥

अथ—

कोटिद्वयं तदूर्ध्वे तु योजनानां वरानने ।
नीलेन्दीवरसङ्काशा इन्द्रनीलसमप्रभा ॥ ५३८ ॥
ब्रह्मलोकात् परत्वेन विष्णोश्चैव पुरी स्मृता ।
सर्वकामसमोपेता सर्वरत्नसमुज्ज्वला ॥ ५३९ ॥
मरकतस्तम्भसोपाना नीलध्वजसमाकुला ।
घण्टावितानविस्तीर्णा चारुचामरशोभिता ॥ ५४० ॥
नीलोत्पलदलप्रख्यैः कन्यावृन्दैः समावृता ।
कामकार्मुकनिर्घोषवित्रस्तमृगलोचनैः ॥ ५४१ ॥
नूपुरारावमुखरैः स्खलद्भिर्मृदुविभ्रमैः ।
मनोभवशरायासनिपातशतजर्जरैः ॥ ५४२ ॥
सुघूर्णितमदायासविलोलधवलेक्षणैः ।

प्राकाम्य ईशित्व वशित्व) । छह प्रकार—नारकी स्थावर, सरीसृप से लेकर पशुपर्यन्त तीन प्रकार की तामसी, रजस् और तमोमयी मानुषी, रजःसत्त्वमयी मुनियों की सृष्टि और सात्त्विक देवताओं की सृष्टि । यह सभी एकादश पटल में बतलायेंगे । युग-युग में—यह धर्म आदि फल को देने वाले हैं । देवता असुर मनुष्य वाले जगत् में यह चौदह संख्याओं वाले तिर्यक् आदि समस्त प्राणियों की सृष्टि करने वाले हैं ॥ ५३७ ॥

इसके अनन्तर—

हे वरानने ! ब्रह्मलोक से दो करोड़ योजन ऊपर विष्णु की पुरी है । यह नील कमल के समान आकृति वाली, इन्द्रनीलमणि की भाँति प्रभा से युक्त, समस्त कामनाओं से परिपूर्ण और सर्वरत्नसमुज्ज्वल है । इसमें खम्भे और सीढ़ियाँ मरकत मणि से बनी हैं । नीले रङ्ग की पताकायें फहराती रहती हैं । घण्टा एवं वितान यहाँ फैले हुये हैं । सुन्दर चामरों से यह सुशोभित है ॥ ५३८-५४० ॥

यह पुरी नील उत्पल की पंखुड़ियों के समान (सुन्दर और कोमल) कन्यासमूह जो कि काम के धनुष की टङ्कार से त्रस्त मृगलोचनों वाली हैं, से व्याप्त है । नूपुर की ध्वनि से मुखर, लड़खड़ाती हुई, मृदु विभ्रम वाली, काम के बाण से पीड़ित होने के कारण श्रम के सैकड़ों निपात से जर्जर (= व्यथित), घूर्णित मद के आयास के कारण चञ्चल धवल नेत्रों

संसेव्यते स भगवान् विष्णुः कमललोचनः ॥ ५४३ ॥
इन्द्रनीलसमाकारो नीलोत्पलदलप्रभः ।
चतुर्भुजो महाकायः पीनवक्षा गदाधरः ॥ ५४४ ॥
किरीटी कुण्डली शङ्खी प्रजापालनतत्परः ।
संसेव्यते स भगवान्निकायैरात्मविक्रमैः ॥ ५४५ ॥

(किरीटी =) किरीटमौलिः[1] । गदाशङ्खौ चक्रशार्ङ्गे अप्युपलक्षयतः । आत्मविक्रमैरित्यात्मन इव विक्रमो येषां तैः, निकायैरनुचरसमूहैः संसेव्यते ॥ ५४५ ॥

किं च—

विष्णुभक्ताश्च ये नित्यं ध्यानपूजाजपे रताः ।
ते तु गच्छन्ति तत्स्थानं विष्णोरमितविक्रमाः ॥ ५४६ ॥

विष्णुभक्ता इति तदाकारोपासापराः ॥ ५४६ ॥

अथ—

सप्तकोट्यस्तदूर्ध्वं वै रुद्रलोको व्यवस्थितः ।

वाली कन्यायें कमललोचन भगवान् विष्णु की सेवा करती रहती हैं । ये भगवान् विष्णु इन्द्र नीलमणि के समान आकार वाले, नील कमल के दल के समान कान्तियुक्त, चार भुजाओं वाले, विशालकाय, पीनवक्ष वाले, गदा धारण किये हुए, किरीटी, कुण्डली, शङ्खधारी, प्रजापालन में तत्पर अपने पराक्रम के सदृश पराक्रम वालों के समूहों के द्वारा निरन्तर सेवित रहते हैं ॥ ५४१-५४५ ॥

(किरीटी का अर्थ है—) जिसके शिर पर किरीट (= मुकुट) हो । गदा और शङ्ख का कथन सुदर्शन चक्र और शार्ङ्ग नामक धनुष को भी उपलक्षित करता है । आत्मविक्रमैः—अपने विक्रम के समान विक्रम है जिनका वे । निकाय = अनुचरसमूह, के द्वारा सेवित होते हैं ॥ ५४५ ॥

तथा—

विष्णु के भक्त जो नित्य ध्यान पूजा जप में लगे रहते हैं विष्णु के समान अमित पराक्रम वाले वे उस स्थान को जाते हैं ॥ ५४६ ॥

विष्णु भक्त = उनके स्वरूप की उपासना में लगे हुए ॥ ५४६ ॥

इसके बाद—

उस विष्णुलोक से सात करोड़ योजन ऊपर रुद्रलोक स्थित बतलाया

---

१. किरीटं मौलिः ।

शुद्धस्फटिकसङ्काशश्चत्वरोद्यानमण्डितः ॥ ५४७ ॥
सहस्रभूमिकाभिश्च हर्म्यमालाभिरूर्जितः ।
विमानैः पुष्पकैर्युक्तो हंसकुन्देन्दुनिर्मलैः ॥ ५४८ ॥
वनोपवनषण्डैश्च सर्वर्तुकुसुमोज्ज्वलैः ।

सोपानवदुपर्युपरिवर्तिचारुदारु (रचितक्षुद्रा) भूमयो भूमिकाः । पुष्पकैरिति सङ्कल्पमात्रसञ्चारिभिः । श्रीपरायां तु—

'तद्ब्रह्मोर्ध्वं भवेद्विष्णुः स च कोटिचतुष्टयात् ।
षड्भिः स कोटिभिर्देवः शङ्करः संस्थितो हरः ॥' इति ।

किरणायां तु—

'दशषट्कोटयः सत्य........................ ।'

इत्युक्त्वा—

'तस्मादूर्ध्वं भवेद् ब्रह्मा कोटित्रयमितः ख(ग)[1] ।
त्रिभिस्तु कोटिभिर्विष्णुश्चतुर्भिस्तु हरः स्थितः ॥'

इति प्रक्रियाभेदो न अवस्थितस्यास्य देवतात्रयस्य सङ्कलय्य दशकोटि-

---

गया है । यह शुद्ध स्फटिक के समान श्वेत, चौराहा और उद्यान से अलंकृत है । यह सहस्र छोटी-छोटी भूमियों वाली हर्म्य मालाओं से सशक्त है (अर्थात् एक-एक अट्टालिका में हजारों-हजारों भूमिकायें बतलायी गयी हैं) । हंस कुन्दपुष्प और चन्द्रमा के समान निर्मल पुष्पकविमानों से यह युक्त है । इसमें वनों उपवनों एवं समस्त ऋतुओं में खिलने वाले फूल देदीप्यमान है ॥ ५४७-५४९- ॥

सोपान (= सीढ़ी) के समान एक के ऊपर दूसरी तथा सुन्दर काष्ठ से निर्मित छोटी-छोटी भूमियाँ भूमिका कही जाती हैं । पुष्पकविमान—ये सङ्कल्प मात्र से सञ्चरण करने वाले होते हैं । श्री परासंहिता में—

'उस ब्रह्मा से चार करोड़ योजन ऊपर विष्णु स्थित हैं । (उसके) छः करोड़ योजन ऊपर भगवान् एवं शङ्कर हर स्थित हैं ।'

किरणसंहिता में—

'दश और छः करोड़ सत्यलोक.......? ।'

ऐसा कह कर—

'हे गरुड़ ! उसके तीन करोड़ योजन ऊपर ब्रह्मा स्थित हैं । उनके तीन करोड़ योजन ऊपर विष्णु और उनके चार करोड़ योजन ऊपर हर अर्थात् रुद्र स्थित हैं ।'

---

१. गः ।

देशत्वानपायाद्विरुद्धः ॥

अत्र च—

मारुताः सुखसंस्पर्शा वर्तिकर्पूरगन्धयः ॥ ५४९ ॥

एष च—

नदीनदह्रदाकीर्णः पद्मिनीषण्डमण्डितः ।

तथा च—

वरेण्या वरदा चैव वरिष्ठा वरवर्णिनी ॥ ५५० ॥
वसिष्ठा च वराहा च वरारोहा च सप्तमी ।
गङ्गा ह्येताः समाख्याता रुद्रलोकवहाः सदा॥ ५५१ ॥

एताश्च—

लक्षपत्रदलाढ्यैश्च सितपद्मैर्विभूषिताः ।
इन्द्रनीलनिभैर्नालैर्योजनायतगन्धिभिः ॥ ५५२ ॥

दलानि प्रधानपत्राणि, प्रत्येकं लक्षपत्राणीत्यर्थः । (तैः) उपलक्षितै-

---

इस प्रकार का जो प्रक्रियाभेद है वह ऊर्ध्व स्थित तीनों देवों की स्थिति की गणना करने पर दश करोड़ की संख्या के नष्ट न होने से विरुद्ध नहीं है (अर्थात् प्रक्रिया में भले ही भेद हो किन्तु दश करोड़ की संख्या सभी शास्त्र मानते हैं) ॥

यहाँ पर (= रुद्रलोक में)—

वर्त्ति (= सुगन्धित चूर्ण) और कपूर की गन्ध वाले तथा सुखस्पर्श वाले मारुत प्रवाहित होते रहते हैं ॥ -५४९ ॥

यह लोक—

सैकड़ों नदी, नद एवं झील से व्याप्त तथा कमलों से सुशोभित बतलाया गया है ॥ ५५०- ॥

तथा—

वरेण्या, वरदा, वरिष्ठा, वरवर्णिनी, वसिष्ठा, वराहा और वरारोहा नामक सात गङ्गायें रुद्रलोक में सदा प्रवाहित होने वाली बतलायी गयी हैं ॥ -५५०-५५१ ॥

और ये गङ्गायें—

एक लाख दलों वाले श्वेतपद्मों से विभूषित है । उन पद्मों के नाल इन्द्रनील मणि के समान हैं तथा गन्ध एक योजन चारो ओर फैलती है ॥ ५५२ ॥

रित्यर्थः ॥ ५५२ ॥

किं चात्र रुद्रलोके—

स्त्रीसहस्रकदम्बाढ्याः पुष्पप्रकरधूसराः ।
शरदिन्दुनिभा नार्यो नवनीतसुकोमलाः ॥ ५५३ ॥
सुभ्रूललाटवदनाः कृशोदर्यो मदालसाः ।
अलिपुञ्जनिभैः केशैर्मृगामोदसुगन्धिभिः ॥ ५५४ ॥
प्रलम्बश्रवणाधाराः पद्मपत्रायतेक्षणाः ।
दाडिमीपुष्पसङ्काशैरोष्ठैरुत्पलगन्धिभिः ॥ ५५५ ॥
रम्भानिभाभिर्जङ्घाभिर्बाहुभिर्बिसकोमलैः ।
अशोकपल्लवाकारैः पादैः पद्मदलोपमैः ॥ ५५६ ॥
नखैश्च केतकीप्रख्यैर्दशनैर्मौक्तिकोज्ज्वलैः ।
स्वभावसुसुगन्धाढ्यैः प्रस्रवद्भिरिवामृतम् ॥ ५५७ ॥
हारकेयूरकटकैः सीमन्तमणिजालकैः ।
काञ्चीडोरैः सुरक्तैश्च कुसुमैर्भूषिता सदा ॥ ५५८ ॥

नार्यः स्त्रीसहस्रकदम्बैः परिवाररूपेणाढ्याः । मृगामोदः कस्तूरिका । श्रवणा-

---

दल = प्रधान पत्ते । प्रत्येक एक लाख पत्तों वाले कहे गये हैं । उनसे उपलक्षित कहे गये ॥ ५५२ ॥

इसके अतिरिक्त इस रुद्रलोक में—

हजारों स्त्रियाँ हैं जो पुष्प के पराग के समान धूसर, शरत् कालीन चन्द्रमा के समान स्वच्छ और मक्खन की भाँति कोमल हैं । सुन्दर भौंह सुन्दर ललाट सुन्दर मुखों वाली, कृशोदरी, मद के कारण आलस्य युक्त, भ्रमरसमूह के समान काले तथा कस्तूरी के आमोद से सुगन्ध युक्त बालों वाली हैं । इनके कानों में आभूषण लटकते रहते हैं । इनकी आँखें कमल की पंखुड़ी के समान विशाल हैं । इनके ओष्ठ अनार के फूल के समान लाल होते हैं जिनसे कमल की गन्ध निकलती रहती है । इनकी जङ्घायें केले के तने की भाँति तथा भुजायें कमलनाल के समान कोमल हैं । पैर अशोक के पल्लव के आकार वाले तथा कमल दल के समान (लाल एवं कोमल) हैं । नख केतकी पुष्प के समान (नुकीले), दाँत मोती की भाँति उज्ज्वल हैं । ये स्वभावतः सुगन्धयुक्त एवं मानो अमृत वर्षा करने वाली हैं । हार केयूर कटक, सीमन्त (माङ्ग) में मणि, (कटिप्रदेश में) करधनी धारण की हुयी ये रक्त कुसुमों से सदा भूषित रहती है ॥ ५५३-५५८ ॥

यहाँ की स्त्रियों के परिवार के रूप में सहस्रों स्त्रियाँ रहती हैं । मृगामोद =

धारः कर्णपाली । अशोकपल्लवा लौहित्यस्य, पद्मदलानि तु सौकुमार्यस्य उपमानाय । केतक्यो लोहितराजयः स्वच्छाश्च ॥ ५५८ ॥

किं च—

तारकुम्भनिभाकारैरुन्नतैश्च पयोधरैः ।
सुवृत्तैः पीनपार्श्वैश्च पीनकण्ठसमाश्रितैः ॥ ५५९ ॥
गुरुश्रोणीभराक्रान्ता मुक्तावलिविराजिताः ।
राजहंसगतिस्पर्धिमत्तमातङ्गविभ्रमाः ॥ ५६० ॥
नूपुरारावमुखरप्रस्खलन्मृदुविक्रमाः ।
हास्यलास्यविलासाढ्यभ्रूभङ्गतरलेक्षणाः ॥ ५६१ ॥
ह्लादयन्तीव गात्राणि रुद्राणां तन्निवासिनाम् ।

तारं रजतम् । पीने कण्ठे समाश्रितं समाश्रयणं येषां पयोधराणाम्, तैः । लास्यं सुकुमारं नृत्तम्, विलासा लीलाः, हास्यादिभिराढ्या भ्रूभङ्गतरलेक्षणाश्चेति विशेषणसमासः ॥

किं च—

कामग्रहग्रहाविष्टा घूर्णन्त्यो मदविह्वलाः॥ ५६२ ॥
परिष्वजनमात्रेण मोदयन्त्यो गणेश्वरान् ।

कस्तूरी । श्रवणाधार = कान का आभरण । अशोकपल्लव रक्तिमा के और पद्मदल कोमलता के उपमान के लिये उक्त हैं । केतकी—लोहितराजि एवं स्वच्छता को बतलाता है ॥ ५५८ ॥

इसके अतिरिक्त—

(ये स्त्रियाँ) चौड़े कण्ठ में समाश्रित चाँदी के घड़े के आकार वाली और सुन्दर गोल चौड़े पार्श्वों वाली, ऊँचे स्तनों वाली, भारी नितम्बभार से आक्रान्त और मुक्तावली से शोभायमान रहती हैं । वे राजहंस की गति से स्पर्धा करने वाली तथा मतवाले हाथी के समान विभ्रम (= गमन) वाली होती हैं । उनके पदचाप नूपुर की ध्वनि से मुखर तथा मधुर स्खलन वाले होते हैं । हास्य, लास्य एवं विलास से भरपूर भ्रूभङ्गयुक्त तरल आखों वाली ये स्त्रियाँ रुद्रलोकवासी जनो एवं रुद्रों को निरन्तर आह्लादित करती रहती हैं ॥ ५५९-५६२- ॥

तार = चाँदी । पीन कण्ठ में जिस पयोधरों का आश्रयण है उनसे । लास्य = सुकुमार नृत्य । विलास = लीलायें । हास्य आदि से सम्पन्न तथा भ्रूभङ्ग से तरल आँखों वाली—इस प्रकार यहाँ विशेषण समास है ॥

और भी—

कामे सम्भोगे ग्रहोऽभिनिवेश एव ग्रहो भूतमिति योज्यम् ॥

एवंविधरूपलावण्यशालिन्य एताः—

यद्यप्येवंविधा नार्यः...............

तथापि

............निजभर्तृभयातुराः ॥ ५६३ ॥

अस्वैरिण्य इत्यर्थः ॥ ५६३ ॥

अतश्च—

वित्रस्तमृगनेत्रास्तु भर्तुरुत्सङ्गमागताः ।

ईदृश्यश्च—

अवगूह्य च सर्वाङ्गैरापीय वदनैर्मुखम् ॥ ५६४ ॥
क्रीडन्ति रुद्रभवने रुद्रकन्याः सरुद्रकाः ।

किं चात्र—

काम में अभिनिवेशरूपी ग्रह से आविष्ट होकर, घूर्णन करती हुई, मदविह्वल स्त्रियाँ केवल आलिङ्गन से गणेश्वरों को आनन्द प्रदान करती रहती हैं ॥ -५६२-५६३- ॥

काम = सम्भोग में ग्रह = अभिनिवेश (= अत्यन्त गाढ रुचि) ही ग्रह = भूत, (उससे आविष्ट)—इस प्रकार योजना करनी चाहिये ॥

इस प्रकार रूप सौन्दर्यशालिनी ये—

स्त्रियाँ यद्यपि इस प्रकार की हैं ॥ -५६३- ॥

तो भी—

अपने पति के भय से आतुर (= आक्रान्त) रहती हैं ॥ -५६३ ॥

अर्थात् वे स्वेच्छाचारिणी नहीं है ॥ ५६३ ॥

इसलिये—

वित्रस्त मृग के नेत्रों के सामन नेत्रों वाली ये पति की गोद में पड़ी रहती हैं ॥ ५६४- ॥

इस प्रकार की—

वे रुद्र कन्यायें अपने समस्त अङ्गों से (पति को) आलिङ्गित कर मुखों से मुखों का पान कर रुद्रों के साथ रुद्रभवन में क्रीडा करती रहती हैं ॥ -५६४-५६५- ॥

रुद्राश्चैवंविधाकारा ज्ञानयोगबलोत्कटाः ॥ ५६५ ॥

कामनिष्ठा अपि ज्ञानयोगाभ्यां न परिहीयन्त इत्यर्थः ॥ ५६५ ॥

एते च—

मुकुटैः कुण्डलैश्चित्रैर्महारत्नसमुज्ज्वलैः ।
केयूरकटकैर्डोरैः पुष्पवस्त्रविभूषणैः ॥ ५६६ ॥
मुक्ताफलावलीहारैर्ब्रह्मसूत्रोत्तरीयकैः ।

उपलक्षिताः सन्तः ॥

महाकाया महोरस्कास्त्रिनेत्राः शूलपाणयः ॥ ५६७ ॥
चन्द्रायुतप्रतीकाशाः कर्पूरक्षोदधूसराः ।
सुरसिद्धनुताः सर्वे सुप्रसन्ना वरप्रदाः ॥ ५६८ ॥
हरलब्धवरास्तृप्ता दशबाह्विन्दुमौलयः ।

तेषां च—

न तत्र मृत्युर्न जरा न शोकोऽस्ति वियोगजः ॥ ५६९ ॥

अतश्चैते—

और भी—

और रुद्रगण ऐसे होते हुए भी ज्ञान और योग के बल से उत्कट हैं ॥ -५६५ ॥

अर्थात् कामयुक्त होते हुए भी ज्ञान और योग से हीन नहीं है ॥ ५६५ ॥

ये रुद्रगण—

मुकुट, विचित्र कुण्डल, महारत्नों से देदीप्यमान केयूर, कटक, डोर, पुष्पवस्त्र के आभूषणों, मुक्ताफलसमूह के हार, यज्ञोपवीत एवं उत्तरीय से अलंकृत रहते हैं ॥ ५६६-५६७- ॥

इनसे उपलक्षित ये—

विशालकाय, विशाल वक्षःस्थल, तीन नेत्र वाले, शूलपाणि होते हुए, हजारों चन्द्रमा के समान द्युतिमान्, कपूर के चूर्ण के सदृश धूसर, ये सब सुरों सिद्धों से स्तुति किये जाते हुए, प्रसन्न, वरप्रद, हर से वर प्राप्त किये हुए, अत एव तृप्त तथा दश भुजाओं के साथ मस्तक पर चन्द्रमा धारण करने वाले हैं ॥ -५६७-५६९- ॥

और उनकी—

वहाँ न मृत्यु होती है न जरा और न वियोगज शोक होता है ॥५६९॥

क्रीडन्ति सार्धं कन्याभिः.........

न तद्भोगप्रदकर्मक्षये पुनः संसरन्तीत्याह—

.............संसारभयवर्जिताः ।

केवलमेते—

अधिकारक्षये रुद्रा रुद्रकन्यासमावृताः ॥ ५७० ॥
श्रीकण्ठस्येच्छया सर्वे शिवं यान्ति तनुक्षये ।
गत्वा भूयो न जायन्ते कल्पकोटिशतैरपि ॥ ५७१ ॥

इच्छा अत्र अनुजिघृक्षा, तां विनोर्ध्वं सृज्यन्त एवेत्यर्थः ॥ ५७१ ॥

तदित्थम्—

एवंविधैरसंख्यातैर्विमानरथगामिभिः ।
महावृषगजारूढैः सिंहवाजिसुवाहनैः ॥ ५७२ ॥
लक्षायुतसहस्रैस्तु रुद्रकोटिभिरावृतम् ।
तन्मध्ये सर्वतोभद्रं सिंहद्वारैः सुतोरणैः ॥ ५७३ ॥
स्वच्छमौक्तिकसङ्काशप्राकारशिखरावृतम् ।

इसलिये ये—

कन्याओं के साथ क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ -५७०- ॥

भोगप्रद उन कर्मों का क्षय होने पर वे पुनः संसार में जन्म नहीं लेते—यह कहते हैं—

वे संसार के भय (= जन्म मृत्यु) से रहित हैं ॥ -५७०- ॥

केवल ये—

समस्त रुद्र अधिकार का क्षय हो जाने पर रुद्रकन्याओं के साथ शरीर का क्षय हो जाने पर श्रीकण्ठनाथ की इच्छा से शिव तत्त्व को प्राप्त हो जाते हैं । उस पद को प्राप्त करने के बाद वे सैकड़ों-करोड़ों कल्प में भी जन्म नहीं लेते ॥ -५७०-५७१ ॥

इच्छा = अनुग्रह करने की इच्छा । उसके विना इनकी ऊर्ध्व लोकों में सृष्टि होती ही रहती है ॥ ५७१ ॥

तो इस प्रकार—

रुद्रभुवन का आङ्गन असंख्य विमान रथ से चलने वाले, महावृष एवं हाथी पर आरुढ, सिंहश घोड़े आदि वाहनों वाले लाखों दश हजारों एवं हजारों करोड़ों रुद्रों से भरा पड़ा है । उस आङ्गन के मध्य में सर्वतोभद्र

नन्दीश्वरमहाकालद्वारपालगणैर्वृतम् ॥ ५७४ ॥
किंकिणीजालमुखरैः पताकाध्वजसंकुलैः ।
वितानच्छत्रषण्डैश्च मुक्ताहारप्रलम्बितैः ॥ ५७५ ॥
घण्टाचामरशोभाढ्यं दर्पणैश्चोपशोभितम् ।
कलशैर्द्वारन्यस्तैश्च रत्नपल्लवसंयुतैः ॥ ५७६ ॥
रचितैश्चित्रशास्त्रज्ञै रत्नचूर्णसमुज्ज्वलैः ।
स्वस्तिकैः पत्रवल्ल्याढ्यैश्चित्रितं भुवनाजिरम् ॥ ५७७ ॥
शतसिंहासनाकीर्णं वेदिकारत्नभूषितम् ।
गोपुराट्टालरथकैर्वीथीभिश्च भ्रमान्त्रकैः ॥ ५७८ ॥
सर्वरत्नविचित्राढ्यैर्द्वारबद्धैः सुशोभनम् ।
निर्गमैः सुगवाक्षैश्च विटङ्कैः स्फटिकप्रभैः ॥ ५७९ ॥
स्तम्भैः सोपानबद्धैश्च वज्रवैडूर्यसप्रभैः ।
पूर्णचन्द्रनिभाकारैरण्डैः शिखरमण्डितैः ॥ ५८० ॥
मुक्ताफलप्रभाभिश्च भूमिभिश्च सहस्रशः ।
नाट्यशालैः सुशोभाढ्यैर्नृत्तगीतरवाकुलैः ॥ ५८१ ॥
मण्डपै रत्नचित्राढ्यैः सभामण्डलनिर्भरैः ।
आसीनै रुद्रवृन्दैश्च रुद्रकन्याकदम्बकैः ॥ ५८२ ॥

मन्दिर है जिसमें सिंहद्वार, तोरण लगे हैं । स्वच्छ मुक्ता के समान प्राकार (= चारदीवारी) एवं शिखर से वह घिरा है नन्दीश्वर महाकाल आदि द्वारपालगणों से वह युक्त है । वह मन्दिर किङ्किणी जाल से मुखर (= ध्वनित) पताका एवं ध्वजा से व्याप्त, वितान छत्र एवं लटकती मुक्ता मालाओं, घण्टा, चामर से तथा दर्पणों से सुशोभित, द्वार पर रखे कलशों जिनमें रत्न एवं पल्लव डाले गये हैं उनसे, चित्रकला शास्त्र के मर्मज्ञ विद्वानों द्वारा चूर्ण से बनाये गये उज्ज्वल स्वस्तिकों एवं पत्रवल्ली आदि, से भरा हुआ वह भुवनाङ्गन चित्रों से उत्कीर्ण है ॥ ५७२-५७७ ॥

उस आँगन में सैकड़ों सिंहासन रखे गये हैं । रत्नजटित वेदिका से वह भूषित है । गोपुर अट्टालिका रथ, वीथी (= गलियाँ) भ्रमान्त्रक (= पानी निकलने की नालियाँ) द्वार पर निबद्ध समस्त विचित्र रत्नों से सुशोभित है । दरवाजों, खिड़कियों, स्फटिक के समान विटङ्कों (= कगूरों) खम्भों, हीरा वैदूर्य से बनी सीढ़ियों; पूर्ण चन्द्र के समान आकार वाले शिखरों मुक्ता फल के समान कान्ति वाली भूमियों, शोभायुक्त नृत्य गीत की ध्वनि से भरी नाट्यशालाओं से युक्त है ॥ ५७८-५८१ ॥

उस पुर में रत्नों और चित्रों से भरपूर मण्डप है जिनमें सभामण्डल

मत्तवारणकै रम्यैश्चन्द्रशालासुशोभनैः ।
धूपितं धूपवर्तीभिः कुङ्कुमोदकसेचितम् ॥ ५८३ ॥
चित्रपट्टैस्तु संछन्नं पुष्पप्रकरसंकुलम् ।
तूर्यशब्दजयध्वानकाहलाकूजितेन च ॥ ५८४ ॥
वंशवीणामृदङ्गैश्च गोमुखैर्मुखवादनैः ।
पणवैस्तालवाद्यैश्च शङ्खभेरीरवेण च ॥ ५८५ ॥
दुन्दुभीनादशब्देन मुरजस्फालनेन च ।
कारस्फोटमहाशब्दैः सिंहनादप्रगुञ्जितैः ॥ ५८६ ॥
गर्जद्भिर्गणवृन्दैश्च मेघस्तनितनिः स्वनैः ।
वन्दिनां स्तोत्रशब्देन सामवेदरवेण च ॥ ५८७ ॥
हुडुङ्काराट्टहासैश्च गेयझाङ्कारयोजितैः ।
वृषनन्दितशब्देन गजवाजिरवेण च ॥ ५८८ ॥
काञ्चीनूपूरशब्देन नदतीव महत्पुरम् ।

नन्दीश्वरमहाकालप्रधाना द्वारपालगणा इति समासः । किङ्किणीजालमुखरैरित्यादि वितानच्छत्रषण्डविशेषणम् । मुक्ताहारप्रलम्बितैरिति पूर्वनिपातव्यत्ययः । चित्रशास्त्रज्ञैः कर्तृभिः रत्नचूर्णेन रचिता ये पत्रवल्ल्याढ्याः पत्रलतालंकृताः

विराजमान है । रुद्रकन्यासमूह एवं रुद्रवृन्द उसमें आसीन है । मतवाले हाथी एवं रमणीय सुन्दर चन्द्रशालायें (= कपड़े की चाँदनी) लगी हुई हैं । वह पुर धूपबत्तियों से धूपित तथा कुङ्कुम के जल से सींचा हुआ है; चित्रविचित्र वस्त्रों से सम्यक् ढँका हुआ और फूलों के गुच्छों से व्याप्त है । वहाँ तूर्य (= एक प्रकार का बाजा) का शब्द, जय ध्वनि, काहला (= एक प्रकार का बाजा) का कूजित, बाँसुरी, वीणा, मृदङ्ग, गोमुख एवं अन्य मुख से बजाये जाने वाले बाजे, पणव, करताल, शङ्ख, भेरी, दुन्दुभि, मुरज, हाथ की ताली आदि की ध्वनि से परिपूर्ण, सिंह की नाद से गुञ्जायमान, मेघ की ध्वनि के समान गर्जना करने वाले गणदेवताओं से युक्त, वन्दीजनों के स्तोत्रगान, सामवेद की ध्वनि, हुडुङ्कार, अट्टहास, गेयझाङ्कार से युक्त, वृष के नन्दित शब्द, हाथी घोड़ों के शब्द, काञ्ची एवं नूपुरों के शब्द से वह महानगर जैसे साक्षात् शब्दायमान हो रहा है ॥ ५८२-५८९- ॥

नन्दीश्वर और महाकाल जिनमें मुख है । ऐसे द्वारपालों का समूह—ऐसा समास समझना चाहिये । किङ्किणी जाल मुखर इत्यादि पद वितान (= छत्रखण्ड) के विशेषण हैं । 'मुक्ताहारप्रलम्बितैः' यहाँ पूर्वनिपात व्यत्यय हुआ है (यहाँ प्रलम्बित मुक्ताहारेः पाठ होना चाहिये) चित्र रचना शास्त्र को जानने वालों के द्वारा रत्नचूर्णों

स्वस्तिकास्तैर्विचित्रम् । तत्र रुद्रभुवने भुवनाजिरं भुवनाङ्गनमिति योज्यम् । वेदिकाभिश्चतुरस्रभूमिकाभिः, रत्नैश्च प्राकारस्थैर्भूषितम् । गोपुराणि प्रधानद्वाराणि । अट्टालाः पुरप्राकाराः । रथका रचनाविशेषाः । वीथ्यो विमानसञ्चारभुवः । भ्रमान्तकैः जलप्रवाहप्रणालैः । सर्वरत्नविचित्रत्वाच्च आढ्यैः स्फीतैर्द्वारोपान्तगतैः शोभनम् । निर्गमाः मार्गाः[1] । गवाक्षास्तदवलोकनजालकस्थानानि । विटङ्काः स्तम्भशीर्षकाः । अण्डा वर्तुलसंस्थानदेवगृहाः । रत्नरचनापरिष्कृतं यच्चित्रं तेनाढ्याः । तथा सभास्थानेषु यानि रत्नचूर्णरचितानि मण्डलानि तैर्निर्भरा ये मण्डपास्तैर्युक्तम् । तूर्यं द्विखण्डं ताम्रादिमयं वाद्यम् । काहलास्तु त्रिखण्डाः । गोमुखा तट्टरी । पणवोऽन्तस्तन्त्रीवलयझाङ्कारिणी ढक्का । तालवाद्यं वाद्यशब्दः । दुन्दुभिः कांस्यशब्दः । फनत्कारिणी ढक्का भेरी । गर्जनं सर्वप्राणबलोत्थो नादः । भक्तिवैवश्येनोच्चरन्नान्तरः शब्दो हुडुङ्कारः । वृषस्य परमेश्वरवाहनाभिमान प्रहर्षोत्थितो नादो नन्दितशब्दस्तेन । काञ्चीनूपुरशब्दो नृत्यद्रुद्रकन्यासम्बन्धी । एवमीदृशैः शब्दैः पुरमेव साक्षान्नदतीति ज्ञायते ॥

से रचित जो पत्रवल्लियाँ उनसे आढ्य = पत्रलता से अलंकृत, स्वस्तिक, उनसे विचित्र है । वहाँ = रुद्र भुवन में, है भुवनाजिर = भुवन का आङ्गन (विचित्र है) ऐसी योजना करनी चाहिये । वेदिकायें = चौकोर भूमियाँ, उनके द्वारा तथा प्राकारस्थ रत्नों से वह आँगन भूषित है । गोपुर = मुख्य द्वार । अट्टाल = पुर के प्राकार (= चारदीवारी), रथक = विचित्र रचना । वीथी = विमानों के ले जाने ले आने के रास्ते । भ्रमान्तक = पानी के निकास की नालियाँ, ये समस्त रत्नों से विचित्र होने के कारण आढ्य = स्फीत तथा द्वार के पास वर्त्तमान हैं । इनसे वह आङ्गन सुशोभित है । निर्गम (= निकलने के) रास्ते गवाक्ष = बाहर देखने के लिये जाली । विटङ्क = खम्भों का मस्तक । अण्ड = गोल संस्थान वाले देवगृह । रत्नों के द्वारा की गयी रचना से परिष्कृत जो चित्र उससे आढ्य सभा स्थानों में रत्नचूर्णों से रचित जो मण्डल उनसे भरे हुए जो मण्डप उनसे युक्त हैं ॥ तूर्य = दो टुकड़ों वाला ताम्र आदि से बना हुआ वाद्य । काहल तीन टुकड़ों वाला वाद्य होता है । गोमुख = तट्टरी (= तुरही) । पणव = जिसके भीतर तार लगे होते हैं ऐसी गोल आकार वाली झङ्कार करने वाली ढक्का तालवाद्य = वाद्य का शब्द । दुन्दुभि = काँस्य का शब्द । भेरी = फणत्कारिणी ढक्का । गर्जन = समस्त प्राणियों के बल से उत्पन्न होने वाला नाद । अत्युत्कृष्ट भक्ति के कारण उच्चरित होता हुआ आन्तरिक शब्द हुडुङ्कार कहलाता है । वृष = परमेश्वर के वाहन नन्दी के अभिमान् एवं प्रहर्ष से उत्पन्न हुआ नाद 'नन्दित' शब्द है उसके द्वारा । काँची (= करधनी) और नूपुर (= पैर की पायल) का शब्द नाचती हुई रुद्र कन्याओं से सम्बद्ध है । इस प्रकार ऐसे शब्दों से रुद्रपुर जैसे साक्षात् नदन कर रहा है—ऐसा प्रतीत होता है ॥

---

१. मात्राः ।

तदित्थम्—

सर्वसम्पत्करं श्रीमच्छङ्करस्य तु मन्दिरम् ॥ ५८९ ॥

तन्निवासिनामित्यर्थात् ॥ ५८९ ॥

अत्रासौ भगवान् रुद्रो ब्रह्मविष्णिवन्द्रपूजितः ।
गङ्गया स्नपितो नित्यं दिव्यवस्त्राम्बरच्छदः ॥ ५९० ॥
पृथिव्या गन्धलिप्ताङ्गः श्रिया पुष्पैः सुपूजितः ।
सप्तस्वरप्रमुख्यैश्च सरस्वत्या च संस्तुतः ॥ ५९१ ॥

पृथिवी गन्धगुणा । श्रीः पुष्पाश्रिता । एवं च गङ्गादिदेवता अस्य ब्रह्माण्डस्योपरि वक्ष्यमाणभुवनेभ्यः प्राकाम्यादवतीर्णाः स्वोचितं स्नानादि कुर्वत्योऽन्तरङ्गपरिवाररूपाः ॥ ५९१ ॥

अपि चास्य देवस्य—

पूर्णेन्दुरातपत्रं च स्वयमेव व्यवस्थितः ।

तस्मिंस्तु—

गङ्गा तूत्तरिका च्छत्रे.........

तो इस प्रकार—

शङ्कर का श्रीमत् मन्दिर उसमें निवास करने वालों के लिये समस्त सम्पत्ति को देने वाला है ॥ -५८९ ॥

अर्थात् वहाँ के निवास करने वालों को ॥ ५८९ ॥

यहाँ पर भगवान् रुद्र ब्रह्मा विष्णु इन्द्र से पूजित होते रहते हैं । गङ्गा के द्वारा नित्य स्नान कराये जाने वाले ये रुद्र दिव्य वस्त्रों को धारण किये हैं इनके समस्त अङ्ग पृथिवी के गन्ध से लिप्त हैं । लक्ष्मी के द्वारा पुष्पों से इनकी पूजा होती रहती है । सात प्रमुख स्वरों से सरस्वती इनकी स्तुति करती रहती है ॥ ५९०-५९१ ॥

पृथिवी = गन्धगुणों वाली । श्री = पुष्प गुण वाली । इस प्रकार गङ्गा आदि देवता इस ब्रह्माण्ड के ऊपर वक्ष्यमाण भुवनों से स्वेच्छया अवतीर्ण होकर स्वोचित स्नान आदि कराती हुई रुद्र के अन्तरङ्ग परिवाररूप हैं ॥ ५९१ ॥

और भी, इस महादेव का—

छत्र स्वयं पूर्णचन्द्रमा है ॥ ५९२- ॥

उस—

छत्र में गङ्गा उत्तरिका है ॥ -५९२- ॥

गङ्गा तु उत्तरिकात्वं प्राकाम्येनाश्रित्य स्थिता ॥

किं चास्य—

..........सर्वादित्याश्च दीपिकाः ॥ ५९२ ॥

तथा—

पुष्पदन्तगणेशाद्यैरासनं तस्य संवृतम् ।

तस्मिंश्चासने—

कपिलः कर्कटश्चैव विमर्दः कङ्कटस्तथा ॥ ५९३ ॥
विक्रमश्च दृढश्चैव निष्कम्पो निष्कलस्तथा ।
अष्टौ ते हरयः प्रोक्तास्त्रिनेत्रा भूरिविक्रमाः ॥ ५९४ ॥
सिंहरूपाः सुतेजस्काः सटाविकटभास्वराः ।

एतादृशैः—

शक्तिरूपधरैर्मन्त्रैर्योगैश्वर्यसमन्वितैः ॥ ५९५ ॥
आसनं विवृतं तैस्तु महोत्साहैर्बलोत्कटैः ।

अस्य भगवतो ब्रह्माण्डान्तरवस्थितस्यापि परमेव माहात्म्यमिति कृत्वा—

गङ्गा अपनी इच्छा से उत्तरिका के रूप में (= अपनी इच्छा से उतर कर) स्थित है ॥

और भी—

सभी आदित्य इनके दीपक हैं ॥ -५९२ ॥

तथा—

इनका आसन पुष्पदन्त गणेश आदि से घिरा है ॥ ५९३- ॥

और उस आसन पर—

१. कपिल, २. कर्कट, ३. विमर्द, ४. कङ्कट, ५. विक्रम, ६. दृढ, ७. निष्कम्प और ८. निष्कल—ये आठ हरि विराजमान हैं जो कि तीन नेत्रों वाले, महापराक्रमी, सिंहस्वरूप (= सिंह की आकृति वाले) अत्यन्त तेजस्वी और अपनी सटाओं (= कन्धों पर स्थित बालों) के द्वारा विकट चमक वाले हैं ॥ -५९३-५९५- ॥

इस प्रकार के—

योग और ऐश्वर्य से समन्वित, अत्यन्त उत्साही एवं उत्कट बलवान् शक्तिरूपधारी मन्त्रों के द्वारा यह आसन वेष्टित है ॥ -५९५-५९६- ॥

ब्रह्माण्ड के अन्दर स्थित भी इस भगवान् का यह परम माहात्मा है—इस

'शिवशक्तिमया मन्त्रा न्यस्तव्या वीरवन्दिते' (२।६३)

इति पूर्वोक्तभैरवासनवच्छिवशक्तिपरमार्था एव सिंहाः ॥

तत्र भद्रासने रुद्रः स्थितश्चन्द्रार्धशेखरः ॥ ५९६ ॥
सर्वलक्षणसम्पूर्णः सर्वाभरणभूषितः ।
त्र्यक्षो दशभुजो देवो जटामुकुटमण्डितः ॥ ५९७ ॥
पीनवक्षःस्थलोरुश्च पीनस्कन्धो महाभुजः ।
बद्धपद्मासनासीनः कर्पूरक्षोदधूसरः ॥ ५९८ ॥
वरदाभयपाणिश्च सर्वायुधधरस्तथा ।

भद्रं प्रशस्तम् । वरदाभयौ पाणी मुख्यौ । सर्वायुधानि पूर्वोक्तानि खड्ग-खेटकादीनि ॥

किं च—

शतपत्राङ्कितैश्चैव हस्तपादैः सुकोमलैः ॥ ५९९ ॥
चन्द्रबिम्बनखाभाभिरंगुलीभिरलंकृतैः ।
सुश्लिष्टजानुगुल्फैश्च पादैश्चैव समुन्नतैः ॥ ६०० ॥
पूजितैर्गणरुद्रैश्च ब्रह्मविष्ण्विन्द्रवन्दितैः ।

कारण—

'हे वीरवन्दिते ! मन्त्रों को शिवशक्तिमय समझ कर उनका न्यास करना चाहिये ।' (२।६३)

इस पूर्वोक्त भैरव के आसन की भाँति ये आठ सिंह भी शिवशक्ति ही हैं ॥

उस भद्र आसन पर चन्द्रार्धशेखर भगवान् रुद्र विराजमान हैं । वे देव सर्वसुलक्षणयुक्त, सर्वाभरणभूषित, तीन नेत्र वाले, दश भुजाओं वाले, जटारूपी मुकुट से मण्डित, पीनवक्षा, पीन उरु, पीन स्कन्ध, आजानु भुजा वाले हैं । कपूर के चूर्ण के समान धूसर वे पद्मासन लगाकर बैठे हुये हैं । हाथों में वरद मुद्रा, अभय मुद्रा एवं समस्त आयुधों को धारण किये हुए हैं ॥ -५९६-५९९- ॥

भद्र = प्रशस्त । वरद मुद्रा और अभय मुद्रा वाले दोनों हाथ मुख्य है । समस्त आयुध = पूर्वोक्त खड्ग खेटक आदि ॥

और भी—

उनके कोमल हाथों और पैरों में कमल अङ्कित है । अंगुलियाँ चन्द्रबिम्ब के समान नखों की आभा से युक्त हैं । जानुगुल्फ सुश्लिष्ट और पैर समुन्नत हैं । ये रुद्रगणों के द्वारा पूजित और ब्रह्मा विष्णु इन्द्र के द्वारा

शतपत्रपद्मचिह्नितहस्तपादत्वादिना दिव्यलक्षणत्वमुक्तम् । पादैरिति जातौ बहुवचनम्, प्राकाम्यतो वा '(उत)[1] विश्वतस्पात्' (श्वे०उ० ३।३) इति स्थित्या बहुचरण(ता)[2]ऽप्यस्य । इत्थंभूतलक्षण एतास्तृतीयाः ॥

किं च—

चामरव्यजनोत्क्षेपै रुद्रस्त्रीभिः समन्ततः ॥ ६०१ ॥
वीजितस्तु सदा श्रीमांश्चन्द्रकोटिसमप्रभः ।
ज्ञानामृतसुतृप्तात्मा योगैश्वर्यप्रदायकः ॥ ६०२ ॥
ध्यातो वै योगिभिर्नित्यं प्रसन्नवदनेक्षणः ।
प्रहसन् स इवाभाति निर्मलज्ञानरश्मिभिः ॥ ६०३ ॥
अज्ञानतिमिरं हत्वा दर्शयेत् परमं वपुः ।
सर्वसौख्यप्रदाता च रुद्रमातृगणावृतः ॥ ६०४ ॥

ध्यातः सन् परस्वरूपानुप्रवेशाद् ज्ञानरश्मिभिः प्रहसन्निवाभाति अतश्चाज्ञानं हत्वा परं स्वरूपं दर्शयत्येव ॥ ६०४ ॥

वन्दित हैं ॥ -५९९-६०१- ॥

शतपत्र कमल से चिह्नित हाथ पैर आदि के द्वारा इनका दिव्यलक्षणयुक्त होना कहा गया । 'पादैः' यह जाति अर्थ में बहुवचन है । अथवा वे अपनी इच्छा से विश्वपात् हो सकते हैं क्योंकि उन्हें 'अथवा विश्वतस्यात्' (श्वे०उ० ३।३) (अथवा 'सहस्रपात्')[3] कहा गया है । उपर्युक्त पदों में तृतीया विभक्ति का प्रयोग 'इत्थम्भूतलक्षणे' (पा०सू० २।३।२१) से हुआ है ॥

और भी—

करोड़ों चन्द्रमा के समान प्रभा वाले यह श्रीमान् अपने चारो ओर खड़ी रुद्रस्त्रियों के द्वारा चामरों एवं पङ्खों के उत्क्षेप से सदा वीजित हो रहे हैं । ज्ञानामृत से सुतृप्त आत्मा वाले ये (भगवान् रुद्र) योग और ऐश्वर्य को प्रदान करने वाले हैं । योगी लोग सदा इनका ध्यान करते रहते हैं । प्रसन्न मुख और नेत्रों वाले ये सदा ही मुस्कराते रहते हैं । निर्मल ज्ञानरश्मियों के द्वारा ये (भक्तों के) अज्ञानान्धकार को दूर कर अपने परम रूप का दर्शन कराते हैं । समस्त सुखों के दाता ये रुद्र माताओं से घिरे रहते हैं ॥ -६०१-६०४ ॥

ध्यान किये गये ये परस्वरूप में अनुप्रवेश के कारण ज्ञानरश्मियों के द्वारा हँसते हुए मालुम पड़ते हैं । इस कारण अज्ञान का नाश कर भक्तों को अपने परम रूप का दर्शन कराते ही हैं ॥ ६०४ ॥

---

१. यो । २. तो । ३. पु.सू. १ ।

किं च—

तस्योत्सङ्गगता देवी तत्काञ्चनसुप्रभा ।
पूजिता योगिनीवृन्दैः साधकैः सुरकिन्नरैः ॥ ६०५ ॥
सर्वलक्षणसम्पूर्णा सर्वाभरणभूषिता ।
योगसिद्धिप्रदा नित्यं मोक्षाभ्युदयदायिका ॥ ६०६ ॥
देवस्याभिमुखी नित्यमुमा तु ललितेक्षणा ।

परावेशशक्तितद्वन्तावेतदपरं रूपं श्रित्वा ब्रह्माण्डान्तःसृष्टिसंहारौ कुर्वाते इत्याह—

शक्तिश्चापररूपेण शक्तिमांश्च हरस्तथा ॥ ६०७ ॥
ब्रह्माण्डे सृष्टिसंहारौ (कुर्वाते)[1] च शिवेच्छया ।

चकारावत्र तुल्ययोगे । तथेत्यपररूपेण । चकारः स्थितिविलयानुग्रहान् समुच्चिनोति । शिवोऽत्र परमः ॥

किञ्चेदम्—

दीक्षाज्ञानविहीना ये लिङ्गाराधनतत्पराः ॥ ६०८ ॥

इसके अतिरिक्त—

उनकी गोद में बैठी हुई देवी जो कि तप्त सोने की भाँति देदीप्यमान हैं; योगिनीवृन्द, साधक, देवता, किन्नरों के द्वारा निरन्तर पूजित हैं । समस्त सुलक्षणों से सम्पूर्ण, समस्त आभरणों से विभूषित वह योग एवं सिद्धि देने वाली तथा अभ्युदय (= सांसारिक ऐश्वर्य) और मोक्ष देने वाली है । ललित नेत्रों वाली यह उमा देवी नित्य उन देव के सम्मुख रहती हैं ॥ ६०५-६०७- ॥

ये दोनों परावेश रूप शक्ति एवं शक्तिमान् के रूप में दूसरा रूप धारण कर ये ब्रह्माण्ड के अन्दर सृष्टि—संहार करते रहते हैं—यह कहते हैं—

परम शिव की इच्छा से उमा और हर शक्ति और शक्तिमान् (= शिव) नामक अपर रूप से ब्रह्माण्ड में सृष्टि और संहार करते रहते हैं ॥ -६०७-६०८- ॥

यहाँ दो चकार का प्रयोग तुल्य अर्थ में है । उस प्रकार = अपर रूप से चकार स्थिति लय और अनुग्रह को भी बतलाता है । श्लोक में शिव का अर्थ है—परम शिव ॥

और भी—

---

१. करोति ।

ते प्रयान्ति हरस्थानं सर्वैश्वर्यसुखावहम् ।

अनेनापि क्रमेणास्यानुग्राहकत्वमित्यर्थः ॥

जरामरणनिर्मुक्ता व्याधिशोकविवर्जिताः ॥ ६०९ ॥

ते च—

नाधो यान्ति पुनर्देवि संसारे दुःखसागरे ।

किन्तु

शिवं यान्ति ततश्चोर्ध्वं श्रीकण्ठेन समीक्षिताः ॥ ६१० ॥

तत इति हरस्थानात् । सम्यगीक्षिताः शक्तिपातेनानुगृहीताः । तदेव(म)[1]स्य पुरस्य भगवदधिष्ठानादयं महिमा यत्तत्प्राप्ता नाधो यान्ति, अपि तु श्रीकण्ठ-नाथेन सम्यगनुग्रहदृष्ट्येक्षिता मुच्यन्ते, अन्यथा तु ऊर्ध्वोर्ध्वमेव क्रमेण भोगाय सृज्यन्ते ॥ ६१० ॥

इत्थम्—

रुद्रलोकः समाख्यातस्ततश्चोर्ध्वमुमे शृणु ।
उत्तरोत्तरवृद्ध्या च भुवनं भुवनं स्थितम् ॥ ६११ ॥

जो दीक्षा और ज्ञान से रहित किन्तु शिवलिङ्ग की आराधना में लगे रहते हैं वे समस्त सुखों एवं ऐश्वर्य के आकर भूत इस हरस्थान को जाते हैं ॥ -६०८-६०९- ॥

इस क्रम से भी इन (= हर) का अनुग्राहकत्व स्पष्ट होता है ॥

हे देवि ! जरामरण से मुक्त व्याधिशोक से रहित वे नीचे दुःख के संसार सागर में पुनः नहीं जाते किन्तु श्रीकण्ठनाथ के द्वारा समीक्षित वे उससे ऊपर शिव पद को प्राप्त होते हैं ॥ -६०९-६१० ॥

उससे = हरस्थान से । सम्यक् ईक्षित = शक्तिपात के द्वारा अनुगृहीत । भगवदधिष्ठान के कारण इस पुर की यह महिमा है कि उस पुर को प्राप्त व्यक्ति नीचे के लोकों में नहीं जाते बल्कि श्रीकण्ठनाथ के द्वारा अनुग्रह पूर्ण दृष्टि से भली भाँति अवलोकित हुए वे मुक्त हो जाते हैं । अन्यथा (= यदि मुक्त नहीं हुए तो) क्रमशः ऊपर-ऊपर (लोकों में) भोग के लिये सृष्ट होते हैं ॥ ६१० ॥

इस प्रकार—

रुद्रलोक का वर्णन किया गया । हे उमे ! उसके ऊपर उत्तरोत्तर वृद्धि के क्रम से स्थित भुवनों को सुनो ॥ ६११ ॥

---

१. य ।

वृद्धिः प्रमाणविभवाभ्याम् । सा चाग्रे वक्ष्यते ॥ ६११ ॥

सम्प्रति तु—

ब्रह्माण्डस्याप्यधोभागे रुद्रलोकस्य चोर्ध्वतः ।
दण्डपाणेः पुरं ज्ञेयं नानारुद्रगणावृतम् ॥ ६१२ ॥
दण्डपाणिस्तु भगवान् योगैश्वर्यबलान्वितः ।
दण्डः पाणितलेनैव धृतो येन शिवेच्छया ॥ ६१३ ॥

रुद्रभट्टारक एवानेन वपुषा स्थितः ॥ ६१३ ॥

विवृणोति च ब्रह्माण्डे मोक्षमार्गं सुदुर्भिदम् ।
विधिनाराधितश्चैव अनुध्यानाच्छिवेच्छया ॥ ६१४ ॥

अनुध्यानमास्थाय विधिनार्चाजपादिरूपेणाराधितः सन् ब्रह्माण्डे मोक्षमार्गं सुदुर्भिदं योगिभिर्महता प्रयत्नेन भेत्तुं शक्यं विवृणोति विगतावरणं करोति ब्रह्माण्डकर्परिकाविभेदनयुक्त्या प्रगुणीकरोति, न तु रुणद्धि । अथ च परचैतन्य-स्फारात्मा भगवान् रुद्रः स्वशक्तिगतसुस्पष्टीकृतप्राणदण्डप्रयोगेण शरीरगतहृत्-प्रदेशाश्रितस्वात्माख्यातिरूपहृद्ग्रन्थ्याख्ये ब्रह्माण्डे मोक्षमार्गं करोति,

---

वृद्धि—परिमाण और वैभव की दृष्टि से । यह (वृद्धि) आगे बतलायी जायेगी ॥ ६११ ॥

अभी तो—

ब्रह्माण्ड के नीचे और रुद्रलोक के ऊपर अनेक रुद्रगणों से आवृत दण्डपाणि का पुर समझना चाहिये । भगवान् दण्डपाणि योग और ऐश्वर्य के बल से युक्त हैं । उन्होंने शिव की इच्छा से दण्ड को करतल से धारण किया है ॥ ६१२-६१३ ॥

रुद्रभट्टारक ही इस शरीर से स्थित है ॥ ६१३ ॥

अनुध्यानपूर्वक विधिविधान के साथ आराधित ये शिव की इच्छा से ब्रह्माण्ड में सुदुर्भिद मोक्षमार्ग का आवरण हटा देते हैं ॥ ६१४ ॥

अनुध्यान में बैठ कर विधिपूर्वक पूजा जप आदि रूप से आराधित हुये (दण्डपाणि) ब्रह्माण्ड में उस मोक्षमार्ग, जो कि सुदुर्भिद अर्थात् योगियों के द्वारा अत्यधिक प्रयास से भेदित किया जा सकता है, को विवृत करते हैं अर्थात् उस पर से आवरण हटा देते हैं । तात्पर्य यह है कि ब्रह्माण्डकर्परिका के भेदन की युक्ति से उसे गुणित कर देते हैं न कि अवरोधन करते हैं । इसके अतिरिक्त परचैतन्यस्फारस्वरूप भगवान् रुद्र, अपनी शक्ति में स्थित सुस्पष्ट किये गये प्राणदण्ड के प्रयोग के द्वारा शरीर में वर्त्तमान हृदय प्रदेश में आश्रित अपनी अख्याति रूप हृद् ग्रन्थि नामक ब्रह्माण्ड में मोक्षमार्ग बनाते हैं—

¹'हृदये यः स्थितो ग्रन्थिरध ऊर्ध्वनियामकः ।'

इत्याम्नाताख्यातिग्रन्थिप्रशमनेन मध्यमार्गगतशक्तिभूमिम्—

'शैवी मुखमिहोच्यते' (वि०भै० २०)

इत्याम्नायोक्तस्थित्या शिवताप्राप्तिहेतुं स्फुटयतीत्यान्तरोऽर्थः, न तु ब्रह्मबिलान्ता ब्रह्माण्डव्याप्तिरिति व्याख्यातव्यम् । एवं हि जलाद्यावरणव्याप्तिर्देहाश्रया न भवेत् ।

'नाड्याधारस्तु नादो वै भित्त्वा सर्वमिदं जगत् ।
अधःशक्त्या विनिर्गत्य यावद् ब्रह्माणमूर्ध्वतः ॥
नाड्या ब्रह्मबिले लीनस्त्वव्यक्तध्वनिरक्षरः ।
नदते सर्वभूतेषु शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः ॥'

(१०।१२३४-३६)

इत्यादिश्च भाविग्रन्थो भेदव्याप्तिहान्या निर्विषयः स्यात् । यत्तु—

'सौषुप्तेऽध्वन्यस्तमितो हित्वा ब्रह्माण्डगोचरम्' (२।८)

इति श्रीस्पन्दे श्रीगुरुभिर्निबद्धम्, तद् ब्रह्मबिलाधिष्ठातृवक्ष्यमाणपञ्चब्रह्मोप-

---

'हृदय में जो ग्रन्थि स्थित है वह अधः और ऊर्ध्व की नियामक है ।'

इस वचन के द्वारा मध्यमार्ग (= सुषुम्ना) में स्थित शक्तिभूमि को—

'.........यहाँ शैवीमुख कही जाती है ।' (वि०भै० २०)

इस आम्नायोक्त स्थिति के अनुसार जो शिवता की प्राप्ति का हेतु है उसे स्फुटित करते हैं—यह आन्तर (= गूढ) अर्थ है न कि ब्रह्मबिलपर्यन्त ब्रह्माण्ड की व्याप्ति है—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये । क्योंकि इस प्रकार (व्याख्या करने पर) जल आदि आवरण की व्याप्ति देह में नहीं होगी—

'सुषुम्ना नाडी में रहने वाला नाद इस समस्त संसार का भेदन कर अधः शक्ति के द्वारा निकल कर ऊर्ध्व में ब्रह्मा तक पहुँचता है । फिर वहाँ से सुषुम्ना नाडी के द्वारा ब्रह्मबिल (= सहस्रार) में लीन होकर अक्षर अव्यक्त ध्वनि के रूप में शिव की शक्ति से अधिष्ठित हुआ समस्त प्राणियों में नदन करता रहता है ।' (१०।१२३४-३६)

इत्यादि भावी ग्रन्थ भेदव्याप्ति की हानि से निर्विषय हो जायेगा । और जो—

'ब्रह्माण्डविषय को छोड़ कर सुषुप्ति के मार्ग में अस्त हो गया ।' (२।८)

ऐसा श्री गुरु ने स्पन्दकारिका में कहा है वह ब्रह्मबिल के अधिष्ठाता वक्ष्यमाण पञ्चब्रह्म (= ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) के द्वारा उपलक्षित जो

---

१. ई०प्र०वि०वि० ॥. २९३ इत्यत्र मालिनीसारवचनत्वेन स्मृतमेतत् ।

लक्षितो यः शक्त्यण्डपर्यन्तोऽध्वा, तदभिप्रायेण स्थितमित्येतद् भ्रान्त्यापि न मुण्डान्ता ब्रह्माण्डव्याप्तिर्व्याख्येयेति यथाव्याकृतमेव भद्रम् ॥ ६१४ ॥

एवं दण्डपाण्यन्ते रुद्रलोके मूर्तिद्वयेनावस्थितो विश्वाधिपतित्वाद् मूर्तीशमध्ये पशुपतिर्यः, स रुद्राधिष्ठाता । ये त्वन्ये शर्वादयः सप्त मूर्तीश्वरास्ते भूरादिसत्यान्तेषु सप्तसु लोकेष्वधिपतय इत्यादिशति—

सप्तलोकेषु ये रुद्रा............

अधिपतयः ॥

तान्—

............कथयामि समासतः ।

तानाह—

शर्वो रुद्रस्तथा भीमो भव उग्रस्तथैव च ॥ ६१५ ॥
महादेवस्तथेशानो रुद्रलोकाधिपास्त्वमी ।

लोकानां भूरादीनां यथासंख्यमधिपाः । अनेनैवाशयेन—

'निवृत्त्यभ्यन्तरे पृथ्वी शतकोटिप्रविस्तरा ।

शाक्ताण्ड पर्यन्त अध्वा, उस अभिप्राय से कहा गया । इसलिये भ्रम से भी ब्रह्माण्ड की व्याप्ति मुण्डान्त (= शिरपर्यन्त) नहीं है—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये । इसलिये जैसी व्याख्या की गयी वही ठीक है (अर्थात् मुण्ड के ऊपर भी ब्रह्माण्ड की व्याप्ति है) ॥ ६१४ ॥

दण्डपाणि के अन्त में रुद्रलोक में दो मूर्त्तियों के रूप में स्थित और विश्व का अधिपति होने के कारण मूर्त्तीश के मध्य में जो पशुपति हैं वे रुद्रों के अधिष्ठाता हैं । और जो दूसरे शर्व (भव) आदि सात मूर्त्तीश्वर हैं वे पृथ्वी लोक से लेकर सत्य लोक तक सात लोकों के अधिपति हैं—यह बतलाते हैं—

सात लोकों में जो रुद्र ॥ ६१५- ॥

अधिपति (के रूप में) हैं ॥

उनको—

संक्षेप में बतला रहा हूँ ॥ -६१५- ॥

उनको बतलाते हैं—

शर्व, रुद्र, भीम, भव, उग्र, महादेव तथा ईशान ये रुद्रलोकों के अधिपति हैं ॥ -६१५-६१६- ॥

ये क्रमशः भूलोक आदि के अधिपति हैं । इसी आशय से—

तस्यां च भुवनानां च शतमष्टोत्तरावधि ॥' (४।१०२)

इत्येद्व्याख्याने कालाग्निः कूष्माण्डो हाटक इति ब्रह्माण्डान्तरधोभागे त्रयः, भूर्लोके शर्वः, सत्यलोकान्ते ब्रह्मा, विष्णुरुद्रौ स्वलोकयोरित्यन्तः सप्त, बही रुद्रशतम्, तदुपरि सर्वाधिष्ठाता वीरभद्र इति व्याख्यातम् ॥

यदि भूर्लोकतः सत्यलोकान्तमेते रुद्राः पृथग्भुवनदीक्षायां सप्त शोध्याः, तदूर्ध्वे का तर्हि स्थिति ?—इत्याह—

ब्रह्मलोके स्थितो ब्रह्मा विष्णुर्वै वैष्णवे पुरे ॥ ६१६ ॥

ब्रह्मलोको यः प्राग्वद् ब्रह्मासनमित्युक्तः ॥

तथैतदुपरि—

रुद्रलोके स्थितो रुद्रः सर्वेषां नायकः स्मृतः ।

कालाग्न्यादित्रयस्य शर्वादिसप्तकस्य ब्रह्मविष्ण्वोश्चेत्यर्थः । अयं विश्वाधिपतित्वाद् मूर्तीश्वरमध्ये पशुपतिरित्याख्ययोक्तः । एवं च—

'अनन्तं चैव कालाग्निं नरकांश्च यथाक्रमम् ।
पातालानि ततश्चोर्ध्वं शोधयेदनुपूर्वशः ॥' (१०।३४७)

'निवृत्ति कला के अन्दर सौ करोड़ योजन विस्तार वाली पृथ्वी है और उसमें एक सौ आठ भुवन हैं ।' (४।१०२)

ऐसी व्याख्या करने पर ब्रह्माण्ड के भीतर नीचे के भाग में कालाग्नि कूष्माण्ड और हाटक ये तीन रुद्र रहते हैं । भूलोक में शर्व, सत्यलोक के अन्त में ब्रह्मा, विष्णु और रुद्र ये दोनों अपने-अपने लोकों में रहते हैं । इस प्रकार ब्रह्माण्ड के भीतर सात और बाहर एक सौ रुद्र तथा इनके ऊपर सबके अधिष्ठाता वीरभद्र (इस प्रकार १०८ रुद्रों की स्थिति है)—ऐसी व्याख्या की गयी ॥

यदि भूलोक से सत्यलोक तक ये सात रुद्र पृथक् भुवन दीक्षा में शोधन के पात्र हैं तो उस लोक के ऊपर क्या स्थिति है ?—यह कहते हैं—

ब्रह्मलोक में ब्रह्मा और विष्णुलोक में विष्णु स्थित हैं ॥ -६१६ ॥

ब्रह्मलोक अर्थात् जिसको पहले ब्रह्मा का आसन कहा जा चुका है ॥

तथा इसके ऊपर—

रुद्रलोक में रुद्र स्थित हैं । यह सबके नायक माने गये हैं ॥ ६१७-॥

(सबके =) कालाग्नि आदि तीन, शर्व आदि सात तथा ब्रह्मा और विष्णु के (नायक हैं) । विश्व का अधिपति होने के कारण ये मूर्त्तीश्वरों के मध्य में पशुपति नाम से कहे गये हैं । इस प्रकार—

इत्युक्तक्रमेण संशोध्य भूरादिसत्यान्तलोकसप्तकशुद्धौ शर्वादीनीशान्तान् सप्त क्रमेण संशोधयेत् । ततो ब्रह्मविष्णुभुवनशुद्धौ ब्रह्मविष्णू संशोध्याविति भुवनदीक्षायामस्यां भुवनेशशुद्धिविभागो ग्रन्थोपारूढ एव स्थितः । तेन यत् श्रीभुल्लकः —अनन्तभुवनात्प्रभृति समस्तद्वीपसमुद्रभूर्लोकान्तं शर्वः, (भुवः)[१] स्वर्महःसु रुद्रभीमभवाः, जनस्तपःसत्येषु त्रिषूग्रः, महादेवो विष्णुलोके, रुद्रलोकेऽधिपश्चेशानः शोध्य इति स्वकल्पनयाऽभिहितवान्, तदुपेक्ष्यमेव ॥

तदेतत्सङ्कलयितुमाह—

कालाग्नेर्दण्डपाण्यन्तमष्टानवतिकोटयः ॥ ६१७ ॥
योजनानां वरारोहे त्वध्वायमुपवर्णितः ।
कटाहस्तु अधश्चोर्ध्वं ब्रह्माण्डस्य वरानने ॥ ६१८ ॥
कोटियोजनमानेन घनाकारेण संस्थितः ।
पञ्चाशत्कोटयश्चोर्ध्वं भूपृष्ठात्तु वरानने ॥ ६१९ ॥
पञ्चाशच्च अधो ज्ञेया योजनानां समन्ततः ।
एवं कोटिशतं ज्ञेयं पार्थिवं तत्त्वमुच्यते ॥ ६२० ॥

'अनन्त, कालाग्नि और नरकों का क्रमशः शोधन कर उसके बाद क्रम से पातालों का शोधन करना चाहिये ।'

इस उक्त क्रम से संशोधन कर भूलोक से ले कर सत्यलोक तक सात की शुद्धि होने पर शर्व से ले कर ईशान पर्यन्त सात का क्रम से शोधन करना चाहिये । इसके बाद ब्रह्मा और विष्णु के भुवनों की शुद्धि होने पर ब्रह्मा और विष्णु का संशोधन करना चाहिये । इस प्रकार इस भुवनदीक्षा में भुवनेश की शुद्धि का विभाग ग्रन्थ में ही स्थित है । इसलिये जो श्रीराजानक भुल्लक ने कहा कि—अनन्त के भुवन से लेकर समस्त द्वीप समुद्र और भूलोक तक शर्व, भुवः स्वः महः लोकों में रुद्र भीम और भव, जनः तपः सत्य तीन लोकों में उग्र, विष्णुलोक में महादेव और रुद्रलोक में अधिपति ईशान का संशोधन करना चाहिये—यह उन्होंने अपनी कल्पना से कहा है । इसलिये (यह कथन) उपेक्षणीय है ॥

इसका सङ्कलन करने के लिये कहते हैं—

'हे वरारोहे ! कालाग्निरुद्र भुवन से लेकर दण्डपाणि तक अट्ठानबे करोड़ योजन इस अध्वा का वर्णन किया गया । हे वरानने ! ब्रह्माण्ड के नीचे और ऊपर एक-एक करोड़ योजन मान के हिसाब से सघन कटाह स्थित है । हे वरानने ! भूपृष्ठ से पचास करोड़ योजन ऊपर और पचास करोड़ योजन नीचे-इस प्रकार पार्थिव तत्त्व (का विस्तार) एक सौ करोड़ योजन समझना चाहिये ॥ -६१७-६२० ॥

---

१. भूर्भुवः ।

अध:कटाहाद्यथा भूपृष्ठान्तं पञ्चाशत्, तथा दर्शितम् । भूपृष्ठात्तु ध्रुवान्तं पञ्चदश लक्षाणि, तदूर्ध्वं महर्लोक: पञ्चाशीतिर्लक्षाणि कोटिद्वयं च, जनोलोक: कोट्यष्टकम्, तपोलोक: कोटयो द्वादश, सत्यलोक: षोडश, ब्रह्मभुवनं कोटि:, विष्णुलोक: कोटिद्वयम्, रुद्रलोक: कोटय: सप्त, ऊर्ध्वकटाह: कोटिरित्यूर्ध्वमपि पञ्चाशत्कोटय: पार्थिवं तत्त्वमिति तत्र य: स्थूल आभोग:, न तु तत्त्वस्यैतावत्येव व्याप्ति:, उद्घातदीक्षायां बिन्द्वन्तमपि सूक्ष्मदृशा तद्व्याप्तेर्दर्शितत्वात् । ज्ञेयमुच्यत इति दीक्षाधारणादौ ज्ञातव्यमाचार्यसाधकादिभिरित्यभिधीयते भगवतेत्यर्थ: ॥ ६२० ॥

तदेतत्—

शतरुद्रावधि ज्ञेयं सौवर्णं परिवर्तुलम् ।
वज्रसाराधिकसारं दुर्भेद्यं त्रिदशैरपि ॥ ६२१ ॥

वज्रसारादधिकं सारं यस्य ॥ ६२१ ॥

एतच्च मन्त्रनादास्त्रप्रयोगेण दीक्ष्यस्य भेदनीयमित्याह—

हुंफट्कारप्रयोगेण भेदयेत्तु वरानने ।

अध: कटाह से लेकर भूपृष्ठ तक जिस प्रकार पचास करोड़ योजन विस्तार है उसे बतला दिया गया । भूपृष्ठ से ध्रुवपर्यन्त पन्द्रह लाख योजन, उसके ऊपर मह: लोक दो करोड़ पचासी लाख योजन, जन लोक आठ करोड़ योजन, तपो लोक बारह करोड़, सत्यलोक सोलह करोड़, ब्रह्मभुवन एक करोड़, विष्णु लोक दो करोड़, रुद्रलोक सात करोड़, ऊर्ध्व कटाह एक करोड़ इस प्रकार ऊपर भी (१५००००० + २८५०००००० + ८००००००० + १२०००००००० + १६०००००००० + १०००००००० + २०००००००० + ७०००००००० + १०००००००० =) पचास करोड़ योजन पार्थिव तत्त्व है । यह उसका स्थूल विस्तार है न कि तत्त्व की इतनी ही व्याप्ति है क्योंकि उद्घातदीक्षा में सूक्ष्म दृष्टि से उसकी व्याप्ति विन्दुपर्यन्त बतलायी गयी है । ज्ञेय कहा जाता है—तात्पर्य यह है कि दीक्षा धारणा आदि में आचार्य एवं साधक आदि के द्वारा ऐसा जानना चाहिये—यह भगवान् सदाशिव का कथन है ॥ ६२० ॥

तो यह पर्थिव तत्त्व—

सुवर्ण निर्मित, चारो ओर से गोल, वज्रसार से भी अधिक कठोर तथा देवताओं के द्वारा भी दुर्भेद्य यह शतरुद्रपर्यन्त ज्ञेय (= शोध्य) है ॥६२१॥

(वज्रसाराधिकसारं की व्याख्या करते हैं—) वज्रसार (= हीरा) से भी अधिक सार (= कठोरता) है जिसका वह ॥ ६२१ ॥

दीक्ष्य के इस तत्त्व का भेदन मन्त्रनाद अस्त्र के प्रयोग से करना चाहिये—यह कहते हैं—

एवं मान्त्रतेज:स्फारानुप्रवेशेनैव पादाङ्गुष्ठाग्रगतादनन्तभुवनादारभ्य हृदन्तमवस्थितं ब्रह्माण्डं चेद्विदीर्णम्, तद् बाह्यमपि तदनुषक्तं दलितमेव भगवतोक्तं भवति ॥

शतरुद्रावधीति यदुक्तम्, तद्विभक्तुमाह—

शतरुद्रानतो वक्ष्ये समासेन कृशोदरि ॥ ६२२ ॥

शतरुद्राभिधेत्थमेषामित्याह—

दश दश क्रमेणैव दशदिक्षु समन्तत: ।
पूर्वादिक्रमयोगेन..............

यत: स्थितास्तत एते शतरुद्रा उच्यन्त इति शेष: ॥

तांश्च—

...............कथयाम्यनुपूर्वश: ॥ ६२३ ॥
कपालीशो ह्यजो ब्रध्नो वज्रदेह: प्रमर्दन: ।
विभूतिरव्यय: शास्ता पिनाकी त्रिदशाधिप: ॥ ६२४ ॥

एते च—

इन्द्रस्य बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विता: ।

हे वरानने ! इसका भेदन हुंफट्कार के प्रयोग से करे ॥ ६२२- ॥

इस प्रकार मन्त्र के तेज:स्फार के अनुप्रवेश से पैर के अंगूठे के अग्र भाग में स्थित अनन्त भुवन से ले कर हृदयपर्यन्त स्थित ब्रह्माण्ड का यदि भेदन हो गया तो उससे सम्बद्ध बाह्य ब्रह्माण्ड का भी भेदन अपने आप हो जाता है (क्योंकि यथा पिण्डे तथा ब्रह्माण्डे—यह सिद्धान्त है)—यह भगवान् का कथन है ॥

'शतरुद्रपर्यन्त' जो कहा गया, उसका विभाजन करने के लिये कहते हैं—

हे कृशोदरि ! अब संक्षेप में शतरुद्रों को बतलाऊँगा ॥ -६२२ ॥

इनका शतरुद्र नाम इस प्रकार है—यह कहते हैं—

चूँकि पूर्व आदि के क्रम से दशों दिशाओं में चारो ओर दश-दश की संख्या में ॥ ६२३- ॥

ये स्थित हैं इस कारण ये शतरुद्र कहे जाते हैं ॥

और उनको—

अब क्रम से कह रहा हूँ । १. कपालीश, २. अज, ३. ब्रध्न, ४. वज्रदेह, ५. प्रमर्दन, ६. विभूति, ७. अव्यय, ८. शास्ता, ९. पिनाकी और १०. त्रिदशाधिप (ये कुल दश हैं) ॥ -६२३-६२४ ॥

ये—

विचरन्ति महादेवा इन्द्रेण च सुपूजिताः ॥ ६२५ ॥

आक्रम्येत्यधिष्ठाय, अत्र हेतुः प्रभोः परभैरवस्य शक्त्या स्वान्त्र्यात्मना-धिष्ठिता ईदृशीमुन्मीलितदृक्क्रियाशक्तिमधिकारभूमिं ग्राहिताः, विचरन्ति सृष्ट्यादि कुर्वन्तः क्रीडन्ति । अत एवेन्द्रेण सुष्ठु भक्तिप्रकर्षेण पूज्यन्ते । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ ६२५ ॥

अग्निरुद्रो हुताशी च पिङ्गलः खादको हरः ।
ज्वलनो दहनो बभ्रुर्भस्मान्तकक्षयान्तकौ ॥ ६२६ ॥
अग्नेर्बलं समाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ।
विचरन्ति महादेवा अग्निराजसुपूजिताः ॥ ६२७ ॥

अग्निराज आग्नेयदिक्पतिः । एवमन्यत् ॥ ६२७ ॥

याम्यो मृत्युर्हरो धाता विधाता कर्तृसंज्ञकः ।
संयोक्ता च वियोक्ता च धर्मो धर्मपतिस्तथा ॥ ६२८ ॥
यमस्य बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ।
विचरन्ति महादेवा यमराजसुपूजिताः ॥ ६२९ ॥
नैर्ऋतो मारुतो हन्ता क्रूरदृष्टिर्भयानकः ।

प्रभु की शक्ति से समन्वित ये महादेव इन्द्र के बल को प्राप्त कर इन्द्र के द्वारा सुपूजित होकर विचरण करते रहते हैं ॥ ६२५ ॥

आक्रमण कर = अधिष्ठित कर । इसमें कारण है—प्रभु = परभैरव की स्वातन्त्र्यरूपा शक्ति से अधिष्ठित होना । इस प्रकार की उन्मीलित दृक् (दर्शन) और क्रिया दोनों प्रकार की शक्तियों वाली अधिकारभूमि को प्राप्त हुये ये, विचरण करते हैं = सृष्टि आदि करते हुए क्रीडा करते रहते हैं । इस कारण वे इन्द्र के द्वारा सुष्ठु = प्रकृष्ट भक्ति के साथ, पूजित होते हैं । इसी प्रकार आगे भी योजना कर लेनी चाहिये ॥ ६२५ ॥

अग्निरुद्र, हुताशी, पिङ्गल, खादक, हर, ज्वलन, दहन, बभ्रु, भस्मान्तक और क्षयान्तक, प्रभु की शक्ति से समन्वित हुये ये महादेव अग्नि के बल को आक्रान्त कर अग्निराज से सुपूजित होकर विचरण करते हैं ॥ ६२६-६२७ ॥

अग्निराज = आग्नेयी दिशा के स्वामी । इसी प्रकार दूसरे को (भी समझना चाहिये) ॥ ६२७ ॥

याम्य, मृत्यु, हर, धाता, विधाता, कर्त्ता, योक्ता, वियोक्ता, धर्म और धर्मपति, प्रभुशक्ति से समन्वित ये महादेव यमराज से सुपूजित होकर यम के बल को अधिष्ठित कर विचरण करते हैं । नैर्ऋत, मारुत, हन्ता,

ऊर्ध्वकेशो विरूपाक्षो धूमलोहितदंष्ट्रकौ ॥ ६३० ॥
नैर्ऋतं बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ।
विचरन्ति महादेवा नैर्ऋतेन्द्रसुपूजिताः ॥ ६३१ ॥
बलो ह्यतिबलश्चैव पाशहस्तो महाबलः ।
श्वेतोऽथ जयभद्रश्च दीर्घबाहुर्जलान्तकः ॥ ६३२ ॥
मेघनादी सुनादी च समासात् परिकीर्तिताः ।
वारुणं बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ॥ ६३३ ॥
विचरन्ति महादेवा वरुणेन्द्रसुपूजिताः ।
शीघ्रो लघुर्वायुवेगः सूक्ष्मस्तीक्ष्णो भयानकः ॥ ६३४ ॥
पञ्चान्तकः पञ्चशिखः कपर्दी मेघवाहनः ।
वायोस्तु बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ॥ ६३५ ॥
विचरन्ति महादेवा वायुराजसुपूजिताः ।
निधीशो रूपवान् धन्यः सौम्यदेहो जटाधरः ॥ ६३६ ॥
लक्ष्मी रत्नधरः कामी प्रसादश्च प्रभासकः ।
सोमस्य बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ॥ ६३७ ॥
विचरन्ति महादेवाः सोमराजसुपूजिताः ।
विद्याधिपोऽथ सर्वज्ञो ज्ञानदृग्वेदपारगः ॥ ६३८ ॥
शर्वः सुरेशो ज्येष्ठश्च भूतपालो बलिप्रियः ।
ईशानानुमता देवाश्चेष्टन्ते सुरपूजिताः ॥ ६३९ ॥
विचरन्ति महादेवा ईशशक्त्या त्वधिष्ठिताः ।

क्रूरदृष्टि, भयानक, ऊर्ध्वकेशी, विरूपाक्ष, धूमदंष्ट्रक और लोहितदंष्ट्रक, प्रभुशक्ति के बल को आक्रान्त कर विचरण करते रहते हैं । बल, अतिबल, पाशहस्त, महाबल, श्वेत, जयभद्र, दीर्घबाहु, जलान्तक, मेघनादी और मुनादी प्रभुशक्तिसमन्वित ये महादेव, वरुण के बल को आक्रान्त कर वरुणेन्द्र से पूजित होकर विचरण करते रहते हैं । शीघ्र, लघु, वायुवेग, सूक्ष्म, तीक्ष्ण, भयानक, पञ्चान्तक, पञ्चशिख, कपर्दी और मेघवाहन, प्रभुशक्तिसमन्वित ये महादेव, वायु के बल को अधिष्ठित कर वायुराज से सुपूजित होकर विचरण करते रहते हैं । निधीश, रूपवान्, धन्य, सौम्यदेह, जटाधर, लक्ष्मीधर, रत्नधर, कामी, प्रसाद और प्रभासक प्रभुशक्तिसमन्वित ये महादेव, सोम (= कुबेर) के द्वारा सुपूजित होकर कुबेर के बल को आक्रान्त कर विचरण करते रहते हैं । विद्यापति, सर्वज्ञ, ज्ञानदृक, वेद पारग, शर्व, सुरेश, ज्येष्ठ, भूतपाल, बलि और प्रिय ये देव ईशान की आज्ञा प्राप्त कर ईशान की शक्ति से अधिष्ठित होकर सुरपूजित

वृषो वृषधरोऽनन्तः क्रोधनो मारुताह्वयः ॥ ६४० ॥
ग्रसनो डम्बरेशौ च फणीन्द्रो वज्रदंष्ट्रकः ।
विष्णोस्तु बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ॥ ६४१ ॥
विचरन्ति महादेवा अनन्तेन सुपूजिताः ।

ईशानो दिक्पतिरनुमतो दिक्पतित्वेनाभिमतो येषाम् । सुरैः सर्वैः पूजिताः सर्वसिद्धिप्रदत्वात् । विष्णोरित्यधोदिग्गतस्य । अनन्तेनेति सर्वाधोदिगधिष्ठात्रा ॥

ऊर्ध्वदिशि तु—

शम्भुर्विभुर्गणाध्यक्षस्त्र्यक्षश्च त्रिदशेश्वरः ॥ ६४२ ॥
संवाहश्च विवाहश्च नलो लिप्सुस्त्रिलोचनः ।
ब्रह्मणो बलमाक्रम्य प्रभुशक्तिसमन्विताः ॥ ६४३ ॥
विचरन्ति महादेवा ब्रह्मणैव सुपूजिताः ।

एषां सर्वेषां मध्यात्—

एकैकस्य सहस्रं तु परिवारोऽभिधीयते ॥ ६४४ ॥

बृहत्तन्त्रेषु ॥ ६४४ ॥

हो हुए विचरण करते रहते हैं । वृष, वृषधर, अनन्त, क्रोधन, मारुत, ग्रसन, डम्बर, ईश, फणीन्द्र और वज्रदंष्ट्रक प्रभुशक्तिसमन्वित ये महादेव विष्णु के बल को आक्रान्त कर अनन्त से सुपूजित होकर विचरण करते रहते हैं ॥ ६२८-६४२- ॥

('ईशानानुमता' की व्याख्या करते है—) ईशान = ईशान दिशा के स्वामी, अनुमत = जिन्होंने ईशान को दिक्पति के रूप में मान लिया है । सब देवताओं से पूजित—क्योंकि वे सर्वसिद्धिप्रद हैं । विष्णु = अधोदिशा में स्थित । अनन्त = सम्पूर्ण अधोदिशा के अधिष्ठाता ॥

ऊर्ध्वदिशा में—

शम्भु, विभु, गणाध्यक्ष, त्र्यक्ष, त्रिदशेश्वर, संवाह, विवाह, नल, लिप्सु और त्रिलोचन, ब्रह्मा के बल को आक्रान्त कर और प्रभुशक्ति से समन्वित होकर ये महादेव ब्रह्मा से ही सुपूजित होकर विचरण करते रहते हैं ॥ -६४२-६४४- ॥

इन सबमें से—

एक-एक का एक-एक हजार परिवार बृहत्तन्त्रों में बतलाया जाता है ॥ -६४४ ॥

बृहत्तन्त्रों में उक्त है ॥ ६४४ ॥

एते च—

शतरुद्रा इति ख्याता ब्रह्माण्डं व्याप्य संस्थिताः ।

व्याप्येति परिवृत्य ॥

एते च—

असंख्याताः सहस्राणि ये च ऊर्ध्वादिदिग्गताः ॥ ६४५ ॥
स्वच्छन्दा विश्वगा देवाः कल्पमन्वन्तरेष्वपि ।

सहस्रसंख्ययापि संख्यातुमशक्याः । प्रोक्तप्रभुशक्तिसमन्विततत्वात् स्वच्छन्दा अनुग्रहादौ स्वतन्त्राः । नियतशरीरत्वेऽपि विश्वगा व्यापकाः कल्पादिष्वपि च देवा द्योतमानाः ॥

प्रतिदिशं चैते दशदिग्व्यवस्थायां संनिविष्टा इत्याह—

पूर्वादिदशदिग्रुद्राः स्थिता दश दशैव तु ॥ ६४६ ॥

दशानां दशानाम्—

एकैकमधिपं चैव कथयामि वरानने ।
स्थितो वै पूर्वतोऽण्डस्य श्वेतो वै नाम नामतः ॥ ६४७ ॥

और ये—

शतरुद्र हैं जो ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर स्थित हैं ॥ ६४५- ॥

व्याप्त कर = घेर कर ॥

और ये—

जो कि ऊर्ध्व आदि दिशाओं में स्थित हैं, सहस्रों की संख्या में भी अपरिगणनीय हैं । ये देव, स्वच्छन्द, विश्वव्यापी एवं कल्प तथा मन्वन्तरों में भी वर्तमान रहने वाले हैं ॥ -६४५-६४६- ॥

सहस्र की संख्या से भी गणनीय नहीं हैं (अर्थात् असंख्य है) । प्रोक्त प्रभुशक्ति से समन्वित होने के कारण ये स्वच्छन्द = अनुग्रह आदि कृत्यों के सम्पादन में स्वतन्त्र हैं । निश्चित शरीर के होते हुए भी ये विश्वगामी = व्यापक हैं और कल्प आदि में भी देव = देदीप्यमान रहते हैं ॥

प्रत्येक दिशा में ये दश-दश की व्यवस्था में सन्निविष्ट हैं—यह कहते हैं—

पूर्व आदि दशों दिशाओं के रुद्र दश-दश की संख्या में स्थित हैं ॥ -६४६ ॥

उन दशों-दशों में से—

रुद्राणां तु शतैर्युक्तो महावीर्यपराक्रमः ।
दीप्तिमद्भिर्महातीव्रैर्मयूखैरिव भास्करः ॥ ६४८ ॥
आग्नेय्यामग्निसङ्काशो वैद्युतो नाम विश्रुतः ।
सोऽपि विद्युत्प्रभै रुद्रशतैस्तु परिवारितः ॥ ६४९ ॥
याम्येऽण्डस्य महाकालो युगान्तानलसंनिभः ।
शतरुद्रैर्वृतो देवि तिष्ठत्यमितविक्रमैः ॥ ६५० ॥
नैर्ऋते विकटो नाम शतेन परिवारितः ।
संतिष्ठते महातेजा द्वितीय इव भास्करः ॥ ६५१ ॥

शतेनेति मुख्येन । एवमन्यत्र ॥ ६५१ ॥

पश्चिमेऽण्डस्य यो रुद्रो महावीर्य इति श्रुतः ।
शतरुद्रैर्वृतः सोऽपि तिष्ठत्यमितविक्रमः ॥ ६५२ ॥
वायव्यदिशि चाण्डस्य वायुवेगा महाबलः ।
शतेन च वृतः श्रीमांस्तिष्ठत्यत्र महाबलः ॥ ६५३ ॥
सुभद्रनामोत्तरतः शतेन परिवारितः ।
महावीर्यबलोपेतस्तिष्ठत्यत्र महाबलः ॥ ६५४ ॥
परिविष्टो मरीचिभिस्तत्र तिष्ठति वीर्यवान् ।

हे वरानने ! एक-एक अधिप को बतला रहा हूँ । अण्ड के पूर्व में श्वेत नामक अधिप स्थित हैं । यह महावीर्य महापराक्रमी, एक सौ रुद्रों से उसी प्रकार युक्त हैं जैसे दीप्तिमत् महातीव्र किरणों से युक्त सूर्य । आग्नेयी दिशा में अग्नि के समान तेजस्वी वैद्युत नामक अधिपति हैं । वह भी विद्युत् के समान प्रभाशाली एक-सौ रुद्रों से परिवारित हैं ॥ ६४७-६४९ ॥

हे देवि! अण्ड के दक्षिण में युगान्त अग्नि के समान तीव्र महाकाल नामक अधिपति हैं जो अमितविक्रम वाले सौ रुद्रों से परिवृत हैं । नैर्ऋत दिशा में विकट नामक राक्षस हैं जो सौरुद्रों से परिवारित तथा दूसरे सूर्य के समान महातेजस्वी होकर स्थित हैं ॥ ६५०-६५१ ॥

जो एक सौ रुद्रों की परिवृति कही गयी है वे रुद्र मुख्य हैं । (इनके भी परिवार समझने चाहिये) । इसी प्रकार अन्यत्र जानना चाहिये ॥ ६५१ ॥

अण्ड के पश्चिम में जो महावीर्य नामक रुद्र विख्यात हैं वह भी अमित पराक्रमी होते हुए सौ रुद्रों से आवृत हैं । अण्ड की वायव्य दिशा में वायु के समान वेगशाली अत्यन्त बलवान् महाबल नामक अधिपति रहते हैं जो सौ रुद्रों से आवृत हैं । (ब्रह्माण्ड के) उत्तर में एक सौ रुद्रों से परिवारित महावीर्य महाबल से युक्त सुभद्र नामक अधिपति हैं जो किरणों से परिवृत

विद्याधरो नाम रुद्र ऐशान्यां वै प्रतिष्ठितः ॥ ६५५ ॥
शतरुद्रैर्वृतः सोऽपि परिविष्ट इवोडुराट् ।
महावीर्यबलोपेतस्तिष्ठतेऽनन्तविक्रमः ॥ ६५६ ॥

परिविष्टो मरीचिभिः परिवृतः ॥ ६५६ ॥

अधः कालाग्निरुद्रोऽन्यः स्थितस्त्वत्र द्वितीयकः।
समावृतो रुद्रशतैः स्थितैस्त्वत्र वरानने ॥ ६५७ ॥

द्वितीयक इत्यन्तस्थात् कालाग्नेरन्यः ॥ ६५७ ॥

शतैः समावृतो रुद्रो मयूखैरिव भास्करः ।

उपरिष्टाद् रुद्र इत्येतदाख्ययाख्यातः ॥

तदित्थम्—

वीरभद्रो वृतो रुद्रैरुपर्यण्डस्य संस्थितः ॥ ६५८ ॥
एकादशो महाकायै रुद्रक्रोधसमुद्भवैः ।

वृत इत्येतैः श्वेतादिभिरेव पूर्वादिदिग्गतशतरुद्राधिष्ठातृभिः । एवं मध्यवर्ती वीरभद्र एकादशः । एतैश्च समस्तरुग्द्रावणस्य भगवतो रुद्रस्य संसारवित्रास-

---

महावीर्यवान् हैं । ईशान दिशा में विद्याधर नामक रुद्र हैं जो सौ रुद्रों से उसी प्रकार आवृत हैं जैसे चन्द्रमा ताराओं से । अनन्त पराक्रम वाले ये महावीर्य महाबल से युक्त हैं ॥ ६५२-६५६ ॥

परिविष्ट = किरणों से परिवृत ॥ ६५६ ॥

हे वरानने ! अण्डकटाह के नीचे एक दूसरा कालाग्निरुद्र है जो सौ रुद्रों से समावृत होकर स्थित है ॥ ६५७ ॥

द्वितीयक = अन्तस्थ कालाग्निरुद्र से भिन्न ॥ ६५७ ॥

(इसी प्रकार ऊपर का भी) रुद्र किरणों से सूर्य के समान एक सौ रुद्रों से समावृत है ॥ ६५८- ॥

ऊपर का रुद्र—यह विवरण से स्पष्ट है ॥

तो इस प्रकार—

इस पार्थिवाण्ड के ऊपर वीरभद्र नामक ग्यारहवाँ रुद्र स्थित है जो कि रुद्र के क्रोध से उत्पन्न विशालकाय रुद्रों से घिरा है ॥ -६५८-६५९- ॥

आवृत है—पूर्व आदि दिशाओं से रहने वाले शतरुद्रों के अधिष्ठातृ श्वेत आदि दश रुद्रों से आवृत है । इस प्रकार इन दशों के मध्य में स्थित वीरभद्र ग्यारहवें रुद्र हैं । ये रुद्रगण समस्त रोगों को दूर करने वाले, संसार के वित्रासकारी भगवान्

कारिण: क्रोधादुद्भूतैः । क्रोधसमुद्भव इति पाठो वीरभद्रैकविषय: । यत्तश्वैते श्वेतादयो वीरभद्रस्य परिवारभूतास्तत एव श्रीपूर्वशास्त्रे—

'अनन्त: प्रथमस्तेषां कपालीशस्तथापर: ।
अग्निरुद्रो यमश्चैव नैर्ऋतो बल एव च ॥
शीघ्रो निधीश्वरश्चैव सर्वविद्याधिपोऽपर: ।
शम्भुश्च.......................... ॥' (मा०वि० ५।१३-१४)

इति प्रतिदिग्गतरुद्रदशकमध्यगमेकैकं रुद्रमुक्त्वा वीरभद्रश्च विधूमज्वलनप्रभ एकादश उक्त:, श्वेतादयस्तु तत्परिवारत्वात्र प्राधान्येन गणिता: ॥

उपसंहरति—

एवं तेऽत्र महात्मान एकैकं तु शतेन च॥ ६५९ ॥
दशैते वेष्टिता देवि शतरुद्रैश्च सुव्रते ।

प्रत्येकं शतेन परिवारभूतेन प्रोक्तैश्च कपालीशादिभिरन्तरङ्गैर्दशभिर्वेष्टित: । एवमस्यां वितातायां भुवनदीक्षायां सर्व एवैते पार्थिवाण्डगता यथोक्तभुवनेश्वरा: शोध्या:, न तु प्राक् संक्षिप्तदीक्षोक्तमष्टोत्तरमेव शतमिति न तदाशयेनेदं विपर्यासितव्यम्, प्रतिपदोक्तस्य विधे: श्रुतिप्रमाणोत्कर्षेण बलवत्त्वादिति । यत्तु

रुद्र के क्रोध से उत्पन्न हैं । (यदि 'क्रोधसमुद्भवैः' के स्थान पर) 'क्रोधसमुद्भव:' पाठ मानें तो यह केवल वीरभद्र का विशेषण माना जायेगा । चूँकि ये श्वेत आदि वीरभद्र के परिवारभूत हैं इसीलिये मालिनीविजयतन्त्र में—

'उनमें अनन्त प्रथम, उसके बाद 'कपालीश, अग्निरुद्र, यम, नैर्ऋत, बल, शीघ्र, निधीश्वर, सर्व विद्याधिप और शम्भु............ ।'

इस प्रकार प्रत्येक दिशा में स्थित दश रुद्रों में से एक-एक रुद्र का कथन कर वीरभद्र विधूम अग्नि के समान देदीप्यमान वीरभद्र को ग्यारहवाँ रुद्र कहा गया है । श्वेत आदि की उनके परिवार होने के कारण प्रधानतया गणना नहीं की गयी ॥

(इस प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

हे देवि ! इस प्रकार यहाँ पर ये महात्मा दश अधिपति रुद्र हैं जिनमें से हे सुव्रते ! एक-एक अधिपति रुद्र एक-एक सौ रुद्रों से वेष्टित होते हैं ॥ -६५९-६६०- ॥

प्रत्येक रुद्र के परिवारभूत एक सौ रुद्रों तथा उपर्युक्त कपालीश आदि अन्तरङ्ग दशरुद्रों से वेष्टित हैं । इस विस्तृत भुवनदीक्षा में पार्थिवाण्ड में स्थित इन सभी भुवनेश्वरों का शोधन करना चाहिये । न कि पहले संक्षिप्तदीक्षा में उक्त एक सौ आठ ही भुवनेश्वरों का इस आशय से उल्टा-पुल्टा नहीं समझना चाहिये क्योंकि श्रुति प्रमाण के उत्कर्ष के कारण प्रतिपदोक्त विधि बलवत्तर होती है । और जो

श्रीभुल्लकेन—अनन्तश्री..... दिभिर्द्वीपादिभि: सह सप्तनवति:, बहिरेकादशेति कल्पितम्, तदसदेव ॥

एते श्वेतादयो दश शतरुद्रपरिवृता अपि एकैकं शतेन परिवृता इति यदुक्तम्, तत्संक्षेपाशयेन, विस्तरतस्तु—

एषामपरिसंख्येय: परिवारो महात्मनाम् ॥ ६६० ॥

अतश्चैते सर्वे—

आवृत्याण्डं स्थिता ह्येते मधु यद्वन्मधुव्रता: ।
कदम्बकुसुमं यद्वत् केसरै: परिवारितम् ॥ ६६१ ॥
परिवारितं तथा ह्यण्डं रुद्रैरमितविक्रमै: ।

मधुव्रता मधुकरा: ॥

तथा—

गृहै: सतोरणाट्टालैर्नानारत्नविचित्रितै: ॥ ६६२ ॥
जाम्बूनदमयैश्चित्रै: समन्तात् समलंकृतम् ।
दिव्यनारीभिराकीर्णं सर्वकामसमन्वितम् ॥ ६६३ ॥

श्रीराजानक भुल्लर ने कहा कि—'अनन्त श्री............ । द्वीप आदि के साथ सत्तानबे और बाहर ग्यारह शोधनीय हैं'—यह कथन समीचीन नहीं है ॥

ये श्वेत आदि दश अधिपतिरुद्र सौ रुद्रों से परिवृत हैं तो भी (उन परिवार के सौ रुद्रों में से) एक-एक रुद्र एक-एक सौ रुद्रों से परिवृत हैं—यह जो कहा गया—यह संक्षिप्त परिचय के आशय से, विस्तार से तो—

इन महात्माओं का परिवार अपरिसंख्येय हैं । (क्योंकि प्रत्येक परिवारभूत रुद्र का अलग-अलग परिवार फिर उनमें से एक-एक का अलग-अलग परिवार है) ॥ -६६० ॥

इसलिये ये सब—

जैसे मधुमक्खी मधु (के छत्ते) को घेर कर स्थित रहती है या जैसे कदम्ब का पुष्प केशरों से परिवृत रहता है उसी प्रकार यह पार्थिवाण्ड अमित पराक्रम वाले रुद्रों से व्याप्त है ॥ ६६१-६६२- ॥

मधुव्रत = मधुकर (= मधुमक्खी) ॥

तथा—

यह ब्रह्माण्ड तोरणों अट्टालिकाओं से युक्त, अनेक प्रकार के रत्नों से विचित्र, सुवर्णरचित चित्रों वाले गृहों अर्थात् भुवनों से चारो ओर अलङ्कृत

ब्रह्माण्डमेतदाख्यातं पाशजालावतारितम् ।
जन्मव्याधिजरामृत्युमहोदधिपरिप्लुतम् ॥ ६६४ ॥
गुणत्रयमलच्छन्नं नानाजातिसमाकुलम् ।
पशुज्ञानपरिक्रान्तं गतित्रयसमाकुलम् ॥ ६६५ ॥

गृहा भुवनानि । आणवादिपाशजालेनावतारितमाच्छादितं जन्मादिपरिप्लुतं चेति तदाश्रयजनाभिप्रायेण । गुणत्रयं सत्त्वादि, तदेव मलम् । जातयश्चतुर्दशविधो भूतसर्गः । पशुज्ञानेन वेदसांख्यादिना परितः समन्तात् क्रान्तं तज्ज्ञानाश्वासबहुलमिति यावत् । गतित्रयं देवमनुष्यतिर्यग्रूपम् ॥ ६६५ ॥

अत्र च—

अनित्या एव गतयः सर्वेषामेव वादिनाम् ।

गतयो देवमनुष्यतिर्यक्प्रवृत्तयः ॥

'एवं त्रयीधर्ममनुप्रपन्ना गतागतं कामकामा लभन्ते ॥'

(भ०गी० ९।२१)

इति नीत्याऽनित्याः परिमितकालाः । वादिनामिति वेदसांख्यपुराणेतिहासन्यायवैशेषिकसौगतार्हतादिनिष्ठानाम् ॥

यत एते—

परापरविभागं तु नैव जानन्ति मोहिताः ॥ ६६६ ॥

भेदात्मकं पदमपरम्, अद्वैतं तु परमिति न जानन्ति मायया व्यामूढी- कृतत्वात्, अतो भेदपद एव सुरनरतिर्यक्पदानि परापरतया प्राप्याणि मन्यन्ते ॥ ६६६ ॥

अतश्च—

हेमाण्डं तु पुरा सृष्टं क्षयात्म भुवनाकृति ।
ईशमायासमाविष्टस्यात्मवर्गस्य भूतये ॥ ६६७ ॥

यद्यपि समनान्तं क्षययोगि, तथापि यदस्य क्षयात्मत्वमुक्तम्, तदतिपरिमितकालतया तुच्छताप्रतिपादनाशयेन । समाविष्टस्य क्रोडीकृतस्य । भूतये कर्मोपभोगसिद्ध्यर्थम् ॥ ६६७ ॥

गतमेतत्—

है । इसमें दिव्य स्त्रियाँ वर्त्तमान हैं । यह समस्त कामनाओं का पूरक है । पाशजाल से आच्छादित यह (ब्रह्माण्ड) जन्म, व्याधि, जरा, मृत्यु के सागर से परिप्लुत है । तीन गुण रूपी मल से आच्छन्न यह नाना प्रकार की जातियों (= सृष्टियों) से आकुल, पशुज्ञान से भरा हुआ और तीन गतियों से व्याप्त है ॥ -६६२-६६५ ॥

गृहों = भुवनों (से व्याप्त) । आणव आदि (= मायीय और कार्म नामक) पाशजाल से, अवतारित = आच्छादित । जन्म आदि से परिप्लुत का तात्पर्य है— उनके आश्रयभूत लोगों से व्याप्त । तीन गुण = सत्त्व आदि (= रजस् और तमस्) वही मल हैं । जातियाँ = चौदह प्रकार की भूतसृष्टि (= देव मनुष्य पशु आदि) । पशुज्ञान = वेद सांख्य (जैन बौद्ध) आदि के द्वारा, परितः = सब ओर से, क्रान्त = उस ज्ञान के ऊपर विश्वास से भरा हुआ । तीन गतियाँ = देवता मनुष्य और तिर्यक् रूप ॥ ६६५ ॥

यहाँ—

समस्त वादियों की गतियाँ अनित्य ही हैं ॥ ६६६- ॥

गतियाँ = देव मनुष्य और तिर्यक् प्राणियों की प्रवृत्तियाँ ॥

'इस प्रकार तीनों वेदों के द्वारा बताये गये धर्म का आचरण करने वाले काम कामी गतागत (= मृत्यु जन्म) को प्राप्त होते हैं ।' (भ०गी० ९।२१) की नीति के अनुसार सीमित समय वाले हैं । वादियों की = वेद, सांख्य, पुराण, इतिहास, न्याय वैशेषिक, बौद्ध एवं जैन आदि के विचारों में श्रद्धा रखने वालों की ॥

क्योंकि ये—

(माया से) मोहित हुए पर और अपर विभाग को नहीं जानते ॥ -६६६ ॥

भेदात्मक पद अपर है, अद्वैत पर है—इसको वे नहीं जानते क्योंकि वे माया के द्वारा मूढ बना दिये गये हैं । इसलिये वे भेद पद में ही देवता मनुष्य तिर्यक् पदों को पर और अपर के रूप में प्राप्य मानते हैं ॥ ६६६ ॥

इसलिये—

ईश्वर की माया से समाविष्ट आत्मवर्ग के उपभोग के लिये भुवन की आकृति वाले क्षयिष्णु हेमाण्ड (= ब्रह्माण्ड) की रचना पहले की गयी ॥ ६६७ ॥

यद्यपि (पृथिवी से लेकर) समना तक सब क्षयशील है तो भी जो इस ब्रह्माण्ड की क्षयात्मता कही गयी वह अत्यन्त सीमित काल वाली होने के कारण इसकी तुच्छता के प्रतिपादन के आशय से (कही गयी) । समाविष्ट = क्रोड़ीकृत (= गोद में रखे गये) भूति के लिये = किये गये कर्मों के फल का भोग पाने के लिये ॥ ६६७ ॥

यह (= पार्थिवाण्ड का विवरण) गत (= समाप्त) हुआ—

अथोपरिष्टात्तत्त्वानि उदकादिशिवान्तकम् ।

उच्यन्त इति शेषः ॥

तत्र मानकलनयैतानि—

उत्तरोत्तरयोगेन दशधा संस्थितानि तु ॥ ६६८ ॥

शतकोटिविस्ताराद् ब्रह्माण्डाद् दशधा गुणितं जलतत्त्वम् । ततो दशगुणं तेजः । ततोऽपि वायुः । ततोऽपि व्योम । ततोऽपि गर्भीकृततन्मात्रेन्द्रिय एव गुणः ॥ ६६८ ॥

अहङ्कारः.........

एवंकलितपरिमाणादहङ्कारात्—

...........तदूर्ध्वं तु बुद्धिस्तु शतधा स्थिता ।

ततोऽपि—

ऊर्ध्वं सहस्रधा ज्ञेयं प्रधानं वरवर्णिनि ॥ ६६९ ॥

गुणतत्त्वेन सह प्रकृतितत्त्वस्य तत् परिमाणमित्यर्थः ॥ ६६९ ॥

तदुपरि—

अब इसके बाद जल तत्त्व से लेकर शिवपर्यन्त तत्त्व को ॥ ६६८- ॥

बतलाया जा रहा है ॥

परिमाण की गणना से ये—

उत्तरोत्तर दश गुने विस्तार के साथ स्थित हैं ॥ -६६८ ॥

सौ करोड़ योजन विस्तार वाले ब्रह्माण्ड से दश गुना विस्तार (= दश अरब योजन) वाला जल तत्त्व है । उससे दश गुना विस्तृत तेज, उससे (दश गुना) वायु, उससे भी (दश गुना) आकाश उससे भी (दश गुना) अपने गर्भ में तन्मात्रा और इन्द्रियों को रखने वाला ॥ ६६८ ॥

अहङ्कार है ॥ ६६९- ॥

इस प्रकार के परिमाण वाले अहङ्कार से—

सौ गुना विस्तृत बुद्धितत्त्व है जो कि अहङ्कार के ऊपर है ॥ -६६९-॥

उसके भी ऊपर—

हे वरवर्णिनि ! ऊपर एक हजार गुना अधिक विस्तार वाला प्रधान तत्त्व है ॥ -६६९ ॥

गुणतत्त्व के साथ प्रकृतितत्त्व का वह परिमाण है ॥ ६६९ ॥

पौरुषं दशसाहस्रं...........

ततोऽपि—

...........नियतिर्लक्षधा स्मृता ।

तदूर्ध्वं दश लक्षाणि कला यावत्तु सुव्रते ॥ ६७० ॥

तदेवंविधात् कलातत्त्वमानादपि—

माया तु कोटिधा..........

सा च—

...........व्याप्य स्थिता सर्वं चराचरम् ।

सर्वमिति कलादिक्षित्यन्तम् । एतच्चोपलक्षणपरं सर्वतत्त्वेषु, तेन पृथिव्यादितत्त्वान्युत्तरोत्तरं जलादितत्त्वैर्व्याप्तानि । अतश्च शतकोटिविस्तीर्णाद् ब्रह्माण्डाद् दशगुणं यदप्तत्त्वमुच्यते, तत्तदन्तर्वर्तिना ब्रह्माण्डेन सह । तेन मध्ये ब्रह्माण्डं कोटिशतम्, अधोजललेखिका चत्वारि सर्वाणि कोटिशतानि, जलावरणस्य मानं मध्वर्तिना व्याख्यातेन ब्रह्माण्डेन सह तु कोटिशतान्येव, सर्वतः, पारिवार्तुल्य-

---

उसके ऊपर—

दश हजार गुना अधिक पुरुष तत्त्व का विस्तार है ॥ ६७०- ॥

उससे भी—

एक लाख गुना विस्तृत नियति तत्त्व माना गया है । हे सुव्रते ! उसके ऊपर दश लाख गुना विस्तृत कला तत्त्व है ॥ -६७० ॥

इस प्रकार के कलातत्त्व के परिमाण की अपेक्षा—

माया तत्त्व एक करोड़ गुना (अधिक विस्तृत है) ॥ ६७१- ॥

और वह—

समस्त चराचर को व्याप्त कर स्थित है ॥ -६७१- ॥

समस्त = कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्व को । यह समस्त तत्त्वों का उपलक्षण है । इसलिये (यह समझना चाहिये कि) पृथिवी आदि तत्त्व अपने उत्तरोत्तर जल आदि तत्त्वों से व्याप्त हैं । इसलिये सौ करोड़ योजन विस्तृत ब्रह्माण्ड की अपेक्षा दश गुना जो जलतत्त्व कहा गया वह उस जलतत्त्व के अन्दर वर्तमान ब्रह्माण्ड के साथ है । इससे यह समझना चाहिये कि जल तत्त्व के मध्य से एक सौ करोड़ योजन विस्तार वाला ब्रह्माण्ड है । उसके नीचे एक-एक सौ करोड़ योजन की चार जललेखिका (= पानी का घेरा) है । जलावरण का मान मध्यवर्ती व्याख्यात ब्रह्माण्ड के साथ एक सौ करोड़ योजन है । इस प्रकार (एक सौ करोड़ योजन ब्रह्माण्ड + उसके ऊपर जलीय आवरण एक सौ करोड़ + उसके

मानब्रह्माण्डेनान्तर्वर्तिना दशकोटिशतानि जलावरणमिति स्थित्या तेजस्तत्त्वादीन्यप्यन्तर्वर्तिजलादितत्त्वमानेन सह यथोत्तरं दशादिगुणितानि व्याख्यातव्यानि ॥

तदेवंविधान्मायापरिमाणात्—

दशकोटिगुणा विद्या...........

सापि व्याख्यातदृष्ट्या ऊर्ध्वाधःकोटिनवकपरीमाणा, मध्यस्थात् कलामानात् कोटिगुणितात् ॥

........मायां व्याप्य व्यवस्थिता ॥ ६७१ ॥

अथ ततोऽपि—

शतकोटिगुणेनैव व्याप्तासावीश्वरेण तु ।

ईश्वरेण ईश्वरतत्त्वेन ॥

ततोऽपि तद्व्याप्यैव स्थितम्—

सादाख्यं कोटिसाहस्रं बिन्दुनादं तदूर्ध्वतः ॥ ६७२ ॥

चारो ओर चार-चार सौ करोड़ की जल लेखिका इस रीति से) सब ओर से गोल-गोल मान वाले अन्तर्वर्त्ती ब्रह्माण्ड के साथ जल का आवरण दश सौ करोड़ योजन है । इसी रीति से तेज आदि तत्त्व भी अन्तर्वर्त्ति जल आदि तत्त्व के मान से उत्तरोत्तर दश आदि (= सौ, हजार, दश हजार, लाख, दश लाख और करोड़) गुना अधिक हैं—ऐसी व्याख्या की जानी चाहिये ॥

तो इस प्रकार माया के परिमाण से—

दश करोड़ गुना अधिक (शुद्ध) विद्या है ॥ -६७१- ॥

वह भी ऊपर किये गये व्याख्यान की रीति से मध्यस्थ एक करोड़ गुना कलामान से ऊपर नीचे नव करोड़ परिमाण वाली है ॥

(यह विद्या) माया को व्याप्त कर स्थित है ॥ -६७१ ॥

इसके बाद इस (= विद्या) से भी—

एक सौ गुना अधिक परिमाण वाले ईश्वर से यह (शुद्धविद्या, विद्या) व्याप्त है ॥ ६७२- ॥

ईश्वर = ईश्वर तत्त्व ॥

उससे भी ऊपर उसको व्याप्त कर—

एक सहस्र गुना अधिक व्यापक सदाशिव तत्त्व स्थित है यह सादाख्य तत्त्व बिन्दु और नाद रूप है ॥ -६७२ ॥

सादाख्यं यत् तत्त्वं कोटिसहस्रपरिमाणम्, तदेवोर्ध्वत इति तत्रैवाध्वन्यूर्ध्वभागे परव्याप्त्या बिन्दुनादं वक्ष्यमाणबिन्दुनादात्मकावरणरूपतया स्थितं परं सादाख्यं रूपम् । बिन्दुनाऽर्धचन्द्रनिरोधिकावरणे, नादेन च नादान्तावरणमुपलक्षितम् । एतच्चाग्रे व्यक्तीभविष्यति ॥ ६७२ ॥

अतोऽप्यूर्ध्वे—

योजनानां तु वृन्दं वै शक्तिर्व्याप्य व्यवस्थिता।

वृन्दं शतकोटिसहस्राणि । शक्तिरिति शक्तितत्त्वम् ॥

अत्रैव च शक्तिसम्बन्धिन्यूर्ध्वभागे—

व्यापिनी सर्वमध्वानं व्याप्य देवि व्यवस्थिता ॥ ६७३ ॥

शक्तिरेव परया व्याप्त्या परशिवतत्त्वात्मा व्यापिनीरूपा, सर्वमिति शक्तिसदाशिवाद्यधस्तनं समनात्मकं चोर्ध्वमध्वानं व्याप्य स्थिता । एषां च सर्वेषां तत्त्वानां पूर्वमेव स्वरूपं व्याख्यातमिति मायान्तं तत्तत्पदोचितानां क्षेत्रज्ञानां विचित्राणाम्, विद्यादिव्यापिन्यन्तं तु मन्त्रमन्त्रेश्वरमन्त्रमहेश्वराद्यावर्तेन भेदभिन्नानां रुद्राणामवस्थितिरिति तदपेक्षया तत्र तत्र तथोचितमेव भुवनभोगादिकम् । तदेतदग्रे

सादाख्य (= सदाशिव नामक) जो तत्त्व एक हजार करोड़ योजन परिमाण वाला है वही । ऊपर—उसी अध्वा में ऊर्ध्वभाग पर व्याप्ति के द्वारा बिन्दु नाद = वक्ष्यमाण बिन्दु नादात्मक आवरण के रूप में स्थित = पर सादाख्यरूप, है । बिन्दु पद के द्वारा अर्धचन्द्र और रोधिनी नामक दो आवरण तथा नाद के द्वारा नादान्त आवरण को भी समझना चाहिये । यह आगे स्पष्ट होगा ॥ ६७२ ॥

इसके भी ऊपर—

एक वृन्द योजन परिमाण वाली शक्ति (नाद-नादान्त-पर्यन्त तत्त्व को) व्याप्त कर स्थित है ॥ ६७३- ॥

वृन्द = सौ करोड़ हजार । शक्ति = शक्तितत्त्व ॥

शक्ति से सम्बद्ध इसी ऊर्ध्व भाग में—

हे देवि ! व्यापिनी तत्त्व समस्त अध्वा को व्याप्त कर के स्थित होता है ॥ -६७३ ॥

शक्ति ही परा व्याप्ति के द्वारा परशिवतत्त्वरूपा व्यापिनी कहलाती है । सबको—शक्ति सदाशिव आदि नीचे के तथा समनारूप ऊर्ध्व अध्वा को व्याप्त कर स्थित है । इन सब तत्त्वों का स्वरूप पहले ही बतला दिया गया है । इसलिये मायापर्यन्त तत्तत् पदों के लिये उचित विचित्र क्षेत्रज्ञों का शुद्धविद्या से लेकर व्यापिनी पर्यन्त मन्त्र मन्त्रेश्वर मन्त्रमहेश्वर आदि के आवर्त्तन से भिन्न-भिन्न रुद्रों की

व्यक्तीकरिष्यति भगवान् ॥ ६७३ ॥

एवमपरशिवतत्त्वान्तमध्वपरिमाणमुक्त्वा विश्वव्यापिनि परमशिवतत्त्वे न परिमाणमस्तीत्याह—

अप्रमेयं ततो ज्ञेयं शिवतत्त्वं वरानने ।

ततो व्यापिनीसमनान्तादध्वन ऊर्ध्वं यत् श्रेयोरूपं तत्त्वं पारमार्थिकं स्वतन्त्रप्रकाशानन्दघनं परमशिवरूपम्, तदप्रमेयं परप्रमात्रेकरूपमित्येवं ज्ञेयं निश्चेतव्यम्, न त्वितरतत्त्ववदुत्तरोत्तरप्रमाणाधिक्यकलनया कलनीयम् । एवं चाभिदधदेवमादिशति यत् समनान्तं विश्वं यथोक्तप्रक्रियया प्रमेयीकुर्वन्नेव परप्रमात्रात्मनि स्वप्रकाशचिदानन्दघने परमशिवपदे समाविशेदिति ॥

एवं प्रसङ्गादुक्त्वा जलतत्त्वादौ भुवनस्थितिं प्रकटयितुमाह—

भुवनानि प्रवक्ष्यामि अप्तत्त्वादावनुक्रमात् ॥ ६७४ ॥

तथा—

आकारं विभवं चैव भुवनानेकविस्तरम् ।

स्थिति रहती है, इसलिये उन (विद्या आदि) की अपेक्षा वहाँ-वँहाँ (= तत्तत् स्थानों में कर्मों के) अनुकूल भुवनभोग आदि होते हैं । इस विषय को भगवान् आगे स्पष्ट करेंगे ॥ ६७३ ॥

इस प्रकार अपरशिव पर्यन्त अध्वपरिमाण को बतला कर विश्वव्यापी परमशिव तत्त्व में कोई परिमाण नहीं है—यह कहते हैं—

हे वरानने ! इस बाद वर्त्तमान परमशिव तत्त्व को अप्रमेय समझना चाहिये ॥ ६७४- ॥

इसके बाद—व्यापिनी समना पर्यन्त अध्वा के ऊपर जो श्रेयोरूप पारमार्थिक स्वतन्त्रप्रकाशानन्दघन परम शिवरूप तत्त्व है, वह अप्रमेय = पर प्रमातारूप है । जानना चाहिये = निश्चय करने चाहिये न कि अन्य (अधोवर्त्ती) तत्त्वों के समान उत्तरोत्तर अधिक प्रमाण की गणना के द्वारा गणना करनी चाहिये ऐसा कहते हुए भगवान् यह आदेश देते हैं कि यथोक्तप्रक्रिया के द्वारा समनापर्यन्त विश्व को प्रमा का विषय बनाते हुए ही पर प्रमातारूप स्वप्रकाश चिदानन्दघन परमशिव पद में समावेश करना चाहिये ॥

प्रसङ्गवश इसका वर्णन कर अब जल आदि तत्त्वों में भुवन की स्थिति को प्रकट करने के लिये कहते हैं—

अब मैं जल आदि तत्त्वों में भुवनों का क्रम से वर्णन करूँगा ॥-६७४ ॥

साथ ही—

आकारः संस्थानम् । विभवो विभूतिः । भुवनानेकस्य तत्तत्प्रधानभुवनानुलग्नस्य भुवनसमूहस्य विस्तारो दशसंख्याकृतं वैतत्यम् ॥

एतच्च पारमेश्वरव्यतिरेकेण नान्यत्र दृष्टमित्याह—

यन्न दृष्टं पशुज्ञानैः कुपथभ्रान्तदृष्टिभिः ॥ ६७५ ॥

स्वतन्त्रचिद्घनानन्दात्मकपरभैरवस्वस्वभावाख्यातिपाशपाशितत्वात् संकुचितदृक्शक्तीनां ज्ञानानि ज्ञायतेऽभिलषितं पशुभिः यैस्तैः पशुशास्त्रैः, यत्र ज्ञातं तथा कुपथेन परिमितक्लेशमात्रप्रशमकारिणा, न तु परिपूर्णपदप्राप्तिप्रदेनोपायप्रदर्शनेन भ्रान्ता लब्धातात्त्विकप्रकाशा दृष्टिर्ज्ञानं प्रतिपद्यमानं येषां तादृग्भिः ॥ ६७५ ॥

तान्येतानि पशुज्ञानानि लेशतो दर्शयितुमाह—

यन्न सांख्यैर्न योगैर्वा न चैव पाञ्चरात्रिकैः ।

प्रकृतिपुरुषयोरविवेकमात्रात् संसारो विवेकात्तु मुक्तिरितीदृग्ज्ञानैः सांख्यैः, अत्रैव चित्तैकाग्र्यात्मयोगावेशसम्प्राप्यद्रष्टृस्वरूपावस्थित्यात्ममुक्तिवादिभिर्योगशास्त्रस्थैः, षड्-

---

अनेक भुवनों का विस्तार आकार और वैभव (बतलाऊँगा) ॥ ६७५-॥

आकार = संस्थान (= अवयवसङ्घटना) । विभव = ऐश्वर्य । भुवनानेक = तत्तत् प्रधान भुवनों से जुड़े हुए भुवनसमूह, का विस्तार = दश गुना अधिक क्षेत्र फल ॥

यह (विस्तार) पारमेश्वर शास्त्र को छोड़ कर अन्यत्र नहीं देखा गया—यह कहते हैं—

जो कि कुपथ के कारण भ्रान्त दृष्टि वालों पशुशास्त्रों के द्वारा नहीं जाना गया (उन भुवनाकार आदि को बतलाऊँगा) ॥ -६७५ ॥

स्वतन्त्र चिद्घनानन्दात्मक परभैरव के अपने स्वभावरूप अख्याति के पाश से बद्ध होने के कारण संकुचित दृक्शक्ति वालों के ज्ञान = पशुशास्त्र, क्योंकि इन पशु शास्त्रों के द्वारा पशु अपना अभिलषित जानना चाहते हैं, उन शास्त्रों के द्वारा जो ज्ञात नहीं है, तथा कुपथ = परिमित क्लेश को दूर करने वाले, न कि परिपूर्णपद की प्राप्ति को देने वाले उपाय को बतलाने वाले मार्ग के प्रदर्शन से भ्रान्त = तात्त्विक प्रकाश को न प्राप्त करने वाली, दृष्टि = ज्ञान, है जिनके, ऐसे लोगों के द्वारा नहीं देखा गया ॥ ६७५ ॥

उन पशुशास्त्रों का क्षीण परिचय देने के लिये कहते हैं—

जो कि सांख्य योग अथवा पाञ्चरात्र वालों के द्वारा नहीं (देखा गया) ॥ ६७६- ॥

प्रकृति और पुरुष के अविवेक (= भेदज्ञानाभाव) मात्र से संसार (= बन्धन) होता

विंशतितत्त्वरूपमहाविभूत्यात्मकवासुदेवाख्यपरप्रकृतिपरिणामात्मकप्रकृत्यादिजगद्वादिभिः पाञ्चरात्रिकैर्यत्र दृष्टमिति सम्बन्धः ॥

तथा—

स्वभाववादिभिर्नापि न च कर्मप्रवादिभिः ॥ ६७६ ॥
नापि संशयवादैश्च नग्नक्षपणकादिभिः ।

पृथिव्यादयः स्वभावेन तनुकरणभुवनादिकार्यार्थं प्रवर्तन्ते न पुनरत्रेश्वरः प्रवर्तकोऽस्तीत्येवं वदद्भिः स्वभाववादिभिः, कर्मैव विश्वकारणं नान्यदित्याचक्षाणैः कर्मप्रवादिभिः, दैवं पुरुषकारो वा विश्वकारणमिति ब्रुवाणैः संशयवादिभिः,

'जीवाजीवास्त्रवाश्चैव संवरो विवरस्तथा।
बन्धो मोक्षश्च सप्तैते सप्तभङ्गीविचित्रिताः ॥'

इति वचनव्यक्त्याऽनादिसिद्धो बन्धो मोक्षश्च । त्रिविधो जीवः, अजीवस्तु स्थावरम्, पुद्गलो देहः, धर्मोऽधर्मो भुवनाद्यधिकरणं लोकाकाशो मुक्तपुद्गलस्थानमलोकाकाशश्चेति षड्विधा शब्दादिविषया विकल्पवृत्तिः सुखदुःखादिसम्भिन्ना विकल्पकप्रशमनरूपा, आ समन्तात् स्त्रवति प्रसरत्यजस्रमित्यास्त्रवो, यमनियमादिनियमितेन्द्रियवृत्तिपूर्वममलपुद्गलरूपध्यानं सम्यग् वृणीते जीवानिति संवरः केशोल्लुञ्चनतप्तशिलापतनमलधारणादिसमस्तदुःखानुभवः प्राक्सञ्चिताशुभसञ्चयस्य निर्झर इव विध्वंसको विवरः, लोभमोहशोकादिलोहपञ्जर इवालावुपात्राणां निमज्जकः पुद्गलानामावारको बन्धः, तदावरणव्यपगमे मुखसंविदात्मकपुद्गलोन्मज्जनमलोकाकाशो मोक्षश्चेति जीवाजीवादिपदार्थसप्तकवादिभिः—१. स्यादस्ति, २. स्यान्नास्ति, ३. स्यादस्ति च स्यान्नास्ति च, ४. स्यादनिर्वाच्यम्, ५. स्यादस्ति च निर्वाच्यम्, ६. स्यान्नास्ति च निर्वाच्यम्, ७. स्यादस्ति च नास्ति चानिर्वाच्यं चेति सप्तभिरेव भङ्गीभिरनिश्चितमेव सर्वं वदद्भिर्नग्नक्षपणकादिभिर्यत्र दृष्टमिति सम्बन्धः ॥

तथा—

न भूतवादिभिश्चैव..........

पृथिव्यप्तेजोवायुरिति भूतचतुष्टयमेव प्रत्यक्षदृष्टमस्तीति कथयद्भिश्चार्वाकैः ॥

है और विवेक से मुक्ति-ऐसा मानने वाले शास्त्र सांख्य हैं । यहीं पर चित्त की एकाग्रता रूप योग के आवेश से सम्प्राप्य, द्रष्टा की अपने रूप में स्थितिरूपा मुक्ति को मानने वाले योगशास्त्री हैं । छब्बीस तत्त्व रूप महाविभूत्यात्मक वासुदेव नामक पर प्रकृति का परिणामरूप यह प्रकृति आदि जगत् है—ऐसा मानने वाले पाञ्चरात्र है—इनके द्वारा जो नहीं जाना गया (उसे बतलाऊँगा)—यह सम्बन्ध है ॥

तथा—

न तो स्वभाववादियों, न कर्मवादियों, न संशयवादियों और न नग्न क्षपणक आदि के द्वारा (यह) जाना गया ॥ -६७६-६७७- ॥

पृथिवी आदि (तत्त्व) अपने स्वभाव से शरीर इन्द्रिय भुवन आदि कार्यों के लिये प्रवृत्त होते हैं; इस विषय में ईश्वर प्रवर्त्तक नहीं है—ऐसा मानने वाले स्वभाववादी होते हैं । कर्म ही विश्व का कारण है दूसरा कुछ नहीं—ऐसा कहने वाले कर्मवादी (मीमांसक) हैं । दैव अथवा अपना प्रयास ही विश्व का कारण है—ऐसा कहने वाले संशयवादी (जैन) हैं जो—

'जीव, अजीव, आस्त्रव, संवर, विवर, बन्ध और मोक्ष ये सात तत्त्व सप्तभङ्गी के द्वारा विचित्र बनाये गये हैं ।'

इस वचन के द्वारा बन्ध और मोक्ष को अनादि सिद्ध मानते हैं । इनके मत में जीव तीन प्रकार के हैं[1]—अजीव स्थावर को कहते हैं । पुद्गल शरीर का नाम है । धर्म अधर्म, भुवन आदि का अधिकरण लोकाकाश है । मुक्त पुद्गल का स्थान अलोकाकाश है । शब्द आदि (= स्पर्श, रूप, रस, गन्ध, सङ्कल्प) ये छः विषय सुख दुःख आदि से संभिन्न विकल्पवृत्ति विकल्पप्रशमन ये सब आस्त्रव हैं, क्योंकि ये सब चारो ओर से स्त्रवण = प्रसरण करते रहते हैं । संवर का अर्थ है—यम नियम आदि से नियमित इन्द्रियों की वृत्ति के साथ अमलपुद्गल रूप का ध्यान, क्योंकि यह जीवों का सम्यक् वरण करता है । केश का नोचना, तप्तशिला पर बैठना, मलधारण आदि समस्त दुःखों का अनुभव पूर्वसञ्चित अशुभों का नाश कर देता है, इसलिये इसे विवर कहते हैं । लोभ, मोह एवं शोक आदि लोहे के पिञ्जड़े के समान हैं जो कि अलाबू (लौकी) के पात्रों के समान जीव को पानी में डुबों देते हैं । ये सब पुद्गलों के आवारक बन्धन हैं । उस आवरण के हट जाने पर मुखसंविद्रूप पुद्गल का उन्मज्जन अलोकाकाश है । यही मोक्ष है । इस प्रकार जीव अजीव आदि सात पदार्थों को मानने वाले लोग—स्यात् (= शायद) है, स्यात् नहीं है, स्यात् है और नहीं है, शायद अनिर्वाच्य है, शायद है और अनिर्वाच्य है, शायद नहीं है और निर्वाच्य है और शायद नहीं है और अनिर्वाच्य है—इन सात भङ्गियों के द्वारा सब कुछ को अनिश्चित मानते हैं । ऐसे नग्नक्षपणक आदि के द्वारा भी जो नहीं देखा गया ॥

तथा—

भूतवादियों के द्वारा भी नहीं ॥ -६७७- ॥

पृथिवी, जल, तेज और वायु ये प्रत्यक्ष दृष्ट चार ही भूत हैं (आकाश नाम की वस्तु नहीं है) ऐसा मानने वाले चार्वाकों के द्वारा भी नहीं (देखा गया) ॥

---

१. मूलतः जीव के दो ही प्रकार हैं—बद्ध और मुक्त । किन्तु बद्ध दो प्रकार के हैं (क) त्रस जो कि चलते फिरते रहते हैं जैसे मनुष्य पशु आदि । और (ख) स्थावर जो कि स्थिर रहते हैं जैसे वृक्षों के अन्दर वर्तमान जीव ।

.........नापि स्याल्लौकिकैरपि ॥ ६७७ ॥

वार्तादण्डनीतिमात्रनिष्ठैः ॥ ६७७ ॥

न चात्मचिन्तकैर्वापि.............

'पुरुष एवेदं सर्वं यद्भूतं यच्च भाव्यम्' (ऋ० १०।९०।२)

इत्यादि चिन्तयद्भिर्वैदिकैः—

...........न च तर्कप्रवादिभिः ।

'अविज्ञाततत्त्वेऽर्थे कारणोपपत्तितस्तत्त्वज्ञानार्थमूहस्तर्कः'

(न्या०सू० १।१।४०)

इत्यूहरूपेण तर्केण व्यवस्थां कुर्वद्भिः ॥

न च वैशेषिकैर्वाऽपि षट्पदार्थपरायणैः॥ ६७८ ॥

द्रव्यगुणकर्मसामान्यविशेषसमवायाख्यपदार्थषट्कमेव तत्त्वमित्यभिदधद्भिः कणादशिष्यैः ॥

न चापि न्यायवादैश्च...............

प्रमाणादिपदार्थषोडशकतत्त्वज्ञानान्निःश्रेयसाधिगमो भवतीति ब्रुवाणैर्नैयायिकैः ॥

न ही लौकिकों के द्वारा ॥ -६७७ ॥

(लौकिक का अर्थ है—वार्त्ता और दण्डनीति में आस्था रखने वालों के द्वारा) ॥ ६७७ ॥

आत्मचिन्तकों के द्वारा भी नहीं ॥ ६७८- ॥

'जो भूत एवं जो भाव्य है वह सब यह पुरुष ही है ।' (ऋ०१०।९०।२)

इत्यादि सोचने वाले वैदिकों के द्वारा भी नहीं ।

तार्किकों के द्वारा भी नहीं ॥ -६७८- ॥

'जिस पदार्थ की यथार्थता न ज्ञात हो उसके तत्त्वज्ञान के लिये ऊह करना तर्क कहा जाता है ।' (न्या०सू० १।१।४०)

इस ऊहरूप तर्क के द्वारा व्यवस्था मानने वालों के द्वारा भी नहीं ॥

(विश्वसंरचना के मूल में) छह पदार्थों को मानने वाले वैशेषिकों के द्वारा भी (यह नहीं देखा गया) ॥ -६७८ ॥

द्रव्य गुण कर्म सामान्य विशेष और समवाय नामक छः ही पदार्थ तत्त्व हैं—ऐसा कहने वाले, कणाद के शिष्यों के द्वारा (भी नहीं) ॥

न्यायवाद के द्वारा भी नहीं ॥ ६७९- ॥

..............हेतुदृष्टान्तवादिभिः ।

न च यद्दृष्टमिति स्थितमेव ।

'तद्भावहेतुभावो हि दृष्टान्ते तदवेदिनः ।
(ख्याप्येते)[1], (विदुषां वाच्यो)[2] हेतुरेव हि केवलः ॥' (प्र.वा. ३।२७)

इत्यारटद्भिः सौगतैः ॥

नाप्येकजन्मवादैश्च...............

वर्तमानमेवेदमेकं जन्म, न तु जन्मान्तरमभूद् भावि वेत्युदितवद्भिः ॥

...........न चाप्येकत्ववादिभिः॥ ६७९ ॥

पारमेशशास्त्रप्रतिपादितस्वप्रकाशस्वतन्त्रचिदद्वयवादव्यतिरेकेण सत्ताद्यद्वयवादिभिः ॥ ६७९ ॥

न धूर्तवादैर्लोकैर्वा सुपरिज्ञातमैश्वरम् ।

धूर्तविरचितम्लेच्छादिशास्त्रनिष्ठैः । ईश्वरेण शिवभट्टारकेण प्रोक्तमप्तत्त्वादि-

---

प्रमाण आदि सोलह पदार्थों के तत्त्वज्ञान से मोक्षलाभ होता है—ऐसा कहने वाले नैयायिकों के द्वारा भी नहीं ॥

हेतुदृष्टान्तवादी (बौद्धों के द्वारा भी नहीं) ॥ -६७९- ॥

जो देखा गया वह स्थित ही नहीं है ।

दृष्टान्त में तद्भाव और हेतुभाव उन लोगों को बतलाये जाते हैं जो उन (= तद्भाव और हेतु भाव) को नहीं जानते । (वक्ता के द्वारा) विद्वानों को केवल हेतु का ही ज्ञान कराना चाहिये । (प्र०वा० ३।२७)

इत्यादि रटन करने वाले बौद्धों के द्वारा (भी नहीं देखा गया) ॥

एक जन्म मानने वालों के द्वारा भी नहीं ॥ -६७९- ॥

वर्तमान जन्म ही एकमात्र जन्म है । इसके अतिरिक्त न तो कोई जन्म हुआ और न होगा—ऐसा कहने वालों (यवन आदि) के द्वारा भी नहीं ॥

और न एकत्ववादियों के द्वारा (देखा गया) ॥ -६७९ ॥

पारमेश्वर शास्त्र में प्रतिपादित स्वप्रकाश स्वतन्त्र चिदद्वयवाद के अतिरिक्त केवलसत्ता आदि अद्वयपदार्थ को मानने वालों के द्वारा ॥ ६७९ ॥

न ही धूर्त्तवादी लोगों के ऐश्वर विभव सुपरिज्ञात है ॥ ६८०- ॥

धूर्तों के द्वारा विरचित म्लेच्छ आदि शास्त्रों में निष्ठा रखने वाले लोगों के

---

१. ख्यातेऽर्थे । २. विदुषो नान्यो ।

भुवनानामाकारविभवविस्तारादिकं यत् सांख्यादिभिर्धूर्तलोकपर्यन्तैर्न कैश्चिदपि परिज्ञातम्, तत्ते वक्ष्यामीति प्रोक्तेनैव सङ्गतिः ॥

न चेयन्त एव वादिनः, अपि तु—

इत्येवंवादिनां तेषां वादानां तु शतत्रयम् ॥ ६८० ॥
त्रिषष्टिरधिकाश्चान्ये वादिनां भ्रान्तचेतसाम् ।
अज्ञानतिमिरान्धानामुन्मीलनकृदुत्तमम् ॥ ६८१ ॥
संसारपङ्कमग्नानां नौरिवोत्तारणं परम् ।
महामोहतमोऽन्धानां तमोनुदमिदं परम् ॥ ६८२ ॥
परमेशमुखोद्भूतं यन्मया प्राप्तमद्भूतम् ।
ज्ञानामृतमिदं दिव्यं नानाभुवनविस्तरम् ॥ ६८३ ॥
शृणुष्वैकमना देवि विचित्राकारमद्भुतम् ।

इतिशब्दः प्रकारवाची । एवंप्रकारं वदतां वादिनां सम्बन्धिनो ये वादास्तेषां मध्ये जलादिशिवान्तगततत्तद्भुवनाद्यध्ववेद्यीकरणप्रतिपादनेन तावद्वेद्यवेदकपरभैरवात्मकमहाप्रमातृपदसमावेशप्रदमिदं ज्ञानामृतम् । अज्ञानतिमिरेण तत्त्वावेदनान्धकारेण, अन्धा अनुन्मीलितदृक्शक्त्यः, तत एव भ्रान्तचेतसः, तेषां शक्तिपाततः प्राप्तं

द्वारा। (ऐश्वर का अर्थ है—) ईश्वर अर्थात् शिवभट्टारक के द्वारा उक्त जो जल तत्त्व आदि में स्थित भुवनों का आकार वैभव विस्तार आदि वह सांख्य से लेकर धूर्त लोगों तक किन्हीं लोगों के द्वारा ज्ञात नहीं हुआ वह तुमको बतलाऊँगा—ऐसा पूर्वोक्त वचन से अन्वय (= सम्बन्ध) है ॥

इतने ही बाद वाले नहीं है बल्कि—

इस प्रकार का निर्वचन करने वाले उन लोगों के वादों की संख्या तीन सौ तिरसठ है । ऐसे भ्रान्तचित्त वाले तथा अज्ञान रूपी तिमिर से अन्धे हुए वादियों के नेत्र का यह उन्मीलक है; संसार के कीचड़ में फँसे या डूबे हुए लोगों को पार करने के लिये यह उत्तम नौका है; महामोहान्धकार से अन्धे हुए लोगों का यह परम अन्धकारनिवारक है । हे देवि ! परमेश्वर के मुख से निर्गत, नाना भुवन विस्तार वाला यह अद्भुत ज्ञानामृत जो मैंने प्राप्त किया, विचित्र आकार वाले एवं अद्भुत उस दिव्य ज्ञान को एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ -६८०-६८४- ॥

(६८० श्लोक के आदि में आया हुआ) इति शब्द प्रकारवाची है । इस प्रकार कहने वाले वादी जनों से सम्बद्ध जो वाद (= सिद्धान्त) हैं यह ज्ञानामृत उनमें से जल तत्त्व से लेकर शिवतत्त्व के बीच तत्तत् भुवन आदि अध्वा की वेद्यता के प्रतिपादन के द्वारा उतने वेद्यवेदक परभैरवस्वरूप महाप्रमातृ पद के समावेश का लाभ कराने वाला है । अज्ञानतिमिर से = तत्त्व के अज्ञान रूपी अन्धकार से,

सद् उन्मीलनकृत् स्वस्वभावोन्मेषकम् । तथा संसारकर्दमे मग्नानां नौरिवोत्तारणं परं पारप्रापकम् । महामोहो विषयेष्वलङ्कारवस्त्रस्त्र्यादिष्वात्माभिमानः, तमः पुर्यष्टके आत्माभिमानः, आभ्यां मोहतामिस्रान्धतामिस्रा लक्ष्यन्ते । एवमेभिरन्धीकृतानां तमोनुदमित्यज्ञाननाशनम् । परमेशमुखोद्भूतमिति परभैरवादेव शक्तिसदाशिवादिक्रमेणायातं यद् मया कैलासवासिना प्राप्तमिति श्रीश्रीकण्ठाद् लब्धदीक्षेणाधिगतम्। अद्भुतं निभाल्यमानं सद्विस्मयमुद्रानुप्रवेशनेन परभैरवस्वरूपाभिव्यञ्जकम्, अत एव दिव्यम् । नानाभुवनानां प्रतिपाद्यमानानां विस्तारो विभवादिप्रपञ्चो यत्र तत्तादृशम् । ज्ञानामृतप्रतिपादकमिदं शास्त्रमेव ज्ञानामृतम् । एकाग्रमनाः शृण्वित्यनेन परमोपादेयतां ध्वनति ॥

अद्भुतत्वं भुवनानां स्पष्टयति—

अनन्तो भुवनव्रातस्त्वव्युच्छेदाद् व्यवस्थितः ॥ ६८४ ॥
मधुकोशजालकवत्तथा भूरिचयावृतिः ।

अव्युच्छेदात्नैरन्तर्येण । मधुकोशे मधुमक्षिकाणां गोलकाकृतावाश्रये यानि जालकानि उपर्युपरि वर्तुलाकृत्या स्थितानि । भूरिचयावृतिरिति विततया परस्परमा-

---

अन्धे = जिनकी दृक्शक्ति उन्मीलित नहीं है वे; इसी कारण भ्रान्तचित्त वाले हैं । शक्तिपात के कारण प्राप्त हुआ यह ज्ञान उनका उन्मीलनकारी अर्थात् उनके अपने स्वभाव का उन्मेष करने वाला है । संसाररूपी कीचड़ में डूबे हुए जीवों के लिये यह नौका के समान उत्तारण = पार ले जाने वाला, है । महामोह = अलङ्कार वस्त्र पत्नी आदि को आत्मा समझना; तमः = पुर्यष्टक (= पञ्च तन्मात्र एवं मन बुद्धि अहङ्कार से निर्मित सूक्ष्मशरीर) को आत्मा समझना; इन दोनों के वर्णन से मोह तामिस्र एवं अन्धतामिस्र लक्षित होते हैं । इनके द्वारा अन्धा बनाये गये जीवों के अन्धकार = अज्ञान का नाशक है । परमेश्वर के मुख से उद्भूत = परभैरव से ही परम्परया शक्ति सदाशिव आदि के क्रम से आया हुआ; जिसे कि कैलाशवासी श्रीकण्ठनाथ से दीक्षा प्राप्त करने वाला मैंने प्राप्त किया । अद्भुत = विचार करने पर विस्मय मुद्रा के अनुप्रवेश के द्वारा परभैरव स्वरूप का अभिव्यञ्जक है; इसीलिये दिव्य है । प्रतिपाद्यमान अनेक भुवनों के विस्तार = विभव आदि प्रपञ्च से युक्त है । ज्ञानामृत का प्रतिपादक शास्त्र ही ज्ञानामृत है । एकाग्रचित्त होकर सुनो—इस कथन से इसकी परम उपादेयता इङ्गित होती है ॥

भुवनों की अद्भुतता को स्पष्ट करते हैं—

भुवनों का समूह अनन्त होता है और वह अविच्छिन्न परम्परा से स्थित होता है जैसे मधुमक्खी का जाल । उसी प्रकार उसके ऊपर आवरण भी बहुत है ॥ -६८४-६८५- ॥

अव्युच्छेद = निरन्तरता । मधुकोश में = मधुमक्खियों के गोल आकृति वाले

वार्यावारकतयावस्थित: ॥

किं च—

मीनशङ्खकुलायाभं दाडिमीबीजवत् स्थितम् ॥ ६८५ ॥
कदम्बकेसरनिभं पुराणां तु समूहकम् ।

कुलायमालय: । दाडिमीबीजवदित्यतिनिबिडगर्भाथ्यस्मतम् ॥

किं च—

महासेनावासकवद्वने तरुसमूहवत् ॥ ६८६ ॥
निरन्तरमनन्तानि भुवनानि वरानने ।
नानाकाराणि चित्राणि सर्वरत्नमयानि च ॥ ६८७ ॥

महती चासौ सेना च महासेना, तस्या आवासक: शिबिरम्, तद्वत् । आकार: संस्थानम् । विचित्राणि विविधशोभाभाञ्जि ॥ ६८७ ॥

तथा—

परिमण्डलानि दीर्घाण्यर्धचन्द्राकृतीनि च ।

आधार (= छत्ते) में जो छोटे-छोटे जाल ऊपर-ऊपर गोल आकृति में रहते हैं (उस प्रकार) । भूरिचयावृति = विस्तृत परस्पर आवार्यआवारक के रूप में स्थित है ॥

और भी—

यह भुवनों का समूह मछली अथवा शङ्ख के कुलाय की भाँति एवं अनार के बीज की तरह, अथवा कदम्बपुष्प के केसर के समान स्थित है ॥ -६८५-६८६- ॥

कुलाय = घर । दाडिमी बीज की भाँति—इस कथन से भुवनों की अत्यन्त सघनता बतलायी गयी है ॥

और भी—

हे वरानने ! ये अनन्त भुवन महासेना के शिविर, वन में वृक्षसमूह की भाँति निरन्तर, अनेक आकार वाले, विचित्र और समस्त रत्नों से आपूरित होकर स्थित हैं ॥ -६८६-६८७ ॥

महती (= विशाल) सेना के आवासक = शिबिर, की भाँति । आकार = संस्थान । विचित्र = अनेक शोभा वाले ॥ ६८७ ॥

तथा—

(ये भुवन अनेक आकृति वाले हैं । जैसे—कुछ) पीछे गोल आगे

पुरुषाकृतीनि चान्यानि नन्द्यावर्ताकृतीनि च ॥ ६८८ ॥
पर्वताकृतिरूपाणि गजयूथाकृतीनि च ।
शरावाकृतीनि चान्यानि ज्वालारूपाकृतीनि च ॥ ६८९ ॥
महाविमानरूपाणि त्रिशूलाकृतिमन्ति च ।
मुरजाकृतीनि चान्यानि त्र्यश्राकृतिपुराणि च ॥ ६९० ॥
महापुरुषरूपाणि शतशृङ्गाकृतीनि च ।
सहस्रशृङ्गावर्तानि तथान्यानि वरानने ॥ ६९१ ॥
कोटिशृङ्गाणि चान्यानि असंख्यशिखराणि च ।
वृत्तानि चतुरश्राणि त्रिकोणान्यपराणि च ॥ ६९२ ॥

परिमण्डलानि सन्ति दीर्घाणीति पश्चात्परिमण्डलान्यग्रे तु दीर्घाणि, अत एव वृत्तानीत्यनेन न पुनरुक्तता । नन्द्यावर्त: संनिवेशविशेष:। मुरजाकृतीनां भुवनानां त्र्यश्राकृतीनि पुराणि गृहा येषामिति विशेषणम्, तेन त्रिकोणानीत्यपुनरुक्तम् । महापुरुष:—

'पृथुवक्षा दीर्घबाहूरुश्च'

इत्यादिरूप: । पुरुषाकृतीनीति तु सामान्योक्ति: ॥ ६९२ ॥

किं च—

दिव्यचित्रपताकानि दिव्यघण्टाध्वजानि च ।

दीर्घ, कुछ अर्धचन्द्र के समान, अन्य भुवन पुरुष की आकृति वाले, हैं । इसी प्रकार नन्द्यावर्त्त, पर्वत, गजसमूह, शराव (= कसोरा), ज्वालारूप, महाविमान, त्रिशूल, मुरज की आकृति वाले जिनमें त्रिकोण घर बने हुए हैं; महापुरुष, शतशृङ्ग, सहस्रशृङ्ग, असंख्यशिखर, गोल, चौकोर और त्रिकोण आकृति वाले हैं ॥ ६८८-६९२ ॥

परिमण्डल होते हुए दीर्घ का तात्पर्य है—पीछे गोल और आगे दीर्घ, इसीलिये वृत्ताकार वचन से पुनरुक्ति दोष नहीं आता । नन्द्यावर्त्त एक विशेष प्रकार का अवयवसन्निवेश है । कुछ भुवन ऐसे हैं जिनकी आकृति मुरज (= एक प्रकार का वाद्य) के समान है और उसमें बने हुए घर त्रिकोण हैं । इसलिये 'त्रिकोणानि' कहने से पुनरुक्ति नहीं है । महापुरुष—

'चौड़ी छाती, लम्बी (= जानुपर्यन्त) भुजा और जाँघ वाला'

इत्यादि रूप । 'पुरुषाकृतीनि' यह सामान्यपुरुष के लिये है ॥ ६९२ ॥

और भी—

इनमें दिव्य और विचित्र पताकायें, दिव्यघण्टा, दिव्य ध्वज शोभायमान

भेरीनादस्वराढ्यानि दिव्यगीतध्वनीनि च ॥ ६९३ ॥
दिव्यदुन्दुभिनादानि महावेणुस्वनानि च ।
नानावादित्रघोषाणि भुवनानि च सर्वदा ॥ ६९४ ॥

इत्थमेषां विभूतिमुक्त्वा वर्णमाह—

शुक्लानि स्फटिकाभानि पद्मरागाकृतीनि च ।
चन्द्रकान्तसवर्णानि मुक्तादामनिभानि च ॥ ६९५ ॥
लाक्षारससवर्णानि कानिचिद्वरवर्णिनि ।
इन्द्रगोपकवर्णानि इन्द्रनीलनिभानि च ॥ ६९६ ॥
नीलोत्पलसवर्णानि विद्युत्पुञ्जनिभानि च ।
बालादित्यसवर्णानि पद्मगर्भनिभानि च ॥ ६९७ ॥
चन्द्रप्रभानि चान्यानि चन्द्रकोटिनिभानि च ।
मध्याह्नार्कसवर्णानि सूर्यकोटिनिभानि च ॥ ६९८ ॥
अशोकस्तबकाभानि हरितालनिभानि च ।
शक्रचापसवर्णानि गोक्षीरधवलानि च ॥ ६९९ ॥
सिन्दूरकुङ्कुमाभानि गोरोचननिभानि च ।
तप्तहेमसवर्णानि निर्धूमाग्निनिभानि च ॥ ७०० ॥
शङ्खपाण्डुरवर्णानि कानिचिद्भुवनानि च ।
नानावर्णानि चान्यानि नानारूपाकृतीनि च ॥ ७०१ ॥

इन्द्रगोपकः = खद्योतकः । एतानि च जलतत्त्वादनाश्रितशिवतत्त्वान्तमीदृंशयुक्तानि ॥

हैं । ये भुवन सदा भेरी नाद के स्वर से युक्त, दिव्य गीत एवं दिव्य ध्वनिवाले, दिव्य दुन्दुभि =नाद वाले, महावेणु के स्वन वाले और अनेक वाद्य यन्त्रों की ध्वनि वाले हैं ॥ ६९३-६९४ ॥

इस प्रकार इनकी समृद्धि को बतला कर इनके रङ्गों को बतलाते हैं—

हे वरवर्णिनि! (ये भुवन) शुक्ल, स्फटिक के समान, पद्मराग की आकृति वाले, चन्द्रकान्तमणि, मोती की माला, लाक्षारस, इन्द्रगोपक, नीलमणि, नीलकमल, विद्युत्समूह, प्रातःकालीन सूर्य, पद्मगर्भ, चन्द्रकान्ति, करोड़ों चन्द्र, मध्याह्नसूर्य, करोड़ों सूर्य, अशोकपुष्प के गुच्छे, हरिताल, इन्द्रधनुष, गाय के दूध, सिन्दूर कुंकुम, गोरोचन, तप्त सुवर्ण, निर्धूम अग्नि, शङ्ख के समान विविध रङ्ग, विविध रूप और विविध आकृति वाले हैं ॥ ६९५-७०१ ॥

इन्द्रगोपक = खद्योत (= जुगनू) । ये भुवन जल तत्त्व से लेकर अनाश्रित

यतः—

एतेषां परतो देवि व्यापकं परमं पदम् ।
अप्रमेयमसंख्येयमगम्यं सर्ववादिनाम् ॥ ७०२ ॥

अप्रमेयमिदन्तया परिच्छेतुमशक्यं यतः संख्ययापि निर्देष्टुमशक्यम् । अतश्च शैवशास्त्रज्ञव्यतिरेकेण प्रागुक्तानां सर्ववादिनामगम्यमप्राप्यम् ॥ ७०२ ॥

तदाह—

विना प्रसादादीशस्य ज्ञानमेतन्न लभ्यते ।
न चापि भावो भवति दीक्षामप्राप्य देहिनाम् ॥ ७०३ ॥

शक्तिपाततो लब्धमाहेश्वरदीक्षाणामेतज्ज्ञानं लब्धं सत् प्ररोहति नान्यथेत्यर्थः ॥ ७०३ ॥

एतदेव स्पष्टयति—

यदा तु कारणाच्छक्तिर्भवेन्निर्वाणकारिका ।
शिवेच्छया प्रपद्येत दीक्षां ज्ञानमयीं शुभाम् ॥ ७०४ ॥
मन्त्रयोगात्मिकां दिव्यां..........

शिव तत्त्व पर्यन्त इस प्रकार के कहे गये हैं ॥

क्योंकि—

हे देवि! इसके बाद व्यापक परमपद है जो सभी वादियों के लिये अप्रमेय, अज्ञेय और अगम्य है ॥ ७०२ ॥

अप्रमेय = 'इदम्' के रूप में सीमाङ्कन करने के अयोग्य क्योंकि संख्या से भी इनका निर्देश असम्भव है और इसीलिये शैवशास्त्रज्ञ को छोड़ कर पूर्वोक्त समस्त वादियों के लिये अगम्य = अप्राप्य है ॥ ७०२ ॥

उसको बतलाते हैं—

यह ज्ञान बिना परमेश्वर की कृपा के नहीं मिलता । और (इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर भी) दीक्षा को प्राप्त किये बिना मनुष्यों के अन्दर इसका भाव (= अङ्कुरण) नहीं होता ॥ ७०३ ॥

यह ज्ञान प्राप्त होने के बाद शक्तिपात के कारण पारमेश्वरी दीक्षा को प्राप्त करने वालों के ही अन्दर प्ररूढ होता है अन्यथा नहीं ॥ ७०३ ॥

इसी को स्पष्ट करते हैं—

जब शिव की इच्छा (= अनुग्रहकामना) से कारण शिव से निर्वाणकारिका शक्ति उद्भूत होती है तब मनुष्य मन्त्रयोगरूपी दिव्य शुभ ज्ञानमयी

तदेति मध्ये व्याकार्यम् । कारणात् परमशिवात् निर्वाणकारिका शक्तिर्भवेद् अनुग्राह्यस्योन्मज्जति तदा सोऽनुग्राह्यो दीक्षां प्रपद्यते । दीक्षां ज्ञानमयीमित्यनेन प्रोक्तवक्ष्यमाणसमस्ताध्वमेयीकरणलब्धपरप्रमातृपदानुप्रवेशाभिव्यक्तिदाम्, शुभां जीवन्मुक्तिरूपाम्, ज्ञानमयीमित्यनेन क्रियादीक्षयापि ज्ञानसारतैवेत्यादिशति । मन्त्रेण मननत्राणधर्मिणा योग ऐक्यं यस्याम्, दीक्षायां हि मन्त्राराधनात् तत्तादात्म्यं भवति । दिव्यामिति वैष्णवादिदीक्षाभ्योऽभ्यधिकप्रभावाम् ॥

इत्थं ज्ञानमयीं दीक्षामासाद्य—

..........ततो मोक्षं व्रजेत् पशुः ।

जीवन्मुक्तिं लभते । पशुरिति प्रागवस्थानुवादः ॥

यदि त्वियद्विश्ववेद्यवेदनतः परां वेदकभुवं नारोहति, तदा न मुच्यत इत्याह—

नान्यथा मोक्षमायाति अपि ज्ञानशतैरपि ॥ ७०५ ॥

पूर्वनिर्दिष्टरूपैः ॥ ७०५ ॥

दीक्षा को प्राप्त करता है ॥ ७०४-७०५- ॥

(यदा के प्रयोग को दृष्टि में रखते हुए) मध्य में 'तदा' का अध्याहार करना चाहिये । कारण से = परमशिव से, निर्वाणकारिका शक्ति, होती है = अनुग्राह्य के लिये प्रकट होती है तब वह अनुग्राह्य (पुरुष) दीक्षा को प्राप्त करता है । ज्ञानमयी का अर्थ है—पूर्वोक्त एवं वक्ष्यमाण समस्त अध्वा को प्रमेय बनाने से प्राप्त परप्रमाता पद में अनुप्रवेश की अभिव्यक्ति को देने वाली । शुभा = जीवन्मुक्ति देने वाली । 'ज्ञानमयीं' कहने से क्रियादीक्षा का भी तत्त्व ज्ञान ही है—यह बतलाते हैं (मन्त्रयोगात्मिका का अर्थ है—) मनन और त्राण धर्म वाले मन्त्र के साथ योग = एकता, है जिसमें, ऐसी । दीक्षा में मन्त्र की आराधना के कारण उसके (= मन्त्र एवं मन्त्राधिष्ठातृदेवता के) साथ तादात्म्य हो जाता है । दिव्य = वैष्णव आदि दीक्षाओं से अधिक प्रभावशाली ॥

इस प्रकार ज्ञानमयी दीक्षा को प्राप्त कर—

पश्चात् पशु मोक्ष को प्राप्त होता है ॥ -७०५- ॥

जीवन्मुक्ति प्राप्त करता है । 'पशु' यह मुक्ति के पूर्व वाली अवस्था का अनुवाद है ॥

यदि (साधक) इतने बड़े विश्व के वेद्य वेदन से परे वेदक भूमि पर आरूढ नहीं होता है तो मुक्त नहीं होता—यह कहते हैं—

अन्यथा सैकड़ों ज्ञानों के द्वारा भी साधक मोक्ष को नहीं प्राप्त कर पाता ॥ -७०५ ॥

अतश्च—

यस्य प्रकाशितं सर्वं शिवेनानन्तरूपिणा ।
स एव मोक्षं व्रजति..........

प्रकाशितमित्यनेन भुवनाध्वज्ञानेनाभिव्यक्तिं नीतम् । अनन्तरूपिणाऽशेषशरीरेण ॥

काऽस्य मोक्षप्राप्तिः ?—इत्याह—

..............शिवः सर्वमहेश्वरः ॥ ७०६ ॥

शिव इति प्राप्ताद्वयप्रकाशानन्दघनश्रेयोरूपः, तत एव ब्रह्माद्यनाश्रितान्ताधिष्ठातृत्वात् सर्वेषां महानीश्वरः ॥ ७०६ ॥

किं च—

तेनेदं ज्ञानमुख्यं तु पुरा प्रोक्तं मया तव ।

तेनेति सर्वमहेश्वरात्मकपरस्वरूपेण मया कैलासवासिना (तव) देव्याः परशक्तिरूपायाः पुरा प्रोक्तमित्यनेन परस्वरूपप्रत्यभिज्ञापनया देवीमुन्मिषत्स्वस्थानां

सैकड़ों ज्ञान—जिनका स्वरूप पहले बतलाया जा चुका है (अर्थात् सांख्य, योग आदि के ज्ञान) ॥ ७०५ ॥

इसलिये—

अनन्त रूपी शिव जिस को (यह) सब प्रकाशित कर देते हैं वही मोक्ष (= दीक्षित पुरुष) को प्राप्त करता है ॥ ७०६- ॥

प्रकाशित करते हैं = भुवनाध्वा के ज्ञान के द्वारा (सब तत्त्व को) अभिव्यक्त करते हैं । अनन्तरूपी के द्वारा = अशेष शरीर वाले के द्वारा ॥

इसकी मोक्ष प्राप्ति क्या है ?—यह बतलाते हैं—

वह सर्वमहेश्वर शिव हो जाता है (अथवा शिवस्वरूप होकर सर्वमहेश्वर हो जाता है) ॥ -७०६ ॥

शिव = अद्वय प्रकाशानन्दघन श्रेयोरूप को प्राप्त करने वाला । इसीलिये ब्रह्मा से लेकर अनाश्रित शिव तक के तत्त्वों का अधिष्ठाता होने के कारण वह महान् ईश्वर हो जाता है ॥ ७०६ ॥

और भी—

वह मैंने यह मुख्य ज्ञान पहले तुमको बतलाया ॥ ७०७- ॥

उसके द्वारा = सर्वमहेश्वरात्मक परस्वरूप कैलासवासी मेरे द्वारा । (तुमको) देवी पराशक्ति रूपा को 'पहले बतलाया' इस कथन से देवी को उनके पर स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा के द्वारा उनको अपने स्थान का उन्मेष कराते हैं । इसका स्पष्ट

कुर्वन्नेतद् बृंहयन् प्रोक्तज्ञानदीक्षातो मुक्तः परमेश्वर उमापतिश्चैकं तत्त्वमिति । अतश्च तन्त्रावतारपटलोक्तपरसम्बन्धसारतैव सर्वत्रेति दर्शितं भवति ॥

एतच्च—

संसारार्णवमग्नानां नौरिवोत्तारणं परम् ॥ ७०७ ॥

यत एतत्—

महामायाञ्जनातीतं..........

मायोपरि महामाया सदाशिवादीनामपि समुचितसङ्कोचोत्थापिका शून्यातिशून्यरूपा शक्तिस्तत्कृतमञ्जनमावरणमप्यतीतम् ॥

अत एव—

............अज्ञातं पशुगोचरे ।

पशूनां मायाञ्जितत्वात् ॥

किं चेदम्—

अनन्तं पारमक्षोभ्यं सुबोधं परमेश्वरम् ॥ ७०८ ॥

अभिप्राय यह है कि प्रोक्तज्ञान दीक्षा से मुक्त परमेश्वर और उमापति भगवान् शिव एक ही तत्त्व हैं (भिन्न नहीं) । इसलिये इस तन्त्र के प्रथम पटल में उक्त परसम्बन्ध की तात्त्विक स्थिति सर्वत्र है—यह दर्शित होता है ॥

और यह—

संसार रूपी समुद्र में निमग्न लोगों के लिये नौका के समान उत्कृष्ट उत्तारण (= पार ले जाने वाला साधन) है ॥ -७०७ ॥

क्योंकि यह (ज्ञान)—

महामाया के अञ्जन (= आवरण) से भी परे है ॥ ७०८- ॥

माया तत्त्व के ऊपर महामाया नामक एक तत्त्व है जो सदाशिव आदि के भी अन्दर सङ्कोच उत्पन्न करता है । यह अत्यन्त शून्यरूपा शक्ति है । (यह ज्ञान) उस (महामाया तत्त्व) के द्वारा उत्पन्न अञ्जन अर्थात् आवरण से भी अतीत (= परे ऊपर) है ॥

इसीलिये—

पशु के लिये यह विषय अज्ञात है ॥ -७०८- ॥

क्योंकि पशु माया से जित (= आवृत) हैं ॥

और भी यह (ज्ञान)—

अनन्तं देशकालाकारानवच्छिन्नम् । पारं च मायापर्यन्तात्मकम् । स्वतन्त्रचिदेकघनाकारत्वान्न केनचित् क्षोभणीयमपि तूल्लासनविलापनक्रमेण विश्वक्षोभकम् । सुबोधमिति—

'दिदृक्षयेव सर्वार्थान् यदा व्याप्यावतिष्ठते ।
तदा किं बहुनोक्तेन स्वयमेवावभोत्स्यते ॥' (४।१३)

इति श्रीस्पन्दनिरूपितनीत्या विश्वप्रमेयीकरणेन सुखोपायप्राप्यं स्वप्रकाशस्वस्वरूपात्मकत्वात् । अथ चेदं पारमेश्वरं ज्ञानं शास्त्रं शतकोटिप्रविस्तीर्णत्वादनन्तपारं वाद्यन्तरैः क्षोभयितुमशक्यम् ॥ ७०८ ॥

तदीदृशम्—

परमेशमुखोद्गीर्णं यन्मया प्राप्तमद्भुतम् ।

तत्—

वक्ष्ये ज्ञानामृतमिदं शृणुष्वैकमनाः प्रिये ॥ ७०९ ॥

शृणुष्वेति पुनरपि सावधानत्वग्राहिकयोक्त्या देवीं प्ररोचनायाभिमुखीं कुर्वन्नस्य

अनन्त, पार, अक्षोभ्य, सुबोध और परमेश्वर है ॥ -७०८ ॥

अनन्त = देश काल और आकार से अपरिच्छिन्न । पार = मायापर्यन्त (अर्थात् माया की अन्तिम सीमा तक) । स्वतन्त्र चिदेकघन रूप होने के कारण किसी के भी द्वारा क्षोभणीय नहीं है वरन् उल्लासन (= प्रकटन) और विलापन (= तिरोभवन) के क्रम से विश्व का क्षोभक है । यह सुबोध—

'जब समस्त अर्थों के देखने की इच्छा से योगी उनको व्याप्त कर लेता है तब यह स्वयं जान जाता है इससे अधिक कहने से क्या लाभ ।' (स्प.का. ४।१३)

श्रीस्पन्दकारिका द्वारा निरूपित इस नीति के अनुसार विश्व को प्रमेय बना लेने से सुखपूर्वक प्राप्य, है क्योंकि इसका अपना स्वरूप स्वप्रकाश है । इसके अतिरिक्त यह पारमेश्वर ज्ञान अर्थात् शास्त्र सौ करोड़ (श्लोकों में अथवा सौ करोड़ रूप में) विस्तीर्ण होने से, अनन्त पार = अन्य वादियों के द्वारा अक्षोभणीय है ॥ ७०८ ॥

तो इस प्रकार का—

परमेश्वर के मुख से निकला जो अद्भुत शास्त्र उसे मैंने प्राप्त किया है ॥ ७०९- ॥

उस—

इस ज्ञानामृत को अब मैं आपसे कहूँगा । हे प्रिये ! एकाग्रमन होकर सुनो ॥ -७०९ ॥

'सुनो'—यह पुनः 'सावधानत्वग्राहिका उक्ति है । इसके द्वारा देवी को पुनः

ज्ञानस्य परमोपादेयतामेव प्रथयति ॥ ७०९ ॥

तत्र—

ऊर्ध्वं वै ब्रह्मणोऽण्डस्य पुरैकादशकं स्थितम् ।
एकादशानां रुद्राणां युगान्ताग्निसमत्विषाम् ॥ ७१० ॥

ऊर्ध्वमिति शतरुद्रपुराण्यतिक्रम्य, एकादशानामपि प्रागुक्तानां श्वेतादीनां वीरभद्रान्तानां युगान्ताग्निसमत्विषामेषामतिदीप्तत्वात् ॥ ७१० ॥

एवं शतरुद्राधिपतेर्वीरभद्रस्य सपरिवारस्य भुवनान्युक्त्वा, तदुपरि श्रीभद्रकालीपुरमाह—

अथोर्ध्वे भुवनं देव्याः कथयामि वरानने ।
इन्द्रनीलमयं दिव्यं समन्तात् परिमण्डलम् ॥ ७११ ॥
तस्मिन् भगवती देवी भद्रकाली व्यवस्थिता ।

सा च तत्र—

वसतीन्दीवरश्यामा स्निग्धकङ्कुष्टसप्रभा ॥ ७१२ ॥
सूर्यमण्डलरूपाभ्यां कुण्डलाभ्यामलङ्कृता ।

प्ररोचन (= भूमिका) के लिये अभिमुख करते हुए (ग्रन्थकार शिव) इस ज्ञान की परम उपादेयता को ही प्रतिष्ठापित करते हैं ॥ ७०९ ॥

इस विषय में—

ब्रह्माण्ड के ऊपर युगान्त अग्नि के समान तेजस्वी ग्यारह रुद्रों के ग्यारह पुर (= भुवन) स्थित हैं ॥ ७१० ॥

ऊर्ध्वशतरुद्रों के भुवनों को पार कर । ग्यारह = पूर्व कथित श्वेतपुर से लेकर वीरभद्रपुर तक । युगान्त अग्नि के समान तेज वाले—क्योंकि ये रुद्र अत्यन्त दीप्तिमान् हैं ॥ ७१० ॥

शतरुद्रों के अधिपति एवं सपरिवार वीरभद्र के भुवनों का वर्णन कर उसके ऊपर श्रीभद्रकाली का पुर अर्थात् भुवन बतलाते हैं—

हे वरानने ! अब इसके ऊपर देवी (= भद्रकाली) के भुवनों का वर्णन कर रहा हूँ । (यह भुवन) नीलमणि (नीलम) का बना हुआ दिव्य एवं चारो ओर से गोल आकार वाला है । उसमें देवी भगवती भद्रकाली विराजमान हैं ॥ ७११-७१२- ॥

और वहाँ वह—

नील कमल के समान (रङ्ग वाली) चिकने कङ्कुष्ट के समान (कान्ति

पौर्णमास्यां यथा सन्ध्या चन्द्रर्काभ्यां विराजते ॥ ७१३ ॥

कङ्कुष्टं रञ्जनद्रव्यविशेषः ॥ ७१३ ॥

अस्याश्च—

राजते च महाहारः स्तनाभ्यामन्तरे स्थितः ।
असिताञ्जनशैलाभ्यां मध्ये स्त्रोतोवहा यथा ॥ ७१४ ॥

'स्तनाभ्याम्' 'शैलाभ्याम्' चेति सहार्थे तृतीये ॥ ७१४ ॥

किं चास्याः—

चतुर्भिश्च धृतं पीठं सिंहैरमितविक्रमैः ।

पीठमासनम् ॥

तत्र च—

सर्ववज्रमये दिव्ये दिव्यरत्नविभूषिते ॥ ७१५ ॥
आसने सुप्रभे देवी जात्यञ्जनसमप्रभा ।
शुक्ले हिमवतः शृङ्गे नीलमेघ इव स्थिता ॥ ७१६ ॥

वाली) जैसे पूर्णमासी के दिन सन्ध्या चन्द्रमा और सूर्य से अलङ्कृत रहती है उसी प्रकार दो सूर्यमण्डलों के समान दो कुण्डलों से अलङ्कृत होकर रहती है ॥ -७१२-७१३ ॥

कङ्कुष्ट = एक विशेष प्रकार का रङ्गने का पदार्थ ॥ ७१३ ॥

और इसके—

स्तनों के बीच शुभ्र हार उसी तरह शोभायमान हो रहा है जैसे दो काले अञ्जन के पहाड़ों के बीच नदी ॥ ७१४ ॥

'स्तनाभ्याम्' और शैलाभ्याम्' दोनों में ही तृतीया विभक्ति सह अर्थ में प्रयुक्त की गयी है ॥ ७१४ ॥

इसके—

आसन को चार अतुल पराक्रमी सिंह धारण किये हुए हैं ॥ ७१५- ॥

पीठ = आसन ॥

वहाँ—

सर्ववज्र (= हीरा) से निर्मित, दिव्य रत्नों से विभूषित प्रभावान् दिव्य आसन पर जात्यञ्जन (= उत्कृष्ट कोटि) के समान कान्ति वाली देवी वैसी ही शोभायमान हो रही है जैसे हिमालय पर्वत की श्वेत चोटी पर

किं च—

सर्वरत्नमयी दिव्या रशनास्याः विराजते ।

इयं च देवी—

पीतमाल्यांशुकवती शर्वरीवारुणोदये ॥ ७१७ ॥

शर्वरी रात्रिः कृष्णा, अरुणोदयसमये संध्यारागरञ्जिता भवति ॥ ७१७ ॥

देव्या रुद्रशक्तित्वात्—

तृतीयं नयनं तस्या ललाटस्थं विराजते ।
उदयस्थ इवादित्यो रश्मिजालविभूषितः ॥ ७१८ ॥

किं च—

उच्छ्रितेनातपत्रेण सा श्वेतेन विराजते ।
कृष्णमेघोपरिस्थेन चन्द्रेणेव विभावरी ॥ ७१९ ॥

एषा च देवतारूपाणाम्—

कोटिकोटिसहस्रेण स्त्रीणां तु परिवारिता ।

नीलमेघ ॥ -७१५-७१६ ॥

और भी—

इसकी करधनी दिव्य और सर्वरत्नमयी शोभायमान है ॥ ७१७- ॥

यह देवी—

अरुणोदय काल में रात्रि के समान पीतवस्त्र और पीतमाला पहनी हुई है ॥ -७१७ ॥

शर्वरी = काली (= कृष्ण पक्ष की) रात । यह अरुणोदय के समय सन्ध्या के राग से रङ्ग उठती है ॥ ७१७ ॥

चूँकि देवी रुद्र की शक्ति है अतः—

उसके ललाट में तीसरा नेत्र विराजमान है जैसे कि किरणों की माला से विभूषित सूर्य उदयाचल पर स्थित हो ॥ ७१८ ॥

और भी—

वह श्वेत वर्ण के ऊपर उठे हुए छत्र से उसी प्रकार शोभायमान है जैसे काले बादल के ऊपर स्थित चन्द्रमा से रात्रि ॥ ७१९ ॥

यह (देवी) देवतारूपी—

करोड़ों हजार स्त्रियों से परिवारित है जैसे कि आकाशतल में नक्षत्रों से

आवृता चन्द्रलेखेव नक्षत्रैस्तु नभस्तले ॥ ७२० ॥

एताश्च—

कुमुदोत्पलवर्णाश्च हेमश्यामाश्च योषितः ।
प्रियंगुकलिकाश्यामाश्चन्द्रगौर्यः सयौवनाः ॥ ७२१ ॥
पद्मावदातरूपिण्यः पीनश्रोणिपयोधराः ।
हावभावविधिज्ञास्तु नृत्तगीतविशारदाः ॥ ७२२ ॥
वीणावेणुमृदङ्गाद्यैर्वंशवादित्रनिःस्वनैः ।
उपासीनास्तु तां देवीं रमन्ते तत्र योषितः॥ ७२३ ॥

हावश्चेष्टालाञ्छनः, भावस्तु तत्तच्चेष्टाद्युदितः सात्त्विको धर्मः ॥ ७२३ ॥

तदेतद्देव्याः सम्बन्धि—

एवं विद्धि जयं नाम भुवनं तु वरानने ।

एषा च सा देवी—

या दुर्गेति स्मृता लोके ब्रह्माण्डोदरवर्तिनी ॥ ७२४ ॥
विष्णुना तपसा पूर्वमाराध्य परमेश्वरम् ।
अवतारिता वधार्थाय महिषस्य महात्मनः ॥ ७२५ ॥

आवृत चन्द्रलेखा ॥ ७२० ॥

और ये—

देवाङ्गनायें कुमुद, उत्पल के रङ्ग की, स्वर्ण के समान श्याम (= ताम्र) वर्ण की, मालकाँगनी की कली के समान काली, चन्द्रमा सी गोरी, यौवन से भरपूर, कमल के समान स्वच्छरूप वाली, बड़े नितम्बों और पयोधरों वाली हैं । हाव भाव की विधि को जानने वाली, नृत्त एवं गीत में विशारद ये स्त्रियाँ पास में बैठ कर वीणा, वेणु, मृदङ्ग आदि तथा वंशी की ध्वनि से देवी को आनन्दित करती रहती हैं ॥ ७२१-७२३ ॥

हाव = शारीरिक चेष्टायें । भाव = उन चेष्टाओं से उत्पन्न हुआ सात्त्विक धर्म ॥ ७२३ ॥

देवी से सम्बद्ध इस—

भुवन को, हे वरानने ! जय नाम वाला समझो ॥ ७२४- ॥

यह वही देवी है—

जो लोक में दुर्गा के नाम से जानी जाती है । ब्रह्माण्ड के उदर में रहने वाली यह देवी प्राचीन काल में विष्णु के द्वारा महेश्वर की तपपूर्वक

महात्मनो महाशरीरस्य ॥ ७२५ ॥

महिषस्य महात्म्यं प्रकटयति—

येन चैकेन शृङ्गेण भगवान् हिमवान् गिरिः।
शुष्कपर्णमिव क्षिप्तः..........

भगवानिति देवतात्मा ॥

सोऽयमीदृशो महिषासुरः—

............भगवत्या विनाशितः ॥ ७२६ ॥

कथमित्याह—

सा तं विनाशयेद् देवी तमः सूर्य इवोत्थितः ।

किं च—

सा देवी सर्वदेवीनां नामरूपैश्च तिष्ठति ॥ ७२७ ॥
योगमायाप्रतिच्छन्ना............

योगात् परतत्त्वैक्यादुत्थिता या माया स्वरूपगोपना, तया प्रतिच्छन्ना स्थगित-

---

आराधना करने के बाद महात्मा महिषासुर के वध के लिये अवतारित की गयी ॥ -७२४-७२५ ॥

महात्मा = विशाल शरीर वाला ॥ ७२५ ॥

महिषासुर की महिमा को बतलाते हैं—

जिस (महिषासुर) ने अपनी एक सींग से भगवान् हिमालय को सूखे पत्ते की भाँति (उठा कर) फेंक दिया था ॥ ७२६- ॥

भगवान् = देवतात्मा ॥

इस प्रकार का वह महिषासुर—

भगवती के द्वारा नष्ट कर दिया गया ॥ -७२६ ॥

कैसे ?—यह कहते हैं—

जैसे उगता हुआ सूर्य अन्धकार को वैसे ही उस देवी ने उसको नष्ट कर दिया ॥ ७२७- ॥

इसके अतिरिक्त—

वह देवी (अपनी) योगमाया से आवृत होकर समस्त देवियों के नाम एवं रूप से स्थित है ॥ -७२७-७२८- ॥

परस्वरूपा । सर्वदेवीनां सम्बन्धिना नामरूपप्रपञ्चेन स्थितेत्यर्थः ॥

किं चैषा ब्रह्माण्डमवतीर्णा सती—

...............कुमारी लोकभाविनी ।

भगवच्छक्तिरेषा परानुपभोग्यत्वात् कुमारीत्वमाश्रित्य स्थिता । तादृशी चासौ लोकान् भावयत्यभीष्टफलेन सफलान् सम्पादयति ॥

इत्थमाकृतियुक्ताप्येषा वस्तुचिन्तायाम्—

अचिन्त्या चाप्रमेया च अन्यत्र परिपठ्यते ॥ ७२८ ॥

अन्यत्रेति तात्त्विके तत्स्वरूपनिरूपणपरे तत्र तत्र शास्त्रे ॥ ७२८ ॥

किं चैषा—

विष्णुना सहिता देवी कल्पे कल्पे पुनः पुनः ।
भगिनीत्वेन चायाति नामरूपविपर्ययैः ॥ ७२९ ॥
मन्वन्तरे मन्वन्तरे तथा चैव युगे युगे ।
रक्षणार्थं हि लोकानां मातेव हितकारिणी ॥ ७३० ॥

योग = परतत्त्व के साथ ऐक्य, इसके कारण उत्पन्न जो माया = स्वरूप का छिपाना, उससे प्रतिच्छन्न = पररूप को स्थगित की हुई । समस्त देवियों के नाम और उनके रूप के विस्तार के साथ स्थित है ॥

और भी यह ब्रह्माण्ड में अवतीर्ण होकर—

कुमारी एवं लोकभाविनी हो गयी ॥ -७२८- ॥

भगवान् की यह शक्ति किसी अन्य के द्वारा उपभोग्य न होने के कारण कुमारी है । इस प्रकार की यह लोगों को भावित करती है = अभीष्टफलप्रदान के द्वारा सफल कर देती है ॥

इस प्रकार आकृति वाली भी यह तत्त्वचिन्ता करने पर—

अचिन्त्य और अप्रमेय है—ऐसा अन्य शास्त्रों में वर्णन है ॥ -७२८ ॥

अन्यत्र = उसके तात्त्विक स्वरूप का निरूपण करने वाले भिन्न-भिन्न शास्त्रों में ॥ ७२८ ॥

यह—

देवी कल्प-कल्प में बार-बार नाम रूप बदल कर विष्णु के साथ बहन के रूप में अवतार लेती है । एक-एक मन्वन्तर अथवा एक-एक युग में यह लोकों की रक्षा के लिये माता के समान हितकारिणी (बन कर अवतरित होती है) ॥ ७२९-७३० ॥

कल्पादिस्वरूपमेकादशे व्यक्तीभविष्यति । नामरूपविपर्ययैरिति नानानामरूपभोगैः ॥ ७३० ॥

उपसंहरति—

इत्याख्यातं तु भुवनं जयं नाम वरानने ।

अतश्च—

तद्भक्तास्तत्र गच्छन्ति तस्या मण्डलदीक्षिताः॥ ७३१ ॥

मण्डलशब्देन तदधिकरणं भुवनं तत्प्राप्त्यर्थम् ॥ ७३१ ॥

तदित्थं दीक्षापूर्वभक्तिक्रमलभ्यमेतत्, नान्यथेत्याह—

न चैतत्तपसा प्राप्यं न यज्ञैर्भूरिदक्षिणैः ।
न दानैर्विविधैश्चापि शक्यं प्राप्तुं वरानने ॥ ७३२ ॥

किन्तु—

प्रसादाद् देवदेवस्य शशाङ्काङ्कितमौलिनः ।
दीक्षां प्राप्य प्राप्नुवन्ति..........

कल्प आदि का रूप ग्यारहवें पटल में स्पष्ट होगा । नामरूपविपर्यय = अनेक नामों अनेक रूपों अनेक भोगों से ॥ ७३० ॥

(इस प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

हे वरानने ! इस प्रकार जय नामक भुवन का वर्णन आपको बतलाया गया ॥ ७३१- ॥

इसलिये—

उसके भक्त उसके मण्डल हेतु दीक्षित होकर वहाँ जाते हैं ॥ -७३१॥

मण्डल शब्द का अर्थ है—उसका अधिकरण (= निवास स्थान) भुवन, उसकी प्राप्ति के लिये ॥ ७३१ ॥

इस प्रकार यह मण्डल दीक्षापूर्वक भक्ति के क्रम से प्राप्य है, अन्यथा नहीं—यह कहते हैं—

हे वरानने ! यह मण्डल न तपस्या, न प्रभूतदक्षिणा वाले यज्ञों और न अनेक प्रकार से दान के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है ॥ ७३२ ॥

किन्तु—

शशाङ्क से अङ्कित मौलि वाले देवाधिदेव भगवान् शङ्कर की कृपा से दीक्षा प्राप्त कर (भक्त जन इस जय लोक को) प्राप्त करते हैं ॥ ७३३- ॥

जयमित्यनुवर्तते ॥

न चैतज्ज्ञानप्राप्तिमेव दीक्षिताः, अपि तु—

.............मण्डलं चक्रवर्तिनाम् ॥ ७३३ ॥

मन्त्रमन्त्रेश्वरादीनामपि मण्डलमेतद्दीक्षातः प्राप्नुवन्ति । मण्डले इति सप्तमीपाठे प्राप्तिर्भवतीति योजना कार्या ॥ ७३३ ॥

न च केवलं दीक्षितेभ्यो देवी स्वमण्डलप्राप्तिं विद्येशपदप्राप्तिं च ददाति, यावत्—

निर्बीजदीक्षया मोक्षं ददाति खलु देहिनाम् ।

निर्बीजदीक्षया मोक्षं ददाति, किमङ्ग सबीजया ॥

यतः—

सा मुक्तिदीक्षा परमा विधिवत् परिकीर्तिता ॥ ७३४ ॥

विधिवदिति समयपाशशुद्ध्यन्तेन विधिनेत्यर्थः ॥ ७३४ ॥

किं च—

विद्येशावरणे दीक्षा यावती क्रियते नृणाम् ।

'जय' का (पीछे के श्लोक से) अनुवर्तन किया जाता है ॥

दीक्षित जन केवल इस ज्ञान की प्राप्ति ही नहीं वरन्—

चक्रवर्त्तियों के मण्डल को भी (प्राप्त करते हैं) ॥ -७३३ ॥

उस दीक्षा से (दीक्षित जन) मन्त्र, मन्त्रेश्वर आदि (= मन्त्रमहेश्वर) के मण्डल को भी प्राप्त करते हैं । ('मण्डलम्' की जगह) 'मण्डले' ऐसा सप्तम्यन्त पाठ होने पर (भक्तजनों की) मण्डल में प्राप्ति (= गति) होती है—ऐसा अन्वय करना चाहिये ॥ ७३३ ॥

देवी दीक्षितों को केवल अपने मण्डल या विद्येश पद की प्राप्ति ही नहीं कराती बल्कि—

निर्बीज दीक्षा के द्वारा जीवों को मोक्ष भी देती है ॥ ७३४- ॥

निर्बीज दीक्षा से मोक्ष देती है फिर सबीज दीक्षा के द्वारा (मोक्ष देने की बात ही) क्या ॥

वह परम और विधिवत् मुक्तिदीक्षा कही गयी है ॥ -७३४ ॥

विधिवत् = समय पाश की शुद्धि जिसके अन्त में है उस विधि से ॥ ७३४ ॥

और भी—

तावतीं गतिमाप्नोति भुवनेऽत्र वरानने ॥ ७३५ ॥

यावती यादृशभोगप्रापिका । आप्नोतीत्यर्थाद् दीक्षितः । 'यावतीं कुरुते' इति तु स्पष्टः पाठः । अत्रेति श्रीभद्रकालीभुवने ॥ ७३५ ॥

अथैतद्भद्रकालीभुवनादूर्ध्वम्—

भुवनानि तदीशांश्च संस्थानानि यथाक्रमम् ।
कथयिष्यामि ते सर्वं शृणुष्वैकमनाः प्रिये ॥ ७३६ ॥

संस्थानानि भुवनसन्निवेशाः ॥ ७३६ ॥

भद्रकाल्याः परो देवो रुद्रक्रोधसमुद्भवः ।
कोटिमात्रेण देवेशि युगान्ताग्निसमप्रभः ॥ ७३७ ॥
युगान्ताम्बुदवृन्दोत्थगर्जितध्वनिनिःस्वनः ।
शतबाहुर्महातेजा दिव्याभरणभूषितः ॥ ७३८ ॥
शिरसीन्दुधरः श्यामो नीलाञ्जनसमद्युतिः ।
शिखिकण्ठनिभः किञ्चित्किञ्चिदापाण्डुलोहितः ॥ ७३९ ॥
चाषजीमूतवर्णश्च अतसीपुष्पसन्निभः ।

हे वरानने ! विद्येश्वर के आवरण में मनुष्यों की जिस मात्रा में दीक्षा की जाती है, इस भुवन में वह उतनी ही गति को प्राप्त करता है ॥ ७३५ ॥

जितनी = जिस प्रकार के भोगों को दिलाने वाली । प्राप्त करता है अर्थात् दीक्षित व्यक्ति । ('यावती क्रियते' के स्थान पर) 'यावतीं कुरुते' पाठ होने पर अर्थ और स्पष्ट हो जाता है । यहाँ = श्रीभद्रकाली के भुवन में ॥ ७३५ ॥

अब भद्रकाली के इस भुवन के ऊपर स्थित—

भुवनों, उनके स्वामियों और संस्थानों सबको अब मैं तुम्हें क्रमानुसार बतलाऊँगा । हे प्रिये ! एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ ७३६ ॥

संस्थान = भुवनों का सन्निवेश ॥ ७३६ ॥

हे देवेशि ! भद्रकाली के भुवन के ऊपर रुद्र के क्रोध से उत्पन्न देव (वीरभद्र) विराजमान् हैं । ये करोड़ों युगान्त अग्नि के समान प्रभा वाले हैं । इनकी आवाज युगान्त में उत्थित बादलों के समूह से उत्पन्न गर्जन की ध्वनि जैसी है । एक-सौ भुजावाले अत्यन्त तेजस्वी ये दिव्य आभरणों से अलंकृत हैं । शिर पर चन्द्रमा को धारण करने वाले ये श्यामवर्ण के हैं । इनकी कान्ति नील अञ्जन के समान है । मयूर के कण्ठ के समान कुछ पीला कुछ लाल चाष (= एक पक्षी जो एक वर्ण मात्रा का उच्चारण करता है) एवं बादल के समान ये अलसी के पुष्प

इन्द्रनीलनिभः किञ्चित्किञ्चिद्भृङ्गनिभाकृतिः ॥ ७४० ॥
जात्यञ्जननिभाकारो रुद्रैकादशिकान्वितः ।

रुद्रैकादशिका—

'अत्र चाङ्गारकः सर्पिनैर्ऋतः' (१०।४९०)

इत्यादिना या पूर्वमुक्ता, सैवेह पररूपेण स्थिता ॥

किं च—

युतं कोटिसहस्रेण रुद्राणां च महात्मनाम् ॥ ७४१ ॥
भुवनं तस्य देवस्य विजयं नाम विश्रुतम् ।
इन्द्रनीलनिभं दिव्यं सर्ववज्रनिभं महत् ॥ ७४२ ॥

वज्रनिभत्वं सारप्रकर्षात् ॥

अत्र च—

दशकोटिसहस्राणि रुद्राणां वरवर्णिनि ।

मुख्यानि स्थितानि ॥

एतच्च भुवनम्—

की भाँति कान्ति वाले हैं । इन्द्रनीलमणि तथा कुछ भ्रमर की आकृति वाले तथा जात्यञ्जन के समान आकार वाले ये वीरभद्र ग्यारह रुद्रों से आवृत रहते हैं ॥ ७३७-७४१- ॥

ग्यारह रुद्रों की मण्डली—

'यहाँ अङ्गारक, सर्पि, नैर्ऋत....... । (स्व.तं. १०।४९०)

इत्यादि के द्वारा जो पहले कही गयी वही यहाँ पर रूप में स्थित है ॥

और भी—

उस देव का विख्यात विजय नामक भुवन एक हजार करोड़ महारुद्रों से आवृत है । यह भुवन इन्द्रनीलमणि के समान (वर्ण वाला), दिव्य और समस्त वज्र के समान (कठोर) है ॥ -७४१-७४२ ॥

वज्रनिभ होना—दृढ़ता के प्रकर्ष के कारण कहा गया ॥

और यहाँ—

हे वरवर्णिनि ! दश हजार करोड़ मुख्य रुद्र स्थित हैं ॥ ७४३- ॥

मुख्य रुद्र स्थित हैं—यह जोड़ना चाहिये ॥

और यह भुवन—

अन्तर्भुवनसङ्घातैरन्यैश्च परिवारितम् ॥ ७४३ ॥
नीलोत्पलदलश्यामैः शिखिकण्ठनिभैस्तथा।

अन्यच्च—

रुद्रैर्दिव्यैर्महावीर्यैः समन्तात् परिवारितम् ॥ ७४४ ॥

प्रधानानामपि प्रधानभूतैरित्यर्थः ॥ ७४४ ॥

किं च—

स्तुतिभिर्मङ्गलैर्गीतैर्नृत्तवादित्रवादितैः ।
पणवैर्वेणुवीणाभिर्भेरीझल्लरिगोमुखैः ॥ ७४५ ॥
पटहैः काहलैश्चैव शङ्खदुन्दुभिपीलुकैः ।
मृद्दलैस्तट्टरीभिश्च तालकैर्मुरजैस्तथा ॥ ७४६ ॥
मौन्दकाहलटङ्कैश्च तमिलद्रघटादिभिः ।
वादित्रैर्वल्गितैस्तालै रोटनैर्मुखमृद्दलैः ॥ ७४७ ॥
भूतैर्भूतगणै रुद्रैर्जल्पितैः पठितैस्तथा।
ध्यायद्भिश्च जपद्भिश्च धावद्भिश्चेष्टितैस्तथा ॥ ७४८ ॥
मयूरकोकिलारावान् मुञ्चद्भिश्च तथापरैः।

अपने अन्दर वर्त्तमान भुवनसमूहों तथा नीलकमल दल के समान एवं मयूर के कण्ठ के समान (वर्ण वाले) अन्य भुवनों से परिवारित है ॥ -७४३-७४४- ॥

इसके अतिरिक्त—

यह महावीर्यवान् दिव्य रुद्रों से चारो ओर घिरा हुआ है ॥ -७४४ ॥

अर्थात् ये रुद्र प्रधानरुद्रों में भी प्रधान हैं ॥ ७४४ ॥

तथा—

(इस भुवन में) युगान्त अग्नि के समान कान्तिवाले महा तेजस्वी भगवान् वीरभद्र की उपासना (नाना प्रकार से नाना प्रकार के लोगों के द्वारा) की जाती है । स्तुति, मङ्गलगीत, नृत्त, वाद्यों के बजाने से, पणव, वंशी, वीणा, भेरी, झल्लरी, गोमुख, नगाड़ा, काहल, शङ्ख, दुन्दुभि, पीलु, मृद्दल, तट्टरी, तालक, मुरज, मौन्दकाहल, टङ्क, तमिलद्रघट आदि वादित्रों से, वल्गित (= मुख की आवाज) से, करताल से, रोटन, मुख मृद्दल के द्वारा भूत भूतगण रुद्र इनकी पूजा करते रहते हैं । वे जल्पन, पठन, ध्यान, जप, धावन, नाना चेष्टाओं से पूजा करते हैं । कुछ रुद्र मयूर का कुछ कोकिल का शब्द उच्चारण कर, दूसरे लोग अनेक ध्वनि

नानारुतविलासैश्च विकुर्वद्भिर्महात्मभिः ॥ ७४९ ॥
आवृतस्तैर्महातेजा मयूखैरिव भास्करः ।
गजवक्त्रैः सिंहवक्त्रैरश्ववक्त्रैः शुभाननैः ॥ ७५० ॥
गोकर्णैर्गोमुखैश्चान्यैर्द्वीपिऋक्षमुखैस्तथा ।
व्याघ्रवानरवक्त्रैश्च भगवान् पर्युपास्यते ॥ ७५१ ॥
वीरभद्रो महातेजा युगान्ताग्निसमप्रभः ।

पीलुकमृद्दलतमिलद्रघटादयो वाद्यविशेषा इह प्रसिद्धाः । तृतीयाश्चैता यथायोगमित्थम्भूतलक्षणे कर्तरि करणे हेतौ च योज्याः ॥

किं च—

आसनं तस्य देवस्य सर्ववज्रमयं महत् ॥ ७५२ ॥
दशयोजनविस्तीर्णं चतुरस्त्रानलप्रभम् ।
राजतेऽत्राष्टभिः सिंहैर्वृतं भीमपराक्रमैः ॥ ७५३ ॥

चतुरस्त्रानलप्रभमिति कर्मधारयः । अत्रेति विजयाख्ये पुरे ॥ ७५३ ॥

एतद्येषां यथोपपत्ति स्थानम्, तान् दर्शयति—

अत्र ते पुण्यकर्माणः...........

के विकास से अर्चना करते हैं । किरणों से सूर्य के समान यह महातेजस्वी वीरभद्र इन महात्मा रुद्रों से आवृत हैं । इनमें गजवक्त्र, सिंहमुख, अश्वमुख, गोकर्ण, गोमुख, द्वीपी (= गैंडे) के मुख वाले, ऋक्ष (= भालू) के मुख वाले, व्याघ्रवक्त्र, वानरमुखक्त्र रुद्रों के द्वारा ये अहर्निश उपासित होते हैं ॥ ७४५-७५२- ॥

पीलुक, मृद्दल, तमिलद्रघट आदि विशेष प्रकार के वाद्य इस लोक में प्रसिद्ध हैं । (उपर्युक्त 'स्तुतिभिः' आदि में) तृतीया विभक्ति का प्रयोग 'इत्थम्भूतलक्षणे' (पा. सू. २।३।२१) कर्तृकरणयोस्ततीया (पा.सू. २।३।१८) और हेतौ (पा.सू. २।३।२३) से यथायोग समझनी चाहिये ॥

और भी—

उस देव का आसन विशाल एवं सर्ववज्रमय है । यह दश योजन विस्तीर्ण चौकोर और अग्नि के समान प्रभा वाला है । भयङ्कर पराक्रम वाले आठ सिंहों से आवृत यह यहाँ शोभायमान है ॥ -७५२-७५३ ॥

चतुरस्त्रानलप्रभम्—यहाँ कर्मधारय समास है (—चतुरस्त्रं च अनलप्रभं चेति) यहाँ = विजय नामक भुवन में ॥ ७५३ ॥

यथा योग्य जिनका यह स्थान है, उनको दिखलाते हैं—

जायन्ते ॥

के—

..............ये स्मरन्ति महेश्वरम् ।
जले मरुत्स्वथाग्नौ वा शिरश्छेदेन वा मृताः ॥ ७५४ ॥
ये यान्ति चैश्वरं बोधं वीरभद्रं महाद्युतिम् ।

मरुत्सु महावात्यासु । मरुष्विति पाठे महापथेषु महेश्वरं स्मरन्ति, मृताश्च ये तथा भगवत्पादपूजार्थं शिरश्छेदेन ये वा मृताः संग्रामे शिरश्छेदेन, महेश्वरं स्मरन्तो मृतास्त एतत्स्थानं लभन्ते । महेश्वरस्मरणं विना तु ये जलादौ मृतास्ते पूर्वोक्तं वैद्युतं वायुपथमिति विभागः ॥

अथ—

भुवनस्यास्य देवेशि ह्युपर्यावरणं महत् ॥ ७५५ ॥
अम्मयं तु घनं चापि शक्रचापमिव स्थितम् ।
वितानमिव तद्भद्रमन्तरे समवस्थितम् ॥ ७५६ ॥

घनमतीव आश्यानम् । भद्रं रम्यम् । अन्तर इति जयविजयादिभुवनानां तेज-

---

यहाँ वे पुण्यकर्मा जन्म लेते हैं ॥ ७५४- ॥

उत्पन्न होते हैं ॥

वे कौन हैं ?—

जो जल, मरुत, अग्नि में या शिर कटने से मरते समय महेश्वर का स्मरण करते हैं वे महाद्युति ऐश्वर बोध वीरभद्र को प्राप्त होते हैं ॥ -७५४-७५५- ॥

मरुत् = भयङ्कर आँधी । 'मरुषु' ऐसा पाठ होने पर महापथ (= श्मशान) में महेश्वर का स्मरण करते हैं और भगवान् के चरणों की पूजा करते हुए मरते हैं या उनकी पूजा के लिये शिर को काट देने अथवा संग्राम में शिर कट जाने से मरते हैं वे, अथवा महेश्वर का स्मरण करते हुए जो मर जाते हैं वे इस स्थान को प्राप्त करते हैं । जो लोग महेश्वर के स्मरण के बिना जल आदि में मरते हैं (अथ च महेश्वर भक्त हैं वे) पूर्वोक्त वैद्युत वायुपथ को (प्राप्त होते हैं)—यह विभाग है ॥

इसके बाद—

हे देवेशि ! इस (विजय नामक भुवन) के ऊपर बहुत बड़ा जलमय आवरण है । वह सघन और इन्द्रधनुष की भाँति स्थित है । वितान के समान यह सुन्दर आवरण (दोनों के) बीच में स्थित है ॥ -७५५-७५६ ॥

घन = अत्यधिक आश्यान अर्थात् सघन । भद्र = रमणीय । बीच में—जय

स्तत्त्वस्य च ॥

तत्र चास्ते महात्मासावङ्गुष्ठाग्रप्रमाणकः ।

भगवान् रुद्रो ध्यायिनां ध्यानाय सूक्ष्मरूपमाश्रित्य प्रभावातिशयशाली तत्र स्थितः ॥

यथा च ब्रह्माण्डस्योर्ध्वकर्परिका कोटियोजना, तथाऽऽप्यावरणकर्परिकापीत्याह—

तत्र योजनकोटिर्वै विष्कम्भादूर्ध्वमुच्यते ॥ ७५७ ॥

तत्रेत्यावरणकर्परिकाभागे । विष्कम्भाद् घनत्वादूर्ध्वमुच्यत इत्यावरणकर्परिकेत्यर्थात् ॥

अतश्च—

तिर्यक्त्रिगुणविस्तारमाप्यमावरणं प्रिये ।

शतकोटिविस्ताराद् ब्रह्माण्डाद् दशगुणं यदाप्यमावरणं सहस्रकोट्युन्मानमुक्तम्, 'तत्सर्वं त्रिगुणेनोह्यं' इति नीत्या त्रिसहस्रकोटिपरिमाणमित्यर्थः, न तु कर्परिकाघनतानुसारेण त्रिगुणविस्तारत्वं योज्यम्, आसमञ्जस्यापत्तेः ॥

विजय आदि भुवनों तथा तेजस् तत्त्व के ॥

उस (जलमय आवरण) में यह महात्मा रुद्र अंगुष्ठ के अग्र भाग के परिमाण का रूप धारण कर रहते हैं ॥ ७५७- ॥

ध्यान करने वालों के ध्यान के लिये भगवान् रुद्र सूक्ष्म किन्तु अतिशय प्रभावशाली रूप धारण कर वहाँ रहते हैं ॥

जिस प्रकार ब्रह्माण्ड का ऊपर का कपाल एक करोड़ योजन (विस्तृत) है उसी प्रकार इस आवरण की कर्परिका भी (उतनी ही) है—यह कहते हैं—

वहाँ सघन कर्परिका भी एक करोड़ योजन ऊपर है ॥ -७५७ ॥

वहाँ = आवरणकर्परिका भाग में । विष्कम्भ = सघनता के कारण । ऊपर कही जाती है—अर्थात् आवरणकर्परिका (ऊपर कही जाती है) ॥

इसलिये—

हे प्रिये ! आप्य (= जलीय) आवरण तिर्यक् तीन गुना विस्तार वाला होता है ॥ ७५८- ॥

एक सौ करोड़ योजन विस्तार वाले ब्रह्माण्ड से दश गुना जो जल का आवरण एक हजार करोड़ योजन उन्मान वाला कहा गया 'वह सब तीन गुना ऊह्य है'—इस नीति से तीन हजार करोड़ योजन परिमाण वाला समझना चाहिये । न कि कर्परिका की सघनता के अनुसार तीन गुना विस्तार की योजना करनी चाहिये,

अतश्च—

आवृतं तेन तत्सर्वं महाम्भोधिविसारिणा ॥ ७५८ ॥

तेनेत्याप्यावरणेन ॥ ७५८ ॥

किमावृतम् ?—इत्याह—

रुद्राण्ड इति विख्यातं रुद्रलोक इति प्रिये ।

वीरभद्रादिवीराश्रयत्वाद् रुद्राण्ड इति रुद्रलोक इति चागमेषु ख्यातं पुरजातमाप्यावरणेनावृतमित्यर्थः ॥

एतदेव विभजति—

वीरभद्रनिकेतश्च भद्रकाल्यालयस्तथा ॥ ७५९ ॥
त्रयोदशभिरन्यैश्च भुवनैरुपशोभितम् ।

वीरभद्रनिकेतो भद्रकाल्यालय इत्यादिप्रागुक्तरुद्रभुवनैकादशकेन सह त्रयोदशभिः, अन्यैश्च धरित्र्यादिभिर्भुवनैर्वक्ष्यमाणैर्भ्राजमानम् ॥

एतच्च—

नानारुद्रगणैर्दिव्यैर्निरन्तरमलङ्कृतम् ॥ ७६० ॥
अण्डं वै वीरभद्रस्य ब्रह्माण्डसदृशं प्रिये ।

क्योंकि ऐसा करने पर सङ्गति नहीं बैठेगी ॥

इसलिये—

महासागर के समान विस्तृत उसके द्वारा वह सब आवृत है ॥ -७५८ ॥

उसके द्वारा = जलीय आवरण के द्वारा ॥ ७५८ ॥

किसका आवरण किया गया—यह कहते हैं—

हे प्रिये ! वह रुद्राण्ड है जो रुद्रलोक (के नाम से) प्रसिद्ध है ॥७५९-॥

वीरभद्र आदि वीरों का आश्रय होने के कारण रुद्राण्ड और आगमों में रुद्रलोक के नाम से विख्यात है । यह भुवनों का समूह जलीय आवरण से आवृत है ॥

इसका विभाग करते हैं—

(यह रुद्राण्ड) वीरभद्रनिकेत, भद्रकाल्यालय तथा (पूर्वोक्त ग्यारह भुवनों के साथ जोड़ कर) तेरह एवं अन्य भुवनों से उपशोभित है ॥-७५९-७६०-॥

वीरभद्रनिकेत एवं भद्रकाली का गृह, इनके साथ पूर्वोक्त ग्यारह रुद्र भुवनों को लेकर तेरह, एवं अन्य वक्ष्यमाण धारित्री आदि भुवनों से शोभायमान है ॥

और—

वीरभद्रस्याण्डमिति प्राधान्यात् । ब्रह्माण्डसदृशं चतुर्दशविधभूतसर्गाश्रयनानाभुवनपरिष्कृत वात् ॥

यदुक्तमन्यैश्च भुवनैरिति, तत्स्फुटयति—

अतः परं प्रवक्ष्यामि धरित्र्या भुवनं महत् ॥ ७६१ ॥
धात्री यस्मिन् भगवती धरालोके सनातनी ।

धत्ते सर्वमिति धात्री आकृतिमती भगवच्छक्तिः ॥

एषा हि—

हैरण्यमतुलं प्राप्ता आधारं यत्र संस्थिता ॥ ७६२ ॥

आधारमिति भुवनम् ॥ ७६२ ॥

कीदृशम्—

चक्रवर्तिविमानैश्च बहुभिः परिवारितम् ।
आवृतं भूतसङ्घातैराचार्यैस्तत्परायणैः ॥ ७६३ ॥
दिव्यगीतनिनादाढ्यैर्वादित्रशतनिःस्वनैः ।

हे प्रिये ! वीरभद्र का यह अण्ड अनेक दिव्य रुद्रगणों से निरन्तर अलङ्कृत तथा ब्रह्माण्ड के सदृश हैं ॥ -७६०-७६१- ॥

वीरभद्र का अण्ड—प्रधान होने के कारण (इसका नाम लिया गया) । ब्रह्माण्डसदृश—चौदह प्रकार की भूतसृष्टि के आश्रयभूत अनेक भुवनों से परिष्कृत होने के कारण ॥

पहले जो कहा गया—'अन्य भुवनों से'—उसको स्पष्ट करते हैं—

इसके बाद मैं धरित्री के महान् भुवन को बतलाऊँगा जिसमें धरालोक भगवती सनातनी धात्री विराजमान है ॥ -७६१-७६२- ॥

जो सबको धारण करती है वह धात्री है अर्थात् भगवान् की वह शक्ति जो (धरती का) आकार धारण की हुई है ॥

यह—

हिरणमय अतुल आधार को प्राप्त है । वहीं यह (शक्ति) स्थित है ॥ -७६२ ॥

आधार = भुवन ॥ ७६२ ॥

(यह आधार) कैसा है—(यह बतलाते हैं—)

(यह) अनेक चक्रवर्त्ती विमानों से परिवारित है । दिव्य गीतों के निनाद से सम्पूरित तथा सैकड़ों वाद्यों की ध्वनि वाले रुद्र सम्बन्धी अन्तर्भुवनों के

अन्तर्भुवनसङ्घातै रुद्राणां परिवारितम् ॥ ७६४ ॥

चक्रवर्तिनोऽत्र महापुण्यभाजो गीर्वाणादयः । भूतसङ्घैरिति चतुर्दशभिः । आचार्यैस्तत्परायणैरिति पार्थिवधारणासिद्धैर्योगिरूपैरित्यर्थः । पारमेश्वरी मूर्तिरिषेति कृत्वैतद्भुवनं रुद्रभुवनैः परिवृतम् ॥ ७६४ ॥

भुवनस्यास्य मध्ये तु उदयादित्यसंनिभः ।
रक्तोत्पलनिभो दिव्य अशोकस्तबकच्छविः ॥ ७६५ ॥
पद्मरागमयो दिव्यः प्रासादो बहुभूमिकः ।

प्रासादो देवगृहम् । बहुभूमिक इति शिखरवर्तनागतनानाभूमिकायुक्तः ॥

तस्य मध्ये भगवती धरित्री लोकधारिणी ॥ ७६६ ॥
मालया रक्तपुष्पस्य लम्बया नित्यभूषिता ।
चन्द्रार्कमण्डलाकारकपोलतलभूषिता ॥ ७६७ ॥
पीतहेमांशुकवती महाहारविभूषिता ।
शतयोजनविस्तीर्णे कूर्मपृष्ठे व्यवस्थिता ॥ ७६८ ॥
चतुर्वक्त्रा चाष्टभुजा दिव्याभरणभूषिता ।

पीतहेम्ना कृतमंशुकं प्रशस्तवस्त्रं यस्याः ॥

समूह से परिवारित है ॥ ७६३-७६४ ॥

यहाँ चक्रवर्त्ती का अर्थ है—महापुण्यशाली देवता आदि । भूतसङ्घ = चौदह की संख्या वाले । तत्परायण आचार्य = पार्थिव धारणा में सिद्ध योगीस्वरूप (आचार्य) । यह (धरित्री) परमेश्वर की मूर्त्ति है—यह मानकर यह भुवन रुद्रभुवनों से परिवृत है ॥ ७६४ ॥

इस (पार्थिव) भुवन के मध्य पद्मराग से बना हुआ अनेक भूमिका वाला दिव्य प्रासाद है जो उदयकालीन सूर्य के समान, रक्त कमल की भाँति तथा अशोक वृक्ष के (कोंपल के) गुच्छे के समान है ॥७६५-७६६-॥

प्रासाद = देवालय । अनेक भूमिका वाला—शिखर की वर्त्तना में स्थित अनेक छोटी-छोटी भूमियों से युक्त ॥

उसके मध्य में लोकधारिणी भगवती पृथिवी विराजमान है । वह लालफूलों की लम्बी माला से नित्य विभूषित है । चन्द्र मण्डल एवं सूर्य-मण्डल के कपोलतल से अलंकृत वह पीले सुवर्णांशुक एवं महाहार से विभूषित है । चार मुख और आठ भुजा वाली यह देवी दिव्य आभूषणों से भूषित होकर एक-सौ योजन विस्तीर्ण कूर्मपीठ पर स्थित है ॥-७६६-७६९-॥

पीत स्वर्ण से बनाया गया है अंशुक = प्रशस्तवस्त्र जिसका वह ॥

किं च—

रुपयौवनसम्पन्ना नृत्तगीतविशारदाः ॥ ७६९ ॥
परिवार्योपासते तां दिव्या वै मानसाः स्त्रियः ।

तस्यास्ता मनस उद्भूताः ॥

काः ? कियत्यश्च ?—इत्याह—

त्रिंशत्कोट्यस्तु तासां वै दिव्याभरणभूषिताः ॥ ७७० ॥
उत्पादितास्तु शर्वेण तदर्थं हितमिच्छता ।

शर्वेण धरामूर्तीश्वरेण स्वस्या मूर्तेर्धरित्र्या हितार्थं विनोदायैता मनसा निर्मिता इत्यर्थः ॥

किं चैताः—

तप्तजाम्बूनदनिभा दिव्याभरणशोभिताः ॥ ७७१ ॥
उच्छ्रितेनातपत्रेण ध्रियमाणेन शोभिताः ।

किं च—

पुरःस्थितो महातेजा योऽसौ मेरुर्महागिरिः ॥ ७७२ ॥
उपासीनस्तु तां देवीं तत्रास्ते स नगाधिपः ।

तथा—

रूप और यौवन से सम्पन्न, नृत्त गीत में विशारद दिव्य मानस स्त्रियाँ उसको परिवारित कर उपासना करती रहती हैं ॥ -७६९-७७०- ॥

वे (= स्त्रियाँ) उस के (= धरित्री के) मन से उत्पन्न हैं ॥

वे कौन और कितनी हैं ?—यह कहते हैं—

ये तीस करोड़ हैं और दिव्य आभूषणों से भूषित हैं । शर्व ने उसका हित चाहते हुए उसके लिये (इनको) उत्पन्न किया ॥ -७७०-७७१- ॥

शर्व ने = धरामूर्त्तिधर के ईश्वर ने । अपनी मूर्त्ति अर्थात् धरित्री के हित = विनोद, के लिये इनकी रचना अपने मन से की ॥

साथ ही ये (स्त्रियाँ)—

तप्त सुवर्ण के समान कान्तिवाली तथा दिव्य आभरण से शोभित हैं । (हाथों से) पकड़े गये उठे हुए छत्र से ये शोभित हैं ॥ -७७१-७७२- ॥

तथा—

यह जो महातेजस्वी सुमेरु नामक महान् पर्वत सामने स्थित है वह

शिर:पाण्याद्याकृतिमानित्यर्थ: ॥

तथा—

नीलोत्पलदलश्यामो नीलजीमूतसंनिभ: ॥ ७७३ ॥
नीलो नाम महाशैल: पीतवासा महाद्युति: ।
अतिकान्तेन रूपेण कैटभारिरिवापर: ॥ ७७४ ॥
उपास्यमानो दिव्याभिर्नगरीभिर्नगाधिप: ।
तस्योत्तरे चन्द्रनिभो नानालङ्कारभूषित: ॥ ७७५ ॥
श्वेतातपत्री तेजस्वी श्वेतो नाम महागिरि: ।
तस्योत्तरेण सूर्याभो मुकुटादिविभूषित: ॥ ७७६ ॥
पीताम्बरधर: श्रीमान् शृङ्गवानिति विश्रुत: ।
अतिकान्तेन रूपेण कुसुमास्त्र इवापर: ॥ ७७७ ॥

आद्यस्तस्योत्तर इति शब्द: काकाक्षिवद् मेरोरुत्तरे नील:, तस्याप्युत्तरे श्वेत इति योज्य: ॥

किं चास्य मेरो:—

दक्षिणेनापि वक्ष्यामि शृणुष्वावहिता प्रिये ।

पर्वतराज उस देवी की उपासना करता हुआ वहाँ स्थित है ॥-७७२-७७३-॥

यह पर्वत शिर हाथ आदि आकृति वाला है ॥

तथा—

उस (सुमेरु) के उत्तर में नीलकमल दल के समान श्याम, नीलमेघ जैसा नील नामक महापर्वत है । यह पीतवस्त्र धारण किये हुए महाद्युतिमान् है । अत्यन्त मनोहर रूप से दूसरे विष्णु के समान स्थित यह नगराज दिव्य नगरियों से निरन्तर उपास्यमान है । उस (नीलगिरि) के उत्तर में श्वेत नामक महापर्वत है जो चन्द्रमा के समान तथा अनेक अलङ्कारो से भूषित है । यह तेजस्वी पर्वत श्वेत छत्र से युक्त है । उसके उत्तर में शृङ्गवान् नामक पर्वत है जो सूर्य के समान कान्तिवाला, मुकुट आदि से अलंकृत, पीताम्बरधारी है । अत्यन्त मनोरम रूप के कारण यह दूसरे कामदेव के समान है ॥ -७७३-७७७ ॥

पहला 'तस्योत्तरे' शब्द की काकाक्षिगोलकन्यायेन उस = मेरु के उत्तर में नील और उस (= नील) के उत्तर में श्वेत है—ऐसी योजना करनी चाहिये ॥

इसके अतिरिक्त इस मेरु के—

दक्षिण में (स्थित पर्वतों को) बतलाऊँगा । हे प्रिये ! अब आप ध्यान

आकृतिमत: पर्वतान् स्थितानिति शेष: ॥

तान् क्रमेणाह—

चन्द्रावदातदीप्तौजा दिव्याभरणभूषित: ॥ ७७८ ॥
शुक्लाम्बरधर: श्रीमान् निषधो नाम विश्रुत: ।
तप्तहेमप्रतीकाशो दिव्याभरणभूषित: ॥ ७७९ ॥
अतिशुभ्रेण देहेन पितामह इवापर: ।
पीताम्बरधर: श्रीमान् पीतमाल्यानुलेपन: ॥ ७८० ॥
हेमकूटो महातेजास्तेजसामिव सङ्ग्रह: ।
राजते भगवान् शैल: सन्ध्यावृत इवांशुमान् ॥ ७८१ ॥
पाण्डुराभ्रप्रतीकाश: शङ्खगोक्षीरसन्निभ: ।
शुक्लाम्बरधर: श्रीमान् दिव्यकुण्डलभूषित: ॥ ७८२ ॥
आतपत्रेण महता ध्रियमाणेन मूर्धनि ।
हिमवानिति विख्यातो द्वितीय इव भास्कर: ॥ ७८३ ॥

किं च—

इन्द्रगोपकसङ्काश: पश्चिमे गन्धमादन: ।

देकर सुनो ॥ ७७८- ॥

(दक्षिण में) स्थित आकृतिमान् पर्वतों को—यह शेष है ॥

उनको क्रम से बतलाते हैं—

(उस मेरु के दक्षिण में) निषध नामक विख्यात पर्वत है जो कि चन्द्रमा के समान स्वच्छ दीप्त तेजवाला, दिव्य आभरणों से भूषित और श्वेत वस्त्र धारण किये हुए है । (उसके दक्षिण में) हेमकूट नामक महातेजस्वी पर्वत है जो तेजों का संग्रह के समान है । यह तप्तहेम के समान, दिव्य आमरणों से भूषित, अत्यन्त शुभ्र देह से दूसरे ब्रह्माजी के समान, पीतवस्त्र धारण किये हुए तथा पीत माला और अनुलेप लगाये हैं। यह भगवान् हेमकूट पर्वत सन्ध्या से आवृत सूर्य की तरह शोभायमान हो रहा है । (उसके दक्षिण में) शुभ्र बादल के समान, शङ्ख गोदुग्ध के समान (श्वेतवर्ण) शुक्लवस्त्रधारी, दिव्यकुण्डल से भूषित, शिर पर विशाल छत्र धारण किये हुए हिमालय पर्वत है जो दूसरे सूर्य के समान विख्यात है ॥ -७७८-७८३ ॥

और भी—

(मेरु के) पश्चिम में इन्द्रगोप (= लालरङ्ग का कीड़ा या जुगनू) के

रक्ताम्बरधरः श्रीमानस्ताद्रिस्थ इवांशुमान् ॥ ७८४ ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशः शुक्लाम्बरधरः शुभः ।
किरीटी कुण्डली श्रीमान् माल्यवान्नाम पर्वतः ॥ ७८५ ॥
इत्येवमादिभिश्चान्यैः पर्वतैः परिवारिता ।
लोकालोकावसानैश्च तथान्यैः कुलपर्वतैः ॥ ७८६ ॥
दिव्यरूपधरा देवी तनुर्वै पारमेश्वरी ।

भूलोके ये मेर्वादयस्तदधिष्ठातृरूपा एवेत्यर्थः । पारमेश्वरीत्यनेन—

'स्थूलसूक्ष्मप्रभेदेन तदेकं संव्यवस्थितम्' (४।२९५)

इति पूर्वोक्तं प्रमाणीकृतम् ॥

यत एवमतः—

धारणां गन्धतन्मात्रे प्राणांस्त्यक्त्वा तु योगिनः ॥ ७८७ ॥
ते यान्ति तादृशीं मूर्तिं धरित्र्याः परमां तनुम् ।

गन्धतन्मात्रे धारणां कृत्वा योगिनस्तामिमां धरित्र्याः परमां मूर्तिमाकृतिमतीं देवीं सायुज्यसामीप्यसालोक्यभेदेन प्राप्नुवन्ति, अतश्च आचार्यैरुपास्यमानामिति

समान (रंग वाला) गन्धमादन पर्वत है जो लाल वस्त्र धारण किया हुआ तथा अस्ताचल पर स्थित सूर्य के समान है । (उसके पश्चिम में) माल्यवान् नामक पर्वत है जो शुद्ध स्फटिक के समान, शुक्लवस्त्रधारी, किरीट और कुण्डल धारण किये हुए है । इसी प्रकार दिव्य रूपधरा यह पारमेश्वरी तनु देवी अन्य पर्वतों तथा लोकालोक तक अन्य कुलपर्वतों से परिवारित है ॥ ७८४-७८७- ॥

पृथिवी लोक में जो मेरु आदि पर्वत हैं वे उसके द्वारा अधिष्ठित हैं । 'पारमेश्वरी' इस कथन से—

'वह एक (=स्वच्छन्द तत्त्व) स्थूल सूक्ष्म भेद से सम्यक् व्यवस्थित है ।' (स्व.तं. ४।२९५)

यह पूर्वोक्तवचन प्रमाणित किया गया ॥

चूँकि ऐसा है अतः—

जो योगी गन्धतन्मात्रा में धारणा कर प्राणों का त्याग करते हैं वे धरित्री की परमतनु उस प्रकार की मूर्त्ति को प्राप्त होते हैं ॥ -७८७-७८८- ॥

योगी लोग गन्धतन्मात्र में धारणा[१] कर सायुज्य सामीप्य सालोक्य भेद से

---

१. देशबन्धश्चित्तस्य धारणा (पा०यो०सू० ३।१)

यत्पूर्वमुक्तम्, तत् स्फुटीकृतम् ॥

अतः परतरं देवि सामुद्रं भुवनं महत् ॥ ७८८ ॥
सर्ववज्रमयं दिव्यं नानाश्चर्यशतान्वितम् ।

सामुद्रमिति समुद्राधिष्ठातृदेवताश्रयम् ॥

तच्च—

नीलोत्पलसमच्छायं सर्वतः परिमण्डलम् ॥ ७८९ ॥
मध्ये तु भुवनस्यास्य मण्डलं चन्द्रसंनिभम् ।
शतयोजनसाहस्रं समन्तात् परिमण्डलम् ॥ ७९० ॥
तस्य मध्ये तु पुरुषो रुक्मवर्णो महाद्युतिः ।
किरीटी कुण्डली स्रग्वी दिव्याभरणभूषितः ॥ ७९१ ॥
अपां निधेर्भगवतो वरुणस्य परा तनुः ।

पुरुष इति समुद्रदेवतात्मा ॥

तं तु देवं महात्मानं परिवार्य समन्ततः ॥ ७९२ ॥
रूपयौवनसम्पन्नाः सततं पर्युपासते ।

देव्यः ॥

धरित्री देवी की आकृतिमती परममूर्त्ति को प्राप्त करते हैं । इसलिये पहले जो 'आचार्यैरुपास्यमाना' कहा गया वह स्पष्ट हो गया ॥

हे देवि ! इसके बाद महान् सामुद्र भुवन है । यह दिव्य भुवन समस्त वज्रमय एवं सैकड़ों नाना आश्चर्यों से भरा पड़ा है ॥ -७८८-७८९- ॥

सामुद्र = समुद्र की अधिष्ठात्री देवता का आश्रय ॥

और वह (भुवन)—

नीलकमल के समान छाया वाला, सब ओर से गोल है । इस भुवन के मध्य में चन्द्रमा के समान (स्वच्छ) मण्डल है । यह एक-सौ हजार योजन गोलाई में फैला है । इसके बीच में एक पुरुष स्थित हैं जो सोने के वर्ण वाले, महाद्युति, किरीट कुण्डल माला धारण किये हुए हैं तथा दिव्य आभूषणों से विभूषित हैं । यह जल के भण्डार भगवान् वरुण की परा तनु है ॥ -७८९-७९२- ॥

पुरुष = समुद्र देवतात्मा ॥

उस महात्मा देवाधिदेव को चारो ओर से परिवारित कर रूप यौवन सम्पन्न देवियाँ इनकी उपासना करती रहती हैं ॥ -७९२-७९३- ॥

तासां मध्ये तु—

शुक्लाम्बरधरा देवी शुक्लगन्धानुलेपना ॥ ७९३ ॥
शुक्लयज्ञोपवीता च शुक्लहारोपशोभिता ।
शुक्लेनैवातपत्रेण ध्रियमाणेन मूर्धनि ॥ ७९४ ॥
गङ्गा ह्युत्तरतस्तस्य स्थिता वै परमा तनुः ।
नीलाम्बरधरा देवी नीलगन्धानुलेपना ॥ ७९५ ॥
नीलस्रग्दामकण्ठा च यमुना तस्य दक्षिणे ।
एवमाद्या महानद्यः परिवार्य महाद्युतिम् ॥ ७९६ ॥
समुद्राष्टकं च देवेशि स्वनदीभिः समावृतम् ।
उपासते सदा भक्त्या वारुणीं परमां तनुम् ॥ ७९७ ॥

परमां तनुमित्यधिष्ठातृदेवतारूपाम् ॥ ७९७ ॥

अत्र चाकृतिमन्त्येव—

नानासरांसि तीर्थानि............

तथा—

..........तद्भक्ताश्चापि संस्थिताः ।
रसतन्मात्र अत्रैव कृत्वा सम्यक्तु धारणाम् ॥ ७९८ ॥

देवियाँ—यह ॥

उनमें से—

गङ्गा नाम वाली देवी (जो कि वरुण देवता की) परम शरीर है उसके उत्तर में स्थित है । यह गङ्गा शुक्लवस्त्रधारिणी, शुक्लगन्धानुलेपना, शुक्लयज्ञोपवीता, शुक्लहार धारण की हुई, अपने शिर पर श्वेत छत्र धारण की है । उस (= समुद्र) के दक्षिण में यमुना नाम की देवी है जो नीलाम्बरधरा, नीलगन्धानुलेपना और गले में नील रङ्ग की माला पहनी है । इसी प्रकार अन्य महानदियाँ इस महाद्युति (समुद्र देव को) परिवारित कर स्थित हैं । हे देवेशि ! अपनी नदियों से समावृत आठ समुद्रों का यह समूह भक्तिपूर्वक वरुण के परम शरीर की उपासना करता रहता है ॥ -७९३-७९७ ॥

परमशरीर = अधिष्ठातृदेवतारूप शरीर ॥ ७९७ ॥

यहीं पर आकृतिमान्—

अनेक सर और तीर्थ भी हैं ॥ ७९८- ॥

तथा—

अपां योनिं परां प्राप्ताः............

इमामेव ॥

यस्मादेषाम्—

...........वारुणी सा परा तनुः ।

अष्टमूर्तेर्महेशितुरियं द्वितीया मूर्तिर्जलाधिष्ठातृदेवतारूपा । धारणास्वरूपं प्राग्धारणादीक्षावसरे दर्शितम् ॥

अतः परं प्रवक्ष्यामि भुवनं वरवर्णिनि ॥ ७९९ ॥
श्रीनिकेत इति ख्यातं पद्मगर्भ इति श्रुतम् ।

एतन्नामभ्यां प्रतीतमागमेष्वित्यर्थः ॥

तच्च—

विमानशतसङ्घातैर्निरन्तरमवस्थितैः ॥ ८०० ॥
शोभितं भुवनेशैश्च रुद्रै रुद्रगणैस्तथा ।
सरोभिर्मानसैर्दिव्यैर्दीर्घिकाभिश्च शोभितम् ॥ ८०१ ॥
रथचक्रप्रमाणैश्च मणिकाञ्चनमण्डितैः ।
वैदूर्यनालैः कमलैर्दिव्यगन्धसुगन्धिभिः ॥ ८०२ ॥

वरुण के भक्त इस रसतन्मात्रा में सम्यक् धारणा कर इस परम जलयोनि को प्राप्त होते हैं ॥ -७९८-७९९- ॥

इस (जल) को ही ॥

क्योंकि इनकी—

वह तनु वरुण की परा (तनु) है ॥ -७९९- ॥

अष्टमूर्त्ति महेश्वर की जलाधिष्ठातृदेवता रूपा यह दूसरी मूर्त्ति है । धारणा का स्वरूप पहले ही धारणा दीक्षा के अवसर पर दिखला दिया गया है ॥

हे वरवर्णिनि ! इसके बाद (मैं उस) भुवन का वर्णन करूँगा जो श्रीनिकेत या पद्मगर्भ के नाम से विख्यात है ॥ -७९९-८००- ॥

(श्री निकेत और पद्मगर्भ) इन दो नामों से आगमों में जाना जाता है ॥

वह—

निरन्तर अवस्थित सैकड़ों विमानों के समूहों, रुद्रों, रुद्रगणों से शोभित है । मन से रचित सरोवरों और दिव्य दीर्घिकाओं (= झीलों) से सुशोभित है । रथ के चक्के जितने बड़े, मणिकाञ्चनमण्डित, वैदूर्य नाल वाले, दिव्य

मृदुभिः कान्तिमद्भिश्च चन्द्रमण्डलसंनिभैः ।
संशोभितं विचित्रैस्तैर्विकचैर्वज्रकेसरैः ॥ ८०३ ॥
उद्यानैर्विविधैश्चापि नानाविहगकूजितैः ।
नानाकामप्रदैर्वृक्षैः समन्तात् समलंकृतम् ॥ ८०४ ॥
नानामणिमयैर्दिव्यैः क्रीडाशैलैश्च मानसैः ।
मानसीभिश्च नारीभिर्दिव्ययौवनकान्तिभिः ॥ ८०५ ॥
हावभावविलासाढ्यदिव्यस्त्रीभिरलंकृतम् ।
विचित्रैर्मणिपद्मैश्च सितपत्रैश्च सुव्रते ॥ ८०६ ॥
विभूषितं गजेन्द्रस्थैः स्तुतिमङ्गलवादिभिः ।
गायद्भिश्चाथ नृत्यद्भिर्दिव्यस्त्रैणैः समाकुलम् ॥ ८०७ ॥

मानसैरिति सङ्कल्पमात्रसिद्धैः । स्वभावत एव पद्मानां मणिकाञ्चनमण्डितत्वं वैदूर्यनालता च । चन्द्रमण्डलसंनिभैरित्यनेन पद्मानां श्वेतता उक्ता । वज्रं (हे)[1]रकम् । नानाकामप्रदैर्वृक्षैः कल्पवृक्षैरित्यर्थः । मानसीभिर्मनोनुकूलाभिः । स्त्रीणां समूहः स्त्रैणम् ॥ ८०७ ॥

तदीदृशे—

गन्ध से सुगन्धित कमलों, कोमल कान्तिमान् चन्द्रमण्डल के समान (श्वेत) विचित्र खिले हुए वज्रकेशर (= हल्दी के केसर) से (यह निकेत) शोभायमान है । (उस भुवन में) अनेक उद्यान हैं जिसमें नाना प्रकार के पक्षी कूज रहे हैं । अनेक प्रकार के कामप्रद वृक्षों से वह अलंकृत है । मन के सङ्कल्पमात्र से निर्मित अनेक प्रकार की मणियों से युक्त दिव्य क्रीड़ा शैल (भी वहाँ है) । मन से उत्पन्न, दिव्य यौवन और कान्तिवाली, हाव भाव विलास से युक्त दिव्य स्त्रियों से अलंकृत (वह भुवन) विचित्र मणिमय कमलों और सितपत्रों से शोभायमान है । हे सुव्रते! हाथियों पर स्थित, स्तुति मङ्गल गान करने वाले, नृत्य गीत सम्पादक दिव्य स्त्रीसमूहों से वह भुवन व्याप्त है ॥ -८००-८०७ ॥

मानस = सङ्कल्प मात्र से सिद्ध । कमलों का मणिकाञ्चन मण्डित एवं वैदूर्य की नाल वाला होना स्वाभाविक है । 'चन्द्रमण्डलसन्निभैः' से कमलों का श्वेत होना बतलाया गया । वज्र = हेरक (= हल्दी) । नानाकामप्रदवृक्ष = कल्पवृक्ष । मानसी = मनोऽनुकूल । स्त्रैण का अर्थ है—स्त्रियों का समूह । (यहाँ तस्य समूहः—पा.सू. ४।२।३७) से समूह अर्थ में स्त्री शब्द से अण् प्रत्यय हुआ है ॥ ८०७ ॥

तो इस प्रकार के—

---

१. हे ।

तस्मिंस्तु भुवने दिव्ये पद्मगर्भसमप्रभे ।
शरदिन्दुनिभं दिव्यं मण्डलं रश्मिसंकुलम् ॥ ८०८ ॥

मण्डलं प्रधानभुवनम् ॥ ८०८ ॥

तस्य मध्ये भगवती श्रीः स्वयं लोकभाविनी ।
चन्द्रकोटिसहस्राणां या कान्तिमतिवर्तते ॥ ८०९ ॥

लोकान् भावयति प्रोद्भूतविभूतिकान् सम्पादयति ॥ ८०९ ॥

सा च—

एकत्र युगपत्तेजस्तेजसां तु विराजते ।

सर्वतेजसां सम्बन्धि तेजः, एकत्र राशीभूतमिव भवति ॥

एवमपि च सौम्याकृतित्वात्—

निर्वाणमिव या शान्ता सर्वानन्दमनोहरा ॥ ८१० ॥
रूपिणी..........

आकृतिमती ॥

वस्तुतस्तु—

पद्मगर्भ के समान प्रभावाले उस दिव्य भुवन में शरत् कालीन चन्द्रमा के समान, रश्मिसंकुल एक दिव्य मण्डल है ॥ ८०८ ॥

मण्डल = प्रधान भुवन ॥ ८०८ ॥

उस (= प्रधान भुवन) के मध्य लोकभाविनी भगवती लक्ष्मी, जो कि करोड़ों सहस्रों चन्द्रों की कान्ति से बढ़ कर हैं, स्वयं विराजमान है ॥ ८०९ ॥

(लोकभाविनी का अर्थ बतलाते हैं—) लोगों को भावित करती है अर्थात् विभूतियुक्त करती है, इसलिये लोकभाविनी है ॥ ८०९ ॥

और वह—

तेजों के एक साथ एकत्रित तेज के रूप में विराजमान है ॥ ८१०- ॥

समस्त तेजों से सम्बन्ध जो तेज है वह मानव एकत्र राशिभूत हो गया है ॥

ऐसा होते हुए भी सौम्य आकृति होने के कारण—

वह निर्वाण के समान शान्त और सर्वानन्दमनोहर रूप वाली है ॥ -८१०-८११- ॥

आकार प्रकार वाली ॥

............परमा देवी मूर्तिरव्यभिचारिणी ।

परैव द्योतमाना पारमेश्वरी मूर्तिरियमित्थं गृहीताकृतिरित्यर्थः । अनयैव मोक्षश्रिया नित्यसम्बद्धया परमेश्वरः श्रीकण्ठ उच्यते ॥

एषा च—

शतयोजनविस्तीर्णे उदितादित्यसप्रभे ॥ ८११ ॥
चन्द्रकान्तमये पद्मे वज्रकेसरकर्णिके ।
कोटिपत्रे महादिव्ये गन्धपुष्पगुणान्विते ॥ ८१२ ॥
पद्मासने भगवती पद्मगर्भसमप्रभा ।
उपविष्टात्र सा नित्यं विभूत्या परया युता ॥ ८१३ ॥
महारत्नैश्च स्रग्धाम प्रलम्बमुरसा शुभम् ।
वहन्ती सा तु शुशुभे ज्योत्स्नेव त्रिपथापथम् ॥ ८१४ ॥

त्रिपथापथमाकाशं गङ्गाप्रवाहात् ॥ ८१४ ॥

अपि च—

स्फुरन्मयूखचलने कपोलतलमण्ड(ने)[1] ।
सूर्यमण्डलसङ्काशे धारयन्ती च कुण्डले ॥ ८१५ ॥

वस्तुतस्तु—

यह देवी अव्यभिचारिणी परा मूर्त्ति है ॥ -८११- ॥

परा = द्योतमाना यह पारमेश्वरी मूर्त्ति इस प्रकार आकार धारण की हुई है । इसी मोक्षलक्ष्मी के द्वारा नित्यसम्बद्ध परमेश्वर श्रीकण्ठ नाम से कहे जाते हैं ॥

और यह—

पद्मगर्भ के तुल्य कान्ति वाली भगवती एक सौ योजन विस्तीर्ण, उगते हुए सूर्य के समान कान्ति वाले, चन्द्रकान्त मणि से रचित, वज्रकेसरकर्णिका वाले एक करोड़ पंखुड़ियों वाले महादिव्य गन्ध एवं पुष्प के गुणों से युक्त कमल पर पद्मासन लगा कर बैठी हुई है । वह परा विभूति से नित्य युक्त है । महारत्नों से बनी हुई लम्बी माला उसकी छाती पर लटक रही है । (इससे वह उस प्रकार शोभायमान हो रही है) जैसे ज्योत्स्ना से त्रिपथापथ ॥ -८११-८१४ ॥

त्रिपथापथ = आकाश, क्योंकि इसमें गङ्गा का प्रवाह है ॥ ८१४ ॥

और भी—

---

१. ले ।

किं च—

स्फुरन्मयूखसङ्घातां रशनां सा तु बिभ्रती ।
हेमाभा पीतवसना महाहारविभूषिता ॥ ८१६ ॥
चन्द्राभेनातपत्रेण ध्रियमाणेन राजिता ।
उपगीता च गन्धर्वैर्मानसै रुद्रसम्भवैः ॥ ८१७ ॥
परिवारिता भगवती सा तनुः पारमेश्वरी ।

मानसै रुद्रसम्भवैरिति रुद्रेणैव भगवता तदाराधनार्थमेव सृष्टैः ॥

किं च—

या प्राप्ता तपसाराध्य विष्णुना प्रभविष्णुना ॥ ८१८ ॥

आराधनादेव चास्मै—

दत्ता प्रीतेन रुद्रेण विष्णोरुरसि वाहिनी ।

न च सार्वात्म्येन, अपि तु—

वह (कानों में) दो कुण्डल धारण की हुई है जो कि स्फुरित होती हुई किरणों के समान चञ्चल कपोल तल को अलंकृत करने वाले तथा सूर्य मण्डल के समान हैं ॥ ८१५ ॥

और भी—

जिसमें निरन्तर किरणों का समूह स्फुरित हो रहा है ऐसी रशना (= करधनी) को धारण की हुई है । वह सुवर्ण की कान्ति वाली, पीला वस्त्र धारण की हुई तथा बहुमूल्य हार से अलंकृत है । चन्द्रमा के समान धवल तथा (किसी के द्वारा) ध्रियमाण छत्र से शोभायमान हो रही है । रुद्र के मन से उत्पन्न गन्धर्वों से परिवारित और उनके द्वारा उपगीयमान वह भगवती पारमेश्वरी तनु (लक्ष्मी) विराजमान है ॥ ८१६-८१८- ॥

मानस रुद्रसम्भव = भगवान् रुद्र ने ही उस (भगवती) की आराधना के लिये उनकी (मानसिक) सृष्टि की है ॥

और भी—

प्रभावशाली विष्णु ने तपस्या के द्वारा आराधना कर जिसको प्राप्त किया ॥ -८१८ ॥

और आराधना से ही—

प्रसन्न रुद्र ने विष्णु के वक्षःस्थल पर निवास करने वाली (इस लक्ष्मी को) उनको (= विष्णु को) दिया ॥ ८१९- ॥

अर्धेन सा भगवती विष्णोरङ्गे प्रतिष्ठिता ॥ ८१९ ॥
पादेनेन्द्रस्य देवस्य पादार्धेन दिवि स्थिता ।
तदर्धेन पुनर्देवि पार्थिवेषु व्यवस्थिता ॥ ८२० ॥
तदर्धेन मनुष्येषु...............

दिवि तन्निवासिदेववक्त्र इत्यर्थः । पार्थिवेष्विति सर्वेषु चक्रवर्तिष्वंशांशिका-योगात् । मनुष्येष्वमात्यादिषु, सर्वेष्वित्थं विष्णोरंशांशिकया श्रीः स्थिता, साकल्येन तु भगवति श्रीकण्ठ एवेत्युक्तं भवति ॥

इत्थमेषा सर्वमेव जगत्—

........या स्थिता व्याप्य मूर्तिभिः ।
स्वरूपा कामरूपा च द्विधा सा परिकीर्तिता ॥ ८२१ ॥

मूर्तिभिर्निजैरंशांशिकावतारैः । स्वं पारमार्थिकं परिपूर्णं रूपं यस्याः । कामेनेच्छामात्रेण तत्तद्विष्ण्विन्द्रादिमाहात्म्यप्रदं रूपं यस्याः सा कामरूपा ॥ ८२१ ॥

तत्र स्वरूपात्मा—

अचला सा तनुः सूक्ष्मा अक्षोभ्या तत्र तिष्ठति ।

(उस लक्ष्मी को उन्होंने) पूर्णरूप से नहीं दिया किन्तु—

वह भगवती अपने आधे अंश से विष्णु के अङ्ग में प्रतिष्ठित हुई । एक चौथाई से इन्द्रदेव के और चौथाई के आधे अर्थात् १/८ से स्वर्ग में प्रतिष्ठित हुई । १/८ के आधे से पृथिवीलोक में और शेष से १/१६ वह मनुष्यो में प्रतिष्ठित है ॥ -८१९-८२१- ॥

स्वर्ग में = स्वर्गलोकनिवासी देवताओं के मुख में । पार्थिव में = समस्त चक्रवर्ती राजाओं में अंश-अंश करके प्रतिष्ठित है । मनुष्यों में = मन्त्री आदि में । इस प्रकार यह श्री सब लोगों में अंशांशिका के साथ स्थित है । सम्पूर्ण रूप से तो वह भगवान् श्रीकण्ठनाथ में ही स्थित हैं—यह तात्पर्य समझना चाहिये ॥

इस प्रकार यह (लक्ष्मी) समस्त जगत् को—

व्याप्त करके जो मूर्त्तियों के द्वारा स्थित है वह दो प्रकार की कही गयी है—स्वरूपा और कामरूपा ॥ -८२१ ॥

मूर्त्तियों के द्वारा = अपने अंश और अंशिका (= छोटा अंश) अवतारों के द्वारा । (स्वरूपा =) स्व = पारमार्थिक परिपूर्ण रूप है जिसका वह (स्वरूपा है) । काम = इच्छामात्र से तत्तद् विष्णु इन्द्र आदि की महिमा को देने वाला रूप है जिसका वह कामरूपा है ॥ ८२१ ॥

उन दोनों रूपों में स्वरूपात्मा—

सूक्ष्मा सर्वनिजावतारव्यापिका । अक्षोभ्या निरतिशया । तत्रेति प्रोक्ते स्वपुरेऽचला तिष्ठति ॥

यथैतच्छ्रीपुरमाप्स्यति, तथादिशति—

रुद्रक्रीडावतारेषु प्रयागादिषु सुव्रते ॥ ८२२ ॥
श्रीगिरौ च विशेषेण मृतस्तद्भुवनं व्रजेत् ।

रुद्रस्य क्रीडया, नत्वनुजिघृक्षयाऽवतारो येषु ते देवदारुवनप्रभृतयो रुद्रक्रीडावताराः ॥

अतश्च—

सत्स्वन्येष्वपि भोगेषु त्वियं सा गदिता गतिः ॥ ८२३ ॥

बुभुक्षूणां प्राप्यत्वेनेति शेषः ॥ ८२३ ॥

यस्माद् बुभुक्षवः श्रीगिर्यादौ मरणादेतदाराधनाद्वा—

प्राप्य तामीदृशीं देवीमैश्वर्यमणिमादिकम् ।

वह अचल सूक्ष्म तनु है जो कि अक्षोभ्य है । इस रूप में वह वहाँ सदा रहती है ॥ ८२२- ॥

सूक्ष्मा = अपने समस्त अवतारों की व्यापिका । अक्षोभ्या = निरतिशया । वहाँ = पूर्वोक्त अपने पुर में, अचल होकर रहती है ॥

(साधक) जिस प्रकार इस श्रीपुर को प्राप्त करता है—वह बतलाते हैं—

हे सुव्रते ! जहाँ क्रीड़ा के लिये रुद्र का अवतार हुआ है वहाँ, प्रयाग आदि तथा विशेष रूप से श्रीशैल पर जो (साधक) मरता है वह उस भुवन को प्राप्त होता है ॥ -८२२-८२३- ॥

क्रीड़ा के लिये न कि (प्राणियों पर) अनुग्रह के लिये रुद्र का अवतार जहाँ हुआ है वे देवदारुवन आदि रुद्रक्रीडावतार (कहे जाते हैं) ॥

इसलिये—

अन्य भोगों के रहते हुए भी भोगेच्छुओं के लिये यह गति (= प्राप्य) के रूप में कही गयी है ॥ -८२३ ॥

भोगेच्छुओं के लिए प्राप्य के रूप में (कही गयी है) ॥ ८२३ ॥

जिस कारण भोगेच्छु लोग श्रीशैल आदि में मरने से या इसकी आराधना से—

इस प्रकार की उस देवी को प्राप्त कर अणिमा आदि ऐश्वर्य को (प्राप्त करता है) ॥ ८२४- ॥

लभन्त इति शेषः, प्राप्य तामिति तद्भुवनमित्यर्थात् ॥

न केवलमेतत्, यावत्—

भूत्वा तु साष्टधा दिव्या देवेष्वपि च तिष्ठति ॥ ८२४ ॥

अष्टधेत्यणिमादिरूपतया ॥ ८२४ ॥

तथा जन्मौषधिमन्त्रतपःसमाधिभिः—

सिद्धेष्वपि च सा देवी उत्तमा सिद्धिरुच्यते ।

अपि च—

यदर्थं तारकाद्यैश्च संग्रामस्त्रिदशेश्वरैः ॥ ८२५ ॥

सह—

कृतो घोरस्त्वसंख्येयः............

तथोक्तांशांशिकारूपाम्—

............तां श्रियं प्राप्तुमिच्छुभिः ।
असंख्येयाश्च संग्रामाः कृता वै चक्रवर्तिभिः ॥ ८२६ ॥

तदित्थमुक्तैषा—

प्राप्त करते हैं । उसको = भुवन को, प्राप्त कर ॥

केवल इतना ही नहीं बल्कि—

वह दिव्य आठ रूपों में होकर देवताओं में भी रहती है ॥ -८२४ ॥

अष्टधा = अणिमा आदि (= महिमा, लघिमा, गरिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य ईशित्व और वशित्व) रूप में ॥ ८२४ ॥

तथा जन्म औषधि मन्त्र तपस्या समाधियों के द्वारा—

सिद्ध लोगों में भी वह देवी उत्तमा सिद्धि कही जाती है ॥ ८२५- ॥

और भी—

जिसके लिये तारकासुर (दैत्य) आदि ने देवताओं के साथ घोर संग्राम किया ॥ -८२५-८२६- ॥

तथा उक्त अंशांशिकारूपा—

उस लक्ष्मी को प्राप्त करने की इच्छा वाले चक्रवर्त्ती राजाओं ने असंख्य संग्राम किये ॥ -८२६ ॥

इस प्रकार की उक्त वह—

सा बन्ध एवमुक्तानामबुधानां परा स्मृता ।

एवमुक्तानां तारकादीनामबुधानां विनश्वरभोगाभिलाषेण संग्रामादिकुर्वतामेषा श्रीर्बन्ध एव, अथ च मुक्तानां प्रत्यभिज्ञातस्वरूपाणां जीवन्मुक्तिभाजां सा बन्ध एव, न ते तदर्थं प्रयतन्ते, अपि तु प्राप्तां तामर्थिभ्यो वितरन्ति । ये त्वबुधास्तेषामेव सा परा प्राप्यत्वेनाभिलषितेत्यावृत्त्याऽकारप्रश्लेषेण व्याख्येयमेतत् ॥

तदेतत्—

श्रीपुरं तु समाख्यातं यथावच्च वरानने ॥ ८२७ ॥

अथ—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भुवनं च निबोध मे ।
सारस्वतमिति ख्यातं गान्धर्वमिति च स्मृतम् ॥ ८२८ ॥

ऊर्ध्वमित्युपरिस्थितम् । सरस्वत्या इदं सारस्वतम् । सरस्वती च सर्वशास्त्रस्फाररूपा गान्धर्वविद्यारूपा चेति गान्धर्वमित्यस्य पुरस्य नाम ॥ ८२८ ॥

तदेतत्—

इस प्रकार के मुक्त लोगों के लिये बन्धन है और उक्त अबुध लोगों के लिये वह परा (= परम प्राप्य) है ॥ ८२७- ॥

इस प्रकार के कहे गये अबुध तारकासुर आदि के लिये, जो कि विनश्वर भोग आदि के लिये संग्राम आदि करते रहते हैं, यह श्री बन्धन है और मुक्त = अपने स्वरूप की प्रत्यभिज्ञा करने वाले जीवन्मुक्तों के लिये भी वह (मुक्ति के रास्ते में) बन्धन है । वे उसके लिये प्रयत्न नहीं करते बल्कि प्राप्त होने पर याचकों को दे देते हैं । और जो अज्ञानी लोग हैं उनके लिये वह परा (= परमप्राप्य) है । (यहाँ 'एवमुक्तानाम्' का दो प्रकार से विश्लेष है—'एव मुक्तानाम्' तथा 'एवम् उक्तानाम्' । दूसरा विच्छेद 'अबुधानां' का विशेषण है अर्थात् उक्त अबुधों का) ॥

इस प्रकार वह—

हे वरानने ! इस प्रकार श्रीपुर का यथावत् वर्णन किया गया ॥-८२७॥

अब—

इसके ऊपर मैं उस भुवन को बतलाऊँगा जो सारस्वत अथवा गान्धर्व के नाम से प्रसिद्ध है । उसको मुझसे जानो ॥ ८२८ ॥

ऊर्ध्व = ऊपर स्थित जो सरस्वती से सम्बद्ध है वह सारस्वत कहलाता है । और सरस्वती समस्त शास्त्रों की स्फार रूपा तथा गान्धर्व विद्यारूपा है । इसलिये उस पुर का नाम गान्धर्वपुर भी है ॥ ८२८ ॥

अतः वह—

पद्मगर्भपुरं चापि कोटिमात्रेण सुव्रते ।
योजनानां समाख्यातं प्रमाणेन समन्ततः ॥ ८२९ ॥

पद्मगर्भाकारं सुकुमारोज्ज्वलमित्यर्थः ॥

किं च—

सर्वरत्नमयं दिव्यं सर्वैश्वर्यसमन्वितम् ।
विमानैर्विविधाकारैर्नानारत्नमयैः शुभैः ॥ ८३० ॥
गान्धर्वैर्मानसैश्चापि गायद्भिश्चाप्यनेकधा ।
नृत्यद्भिश्च तथान्यैश्च गणैः पार्श्वगतैस्तथा ॥ ८३१ ॥
स्त्रीभिः सुरूपिणीभिश्च गन्धर्वैश्च समाकुलम् ।

गन्धर्वाणाममी गान्धर्वा विमानास्तैः । मानसैः सङ्कल्पमात्रसिद्धैः । गणैः परमेश्वरानुचरैः ॥

तदीदृशस्य—

तस्य मध्ये तु देवेशि शरच्चन्द्रनिभं शुभम् ॥ ८३२ ॥
रश्मिमालाकुलं दिव्यं मण्डलं परिमण्डलम् ।
तस्य मध्ये भगवती स्थिता साक्षात् सरस्वती ॥ ८३३ ॥

हे सुव्रते ! वह पद्मगर्भपुर भी (कहा जाता) है । यह चारों ओर एक करोड़ योजन विस्तार से फैला है ॥ ८२९ ॥

पद्मगर्भाकार = सुकुमार और उज्ज्वल ॥

और भी—

(यह भुवन) समस्त रत्नों से बना (एवं परिपूर्ण) दिव्य, सब ऐश्वर्य से समन्वित है । अनेक आकार वाले अनेक रत्नों से बने हुए, शुभ मानस गान्धर्व विमानों से युक्त इस भुवन में अनेक प्रकार का गान करने वाले नृत्य करने वाले तथा अन्य पार्श्ववर्त्तीगण विराजमान हैं । यह सुरूप स्त्रियों तथा गन्धर्वों से व्याप्त है ॥ ८३०-८३२- ॥

जो गन्धर्वों से सम्बद्ध हैं वे गान्धर्व—विमान हैं उनसे । मानस = सङ्कल्पमात्र से बने हुए । गण = परमेश्वर के अनुचर ॥

तो इस प्रकार के—

उस (भुवन) के मध्य में हे देवेशि ! शरत्कालीन चन्द्रमा के समान स्वच्छ रश्मिमाला से भरपूर, दिव्य गोलाकार परिमण्डल प्रधानभुवन है । उसके मध्य में भगवती सरस्वती साक्षात् विराजमान है जो कि हजार

शरच्चन्द्रसहस्रस्य या कान्तिमतिवर्तते ।
पीताम्बरधरा देवी पद्मपत्रायतेक्षणा ॥ ८३४ ॥
नीलोत्पलदलश्यामा दिव्याभरणभूषिता ।
हेमपट्टपरीधाना दिव्यकुण्डलधारिणी ॥ ८३५ ॥
उरसा तु महाहारमुद्वहन्ती शशिप्रभम् ।
स्फुरन्मयूखसङ्घातकुण्डलद्वयमण्डिता ॥ ८३६ ॥

मण्डलं प्रधानभुवनम् । कान्तिर्दीप्तिः, श्यामत्वं तु वर्णः । अम्बरमान्तरं वस्त्रम्, परीधानं तु बाह्यम् ॥ ८३६ ॥

समग्रगान्धर्वमयी अस्या मूर्तिरित्याह—

ग्रामत्रयवलीमध्या सप्तस्वरतनुः शुभा ।
तानमूर्धरुहा देवी मूर्च्छनाङ्गरुहोद्वहा ॥ ८३७ ॥
पदासना तालपादा गीतवर्णप्रभावती ।

षड्जमध्यमगान्धाराख्यं ग्रामत्रयमेव त्रिवलिलेखाशोभि मध्यं यस्याः सा । षड्जादिसप्तस्वरशरीरा, तथा तन्यन्ते विस्तार्यन्ते स्वरगुम्फनामय्यो मूर्च्छना यैस्ते ताना मूर्धरुहाः केशा यस्याः । मूर्च्छना एवाङ्गरुहान् रोमाञ्चान् यद्वहति । पदानि

शरच्चन्द्र की कान्ति से बढ़ कर (कान्ति वाली) है । पीले वस्त्र को धारण करने वाली वह देवी कमल की पंखुड़ी के समान विशाल नेत्रों वाली, नीलकमल दल के समान श्याम, दिव्य आभूषणों से भूषित, स्वर्णवस्त्र धारण की हुई, दिव्य कुण्डलधारिणी वक्षःस्थल पर चन्द्रमा के समान धवल महाहार धारण की हुई तथा चमकती हुई किरणों के सङ्घात वाले दो कुण्डलों से अलंकृत है ॥ -८३२-८३६ ॥

मण्डल = प्रधान भुवन । कान्ति = चमक । श्यामता = वर्ण (= रङ्ग) । अम्बर = भीतर पहने जाने वाला वस्त्र । परीधान = बाह्य वस्त्र ॥ ८३६ ॥

इसकी मूर्त्ति समग्र गान्धर्व विद्या वाली है—यह कहते हैं—

तीन ग्राम (इसके शरीर के) मध्य में वर्त्तमान तीन वालियाँ हैं । सात स्वर इसका शुभ शरीर है ताने शिर के बाल है । यह देवी मूर्च्छनायें रोमावलि है । पद उसके आसन, ताल पाद और गीत के वर्ण उसकी प्रभा है ॥ ८३७-८३८- ॥

षड्ज मध्यम और गान्धार नामक तीन ग्राम की (उदर के ऊपर दृश्यमान तीन रेखायें हैं इन) त्रिवली रेखाओं से उस (= सरस्वती) का मध्य शोभित है । षड्ज आदि सात स्वर उसका शरीर है । जिनके द्वारा स्वरगुम्फनामयी मूर्च्छनायें वितनित = विस्तारित, होती हैं वे तान कहलाते हैं; वे ही मूर्धरुह = शिर के बाल

छन्दोनिबद्धानि गीतकान्यासनं यस्याः । चञ्चुपुटादयस्ताला एव प्रसरणहेतुत्वात् पादौ चरणौ यस्याः । द्वित्रिश्रुत्यात्मकस्वरगीयमानाः पदैकदेशा गीतवर्णास्तैः प्रभा दीप्तिर्यस्याः ॥

किं चास्याः—

अंगुल्यः सन्धयश्चैव लक्षणानि वरानने ॥ ८३८ ॥

सन्धयो मर्माणि । लक्षणानि—

'अलङ्कारगुणैश्चैव बहुभिः समलंकृतम् ।
भूषणैरिव चित्रार्थैस्तद्भूषणमिति स्मृतम् ॥' (१६।६)

इत्यादिलक्षणेन भरतमुनिना लक्षितानि भूषणाक्षरसङ्घातादीनि षट्त्रिंशत् । तदियमेवं भूत्वा स्वराद्याबद्धशरीरा सरस्वती इह पररूपेणाधिष्ठात्री देवतोक्ता । पूर्वं तु मेरुगतगान्धर्वपुर्याम्—

'आस्ते भगवती साक्षात् सप्तस्वरविभूषिता ।
ग्रामत्रयपरीधाना............................... ॥' (१०।१५२)

इत्याद्युक्त्या स्वराद्यलंकृतवाण्यात्मिकापररूपेणैतद्देवताधिष्ठेयरूपेति विशेषः ॥८३८॥

हैं । मूर्च्छनायें ही अङ्गरुह = रोमाञ्च हैं जिनको वह धारण करती है । पद = छन्द के अनुसार निबद्धगीत, वे ही उसके आसन हैं । चञ्चुपुट आदि ताल ही प्रसरण की कारण होने से उसके दो पाद = दो चरण हैं । दो तीन श्रुति वाले स्वरों से गीयमान, पद के एक अवयव, गीत के वर्ण हैं । उनसे वह प्रभा = दीप्ति वाली है ॥

और भी—

हे वरानने ! सन्धियाँ और लक्षण इसकी अंगुलियाँ हैं ॥ -८३८ ॥

सन्धियाँ = मर्म । लक्षण—

'जो अनेक अलङ्कारों-गुणों से अलंकृत तथा आभूषणों के समान विचित्र अर्थों से अलंकृत हो वह भूषण माना गया है ।' (भ.ना.शा. १६।६)

इत्यादि लक्षण के द्वारा भरत मुनि से लक्षित अर्थात् भूषणरूपी अक्षरसमूह आदि (की संख्या) छत्तीस है । तो यह सरस्वती इस प्रकार स्वर आदि से शरीरसंरचना कर यहाँ पररूप से अधिष्ठात्री देवता कही गयी है और पहले सुमेरु में स्थित गान्धर्वपुरी में—

'आस्ते भगवती साक्षात्......... परीधाना ।' (स्व.तं. १०।१५२)

इत्यादि उक्ति से वह स्वर आदि से अलंकृत वाणीरूपा अपरदेवता है जो इस पर देवता से अधिष्ठेय है—यह अन्तर है ॥ ८३८ ॥

तदेषात्र—

**आसने परमे दिव्ये वृता भूतगणेश्वरैः ।
स्थिता स्थितिरिवाभाति सर्वस्य जगतः शुभा ॥ ८३९ ॥**

'वाच्यर्था निहिताः सर्वे वाङ्मूला वाङ्निबन्धनाः'

इति नीत्या जगद्व्यवस्थाहेतुरियमेव हि देवी ॥

किं च—

मानसीभिश्च नारीभिर्गान्धर्वैर्मानसैर्वृता ।

तथा च—

**हाहा हूहूश्चित्ररथस्तुम्बुरुर्नारदस्तथा ॥ ८४० ॥
विश्वावसुर्विश्वरथः.............**

त एते—

**.................दिव्यगीतविचक्षणाः ।
संयोज्य मनसात्मानं त्यक्त्वा कर्मफलस्पृहाम् ॥ ८४१ ॥
ते वै सारस्वतं स्थानं प्राप्ता वै सुरपूजिते ।**

स्वरवैखरीभूम्यवस्थितिक्रमेण मध्यमापश्यन्तीपदप्रतिष्ठैकाग्रमनस्का इमामेव

तो यह यहाँ—

भूतगणेश्वरों से आवृत होकर परमदिव्य आसन पर स्थित हुई समस्त जगत् की शुभङ्करी स्थिति के समान भासित होती है ॥ ८३९ ॥

'समस्त अर्थ वाणी में निहित हैं, उनका मूल वाणी है और वाणी ही उनका निबन्धन है ।'

इस नीति से जगद्व्यवस्था का कारण भी यही देवी है ॥

तथा—

मन से उत्पन्न स्त्रियों और मानस गन्धर्वों से यह परिवृत है ॥ ८४०-॥

और भी—

हाहा, हूहू, चित्ररथ, तुम्बुरु, नारद, विश्वावसु और विश्वरथ ॥ -८४०-८४१- ॥

तथा वे—

दिव्य गीत में कुशल ये सब अपने को मन से संयुक्त कर कर्मफल की इच्छा को छोड़ कर सारस्वत पद को प्राप्त हुए हैं ॥-८४१-८४२- ॥

देवीमुपासीना एते गन्धर्वमुख्या एतत्पुरं प्राप्ताः ॥

न केवलमेते पुरमिदं प्राप्ताः, यावत्—

ये च वाग्धारणां ध्यात्वा प्राणान् मुञ्चन्ति देहिनः ॥ ८४२ ॥
ते वै सारस्वतं लोकं प्राप्नुवन्ति नरोत्तमाः ।

वाग्धारणा तत्त्वसिद्धिपटले द्वादशे वक्ष्यते ॥

युक्तं चैतत्, यस्मात्—

एषा सरस्वती देवी मूर्तिर्वै पारमेश्वरी ॥ ८४३ ॥
या स्थितापरभावेन ब्रह्माण्डोदरवर्तिनाम् ।

कथमित्याह—

ब्रह्मलोके च सा देवी पादेनैकेन तिष्ठति ॥ ८४४ ॥
शाक्रे चापि तदर्धेन............

शक्रलोकेऽष्टमांशेन ॥

................गन्धर्वेषु तदर्धतः ।

स्वर अर्थात् वैखरी भूमि में स्थित होने के बाद मध्यमा और पश्यन्ती पद में प्रतिष्ठा प्राप्त कर एकाग्रचित्त हुए ये मुख्य गन्धर्व इसी देवी की उपासना कर इसके भुवन को प्राप्त किये ॥

केवल इन्होंने ही इस पुर को प्राप्त नहीं किया बल्कि—

जो प्राणी वाणी में धारणा का ध्यान प्राणों का परित्याग करते हैं वे उत्तम पुरुष सारस्वत लोक को प्राप्त करते हैं ॥ -८४२-८४३- ॥

वाग्धारणा का वर्णन बारहवें तत्त्वसिद्धिपटल में किया जायेगा ॥

यह ठीक भी है क्योंकि—

यह सरस्वती देवी परमेश्वर की मूर्त्ति है जो ब्रह्माण्डोदर में रहने वालों के लिये अपरभाव (= अपने मूल रूप से कुछ न्यून अंश) से स्थित है ॥ -८४३-८४४- ॥

कैसे ?—यह कहते हैं—

वह देवी ब्रह्मलोक में पाद (= चतुर्थांश १/४) से रहती है । शक्रलोक में उसके भी आधे (= १/८) अंश से रहते हैं ॥ -८४४-८४५- ॥

इन्द्रलोक में अपने आठवें हिस्से से रहती है । उसके आधे अंश अर्थात् १/१६ अंश से गन्धर्वों में रहती है ॥

षोडशांशेन ॥

सिद्धेषु च तदर्धेन............

द्वात्रिंशांशेन ॥

................किन्नरेषु तदर्धतः ॥ ८४५ ॥

चतुःषष्ट्यंशेन ॥ ८४५ ॥

तदर्धेन च नागेषु..............

अष्टाविंशत्यधिकशततमेनांशेन ॥

................यक्षेष्वर्धेन वै पुनः ।

षट्पञ्चाशदधिकद्विशततमांशेन ॥

पिशाचेषु तदर्धेन............

द्वादशाधिकपञ्चशततमांशेन ॥

तदित्थम्—

..........सा वै तिष्ठति भागशः ॥ ८४६ ॥

किं च—

पिशाचेभ्यः सहस्रांशान्मानुषेषु च तिष्ठति ।

न चैवमंशांशिकयैषावतीर्णा देवी, अपितु—

तैस्तु तप्त्वा तपो घोरमाराध्य च पिनाकिनम् ॥ ८४७ ॥

सोलह अंश से—

उसके आधे अंश अर्थात् १/३२ अंश से सिद्धों में और किन्नरों में उसके आधे अर्थात् १/६४ अंश से रहती है ॥ -८४५ ॥

उसके आधे अंश अर्थात् १/१२८ अंश से नागों में रहती है । उसके आधे अर्थात् १/२५६ अंश से यक्षों में रहती है । उसके आधे से अर्थात् १/५१२ अंश से पिशाचों में रहती है ॥ ८४६- ॥

तो इस प्रकार—

वह एक-एक अंश से सर्वत्र रहती है ॥ -८४६ ॥

तथा—

पिशाचों के एक सहस्रांश से मनुष्यों में रहती है ॥ ८४७- ॥

इस प्रकार यह देवी अंश-अंश करके अवतीर्ण नहीं है, वरन्—

अवतारिता तु सा देवी रूपिणी स्वरभूषिता ।

रूपिणी आकृतिमती ॥

तदेवं तपसा समाराधितस्य पिनाकिनस्तदादेशादेव प्रथमम्—

स्वरांस्तु स्मरतस्तस्य कल्पादौ ब्रह्मणः पुरा ॥ ८४८ ॥
स्वरेभ्यस्तु विनिष्क्रान्ता तेन सा तु सरस्वती ।

स्वरप्रत्यवमर्शवशोन्मिशन्नादामर्शानुप्रवेशाद् ब्रह्मणः स्वरेभ्य इवोद्भूता-ऽभिव्यक्तिमागता यस्मात्, अत एषाऽक्षरसारूप्यात् सरस्वतीत्युच्यते । यदा तु 'ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः' इति पाठः, तदाऽव्यक्ताद् वक्ष्यमाणात् प्रकृतितत्त्वाद् जन्म यस्य बुद्धितत्त्वगतस्य परस्य ब्रह्मणः पिनाकिप्रसादाद् व्यक्तिं गतेति व्याख्येयम् ॥

तदित्थमवतीर्णैषा—

सा स्थिता सर्वशास्त्रेषु कवीनां काव्यमास्थिता ॥ ८४९ ॥

अधिष्ठाय स्थितेत्यर्थः ॥ ८४९ ॥

किं च—

उन (पिशाचों) ने घोर तपस्या के द्वारा पिनाकी भगवान् शङ्कर की आराधना कर स्वरभूषित रूपवती के रूप में उस देवी को (अपने लोक में) अवतरित किया ॥ -८४७-८४८- ॥

रूपिणी = आकारप्रकार वाली ॥

इस प्रकार तपस्या के द्वारा आराधित पिनाकी के आदेश से उन्हीं से पहले—

कल्प के आदि में स्वरों का स्मरण करने वाले ब्रह्मा के स्वरों से निकली इस कारण यह सरस्वती कही गयी ॥ -८४८-८४९- ॥

चूँकि (यह देवी) स्वरों के प्रत्यवमर्श के कारण उन्मिषित होने वाले नाद के आमर्श के अनुप्रवेश से ब्रह्मा के स्वरों से मानो उद्भूत = अभिव्यक्ति को प्राप्त हुई इसलिये अक्षरसारूप्य (स्वरवती, उससे) सरस्वती कही जाती है । जब ('कल्पादौ ब्रह्मणः पुरा' के स्थान पर) 'ब्रह्मणोडव्यक्तजन्मनः' पाठ माना जाय तो अव्यक्त = वक्ष्यमाण प्रकृति तत्त्व, से जिसका जन्म हुआ । ऐसे बुद्धि तत्त्व में वर्त्तमान परब्रह्म के समक्ष पिनाकी के प्रसाद से अभिव्यक्ति हुई—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये ॥

तो इस प्रकार अवतीर्ण वह—

समस्त शास्त्रों तथा कवियों के काव्यों में स्थित हो गयी ॥ -८४९ ॥

स्थित हो गयी = अधिकृत कर स्थित हो गयी ॥ ८४९ ॥

तथा—

या वाल्मीकौ स्थिता देवी व्यासे चैव निरन्तरम् ।
ऋषीणां चैव सर्वेषां मेधाबुद्धिविवर्धिनी ॥ ८५० ॥

मेधा निर्विकल्पप्रतिभा, बुद्धिरध्यवसायिनी धीः ॥ ८५० ॥

एषा हि—

सर्वज्ञानधरी सा तु सर्वज्ञा देवपूजिता ।

ब्रह्माण्डान्तरवतीर्णायाश्च क्रमेण—

मेरोर्वायव्यदिग्भागे पुरं तस्याः प्रकीर्तितम् ॥ ८५१ ॥

अपरम्—

इदं तु परमं देव्या मया ते परिकीर्तितम् ।

एतदुपसंहरति—

सारस्वतं तु भुवनं कीर्तितं.........

यत्र सरस्वती भगवती देवी ॥

...........परमा तनुः ॥ ८५२ ॥

जो देवी वाल्मीकि व्यास और अन्य ऋषियों में निरन्तर स्थित है तथा सबकी मेधा एवं बुद्धि को बढ़ाने वाली है ॥ ८५० ॥

मेधा = निर्विकल्पक प्रतिभा । बुद्धि = ('यह घट है' इत्यादि रूप में) निश्चय करने वाली बुद्धि ॥ ८५० ॥

वह देवी—

समस्त ज्ञान को धारण करने वाली (वह देवी) सर्वज्ञा और देवपूजिता है ॥ ८५१- ॥

ब्रह्माण्ड के भीतर अवतीर्ण उसका, क्रम से—

मेरु के वायव्य दिग्भाग में भुवन कहा गया है ॥ -८५१ ॥

दूसरा—

मैंने तुमको देवी का परम रूप बतलाया ॥ ८५२- ॥

इसका उपसंहार करते हैं—

यह सारस्वत भुवन बतलाया गया ॥ -८५२- ॥

जहाँ भगवती सरस्वती देवी ॥

परम तनु के रूप में विराजमान है ॥ -८५२ ॥

परमेश्वरसम्बन्धिनी परमा मूर्तिः स्थितेत्यर्थः ॥

अधुना—

अत्रैव त्वाप्यतत्त्वे त्वं शृणु वै भुवनोत्तमम् ।

प्रोक्तेभ्योऽपि भुवनेभ्य उत्तमं वक्ष्यमाणदृशा भुवनाष्टकं शृणु ॥

तच्च भुवनेशद्वारेण दर्शयति—

अमरेशं प्रभासं च पुष्करं नैमिषं तथा ॥ ८५३ ॥
आषाढिं डिण्डिमुण्डिं च भारभूतिं च लाकुलम्।

तदेतत्—

गुह्याष्टकमिति ख्यातं जलावरणगं प्रिये ॥ ८५४ ॥

गुह्यत्वमेषां शतरुद्रादिभ्योऽप्युत्कर्षणात् । एते च भुवनेश्वरा भुवनमप्येतन्नामकं नानादिग्गतस्वयम्भूतीर्थादिरूपतयाऽनुग्रहार्थमवतीर्णाः प्रसिद्धाः । एवमन्येऽपि वक्ष्यमाणा ज्ञातव्याः ॥ ८५४ ॥

अथ—

तेजस्तत्त्वमतश्चोर्ध्वं कथयामि समासतः ।

परमेश्वरसम्बन्धिनी परम मूर्त्ति में स्थित है ॥

अब—

इसी जल तत्त्व में तुम उत्तम भुवन को सुनो ॥ ८५३- ॥

वक्ष्यमाण रीति से, उपर्युक्त भुवनों से भी उत्तम भुवनाष्टक (= आठ भुवनों) को सुनो ॥

उन आठ भुवनों का वर्णन भुवनेश्वरों के द्वारा बतलाते हैं—

अमरेश, प्रभास, पुष्कर, नैमिष, आषाढी, डिण्डिमुण्डी, भारभूति और लाकुल ॥ -८५३-८५४- ॥

इस प्रकार ये—

हे प्रिये ! जलावरण में रहने वाले ये आठ गुह्यक कहे गये ॥ -८५४॥

शतरुद्रों से भी अधिक उत्कर्षयुक्त होने के कारण ये गुह्य हैं । ये भुवनेश्वर इन्हीं नामों वाले भुवनों में अनुग्रह के लिये नाना दिशा में वर्त्तमान स्वयम्भू तीर्थ आदि के रूप में अवतीर्ण होकर प्रसिद्ध हैं । आगे कहे जाने वाले दूसरे भुवनेश्वरों के बारे में भी ऐसा ही जानना चाहिए ॥ ८५४ ॥

अब—

अग्नेस्तु भुवनं तत्र कथयामि वरानने ॥ ८५५ ॥

तच्च—

अशोकस्तबकानां च सर्वतो दीप्तिमुद्वहत् ।
उत्फुल्लकिंशुकच्छायं जपाकुसुमसंनिभम् ॥ ८५६ ॥

अतिलोहितमित्यर्थः ॥ ८५६ ॥

भुवनस्यास्य मध्ये तु उदितार्कसमप्रभम् ।
परिमण्डलमाग्नेयं तेजोमण्डलमुच्यते ॥ ८५७ ॥

परितस्त्रिकोणाकारं मण्डलं परिमण्डलम् । तेजोमण्डलमिति तेजोमयं प्रधानभुवनम् ॥ ८५७ ॥

तस्य मध्ये तु भगवान् शिवाग्निः कारणं परम्।

शिव एव परमेश्वरो गृहीताग्निमूर्तिः शिवाग्निः । परं कारणमिति ब्रह्माण्डवर्तिसर्वाग्निभेदानाम् ॥

यदाह—

योऽवतीर्याण्डमध्ये तु स्थितो नित्यं त्रिधा त्रिधा॥ ८५८ ॥

हे वरानने ! इसके ऊपर तेजस् तत्त्व को संक्षेप में बतलाऊँगा । उस (तेजस् तत्त्व) में अग्नि का भुवन बतला रहा हूँ ॥ ८५५ ॥

और वह—

अशोक वृक्ष की कोमल पत्तियों के गुच्छे के समान दीप्ति वाला है, पूर्ण खिले हुए किंशुक (= पलाश) के फूलों की छाया अथवा जपा कुसुम के समान है ॥ ८५६ ॥

अर्थात् अत्यन्त लाल रङ्ग का है ॥ ८५६ ॥

इस भुवन के मध्य में उगते हुए सूर्य के समान कान्ति वाला, त्रिकोणाकार, अग्नि का तेजोमय मण्डल (= प्रधान भुवन) है ॥ ८५७ ॥

(परिमण्डल का अर्थ है—) सब ओर से त्रिकोणाकार मण्डल । तेजोमण्डल = तेजोमय प्रधान भुवन ॥ ८५७ ॥

उसके मध्य में परम कारण भगवान् शिवाग्नि (विराजमान) हैं ॥८५८-॥

शिवाग्नि का अर्थ है—परमेश्वर शिव ही अग्नि का रूप धारण किये हुए हैं । परम कारण—ब्रह्माण्ड के अन्दर वर्त्तमान समस्त भिन्न-भिन्न अग्नियों का कारण ॥

जैसा कि कहा—

भौमान्तरिक्षजाठराग्निरूपतया ॥ ८५८ ॥

किं च—

वक्त्रे तु दक्षिणे तस्य रुद्रस्य परमात्मनः ।
स्थितो जिह्वास्वरूपेण स्वयम्भूर्नीललोहितः ॥ ८५९ ॥

तस्येति शिवाग्निरूपस्य रुद्रस्य । यो नीललोहितो ज्वालालिङ्गात्मा श्रीपर्वतादौ स्वयम्भूः प्रसिद्धः, स दक्षिणे वक्त्रे जिह्वारूपस्तद्दक्षिणवक्त्राद् भुवनमनुग्रहायावतीर्ण इत्यर्थः ॥ ८५९ ॥

किं च—

स एव तु महादेवि कालाग्निः परमेश्वरः ।

यः कर्परिकापृष्ठे ब्रह्माण्डोर्ध्वे च प्रतिपादितः, स एवेति नीललोहितो यस्य दक्षिणजिह्वामात्रात्मा कालाग्निः, स निःसामान्यात्मेति यावत् ॥

एतस्य शिवाग्नेर्ध्यायिजनोपयोगि—

तस्य रूपं प्रवक्ष्यामि शृणुष्वावहिता प्रिये ॥ ८६० ॥
रक्तपद्मदलच्छायः पद्मरागसमद्युतिः ।

जो कि अण्ड के मध्य में अवतीर्ण होकर नित्य तीन-तीन रूपों में (स्थित) हैं ॥ -८५८ ॥

(तीन-तीन भेद =) भौम, आन्तरिक्ष और जाठर (अग्नि) के रूप में ॥ ८५८॥

और भी—

यह स्वयम्भू नीललोहित अग्नि उस परमात्मा रुद्र के दायें मुख में जिह्वा के रूप में स्थित है ॥ ८५९ ॥

उसके = शिवाग्निरूप रुद्र के । जो नीललोहितज्वालाचिह्नस्वरूप स्वयम्भू अग्नि श्रीशैल आदि में प्रसिद्ध है वह (रुद्र के) दाँये मुख में जिह्वा के रूप में स्थित है और वहीं से (प्राणियों पर) अनुग्रह करने के लिये अवतीर्ण है ॥ ८५९ ॥

और भी—

हे महादेवि ! वही कालाग्नि परमेश्वर हैं ॥ ८६०- ॥

जो कर्परिका के पृष्ठ भाग एवं ब्रह्माण्ड के ऊपर बतलाया गया वही नीललोहित है । इसकी दक्षिणजिह्वा कालाग्नि है । वह असाधारण है ॥

इस शिवाग्नि के, ध्यानी जनों के लिये उपयोगी—

रूप का वर्णन करूँगा । हे प्रिये! ध्यान देकर सुनो । वह लालकमल

रक्ताम्बरधरः श्रीमान् रक्तमाल्यानुलेपनः ॥ ८६१ ॥
अर्काभाभ्यां कुण्डलाभ्यामलंकृतशुभाननः ।
महाहारेण दीप्तेन उरःस्थेन विराजते ॥ ८६२ ॥

पद्मरागमयेनेत्यर्थात् ॥ ८६२ ॥

किं च—

किरीटी कुण्डली दीप्तो देवानामास्यमुच्यते ।

अस्यन्त्यनेन शिवाग्निरूपेण विश्वभक्षकेण हविरित्यास्यम् ॥

अयं चात्र भुवने—

सर्ववज्रमये पीठे उपविष्टः स्वयं प्रभुः ॥ ८६३ ॥
दावाग्निरिव शैलाग्रे वेणुघर्षात् समुत्थितः ।

किं च—

दशकोटिसहस्राणि आग्नेयास्तु गणेश्वराः ॥ ८६४ ॥
दक्षिणास्याद्विनिष्क्रान्ताः श्वसतोऽस्य स्वयम्भुवः ।

की पंखुड़ी के समान, पद्मराग मणि के समान कान्तिवाला, लालवस्त्र धारण किया हुआ, लाल माला और लाल अनुलेप वाला है । उसका मुख प्रातःकालीन दो सूर्यों के समान दो कुण्डलों से अलंकृत है । वक्षःस्थल पर विशाल दीप्त हार शोभायमान हो रहा है ॥ -८६०-८६२ ॥

(यह महाहार भी) पद्मरागमणि का बना हुआ है—यह अर्थात् समझ लेना चाहिये ॥ ८६२ ॥

और भी—

किरीट एवं कुण्डल को धारण करने वाला दीप्त यह (अग्नि) देवताओं का मुख कहा जाता है ॥ ८६३- ॥

जिस विश्वभक्षक शिवाग्नि के द्वारा (देवता लोग) हवि का (असन =) भक्षण करते हैं—वह आस्य है ॥

इस भुवन में यह—

प्रभु पर्वत के अग्रभाग में बाँस के घर्षण से उत्पन्न दावाग्नि के समान सर्ववज्रमय पीठ पर स्वयं उपविष्ट हैं ॥ -८६३-८६४- ॥

तथा—

श्वास लेते हुए इस स्वयम्भू (अग्नि) के दक्षिण मुख से दश हजार

हिताय सर्वलोकानां रुद्रा वै सूर्यवर्चसः ॥ ८६५ ॥
तेन तेऽग्निं महात्मानो नित्यशः पर्युपासते ।

गणानां स्वपरिवाराणामीश्वरा रुद्राः । हिताय सर्वभूतानामिति सूर्यमरीच्याद्यधिष्ठानद्वारेण संस्थिताग्न्यधिष्ठानेन च भोगमोक्षरूपमनुग्रहं सम्पादयितुम्, तथा च पुराणेषु—

'चन्द्रार्कयोर्मध्यगता ये च चन्द्रार्करश्मिषु ।
रसातलगता ये च ये च तस्मात् परं गताः ॥
नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्यो नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः।
येषां न विद्यते संख्या प्रमाणं रूपमेव वा ॥
असंख्येयगणा रुद्रा नमस्तेभ्योऽस्तु नित्यशः ।'
(वाम०पु० २६।१५९-१६१)

इति स्तुतिवाक्यमस्ति ॥

किं च—

नार्यश्च विविधा दिव्या दिव्यगीतविचक्षणाः ॥ ८६६ ॥
गणा रुद्रा भूतगणाः किङ्कराश्च सहस्रशः ।

तं पर्युपासत इति सम्बन्धः ॥

करोड़ आग्नेय गणेश्वर निकल पड़े । सूर्य के समान तेजस्वी ये रुद्र सब लोगों के हित के लिये (उत्पन्न हुए) इस कारण वे महात्मा लोग अग्नि की नित्य उपासना करते रहते हैं ॥ -८६४-८६६- ॥

गण अर्थात् अपने परिवारों के ईश्वर गणेश्वर हैं वे ही रुद्र हैं । समस्त प्राणियों के हित के लिये = सूर्य की किरणों तथा अग्नि के ऊपर अधिष्ठित होकर भोग और मोक्ष रूप अनुग्रह का सम्पादन करने के लिये (निर्गत हुए) । पुराणों में भी—

'जो सूर्य और चन्द्रमा के मध्य में हैं; जो सूर्य और चन्द्रमा की किरणों में है, जो रसातल में अथवा उससे परे स्थित हैं उनको नित्य नमस्कार है । जिनकी संख्या परिमाण और रूप की सीमा नहीं है ऐसे असंख्येय रुद्रगणों को नित्य नमस्कार है ।' (वाम.पु. २६।१५९-१६१)

ऐसा स्तुतिवचन है ॥

और भी—

दिव्यगीत में विचक्षण अनेक दिव्य स्त्रियाँ तथा हजारों रुद्रगण एवं भूतगण उनकी नित्य उपासना करते रहते हैं ॥ -८६६-८६७- ॥

उनकी उपासना करते हैं—यह अन्वय है ।

किं च—

स वै शिवाग्निः पठितः सर्वहौमेश्वरः परः ॥ ८६७ ॥

पारमेश्वरेषु शास्त्रेषु दीक्षात्मनि शिवयज्ञे ॥

किं चासौ—

अग्निकार्यविधानेषु हूयते तद्विदैः सदा ।

तत्र विदा ज्ञानं येषां ते तद्विदास्तैः ।

किं च—

तमग्निमैश्वरं यान्ति कृत्वाग्नेयीं तु धारणाम् ॥ ८६८ ॥

देहान्त इत्यर्थात् ॥ ८६८ ॥

अयं चास्य शिवाग्नेर्महिमा, यत्—

स एकधा स बहुधा व्याप्य सर्वं व्यवस्थितः।

एकधेति शिवाग्नितया । बहुधेति वक्ष्यमाणपञ्चाशद्रूपतया ॥

और भी—

वही शिवाग्नि (शास्त्रों में) सर्वहोमेश्वर एवं पर कहा गया है ॥-८६७ ॥

पारमेश्वर शास्त्र एवं दीक्षारूप शिवयज्ञ में—ऐसा कहा गया ॥

और भी—

इसके वेत्ता लोगों के द्वारा अग्निकार्य के अनुष्ठानों में उसका आवाहन सदा किया जाता है ॥ ८६८- ॥

('तद्विदादैः' का अर्थ स्पष्ट करते हैं) उस विषय में ज्ञान है जिनका वे तद्विद हैं उनके द्वारा ।

और भी—

(लोग) आग्नेयी धारणा कर देहान्त में उस ऐश्वर अग्नि के धाम को प्राप्त होते हैं ॥ -८६८ ॥

अर्थात् देहावसान में ॥ ८६८ ॥

इस शिवाग्नि की यह महिमा है कि—

वह एक रूप में तथा अनेक रूपों में सबको व्याप्त कर स्थित है ॥ ८६९- ॥

एक रूप में—शिवाग्नि के रूप में । बहु रूप में = आगे कहे जाने वाले

किं च—

स तेजस्तेजसां योनिः............

यतः—

............तस्माज्जज्ञे दिवाकरः ॥ ८६९ ॥

जज्ञे जातः । उक्तं च—

'ज्ञानशक्तिः परस्यैषा तपत्यादित्यविग्रहा।' (१०।४९९)

इति । शिवाग्नेरस्येहोद्भवो यत उक्तः ॥ ८६९ ॥

किं च—

बहुधा व्यज्यते चासौ कल्पमन्वन्तरादिषु ।

वक्ष्यमाणेषु कल्पादिषु बहुधा व्यज्यते नानाप्रकारतया ब्रह्माण्डान्तरंशांशिकयावतरति ॥

किं चायम्—

भिन्नश्च जन्मभेदैश्च पञ्चाशद्भिश्च भूतले ॥ ८७० ॥

पचास रूपों में ॥

तथा—

वह समस्त तेजों की योनिभूत तेज है ॥ -८६९- ॥

क्योंकि—

उससे ही सूर्य उत्पन्न हुआ है ॥ -८६९ ॥

जज्ञे = उत्पन्न हुआ है । कहा भी गया—

'पर तत्त्व की यह ज्ञानशक्ति ही आदित्य के रूप में ताप उत्पन्न करती है ।' (१०।४९९)

यहीं से शिवाग्नि की उत्पत्ति भी बतलायी गयी है ॥ ८६९ ॥

तथा—

कल्प मन्वन्तर आदि में यह अनेक प्रकार से अभिव्यक्ति होता है ॥ ८७०- ॥

वक्ष्यमाण कल्प आदि में वह अनेक प्रकार से व्यक्त होता है = ब्रह्माण्ड के अन्दर नाना रूपों में अंश अंश रूप में अवतरित होता है ॥

और भी—

यह पृथिवीतल पर पचास जन्मभेद से (पचास) प्रकार का है ॥-८७०॥

ते च वायुपुराणादौ[१] विद्युदरणिसूर्यकान्तोद्भूतानां पावकपवमानशुचिसंज्ञानां भेदेन तत्पुत्रपौत्रादिभेदेन च भरतवैश्वानराथर्वभृद्दृगादिनानानादनिर्दिष्टेन पञ्चाशन्नित्यनैमित्तिककाम्यकर्माधिकरणभूताः केचिद् लौकिकाः केचिच्च वैदिका निर्दिष्टाः । मोचकस्त्वेक एव शिवाग्निः परमेशमन्त्रसंस्कारसंस्कृतः साक्षादयमेवावतीर्णः स एकधेति योऽनन्तरं निर्दिष्टः ॥ ८७० ॥

उपसंहरति—

तदेवं कीर्तितं सम्यगाग्नेयं भुवनं महत् ।

अत्रैव—

भुवनाधिपांश्च भुवने कथयामि त्वतः परम् ॥ ८७१ ॥
हरिश्चन्द्रं च श्रीशैलं जल्यमाम्रातकेश्वरम् ।
महाकालं मध्यमं च केदारं भैरवं तथा ॥ ८७२ ॥

तदभिधाने रुद्राष्टकं पूर्वोक्ताद् गुह्याष्टकात् सातिशयम्—

अतिगुह्यं समाख्यातं............

वायु पुराण आदि में विद्युत्, अरणि और सूर्यकान्तमणि से उत्पन्न अग्नियों के नाम क्रमशः पावक पवमान और शुचि है । इन तीनों के पुत्र, पौत्र आदि के भेद से भरत वैश्वानर निर्दिष्ट आथर्वभृत् दृक् आदि अनेक नाम से पुत्र पौत्र आदि पचास भेद होते हैं । नित्य नैमित्तिक और काम्य कर्मों के आधारभूत ये कुछ तो लौकिक और कुछ वैदिक अग्नियाँ कही गयी हैं । मोचक तो एक ही शिवाग्नि है । यह पारमेश्वर मन्त्र के संस्कार से संस्कृत है । यही साक्षात् अवतीर्ण हुआ । यह एक प्रकार का है जिसका वर्णन अभी पहले किया गया ॥ ८७० ॥

उपसंहार करते हैं—

तो इस प्रकार महान् आग्नेय भुवन का सम्यक् वर्णन किया गया ॥ ८७१- ॥

यही पर—

इसके बाद इस भुवन में भुवनाधिपों को बतलाता हूँ । हरिश्चन्द्र, श्रीशैल, जल्प, आम्रातकेश्वर, महाकाल, मध्यम, केदार और भैरव (ये आठ भुवनेश्वर हैं) ॥ -८७१-८७२ ॥

पूर्वोक्त आठ गुह्यों की अपेक्षा ये आठ रुद्र अतिशययुक्त (= बढ़ कर) हैं—

इन्हें अतिगुह्य कहा गया है ॥ ८७३- ॥

---

१. वैद्युताद्यग्नीनां लक्षणप्रतिपादकः ५३ तमोऽध्यायोऽत्र परीक्षणार्हः ।

अतिगुह्यं गुह्येभ्यः प्रकृष्टत्वात् । एवमुत्तरत्र ॥

कथमेतदत्र स्थितम् ?—इत्याह—

.............पूर्वेशान्तमनुक्रमात् ।

पूर्वदिश ईशानदिगन्तं स्थितं प्रधानभूतमेतद्रुद्राष्टकमित्यर्थः । एतच्चोक्तवक्ष्यमाणाष्टकान्तरेष्वप्येवमवस्थानं प्राधान्यं चोपलक्षयति ॥

अथोर्ध्वे वाय्वावरणं तत्रस्थो वायुरव्ययः ॥ ८७३ ॥
प्राणस्य भुवनं तत्र वायोस्तु वरवर्णिनि ।
शङ्खगोक्षीरधवलं शरत्कुन्देन्दुसप्रभम् ॥ ८७४ ॥

प्राणाख्यस्य प्रधानस्य वायोः—

तस्मिंस्तु भुवने दिव्ये दिव्याश्चर्यशतैर्युते ।
मध्ये तु मण्डलं दिव्यं शरच्चन्द्रसमप्रभम् ॥ ८७५ ॥
रश्मिमालाकुलं दिव्यं द्योतयद् वै दिशो दश ।

मण्डलं प्रधानपुरम् ॥

तस्य मध्ये तु देवेशि वायोस्तु परमा तनुः ॥ ८७६ ॥

गुह्यों से प्रकृष्ट होने के कारण ये अतिगुह्य हैं—इसी प्रकार आगे भी जानना चाहिये ॥

इनकी स्थिति यहाँ कैसे है ?—यह कहते हैं—

ये पूर्व दिशा से लेकर ईशान कोणपर्यन्त क्रम से स्थित हैं ॥ -८७३-॥

ये प्रधानभूत आठ रुद्र पूर्व दिशा से लेकर ईशान दिशा तक स्थित हैं । उक्त और वक्ष्यमाण दूसरे अष्टकों के बीच इनका यह अवस्थान उनकी प्रधानता को बतलाता है ॥

उसके ऊपर वायु का आवरण है । वहाँ रहने वाला वायु अव्यय (= नित्य) है । हे वरवर्णिनि ! वहाँ प्राणवायु का भुवन है । वह शङ्ख, गाय के दूध के समान धवल है । शरत्कालीन कुन्द एवं चन्द्रमा के समान कान्ति वाला है ॥-८७३-८७४ ॥

प्राण नामक प्रधान वायु का—

वह भुवन दिव्य और सैकड़ों दिव्य आश्चर्यों से युक्त है । उसके मध्य में शरत्चन्द्र के समान एक दिव्य मण्डल है । रश्मिमाला से व्याप्त यह दिव्य मण्डिल दशो दिशाओं को प्रकाशित करता रहता है ॥ ८७५-८७६-॥

मण्डल = प्रधान भुवन ॥

वाय्वधिष्ठातृदेवः स्थित इत्यर्थः ॥ ८७६ ॥

स च—

किरीटी कुण्डली दीप्तो हारकेयूरभूषितः ।
नानाभरणचित्राङ्गश्चित्रमाल्यानुलेपनः ॥ ८७७ ॥
चित्राम्बरधरः श्रीमान् महाहारविभूषितः ।

तं च—

मारुता नाम वै देवाः शतकोट्यो महाबलाः ॥ ८७८ ॥
उपासते महात्मानं वायुमूर्तिं महाद्युतिम् ।

कं तमित्याह—

यो व्यापयेच्छरीराणि एकधा पञ्चधा विभुः ॥ ८७९ ॥

एकधा सामान्यप्राणात्मना । प्राणापानसमानोदानव्यानानां भेदेन तु पञ्चधा । व्यापयेदिति व्याप्नुवतः स्वप्रपञ्चव्याप्तिरूपान् वायून् प्रयुञ्जीत ॥ ८७९ ॥

न केवलं सर्वाणि शरीराणि स्वप्रपञ्चव्याप्तिरूपैः सूक्ष्मवायुभिर्व्यापयेदिति, यावद् बहिरपि—

हे देवेशि ! उसके मध्य में वायु देवता की परम देह है ॥ -८७६ ॥

अर्थात् वहाँ वायु की अधिष्ठात्री देवता स्थित है ॥ ८७६ ॥

और वह—

किरीट तथा कुण्डल धारण किये हैं । देदीप्यमान वह हार और केयूर (= बाहों में धारण किया जाने वाला आभरण) से भूषित हैं । अनेक आभूषणों से चित्रित अङ्ग वाले वह विचित्र माला और अनुलेप वाले हैं । विचित्र वस्त्र को धारण करने वाले वह श्रीमान् महाहार से विभूषित हैं । मारुत नाम वाले सौ करोड़ महाबलशाली देवता इस महाद्युति महात्मा वायु मूर्त्ति की उपासना करते रहते हैं ॥ ८७७-८७९- ॥

किस उसकी उपासना करते रहते हैं ?—यह बतलाते हैं—

जो प्रभु एक रूप में या पाँच रूप में शरीरों को व्याप्त किये हैं (उनकी) ॥ -८७९ ॥

एकधा = सामान्य प्राण के रूप में । पञ्चधा = प्राण अपान समान उदान और व्यान के भेद से । व्याप्त किये हैं—व्याप्त होने वाले अपने प्रपञ्च की व्याप्तिरूप वायुओं का प्रयोग करते रहते हैं ॥ ८७९ ॥

(यह वायु देवता) केवल समस्त शरीरों को ही अपने प्रपञ्च व्याप्तिरूप सूक्ष्म

सप्तधा सप्तधा चैव तिर्यग्गो द्विगुणो विभुः ।

'आ मेघाद् भास्करात्' (१०।५१३) इत्याद्युक्तनीत्या ये सप्त, ते प्रत्येकं पौराणिकप्रसिद्ध्या सप्तधेत्येकोनपञ्चाशद्धा बहिस्तिर्यग्गो वायुः । द्विगुण इति शब्दस्पर्शाख्यगुणद्वययुक्तः ॥

एवंभेदभिन्नस्याधिष्ठातृदेवतात्मा—

स्वमण्डलस्य सा दिव्यैर्विभात्येका परा तनुः ॥ ८८० ॥

किं च—

तमेतमेकं दशधा प्राणात्मानं तु योगिनः ।
ध्यात्वा त्यक्त्वा तु वै प्राणान् कृत्वा तस्मिंस्तु धारणाम्॥ ८८१ ॥
तं विशन्ति महात्मानो वायुभूताः खमूर्तयः ।

तमिति सामान्यप्राणरूपमेकम् । दशधेति प्राणादिभेदान्नागकूर्मादिभेदाच्च । तं विशन्तीति वाय्वावरणगतत्वाद्वायुदेवतासायुज्यं यान्ति ॥

उपसंहरति—

वायुओं से व्याप्त नहीं करते बल्कि बाहर भी—

दो गुणों वाले यह व्यापक देव सात × सात प्रकार से तिरछे चलते रहते हैं ॥ ८८०- ॥

'आ मेघात् भास्करात्' (१०।५१३) इत्यादि उक्त नीति से जो सात प्रकार के वायु हैं वे प्रत्येक पौराणिक प्रसिद्धि के अनुसार सात होते हैं । इस प्रकार बाह्य तिर्यक्गामी वायु उच्छ्वास है । दो गुण वाले—शब्द और स्पर्श गुणों से युक्त ॥

इस प्रकार के भेद से भिन्न वायु का अधिष्ठातृदेवता रूप—

वह अपने मण्डल का एक परा तनु दिव्य गुणों से भासित होती रहती है ॥ -८८० ॥

और भी—

उस इस एक प्राण को योगी लोग दश प्रकार से ध्यान कर और उसमें धारणा कर के प्राणों का त्याग करने के बाद वे महात्मा वायुभूत शून्यमूर्त्ति (= रूपरहित) होकर उस वायुलोक में प्रवेश कर जाते हैं ॥ ८८१-८८२- ॥

उसको = सामान्य प्राणरूप एक वायु को । दश प्रकार से = प्राण अपान समान उदान और व्यान तथा नाग कूर्म कृकर देवदत्त और धनञ्जय के भेद से । उसमें प्रवेश कर जाते हैं—वायु आवरण में होने के कारण वायुदेवता से सायुज्य प्राप्त कर लेते हैं ॥

इति प्राणस्य भुवनमाख्यातं तव सुव्रते ॥ ८८२ ॥

अथ—

भुवनेशांस्तत्र रुद्रान् कथयाम्यनुपूर्वशः ।
गयां चैव कुरुक्षेत्रं नाकलं कनखलं तथा ॥ ८८३ ॥
विमलं चाट्टहासं च माहेन्द्रं भीममष्टमम् ।

पूर्ववद् भुवनमप्यवतीर्णम्—

गुह्याद् गुह्यतरं ह्येतद्वेदितव्यं प्रयत्नतः ॥ ८८४ ॥

वेदितव्यमिति दीक्षायामुपस्थानादिपूर्वं शोध्यत्वेन ॥ ८८४ ॥

अथोपरि—

आकाशे तु यथाकाशं शुद्धस्फटिकनिर्मलम् ।

आकाश इति तदावरणे । यथाकाशमिति व्यापकम् । शुद्धेति स्वच्छम् । भुवनमित्यर्थात् ॥

तथाऽत्र—

उपसंहार करते हैं—

हे सुव्रते! इस प्रकार से तुमको प्राणवायु के भुवन को बतलाया गया ॥ -८८२ ॥

अब—

वहाँ विराजमान भुवनेशरुद्रों को क्रम से कह रहा हूँ । गया, कुरुक्षेत्र, नाकल, कनखल, विमल, अट्टहास, माहेन्द्र और भीम ये हैं ॥८८३-८८४-॥

पूर्व की भाँति (= धारणा के द्वारा) इस अवतीर्ण भुवन को—

गुह्य से भी गुह्यतर मान कर प्रयत्नपूर्वक जानना चाहिये ॥ -८८४ ॥

जानना चाहिये—दीक्षा में उपस्थान आदि से पूर्व शोध्य के रूप में (जानना चाहिये) ॥ ८८४ ॥

इसके ऊपर—

आकाशावरण में आकाश के समान शुद्ध स्फटिक की भाँति निर्मल (भुवन है) ॥ ८८५- ॥

आकाश में = उसके आवरण में । आकाश के समान—व्यापक । शुद्ध = स्वच्छ । भुवन है—इसे अर्थात् समझ लेना चाहिये ॥

यहाँ—

सूक्ष्मरूपोऽव्ययो नित्यो मध्यदेशे व्यवस्थितः॥ ८८५ ॥

आकाशाख्य एव परमेश्वरमूर्तिरूपो भुवनेश इत्यर्थात् ॥ ८८५ ॥

किं च—

आकाशधारणायुक्तो योगी युज्येत तत्पदे ।

देहान्तर एव ॥

अथ—

अत्राकाशे प्रवक्ष्यामि ये रुद्राः संव्यवस्थिताः ॥ ८८६ ॥

तान् ॥ ८८६ ॥

वस्त्रापदं रुद्रकोटिमविमुक्तं महालयम् ।
गोकर्णं भद्रकर्णं च स्वर्णाक्षं स्थाणुमष्टमम् ॥ ८८७ ॥
पवित्राष्टकमेतद्धि समासेन प्रकीर्तितम् ।

पवित्रस्य निरावरणपदनिविष्टत्वेन पूर्वेभ्योऽप्युत्कर्षात् ॥

अथ—

(भुवन के) मध्य देश में सूक्ष्मरूप अव्यय नित्य (भुवनेश) स्थित हैं ॥ -८८५ ॥

आकाश नामक तत्त्व ही परमेश्वर की मूर्ति है । अर्थात् भुवनेश हैं ॥ ८८५॥

तथा—

आकाश में धारणा से युक्त योगी उस पद में सायुज्य को प्राप्त होता है ॥ ८८६- ॥

देहान्तर (= दूसरा शरीर प्राप्त होने) पर ॥

अब—

जो रुद्र इस आकाश में सम्यग् व्यवस्थित हैं अब मैं आपको उनको बतलाऊँगा ॥ -८८६ ॥

उन रुद्रों को ॥ ८८६ ॥

वस्त्रापद, रुद्रकोटि, अविमुक्त, महालय, गोकर्ण, भद्रकर्ण, स्वर्णाक्ष और स्थाणु ये पवित्राष्टक संक्षेप में बतलाये गये ॥ ८८७-८८८- ॥

निरावरण पद में निविष्ट होने के कारण यह पवित्राष्टक पूर्ववर्णित रुद्रों से भी उत्कृष्ट है ॥

इसके पश्चात्—

अस्य बाह्यो अहङ्कारः..............

अस्य आकाशावरणस्य बाह्यो सर्वतो व्यापकत्वेनावस्थितोऽहङ्कार इत्यन्तर्गर्भीकृततन्मात्रेन्द्रियात्मकस्वविकारषोडशकमहङ्कारावरणमित्यर्थः ॥

अतश्च—

............तत्र रुद्रान्निबोध मे ॥ ८८८ ॥
छगलाण्डं दुरण्डं च माकोटं मण्डलेश्वरम् ।
कालञ्जरं शङ्कुकर्णं स्थूलेश्वरस्थलेश्वरौ ॥ ८८९ ॥
स्थाण्वष्टकं समाख्यातं...........

तिष्ठत्यस्मिन् तन्मात्रेन्द्रियाधिष्ठातृद्वारेण सर्वभोगसम्पदिति स्थाणुशब्दाभिधेयमष्टकमेतत् ॥

पूर्ववदष्टकमेतत्—

............पूर्वादीशानगोचरम् ।

स्थितमित्यर्थात् ॥

एतदष्टकाधिष्ठानादेव च—

मध्यदेशे स्थितो रुद्रस्त्वहङ्कारेश्वरः प्रभुः ॥ ८९० ॥

इसके बाहर अहङ्कार है ॥ -८८८- ॥

इसके = आकाशावरण के, बाहर सब ओर से व्यापक के रूप में अहङ्कार तत्त्व का आवरण है । यह अपने अन्दर पञ्च तन्मात्रा और ग्यारह इन्द्रियरूप सोलह विकारों को समेटे हुए है ॥

इसलिये—

वहाँ स्थित रुद्रों को मुझसे जानो । छगलाण्ड, दुरण्ड, माकोट, मण्डलेश्वर, कालञ्जर, शङ्कुकर्ण, स्थूलेश्वर और स्थलेश्वर ये आठ स्थाणु (= रुद्र) कहे गये हैं ॥ -८८८-८९०- ॥

तन्मात्राओं और इन्द्रियों के अधिष्ठाता के द्वारा जिसमें समस्त भोग सम्पत् स्थित रहती है वह अष्टक स्थाणु शब्द का अर्थ है ॥

पूर्व की भाँति यह अष्टक भी—

पूर्व दिशा से लेकर ईशान तक गोचर अर्थात् स्थित है ॥ -८९०- ॥

अर्थात् स्थित है ॥

इस अष्टक के अधिष्ठान के कारण ही—

अहङ्काराधिष्ठातृदेवतात्मा एतत्तत्त्वाविभिन्नमूर्तिः । अत एव श्रीपूर्वादौ (५।२१-२२) प्रधानभूतस्याष्टकस्य शोध्यत्वमुक्तम्, न तु तदधिष्ठेयस्याहङ्कारेश्वरस्य ॥ ८९० ॥

इदानीं जलतत्त्वाधिपतेर्गुह्याद्यष्टकपञ्चकस्य दीक्षायां ध्यानोपयोगि रूपमादिशति क्रमेण—

श्वेतं रक्तं तथा पीतं कृष्णं स्फटिकसप्रभम् ।

तदित्थम्—

पञ्चाष्टकेषु ये वर्णाः समासात् कथितास्तव ॥ ८९१ ॥

शतरुद्राणामपि पूर्वादिदिक्क्रमेणैव वर्णविभागं निरूपयति—

सिता रक्तास्तथा कृष्णा नीलाः श्यामा बलाहकाः ।
पीताः शुक्लाश्च विज्ञेयाः.............

ऊर्ध्वं तु कपिशाः—

......अधस्तु धूम्रवर्चसः ॥ ८९२ ॥

त एतद्वर्णाः—

(इसके) मध्य देश में अहङ्कारेश्वर भगवान् रुद्र स्थित हैं ॥ -८९० ॥

(अहङ्कारेश्वर का अर्थ है—) अहङ्कार की अधिष्ठात्री देवतारूप, इस (अहङ्कार) तत्त्व की अभिन्न मूर्त्ति । इसीलिये मालिनीविजय तन्त्र आदि (५।२१-२२) में प्रधानभूत इस अष्टक को शोध्य माना है न कि उसके अधिष्ठेय अहङ्कारेश्वर को ॥ ८९० ॥

अब जल तत्त्व के अधिपति पाँच गुह्याष्टकों, जो कि दीक्षा में ध्यानोपयोगी हैं, का रूप क्रम से बतलाते हैं—

(वे) श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण तथा स्फटिक के समान प्रभा वाले हैं ॥ ८९१- ॥

तो इस प्रकार—

पञ्चाष्टकों के जो वर्ण हैं वे संक्षेप में तुम्हें बतलाये गये ॥ -८९१ ॥

शतरुद्रों का भी पूर्व आदि दिशा के क्रम से वर्णविभाग बतलाते हैं—

श्वेत, रक्त, कृष्ण, नील, बादल के समान श्याम, पीत, शुक्ल (ये आठ दिशाओं में स्थित रुद्रों के क्रमिक वर्ण हैं) ॥ ८९२- ॥

ऊपर (के रुद्रों का रङ्ग) कपिश (= अनेक रङ्ग वाला) है—

(और) नीचे (के रुद्र) धूम्रवर्ण (= धुयें के रङ्ग) वाले हैं ॥ -८९२ ॥

शतरुद्राः समाख्यातास्त्रिनेत्राः शूलपाणयः ।
चन्द्रार्धमौलयः सर्वे रुद्राणीभिः समन्विताः ॥ ८९३ ॥

सर्व इति पञ्चाष्टकरुद्रा अपि त्रिनेत्रादिरूपाः ॥ ८९३ ॥

एवं देवानां रूपमुक्त्वा तद्भुवनानामप्याह—

पद्माकृतीति ज्ञेयानि चित्ररत्नयुतानि च ।
शतरुद्रभुवनानि भोगैश्वर्ययुतानि च ॥ ८९४ ॥
पञ्चाष्टके पुराणि स्युः कूर्माकाराणि सर्वतः ।

एवमहङ्कारावरणे रुद्रानुक्त्वा तदन्तर्वर्तितन्मात्रादिषोडशकक्रमेण भुवनानि निरूपयितुमुपक्रमते—

आकाशावरणादूर्ध्वमहङ्कारादधः प्रिये ॥ ८९५ ॥
भुवनानि प्रवक्ष्यामि शृणुष्वैकमनाः पुनः ।

तत्र—

आदौ तु गन्धतन्मात्रं विस्तीर्णं मण्डलं महत् ॥ ८९६ ॥
स्थितं वितानवद् देवि योजनानेककोटयः ।

वे ये (उपर्युक्त) वर्ण वाले—

सब शतरुद्र तीन नेत्रों वाले, शूलपाणि, चन्द्रार्धमौलि तथा रुद्राणियों से समन्वित हैं ॥ ८९३ ॥

सब = पञ्चाष्टक रुद्र भी तीन नेत्रों आदि वाले हैं ॥ ८९३ ॥

इस प्रकार देवताओं का रूप बतला कर उनके भुवनों का भी रूप बतलाते हैं—

उन्हें कमल के आकारों वाला तथा विचित्र रत्नों से युक्त समझना चाहिये । शतरुद्रों के भुवन भोग एवं ऐश्वर्य से युक्त हैं । पञ्चाष्टक में जो भुवन हैं वे सर्वतः कछुये के आकार वाले हैं ॥ ८९४-८९५- ॥

इस प्रकार अहङ्कारावरण में रुद्रों का वर्णन कर उस (अहङ्कार) के अन्दर वर्तमान तन्मात्र आदि सोलह के क्रम से भुवनों का निरूपण करने का उपक्रम करते हैं—

हे प्रिये ! आकाश-आवरण के ऊपर और अहङ्कारावरण के नीचे स्थित भुवनों को बतलाऊँगा । पुनः एकाग्रचित्त होकर सुनो ॥ -८९५-८९६- ॥

उनमें—

हे देवि ! पहले गन्धतन्मात्र का विस्तृत एवं विशाल मण्डल स्थित है । वह अनेक करोड़ योजन के क्षेत्र में वितान (= तम्बू) के समान

मण्डलं भुवनं शतकोटिमानाद् ब्रह्माण्डात् क्रमेण दशगुण्या वृद्ध्या कोटिगुणमहङ्कारावरणमिति तदन्तर्वर्तिनां तन्मात्राद्यावरणानामनन्तकोटितैव भवति ॥

तच्च—

शुक्लरक्त[1]सितापीतहरितं स्फुटिकप्रभम् ॥ ८९७ ॥
वितानमिव देवेशि सर्वतः परिमण्डलम् ।

यथा च भूलोके तथा भूतत्त्वकारणेऽपि ॥

शर्वो ह्यधिपतिस्तत्र एक एव वरानने ॥ ८९८ ॥

युक्तं चैतद्यतः—

तस्मात्तु जायते पृथ्वी शर्वेशेन प्रचोदिता ।

फैला है ॥ -८९६-८९७- ॥

मण्डल = भुवन । एक सौ करोड़ योजन विस्तार वाले ब्रह्माण्ड से क्रमश दश गुनी वृद्धि के हिसाब से अहङ्कार का आवरण एक करोड़ गुना है । इसलिये उसके अन्दर रहने वाले तन्मात्र आदि आवरणों का विस्तार अनन्त कोटि (योजन) ही होता है ॥

और वह—

वह (गन्धतन्मात्रा का भुवन) शुक्ल (= चाँदी जैसा) और वह, रक्त, सित (= चन्दन जैसा) आपीत (= कुछ-कुछ पीला), हरा और स्फटिक के समान है । हे देवेशि ! वह वितान (= तम्बू) के समान सब तरफ से गोल है ॥ -८९७-८९८- ॥

जैसा पृथिवी लोक में वर्ण है वैसा ही पृथिवी तत्त्व के कारणभूत (गन्धतन्मात्रा) में भी है ॥

हे वरानने ! वहाँ शर्व नामक एक ही अधिपति हैं ॥ -८९८ ॥

यह ठीक भी है क्योंकि—

शर्वेश से प्रेरित होकर पृथ्वी उस (= गन्धतन्मात्रा) से उत्पन्न होती है ॥ ८९९- ॥

---

१. इस श्लोक में 'शुक्लरक्तसितापीतम्' के स्थान पर 'शुक्लरक्तासितापीतम्' पाठ अधिक समीचीन प्रतीत होता है । तब उसका अर्थ होगा—शुक्ल रक्त असित अर्थात् श्याम और कुछ-कुछ पीला । ऐसा पाठ मानने पर शुक्ल और सित में पुनरुक्ति दोष भी नहीं आयेगा । अन्यथा शुक्ल और सित की क्लिष्ट व्याख्या करनी पड़ेगी जैसी कि हिन्दी में की गयी है ।

अन्यथा जडस्य तन्मात्रस्य कथं कारणता स्यात् । एवमन्यत्रापि ज्ञातव्यम् ॥

अथ—

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं रसतन्मात्रमण्डलम् ॥ ८९९ ॥
हरितं मरकतश्यामं चाषपक्षनिभं प्रिये ।
भवो ह्यधिपतिस्तत्र एक एव वरानने ॥ ९०० ॥
तस्मादापो विनिष्क्रान्ता भवेशेन प्रचोदिताः ।

अथ—

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं रूपतन्मात्रमण्डलम् ॥ ९०१ ॥
स्फुरत्सूर्यांशुदीप्ताभं पद्मरागसमप्रभम् ।
रुद्रः पशुपतिस्तत्र एक एवावतिष्ठते ॥ ९०२ ॥
तस्मात्तेजो विनिष्क्रान्तं तद्वै पशुपतीच्छया ।
तत्तेजः सर्वलोकानां व्यापकं परमेश्वरि ॥ ९०३ ॥

पशुपत्याख्यो रुद्रः । लोकानां व्यापकमित्यन्तर्बहिश्च जाठरभौमरूपाद्यग्निरूपतया स्थितमित्यर्थः ॥ ९०३ ॥

अथ—

अस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं स्पर्शतन्मात्रमण्डलम् ।

अन्यथा जड गन्धतन्मात्र उत्पत्ति का कारण कैसे हो सकता है ? इसी प्रकार अन्य के विषय में भी जानना चाहिये ॥

इसके बाद—

उस (गन्धतन्मात्र) मण्डल के ऊपर रसतन्मात्र मण्डल है । हे प्रिये ! वह हरा, मरकतमणि के समान श्याम और चाष पक्षी के पङ्ख के समान वर्ण वाला है । हे वरानने ! वहाँ के एकमात्र अधिपति भव हैं । भवेश से प्रेरित उस (रसतन्मात्र) से जल निष्क्रान्त हुआ है ॥ -८९९-९०१- ॥

उस मण्डल के ऊपर रूपतन्मात्र का मण्डल है । वह चमकते हुए सूर्य की किरणों के समान तथा पद्मराग मणि के समान आभावाला है । यहाँ भी पशुपति रुद्र अकेले रहते हैं । उस (रूपतन्मात्र) से पशुपति की इच्छा के कारण तेज निकला । हे परमेश्वरि! वह तेज समस्त लोकों में व्याप्त है ॥ -९०१-९०३ ॥

पशुपति नामक रुद्र । लोकों में व्याप्त है अर्थात् जाठराग्नि पार्थिवाग्नि आदि के रूप में अन्दर और बाहर स्थित है ॥ ९०३ ॥

इसके बाद—

सन्ध्यारुणसमच्छायं वायव्यं मण्डलं प्रिये ॥ ९०४ ॥

संध्यायामरुणो गुणः किञ्चित्तमसा कर्बुरधूसराभो भवति ॥ ९०४ ॥

तच्चैतत्—

वितानाकारसदृशं समन्तात् परिमण्डलम् ।
तत्रैव मण्डले देवि त्वीशानः संव्यवस्थितः॥ ९०५ ॥

अधिपतिः ॥ ९०५ ॥

अतश्च—

तस्माद्वायुर्विनिष्क्रान्त ईशेच्छाप्रेरितः प्रिये ।

यः पूर्वं वायुतत्त्वरूप उक्तः ॥

किं च—

तस्मात् प्राणादयः पञ्च.........

तस्मादिति वायोः ॥

ततोऽसौ—

उस मण्डल के ऊपर स्पर्शतन्मात्र का मण्डल है । हे प्रिये ! वह वायव्य मण्डल सन्ध्या के समय वर्त्तमान अरुण की आभा के समान है ॥ ९०४॥

सन्ध्या के समय अरुण गुण थोड़े अन्धकार के कारण कर्बुर और धूसर जैसा हो जाता है ॥ ९०४ ॥

वह यह (वायुमण्डल)—

किसी वितान के आकार के समान चारो ओर से गोल है । हे देवि ! उस मण्डल में ईशान अधिपति के रूप में संव्यवस्थित हैं ॥ ९०५ ॥

अधिपति = स्वामी ॥ ९०५ ॥

इसलिये—

हे प्रिये ! ईश्वर की इच्छा से प्रेरित होकर उस मण्डल से वायु निकला है ॥ ९०६- ॥

वायु का अर्थ है—पूर्वोक्त वायु तत्त्व ॥

तथा—

उस से प्राण आदि पाँच वायु (निकले हैं) ॥ -९०६- ॥

उससे = वायु से ॥

...........वायोस्तद्व्यापकः परः ॥ ९०६ ॥
सप्तधा सप्तधा सोऽपि स एको बहुधा गतः ।

एतत्पूर्वमेव निर्णीतम् ॥

अथ—

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं शब्दतन्मात्रमण्डलम् ॥ ९०७ ॥
नीलोत्पलदलश्यामं स्वच्छोदकसमप्रभम् ।
वितानसदृशाकारं समन्तात् परिमण्डलम् ॥ ९०८ ॥
भीमस्तत्राधिपत्येन एक एवावतिष्ठते ।
तस्मान्नभो विनिष्क्रान्तं भीमेच्छाचोदितं महत् ॥ ९०९ ॥
व्यापकं सर्वलोकानां परापरगतं प्रिये ।

परं जलादितत्त्वस्थानम्, अपरं तु ब्रह्माण्डान्तर्गतम् ॥

अथ—

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं सूर्यमण्डलमुच्यते ॥ ९१० ॥
सहस्रादित्यसङ्काशं दीप्यमानं समन्ततः ।

इस कारण यह—

वायु इन (पाँच प्राण आदि) का व्यापक और (उनकी उपेक्षा) पर है । वह (पर वायु) एक होते हुए भी सात-सात प्रकार का होने से अनेक प्रकार का हो गया ॥ -९०६-९०७- ॥

यह पहले ही बतलाया जा चुका है ॥

इसके बाद—

उस मण्डल के ऊपर शब्दतन्मात्र का मण्डल है । यह नील कमल के दल के समान तथा स्वच्छ जल की भाँति है । वितान के सदृश आकार वाला यह चारो ओर से गोलाकार है । वहाँ अधिपति के रूप में केवल भीम ही स्थित हैं । भीम की इच्छा से प्रेरित उससे महान् आकाश उत्पन्न हुआ । हे प्रिये ! यह समस्त लोकों का व्यापक और पर अपर सर्वत्र व्याप्त है ॥ -९०७-९१०- ॥

पर = जल आदि तत्त्व । अपर = ब्रह्माण्ड ॥

इसके बाद—

उस मण्डल के ऊपर सूर्य मण्डल कहा जाता है । वह एक हजार आदित्य के समान चारो ओर से देदीप्यमान है । वितान की भाँति वह

वितानवद्रश्मिदीप्तं समन्तात् परिमण्डलम् ॥ ९११ ॥
रुद्रो ह्यधिपतिस्तत्र त्वेक एवावतिष्ठते ।
सूर्यास्तस्माद्विनिष्क्रान्ताः कल्पे कल्पे वरानने ॥ ९१२ ॥

ये ब्रह्माण्डान्तरधिकृताः । एवमुत्तरत्र ॥ ९१२ ॥

अथ—

तस्मात्त मण्डलादूर्ध्वं सोममण्डलमुच्यते ।
चन्द्रकोटिसहस्राणां तेजसा तुल्यमण्डलम् ॥ ९१३ ॥

तुल्यं च मण्डलं परिमण्डलमित्यर्थः ॥ ९१३ ॥

अत्र च—

अधिपतिस्तु महादेव एक एवावतिष्ठते ।
तस्माच्चन्द्रादिमे चन्द्रा महादेवेन चोदिताः ॥ ९१४ ॥
असंख्याताः सहस्राणि कल्पे कल्पे विनिर्गताः ।

अथ—

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं वेदमण्डलमुच्यते ॥ ९१५ ॥
चन्द्रकोटिसमच्छायं समन्तात् परिमण्डलम् ।

रश्मियों से दीप्त तथा समन्तात् मण्डलाकार है । वहाँ के अधिपति एकमात्र रुद्र हैं । हे वरानने ! उस मण्डल से कल्प-कल्प में सूर्य निकलते रहते हैं ॥ -९१०-९१२ ॥

(निकलने वाले सूर्य वे हैं—) जो ब्रह्माण्ड के भीतर (रहने के लिये) अधिकृत हैं इसी प्रकार आगे भी योजना करनी चाहिए ॥ ९१२ ॥

तदनन्तर—

उस मण्डल के ऊपर चन्द्रमण्डल कहा जाता है । वह हजारों करोड़ चन्द्रमा के तेज के तुल्य मण्डल है ॥ ९१३ ॥

(तुल्य मण्डल का समासविग्रह बतलाते हैं—) तुल्य और मण्डल अर्थात् परिमण्डल ॥ ९१३ ॥

यहाँ—

एकमात्र महादेव ही अधिपति हैं । महादेव से प्रेरित हुए ये असंख्य हजार (भौतिक) चन्द्रमा उस चन्द्रमण्डल से कल्प-कल्प में निकलते रहते हैं ॥ ९१४-९१५- ॥

तदनन्तर—

वितानवत् स्थितं दिव्यमुग्रेशसमधिष्ठितम् ॥ ९१६ ॥
संरुद्धं वामया तत्तु............

उग्राख्यस्य रुद्रस्य सम्बन्धिन्या वामाख्यशक्त्या तद्वेदमण्डलं संरुद्धमाच्छादितं पराद्वयस्वरूपमनधिष्ठितमित्यर्थः ॥

अतश्च वेदान्तप्रतिपाद्याद्वयात्मनः स्वरूपस्य वामशक्त्यावृतत्वात् कर्मानुष्ठान-प्रधानानि भेदमयान्येव—

..............तस्माद्वै निर्गतानि तु ।
यजमानसहस्राणि कल्पे कल्पे स्थितानि हि ॥ ९१७ ॥
ब्रह्मणस्तपसोग्रेण उग्रेशेन प्रचोदितात् ।

तस्माद्वेदमण्डलरूपाद् ब्रह्मण उग्रेशेन प्रचोदितात्, न त्वीश्वरचोदनां विना, उग्रेण तपसा लक्षितानि तानि निर्यातानि ब्रह्माण्डं यज्ञानुष्ठानायावतीर्णानि ॥

तत्समकालमेव च—

वेदयज्ञाश्च विविधा ब्रह्मणोऽनन्तवर्त्मनः ॥ ९१८ ॥
तस्मादेते प्रवर्तन्ते यज्ञा यज्ञफलानि च ।
तपोदानादिभिः सार्धं वामशक्त्या नियन्त्रिताः ॥ ९१९ ॥

उस मण्डल के ऊपर वेदमण्डल है । वह करोड़ों चन्द्रमा के समान आभा वाला तथा समन्तात् गोलाकार है । उग्रेश से अधिष्ठित एवं वितान के समान स्थित वह वामाशक्ति से संरुद्ध है ॥ -९१५-९१७- ॥

वह वेदमण्डल उग्र नामक रुद्र से सम्बद्ध वामा नामक शक्ति से संरुद्ध = आच्छादित है अर्थात् पर अद्वयस्वरूप में अनधिष्ठित है ॥

इसलिये वेदान्तप्रतिपाद्य अद्वय वाले अपने रूप के वामाशक्ति से आवृत होने के कारण कर्मानुष्ठानप्रधान तथा भेदमय—

यजमान सहस्रों की संख्या में उससे निकल कर कल्प-कल्प में स्थित होते हैं । यह निःसरण ब्रह्मा की उग्र तपस्या से उग्रेश से प्रचोदित होकर होता है ॥ -९१७-९१८- ॥

उस वेदमण्डल रूप ब्रह्मा से उग्रेश की प्रेरणा के कारण न कि ईश्वर की प्रेरणा के बिना, उग्र तपस्या से लक्षित वे निर्गत हुए = ब्रह्माण्ड में यज्ञ अनुष्ठान के लिये अवतीर्ण हुए ॥

उसी समय—

उस अनन्तवर्त्मा ब्रह्मा से अनेक वेदयज्ञ, सामान्ययज्ञ, यज्ञों के फल ये सब वामा शक्ति से नियन्त्रित होकर तपस् दान आदि के साथ

वेदयज्ञा ज्योतिष्टोमादयः । यज्ञा इति स्वाध्यायजपयज्ञादयः । एतच्च—

'ब्रह्माण्डमेतदाख्यातं पाशजालावतारितम्' (१०।६६४)

इत्युक्तदृष्ट्या

'वामाधः प्रेरयत्यणुम्'

इति स्थित्या वामाशक्त्यधिष्ठानक्रमेणोग्रदेवेनैव सम्पाद्यते । ब्रह्मणोऽपि हि तन्निर्मातृत्वाभिमानस्तेनैव दत्तः ॥ ९१९ ॥

उपसंहरति—

इत्यष्टौ तनवस्त्वेताः परा वै सम्प्रकीर्तिताः ।

परमेश्वरस्येत्यर्थः ॥

यदपेक्षया परा एताः, ता अप्याह—

अपरा ब्रह्मणोऽण्डं वै व्याप्य सर्वं व्यवस्थिताः ॥ ९२० ॥

बहिरन्तश्च स्थावरभूतरूपा इत्यर्थः । एवं चाभिदधत्सर्वमिदं परमेश्वरात्मकमित्यद्वयदृष्टिमेव प्रस्तुतां निर्वाहयति । एवं भूततन्मात्रात्मकदशविधकार्यतत्त्वगतो

(अवतीर्ण हुए) ॥ -९१८-९१९ ॥

वेदयज्ञ = ज्योतिष्टोम आदि । यज्ञ = स्वाध्याय, जपयज्ञ आदि । और यह—

'यह ब्रह्माण्ड पाशजाल से अवतरित कहा गया है ।' (१०।६६४)

उस वचन से—

'(परमेश्वर की) वामा शक्ति जीवों को नीचे ले जाती हैं ।'

इस रीति से—

वामा शक्ति के द्वारा अधिष्ठित होने से ही उग्रेश्वर के द्वारा सम्पन्न किया जाता है । ब्रह्मा को भी उस (= ब्रह्माण्ड) के निर्माण का अभिमान उस (= उग्रेश्वर) ने ही दिया है ॥ ९१९ ॥

(प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार परमेश्वर की ये आठ परा मूर्त्तियाँ बतलायी गयीं ॥ ९२०-॥

अर्थात् परमेश्वर की आठ मूर्तियाँ ॥

जिनकी उपेक्षा ये (मूर्त्तियाँ) परा हैं उनको भी बतलाते हैं—

अपरा (शक्तियाँ) सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को व्याप्त कर स्थित हैं ॥ -९२०॥

(ये अपरा शक्तियाँ) बाहर और अन्दर स्थावर भूत रूप हैं । ऐसा कहते हुए

भुवनविभाग उक्तः, तत्प्रसङ्गेन च मूर्त्यष्टकाधिष्ठायकमूर्तीश्वराष्टकमुक्तम् । उक्तमूर्त्यष्टकाधिष्ठायकमध्ये याजमानी मूर्तिः सर्वोपरि प्रधानभूतोक्ता, यस्या मूर्तिपञ्चकं कार्यात्मकं भोग्यं सूर्यसोमात्मकं च मूर्तिद्वयं कारणतया वर्तते ॥ ९२० ॥

एवं कार्यावरणमहङ्कारान्तर्गतं पञ्चविधमुक्त्वा करणावरणैकादशकं प्रकटयितुमाह—

एभ्यः परतरं चापि मण्डलं करणात्मकम् ।

करणं शब्दोदीरणादिव्यापारतत्साधनकर्मेन्द्रियोदयस्थानम् । मण्डलं भुवनं वक्ष्यमाणदृष्ट्या वागादिकर्मेन्द्रियतत्त्वपञ्चात्मकतया विभक्तमित्यर्थः ॥

तच्च क्रमेण—

शुक्लरक्तासितं पीतं हरितं चापि वर्णतः ॥ ९२१ ॥

तत्र च—

पञ्चाधिपास्तु तिष्ठन्ति मण्डले करणात्मके ।

ते चाधारपटलनिरूपयिष्यमाणनीत्या वह्निशक्रविष्णुमित्रकश्यपाः ॥

परमेश्वर यह बतला रहे हैं कि यह सब परमेश्वरात्मक ही है । यही अद्वयदृष्टि है जो कि (ग्रन्थ में) प्रस्तुत है । इस प्रकार पञ्चमहाभूत पञ्चतन्मात्र वाला दश प्रकार का कार्यतत्त्वगत भुवनविभाग कहा गया । और उसी प्रसङ्ग से आठ मूर्त्तियों की अधिष्ठात्री आठ ईश्वर मूर्त्तियाँ भी कही गयीं । उक्त आठ मूर्त्तियों के अधिष्ठाताओं के मध्य में यजमान रूपा मूर्त्ति सबसे प्रधान कही गयी । इसी की कार्यभूता पाँच मूर्त्तियाँ (= पृथिवी जल तेज वायु और आकाश) भोग्य रूपा हैं और सूर्य और चन्द्रमा रूपा मूर्त्तिद्वयी कारण के रूप में हैं ॥ ९२० ॥

इस प्रकार अहङ्कार के अन्दर वर्त्तमान पाँच कार्यावरण का निर्वचन कर ग्यारह कारणावरण को बतलाने के लिये कहते हैं—

इससे परे कारणात्मक मण्डल भी है ॥ ९२१- ॥

शब्दोच्चारण आदि व्यापार और उसके साधनभूत कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति का स्थान ही कारण है । मण्डल = भुवन । यह भुवन वक्ष्यमाण दृष्टि से वाक् आदि पाँच कर्मेन्द्रिय एवं पञ्चतत्त्व के रूप में विभक्त है ॥

वह मण्डल क्रमशः—

शुक्ल, रक्त, कृष्ण, पीत और हरित वर्ण का है ॥ -९२१ ॥

और वहाँ—

उस करणात्मक मण्डल में पाँच स्वामी हैं ॥ ९२२- ॥

किं च—

कर्मदेवाः प्रवर्तन्ते तस्माद्वै सर्वदेहिनाम् ॥ ९२२ ॥

कर्मदेवा वचनादिस्वक्रियाद्योतकानि कर्मेन्द्रियाणि, तस्मात् करणमण्डलात्, प्रवर्तन्ते देहिनां प्रत्यणु पृथग्रूपाण्युद्भवन्ति ॥ ९२२ ॥

तानि च—

वाक्पाणिपादपायुश्च उपस्थश्चेति पञ्चमः ।

अन्तःप्राणाश्रये त्यागादाने वागिन्द्रियकार्ये । बहिस्त्वादानं त्यागो द्वयं च पाणिपायुपादनिर्वर्त्यम् । समस्तत्यागादानक्षोभप्रशमनेनानन्दात्मकस्वरूपविश्रान्तिरुपस्थकार्यम् । न चैतद्व्यतिरिक्तः कश्चिद्व्यापारोऽस्तीति पञ्चैव कर्मेन्द्रियाणि । तेषां च सर्वशरीरव्यापकत्वेऽपि पाण्याद्यधिष्ठानस्थानम्, तेन वक्त्रादिनापि यद्ग्रहणम्, तदपि पाणीन्द्रियकार्यमेव ॥

बुद्धीन्द्रियाण्याह—

और वे आधार पटल में कही जाने वाली रीति के अनुसार अग्नि, इन्द्र, विष्णु, मित्र और कश्यप हैं ॥

तथा—

उसी से समस्त देही (= जीवों) हेतु कर्मदेव प्रवृत्त होते हैं ॥ -९२२॥

कर्मदेव का अर्थ है—वचन आदि अपनी-अपनी क्रियाओं की द्योतक कर्मेन्द्रियाँ । ये इन्द्रियाँ उस करणमण्डल से, देहियों के लिये प्रवृत्त होती हैं अर्थात् प्रत्येक जीव के लिये अलग-अलग उत्पन्न होती हैं ॥ ९२२ ॥

वे इन्द्रियाँ—

वाक्, पाणि, पाद, पायु (= मलद्वार) और उपस्थ (= जननेन्द्रिय) हैं ॥ ९२३- ॥

अन्तःप्राण के ऊपर निर्भर करने वाला त्याग और आदान (= थूकना वमन करना और भोजन करना जलपीना आदि) वाक् इन्द्रिय के कार्य हैं । बाहर का त्याग और आदान ये दोनों पाणि पाद और पायु के द्वारा सम्पन्न होते हैं । समस्त त्याग और आदान के क्षोभ का जब प्रशमन हो जाता है तब आनन्द स्वरूप विश्रान्ति उपस्थ का कार्य है । इनसे अतिरिक्त कोई कार्य नहीं है इसलिये कर्मेन्द्रियाँ पाँच ही हैं । यद्यपि वे सम्पूर्ण शरीर में व्याप्त हैं फिर भी हाथ आदि उनका मुख्य स्थान है। इसलिये मुख आदि के द्वारा भी जो ग्रहण होता है वह भी पाणि इन्द्रिय का ही कार्य है ॥

ज्ञानेन्द्रियों को बतलाते हैं—

एभ्यः प्रकाशकं नाम परतः सूर्यसंनिभम् ॥ ९२३ ॥

'रूपादिषु पञ्चानामालोचनमात्रमिष्यते वृत्तिः' (सा०का० २८)

इति स्थित्या श्रोत्रादीनां शब्दादिप्रकाशकत्वात् तदुद्भवस्थानं प्रकाशकं मण्डलमित्युक्तम्, अत एव सूर्यसन्निभम् ॥ ९२३ ॥

एतच्च करणमण्डलात् पञ्चधैव । यदाह—

तस्माद्वै सम्प्रवर्तन्ते पञ्च बुद्धीन्द्रियाणि तु ।

प्रत्यणु भिन्नभिन्नरूपाणीत्यर्थः ॥

तानि च—

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका च यथाक्रमम् ॥ ९२४ ॥

व्योमवाय्वादितत्त्वप्रसरणक्रमेणेत्यर्थः ॥

एषां च—

विषयालोचनं वृत्तिः...........

यतः—

इनके लिये प्रकाशन का कार्य करने वाला पर मण्डल सूर्य के समान है ॥ -९२३ ॥

'पाँच ज्ञानेन्द्रियों की वृत्ति रूप आदि (= रस गन्ध स्पर्श शब्द) पाँच विषयों का आलोचन मात्र है ।'

इस स्थिति के अनुसार श्रोत्र आदि शब्द के प्रकाशक हैं । उनका उद्भवस्थान = प्रकाशक, मण्डल कहा गया है । इसीलिये वह सूर्य के समान है ॥ ९२३ ॥

और यह करणमण्डल भी पाँच ही प्रकार का है । जैसा कि कहते हैं—

उससे पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ प्रवृत्त होती हैं ॥ ९२४- ॥

(ये इन्द्रियाँ) प्रति जीवों की अलग-अलग हैं ॥

और वे—

क्रमशः श्रोत्र, त्वचा, आँखें, जिह्वा और नासिका हैं ॥ -९२४ ॥

ये आकाश वायु आदि तत्त्वों के प्रसरण के क्रम से हैं ॥

इनका—

कार्य विषयों का आलोचन है ॥ ९२५- ॥

क्योंकि—

................तेजोमण्डलसंस्थिताः ।
स्वाक्ष्याधिपतयो नित्यं तेष्वेव प्रतिचोदकाः ॥ ९२५ ॥

भाविनीत्या दिग्वायुसूर्यवरुणाश्व्याख्यस्वकाधिष्ठातृदेवताप्रेरिता बुद्धिदेवाश्चोदनानुसारं रूपाद्यालोचनेषु प्रवर्तन्ते, तेनैषां विषयालोचनं वृत्तिरित्यर्थः । एषां कर्मेन्द्रियाणां च प्रतिलोमक्रमेण भुवनसंशोधनं कार्यम् ॥ ९२५ ॥

अथ—

एभ्यः परतरं चास्ति चन्द्रमण्डलसन्निभम् ।
विस्तारात् परिणाहाच्च सर्वतो रश्मिमण्डलम् ॥ ९२६ ॥
तस्माद्वै सम्प्रवर्तन्ते पञ्चार्थाः सर्वदेहिनाम् ।
शब्दः स्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ॥ ९२७ ॥

भोग्यभूताः प्रतिपुरुषं विचित्रभोगसम्पादका रूपादयः सर्वे तस्मादुद्यन्ति । अत एव समस्ताम्मयचन्द्रोल्लासकत्वात्तस्य चन्द्रमण्डलसन्निभत्वं परिमाणतो रूपतश्चोक्तम् । यतश्चैतद्रश्मिमण्डलमत एवैतद्भूता विषया एतद्रश्मिरूपाः प्रकाशमानतया स्वप्रकाशस्वभावाः । यदुक्तं श्रीमदुच्छुष्मभैरवे—

'यावन्न वेदका एते तावद्वेद्याः कथं प्रिये ।
वेद्यवेदकमेकं तु तत्त्वं नास्त्यशुचिस्ततः ॥'

तेजोमण्डल में स्थित इनके अधिपति नित्य इन्हीं के प्रेरक होते हैं ॥ -९२५ ॥

भावी नियम के अनुसार दिक्पति, वायु, सूर्य वरुण और अश्विद्वय नामक अधिष्ठातृदेवताओं से प्रेरित बुद्धिदेवतायें प्रेरणा के अनुसार रूप आदि के आलोचन में प्रवृत्त होती हैं । इसलिये विषयों का केवल आलोचन इनकी वृत्ति ही है । इन ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों का भुवनसंशोधन विपरीत क्रम से करना चाहिये ॥९२५॥

इसके ऊपर रश्मि मण्डल है । लम्बाई और चौड़ाई सब प्रकार से यह चन्द्र मण्डल के समान है । उससे समस्त प्राणियों के पाँच विषय आविर्भूत होते हैं । वे हैं—शब्द स्पर्श रूप रस और गन्ध ॥९२६-९२७॥

भोग्यस्वरूप और प्रत्येक जीव के लिये विचित्र भोगों का सम्पादन करने वाले रूप आदि उससे उत्पन्न होते हैं । इसीलिये समस्त जलमय चन्द्र का उल्लासक, होने के कारण वह परिमाण और रूप दोनों की दृष्टि से चन्द्रमण्डल के समान कहा गया है । चूँकि यह किरणों का समूह है इसलिये इससे उत्पन्न विषय भी इसकी रश्मियों के रूप ही हैं अर्थात् प्रकाशमान होने के कारण स्वप्रकाश स्वभाव वाले हैं । जैसा कि श्रीमत् उच्छुष्मभैरव में कहा गया है—

'हे प्रिये ! जब तक वेदक नहीं है तब तक ये वेद्य कैसे होंगे । वेद्य और

इति यद्यपि पृथिव्यादयो रूपादिगुणा एवोत्पन्नास्तथाप्येते प्रतिपुरुषं विचित्रभोगसम्पादका अन्य एव रूपादयो निर्याताः ॥ ९२७ ॥

किं च—

एभ्यः परतरं चापि सौम्यं सोमस्य मण्डलम् ।

एभ्य इति करणप्रकाशरश्मिमण्डलेभ्यः ॥

तस्मान्मनो विनिष्क्रान्तं रश्मिभिर्दशपञ्चभिः ॥ ९२८ ॥

बुद्धिकर्मेन्द्रियविषयाख्यस्य ग्रहणग्राह्यरूपस्य रश्मिपञ्चदशकस्यानुसन्धातृरूपमिति कृत्वा तैरेव तद्युक्तमुक्तम् ॥ ९२८ ॥

तच्च—

चित्तं चेतो मनश्चेति...........

इत्थमुच्यमानं सत्—

...............शब्दाद्यक्षप्रवर्तकम् ।

यतश्चायं प्रवर्त्यमानैतद्रश्मिपञ्चदशककलापूरिततनुः स्वामृतकलया सह

वेदक एक ही तत्त्व है (ऐसा जान लेने) के बाद (जीव या कोई भी पदार्थ) अपवित्र नहीं रह जाता ।'

यद्यपि पृथिवी आदि तत्त्व रूप आदि गुण के साथ ही उत्पन्न होते हैं तथापि प्रत्येक पुरुष के लिये विचित्र भोगसम्पादक ये रूप आदि दूसरे ही हैं जो कि रश्मियों से निकले हैं ॥ ९२७ ॥

और भी—

इन (रश्मिमण्डल) के ऊपर सौम्य सोममण्डल है ॥ ९२८- ॥

इनसे = इन्द्रियों के प्रकाशक रश्मिमण्डलों से ॥

इस कारण इन पन्द्रह रश्मियों (= पञ्चकर्मेन्द्रिय + पञ्च ज्ञानेन्द्रिय + पञ्च तन्मात्र) से मन निःसृत हुआ है ॥ -९२८ ॥

ग्रहण और ग्राह्य रूप बुद्धिकर्मेन्द्रियविषय नामक पन्द्रह तत्त्व का अनुसन्धान करने वाला है । इसलिये उनसे इस (मन) को युक्त कहा गया है ॥ ९२८ ॥

और वह—

चित्त चेतस् और मनस् ॥ ९२९- ॥

के नाम से कहा जाता है—

वह शब्द आदि इन्द्रियों का प्रेरक है ॥ -९२९- ॥

षोडशकलोऽत एव—

तस्याधिपो महातेजाश्चन्द्रमाः सोम्यतेजसा ॥ ९२९ ॥

महातेजा नित्यमक्षीणकलाषोडशकादिपरिपूर्णमूर्तित्वात्, अतश्च चेतनस्य पुरुषस्य विकारषोडशकादियुक्ततया स्वावसरनिर्णेष्यमाणस्यावरोहक्रमेण प्रतिनिधिकल्पत्वात्—

'पुरुषे षोडशकले तामाहुरमृतां कलाम्'

इत्युद्घोष्यते ॥ ९२९ ॥

अथ—

तस्मात्तु मण्डलादूर्ध्वं परतो मण्डलं महत् ।
जपाकुसुमसङ्काशमरुणादित्यसंनिभम् ॥ ९३० ॥
पूर्ववच्च प्रमाणेन समन्तात् परिमण्डलम् ।

पूर्ववदिति पूर्वोक्तचन्द्रमण्डलपरिमाणमित्यर्थः ॥

किं च—

चूँकि यह (= पुरुष या जीव) प्रवर्त्यमान इन पन्द्रह रश्मियों की कला से पूरित शरीर वाला होकर अपनी अमृत कला के साथ सोलह कलाओं वाला हो जाता है इसलिये—

अपने सौम्य तेज के कारण महातेजस्वी चन्द्रमा उस (मन) का अधिपति है ॥ -९२९ ॥

नित्य अक्षीण सोलह कला आदि से परिपूर्ण शरीर वाला होने के कारण वह (= मन) महा तेजस्वी है । इसलिये समय पर आगे बतलाये जाने वाले चेतन पुरुष के सोलह विकार से युक्त होने के कारण वह अवरोह क्रम का प्रतिनिधकल्प होने के कारण—

'सोलह कला वाले पुरुष में उसको अमृत कला कहते हैं ।'

ऐसा उद्घोष किया जायेगा ॥ ९२९ ॥

इसके बाद—

उस (सोम मण्डल) से ऊपर एक महान् मण्डल है जो जपाकुसुम अथवा लाल सूर्य के समान है । उसका परिमाण पूर्व की भाँति है और वह चारो ओर से गोल है ॥ ९३०-९३१- ॥

पूर्व की भाँति = पूर्वोक्त चन्द्रमण्डल के परिमाण वाला है ॥

और भी—

तस्मात्तु मण्डलाद् देवि सन्ध्यारुणसमद्युतिः ॥ ९३१ ॥
सधूमोऽग्निरिवासौ वै अहङ्कारः प्रवर्तते ।

सर्वप्रमातृगता अहङ्कारा उद्यन्तीत्यर्थः । अहङ्कार इति जातावेकवचनम् । मनःपर्यन्तसमस्तविषयेन्द्रियाधिष्ठातृत्वात्तत्कल्पनस्वभावत्वाच्च तैजसभूतादिरूपस्यास्य सधूमाग्नितुल्यत्वमुक्तम् । एवं चाहङ्कारमनोविषयबुद्धीन्द्रियकारणभूतानि सूर्यसोमरश्मिप्रकाशकरणमण्डलानि पञ्च, तथा तन्मात्रमण्डलानि पञ्च व्याप्य अहङ्कारतत्त्वं स्थितमिति मनः प्रभृति षोडशकमाहङ्कारिकमुच्यते । अत एव कारणसकन्धदृष्ट्या बहिस्तत्त्वान्येकरूपाणि, करणस्कन्धदृष्ट्या तु प्रतिपुरुषं भिन्नभिन्नस्वभावानीति न करणस्कन्धरूपादहङ्कारात् षोडशकोत्पत्तिरपि तु सूर्यसन्निभान्मण्डलात् कारणस्कन्धरूपात् करणस्कन्धरूपाणां प्रतिप्रमातृभिन्नानामहङ्काराणामुत्पत्तिस्तथा मनः प्रभृतेः षोडशकस्येति मन्तव्यम् ॥

यश्चायं करणस्कन्धात्मा अहङ्कार—, सः—

अन्तःकरणमात्मस्थं...............

आत्मनोऽन्तरङ्गमेतत् सकलवसुधादिप्रतीतिसाधनं कारणमित्यर्थः ॥

हे देवि ! उस मण्डल से सन्ध्याकालीन अरुण के समान कान्ति वाला, सधूम अग्नि की भाँति अहङ्कार उत्पन्न होता है ॥ -९३१-९३२- ॥

इसका अर्थ है कि सभी प्रमाताओं के अन्दर रहने वाले अहङ्कार इससे उत्पन्न होते हैं । (श्लोकस्थ) 'अहङ्कार' पद में एक वचन का प्रयोग जाति अर्थ में है । चूँकि तैजस भूतादिरूप यह अहङ्कार मनपर्यन्त समस्त इन्द्रियों और उनके विषयों का अधिष्ठाता तथा उनकी कल्पना करने के स्वभाव वाला है, इसलिये उसे सधूम अग्नि के समान कहा गया है । इस प्रकार अहङ्कार मन विषय और ज्ञानेन्द्रियों का कारणभूत सोमसूर्यरश्मिप्रकाशकरणमण्डल पाँच, तथा पाँच तन्मात्रमण्डल को व्याप्त कर अहङ्कार तत्त्व स्थित है इसलिये मन से लेकर (तन्मात्रपर्यन्त) सोलह कारणकार्यसमूह को अहङ्कारिक (= अहङ्कार से उत्पन्न) कहा जाता है । इसीलिये कारणस्कन्ध की दृष्टि से बाह्य तत्त्व एक रूप है किन्तु करणस्कन्ध की दृष्टि से प्रतिपुरुष भिन्न-भिन्न स्वभाव वाले हैं, इसलिये करणस्कन्ध रूप अहङ्कार से सोलहों की उत्पत्ति नहीं होती बल्कि कारणस्कन्धरूप सूर्य के समान मण्डल से होती है । करणस्कन्ध रूप तथा प्रति प्रमातृभिन्न अहङ्कारों तथा मन आदि सोलह की उत्पत्ति भी कारणस्कन्ध रूप से ही होती है—ऐसा समझना चाहिये ॥

जो यह करणस्कन्धरूप अहङ्कार है वह—

आत्मा में स्थित अन्तःकरण है ॥ -९३२- ॥

यह आत्मा का अन्तरङ्ग है और पृथिवी आदि समस्त तत्त्वों के ज्ञान का साधन = कारण है ॥

किं च—

...........येनेदं रञ्जितं जगत् ॥ ९३२ ॥

जगत् स्थावरजङ्गमात्मकं तत्तत्समुचिताभिमाननिवेशनेन येनोपरक्तं कृतमित्यर्थः ॥ ९३२ ॥

अयं च—

मत्तद्विप इवान्धस्तु दावाग्निरूपसर्पति ।

यथा मत्तो द्विपो दावाग्निश्च तत्तत्तरुप्राण्यादिविनाशायोपसर्पति, तथाऽयमन्धोऽविचारितयुक्तायुक्तस्तदभिमानादानक्रमेण सर्वजगन्नाशकः ॥

किमयमस्य परोपतापकारी स्वभावः स्वत एवोद्भूतः, नेत्याह—

तस्याधिदेवो रुद्रो वै येनायं प्रेर्यते सदा ॥ ९३३ ॥

रुद्र इति यः पूर्वम्—

'मध्यदेशे स्थितो रुद्रस्त्वहङ्कारेश्वरः प्रभुः' (१०।८९०)

और भी—

उसके द्वारा यह संसार रागयुक्त किया गया है ॥ -९३२ ॥

समुचित अभिमाननिवेश वाले इसके द्वारा स्थावर जङ्गमात्मक सम्पूर्ण जगत् रागयुक्त कर दिया गया ॥ ९३२ ॥

और यह—

मत्त हाथी एवं दावाग्नि के समान यह अन्धा होकर (समस्त संसार में) फैलता है ॥ ९३३- ॥

जैसे मतवाला हाथी और जङ्गली आग भिन्न-भिन्न वृक्ष प्राणी आदि के विनाश के लिये आगे बढ़ता है उसी प्रकार यह अन्धा = उचित अनुचित का विचार न करता हुआ उसके अभिमान के आदान के क्रम से समस्त संसार का नाशक है ॥

क्या इसका दूसरे को सन्ताप देने वाला यह स्वभाव स्वतः उत्पन्न हुआ है? (उत्तर में कहते हैं—) नहीं—इस बात को बतलाते हैं—

उस अन्तःकरण का अधिदेव रुद्र है जिसके द्वारा यह सदा प्रेरित होता है ॥ -९३३ ॥

रुद्र—जो कि पहले

'(अहङ्कार मण्डल के) मध्य देश में अहङ्कारेश्वर भगवान् रुद्र स्थित हैं' (१०।८९०)

इत्युक्तः । प्रेर्यते संसाररक्षार्थमभिमानात्मनि स्वकार्ये प्रवर्त्यते ॥ ९३३ ॥

एतं ये परिवृत्य स्थिताः, तेऽपि—

छगलाण्डादयो देवि पूर्वं ते कथिता मया ।

गतमेतत् ॥

अहङ्कारादथोर्ध्वं तु बुद्ध्यावरणमुच्यते ॥ ९३४ ॥
सूर्यकोटिसहस्राणां तेजसा तुल्यवर्चसम् ।

वर्चो दीप्तिः ॥

किं च—

अष्टानां देवयोनीनामत्रैव भुवनं शृणु ॥ ९३५ ॥

प्राग् ब्रह्माण्डरूपेणोक्तानां पैशाचादिब्रह्मपर्यन्तानामष्टानां देवयोनीनां सात्त्विकादिवृत्तिवैचित्र्येण स्थितानां पररूपेणात्रैव बुद्धितत्त्वे धर्मादिगुणाष्टकयुक्ते भुवनाष्टकमस्तीत्येवकाराशयः ॥ ९३५ ॥

तत्र—

ककुभं नाम भुवनं सन्ध्यारुणसमप्रभम् ।

इस रूप में कहे गये हैं । प्रेरित होते हैं—संसार की रक्षा के लिये अभिमानरूप अपने कार्य में प्रेरित किये जाते हैं ॥ ९३३ ॥

इस प्रकार जो उसको घेर कर स्थित हैं उन—

छगलाण्ड आदि को भी हे देवि ! मैंने तुमको पहले ही बतला दिया है ॥ ९३४- ॥

यह प्रकरण समाप्त हो गया ॥

अहङ्कार के ऊपर बुद्धि का आवरण कहा जाता है । यह करोड़ों हजार सूर्य के तेज के तुल्य तेज वाला है ॥ -९३४-९३५- ॥

वर्चस = दीप्ति (= चमक) ॥

और भी—

यहीं पर आठ देवयोनियों के भुवन को सुनो ॥ -९३५ ॥

पहले ब्रह्माण्ड के रूप में वर्णित पैशाच से लेकर ब्रह्मापर्यन्त सात्त्विक आदि विचित्र वृत्तियों के साथ स्थित आठ देवयोनियों के धर्म अधर्म आदि आठ गुणों से युक्त बुद्धि तत्त्व में, आठ भुवन हैं—यह 'एव' कार का आशय है ॥ ९३५ ॥

वहाँ—

मानसीभिस्तु तत्स्त्रीभिर्मुदिताभिः समाकुलम् ॥ १३६ ॥

मानस्यो मनोनुकूलाः ॥ १३६ ॥

किं च—

स्थितास्तत्र पिशाचास्तु सन्ध्यारुणसमप्रभाः ।
दशकोटिसहस्राणि..........

किं च—

............तेषां तत्र निवासिनाम् ॥ १३७ ॥

मध्ये—

स्वनन्दो नाम विक्रान्तः..........

स च तेष्वेव—

............पिशाचेष्वीश्वरो महान् ।
सन्ध्यारुणसमच्छायो बन्धूककुसुमाकृतिः ॥ १३८ ॥
कुण्डलाभरणोपेतो हारकेयूरभूषितः ।
किरीटी चाङ्गदी मौली हेमचीनाम्बरः शुभः ॥ १३९ ॥

ककुभ नामक भुवन है जो सायंकालीन अरुण के समान कान्ति वाला है । वह प्रसन्न मानसी स्त्रियों से भरा हुआ है ॥ १३६ ॥

मानसी = मन के अनुकूल (व्यवहार करने वाली) ॥ १३६ ॥

तथा—

उसमें दश हजार करोड़ पिशाच स्थित हैं जो सन्ध्याकालीन अरुण के समान प्रभा वाले हैं ॥ १३७- ॥

और भी—

वहाँ रहने वाले उनके ॥ -१३७ ॥

मध्य में—

स्वनन्द नामक एक पराक्रमी राक्षस रहता है ॥ १३८- ॥

और वह उन—

पिशाचों का स्वामी है । महान् वह सन्ध्यारुण के समान कान्ति वाला तथा बन्धूक (= गुलदुपहरिया) के फूल के समान आकार वाला है । कुण्डल, हार, केयूर से युक्त वह किरीट, अङ्गद, मौलि और सोने के वस्त्र को धारण किये हुए है । शुभ वह अत्यधिक संख्या वाले भूतों एवं

परिवृतो भूतगणैः प्रभूतैः पार्श्वगैस्तथा ।
नानारूपधर्दिव्यैर्दिव्याभरणभूषितैः ॥ १४० ॥
दिव्यमाल्यानुलेपैस्तु दिव्यैश्वर्यसमन्वितैः ।

मौलिः शिखामणिः । दिव्यमैश्वर्यं पिशाचोचितमेवाणिमाद्यष्टविधम्, एवमुत्तरत्रापि स्वोचितमेव दिव्यत्वं मन्तव्यम् ॥

स चैतैः—

परिवृतो महातेजा गणैरिव महागणः ॥ १४१ ॥

महान्तो गणा यस्य स महागणो महादेवः ॥

अथ—

अतः परं प्रवक्ष्यामि राक्षसं भुवनं महत् ।
कोकिलाकण्ठसदृशं नीलजीमूतसंनिभम् ॥ १४२ ॥
तस्मिंस्तु भुवने दिव्ये दिव्यैश्वर्यसमन्विते ।
करालो राक्षसेशो वै जात्यञ्जननिभो महान् ॥ १४३ ॥
किरीटी कुण्डली दीप्तः शोभते तु महाद्युतिः ।
जात्यञ्जननिभः श्रीमान् दावाग्निरिव पर्वते ॥ १४४ ॥

पार्षदों से आवृत है । ये भूतगण आदि अनेकरूपधारी, दिव्य, दिव्य आभूषणों से भूषित, दिव्य माला एवं अनुलेप वाले तथा दिव्य ऐश्वर्य से समन्वित हैं ॥ -१३८-१४१- ॥

मौलि = शिखा की मणि । दिव्य ऐश्वर्य का तात्पर्य है पिशाचों के अनुकूल अणिमा आदि आठ प्रकार का ऐश्वर्य । इसी प्रकार आगे भी उनके लिये उचित ही दिव्यता को मानना चाहिये ॥

और वह इनसे—

घिरा महातेजस्वी उसी प्रकार है जैसे गणों से घिरे महागण ॥ -१४१॥

(महागण शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—) महान् गण हैं जिसके वह महागण अर्थात् महादेव ॥

अब—

इसके बाद महान् राक्षस भुवन को बतलाऊँगा । यह कोयल के कण्ठ के समान अथवा काले बादल के समान है । दिव्य ऐश्वर्य से समन्वित उस दिव्य भुवन में जात्यञ्जन के समान कराल नामक महान् राक्षसेश्वर रहता है । किरीटी, कुण्डली, महाद्युतिमान्, दीप्त जात्यञ्जन के समान वह उसी प्रकार शोभित हो रहा है जैसे पर्वत पर दावाग्नि ॥ १४२-१४४ ॥

श्रीर्दीप्तिर्विद्यते यस्य, अत एव धूमबहुलेन दावाग्निनोपमितः ॥ १४४ ॥

अस्य च परिवारः—

दशकोटिसहस्राणि मुदिता नाम राक्षसाः ।
भृङ्गजीमूतवर्णाभा वसन्त्यत्र महाप्रभाः ॥ १४५ ॥

अथ—

अतः परं प्रवक्ष्यामि याक्षं वै भुवनं महत् ।
जाम्बूनदमयं सर्वं दिव्यरत्नसमुज्ज्वलम् ॥ १४६ ॥
भोगैश्वर्यसमुत्पन्नं समन्तात् परिमण्डलम् ।
तस्मिंस्तु भुवने भद्रे सुभद्रो नाम यक्षराट् ॥ १४७ ॥
तप्तकाञ्चनवर्णाभो मुकुटादिविभूषितः ।
शतकोटिसहस्रैस्तु यक्षैरमितविक्रमैः ॥ १४८ ॥
तैर्वृतो भ्राजते सर्वैः शर्वः सर्वगणैरिव ।

अथ—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि गान्धर्वं भुवनं महत् ॥ १४९ ॥
पीतकौशीतकीप्रख्यं चम्पकैस्तु समच्छवि ।

कौशीतकी पुष्पविशेषः ॥

(श्रीमान् शब्द की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—) श्री अर्थात् दीप्ति है जिसके पास (वह श्रीमान् है) इसीलिये धूमबहुल दावाग्नि से उसकी उपमा दी गयी ॥ १४४ ॥

इसका परिवार—

दश हजार करोड़ की संख्या वाले मुदित नामक राक्षस हैं । भौंरे और काले बादल के आभा वाले महाकान्तिमान् ये राक्षस यहाँ रहते हैं ॥१४५॥

इसके बाद याक्ष नामक महान् भुवन को बतलाऊँगा । यह सुवर्ण से रचित एवं दिव्यरत्नों से दीप्तिमान् है । भोग एवं ऐश्वर्य से संयुक्त यह चारो ओर गोलाकार है । हे भद्रे! उस भुवन में सुभद्र नामक यक्षराज का निवास है । तप्त कञ्चन के वर्ण की आभा वाला, मुकुट आदि से विभूषित, अमित पराक्रम वाले एक सौ हजार करोड़ यक्षों से घिरा हुआ उसी प्रकार देदीप्यमान है जैसे समस्त गणों से युक्त शर्व ॥ १४६-१४९- ॥

इसके बाद—

इसके ऊपर वर्त्तमान महान् गान्धर्व भुवन को अब मैं आपको बतलाऊँगा । वह पीले कौशीतकी के समान शोभावाला अथवा चम्पा के समान छवि वाला है ॥ -१४९-१५०- ॥

तस्मिंस्तु भुवने दिव्ये सुरूपो नाम वै प्रिये ॥ १५० ॥
गन्धर्वदेवाधिपतिर्गन्धमादनसन्निभः ।

अप्रकम्प्यत्वात् ॥

तथा—

तप्तजाम्बूनदनिभस्तरुणादित्यसप्रभः ॥ १५१ ॥
दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गो दिव्याभरणभूषितः ।
दशकोटिसहस्रैस्तु गन्धर्वैः परिवारितः ॥ १५२ ॥
मनःशिलाभङ्गनिभैर्हरितालनिभैस्तथा ।
स्वकान्ता नाम गन्धर्वाश्चित्रमाल्यानुलेपनाः ॥ १५३ ॥
चित्राम्बरधराः सर्वे चित्राभरणभूषिताः ।

अथ—

तस्मात् परतरं वक्ष्ये स्थानमैन्द्रं च पार्वति ॥ १५४ ॥
बृहद्धोगमिति ख्यातं तदूर्ध्वं सर्वकामदम् ।
शङ्खगोक्षीरधवलं शरत्कुन्देन्दुसन्निभम् ॥ १५५ ॥

बृहद्धोगमिति यथार्थनाम । ऊर्ध्वमित्युत्कृष्टम् ॥ १५५ ॥

कौशीतकी—एक प्रकार का फूल है ॥

हे प्रिये ! उस दिव्य भुवन में गन्धमादन पर्वत के समान (विशाल) गन्धर्व देवों का स्वामी सुरूप रहता है ॥ -१५०-१५१- ॥

अप्रकम्प्य होने का कारण (वह गन्धमादनसन्निभ कहा गया है) ॥

तथा—

तपाये गये सुवर्ण के समान, दोपहर के सूर्य के समान प्रभा वाला वह दिव्य गन्ध से अनुलिप्त अङ्गों वाला तथा दिव्य आभरण से भूषित है । टूटी हुई मैनशिल अथवा हरताल के समान वर्ण वाले दश हजार करोड़ गन्धर्वों से वह परिवारित है । वहाँ स्वकान्त नामक गन्धर्व रहते हैं जो विचित्र माला एवं अनुलेप वाले, विचित्रवस्त्रधारी तथा विचित्र आभरणों से विभूषित हैं ॥ -१५१-१५४- ॥

इसके बाद—

हे पार्वति ! उसके ऊपर इन्द्र का भुवन बतलाऊँगा । यह वृहद्धोग नाम से प्रसिद्ध है उस (= गान्धर्व भुवन) की अपेक्षा उत्कृष्ट वह समस्त कामनाओं का पूरक है । शङ्ख, गोदुग्ध के समान धवल वह शरत्कालीन चन्द्रमा तथा कुन्द के समान श्वेत वर्ण का है ॥ -१५४-१५५ ॥

तस्मिंस्तु भुवने दिव्ये दिव्याश्चर्यशतैर्युते ।
विभूतिर्नाम भगवान् महेन्द्रो भुवनेश्वरः ॥ ९५६ ॥
चन्द्रमण्डलसङ्काशो मुक्ताहारविभूषितः ।
शुक्लाम्बरधरः श्रीमान् शुक्लमाल्यानुलेपनः ॥ ९५७ ॥
ज्वलत्किरीटो दीप्ताभ्यां कुण्डलाभ्यामलङ्कृतः ।
हारकेयूरवान् श्वेतः श्वेतोष्णीषविभूषितः ॥ ९५८ ॥
भूतिजा नाम वै देवा विभूत्या परया युताः ।
किरीटिनः कुण्डलिनो दिव्यमाल्यविभूषिताः ॥ ९५९ ॥
दशकोटिसहस्राणि देवाश्चेन्द्राः प्रकीर्तिताः ।
तैरावृतो महातेजा नक्षत्रैरिव चन्द्रमाः ॥ ९६० ॥

भूत्या सह जातत्वाद्भूतिजा इत्युक्ताः ॥ ९६०'॥

अतः परं तु—

मनोजं नाम भुवनं शरच्चन्द्रनिभं शुभम् ।
शुक्लाभ्रकनिभं दीप्तं मुक्ताहारसुवर्चसम् ॥ ९६१ ॥
अमृतो नाम वै तत्र चन्द्रमाः परमः स्थितः ।

वृहद्भोग (उस भुवन का) यथार्थ नाम है (अर्थात् वृहद् भोग हैं जहाँ ऐसा तथा उस नाम वाला है) । ऊर्ध्व = (उस याक्ष भुवन की अपेक्षा) उत्कृष्ट ॥९५५॥

सैकड़ों दिव्य आश्चर्यों से युक्त उस दिव्य भुवन में उस भुवन के मालिक भगवान् विभूति नामक महेन्द्र (निवास करते) हैं । चन्द्रमण्डल के समान, मोतियों की माला से विभूषित, शुक्लवस्त्रधारी वह श्रीमान् शुक्लमाला एवं उपलेप धारण किये हुए हैं । चमकते किरीट वाले वह दीप्त दो कुण्डलों से अलंकृत है । हारकेयूरवान् श्वेत वर्ण वाले वे श्वेत उष्णीष से विभूषित हैं । परम विभूति से युक्त, किरीटकुण्डलधारी दिव्यमालाओं से विभूषित भूतिज नाम वाले दश हजार करोड़ जिन्हें इन्द्र कहा जाता है, उनसे वह महा तेजस्वी महेन्द्र उसी प्रकार आवृत है जैसे नक्षत्रों से चन्द्रमा ॥ ९५६-९६० ॥

भूति अर्थात् ऐश्वर्य के साथ उत्पन्न होने के कारण उनको भूतिज बतलाया गया है ॥ ९६० ॥

इसके ऊपर—

शरत्कालीन चन्द्रमा के समान शुभ्र मनोज नाम का भुवन है । यह श्वेत बादल के समान, चमकीला, मोती के हार के समान तेज वाला है । वहाँ पर परम अमृत नाम का चन्द्रमा स्थित है । वह शुद्ध स्फटिक के

शुद्धस्फटिकसङ्काशः श्रीमान् शुक्लाम्बरोद्वहः ॥ ९६२ ॥
कुण्डलैर्दीप्तिसङ्काशैर्भूषितस्तु विराजते ।
दिव्यगन्धानुलिप्ताङ्गो दिव्याभरणभूषितः ॥ ९६३ ॥
तत्र वै रश्मयो नाम्ना रश्मिव्यूहसमप्रभाः ।

देवाः ॥

दिव्याः सौम्यास्तु ते ज्ञेयाः सोमतेजः समुद्भवाः ॥ ९६४ ॥
दशकोटिसहस्राणि तेषां वै सौम्यतेजसाम् ।

अथ—

अत ऊर्ध्वं तु देवेशि प्राजेशं भुवनं महत् ॥ ९६५ ॥
तस्मिंस्तु भुवने दिव्ये प्रजेशस्त्वमितद्युतिः ।
विश्वरूपो विश्ववर्णो विश्वालङ्कारभूषितः ॥ ९६६ ॥
विश्वरूपपरैर्देवैर्विश्वात्मा परिवारितः ।

अमितद्युतिरित्येतन्नामा ॥

तेषां च—

दशकोटिसहस्राणि विश्वानां भूरितेजसाम् ॥ ९६७ ॥

समान, शोभायुक्त और शुक्ल वस्त्रधारी है । विद्युत् के समान कुण्डलों से भूषित तथा दिव्य गन्ध से उपलिप्त अङ्गों वाला, दिव्य आभरण से भूषित वह वहाँ विराजमान हैं । वहाँ पर किरणों के समूह के समान कान्ति वाले रश्मि नामक देवतागण निवास करते हैं ॥ ९६१-९६४- ॥

देवतागण—यह शेष है ॥

सोम के तेज से उत्पन्न वे देव दिव्य तथा सौम्य हैं । सौम्य तेज वाले उनकी संख्या दश हजार करोड़ है ॥ -९६४-९६५- ॥

इसके बाद—

हे देवेशि ! उसके ऊपर प्रजापति का महान् भुवन है । उस दिव्य भुवन में अमितद्युति नामक प्रजापति रहते हैं । विश्वरूप विश्ववर्ण विश्वालङ्कारभूषित विश्वात्मा (यह अमितद्युति) विश्वरूप वाले देवों से परिवारित हैं ॥ -९६५-९६७- ॥

अमितद्युति—यह प्रजापति का नाम है ॥

और उनकी—

हे शोभने ! उस (सुन्दर भुवन) में सुन्दर अत्यन्त तेजस्वी तथा दश

परिवार्य महात्मानं शोभने पर्युपासते ।

विश्वानामित्येतत्संज्ञानाम्, अत एवासर्वनामत्वात् सुडभावः । शोभन इति भुवनविशेषणम् ॥

अथ—

ब्राह्मं चैवमतो ज्ञेयं शङ्खगोक्षीरसन्निभम् ॥ ९६८ ॥
पितामहो यत्र देवः शुक्लपद्मस्थसौम्यदृक् ।
शुक्लाम्बरधरः श्रीमान् शुक्लमाल्यानुलेपनः ॥ ९६९ ॥
शुक्लयज्ञोपवीती च महाहारविभूषितः ।
दशकोटिसहस्रैस्तु चन्द्रबिम्बसमप्रभैः ॥ ९७० ॥
ब्राह्मैर्देवैः परिवृतः शारदाभ्रैरिवांशुमान् ।

तदित्थम्—

पैशाचं राक्षसं याक्षं गान्धर्वं त्वैन्द्रमेव च ॥ ९७१ ॥
सौम्यं तथैव प्राजेशं ब्राह्मं वै भुवनं प्रिये ।

साधिष्ठातृदैवतमुक्तमित्यर्थः ॥

एतानि सुरयोनीनां स्थानान्येव पुराणि तु ॥ ९७२ ॥

हजार करोड़ की संख्या में विश्व नामक (देवगण) महात्मा प्रजापति को परिवारित कर उपासना करते रहते हैं ॥ -९६७-९६८- ॥

विश्वानाम् = इस नाम वाले । इसीलिये सर्वनाम न होने से यहाँ सुट् का आगम नहीं हुआ (अन्यथा विश्वेषाम् हो जाता) । शोभने—यह भुवन का विशेषण है ॥

तदनन्तर—

इसके ऊपर ब्रह्मा का भुवन है । यह शङ्ख और गोदुग्ध के समान धवल है । यहाँ पर श्वेतकमल पर विराजमान सौम्य दृष्टिवाले देव पितामह स्थित हैं । शुक्लवस्त्रधारी शुक्ल माला एवं अनुलेप वाले, शुक्ल यज्ञोपवीतधारी, महाहार से विभूषित यह श्रीमान् चन्द्रबिम्ब के समान कान्तिवाले दश हजार करोड़ ब्राह्म देवों से उसी प्रकार परिवारित हैं जैसे शरत्कालीन बादलों से चन्द्रमा ॥ -९६८-९७१- ॥

तो इस प्रकार—

हे प्रिये ! पैशाच, राक्षस, याक्ष, गान्धर्व, ऐन्द्र, सौम्य, प्राजेश और ब्राह्म भुवन का उनके अधिष्ठातृ देवताओं के साथ वर्णन बतलाया गया ॥ -९७१-९७२- ॥

अर्थात् अधिष्ठातृ देवताओं के साथ कहा गया है ॥

एतानि पुराणि देवयोनीनां स्थानान्येव मुख्यान्येवावस्थितिधामानि ॥ ९७२ ॥

एभ्यश्च स्थानेभ्यः—

अवतीर्यात्मजन्मानं ध्यायन्तः सम्भवन्ति हि ।
परमेशनियोगाच्च चोद्यमानाश्च मायया ॥ ९७३ ॥
नियमिता नियत्या च ब्रह्मणोऽव्यक्तजन्मनः ।
व्यज्यन्ते ते च सर्गादौ नामरूपैरनेकधा ॥ ९७४ ॥
अंशेनैव वरारोहे..............

व्यक्तं प्रभूतात्मदेहमयं स्थूलं जन्म यस्य ब्रह्मणो ब्रह्माण्डान्तसत्यलोकाधिपतेस्तस्य सम्बन्धिनि प्रत्यहं कार्ये सर्गादौ सृष्टिप्रारम्भे व्यज्यन्ते तत्पदोचिताकृतिभाज आत्मजन्मानं बुद्धितत्त्वगतं ब्रह्माणं ध्यायन्तः परमेश्वरनियोगान्मायादिमाहात्म्याद्ब्रह्माण्डान्तर्जायन्ते । ते चांशमात्रेणैव व्यज्यन्ते ॥

सर्वात्मना पुनरेते—

............न त्यजन्ति निकेतनम् ।

निकेतनं बुद्धिगतं निजं स्थानम् ॥

ये पुर देवयोनियों के स्थान हैं ॥ -९७२ ॥

ये भुवन ही देवयोनियों के स्थान अर्थात् उनकी स्थिति के मुख्य धाम हैं ॥ ९७२ ॥

इन स्थानों से—

हे वरारोहे! आत्मजन्मा ब्रह्मा का ध्यान करने वाले ये देवगण अवतार ले कर जन्म लेते हैं । परमेश्वर के नियोग से माया के द्वारा प्रेरित तथा उसकी नियति शक्ति के द्वारा नियन्त्रित वे सृष्टि के प्रारम्भ में अव्यक्तजन्मा ब्रह्मा के अंशमात्र से अभिव्यक्त होते हैं ॥ ९७३-९७५- ॥

ब्रह्माण्ड के अन्तिम भुवन सत्यलोक के स्वामी ब्रह्मा की आत्मा की देहमय स्थूल अभिव्यक्ति ही (उनका) जन्म है । ब्रह्मा के प्रतिदिन के कार्य अर्थात् सृष्टि के आदि में तत्तत् पद के योग्य आकृति वाले देवगण आत्मजन्मा = बुद्धितत्त्वगत ब्रह्मा का ध्यान करते हुए परमेश्वर के नियोग एवं माया आदि के माहात्म्य के कारण ब्रह्माण्ड के भीतर उत्पन्न होते हैं । वे अपने अंशमात्र से ही अभिव्यक्त होते हैं ॥

पूर्ण रूप से ये—

अपने आवास को नहीं छोड़ते ॥ -९७५- ॥

निकेतन को = बुद्धितत्त्व में स्थित अपने स्थान को ॥

एवं बुद्धितत्त्वगतं देवयोन्यष्टकमात्रमुक्त्वा प्रस्तुतभुवनदीक्षायां प्रकृतं मा विस्मार्षीदित्याशयेनाह—

पुर्यष्टकेन्द्रियैः सार्धमात्मा मन्त्रैर्विशोधयेत् ॥ ९७५ ॥

बुद्धिपर्यन्तगते भुवनजाते शोधिते सति तन्मात्रमनोहङ्कारबुद्धिरूपेण पुर्यष्टकेनेन्द्रियैश्च बाह्यैः करणैः सार्धं यः स्थित आत्मा, अर्थात्तमेव मन्त्रैरिति प्राग्विभक्तस्थित्या प्रतिष्ठायां यथाकर्मविभागं विनिर्मुक्तैर्मूलवामदेवादिभिर्विशोधयेत् । विशोध्यत इति तु स्पष्टः पाठः ॥ ९७५ ॥

एतदुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

पञ्चाष्टकं मूर्तयोऽष्टौ बुद्धितत्त्वमनुक्रमात् ।
विशोध्यैवं प्रयत्नेन क्रोधाष्टकमतः परम् ॥ ९७६ ॥

विशोधयेदिति सम्बध्यते । अनुक्रमादित्युक्तेरयमाशयः—गुह्याद्यष्टकचतुष्टयं जलादिव्योमतत्त्वान्तगं शोधयित्वा तन्मात्रपञ्चकसोमसूर्यवेद्यमण्डलगताः शर्वादिमूर्तयोऽष्टौ विशोध्याः, ततः कर्मबुद्धीन्द्रियपराधिष्ठातृनग्न्यादिसोमान्तानेकादश शोधयित्वाऽहङ्कारगतं पञ्चम स्थाण्वष्टकं ततोऽपि बुद्धिगतं देवयोन्यष्टकं विशोधयेत् । प्रयत्नेनेति प्रागुक्तेनाध्वसन्धानादिना भुवनेश्वरवागीश्वरीविसर्जनपर्यन्तेन

इस प्रकार बुद्धितत्त्व में स्थित आठ देवयोनियों का वर्णन कर प्रस्तुत भुवनदीक्षा में प्रकृत का विस्मरण न हो जाय—इस आशय से कहते हैं—

मन्त्रों के द्वारा पुर्यष्टक एवं इन्द्रियों के साथ आत्मा का शोधन करना चाहिये ॥ -९७५ ॥

बुद्धितत्त्व तक में स्थित भुवनसमूह का शोधन हो जाने के बाद पञ्चतन्मात्र मन अहङ्कार एवं बुद्धि वाले पुर्यष्टक और बाह्यकरण रूप इन्द्रियों के साथ स्थित जो आत्मा है उसका मन्त्रों के द्वारा = पहले विभक्त स्थिति के अनुसार प्रतिष्ठा होने पर कर्मविभाग के अनुसार विनिर्मुक्त मूल वामदेव आदि, के द्वारा शोधन करना चाहिये । (विशोधयेत् के स्थान पर) 'विशोध्यते' यह पाठ अधिक स्पष्ट है ॥ ९७५ ॥

इसका उपसंहार करते हुए अन्य विषय का प्रारम्भ करते हैं—

पाँच अष्टक और आठ मूर्त्तियों तथा बुद्धितत्त्व का क्रम से विशोधन कर इसके बाद प्रयत्नपूर्वक क्रोधाष्टक का शोधन करना चाहिये ॥ ९७६ ॥

'अनुक्रम से' इस कथन का यह आशय है—जल से लेकर आकाश तत्त्व तक के चार गुह्याष्टकों का शोधन करने के बाद पाँच तन्मात्राओं एवं सोम सूर्य तथा वेद्य (= वेद) मण्डल में वर्तमान आठ शर्व आदि मूर्त्तियों का शोधन करना चाहिये । उसके बाद कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय एवं पर (= मन) के अधिष्ठातृ अग्नि आदि ग्यारह का शोधन कर अहङ्कार में स्थित आठ स्थाणु और उसके बाद आठ

समस्तेन कर्मविस्तारादिना, न तु हेलामात्रेण । उक्तं चान्यत्र[1]—

'न चावज्ञा क्रियाकाले संसारोद्धरणं प्रति'

इति ॥ ९७६ ॥

एवमियदन्तं शोधयित्वा बुद्धितत्त्वगतमेव क्रोधेश्वराष्टकं यच्छोध्यम्, तदुद्दिशति—

संवर्तस्त्वेकवीरश्च कृतान्तो जननाशकः ।
मृत्युहन्ता च रक्ताक्षो महाक्रोधश्च दुर्जयः ॥ ९७७ ॥

महाक्रोधनाम्ना क्रोधाधिष्ठायिना रुद्रेणोपलक्षितमेतत्क्रोधाष्टकमुच्यते । एते च रुरुसंग्रहे—

'क्रोधेशश्चण्डसंवर्तौ ज्योतिःपिङ्गलसूरकौ ।
पञ्चान्तकैकवीरौ च शिखी देशहितेश्वराः ॥' (४।१७)

इति नामान्तरेणापि पठिताः ॥ ९७७ ॥

नीलोत्पलदलाभानि तेषां वै भुवनानि तु ।
एकैकस्य परीवारः कोटिर्दशसहस्रकम् ॥ ९७८ ॥

देव- योनियों का शोधन करना चाहिये । प्रयत्नपूर्वक = पूर्वोक्त अध्वसन्धान आदि से लेकर भुवनेश्वरवागीश्वरीविसर्जन तक के समस्त कर्मविस्तार आदि के द्वारा न कि हेला (= अनादर या उपेक्षा) मात्र से । अन्यत्र कहा भी गया है—

'संसार का उद्धार (= शोधन) करने के विषय में क्रियाकाल में अवज्ञा नहीं करनी चाहिये' ॥ ९७६ ॥

यहाँ तक शोधन कर बुद्धितत्त्व में ही स्थित जो आठ क्रोधेश्वर शोध्य हैं उनका नाम बतलाते हैं—

संवर्त्त, एकवीर, कृतान्त, जननाशक, मृत्युहन्ता, रक्ताक्ष, महाक्रोध और दुर्जय (ये क्रोधाष्टक हैं) ॥ ९७७ ॥

क्रोध के अधिष्ठाता महाक्रोध नामक रुद्र से उपलक्षित होने से यह क्रोधाष्टक कहा जाता है । रुरुसंग्रह में ये—

'क्रोधेश, चण्ड, संवर्त्त, ज्योति, पिङ्गल, सूरक, पञ्चान्तक, एकवीर और शिखी ये देशहित के स्वामी हैं ।' (४।१७)

इन दूसरे नामों से कहे गये हैं ॥ ९७७ ॥

इनके भुवन नील कमल की पंखुड़ी के समान (नीलवर्ण के) हैं ।

---

१. तन्त्रालोके (२३।२९) सिद्धातन्त्रवचनमेतत् स्मर्यते ।

अथात्रैव तत्त्वे—

क्रोधेश्वराष्टकादूर्ध्वं स्थितं तेजोष्टकं महत् ।
बलाध्यक्षो गणाध्यक्षस्त्रिदशस्त्रिपुरान्तकः ॥ ९७९ ॥
सर्वरूपश्च शान्तश्च निमेषोन्मेष एव च ।

निमेषसहित उन्मेष इत्यर्थः ॥

एषां च—

सहस्रैः पञ्चदशभिः परिवारोऽभिधीयते ॥ ९८० ॥

तेजोष्टकसमाख्याया निमित्तमाह—

अग्निरुद्राः स्मृता ह्येते तेजसा कृष्णवर्णकाः ।

अग्निवद्दीप्तत्वादग्निरुद्राः तेजसा ज्ञानदीप्तिमयेनोपलक्षिताः, अत एव बुद्धिगतदीप्तात्मकतेजोऽष्टकाधिष्ठातृत्वादप्येतत्तेजोऽष्टकमुच्यते ॥

कूर्माकाराणि चित्राणि तेषां वै भुवनानि तु ॥ ९८१ ॥

अथ—

अत ऊर्ध्वं समाख्यातं योगाष्टकमनुत्तमम् ।

एक-एक क्रोधेश्वर का परिवार दश हजार करोड़ (गणों) का है ॥ ९७८ ॥

इसी तत्त्व में—

क्रोधेश्वराष्टक के ऊपर महान् तेजोऽष्टक (का भुवन) है । बलाध्यक्ष, गणाध्यक्ष, त्रिदश, त्रिपुरान्तक, सर्वरूप, शान्त, निमेष और उन्मेष (ये आठ यहाँ के अधिष्ठाता) हैं ॥ ९७९-९८०- ॥

अर्थात् निमेष एवं उन्मेष ॥

और इनका परिवार—

इनका परिवार पन्द्रह हजार करोड़ वाला बतलाया जाता है ॥-९८० ॥

इनके तेजोऽष्टक नाम का कारण बतलाते हैं—

ये अग्निरुद्र कहे गये है । तेज से ये काले रंग के हैं ॥ ९८१- ॥

अग्नि के समान दीप्तिमान् होने से ये अग्निरुद्र ज्ञानदीप्तिमय तेज से युक्त हैं । इसलिये बुद्धिगत सुदीप्त आठ तेज के अधिष्ठाता होने के कारण यह तेजोऽष्टक कहा जाता है ॥

इनके भुवन कछुये के आकार वाले तथा रंगविरंगे हैं ॥ -९८१ ॥

इसके बाद—

सम्प्रज्ञातासम्प्रज्ञातयोगस्थितानां योगिनामधिष्ठातृत्वाद्योगाष्टकम्, अत एवाधस्तनाष्टकापेक्षयोत्कृष्टत्वादनुत्तमम् ॥

तच्च—

अकृतं च कृतं चैव रैभवं ब्राह्ममेव च ॥ ९८२ ॥
वैष्णवं त्वथ कौमारमौमं श्रैकण्ठमेव च ।

रिभूणां देवानामिदं रैभवम्, एवं ब्राह्मं भुवनमित्यादि योज्यम् । तेन रा धनं तत्र भवमित्यादिव्याख्यानमसत् । एतच्च योगाष्टकं प्रधानतत्त्वाश्रयमिति श्रीमालिनीविजये (५।२४-२५) सगुणयोगनिष्ठानां च शुद्धसत्त्वगुणा धीः प्रधानं वा प्राप्तिपदमिति न वस्तुभेदः कश्चित् ॥

अतश्च—

क्रीडन्ति योगिनस्तत्र भुवनैः स्फटिकप्रभैः ॥ ९८३ ॥

तत्र नैष्कर्म्ययोगनिष्ठा अकृतपदे, कर्मयोगनिष्ठाः कृतपदे, निर्माणयोगगता रिभुपदे, पुरुषाद्वययोगसेविनो ब्रह्मपदे, वैष्णवशास्त्रोक्तयोगसेविनो वैष्णवपदे,

---

इसके ऊपर सर्वोत्तम योगाष्टक भुवन है ॥ ९८२- ॥

चूँकि सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि में स्थित योगीलोग इसके अधिष्ठाता है इसलिये पहले वर्णित नीचे के अष्टकों की अपेक्षा उत्कृष्ट होने से यह अनुत्तम है ॥

और वह—

अकृत, कृत, रैभव, ब्राह्म, वैष्ण, कौमार, औम और श्रैकण्ठ है ॥ -९८२-९८३- ॥

रिभु नामक देवों से सम्बद्ध होने से यह भुवन रैभव कहा जाता है । इसी प्रकार (ब्रह्मा से सम्बद्ध) ब्राह्म (और विष्णु से सम्बद्ध वैष्णव), इत्यादि समझ लेना चाहिये । इससे रै = धन, उसमें उत्पन्न रैभव यह व्याख्या ठीक नहीं है । यह योगाष्टक प्रधानतत्त्व में स्थित है—ऐसा श्री मालिनीविजय तन्त्र (५।२४-२५) में कहा गया है । सगुणयोग (= समाधि) में लगे हुए (योगियों) के लिये शुद्ध सत्त्व गुणात्मक बुद्धितत्त्व अथवा प्रधानतत्त्व प्राप्ति का स्थान है । इस प्रकार कोई भी वस्तुभेद नहीं है ॥

इसलिये—

वहाँ पर योगी लोग स्फटिक के समान कान्तिवाले भुवनों के साथ क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ ९८३ ॥

नैष्कर्म्ययोग की साधना करने वाले अकृत पद में, कर्मयोगनिष्ठयोगी कृत भुवन में, निर्माणयोगी रिभुपद में, पुरुषाद्वययोगसेवी ब्राह्म भुवन में, वैष्णव शास्त्र में

निष्पन्नब्रह्मचर्ययोगाः कुमारपदे स्फटिकप्रभैः स्वच्छैर्भुवनैरुपलक्षिताः क्रीडन्ति । तदूर्ध्वं त्वौमं श्रैकण्ठं च धाम शैवसिद्धान्तोपदिष्टशक्तिशक्तिमदाराधनपुरःसरचित्तवृत्तिनिरोधात्मकनिष्पन्नानां प्राप्तिपदम् ॥ ९८३ ॥

तत्र शिवयोगिन्या भगवत्या उमाया देव्या योगाष्टकस्योपरि परेण रूपेण स्थिताया भुवनमाह—

ततः साक्षाद्भगवती जगन्माता व्यवस्थिता ।
उमा त्वमेया विश्वस्य विश्वयोनिः स्वयम्भवा ॥ ९८४ ॥

साक्षादित्युक्त्या योगाष्टकमध्ये भगवत्या अंशावतरणमित्याह, एवं वक्ष्यमाणश्रीकण्ठभट्टारकविषयेऽपि मन्तव्यम् । स्वयम्भवेति स्वातन्त्र्यात् परानुग्रहाय तत्र स्थिता, नान्ययोगिवद्योगवशादेतत्पदं प्राप्ता ॥ ९८४ ॥

सा च—

तप्तजाम्बूनदनिभा ह्युदयादित्यसप्रभा ।
महापीठे मणिमये सिंहाष्टकयुते शुभे ॥ ९८५ ॥
शतयोजनविस्तीर्णे दिव्यस्रग्धामलालिते ।

वर्णित योग का अभ्यास करने वाले वैष्णव पद में, ब्रह्मचर्ययोग में पारङ्गत योगी कुमारपद में स्फटिक के समान कान्तिवाले स्वच्छ भुवनों से उपलक्षित होकर क्रीड़ा करते हैं । इन सबके ऊपर जो उमा और श्रीकण्ठ का भुवन है वह शैवसिद्धान्त में उपदिष्ट शक्ति और शक्तिमान् की आराधना करते हुए चित्तवृत्तिनिरोध वाले योगियों की प्राप्ति का स्थान है ॥ ९८३ ॥

शिव के साथ नित्य संयुक्त भगवती उमा देवी, जो कि योगाष्टक के ऊपर पर रूप से स्थित है, का भुवन बतलाते हैं—

इसके ऊपर जगन्माता साक्षात् भगवती उमा स्थित हैं । वह विश्व के लिये अमेय, विश्व का कारण तथा स्वयम्भू हैं ॥ ९८४ ॥

साक्षात् कहने का तात्पर्य यह है कि योगाष्टक के मध्य भगवती का अवतार आंशिक है । ऐसा ही वक्ष्यमाण श्रीकण्ठनाथ के विषय में भी मानना चाहिये । स्वयम्भवा = अपने स्वातन्त्र्य से दूसरे जीवों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये स्थित हैं न कि अन्य योगियों की भाँति योग के कारण इस पद को प्राप्त हुई हैं ॥ ९८४ ॥

और वह—

तपाये गये सोने के समान, उदित हो रहे सूर्य के समान वह आठ शेरों से युक्त सौ योजन विस्तीर्ण एवं दिव्य माला के तेज से शोभायमान शुभ मणिमय महापीठ पर विराजमान हैं ॥ ९८५-९८६- ॥

स्थितेति शेषः ॥

किं च—

दिव्यकुण्डलिनी देवी महाहारविभूषिता ॥ ९८६ ॥

किं च—

विजयाग्रे महाभागा श्रीरिवोत्तमरूपिणी ।
जया च पद्मगर्भाभा सर्वालङ्कारभूषिता ॥ ९८७ ॥
नन्दा च पद्मपत्राक्षी हारकेयूरभूषिता ।
सर्वाभरणचित्राङ्गी सुनन्दा च मनोहरा ॥ ९८८ ॥
परिवार्य प्रतीहार्यः सर्वतः समुपस्थिताः ।

श्रीरिवेति पूर्वोक्तश्रीरूपेत्यर्थः । सर्वत इति चतुर्दिक्कम् ॥

किं च—

त्रिंशत्कोटिसहस्राणि त्रिंशत्कोटिशतानि च ॥ ९८९ ॥
मानस्यो दिव्यनार्यस्तास्तां सदा पर्युपासते ।

ता इति लोकोत्तराः । त्रिंशत्कोटीति पाठे वर्णव्यत्ययश्छान्दसः ॥

स्थित हैं—यह शेष है ॥

तथा—

दिव्य कुण्डलों वाली वह देवी विशालहार से विभूषित हैं ॥ -९८६ ॥

और भी—

इसके आगे उत्तम रूप वाली महाभागा विजया (नामवाली प्रतीहारी) दूसरी लक्ष्मी के समान स्थित है । इसी प्रकार पद्मगर्भ की आभा वाली सर्वालङ्कारभूषिता जया, पद्मपत्राक्षी हारकेयूरभूषिता नन्दा तथा समस्त आभरणों से विचित्र अङ्गवाली मनोहर सुनन्दा नामक प्रतीहारियाँ इसे चारो ओर से परिवारित कर स्थित हैं ॥ ९८७-९८९- ॥

श्रीरिव = पूर्वोक्त श्रीरूपा । सब ओर से = चारो दिशाओं में ॥

तथा—

तीस हजार तीस सौ करोड़ मानसी दिव्य वे नारियाँ उसकी सदा उपासना करती रहती हैं ॥ -९८९-९९०- ॥

वे = लोकोत्तर । 'त्रिंशत्कोटि' पाठ में वर्णों का आगे-पीछे होना छन्दोभङ्ग से बचने हेतु है । (वैसे यहाँ त्रिंशतसहस्रकोटि, त्रिंशत्शतकोटि पाठ होना चाहिये) ॥

किं च—

विमानकोटिरेका च रुद्राणां भूरितेजसाम् ॥ ९९० ॥

तत्रास्ति ॥ ९९० ॥

ते च विमानस्था रुद्रास्तदाराधनपरा एवेति कृत्वा—

औमा इति समाख्याताः..........

किं च—

..........वैमाना इति तेऽन्यथा ।

विगतो मानः शरीरेन्द्रियादिविषयोऽभिमानो यस्याः सा विमाना भगवती, तस्या अमी वैमानाः ॥

एते हि—

उपासते तु तां देवीं मातरं तनया इव ॥ ९९१ ॥

न च तत्रासौ केवलमनुग्रहपरा स्थिता, यावत् ।

सावतीर्याण्डमध्ये तु मया सार्धं वरानने ।
अनुग्रहार्थं लोकानां प्रादुर्भूता सनातनी ॥ ९९२ ॥

और भी—

वहाँ अत्यन्त तेजस्वी रुद्रों के एक करोड़ विमान हैं ॥ -९९० ॥

वहाँ हैं ॥ ९९० ॥

चूँकि उन विमानों में स्थित रुद्र उसी की आराधना में लगे हैं इसलिये—

वे (उमा से सम्बद्ध होने के कारण) औम कहे जाते हैं ॥ ९९१- ॥

इसके अतिरिक्त—

उनका दूसरा नाम वैमान है ॥ -९९१- ॥

जिसके अन्दर शरीरइन्द्रियादिविषयक अभिमान नष्ट हो गया है वह विमाना अर्थात् भगवती उमा । उससे सम्बद्ध ये वैमान हैं ॥

ये लोग—

उन देवी की उपासना उसी प्रकार करते हैं जैसे पुत्र माता की ॥ -९९१॥

यह देवी अनुग्रह करने के लिये केवल वहीं स्थित नहीं है बल्कि—

हे वरानने ! वह सनातनी होती हुई भी मेरे साथ अण्ड के मध्य में अवतार लेकर लोगों के ऊपर अनुग्रह के लिये उत्पन्न हुई ॥ ९९२ ॥

सनातनी नित्यं पुंसामनुग्रहार्थं प्रपञ्चव्याप्त्या नानानामाकृतिरूपा प्रादुर्भूता व्यक्तिं गतेत्यर्थः । मया सार्धमिति वक्ष्यमाणश्रीकण्ठावतारेण कैलासवासिना मया सहेत्यर्थः ॥ ९९२ ॥

प्रतिकल्पं नानानामभेदेन देव्यवतीर्णेत्याह—

कल्पे पूर्वे जगन्माता जगद्योनिर्द्वितीयके ।
तृतीये शाम्भवी नाम चतुर्थे विश्वरूपिणी ॥ ९९३ ॥
पञ्चमे नन्दिनी नाम षष्ठे चैव गणाम्बिका ।
विभूतिः सप्तमे कल्पे सुभूतिश्चाष्टमे तथा ॥ ९९४ ॥
आनन्दा नवमे कल्पे दशमे वामलोचना ।
एकादशे वरारोहा द्वादशे च सुमङ्गला ॥ ९९५ ॥
कल्पे त्रयोदशे देवि महातनुरुदाहृता ।
कल्पे चतुर्दशे चैव अनन्ता नाम कीर्तिता ॥ ९९६ ॥
भूतमाता पञ्चदशे षोडशे चोत्तमा स्मृता ।
सहस्रधारा सप्तदशे सती चाष्टादशे पुरा ॥ ९९७ ॥

कल्पो भाविमानेन चतुर्दशमन्वतरं ब्राह्मं दिनं यदन्ते कालाग्निर्जगद् दहति तत्र प्रथमद्वितीयादिकल्पक्रमेण त्वेतन्नामरूपभेदेन लोकानुग्रहार्थमवतीर्णा ॥ ९९७॥

वह सनातनी अर्थात् नित्य होती हुई भी पुरुषों के अनुग्रह के लिये प्रपञ्च में व्याप्ति के कारण नाना नाम और नाना आकृति वाली होकर अभिव्यक्त हुई है । मेरे साथ = वक्ष्यमाण श्रीकण्ठनाथ के रूप में अवतार लेने वाले कैलासवासी मेरे साथ ॥ ९९२ ॥

यह देवी प्रत्येक कल्प में अनेक भिन्न नामों से अवतीर्ण हुई—यह कहते हैं—

पहले कल्प में जगन्माता, दूसरे में जगद्योनि, तीसरे में शाम्भवी, चौथे में विश्वरूपिणी, पाँचवें में नन्दिनी, छठें में गणाम्बिका, सातवें कल्प में विभूति, आठवें में सुभूति, नवें कल्प में आनन्दा, दशवें में वामलोचना, ग्यारहवें में वरारोहा, बारहवें में सुमङ्गला, हे देवि ! तेरहवें कल्प में महातनु कही गयी है । चौदहवें कल्प में अनन्ता नामवाली कही गयी है । पन्द्रहवें में भूतमाता, सोलहवें में उत्तमा, सत्रहवें में सहस्रधारा और अट्ठारहवें कल्प में सती के नाम से जानी गयी ॥ ९९३-९९७ ॥

कल्प = आगे वर्णन किये जाने वाले परिमाण के अनुसार चौदह मन्वन्तर वाला ब्रह्मा का एक दिन जिसके अन्त में कालाग्निरुद्र संसार को जला डालते हैं । प्रथम द्वितीय आदि कल्प के क्रम से (वह देवी) इन (उपर्युक्त) नामों और रूपों के भेद से लोकानुग्रह के लिये अवतार ली ॥ ९९७ ॥

आस्तां वा निःसंख्यपुराकल्पगततत्तदवतारकीर्तनेनापरिसंख्येन, केवलमस्मिन् वर्तमाने—

चाक्षुषस्य मनोः कल्पे दक्षस्य दुहिता शुभा ।

ब्रह्मणा स्वचक्षुषा निर्मितत्वाच्चाक्षुषो यो मनुप्रजापतिस्तस्य कल्प इति तदीय एतत्कल्पसम्बन्धिनि प्रथममन्वन्तरात्मनि त्वं लोकानुग्रहार्थं दक्षप्रजापतिदुहितृरूपेणावतीर्णाऽभव इत्यर्थः ।

अवतीर्य च—

अवमानाच्च दक्षस्य स्वां तनुं त्वजहाः पुराः ॥ ९९८ ॥

एतत्पुराणेषु प्रसिद्धमेव ॥ ९९८ ॥

ततः सैव—

अमां कलां तु चन्द्रस्य पुनरापूर्य संस्थिता ।

महेश्वरानुरागात्तच्छिरःस्याममाख्यां विश्वाप्यायिकां चन्द्रकलामापूर्येति । एवमपि जगदनुग्रहप्रयोजनैव देवी ॥

अथ परमेश्वरी अनुजिघृक्षाप्रेरितेन—

पूर्व के असंख्य कल्पों में होने वाले असंख्य भिन्न-भिन्न अवतारों के वर्णन को छोड़िये । केवल इस वर्त्तमान—

चाक्षुष मनु के कल्प में यह दक्ष की उत्तम पुत्री हुई ॥ ९९८- ॥

ब्रह्मा के द्वारा अपने नेत्रों से निर्मित होने के कारण चाक्षुष जो मनु प्रजापति उनके कल्प में उनके इस कल्प से सम्बद्ध प्रथम मन्वन्तर में लोकानुग्रह के लिये तुम दक्षप्रजापति की पुत्री के रूप में अवतरित हुई—यह अर्थ है ।

और अवतार लेकर—

दक्ष के अपमान के कारण तुमने अपने शरीर को छोड़ दिया ॥ -९९८ ॥

यह (घटना) पुराणों में प्रसिद्ध ही है ॥ ९९८ ॥

इसके बाद वही (तुम)—

चन्द्रमा की अमा कला को पुनः आपूरित कर स्थित हो गयी ॥ ९९९- ॥

महेश्वर के प्रति अनुराग के कारण उनके शिर पर स्थित अमा नामक विश्व को तृप्त करने वाली चन्द्रकला को आपूरित कर स्थित हो गयी । ऐसा होने पर भी वह देवी जगत् के अनुग्रह रूप प्रयोजन वाली ही है ॥

इसके बाद तुम्हारी अनुग्रहेच्छा से प्रेरित—

पुनर्हिमवताराध्य दुहिता त्वात्मनः कृता ॥ ९९९ ॥

त्वं देवि सा............

तथारूपतां गृहीत्वा—

............अद्भुतं तप्त्वा तपः परमदुश्चरम् ।

मां भर्तारं पुनः प्राप्य जातास्य(ङ्क)[1]रुहा प्रिये ॥ १००० ॥

मामिति परमहेश्वरमेव स्वातन्त्र्याद् गृहीतकैलासवासिमूर्तिम् । (अङ्के)[2] रुहती (त्यङ्क)[3] रुहा वामार्धभागगता ॥ १००० ॥

तदित्थम्—

कैलासनिलयश्चाहं त्वया सार्धं वरानने ।

भक्तदृशा च मम—

त्वं तनुर्वामभागस्य............

अतश्च तत्त्वदृष्टाविवाकृतिदशायामपि—

................मत्तो नैव वियुज्यसे ॥ १००१ ॥

न केवलमस्मिन्नेव कल्पेऽद्यत्वे मच्छरीरार्धगतत्वेन स्थितासि, यावत्—

हिमवान् के द्वारा आराधना कर हे देवि ! उस हिमवान् ने तुमको अपनी दुहिता (= पार्वती) बनाया ॥ -९९९-१०००- ॥

उस रूप को धारण कर—

हे प्रिये ! तुम अद्भुत दुश्चर तप कर मुझे पति के रूप में प्राप्त कर मेरी अङ्कगामिनी हो गयी हो ॥ -१००० ॥

मुझको = अपने स्वातन्त्र्य के कारण कैलासवासी मूर्त्ति वाले परम महेश्वर को । अङ्क में रूढ होने वाली अङ्करूहा है अर्थात् वामार्धभाग में बैठने वाली ॥ १०००॥

तो इस प्रकार—

हे वरानने ! मैं तुम्हारे साथ कैलासालयवासी हो गया ॥ १००१- ॥

भक्तों की दृष्टि से—

तुम मेरे वाम भाग वाली शरीर हो ॥ -१००१- ॥

इसलिये तत्त्व दृष्टि में आकृति वाली दिखलायी पड़ने पर भी—

तुम मुझसे अलग नहीं होती हो ॥ -१००१ ॥

---

१. ङ्क । २. ङ्के । ३. त्यङ्क ।

दक्षाध्वरे पुनर्जाता भद्रकालीति नामतः ।

पुनरित्यन्यस्मिन् दक्षयज्ञे दक्षप्रजापतिकृताराधनप्रकर्षात्तदनुग्रहाय भद्रकालीत्वेनावतीर्णा त्वमभव इत्यर्थः ॥

तदित्थं पररूपैव त्वम्—

एकानंशापरा मूर्तिः सतीशानाद्विनिःसृता ॥ १००२ ॥

एकानंशाऽविभक्ताऽद्वितीयरूपा सती इत्यपरा मूर्तिरीशानाद्विनिःसृतेत्युक्तप्रकारनानाविधापरामूर्तिरूपा त्वमीशानादिति परमेश्वरस्वातन्त्र्यादेव जगदनुजिघृक्षयेत्थमास्थितेत्यर्थः, अथ चैकानंशाख्यदेवतात्वेनाप्यवतीर्णेत्यर्थः ॥ १००२ ॥

किं च—

इदं चतुर्युगं प्राप्य द्वापरे विष्णुना सह ।
महिषस्य वधार्थाय उत्पन्ना कृष्णपिङ्गला ॥ १००३ ॥

वर्तमानचतुर्युगगते द्वापरे श्रीभद्रकालीपुरनिरूपितनीत्या विष्णुना आराधिता सती तेनैव भ्रातृभूतेन सह महिषासुरवधायावतीर्णा ॥ १००३ ॥

न केवल इसी कल्प में आज मेरे शरीर के अर्धभाग में स्थित हो बल्कि—

पुनः दक्ष के यज्ञ में भद्रकाली के नाम से पुनः उत्पन्न हुई ॥ १००२-॥

पुनः का अर्थ है दूसरे दक्षयज्ञ में । दक्ष प्रजापति के द्वारा की गई प्रकृष्ट आराधना के कारण उनके प्रति अनुग्रह करने के लिये तुमने भद्रकाली के रूप में अवतार लिया ॥

तो इस प्रकार पररूपा ही तुम—

एका निरंशा अपरा मूर्त्ति होती हुई भी ईशान से निःसृत हुई ॥-१००२॥

एका = अद्वितीया, अनंशा = अविभक्ता, सती = अपरा मूर्त्ति ईशान से निःसृत हुई, अर्थात् उक्तप्रकार नानाविध अपरा मूर्त्तिरूपा तुम, ईशान से—परमेश्वर के स्वातन्त्र्य के कारण ही जगत् पर अनुग्रह करने की इच्छा से इस प्रकार स्थित हुई । तथा एक अनंश देवता के रूप में भी अवतीर्ण हुई ॥ १००२ ॥

तथा—

इस चतुर्युग के एक भाग द्वापर युग में महिषासुर के वध के लिये विष्णु के साथ कृष्णपिङ्गला रूप में उत्पन्न हुई ॥ १००३ ॥

वर्तमान चारो युग के अन्दर स्थित द्वापर युग में श्रीभद्रकालीपुर में निरूपित रीति के अनुसार विष्णु के द्वारा आराधित होकर भाई (= कृष्ण) के रूप में उत्पन्न उन विष्णु के साथ ही महिषासुर के वध के लिये अवतार लिया ॥ १००३ ॥

किं च—

कात्यायनीति दुर्गेति विविधैर्नामपर्ययैः ।
मनुष्याणां तु भक्तानां वरदा भक्तवत्सला ॥ १००४ ॥
पूर्वमेवावतीर्णासि विन्ध्यपर्वतमूर्धनि ।

विविधैर्नामपर्ययैरिति विन्ध्यवासिनीभ्रमरवासिनीत्यादिनामभेदैः । कतस्य वृष्णिमध्यवर्तिनोऽपत्यं कात्यः, तस्य कृष्णावताराद्यपुरुषस्यापत्यं विष्णोर्भगिनी कात्यायनी । दुःखेन गम्यते जपयज्ञदानतपोभिरपि मुनिभिरपि न प्राप्यते, किन्तु भक्तिशालिभिरेवासाद्यत इति दुर्गा । सा च विन्ध्यस्य मूर्धनि पूर्वमेवावतीर्णेत्येतत्कल्पप्रारम्भ एवोक्तजम्बूद्वीपगतविन्ध्यपर्वतशिरसि भक्तानुग्रहार्थमवतीर्णाऽसि ॥

अथेदानीम्—

अत ऊर्ध्वं प्रवक्ष्यामि भुवनं वरवर्णिनि ॥ १००५ ॥
सुचार्विति तु विख्यातं सहस्रादित्यकान्तिमत् ।
कैलासशिखराकारं शुद्धस्फटिकसप्रभम् ॥ १००६ ॥
महाविमानकोटीभिरावृतं चक्रवर्तिनाम् ।

चक्रवर्तिनो मन्त्रेश्वरा अनुग्रहार्थमेवाकृतिपरिग्रहेणात्रावतीर्णाः ॥

इसके अतिरिक्त—

कात्यायनी दुर्गा इत्यादि अनेक नामों से भक्त मनुष्यों के लिये भक्त वत्सला वरदा होकर तुम विन्ध्याचल के शिखर पर पहले ही अवतार ले चुकी हो ॥ १००४-१००५- ॥

विविध नामपर्यायों से = विन्ध्यवासिनी भ्रमरवासिनी इत्यादि भिन्न-भिन्न नामों से । वृष्णि (= यदुवंशी) के मध्य में उत्पन्न कत नामक पुरुष का पुत्र कात्य, कृष्णावतार के आद्य पुरुष उस कात्य के अपत्य विष्णु की बहन कात्यायनी है । (दुर्गा शब्द का अर्थ है—) दुःख से प्राप्त होने वाली जो मुनियों के द्वारा भी जप यज्ञ दान तपस्या से भी न प्राप्य हो किन्तु भक्तों के द्वारा ही प्राप्य हो वह दुर्गा है । वह विन्ध्य पर्वत के शिखर पर पहले ही अवतीर्ण हुई; इस कल्प के प्रारम्भ में ही उक्त जम्बूद्वीप में स्थित विन्ध्याचल के शिखर पर भक्तों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये तुमने अवतार लिया है ॥

इसके बाद अब—

इस योगाष्टक के ऊपर स्थित भुवन को बतलाऊँगा । हे वरवर्णिनि ! इस (भुवन) का नाम सुचारु है । सहस्र सूर्य की चमकवाला यह (भुवन) कैलास के शिखर के आकार वाला, शुद्ध स्फटिक के समान प्रभा वाला, तथा चक्रवर्त्तियों के करोड़ों महाविमानों से आवृत है ॥-१००५-१००७-॥

तस्मिंस्तु भुवने दिव्ये सूर्यकोटिसमद्युतिः ॥ १००७ ॥
सहस्रबाहुचरणः सहस्रवदनेक्षणः ।
उमापतिर्जगन्नाथः सर्वानुग्रहकृद्वरः ॥ १००८ ॥

तस्य च भगवतो विश्वभोक्तुः—

भोगस्थानं समस्तं वै तत्रस्थं वामभागतः ।

वामभागतो वामं देहार्धमाश्रित्य तत्रैव स्थितं समस्तं भोगस्थानमशेषभोग्योपभोगात्मतया वाममर्धम्, दक्षिणं तु भोक्तृरूपमेव । एवं च भोक्तृभोगात्मकविश्वशरीरोऽयं भगवानत एव सहस्रबाहुचरणादिरूपः ॥

किं चायम्—

शतयोजनविस्तीर्णे नानारत्नविभूषिते ॥ १००९ ॥
दिव्यास्तरणसंछन्ने आदित्यशतसन्निभे ।
आसने परमे दिव्ये रत्नपद्मविचित्रिते ॥ १०१० ॥
उपविष्टो महातेजा वृषभैरष्टभिर्वृतः ।
हेमचीनाम्बरधरो हारकेयूरभूषितः ॥ १०११ ॥
धारयन् सुप्रदीप्ते च सूर्यमण्डलसन्निभे ।

चक्रवर्त्ती = मन्त्रेश्वर, जो कि अनुग्रह के लिये ही आकार धारण कर यहाँ अवतीर्ण होते हैं ॥

उस दिव्य भुवन में करोड़ों सूर्य के समान प्रभा वाले, हजारों भुजाओं और चरणों वाले, सहस्र वदनों और नेत्रों वाले, सर्वानुग्रहकारी श्रेष्ठ जगन्नाथ उमापति (निवास करते हैं) ॥ -१००७-१००८ ॥

उस विश्वभोक्ता भगवान् का—

भोगस्थान उसी में वाम भाग में स्थित समस्त भुवन है ॥ १००९- ॥

(= बाँयी ओर) वामभागतः = वाम देहार्ध में आश्रित होकर, तत्रस्थ = उसी में स्थित, समस्त भोगस्थान = अशेष भोग्य के उपभोग के रूप में स्थित वामार्ध । दक्षिणार्ध तो भोक्ता रूपी है । इस प्रकार यह भगवान् भोक्ता और भोग्य रूप विश्व शरीर वाले हैं, इसीलिये सहस्रबाहु सहस्रचरण आदि रूप हैं ॥

और भी यह—

महातेजस्वी (उमानाथ) सौ योजन विस्तृत, अनेक रत्नों से विभूषित, दिव्य आस्तरण से ढँके हुए, सौ सूर्य के समान दीप्तिमान्, रत्नों से निर्मित कमलों से चित्रित किये हुए, दिव्य परम आसन पर आठ वृषभों से आवृत होकर बैठे हुये हैं । स्वर्ण का चीनाम्बर धारण किये हुए, हार केयूर

स्फुरन्मयूखसङ्घाते कुण्डले रश्मिसङ्कुले ॥ १०१२ ॥

मयूखाः सूक्ष्माः प्रभाः, रश्मयस्तु स्थूलाः ॥

किं च—

धारयन् मुकुटं मूर्ध्नि दिव्यरत्नविचित्रितम् ।
देदीप्यमानमत्युग्रं कैलासशिखरोपमम् ॥ १०१३ ॥
प्रलम्बोऽस्य महाहारः प्रभवद्रश्मिसङ्कुलः ।
गाङ्गो हिमवतः शृङ्गात् पतितो निझरो यथा ॥ १०१४ ॥

किं च—

त्रिंशत्कोटिसहस्रैस्तु त्रिंशत्कोटिशतैस्तथा ।
शूलिभिर्जटिभिस्त्र्यक्षैर्दिव्याभरणभूषितैः ॥ १०१५ ॥
नानारूपधरै रुद्रैर्वृतो भूतगणैस्तथा ।
दिव्याभिर्मानसीभिश्च नारीभिः परिवारितः ॥ १०१६ ॥
विमानशतकोटीभिरावृतः सर्व एव तु ।

अन्यच्च—

मातरः सप्त रूपिण्यो नानालङ्कारभूषिताः ॥ १०१७ ॥

से भूषित ये सुप्रदीप्त, सूर्यमण्डल के समान दो कुण्डलों को, जो कि स्फुरित होती हुई किरणों के समूह वाले तथा रश्मि से व्याप्त हैं, धारण किये हुए हैं ॥ -१००९-१०१२ ॥

मयूख = सूक्ष्म प्रभा, रश्मि = स्थूल प्रभा ॥

तथा—

(यह) शिर पर दिव्य रत्नों से विचित्रित, देदीप्यमान, अत्यन्त उग्र, कैलास के शिखर के समान उन्नत मुकुट को धारण किये हुए हैं । इनका विशाल हार बहुत लम्बा है जिसमें से किरणें उसी प्रकार फूट रही हैं जैसे हिमालय की चोटी से गङ्गा का श्रोत ॥ १०१३-१०१४ ॥

तथा—

त्रिशूल एवं जटा को धारण करने वाले, तीन नेत्रों वाले, दिव्य अलङ्कारों से अलङ्कृत, नानारूपधारी तीस हजार तीस सौ करोड़ रुद्रों तथा भूतगणों से, साथ ही दिव्य मानसी स्त्रियों से ये परिवारित हैं । ये सब (रुद्रगण आदि) सौ करोड़ विमान से आवृत हैं ॥ १०१५-१०१७- ॥

और भी—

परिवार्य महात्मानं समन्तात् पर्यवस्थिताः ।

ता दिग्विभागेनाह—

ब्राह्मी कमलपत्राभा दिव्याभरणभूषिता ॥ १०१८ ॥
आग्नेय्यां दिशि देवेशि स्थिता वै श्रीरिवापरा ।
शङ्खगोक्षीरसङ्काशा त्वैशान्यां तु वरानने ॥ १०१९ ॥
माहेश्वरी महातेजास्तिष्ठते सुरपूजिताः ।
कौमारी पद्मगर्भाभा हारकेयूरभूषिता ॥ १०२० ॥
दिश्युत्तरस्यां देवेशि कामिनीपर्युपासिता ।
स्निग्धनीलोत्पलनिभा हारकुण्डलमण्डिता ॥ १०२१ ॥
दक्षिणस्यां दिशि तु सा उपास्ते परमेश्वरम् ।
वैष्णवीति च विख्याता शिवेन परमात्मना ॥ १०२२ ॥

शिवेनैवाधिष्ठिता सती इयं ध्याता, न तु विष्णुना । प्रत्युतैतस्यैतच्छक्त्यं-शाधिष्ठितत्वादेव विष्णुत्वम् ॥ १०२२ ॥

नीलजीमूतसङ्काशा सर्वाभरणभूषिता ।
वारुण्यां दिशि देवेशि वाराही पर्युपस्थिता ॥ १०२३ ॥

अत्यन्त रूपवती तथा अनेक अलङ्कारों से भूषित सात मातायें इस महात्मा को परिवारित कर स्थित हैं ॥ -१०१७-१०१८- ॥

उन (माताओं) को अलग-अलग दिशाओं में बतलाते हैं—

हे देवेशि ! कमलपत्र के समान तथा दिव्य आभरणों से भूषित ब्राह्मी दूसरी लक्ष्मी के समान अग्निकोण में स्थित है । ईशान कोण में माहेश्वरी स्थित है । यह शङ्ख अथवा गोदुग्ध के समान धवल, महातेजस्विनी तथा देवताओं से नित्य ही पूजित हैं । पद्मगर्भ के समान (पीतारुण), हार और केयूर से भूषित, कामिनियों के द्वारा पर्युपासित कौमारी उत्तर दिशा में स्थित है । चिकने, कोमल नीलकमल के समान (छवि वाली), हार कुण्डल से भूषित जो माता दक्षिण दिशा में स्थित होकर परमेश्वर की उपासना करती रहती है परमात्मा शिव ने उसे वैष्णवी नाम दिया है ॥ १०१८-१०२२ ॥

शिव के द्वारा ही अधिष्ठित हुई इसका ध्यान किया जाता है न कि विष्णु के द्वारा अधिष्ठित हुई । बल्कि यह (= विष्णु परमशिव की) इस (= वैष्णवी) शक्ति से अधिष्ठित होने के कारण ही विष्णु हैं ॥ १०२२ ॥

हे देवेशि ! काले बादल के समान (काली), समस्त आभरणों से भूषित वाराही (उमानाथ के) पश्चिम दिग्भाग में उपस्थित है । शङ्ख, कुन्द,

शङ्खकुन्देन्दुधवला हारकुण्डलमण्डिता ।
ऐन्द्र्यां दिशि च सा देवी इन्द्राणी पर्युपस्थिता ॥ १०२४ ॥
करालवदना दीप्ता सर्वाभरणभूषिता ।
नैर्ऋत्यां दिशि चामुण्डा उपास्ते परमेश्वरम् ॥ १०२५ ॥

एताः सप्त परिवारभूताः, उमा तु देवी भगवतः शरीरार्धस्थाऽष्टमी । सैव योगेश्वरी यस्या एताः प्रपञ्चः । यद्वक्ष्यति—

'उमैव सप्तधा भूत्वा' (१०।१०२९) इति ।

अत एव पूर्वम्—

'मातृकाभैरवं देवमवर्गेण प्रपूजयेत् ।
भैरवी कादिना पूज्या मातृवर्गैः प्रपूज्येत् ॥ (१।३४) इति ।

एतद्व्याख्यानावसरे इहत्यदेवगृहानुसारेण योजना दर्शिता ॥ १०२५ ॥

एताश्च देव्यः—

न त्यजन्ति हि ता देवं सर्वभावसमन्वितम् ।

सर्वभावेन सर्वसर्विक्रियान्तर्बहिश्च समन्वितमभेदव्याप्त्याऽधिष्ठातृभूतम् ॥

इन्दु के समान धवल, हार कुण्डल से मण्डित इन्द्राणी देवी (इनके) पूर्व दिग्भाग में स्थित है । कराल बदन वाली, दीप्त, समस्त आभरणों से भूषित चामुण्डा नामक माता नैर्ऋत्य कोण में परमेश्वर की उपासना करती रहती हैं ॥ १०२३-१०२५ ॥

ये सात मातायें (इनकी) परिवारभूत हैं । भगवती उमा देवी भगवान् (उमानाथ) के शरीर के अर्धभाग में स्थित होती हुई आठवीं माता है । वही योगेश्वरी है । अन्य ये सात मातायें उसका ही विस्तार है । जैसा कि कहेंगे—

'उमा ही सात रूपों में (प्रकट) होकर' (१०।१०२९)

इसीलिये पहले—

'मातृकाओं एवं भैरवदेव की अवर्ग से पूजा करनी चाहिये । भैरवी की कवर्ग से पूजा करनी चाहिये । माताओं की पूजा अन्यवर्गों से करनी चाहिये ।' (१।३४)

इसके व्याख्यान के अवसर पर यहाँ के देवगृह के अनुसार योजना दिखलायी गयी है ॥ १०२५ ॥

और ये देवियाँ—

सर्वभावसमन्वित उन देव को कभी नहीं छोड़ती ॥ १०२६- ॥

('सर्वभावसमन्वितम्' का अर्थ है—) सम्पूर्ण भाव से अर्थात् सभी प्रकार से

तदित्थं सततं परमेश्वरानुगता अप्येताः—

अंशेन मानुषं लोकं ब्रह्मणा चावतारिताः ॥ १०२६ ॥
असुराणां वधार्थाय मनुष्याणां हिताय च ।

हितमनुग्रहः । चशब्दस्तुशब्दार्थे ॥

कथमवतारिता ?—इत्याह—

तपस्तप्त्वा महाघोरं ब्रह्मणा लोकधारिणा ॥ १०२७ ॥

प्रजाहितकारिणा ॥ १०२७ ॥

किं च—

रुरोश्चैव वधार्थाय मयापि त्ववतारिताः ।

मयापीति प्रभुणा सता, न तु ब्रह्मवत्तपस्तप्त्वा, इत्यपिशब्दार्थः ॥

न चैतदाकृतिमदेवासां तात्त्विकं रूपम्, अपि त्वेताः—

स्वच्छन्दास्तु पराश्चान्याः परव्योम्नि व्यवस्थिताः॥ १०२८ ॥

अन्दर एवं बाहर, समन्वित = अभेदव्याप्ति से अधिष्ठाता बने हुए ॥

तो इस प्रकार सदा परमेश्वर से साथ रहती हुई भी ये—

ब्रह्मा के द्वारा एक अंश से, असुरों के वध तथा मनुष्यों के हित के लिये मनुष्यलोक में अवतारित की गयीं ॥ -१०२६-१०२७- ॥

हित = अनुग्रह । 'च' शब्द का प्रयोग 'तु' अर्थ में है ॥

कैसे अवतारित की गयीं—यह कहते हैं—

लोकधारी ब्रह्माजी ने महाघोर तपस्या कर के (उन्हें अवतारित किया) ॥ -१०२७ ॥

(लोकधारिणा का अर्थ है—) प्रजा के हितकारी के द्वारा ॥ १०२७ ॥

और भी—

रुरु नामक राक्षस का वध करने के लिये मैंने स्वयं भी उनको अवतारित किया ॥ १०२८- ॥

मेरे द्वारा भी—यहाँ 'भी' का अर्थ है कि मैं प्रभु (= समर्थ) हूँ इसलिये न कि ब्रह्मा के समान तपस्या कर (उन्हें अवतारित करता हूँ) ॥

इन माताओं का आकृतिमान् रूप इनका तात्त्विक रूप नहीं है बल्कि ये—

स्वच्छन्द और पर तत्त्व वाली वह दूसरी हैं जो पराकाश में रहती हैं ।

स्वच्छन्दं पर्युपासीनाः परापरविभागतः ।

नित्यं स्थिता इति शेषः । परं स्वच्छन्दं चिद्भैरवं परेण तदविभिन्नेन रूपेण, अपरं तदुमापतिरूपम् । अनेनैवमुक्तेन विभागेनैव चायमुमापतिः परभैरवस्फारसार एवेति । अनेनैवाशयेनाप्यादिसूत्रे परभैरवपदमस्माभिर्युक्तमेव व्याकारि, परभैरव-सत्तासारत्वादुमापतिर्भैरव इत्युक्त इति ॥

एताश्च मातरः परशक्तिप्रपञ्चव्याप्तिरूपा इत्याह—

उमैव सप्तधा भूत्वा नामरूपविपर्ययैः ॥ १०२९ ॥
एवं स भगवान् देवो मातृभिः परिवारितः ।
आस्ते परमया लक्ष्म्या तत्रस्थो द्योतयञ्जगत् ॥ १०३० ॥

परा लक्ष्मीर्ज्ञानदीप्तिमयी उमा देवी, तया सह । अतश्च उमैव सप्तधा स्थिता सती उमापतेर्देहाविभिन्नेत्यष्टशक्तिर्महेश्वरः ॥ १०३० ॥

अत एवैतद्व्याप्तिसारा एव—

अस्योपरि तथा चाष्टौ मूर्तयस्तस्य धीमतः ।

इस प्रकार से पर और अपर रूप से ये स्वच्छन्द की उपासना करती रहती हैं ॥ -१०२८-१०२९- ॥

(उपासना करती हुई) नित्य स्थित हैं । पर स्वच्छन्दचिद्भैरव की पर अर्थात् उनसे अभिन्न रूप से उपासना करती हैं । (उन भैरव का) अपर रूप उमापति का है । इस प्रकार उक्त विभाग से यह उमापति परभैरव के स्फारसार (= विस्तार) ही हैं । इसी आशय से प्रथम श्लोक की व्याख्या करते समय मैंने परभैरव पद की उचित व्याख्या की । पर भैरव की सत्ता ही जिसका सार है ऐसे उमापति भी भैरव कहे गये ॥

और ये मातायें भी पराशक्ति का विस्तार रूप ही हैं—यह कहते हैं—

उमा स्वयं ही नाम और रूप के परिवर्त्तन के द्वारा सात प्रकार की हो गयी । इस प्रकार से वह भगवान् देव माताओं से परिवारित होकर उस (सुचारु भुवन) में परमालक्ष्मी के साथ संसार को द्योतित करते हुए स्थित रहते हैं ॥ -१०२९-१०३० ॥

परा लक्ष्मी = ज्ञानदीप्तिमयी उमादेवी, उसके साथ । इसलिये उमा ही सात रूपों में स्थित होती हुई उमापति के देह से अभिन्न है । इस प्रकार भगवान् उमापतिनाथ आठ शक्तियों वाले हैं ॥ १०३० ॥

इसीलिये इस व्याप्ति वाली ही—

उस धीमान् की आठ मूर्त्तियाँ इस (भुवन) के ऊपर स्थित हैं ॥१०३१-॥

अस्य सुचारुणो भुवनस्योपरि तस्य धीमत इत्येतदुमापत्यभिन्नस्य वक्ष्यमाण-गुणतत्त्वनिष्ठस्य श्रीश्रीकण्ठस्य सम्बन्धिन्योऽष्टौ मूर्तयो मूर्तीश्वराः । तथा चेति तेनैव श्रीकण्ठाभिन्नेन प्रकारेण स्थिताः ॥

ता आह—

शर्वो भवश्च भगवान् रुद्रः पशुपतिस्तथा ॥ १०३१ ॥
ईशानश्चैव भीमश्च महादेवोग्र एव च ।

वक्ष्यमाणदृष्ट्यनुसारमीशानादनन्तरं रुद्रः पठनीयः । महादेवेन सहित उग्र इति समासः ॥

एवंनामनिर्दिष्टाभिः—

एताभिः कुरुते शर्वो मूर्तिभिः सृष्टिमुत्तमाम् ॥ १०३२ ॥

भगवानुमापतिरेताभिरष्टभिः, मूर्तिभिरित्यनेन मूर्तीश्वराष्टकेन परापरादिभेदेन सर्वमूर्ध्वाधरपदमधितिष्ठतो भगवतो निजशक्तिचक्रात्मना सृष्टिमिति स्थूलसूक्ष्म-प्रभावभूततन्मात्रादिरूपवक्ष्यमाणकलादिरूपां सृष्टिम्, उत्तमामित्युक्तसूक्ष्मस्थूलसृष्टि-मुद्गतामूर्ध्वे स्थितां भगवानुमापतिरेव वक्ष्यमाणदृष्ट्या परापरभेदेन तत्र तत्रा-वस्थितः करोति ॥ १०३२ ॥

इसके = सुचारु नामक भुवन के, ऊपर । उस धीमान् का = इस उमापति से अभिन्न एवं वक्ष्यमाण गुणतत्त्व वाले श्रीकण्ठ से सम्बद्ध, आठ मूर्त्तियाँ = आठ मूर्त्तीश्वर । उस प्रकार = उस श्रीकण्ठ से अभिन्न रूप में, स्थित है ॥

उन (मूर्त्तियों) को बतलाते हैं—

शर्व, भव, भगवान् रुद्र, पशुपति, ईशान, भीम, महादेव और उग्र ॥ -१०३१-१०३२- ॥

वक्ष्यमाण दृष्टि के अनुसार ईशान के बाद रुद्र को कहना चाहिये । ('महादेवोग्रः' समास की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—) महादेवेन सहितः उग्रः (= महादेव के साथ उग्र) यह समास है ॥

इस प्रकार नामों के द्वारा निर्दिष्ट—

इन मूर्त्तियों द्वारा भगवान् शर्व उत्तम सृष्टि करते रहते हैं ॥ -१०३२ ॥

भगवान् उमापति इन आठ मूर्त्तियों के द्वारा अर्थात् पर अपर भेद से समस्त ऊर्ध्व अधर भुवनों में अधिष्ठित हुए अपने शक्तिचक्र रूप इस मूर्त्तीश्वराष्टक के द्वारा सृष्टि को = स्थूलसूक्ष्मप्रभावभूत तन्मात्र आदि रूप, वक्ष्यमाण कला आदि रूप वाली सृष्टि को । उत्तम = उक्त सूक्ष्म स्थूल सृष्टि को, उद्गताम् (पाठ मानने पर) ऊपर स्थित सृष्टि को, भगवान् उमापति ही वक्ष्यमाण दृष्टि से पर अपर भेद से

का सा सृष्टिः ?—इत्याह—

भूमिरापोऽनलो वायुराकाशं सूर्य एव च ।
सोमश्च यजमानश्चेत्यष्टौ सृष्टिरियं स्मृता ॥ १०३३ ॥

एतदष्टकं स्थूलसूक्ष्मपरभेदेन तत्र तत्रावस्थितं मन्तव्यम् । तेषां च मध्याद्धुद्घातदीक्षायां बिन्द्वादिपदैः पृथिव्यादिस्वरूपं पूर्वं दर्शितम्, सूर्यसोमावपि करणशक्तिरूपौ, तदाश्रयत्वेन च यजमानः प्रमातेति सर्वाध्वनि स्थितमेवैतत् ।

एवमेते मूर्तीश्वराः—

सर्वात्मना तु ते तस्मिन्नन्यत्रैकांशत स्थिताः ।

तस्मिन्निति बुद्धितत्त्वगते मूर्तीशावरणे । अन्यत्रेति तन्मात्रावरणे ब्रह्माण्डान्तरे च ॥

उपसंहारभङ्ग्या भगवत उमापतेर्यावती प्रपञ्चव्याप्तिस्तां दर्शयति—

एवमस्मिन् स्थितो देवो ब्रह्मलोकोर्ध्वतस्तथा ॥ १०३४ ॥
मेरोश्च मूर्धनीशानो योगाष्टकमथेष्यते ।

स्थान-स्थान पर स्थित होकर करते हैं ॥ १०३२ ॥

वह कौन सी सृष्टि है ?—यह बतलाते हैं—

पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश, सूर्य, चन्द्रमा और यजमान यह आठ प्रकार की सृष्टि मानी गयी है ॥ १०३३ ॥

इस आठ के समूह को स्थूल सूक्ष्म और पर भेद से स्थान-स्थान पर स्थित मानना चाहिये । उनके मध्य से उद्घात दीक्षा में विन्दु आदि पदों से पृथिवी आदि का स्वरूप पहले दिखला दिया गया । सूर्य और सोम भी इन्द्रियों की शक्तिरूप हैं और उन इन्द्रियों के आश्रय के रूप में यजमान प्रमाता है । इस प्रकार समस्त अध्वा में यह मूर्त्यष्टक स्थित है ।

इस प्रकार ये मूर्त्तीश्वर—

उसमें सर्वात्मना स्थित हैं और अन्यत्र आंशिक रूप से ॥ १०३४- ॥

उसमें = बुद्धितत्त्व में स्थित मूर्त्तीश के आवरण में । अन्यत्र = तन्मात्र के आवरण में और दूसरे ब्रह्माण्ड में ॥

उपसंहार को दृष्टि में रखकर भगवान् उमापति की जितनी प्रपञ्चव्याप्ति है उसको दिखलाते हैं—

इस प्रकार इस लोक में स्थित देव उमापति ब्रह्मलोक के ऊपर स्थित है । सुमेरु के शिखर पर स्थित हैं । यही ईशान योगाष्टक माने जाते हैं ।

श्रीकण्ठ इति नाम्ना च कैलासनिलयस्तथा ॥ १०३५ ॥
शर्वाद्याभिश्च तनुभिरष्टाभिर्व्याप्य तिष्ठति ।

अस्मिन्निति सुचारुभुवने, ब्रह्मलोकोर्ध्वत इति रुद्रलोके, मेरोर्मूर्ध्नि ज्योतिष्कशिखरे, अथानन्तरमेष एव भगवान् योगाष्टकमिष्यते, न तु तदन्यत्किञ्चित् । तथा श्रीकण्ठ इति नाम्नायमेव कैलासनिलयश्चोमापतिरयमेव शर्वाद्याभिश्च मूर्तीश्वरमूर्तिभिस्तत्र तत्र तत्तत्स्थूलसूक्ष्मादि विश्वं व्याप्य तदैकात्म्येनावस्थिताभिरयमेव स्थित इति प्रपञ्चव्याप्तिरियं सर्वदैकस्यैव, परमेश्वरस्येति यावत् । एतच्चैकादशे सुतरां स्फुटीभविष्यति ॥

एषामेतदुमापतिभुवनमुत्पत्तिस्थानमित्याह—

ये तु माहेश्वरं योगं सगुणं पर्युपासते ॥ १०३६ ॥
भक्त्या च ब्रह्मचर्येण सत्येन च दमेन च ।
दृष्ट्वा देहस्थमात्मानं तेऽत्र यान्ति मनीषिणः ॥ १०३७ ॥

ये तु माहेश्वरशास्त्रनिरूपितं सत्त्ववृत्तिनिष्ठत्वात् सगुणं न तु ज्ञानक्रियादिशक्तिस्फारसमावेशरूपं परयोगं परितो दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारैरुपासते सेवन्ते, ते

कैलास में रहने वाले श्रीकण्ठनाथ भी यही हैं और यही शर्व आदि आठ शरीरों से व्याप्त करके स्थित हैं ॥ -१०३४-१०३६- ॥

इसमें = सुचारु भुवन में । ब्रह्मलोक के ऊपर = रुद्रलोक में । मेरु के मूर्धापर = ज्योतिष्क के शिखर पर । इसके बाद यही भगवान् योगाष्टक माने जाते हैं । न कि यह योगाष्टक इनसे भिन्न कुछ दूसरा है । तथा श्रीकण्ठ नाम से यही कैलाशवासी उमापति हैं । यही शर्व आदि मूर्तियों के द्वारा जगह-जगह तत्तत् स्थूल सूक्ष्म आदि विश्व को व्याप्त कर उससे अभिन्न रूप में स्थित (मूर्तियों) के साथ यहीं स्थित हैं । इस प्रकार यह प्रपञ्चव्याप्ति सर्वदा एक ही परमेश्वर की है । यह वक्तव्य ग्यारहवें पटल में स्पष्ट हो जायेगा ॥

इनका उत्पत्तिस्थान उमापतिभुवन है—यह कहते हैं—

जो योगी लोग भक्ति, ब्रह्मचर्य, सत्य और दम के द्वारा सगुण माहेश्वर योग की उपासना करते हैं वे मनीषी आत्मा को देहस्थ समझ कर यहाँ पहुँचते हैं ॥ -१०३६-१०३७ ॥

जो लोग सत्त्ववृत्ति में रहने के कारण माहेश्वरशास्त्रनिरूपित सगुणयोग की न कि ज्ञान क्रिया आदि शक्ति के स्फार के समावेश रूप परयोग की पर्युपासना करते हैं = दीर्घकाल तक निरन्तर एवं आदर के साथ सेवा करते हैं ।[1] वे देहस्थ न कि

---

१. (स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः—पा०यो०सू०)

देहस्थं न त्वनवच्छिन्नरूपमात्मानं ज्ञात्वा कर्तृरूपं स्वं स्वभावं साक्षात्कृत्यात्र यान्तीत्युमापतिपदं सायुज्यादिना प्राप्नुवन्ति । अत्र च भक्तिर्मुख्यं कारणं सत्यब्रह्मचर्यदमेषु प्रधानभूतम् । दम इन्द्रियजयः । इत्थं चास्य योगस्य सगुणत्वमेव व्यक्तीकृतम् ॥ १०३७ ॥

न च सगुणशाम्भवयोगप्राप्यमेतत्पदम्, यावत्—

दृष्ट्वा च मण्डलं तस्य भक्त्या च परया भृशम् ।
मुक्तद्वैता यतात्मानस्तत्र यान्ति मनीषिणः ॥ १०३८ ॥

तस्येत्युमापतेः, मण्डलमिति तदधिकरणं यागं, दृष्ट्वा तद्दर्शनात्समयदीक्षां प्राप्य, तद्भक्त्या च मुक्तद्वैता इत्युमापतिरेवैका पारमार्थिकी देवतेति निश्चित्य तत्सेवार्थं प्रयतचित्ताः पूर्ववत् सायुज्यादिनैतत्पदं प्राप्नुवन्ति मनीषिणः परमेश्वरशास्त्राश्वस्तबुद्धयः ॥ १०३८ ॥

अथ—

तेषां चैवोपरिष्टात्तु सुशिवा द्वादश स्थिताः ।

सुष्ठु शिवा आकृतिमत्त्वेऽपि शिवैक्यप्राप्त्या पूर्णसार्वज्ञ्यादिरूपाः ।

अनवच्छिन्न रूप आत्मा को जानकर = कर्तृरूप अपने स्वभाव का साक्षात्कार कर, यहाँ जाते हैं = सायुज्य आदि के द्वारा उमापतिपद को प्राप्त होते हैं । इस विषय में सत्य ब्रह्मचर्य और दम में प्रधानभूत भक्ति ही मुख्य कारण है । दम = इन्द्रियों को वश में करना । इस प्रकार इस योग का सगुणत्व प्रकट किया गया ॥१०३७॥

यह पद सगुण शाम्भवयोग से प्राप्य नहीं है, क्योंकि—

यतात्मा मनीषी लोग परा भक्ति के द्वारा उस भृश (= महान्) मण्डल को देख कर (अथवा उस मण्डल को भृश = भलीभाँति, देख कर) द्वैतभाव से रहित हो वहाँ जाते हैं ॥ १०३८ ॥

उसके = उमापति के, मण्डल को = उसमें होने वाले याग को, देख कर = उसके दर्शन के द्वारा समयी दीक्षा प्राप्त कर, उसकी भक्ति से द्वैतभाव से रहित होकर = उमापति ही एकमात्र परमार्थ देवता हैं ऐसा निश्चय कर, उनकी सेवा के लिये प्रयत्नयुक्त मन वाले होते हुए, पूर्व की भाँति सायुज्य आदि के द्वारा इस पद को प्राप्त करते हैं । मनीषी लोग = परमेश्वर शास्त्र में दृढविश्वास रखने वाले ॥ १०३८ ॥

इसके बाद—

इन (अष्ट मूर्त्तियों) के ऊपर बारह सदाशिव स्थित हैं ॥ १०३९- ॥

(सुशिव का अर्थ है—) सुष्ठु शिव । ये आकृतिमान होते हुए भी शिवैक्यलाभ के कारण पूर्णसर्वज्ञता आदि से युक्त हैं ।

ते च—

वामो भीमस्तथेशश्च शिवः शर्वस्तथैव च ॥ १०३९ ॥
विद्यानामधिपश्चैव एकवीरः प्रचण्डधृत् ।
ईशानश्चाप्युमाभर्ता अजेशोऽनन्त एव च ॥ १०४० ॥
तथा एकशिवश्चापि सुशिवा द्वादश स्मृताः।

एषां ध्यानाय—

सर्वे कुङ्कुमसङ्काशाः सूर्यकोटिसमप्रभाः ॥ १०४१ ॥
भुवनेषु विचित्रेषु शङ्खाकारेषु संस्थिताः ।

मूर्तीश्वराणां त्वधिष्ठेयपृथिव्याद्युचितमेव रूपमिति कृत्वेह नोक्तम् ॥

अथ—

अत ऊर्ध्वं वीरभद्रो मण्डलाधिपतिः प्रभुः ॥ १०४२ ॥

वक्ष्यमाणस्य महादेवादिमण्डलेश्वराष्टकस्याधिपतिः । अस्यैव चासौ परा मूर्तिर्यः पूर्वं श्वेतादिमध्ये तदुपरि चोक्तः, अत एवायं प्रभुरिति ॥ १०४२ ॥

अथैतद्ध्यानादिपरिनिष्ठितो यः सः—

तत्सायुज्यमनुप्राप्य तेनैव सह मोदते ।

उनके नाम हैं—

वामेश, भीमेश, शिव, शर्व, विद्याधिप, एकवीर, प्रचण्डधृत्, ईशान, उमाभर्त्ता, अजेश अनन्त और एकशिव ये बारह प्रकार के सुशिव बतलाये गये हैं ॥ -१०३९-१०४१- ॥

इनके ध्यान के लिये—

सबके सब कुङ्कुम के रङ्ग वाले, करोड़ों सूर्य के समान कान्ति वाले ये शङ्खाकार विचित्र भुवनों में रहते हैं ॥ -१०४१-१०४२- ॥

मूर्त्तीश्वरों का रूप उनकी अधिष्ठेय पृथिवी आदि के अनुकूल है इसलिये यहाँ रूपों का (पृथक्-पृथक्) वर्णन नहीं किया गया ॥

इसके ऊपर मण्डलाधिपति भगवान् वीरभद्र हैं ॥ -१०४२ ॥

(मण्डलाधिपति का अर्थ है—) वक्ष्यमाण महादेव आदि आठ मण्डलों के अधिपति । जो पहले श्वेत आदि द्वीपों के मध्य में और उनके ऊपर कहे गये उसी की यह परा मूर्त्ति है । अत एव यह प्रभु हैं ॥ १०४२ ॥

जो साधक इनके ध्यान आदि में परिनिष्ठित है वह—

अथ—

अत ऊर्ध्वं महादेवि महादेवाष्टकं विदुः ॥ १०४३ ॥
महादेवो महातेजा वामदेवभवोद्भवौ ।
एकपिङ्गेक्षणेशानौ भुवनेशपुरःसराः ॥ १०४४ ॥
अङ्गुष्ठमात्रसहिता महादेवाष्टके शिवाः ।

एते च—

मायाञ्जनविनिर्मुक्ताः परमेशानसंमताः ॥ १०४५ ॥

परमेशानस्य संमता इति तन्त्रावतारपटलदर्शितनीत्या पारम्पर्येणानन्तभट्टारकमूर्तिना परमेश्वरेणानुगृहीताः, अतश्च प्राप्तप्रबोधप्रकर्षत्वान्मायागर्भाधिकारित्वेऽपि मायाञ्जनविनिर्मुक्ता इत्युक्तम् । एते चापरेण रूपेणेहोक्ता मण्डलेश्वराः, परेण रूपेण तु कालतत्त्वे भविष्यन्ति । ते तु श्रीपूर्वशास्त्रे—

'महातेजःप्रभृतयो मण्डलेशानसंज्ञकाः ।
मायातत्त्वे स्थितिः...................... ॥' (५।२८)

इत्युक्ता इति प्रक्रियाभेदाः ॥ १०४५ ॥

उपसंहरति—

उनके सायुज्य को प्राप्त कर उनके साथ आनन्द प्राप्त करता रहता है ॥ १०४३- ॥

इसके बाद—

हे महादेवि ! इसके ऊपर (लोग) महादेवाष्टक को बतलाते हैं । महादेव, महातेज, वामदेव, भवोद्भव, एकपिङ्गेक्षण, ईशान, भुवनेश और अङ्गुष्ठमात्र ये शिव महादेवाष्टक में हैं ॥ -१०४३-१०४५- ॥

और ये—

मायामल से रहित परमेश्वर से सम्मत् (= अनुगृहीत) होते हैं ।।-१०४५।।

(ये महादेवाष्टक) परमेशान के सम्मत—तन्त्रावतार पटल (= प्रथम पटल) में दर्शित नीति के अनुसार परम्परया अनन्तभट्टारक मूर्त्ति वाले परमेश्वर के द्वारा अनुगृहीत इसलिये प्राप्त प्रबोध के प्रकर्ष के कारण मायागर्भ के अधिकारी होने पर भी माया के अञ्जन (= मल) से मुक्त हैं—ऐसा कहा गया । यहाँ ये मण्डलेश्वर अपररूप से कहे गये । पररूप से काल तत्त्व में कहे जायेंगे । वे श्रीमालिनीविजयतन्त्र में—

'महातेज आदि मण्डलेश्वरों की स्थिति मायातत्त्व में है... ।' (मा.वि.तं. ५।२८)

इस प्रकार कहे गये हैं—यह (मात्र) प्रक्रियाभेद है ॥ १०४५ ॥

बुद्धितत्त्वे समासेन भुवनेशा मयोदिताः ।

देवयोनिक्रोधतेजोयोगमूर्त्यष्टकानि पञ्चेति चत्वारिंशत्, योगाष्टकोपरि पुनरौमं श्रैकण्ठं च भुवनम्, ततः सुशिवद्वादशकमहादेवाष्टकं चेति द्वाषष्टिरत्र भुवनान्युक्तानीति विततायामिह भुवनदीक्षायां सर्वाणि शोध्यानि । संक्षिप्तायां तु यः शोधनप्रकारः, स पञ्चमे पटले निर्णीतः ॥

अथोर्ध्वं गुणतत्त्वं तु............

गुणसाम्यात्मनः प्रकृतितत्त्वात् सत्त्वगुणगुणोत्कर्षात्म अत्यन्तविलक्षणमत एव बुद्धिरिति विलक्षणव्यपदेश्यं बीजादिवाङ्कुररूपं कथं कार्यं जायते यावदुच्छूनताप्रायं किञ्चिद्वैषम्यात्म मध्ये गुणतत्त्वं प्रकृतितत्त्वादनतिभिन्नव्यपदेशं न जायते, इत्याशयेनेह गुणतत्त्वं तत्त्वान्तरतया दर्शितम् । श्रीमालिनीविजयादौ तु किञ्चिद्वैषम्यावस्थायामित उच्छूितायामिव बीजाभिधानवद् गुणव्यपदेशस्यानिवृत्तेर्गुणतत्त्वं प्रकृतितत्त्वाभेदेनैवोक्तं संक्षिप्तभुवनदीक्षाप्रतिपादनाशयेन । इह तु विततया भौवनविधिप्रतिपादनस्य प्रस्तुतत्वात् प्रकृतितत्त्वाद्भेदेन गुणतत्त्वं दर्शितमिति नागमविसंवादः शङ्कनीयः ॥

(इस प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

मैंने संक्षेप में बुद्धितत्त्व में स्थित भुवनेशों का वर्णन किया ॥१०४६-॥

देवयोनि, क्रोध, तेज, योग और मूर्त्ति ये पाँच अष्टक हैं । इस प्रकार ५ × ८ = चालिस भुवन हैं । योगाष्टक के ऊपर उमा और श्रीकण्ठ का भुवन है । इसके ऊपर बारह सुशिव और महादेवाष्टक है । कुल मिलाकर (४०+१२+१२+८) = ६२ भुवन कहे गये । विस्तृत भुवनदीक्षा में इन सबका शोधन करना चाहिये । और संक्षिप्त भुवनदीक्षा में जो शोधन प्रकार है वह पाँचवें पटल में बतला दिया गया ॥

इसके ऊपर गुण तत्त्व है ॥ -१०४६- ॥

तीनों गुणों की साम्यावस्था रूप प्रकृति तत्त्व से यह गुण अत्यन्त विलक्षण है क्योंकि यह सत्त्वगुण का उत्कृष्टतम रूप है । इसीलिये बुद्धि नामक जो विलक्षण व्यवहार के योग्य तत्त्व है वह बीज से अंकुर के समान प्रकृतितत्त्व से कैसे उत्पन्न होगा जब तक कि मध्य में उच्छूनता जैसा कोई वैषम्य नहीं होगा और वह प्रकृति से भिन्न व्यवहृत नहीं होगा । इस अभिप्राय से यह गुणतत्त्व (प्रकृतिगत गुणों से) भिन्न कोई दूसरा तत्त्व है—यह बतलाया गया । श्रीमालिनीविजय तन्त्र आदि में किञ्चिद् वैषम्य वाली अवस्था में यहाँ से उच्छ्रित की भाँति बीजाभिधान की भाँति गुणव्यवहार की निवृत्ति न होने से गुण तत्त्व प्रकृति तत्त्व से अभिन्न कहा गया । यह निर्वचन संक्षिप्त भुवनदीक्षा के प्रतिपादन के आशय से किया गया । किन्तु यहाँ भुवनविधि के प्रतिपादन के विस्तारपूर्वक प्रस्तुत होने के कारण गुणतत्त्व को

यच्चैतद्गुणतत्त्वम्—

..........तस्मिंश्चैव व्यवस्थितम् ॥ १०४६ ॥

गुरुपंक्तित्रयं दिव्यं............

दिव्यमिति प्रभावातिशययोगात् ॥

तच्च—

............गुणैरन्तरितं स्थितम् ।

सत्त्वादिभूमिकामुपविष्टमित्यर्थः ॥

तत्र—

प्रथमा तमसः पंक्तिरुपरिष्टाद् व्यवस्थिता ॥ १०४७ ॥

तमोगुणोर्ध्वमधिरूढेत्यर्थः ॥ १०४७ ॥

तदत्र—

तेषां नामानि कथ्यन्ते यथावदनुपूर्वशः ।

तेषामिति पङ्क्तिनिष्ठानां गुरूणाम् ॥

शिवः प्रभुर्वामदेवश्चण्डश्चैव प्रतापवान् ॥ १०४८ ॥

प्रकृतितत्त्व से भिन्न बतलाया गया है । इस प्रकार आगमों में परस्पर विरोध की शङ्का नहीं करनी चाहिये ॥

और यह जो गुण तत्त्व है—

उसी में दिव्य गुरुओं की तीन पंक्तियाँ रहती है ॥-१०४६-१०४७-॥

अत्यन्तप्रभाव के कारण वे दिव्य हैं ॥

वे पंक्तियाँ गुणों से व्यवहित होकर स्थित हैं ॥ -१०४७- ॥

अर्थात् सत्त्व आदि की भूमिका में बैठी हुई हैं ॥

उनमें—

पहली पंक्ति तमोगुण के ऊपर स्थित है ॥ -१०४७ ॥

अर्थात् तमोगुण के ऊपर अधिरूढ है ॥ १०४७ ॥

यहाँ—

उनके नाम क्रम से कहे जा रहे हैं ॥ १०४८- ॥

उनके = पंक्ति में रहने वाले गुरुओं के ॥

प्रह्लादश्चोत्तमो भीमः करालः पिङ्गलस्तथा ।
महेन्द्रो दिनकृच्चैव प्रतोदो दक्ष एव च ॥ १०४९ ॥
कलेवरश्च विख्यातस्तथा चैव कटङ्कटः ।
अम्बुहर्ता च नारीशः श्वेत ऋग्वेद एव च ॥ १०५० ॥
यजुर्वेदः सामवेदस्त्वथर्वा सुशिवस्तथा ।
विरूपाक्षस्तथा ज्येष्ठो विप्रो नारायणस्तथा ॥ १०५१ ॥
गण्डो नरो यमो माली गहनेशश्च पीडनः ।
प्रथमा पंक्तिरुद्दिष्टा रुद्रैर्द्वात्रिंशता स्मृता ॥ १०५२ ॥

अथ—

रजसश्चोपरिष्टात्तु द्वितीया पंक्तिरुच्यते ।
शुक्लो दासः सुदासश्च लोकाक्षः सूर्य एव च ॥ १०५३ ॥
सुहोत्र एकपादश्च गृध्रश्चैव शिवेश्वरः ।
गौतमश्चैव योगीशो दधिबाहुस्तथापरः ॥ १०५४ ॥
ऋषभश्चैव गोकर्णो देवश्चैव महेश्वरः ।
गुह्येशानः शिखण्डी च जटी माली तथोग्रकः ॥ १०५५ ॥
भृगुः शिखी तथा शूली सुगतिश्च सुपालनः ।
अट्टहासो दारुकश्च लाङ्गलिश्चातिदण्डकः ॥ १०५६ ॥
भवनश्च तथा भव्यो लकुलेशस्तथैव च ।
त्रिंशद्रुद्राः समाख्याता द्वितीया पंक्तिरुत्तमा ॥ १०५७ ॥

अथ—

प्रभु शिव, वामदेव, प्रतापवान् चण्ड, प्रह्लाद उत्तम, भीम, कराल, पिङ्गल, महेन्द्र, दिनकर, प्रतोद, दक्ष, कलेवर, कटङ्कट, अम्बुहर्त्ता, नारीश, श्वेत, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, सुशिव, विरूपाक्ष, ज्येष्ठ, विप्र, नारायण, नर, यम, माली, गहनेश और पीडन बत्तीस रुद्रों से युक्त यह प्रथम पंक्ति कही गयी है ॥ -१०४८-१०५२ ॥

अब—

रजस के ऊपर दूसरी पंक्ति कही जा रही है । शुक्लदास, सुदास, लोकाक्ष, सूर्य, सुहोत्र, एकपाद, गृध्र, शिवेश्वर, गौतम, योगीश, दधिबाहु, ऋषभ, गोकर्ण, महेश्वर, गुह्येशान, शिखण्डी, जटी, माली, उग्रक, भृगु, शिखी, शूली, सुगति, सुपालन, अट्टहास, दारुक, लाङ्गलि, अतिदण्डक, भवन और भव्य लकुलेश ये तीस रुद्र कहे गये हैं । यह उत्तम दूसरी पंक्ति है ॥ १०५३-१०५७ ॥

सत्त्वस्य चोपरिष्टात्तु तृतीया पंक्तिरुच्यते ।
देवोऽरुणो दीर्घबाहुरतिभूतिश्च स्थाणुकः ॥ १०५८ ॥
सद्योजातस्तथा झिण्ठी षण्मुखश्चतुराननः ।
चक्रपाणिश्च कूर्माख्यस्त्वर्धनारीश्वरस्तथा ॥ १०५९ ॥
कपाली भूर्भुवश्चैव वषट्कारस्तथैव च ।
वौषट्कारस्तथा स्वाहा स्वधा च परिकीर्तितः ॥ १०६० ॥
संवर्तकश्च भस्मेशः कामनाशन एव च ।
एकविंशतिरुद्रास्तु पंक्तिरेषा तृतीयका ॥ १०६१ ॥

एवमेते त्र्यशीतिर्गुरवो महेश्वरेण गुणतत्त्वभोगप्राप्तिकामानां तदुचितज्ञान-योगप्रदाः परमेश्वरा ज्ञेयास्तथा कश्चित्कालं नियोजितास्तत्र क्रीडन्ति । तदाह—

ज्ञानयोगबलोपेताः क्रीडन्ते दैशिकोत्तमाः ।

उत्तमपदेन गुणतत्त्वावस्थितत्वेऽपि नैषां तदुपरक्तत्वमित्याह । अत एव क्रीडन्ति, नत्वितरवद् गुणैर्बद्धा ॥

यतः—

संसारपाशनिर्मुक्ताः............

अब—

सत्त्वगुण के ऊपर (गुरुओं की) तीसरी पंक्ति कही जा रही है । अरुण देव, दीर्घबाहु, अतिभूति, स्थाणुक, सद्योजात, झिण्ठी, षण्मुख, चतुरानन, चक्रपाणि, कूर्म, अर्धनारीश्वर, कपाली, भूः, भुर्वः, वषट्कार, वौषट्कार, स्वाहा, स्वधा, संवर्त्तक, भस्मेश और कामनाशन ये इक्कीस रुद्र हैं । यह तीसरी पंक्ति है ॥ १०५८-१०६१ ॥

इस प्रकार ये तिरासी गुरु गुणतत्त्व के भोग की प्राप्ति चाहने वालों को उनके लिये उचित ज्ञान और योग देने वाले होते हैं । इनको भी परमेश्वर समझना चाहिये । महेश्वर के द्वारा नियोजित ये कुछ समय तक वहाँ (गुणतत्त्व में) क्रीड़ा करते रहते हैं—यह कहते हैं—

ये उत्तम गुरु लोग ज्ञान और योग के बल से युक्त होकर क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ १०६२- ॥

उक्त श्लोक में 'उत्तम' पद के प्रयोग का तात्पर्य है कि वे गुरु लोग यद्यपि गुणतत्त्व में रहते हैं तो भी उनके प्रभाव से उपरक्त नहीं होते । इसीलिये क्रीड़ा करते रहते हैं न कि अन्य (जीवों) की भाँति गुणों से बद्ध होते हैं ॥

क्योंकि—

(वे) संसार के पाश से मुक्त होते हैं ॥ -१०६२- ॥

आणव-कार्म-मायीयमलनिर्मुक्ता जीवन्मुक्ता इत्यर्थः ॥

किं च—

..............महामोहविवर्जिताः ॥ १०६२ ॥

महामोहोऽत्राख्यातिरूपा माया, तद्वियुक्ताः, अत एव शुद्धाः ॥ १०६२ ॥

शुद्धविद्योदयादेते—

त्रिनेत्रा गुरवः सर्वे शुद्धस्फटिकनिर्मलाः।
सर्वज्ञाः सर्वगाश्चैव लोकानुग्रहाकारकाः ॥ १०६३ ॥

सर्वज्ञत्वं सर्वज्ञानयोगसिद्धत्वमेषाम् । सत्त्वगुणतत्त्वास्पदभ्रमाद्यत् साङ्ख्यपातञ्जलदृष्ट्यैतत् कैश्चित् योजितम्, तदसदेव । केवलमेषां तावद्भोगलिप्सुजनाशयेन तावत्पदप्रापकाणां परमेश्वरयोगात्तत्रावस्थानम् ॥ १०६३ ॥

अतश्चैषाम्—

गजाकाराणि दिव्यानि सर्वेषां भुवनानि तु ।

पूर्वम्—

(अर्थात्) आणव मायीय और कार्म मलों से युक्त ये जीवन्मुक्त होते हैं ॥

तथा—

महामोह से रहित होते हैं ॥ -१०६२ ॥

यहाँ महामोह का अर्थ है—अख्याति (= अज्ञान) रूपा माया । ये उससे वियुक्त्म होते हैं अतएव शुद्ध होते हैं ॥ १०६२ ॥

शुद्धविद्या का उदय होने से ये—

सब गुरु त्रिनेत्र, शुद्ध स्फटिक के समान निर्मल, सर्वज्ञ, सर्वगामी और लोकानुग्रह करने वाले होते हैं ॥ १०६३ ॥

इनके सर्वज्ञ होने का अर्थ है—सर्वज्ञानयोगसिद्ध होना । इनका स्थान सत्त्व गुणतत्त्व में है इसलिये कुछ लोगों ने जो भ्रमवश यह योजना कर ली कि यह स्थान सांख्य और पातञ्जल योग की दृष्टि से है—यह योजना असत् है । इनका वहाँ (= गुणतत्त्वों में) रहने का उद्देश्य यह है कि जो लोग भोगेच्छु हैं उनको परमेश्वर के योग से उस पद में पहुँचा दिया जाय ॥ १०६३ ॥

इसलिये उन—

सब के भुवन दिव्य और गजाकार (= हाथी के आकार के समान) हैं ॥ १०६४- ॥

'वीरभद्रनिकेतश्च भद्रकाल्यालयस्तथा ।
त्रयोदशभिः.............................. ॥' (१०।७५९)

इति ग्रन्थेन श्वेतादिभुवनान्येकादश भद्रकालीवीरभद्रभुवनाभ्यां सह त्रयोदश सङ्कलितानि । यत्पुनः—

'..............अन्यैश्च भुवनैरुपशोभितम् ।' (१०।७५९)

इत्युक्तम्, तत्रान्यानि भुवनानि वीरभद्रभुवनोर्ध्वगतानि ॥

अथाण्डवर्तिनोऽङ्गुष्ठमात्रप्रमाणरुद्रभुवनात् प्रभृति गुणतत्त्वान्तमसङ्कलितान् रुद्रान् सङ्कलयितुमाह—

बुद्धेः प्रकृतिपर्यन्ते ये रुद्रास्तान्निबोध मे ॥ १०६४ ॥

बुद्धेरिति बुद्धेः पूर्वं ये सङ्कलयितुमवशिष्टास्तान्निबोध । किमवधि ?— इत्याह—प्रकृतिपर्यन्ते प्रकृतिः पर्यन्ते यत्र स प्रकृतिपर्यन्तो गुणतत्त्वम्, तत्र तदवधीत्यर्थः ॥ १०६४ ॥

तान् रुद्रान् भुवनसङ्कलनया सङ्कलयति—

शतद्वयं सप्तकं च भुवनानां वरानने ।

पहले—

'वीरभद्र........... त्रयोदशभि.........' (१०।७५९)

इस ग्रन्थ के द्वारा ग्यारह श्वेत आदि भुवन तथा भद्रकाली और वीरभद्र को भुवनों के साथ जोड़ कर तेरह कहे गये । और जो—

'............अन्यैश्च भुवनैरूपशोभितम्' (१०।७५९)

यह कहा गया उसमें अन्य भुवनों का तात्पर्य है—वीरभद्र के भुवन के ऊपर के भुवन ॥

अब ब्रह्माण्ड में रहने वाले अंगुष्ठमात्र परिमाण वाले रुद्र भुवन से लेकर गुण तत्त्व पर्यन्त असङ्कलित रुद्रों का सङ्कलन करने के लिये कहते हैं—

बुद्धितत्त्व से पहले प्रकृतिपर्यन्त जो रुद्र हैं उनको अब आप मुझसे जानो ॥ -१०६४ ॥

बुद्धि से—बुद्धितत्त्व के पूर्व जो सङ्कलन करने के लिये अवशिष्ट थे उन रुद्रों को जानो । कहाँ तक ?—उत्तर देते हैं—प्रकृतिपर्यन्त = प्रकृति है पर्यन्त में जिसके वह प्रकृतिपर्यन्त अर्थात् गुणतत्त्व । उसमें = उस अवधि तक ॥ १०६४ ॥

भुवनों की गणना के द्वारा उन रुद्रों को सङ्कलित करते हैं—

हे वरानने ! ये भुवन दो सौ सात हैं ॥ १०६५- ॥

तत्र जलावरणेशस्याङ्गुष्ठमात्रस्य पृथ्व्या अब्धेः श्रियः सरस्वत्या गुह्याष्टकस्येति त्रयोदश भुवनानि, ततः शिवाग्नेरतिगुह्याष्टकस्य वाय्वीशस्य गुह्यातिगुह्याष्टकस्य आकाशेशस्य पवित्राद्यष्टकस्य, ततः शर्वादिमूर्तीशाधिष्ठितानि तन्मात्रसूर्यसोमवेदमण्डलान्यष्टौ, ततोऽपि करणप्रकाशरश्मिसूर्यसोममण्डलानि पञ्च ततोऽहङ्कारेशस्य, ततः स्थाण्वष्टकस्याष्टावितीयदन्तं द्वाषष्टिर्भुवनानि, बुद्धावपि पूर्वोक्तनीत्या द्वाषष्टिः, गुणतत्त्वे त्र्यशीतिरित्येतच्छतद्वयं सप्ताधिकं भवति ॥

किं चात्रैव—

अन्तर्भूताः स्थिताश्चान्ये ये ते नोक्ता वरानने ॥ १०६५ ॥

विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्यादिभुवनेश्वरा ये बृहत्तन्त्रेषु रुद्रा उक्ताः, तेऽत्रैवान्तर्भूतत्वात् पृथगिह नोक्ताः ॥ १०६५ ॥

अथ—

गुणानामुपरिष्टात्तु प्रधानं परिकीर्तितम् ।

प्रधीयतेऽत्र गुणान्तं विश्वमिति प्रधानम् ॥

उसमें अंगुष्ठमात्र जलावरणेश का एक + पृथ्वी का एक + समुद्र का एक + लक्ष्मी का एक + सरस्वती का एक + गुह्याष्टक के आठ इस प्रकार तेरह भुवन हुए। इसके बाद शिवाग्नि का एक + अतिगुह्याष्टक के आठ + वायु के ईश के एक + गुह्यातिगुह्य का आठ + आकाशेश का एक + पवित्र आदि के आठ (इस प्रकार सत्ताईस भुवन हुए) । इसके बाद शर्व आदि मूर्त्तीश्वरों से अधिष्ठित पाँच तथा तन्मात्र + सूर्य मण्डल + सोम मण्डल + वेद मण्डल = आठ भुवन हुए । इसके बाद करण (= इन्द्रिय) के प्रकाशरश्मि सूर्य सोम मण्डल के पाँच फिर अहङ्कारेश का एक, इसके बाद आठ स्थाणुओं के आठ भुवन इस प्रकार कुल (१३+२७+२२) = ६२ भुवन हुए । बुद्धितत्त्व में भी पूर्वोक्त नीति से बासठ हुए । और गुणतत्त्व में तिरासी । कुल मिलाकर (६२+६२+८३) = २०७ भुवन हुये ॥

इसके अतिरिक्त यहीं पर—

हे वरानने ! जो अन्तर्भूत हुये अन्य भुवन हैं उनको यहाँ नहीं कहा गया ॥ -१०६५ ॥

विपर्यय अशक्ति तुष्टि और सिद्धि नामक भुवनों के ईश्वर जो कि वृहत्तन्त्रों में रुद्र के नाम से कहे गये वे इन्हीं में अन्तर्भूत होने के कारण यहाँ पृथक् नहीं कहे गये हैं ॥ १०६५ ॥

तदनन्तर—

गुणों के ऊपर प्रधान तत्त्व कहा गया है ॥ १०६६- ॥

तत्र ये संस्थिता रुद्राः..........

तान्—

..............कथयामि समासतः ॥ १०६६ ॥

क्रोधेश्वरश्च संवर्तो ज्योतिः पिङ्गलक्रूरदृक् ।
पञ्चान्तकैकवीरौ च शिखेदसहितेश्वराः ॥ १०६७ ॥

शिखेदसहिता अष्टौ एते प्रधानतत्त्वगता ईश्वरा इत्यर्थः ॥ १०६७ ॥

त एते—

तत्त्वे तु प्राकृते रुद्रा महावीर्याः प्रकीर्तिताः ।

दुरतिक्रमा इत्यर्थः ॥

अस्य प्रधानतत्त्वस्य किं स्वरूपमित्याह—

गुणानां या परा काष्ठा तत्प्रधानमिहोच्यते ॥ १०६८ ॥

पराकाष्ठाऽविभागावस्था ॥ १०६८ ॥

अथ—

(प्रधान पद की व्युत्पत्ति बताते हैं—) जिसमें गुणपर्यन्त विश्व की धारणा होती है वह प्रधान कहलाता है ॥ १०६५- ॥

वहाँ जो रुद्र स्थित हैं ॥ -१०६६- ॥

उनको—

संक्षेप में कह रहा हूँ। १. क्रोधेश्वर, २. संवर्त्त, ३. ज्योति, ४. पिङ्गल, ५. क्रूरदृक् ६. पञ्चान्तक, ७. एकवीर और ८. शिखेद सहित (आठ) ईश्वर हैं ॥ -१०६६-१०६७ ॥

शिखेद के सहित ये आठ ईश्वर प्रधान तत्त्व में रहते हैं ॥ १०६७ ॥

वे ये—

रुद्र प्राकृततत्त्व में रहते हैं और महाबलशाली कहे गये हैं ॥१०६८-॥

(महावीर्य =) दुरतिक्रम ॥

इस प्रधान तत्त्व का स्वरूप क्या है—यह बतलाते हैं—

गुणों की जो परा (= अन्तिम) काष्ठा (= सीमा) है वह इस शास्त्र में प्रधान कहा जाता है ॥ -१०६८ ॥

पराकाष्ठा = अविभाग की अवस्था ॥ १०६८ ॥

अतः पुरुषतत्त्वे तु भुवनानि निबोध मे ।

अत इति प्रकृतेरूर्ध्वम्, पारमेशस्वरूपगोपनावशाद्यत् संकुचितचिदाभासरूपं पुरुषतत्त्वम्, तत्र सङ्कोचांशाश्रयाणि भुवनानि तु चिन्मात्राश्रयाणि तस्य निर्विकारत्वात् ॥

तत्र तावत्—

अम्बा च सलिला ओघा वृष्टिः सार्धं च तारया॥ १०६९ ॥
सुतारा च सुनेत्रा च कुमारी च ततः परम् ।
उत्तमाम्भसिका चैव तुष्टयो नव कीर्तिताः ॥ १०७० ॥

तथा—

तारा चैव सुतारा च तारयन्ती प्रमोदिका ।
प्रमोदिता मोदमाना रम्यका च ततः परम् ॥ १०७१ ॥
सदाप्रमुदिका चैव सिद्ध्यष्टकमुदाहृतम् ।

सांख्यशास्त्रे तुष्टिनवकं सिद्ध्यष्टकं च यत् प्रत्ययसेव्यं बुद्धिधर्मतया गणितम्, तदिह संकुचितचित्स्वभावस्य कलादिकञ्चुकाविवेकिनः पुरुषस्य भोक्तुरावारकम्, न तु पुंसि दृशिमात्रस्वभावेऽभोक्तरि बुद्ध्यादिवशोत्थितस्य भोगस्य कथंचिदपि सम्भवः । नहि हिमान्यन्तर्देवदत्ते प्रतिबिम्बिते सति शीतानुभवलक्षणो भोगो

अब—

इसके बाद पुरुष तत्त्व में स्थित भुवनों को मुझसे जानो ॥ १०६९- ॥

अतः = प्रकृति तत्त्व के ऊपर । परमेश्वर के स्वरूपगोपन के कारण जो संकुचित चिदाभासरूप पुरुष तत्त्व है उसमें सङ्कोचांश के आश्रयभूत भुवन चिन्मात्र हैं क्योंकि उनमें विकार नहीं है ॥

उसमें—

अम्बा, सलिला, ओघा, वृष्टि, तारा, सुतारा, सुनेत्रा, कुमारी और उत्तमाम्भासिका नामक नव तुष्टियाँ रहती हैं ॥ -१०६९-१०७० ॥

तथा—

तारा, सुतारा, तारयन्ती, प्रमोदिका, प्रमोदिता, मोदमाना, रम्यका और सदाप्रमुदिता नामक ये आठ सिद्धियाँ रहती हैं ॥ १०७१-१०७२- ॥

सांख्य शास्त्र में जो प्रत्ययसेव्य (= ज्ञान की विषयभूता) नव तुष्टियाँ और आठ सिद्धियाँ बुद्धि के धर्म के रूप में बतलायी गयी हैं, वह यहाँ (= तन्त्रशास्त्र में) संकुचित चित्स्वभाव वाले तथा कला आदि पाँच कञ्चुक के अविवेकी भोक्ता पुरुष की आवारक हैं । द्रष्टामात्रस्वभाव वाले अभोक्ता पुरुष तत्त्व में बुद्धि आदि के

गौण्यापि वृत्त्या सम्भवति । अतः सर्वोऽयं भोग उक्तरूपपुंसि पारमार्थिके भोक्तरि सति घटत इति तत्रैव तुष्ट्यादिप्रत्ययसद्भावो युक्त इत्येवमुक्तम् । तत्र—

'आध्यात्मिक्यश्चतस्रः प्रकृत्युपादानकालभाग्याख्याः ।
पञ्च विषयोपरमतोऽर्जनरक्षासङ्गसंक्षयविघातैः ॥' (सा०का० ५०)

इति, तथा—

'ऊहः शब्दोऽध्ययनं दुःखविघातत्रयं सुहृत्प्राप्तिः ।
दानं च सिद्धयोऽष्टौ................................ ॥'

इति याः सांख्यैः,

'अतत्त्वे तत्त्वबुद्ध्या यः सन्तोषस्तुष्टिरत्र सा ।
हेयेऽप्यादेयधीः सिद्धिः........................ ॥'

इति गुरुभिर्लक्षितास्तुष्टयः सिद्धयश्चोक्ताः, तासामम्बादिकास्ताराद्याश्चाधिदेवता एतन्नामसु भुवनेषु स्थिता इह निरूपिताः ॥

किं च, पारमेशमतयोगक्रमसाध्यं यदणिमाद्यष्टकरूपमैश्वर्यम्, तदप्येतन्नामक-

---

कारण उत्पन्न भोग कभी भी किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है । 'हिमशिला के अन्दर प्रतिबिम्बित देवदत्त में शीत आदि का अनुभवलक्षण भोग गौणवृत्ति से भी सम्भव नहीं है । इसलिये यह समस्त भोग पारमार्थिक भोक्ता उक्तरूप वाले पुरुष के अन्दर घटित होता है, इसलिये वहीं पर तुष्टि आदि के प्रत्यय की सत्ता (की स्वीकृति) युक्त (= समीचीन) है ।

इस विषय में—

'प्रकृति उपादान काल और भाग्य नामक चार और अर्जन रक्षण, आसक्ति, संक्षय तथा विघात के द्वारा (रूप रस गन्ध स्पर्श और शब्द नामक) पाँच विषयों से विरति (ही नव तुष्टियाँ हैं)' (सां.का. ५०)

तथा—

'ऊह, शब्द, अध्ययन, तीनों दुःखों का विघात, मित्रलाभ और दान ये आठ सिद्धियाँ हैं...... ।' (सां.का. ५१)

यह सांख्याचार्यों ने कही तथा—

'अतत्त्व में तत्त्व बुद्धि के द्वारा जो सन्तोष हो जाता है वह यहाँ (= आगम शास्त्र में) तुष्टि है और हेय विषयों में आदेय बुद्धि सिद्धि है...... ।'

ये गुरुओं के द्वारा तुष्टियाँ और सिद्धियाँ बतलायी गयीं । अम्बा आदि तथा तारा आदि इनकी अधिदेवतायें हैं जो यहाँ इन नाम वाले भुवनों में स्थित बतलायी गयी हैं ॥

देवताष्टकाधिष्ठितमत्रैव पुंस्तत्त्वे प्रोक्तनीत्याऽऽवारकतया स्थितमित्याह—

अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च ॥ १०७२ ॥
प्राकाम्यं च तथेशित्वं वशित्वं यदुदाहृतम् ।
यत्रकामावसायित्वमणिमाद्यष्टकं स्मृतम् ॥ १०७३ ॥

अणिमा शरीरस्य सूक्ष्मताकरणे सामर्थ्यम्, लघिमा तूलवल्लाघवोत्पादनशक्तत्वम्, महिमा महत्त्वोत्पादनशक्तता, प्राप्तिः सङ्कल्पमात्रात्तत्तद्देशावाप्तिः, प्राकाम्यमेकस्यैव युगपन्नानाशरीरकरणे शक्तता, ईशित्वमैश्वर्यम्, वशित्वं भूतवशीकारः, यत्रकामावसायित्वं सङ्कल्पमात्राद् देशकालस्वभावव्यवहितवस्तुनिश्चयः । भोग्यसामान्यगुणत्रयभोक्तृत्वात् पुंसोऽपि तद्गुणत्रयच्छायायोगाद् गुणवत्त्वम् ॥ १०७३ ॥

अथोर्ध्वं गुरुशिष्याणां पंक्तित्रयमतः शृणु ।

अत इति प्रोक्ताणिमाद्यष्टकादूर्ध्वम् ॥

तत्र—

मस्करी पूरणः कृत्स्नः कपिलः काश एव च॥ १०७४ ॥
सनत्कुमारगौतमवसिष्ठाद्यांशकास्तथा ।

इसके अतिरिक्त पारमेश्वरमत और योगक्रम से साध्य जो आठ अणिमा आदि नामक ऐश्वर्य है वह भी इस तारा आदि नामवाली आठ देवताओं के द्वारा अधिष्ठित होकर इसी पुरुषतत्त्व में उपर्युक्त नीति के अनुसार आवारक के रूप में स्थित हैं—यह कहते हैं—

अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, ईशित्व, वशित्व और यत्रकामावसायित्व नामक ये आठ (सिद्धियाँ) जो कही गयी हैं (ये भी आवारक के रूप में स्थित हैं) ॥ -१०७२-१०७३ ॥

अणिमा = शरीर को सूक्ष्म बनाने का सामर्थ्य । लघिमा = शरीर को रूई के समान हलका बनाने की शक्ति । महिमा = विशालता उत्पन्न करने का सामर्थ्य । प्राप्ति = सङ्कल्पमात्र से तत्तत् देश में पहुँचने की शक्ति । प्राकाम्य = एक ही शरीर को एक ही समय में अनेक बनाने की शक्ति । ईशित्व = ऐश्वर्ययुक्त होना । वशित्व = प्राणियों को वश में रखना । यत्रकामावसायित्व = सङ्कल्प मात्र से देश काल स्वभाव से व्यवहित वस्तु को जान लेना । भोग्यसामान्य तीन गुणों का भोक्ता होने के कारण पुरुष भी उन गुणों के छायायोग के कारण गुणों वाला हो जाता है ॥ १०७३ ॥

इसके बाद इसके ऊपर गुरुशिष्यों की पंक्ति को सुनो ॥ १०७४- ॥

अतः = उक्त अणिमा आदि आठ के ऊपर ॥

वहाँ—

कश्यपो नासिकेतुश्च गालवो भौतिकस्तथा ॥ १०७५ ॥
शाकल्यश्च समाख्यातो दुर्वासाः परमस्त्वृषिः ।
बाल्मीकिश्च गुरुश्रेष्ठः सपराशरगालवः ॥ १०७६ ॥
पिप्पलादश्च सौमित्रिर्वायुपुत्रो भदन्तकः ।

गालवावत्र द्वावुक्तौ ॥

मस्कर्यादिभदन्तान्ता दृष्टादृष्टस्य वादिनः ॥ १०७७ ॥
द्वाविंशतिर्गुरुवराः प्रथमा पंक्तिरिष्यते ।

एते च पूर्ववदनुग्राह्याणामेव तत्पदप्राप्तिहेतुत्वेनेश्वरेच्छयैतत्पदावस्थितिजुषः कृताः । यदुक्तं श्रीमालिनीविजये—

'मयाप्येतत्पुरा प्रोक्तं कपिलाय महात्मने' (१६।२४) इति ।

दृष्टमेतत्पदप्राप्त्युचितोपासादिकम् अदृष्टं चैतत्पदावाप्त्यात्मकं वदन्ति । एते च द्वाविंशतिर्गुरव एव ॥

एतदूर्ध्वं तु रजःसंस्पर्शप्रधानायां पंक्तौ शिष्यरूपर्षीन् प्रतिपादयितुमाह—

जह्नुश्च तृणबिन्दुश्च मुनिस्ताक्ष्यर्यस्तथैव च ॥ १०७८ ॥
ध्यानाश्रयोऽथ दीर्घश्च होता जागर एव च ।

मस्करी, पूरण, कृत्स्न, कपिल, काश, सनत्कुमार, गौतम, वशिष्ठ, आद्यांशक, कश्यप, नासिकेतु, गालव, भौतिक, शाकल्य, दुर्वासा, बाल्मीकि, पराशर, गालव, पिप्पलाद, सौमित्रि, वायुपुत्र और भदन्तक (रहते हैं) ॥ -१०७४-१०७७- ॥

यहाँ गालव नाम के दो ऋषि कहे गये हैं ॥

मस्करी से लेकर भदन्त तक ये बाईस गुरुश्रेष्ठ दृष्टादृष्ट के वादी (= बतलाने वाले) हैं । यह पहली पंक्ति मानी जाती है ॥-१०७७-१०७८-॥

ये लोग भी पूर्व की भाँति अनुग्राह्यों को तत्तत् पद दिलाने के लिये ईश्वर की इच्छा से इस पद पर नियुक्त किये गये हैं । जैसा कि श्रीमालिनीविजय में कहा गया—

'मैंने भी इस शास्त्र को पहले महात्मा कपिल को बतलाया ।'(मा.वि. १६।२४)

दृष्ट = इस पद की प्राप्ति के लिये समीचीन उपासना आदि । अदृष्ट = इस पद की प्राप्ति को बतलाते हैं ये बाईस गुरु ही हैं (न कि शिष्य भी) ॥

इसके ऊपर रजःसंस्पर्शप्रधान पंक्ति में शिष्यरूप ऋषियों को बतलाने के लिये कहते हैं—

जह्नु, तृणबिन्दु, मुनि, ताक्ष्यर्य, ध्यानाश्रय, दीर्घ, होता, जागर,

अगस्त्यो वसुभौमश्च उपाध्यायश्च कीर्तितः ॥ १०७९ ॥
शुक्रो भृग्वंगिरा रामो जमदग्निसुतोऽध्वगः ।
स्थूलशिरा बालखिल्यो मनुश्चेति प्रकीर्तितः ॥ १०८० ॥
वज्रात्रेयो विशुद्धश्च शिवश्चारुरथानुगः ।

वसुना सहितो भौम इत्येतौ द्वावेव, भृगुणा सहितोऽङ्गिरा इत्येतावपि द्वौ, रामो जमदग्निसुत एक एव, उपाध्याय इत्येतन्नामेति । एते उपाध्याया इति त्वसद्, वक्ष्यमाणसंख्याविघातापत्तेः ॥

तदित्थम्—

जह्ववादिचारुपर्यन्ता द्वितीया पंक्तिरिष्यते ॥ १०८१ ॥

अथ सत्त्वसंस्पर्शवत्यामपि भूमावाह—

हरो झिण्ठी प्रतोदश्च अमरेशश्चतुर्थकः ।
कृष्णपिङ्गेशरुद्रश्च इन्द्रजिद् वृषकः शिवः ॥ १०८२ ॥
यमः क्रूरश्च विख्यातो गङ्गाधर उमापतिः ।
भूतेश्वरः कपालीशः शङ्करश्च तथैव च ॥ १०८३ ॥
अर्धनारीश्वरश्चैव पिङ्गलश्च तथापरः ।
महाकालश्च संवर्तो मण्डली त्वेकवीरकः ॥ १०८४ ॥
तथा चान्यश्च विख्यातो भारभूतेश्वरो ध्रुवः ।

अगस्त्य, वसु, भौम, उपाध्याय, शुक्र, भृगु, अङ्गिरा, जमदग्नि पुत्र राम अध्वग, स्थूलशिरा, बालखिल्य, मनु, वज्रात्रेय, विशुद्ध, शिव, चारुरथ और अनुग (ये शिष्य ऋषि हैं) ॥ -१०७८-१०८१- ॥

(वसु भौम का अर्थ है—) वसु के सहित भौम । ये दो हैं—(वसु और भौम) इसी प्रकार भृग्वङ्गिरा का अर्थ है—भृगु के सहित अङ्गिरा । ये भी दो हैं । राम और जमदग्निपुत्र एक ही हैं (= परशुराम) । उपाध्याय-यह भी ऋषि का नाम है । 'ये उपाध्याय हैं'—यह व्याख्या असत् है क्योंकि (ऐसी व्याख्या करने पर) वक्ष्यमाण २५ संख्या का विघात हो जायगा ॥

तो इस प्रकार—

जह्नु नामक शिष्यरूप ऋषियों से लेकर चारुरथानुग पर्यन्त दूसरी पंक्ति मानी जाती है ॥ -१०८१ ॥

अब सत्त्व संस्पर्शवाली भूमि में (गुरुओं को) बतलाते हैं—

हर, झिण्ठी, प्रतोद, अमरेश, कृष्ण रुद्र, पिङ्गेशरुद्र, इन्द्रजित्, वृषक शिव, क्रूर विख्यात यम, गङ्गाधर उमापति, भूतेश्वरकपालीश, शङ्कर,

कृष्णपिङ्गेशरुद्र एक एव । वृषकः शिवः श्रेयोरूप इत्यप्येक एव । यम इत्यस्य विशेषणं क्रूरो विख्यात इति क्रूरतया प्रसिद्ध इत्यर्थः । उमापतेर्विशेषणं गङ्गाधर इति । कपालीशस्य विशेषणं भूतेश्वर इति । अन्यो विख्यात इति विख्यातनामाऽन्य इत्यर्थः ॥

तदित्थम्—

जह्ववादिचारुपर्यन्ता ऋषयः पञ्चविंशतिः ॥ १०८५ ॥

तृतीयपंक्तिनिष्ठा इत्यर्थः । इह गुरुवाचोयुक्तिमकुर्व(न्त)[1] ऋषयः शिष्या एव पुंस्तत्त्वोपासादिप्रकर्षादिमां भूमिमाप्ता इत्यादिशति ॥ १०८५ ॥

प्रथमपंक्तिगता इव तृतीयपंक्तिगता अपि गुरव एव । यदाह—

हरादयो ध्रुवान्ताश्च गुरवो विंशतिः स्मृताः ।

एते च सर्वेऽत्र स्थिता अप्यंशेन ह्याण्डान्तरवतीर्य तत्र स्वोचितमधिकारमतिवाह्य तदेव पदमाविशन्तीति मन्तव्यम् ॥

अर्धनारीश्वर, पिङ्गल, महाकाल, संवर्त्त, मण्डली, एकवीर, भारभूतेश्वर और ध्रुव (ये गुरु हैं) ॥ १०८२-१०८५- ॥

कृष्णपिङ्गेशरुद्र एक ही हैं । वृषक शिव अर्थात् श्रेयोरूप भी एक ही है । क्रूर और विख्यात यम का विशेषण है । इसका अर्थ है—क्रूर के रूप में प्रसिद्ध । उमापति का विशेषण गङ्गाधर । कपालीश का विशेषण भूतेश्वर है 'अन्य विख्यात' का अर्थ है—विख्यात नामवाला कोई अन्य ॥

तो इस प्रकार—

जह्नु से लेकर चारु पर्यन्त पचीस ऋषि हैं ॥ -१०८५ ॥

अर्थात् ये तृतीय पंक्ति में रहने वाले हैं । यहाँ गुरु की बात न करने वाले ऋषि शिष्य ही हैं जो कि पुरुषतत्त्व की उपासना आदि के प्रकर्ष से इस (उच्च) भूमि को प्राप्त हुए हैं—यह बात भगवान् बतलाते हैं ॥ १०८५ ॥

प्रथम पंक्ति में रहने वालों की भाँति तृतीय पंक्ति में रहने वाले भी गुरु ही हैं। जैसा कि कहते हैं—

हर से लेकर ध्रुव पर्यन्त बीस गुरु माने गये हैं ॥ १०८६- ॥

ये सब यहाँ रहते हुए भी अपने अंश से ब्रह्माण्ड के भीतर अवतार लेकर वहाँ अपने योग्य अधिकार का निर्वाह कर उसी पद में वापस आ जाते हैं—ऐसा समझना चाहिये ॥

---

१. त ।

उपसंहरति—

पंक्तित्रयं समाख्यातमृषीणां गुरुशिष्ययोः ॥ १०८६ ॥

प्रोक्तनीत्या गुरुशिष्यरूपमृषिपंक्तित्रयमेतदित्यर्थः ॥ १०८६ ॥

अथ—

नाडीविद्याष्टकं देवि कथयामि त्वतः परम् ।

पुर्यष्टकसम्बद्धा या वक्ष्यमाणनाड्यस्तासामष्टकं बन्धनविवर्धनं कथयामि ॥

ताश्च—

इडा च चन्द्रिणी गौरी शान्तिः शान्तिकरी तथा ॥ १०८७ ॥
माला च मालिनी चैव स्वाहा चैव स्वधा तथा ।

अस्य नाड्यष्टकस्य—

अथोपरिष्टाद् देवेशि विग्रहाष्टकमुच्यते ॥ १०८८ ॥

विग्रहस्य सूक्ष्मशरीरस्योत्थापकमष्टकं वक्ष्यमाणाभिमानदेवतारूपपुंस्तत्त्वावरण-प्रयोजनम् ॥ १०८८ ॥

तच्च—

(इस प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

ऋषियों की गुरु और शिष्य की तीन पंक्तियाँ कही गयीं ॥ -१०८६॥

उपर्युक्त रीति से ये तीन गुरु और शिष्य की पंक्तियाँ हैं ॥ १०८६ ॥

अब—

हे देवि ! आठ नाड़ी विद्याओं को बतलाऊँगा ॥ १०८७- ॥

पुर्यष्टक से सम्बद्ध जो वक्ष्यमाण नाडियाँ उनके बन्धनविवर्धक आठ के समूह को कहूँगा ॥

वे हैं—

इडा, चन्द्रिणी, गौरी, शान्ति, शान्तिकरी, माला, मालिनी स्वाहा और स्वधा ॥ -१०८७-१०८८- ॥

उन आठ नाडियों के—

ऊपर वर्त्तमान आठ विग्रह बतलाये जा रहे हैं ॥ -१०८८ ॥

विग्रह = सूक्ष्म शरीर को बनाने वाला, वक्ष्यमाण अभिमान देवतारूप पुरुष तत्त्व के आवरण रूप प्रयोजन वाला, विग्रहाष्टक (= आठ विग्रह) ॥ १०८८ ॥

कार्यं च करणं चैव सुखदुःखकरं तथा ।
ज्ञानं साध्यं च विख्यातं साधनं कारणं तथा॥ १०८९ ॥

कार्यं कार्यात्मसूक्ष्मदेहारम्भितन्मात्रोत्थापकम् । करणमिति सूक्ष्मदेहावस्थितानभिव्यक्तप्रायबाह्येन्द्रियदशकोत्थापकम्, तन्नामैव देवतादशकम् । सुखदुःखकरमिति सुखदुःखोपभोगसम्पादकं देवताद्वयम् । ज्ञानं साध्यं चेत्यनभिव्यक्तेन बुद्धीन्द्रियपञ्चकेन कर्मेन्द्रियपञ्चकेन च सम्पाद्यं ज्ञानमात्रं व्यापारमात्रे च विख्यातं प्रतीतं यत्तदधिष्ठातृदेवतारूपमिहैवोक्तम्, साधनमित्यन्तःकरणे व्यापकं देवतात्रयमित्यर्थः । कारणमिति कारणरूपस्य प्रधानतत्त्वस्योत्थापकं देवतारूपमित्यर्थः । यद्यपि च प्राग्रश्मिकरणजतेजोमण्डलाद्युक्तिप्रसङ्गे कार्यं करणादीनामुत्पत्तौ कारणमुक्तम्, तथापि तदेवेह देवतारूपं पुंस्तत्त्वेऽपि सूक्ष्मरूपतया स्थितं तत्रैव बन्धनात्मनस्तत्प्रयोजनस्य पर्यवसानात् । मायायां त्वेतत्सर्वमेव पाशजालं पररूपेणावस्थितमिति वक्ष्यति ॥ १०८९ ॥

अथ—

देहपाशानतो वक्ष्ये..........

स्थूलदेहारम्भकानधिष्ठातृदेवताविशेषरूपानित्यर्थः ॥

और वह है—

कार्य, करण, सुखदुःखकर, ज्ञान, साध्य, विख्यात, साधन और कारण ॥ १०८९ ॥

कार्य = कार्यस्वरूप सूक्ष्मदेह के आरम्भक तन्मात्रों का उत्पादक । करण = सूक्ष्मदेह में स्थित अनभिव्यक्तप्राय दश बाह्य इन्द्रियों का उत्थापक । दश देवता भी उसी नामवाले होते हैं । सुखदुःखकर = सुख और दुःख के उपभोग का सम्पादन करने वाली दो देवतायें । ज्ञान और साध्य = अनभिव्यक्त पाँच ज्ञानेन्द्रियों और पाँच कर्मेन्द्रियों के द्वारा सम्पाद्य ज्ञानमात्र । व्यापार मात्र में जो विख्यात = प्रतीत है उसकी अधिष्ठात्री देवता रूप, जिसे यहीं कह दिया गया । साधन = अन्तःकरण में व्यापक तीन देवतायें । कारण = कारणरूप प्रधान तत्त्व का उत्थापक देवतारूप । यद्यपि पहले रश्मिकरण तेजोमण्डल आदि के वर्णन के प्रसङ्ग में कार्य करण आदि की उत्पत्ति में कारण की चर्चा हुई है तथापि वही यहाँ देवता के रूप में पुरुषतत्त्व में सूक्ष्म रूप से स्थित है । क्योंकि बन्धनरूप उसका प्रयोजन वहीं (= पुरुषतत्त्व में) समाप्त होता है । और माया में यह समस्त पाशजाल पर रूप में स्थित है—यह आगे बतलायेंगे ॥ १०८९ ॥

अब—

इसके बाद देहपाशों को बतलाऊँगा ॥ १०९०- ॥

तत्र—

................धर्मं च दशधोदितम् ।

च एवार्थे । धर्ममेव मुख्यं बन्धनमादौ दशविधं वच्मि ॥

स च—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता ॥ १०९० ॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं सन्तोष आर्जवम् ।
एवं दशविधो धर्मो येनोक्तो धर्मकृन्नरः ॥ १०९१ ॥

अकल्कता—

'स्वच्छता समता प्रीतिर्नापकारशतैरपि ।
कालुष्यमुत्सहेत् सोढुं सेयमुक्तेत्यकल्कता ॥' (वि० १७।३९)

इति श्रीमतङ्गपारमेश्वरे इत्थं लक्षिता ॥ १०९१ ॥

एवं धर्माख्यं प्रधानं देहपाशमुक्त्वा गौणमाह—

विकारान् षोडशाख्यास्ये परभावेन संस्थितान् ।

ये पाश स्थूल देह के आरम्भक, अधिष्ठातृविशिष्टदेवतारूप हैं ॥

उन (पाशों) में—

धर्म नामक पाश दश प्रकार का कहा गया है ॥ -१०९०- ॥

(उक्त श्लोकार्ध में) 'च' का प्रयोग 'एव' अर्थ में है । धर्म ही मुख्य बन्धन है । पहले उसी को कह रहा हूँ ॥

और वह है—

अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, अकल्कता, अक्रोध, गुरु की सेवा, शौच, सन्तोष, सरलता,—यह दश प्रकार का धर्म है जिसके करने से मनुष्य धर्मकर्त्ता कहा जाता है ॥ -१०९०-१०९१ ॥

अकल्कता को—

'स्वच्छता, समदृष्टि, प्रेम, सैकडों अपकार किये जाने पर भी चित्त में मलिनता का न होना, यह अकल्कता कही गयी है' ॥ (वि० १७।३९)

मतङ्गपारमेश्वर ग्रन्थ के विद्यापाद में इस प्रकार बतलाया गया है ॥ १०९१ ॥

धर्म नामक प्रधान देहपाश को बतला कर गौण पाश को कहते हैं—

परभाव से स्थित सोलह विकारों (= दश इन्द्रियाँ, मन और पाँच तन्मात्राओं) को बतलाऊँगा ॥ १०९२- ॥

प्रागुक्तस्थूलरूपापेक्षया परभावेन सूक्ष्मेण रूपेण स्थितानित्यर्थः, पररूपतया तु मायायां भविष्यन्ति ॥

तानाह—

रसो गन्धश्च रूपं च स्पर्शः शब्दस्तथैव च ॥ १०९२ ॥
तन्मात्रपञ्चकं ख्यातमिन्द्रियाणि निबोध मे ।
वाक्पाणिपादं पायुश्च उपस्थः कर्मसंज्ञकम् ॥ १०९३ ॥

इन्द्रियपञ्चकमित्यर्थः ॥ १०९३ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका पञ्चमी स्मृता।

एतानि—

बुद्धीन्द्रियाणि देवेशि..........

तथा—

.............मनः षोडशकं स्मृतम् ॥ १०९४ ॥

त एते—

देहपाशाः समाख्याताः.............

किं च—

.............अतो बुद्धिगुणान् विदुः ।

ये विकार पूर्वोक्त स्थूल रूप की अपेक्षा परभाव अर्थात् सूक्ष्मरूप से स्थित हैं। पररूप में ये माया में रहेंगे ॥

उन (सोलह विकारों) को बतलाते हैं—

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँच तन्मात्रायें बतलायी गयी हैं। अब आप मुझसे इन्द्रियों को जानो । वाक्, पाणि, पाद, पायु (= मलत्याग की इन्द्रिय अर्थात् गुदा) और उपस्थ (= जननेन्द्रिय) ये सभी कर्मेन्द्रियाँ बतलायी गयी हैं ॥ -१०९२-१०९३ ॥

अर्थात् पञ्चकर्मेन्द्रियाँ हैं ॥ १०९३ ॥

श्रोत्र, त्वक्, आखें, जिह्वा और नासिका, हे देवेशि ! ये ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन ये सब मिलाकर सोलह कहे गये ॥ १०९४ ॥

ये—

देहपाश कहे गये ॥ १०९५- ॥

और भी—

तत्र—

................धर्मं च दशधोदितम् ।

च एवार्थे । धर्ममेव मुख्यं बन्धनमादौ दशविधं वच्मि ॥

स च—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता ॥ १०९० ॥
अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं सन्तोष आर्जवम् ।
एवं दशविधो धर्मो येनोक्तो धर्मकृन्नरः ॥ १०९१ ॥

अकल्कता—

'स्वच्छता समता प्रीतिर्नापकारशतैरपि ।
कालुष्यमुत्सहेत् सोढुं सेयमुक्तेत्यकल्कता ॥' (वि० १७।३९)

इति श्रीमतङ्गपारमेश्वरे इत्थं लक्षिता ॥ १०९१ ॥

एवं धर्माख्यं प्रधानं देहपाशमुक्त्वा गौणमाह—

विकारान् षोडशाख्यास्ये परभावेन संस्थितान् ।

ये पाश स्थूल देह के आरम्भक, अधिष्ठातृविशिष्टदेवतारूप हैं ॥

उन (पाशों) में—

धर्म नामक पाश दश प्रकार का कहा गया है ॥ -१०९०- ॥

(उक्त श्लोकार्ध में) 'च' का प्रयोग 'एव' अर्थ में है । धर्म ही मुख्य बन्धन है । पहले उसी को कह रहा हूँ ॥

और वह है—

अहिंसा, सत्य, चोरी न करना, ब्रह्मचर्य, अकल्कता, अक्रोध, गुरु की सेवा, शौच, सन्तोष, सरलता,—यह दश प्रकार का धर्म है जिसके करने से मनुष्य धर्मकर्त्ता कहा जाता है ॥ -१०९०-१०९१ ॥

अकल्कता को—

'स्वच्छता, समदृष्टि, प्रेम, सैकडों अपकार किये जाने पर भी चित्त में मलिनता का न होना, यह अकल्कता कही गयी है' ॥ (वि० १७।३९)

मतङ्गपारमेश्वर ग्रन्थ के विद्यापाद में इस प्रकार बतलाया गया है ॥ १०९१ ॥

धर्म नामक प्रधान देहपाश को बतला कर गौण पाश को कहते हैं—

परभाव से स्थित सोलह विकारों (= दश इन्द्रियाँ, मन और पाँच तन्मात्राओं) को बतलाऊँगा ॥ १०९२- ॥

प्रागुक्तस्थूलरूपापेक्षया परभावेन सूक्ष्मेण रूपेण स्थितानित्यर्थः, पररूपतया तु मायायां भविष्यन्ति ॥

तानाह—

रसो गन्धश्च रूपं च स्पर्शः शब्दस्तथैव च ॥ १०९२ ॥
तन्मात्रपञ्चकं ख्यातमिन्द्रियाणि निबोध मे ।
वाक्पाणिपादं पायुश्च उपस्थः कर्मसंज्ञकम् ॥ १०९३ ॥

इन्द्रियपञ्चकमित्यर्थः ॥ १०९३ ॥

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका पञ्चमी स्मृता ।

एतानि—

बुद्धीन्द्रियाणि देवेशि...........

तथा—

.............मनः षोडशकं स्मृतम् ॥ १०९४ ॥

त एते—

देहपाशाः समाख्याताः............

किं च—

.............अतो बुद्धिगुणान् विदुः ।

ये विकार पूर्वोक्त स्थूल रूप की अपेक्षा परभाव अर्थात् सूक्ष्मरूप से स्थित हैं । पररूप में ये माया में रहेंगे ॥

उन (सोलह विकारों) को बतलाते हैं—

गन्ध, रस, रूप, स्पर्श और शब्द ये पाँच तन्मात्रायें बतलायी गयी हैं । अब आप मुझसे इन्द्रियों को जानो । वाक्, पाणि, पाद, पायु (= मलत्याग की इन्द्रिय अर्थात् गुदा) और उपस्थ (= जननेन्द्रिय) ये सभी कर्मेन्द्रियाँ बतलायी गयी हैं ॥ -१०९२-१०९३ ॥

अर्थात् पञ्चकर्मेन्द्रियाँ हैं ॥ १०९३ ॥

श्रोत्र, त्वक्, आखें, जिह्वा और नासिका, हे देवेशि ! ये ज्ञानेन्द्रियाँ तथा मन ये सब मिलाकर सोलह कहे गये ॥ १०९४ ॥

ये—

देहपाश कहे गये ॥ १०९५- ॥

और भी—

पुंसि सूक्ष्मरूपतया पाशकत्वेनावस्थितान् विदुरित्यविच्छिन्नेन पारम्पर्येण तत्त्वविदो जनाः ॥

ते च—

धर्मो ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च ततः परम् ॥ १०९५ ॥
अधर्मश्च तथाज्ञानमवैराग्यमनीशिता ।

प्रागुक्तादहिंसादेर्धर्मादयमन्यो धर्म इष्टापूर्तलक्षणः[१] ॥

किं च—

अहङ्कारं च त्रिविधं प्रवक्ष्याम्यनुपूर्वशः ॥ १०९६ ॥
वैकारिकं तैजसं च भूतादि च यथाक्रमम् ।

राजसं सात्त्विकं तामसं चेत्यर्थः ॥

एवमेतानि तन्मात्रबहिष्करणान्तःकरणानि सूक्ष्मरूपतया पुंस्तत्त्वावस्थितानि बन्धकानीह यान्युक्तानि, एतान्येवात्र भूचरी-दिक्चरी-गोचरी-चक्राण्यान्तराणि प्रति-

---

इसके बाद बुद्धि के गुणों को (पाश) कहते हैं ॥ -१०९५- ॥

पुरुष में सूक्ष्म रूप से पाश के रूप में स्थित को तत्त्ववेत्ता लोग अविच्छिन्न परम्परा से पाश मानते हैं ॥

और वे हैं—

धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ॥ -१०९५-१०९६- ॥

पूर्वोक्त अहिंसा आदि धर्म से भिन्न यह इष्टापूर्त लक्षण धर्म भी पाश है ॥

तथा—

तीन प्रकार के अहङ्कार को मैं क्रमशः कह रहा हूँ । ये क्रमशः वैकारिक तैजस और भूतादि हैं ॥ -१०९६-१०९७- ॥

अर्थात् (वैकारिक =) राजस (तैजस =) सात्त्विक और (भूतादि =) तामस ॥

इस प्रकार जो तन्मात्र, बाह्यकरण, अन्तःकरण सूक्ष्मरूप से पुरुषतत्त्व में स्थित हैं तथा बन्धक कहे गये हैं ये ही यहाँ (= शैवागम में) भूचरी दिक्चरी गोचरी चक्र

---

१. इष्ट— अग्निहोत्रं तपः सत्यं वेदानां चानुपालनम्।
आतिथ्यं वैश्वदेवश्च इष्टमित्यभिधीयते ॥
पूर्त— वापीकूपतडागादि देवतायतनानि च ।
अन्नप्रदानमारामः पूर्तमित्याभिधीयते ॥ (म. स्मृ. ४।२२६-२७)

पादितानि । तदनुसारेणैव चेह पररूपाणीत्युपक्रम एवोक्तिः कृता, खेचरीचक्रं त्वान्तरं कञ्चुकदेवतारूपं भविष्यति ॥

प्रातिलोम्यक्रमेण दीक्षाविधिमुपक्रान्तमेव स्मारयति—

दीक्षाकाले यथा शुद्धिस्तथा चैषां निबोध मे ॥ १०९७ ॥

एषां पुंस्तत्त्वगतानां तैजसाद्यहङ्कारपाशानामित्यर्थः । यथा येन क्रमेणेत्यर्थः ॥ १०९७ ॥

तमेव क्रममाह—

तमो रजस्तथा सत्त्वं शोधयेदनुपूर्वशः ।

एतच्चोपलक्षणपरम्, सर्वान् पाशान् प्रातिलोम्येन शोधयेदित्यर्थः ॥

किं च—

शब्दस्पर्शस्तथा रूपं रसो गन्धश्च पञ्चमः ॥ १०९८ ॥
विषयाश्च समाख्याताः शोधनीयाः प्रयत्नतः ।

विशेषेण सिन्वन्तीति विषया भोक्तरि पुंसि सूक्ष्मरूपतया भोग्यात्मानः स्थिताः, न तु पूर्वोक्ततन्मात्रात्मान इत्यर्थः । प्रयत्नतः शोधनीया इत्युक्तेरय-

---

के नाम से प्रतिपादित किये गये हैं । उसी के अनुसार यहाँ 'पररूप' ऐसा प्रारम्भ में ही कह दिया गया । खेचरी चक्र तो आन्तर कञ्चुकदेवता रूप है ॥

उल्टे क्रम से उपक्रान्त दीक्षाविधि का ही स्मरण कराते हैं—

इनकी दीक्षाकाल में जिस प्रकार शुद्धि होती है वह मुझसे जानो ॥ -१०९७ ॥

इनकी = पुरुष तत्त्व में स्थित तैजस आदि अहङ्कार—पाशों की । यथा = जिस क्रम से ॥ १०९७ ॥

उसी क्रम को बतलाते हैं—

तमस्, रजस् एवं सत्त्व का क्रम से शोधन करना चाहिये ॥१०९८-॥

यह क्रम उपलक्षण है । अर्थात् समस्त पाशों का विपरीत क्रम से शोधन करना चाहिये ॥

और भी—

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध ये विषय कहे गये हैं । इनका प्रयत्नपूर्वक शोधन करना चाहिये ॥ -१०९८-१०९९- ॥

जो विशेष रूप से बन्धन में डालें वे विषय हैं अर्थात् भोक्ता पुरुष के अन्दर

माशयः—न संक्षिप्तभुवनादिदीक्षावत्—

'सूक्ष्मानन्तर्विभावयेत्' (४।१५८)

इत्युक्तनीत्याऽन्तर्भाव एषां चिन्तनीयः, अपि तु पृथक् पृथगेते सर्व एवात्र विततायां भुवनदीक्षायां शोध्याः । एवमन्यत्र ॥

किं च—

कामः क्रोधश्च लोभश्च मोहः पैशुन्यमेव च ॥ १०९९ ॥
जन्ममृत्युजराव्याधिक्षुत्तृट्तृष्णास्तथैव च ।
विषादश्च भयं चैव मदो हर्षणमेव च ॥ ११०० ॥
रागो द्वेषश्च वैचित्त्यं कुपितानृतद्रोहिता ।
माया मात्सर्यधर्मश्च अधर्मश्चास्वतन्त्रता ॥ ११०१ ॥

तृष्णा स्पृहा, कुपितानृतद्रोहिणां भावः कुपितानृतद्रोहिता, क्रोधः पूर्वापरविमर्शशून्यः सप्रकर्षः कोपः, मदो दर्पः, मात्सर्यधर्मः परगुणासहिष्णुतात्मा स्वभावः । एते च[1] श्रीमतङ्गपारमेश्वरे वितत्य व्याख्याताः ॥ ११०१ ॥

सूक्ष्म रूप से भोग्य के रूप में स्थित हैं न कि पूर्वोक्त तन्मात्रा के रूप में । 'प्रयत्नपूर्वक शोधन करना चाहिये'—इस उक्ति का यह आशय है कि संक्षिप्त भुवन आदि दीक्षा की भाँति—

'हृदय के अन्दर सूक्ष्म इनकी भावना करनी चाहिये ।' (४।१५८)

इस नीति से इंनके अन्तर्भाव का चिन्तन नहीं करना चाहिये । इस विस्तृत भुवनदीक्षा में इनका अलग-अलग शोधन करना चाहिये । इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ॥

इसके अतिरिक्त—

काम, क्रोध, लोभ, मोह, पैशुन्य (= चुगलखोरी), जन्म, मृत्यु, जरा, व्याधि, (आधि), भूख, प्यास, तृष्णा, विषाद, भय, मद, हर्षण (= रोमाञ्च), राग, द्वेष, वैचित्त्य (= मन का विक्षिप्त होना), कुपित, अनृत और द्रोह, माया, मात्सर्य, धर्म, अधर्म और अस्वतन्त्रता (का भी प्रयत्नपूर्वक शोधन करना चाहिये) ॥ -१०९९-११०१ ॥

तृष्णा = बलवती इच्छा । कुपित और अनृतद्रोही का भाव कुपितानृतद्रोहिता है । पूर्वापरविमर्शशून्य । प्रकर्षयुक्त कोप ही क्रोध है । मद = दर्प । मात्सर्य धर्म = दूसरों के गुण को न सहने का स्वभाव । इन सबकी श्रीमतङ्गपारमेश्वर शास्त्र में विस्तार से व्याख्या की गयी है ॥ ११०१ ॥

---

१. विद्यापादेऽष्टमे पटले ३२-५१ श्लोकेषु ।

त इमे सप्तविंशतिसंख्याः पाशाः—

आगन्तुकाश्च बोद्धव्याः............

प्रागुक्तेभ्यः सहजेभ्योऽन्ये आगच्छन्ति तच्छीला देहप्राप्त्युत्तरकालमत एव प्रस्तुतत्वात् पुंसामभिव्यक्तिमायान्तीत्यागन्तुकाः अत एव सहजाश्च वैराग्यादयः । अन्यः स्थूलः आगन्तुको रागः शोधनीयः प्रयत्नत इत्यनुषङ्गः । एवमुत्तरत्र ॥

किं च—

..............गणपाशान्निबोध मे ।

ते च—

देवी नन्दिमहाकालौ गणेशो वृषभस्तथा ॥ ११०२ ॥
भृङ्गी चण्डीश्वरश्चैव कार्तिकेयोऽष्टमः स्मृतः ।

एते पराद्वयात्मकपारमेश्वरस्वरूपमात्मानमावृण्वानाः पाशा उच्यन्ते । यदुक्तमस्मत्प्रभुणा तन्त्रालोके—

'यत्किञ्चित्परमाद्वैतसंवित्स्वातन्त्र्यसुन्दरात् ।
पराच्छिवादुक्तरूपादन्यत्तत् पाश उच्यते ॥'

इन सत्ताईस पाशों को—

आगन्तुक समझना चाहिये ॥ ११०२- ॥

ये पूर्वोक्त स्वाभाविक पाशों से भिन्न हैं । (आगन्तुक शब्द का अर्थ बतलाते हैं—) देहधारण के बाद आने का जिनका स्वभाव है इसलिये प्रस्तुत होने के कारण पुरुषों के सामने जो प्रकट होते हैं वे आगन्तुक कहलाते हैं । इसीलिये वैराग्य आदि स्वाभाविक हैं । अन्य स्थूल आगन्तुक पाश राग है । 'प्रयत्नपूर्वक शोधन करना चाहिये' इस तात्पर्य को पीछे श्लोक से समझ लेना चाहिये । इसी प्रकार आगे भी अनुषञ्जन करना चाहिये ॥

और भी—

मुझसे गणपाशों को जानो ॥ -११०२- ॥

और वे हैं—.

देवी, नन्दी, महाकाल, गणेश, वृषभ, भृङ्गी, और चण्डीश्वर । कार्त्तिकेय को आठवाँ माना गया है ॥ -११०२-११०३- ॥

ये चूँकि पर अद्वयात्मक पारमेश्वरस्वरूप आत्मा का आवरण करने वाले हैं अत एव पाश कहे जाते हैं । जैसा कि हमारे प्रभु (श्री अभिनवगुप्तपादाचार्य) ने तन्त्रालोक में कहा—

तदेवं पुंस्त्वमापन्ने पूर्णेऽपि परमेश्वरे ।
तत्स्वरूपापरिज्ञानचित्रा हि पुरुषाः स्थिताः ॥' (८।२९२-२९३)

इति ॥

किं च—

अनन्तस्त्रितनुः सूक्ष्मः श्रीकण्ठश्च शिवोत्तमः ॥ ११०३ ॥
शिखण्डी चैकनेत्रश्च एकरुद्रस्तथापरः ।
विद्येश्वरात्मकान् पाशान् दीक्षाकाले विशोधयेत् ॥ ११०४ ॥

'शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता प्रोक्तोऽनन्तोऽसिते प्रभुः'[1]

इत्याम्नायान्तरोक्तनीत्याऽशुद्धाध्वकारणं त्रितत्त्वादिपरिवृतो योऽनन्तभट्टारकस्तस्य पुंस्तत्त्वावारकत्वे सत्यशुद्धाध्वस्रष्टृत्वं फलतीति तत्र सूक्ष्मरूपेणावस्थितः इति भविष्यति । तदेवं तुष्टिनवकम्, सिद्ध्यष्टकम्, अणिमाद्यष्टकम्, पङ्क्तित्रयनिविष्टा द्वाविंशतिः पञ्चविंशतिर्विंशतिश्चेति सप्तषष्टिर्गुरुशिष्याः, नाड्यष्टकम्, विग्रहाष्टक-महिंसादयो दश, षोडश विकाराः, अष्टौ बुद्धिधर्मास्त्रिविधोऽहङ्कारः, शब्दादिविषय-

---

'परम अद्वैत संवित्स्वातन्त्र्यसुन्दर एवं उक्त रूप वाले पर शिव से भिन्न जो कुछ है वह पाश कहलाता है । तो इस प्रकार पूर्ण परमेश्वर के भी पुरुषभाव के प्राप्त होने पर उसके स्वरूप के अपरिज्ञान के कारण चित्र विचित्र पुरुष स्थित हैं ॥' (तं.आ. ८।२९२-२९३)

इसके अतिरिक्त—

अनन्त, त्रितनु, सूक्ष्म, श्रीकण्ठ, शिवोत्तम, शिखण्डी, एकनेत्र, एकरुद्र और विद्येश्वर पाशों का भी दीक्षाकाल में शोधन करना चाहिये ॥ -११०३-११०४ ॥

'शुद्ध अध्वा के विषय में कर्त्ता शिव अर्थात् सृष्टिकर्ता शिव हैं और अशुद्ध अध्वा के कर्त्ता भगवान् अनन्तनाथ ।'

दूसरे आम्नाय में कही गयी नीति के अनुसार अशुद्ध अध्वा का कारण तथा तीन तत्त्व आदि से परिवृत जो अनन्तभट्टारक, वे जब पुरुषतत्त्व का आवरक होते हैं तब अशुद्ध अध्वा की सृष्टि होती है । इसलिये उसमें सूक्ष्मरूप से वह अवस्थित है—यह आगे कहा जायेगा । तो इस प्रकार नवतुष्टियाँ, आठ सिद्धियाँ अणिमा आदि आठ, तीन पंक्तियों में रहने वाले बाईस, पचीस और बीस इस प्रकार सड़सठ गुरु शिष्य, आठ नाडियाँ, आठ विग्रह, अहिंसा आदि दश, सोलह विकार, आठ बुद्धिधर्म, त्रिविध अहङ्कार, शब्द आदि पाँच विषय, अहिंसा आदि पाँच विषय,

---

१. शतरत्नसंग्रहे (पृ० २५, ५०) किरणागमवचनत्वेनोद्धृतमेतत् ।

पञ्चकमित्यहिंसादिविषयपञ्चकान्ता द्वाचत्वारिंशत्सहजा देहपाशाः कामादयः, अस्वतन्त्रतन्त्राः सप्तत्रिंशतिरागन्तुकाः पाशाः, अष्टौ च गणेशाः, अष्टौ विद्येशाः पाशा इति त्रिनवत्यधिकं शतं[1] पाशभुवनानां पुंस्तत्त्वे शोधनीयमुक्तम् ॥ ११०४ ॥

किं च—

उक्तानुक्ताश्च ये चात्र अन्यतन्त्रोक्तलक्षणाः ।
पौरुषेये तु शोध्यास्ते ततो मुच्येत पुद्गलः ॥ ११०५ ॥

ये त्रिनवत्यधिकशतसङ्ख्या इह पाशा उक्ताः, ये चान्ये रतिहासशोकोत्साहादयो निर्वेदग्लान्यादयश्च इहानुक्ता अन्यतन्त्रे[2] भरतादिषूक्तस्वरूपास्ते सर्वे पौरुषे तत्त्वे शोधनीयाः । एवं सति ततः पाशेभ्यः पुद्गलो मुच्यते, पुथा अन्तःशङ्कातङ्कसंस्कारोत्थापनात्मना हिंसया गिलनं भोग्यलक्षणं यस्य स पुद्गलो मायाप्रमाता ॥ ११०५ ॥

गतमेतत्—

अर्थोर्ध्वे नियतिर्ज्ञेया तस्यां रुद्रान्निबोध मे ।

काम आदि बयालिस स्वाभाविक देहपाश, परतन्त्रता आदि सत्ताइस आगन्तुक पाश, आठ गणेश, ? आठ विद्येश ये सब मिलाकर (९ + ८ + ८ + ६७ + ८ + ८ + १० + १६ + ८ + ३ + ५ + ५ + ४२ + २७ + ८ + ८ = १९३) एक सौ तिरानबे पाश पुरुषतत्त्व में शोधनीय कहे गये हैं ॥ ११०४ ॥

तथा—

जो पाश यहाँ कहे गये, जो नहीं कहे गये और जो अन्य तन्त्र में कहे गये हैं पौरुषतत्त्व में उन सबका शोधन करना चाहिये । इसके बाद पुद्गल (सूक्ष्मशरीर धारी जीव) मुक्त हो जाता है ॥ ११०५ ॥

जो एक-सौ तिरानवे पाश यहाँ कहे गये और रति हास शोक उत्साह आदि तथा निर्वेद ग्लानि आदि यहाँ नहीं कहे गये किन्तु अन्य तन्त्रों में अर्थात् भरतनाट्यशास्त्र आदि में कहे गये हैं वे सब पुरुष तत्त्व में शोधन के विषय हैं । ऐसा होने के बाद तब यह पुद्गल पाशों से मुक्त होता है । ('पुद्गल' शब्द का विग्रहार्थ बतलाते हैं—) पुथ् = अन्तःशङ्का के आतङ्कसंस्कार की उत्थापना रूपी हिंसा, के द्वारा भोग्यलक्षण गिलन है जिसका वह पुद्गल अर्थात् मायाप्रमाता है । (पुद्गल की एक व्याख्या—पूयते गिलति इति पुद्गलः भी है) ॥ ११०५ ॥

यह प्रकरण समाप्त हुआ—

---

१. यद्यपि टीकाकारेण पाशीनां संख्या त्रिनवत्यधिकं शतमुक्ता तथापि गणनया इयं चत्वारिंशदधिकंशतद्वयं भवति ।
२. भ०ना०शा० सप्तमाध्याये वर्णिताः ।

तानाह—

वामदेवस्तथा शर्वस्तथा चैव भवोद्भवौ ॥ ११०६ ॥
वज्रदेहः प्रभुश्चैव धाता च क्रमविक्रमौ ।
सुप्रभेदश्च दशमो नियत्यां शङ्कराः स्मृताः ॥ ११०७ ॥

दशदिक्क्रमवस्थिता इत्यर्थः ॥ ११०७ ॥

एतन्नियतितत्त्वनियमितः पुरुषो बुद्धिप्रमातृभूमिकां गृहीत्वाऽहङ्कारमयः शरीरे हृत्पद्मेऽवस्थित इति प्रतिपादयितुमाह—

यत्तद्धृदि स्थितं पद्ममात्मा तत्र व्यवस्थितः ।

'साक्षं कृत्स्नमिमं देहं यद्यपि व्याप्य तिष्ठति ।
तथाप्यस्य परं स्थानं हृत्पङ्कजसमुद्गकम् ॥'

इति स्थित्या हृत्पद्ममात्मनो विश्रान्तिपदम्, अत एवात्रस्थोऽयं पद्मासनस्वभावतयोक्तक्रमेण तत्तद्विषयावभासनादिसृष्टिं करोति ॥

तच्च पद्मम्—

इसके ऊपर नियति तत्त्व समझना चाहिये । उसमें स्थित रुद्रों को मुझसे जानो ॥ ११०६- ॥

उन (रुद्रों) को बतलाते हैं—

वामदेव, शर्व, भव, उद्भव, वज्रदेह, प्रभु, धाता, क्रम, विक्रम और सुप्रभेद ये शङ्कर अर्थात् रुद्र नियति तत्त्व में बतलाये गये हैं ॥ -११०६-११०७ ॥

ये (दश रुद्र) दश दिशाओं में स्थित हैं ॥ ११०७ ॥

इस नियति तत्त्व के द्वारा नियमित पुरुष बुद्धिप्रमाता की भूमिका ग्रहण कर अहङ्कारमय होकर शरीर के अन्दर स्थित हृदयकमल में अवस्थित है—यह बतलाने के लिये कहते हैं—

हृदय में जो पद्म स्थित है आत्मा उसमें रहता है ॥ ११०८- ॥

'यद्यपि आत्मा इन्द्रियों के साथ सम्पूर्ण शरीर को व्याप्त कर रहता है तथापि उसका विशिष्टस्थान हृदय में स्थित कमलरूपी पिटारी है ।'

इस नीति के अनुसार हृदयकमल आत्मा का विश्रान्तिस्थल है । इसलिये इसमें स्थित यह पद्मासनस्वभाव के कारण उक्त क्रम से तत्तत् विषयों का अवभासन आदि रचना करता रहता है ॥

और वह कमल—

नियतिदलमहङ्कारकेसरं बुद्धिकर्णिकम् ॥ ११०८ ॥

नियतिवशोद्भूतानि मनोबुद्धिकर्माक्षविषयरूपाणि दलानि सञ्चारपदानि यस्येति व्याख्येयम्, न तु नियतिरेव दलानि यस्येति, नियतेरहङ्कारकेसराधोव्याप्त्यभावात् । अहङ्कार एव रञ्जकत्वात् केसररूपो यत्र, बुद्धिस्त्वध्यवसायपर्यन्तविषयभोगसाधकत्वादुपरिवर्तिकर्णिकारूपा । अत्र चास्यात्मनः—

'प्रधानाशयमापन्नं गुणत्रयविसर्पितम्' (२।४१)

इति पूर्वोक्तस्वरूपं स्मर्तव्यमन्यथा बुद्धिप्रमातृत्वायोगात् ॥ ११०८ ॥

एतच्च नियतिनियमितत्वं कालकलितस्यैव घटते, न तु कालोत्तरस्वभावस्य । अतो यदेतत्कलनाकारणम्, तत्र—

कालतत्त्वे शिवा ज्ञेया.............

शोध्यत्वेनेति शेषः ॥

तांश्च—

.............कथयामि समासतः ।
शुद्धो बुद्धः प्रबुद्धश्च प्रशान्तः परमाक्षरः ॥ ११०९ ॥

नियति दल वाला, अहङ्कार रूप केसर वाला तथा बुद्धिरूपी कर्णिका वाला है ॥ -११०८ ॥

नियतिवशात् उत्पन्न मन बुद्धीन्द्रिय कर्मेन्द्रिय और विषय रूप दल = सञ्चार पद हैं जिसके—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये न कि नियति ही दल है जिसका—ऐसी व्याख्या, क्योंकि नियति अहङ्कार रूपी केसर के नीचे व्याप्त नहीं रहती । रञ्जक (= रङ्गने वाला) होने के कारण अहङ्कार ही यहाँ केसर रूप है । निश्चयपर्यन्त विषयभोग का साधक होने के कारण बुद्धि (उस केसर के) ऊपर रहने वाली कर्णिका है । और यहाँ इस आत्मा के—

'प्रधानतत्त्व रूपी आशय को प्राप्त एवं तीन गुणों से विसर्पित (= समन्वित)' (२।४१)

ऐसा पूर्वोक्त स्वरूप का स्मरण करना चाहिये अन्यथा यह बुद्धिप्रमाता नहीं होगा ॥ ११०८ ॥

यह नियति नियमितता उसी (आत्मा की) होती है जो कालकवलित है न कि काल से परे स्वभाव वाले की । इसलिये जो इस कलना का कारण है उस—

कालतत्त्व में शिवों को शोध्य के रूप में जानना चाहिये ॥ ११०९-॥

शोध्य के रूप में यह शेष है ॥

उन (शिवों) को—

शिवश्च सुशिवश्चैव ध्रुवश्चाक्षरशम्भुराट् ।
दशैते तु शिवा ज्ञेयाः कालतत्त्वे वरानने ॥ १११० ॥

अक्षरराट् शम्भुराडिति द्वौ ॥ १११० ॥

तत्र—

हेमाभाः शङ्कराः प्रोक्ताः शिवाः स्फटिकसन्निभाः ।

शङ्करा नियतिस्थाः, शिवास्तु कालस्थाः ॥

किं च—

एकैकस्य विनिर्दिष्टा परिवारो यशस्विनि ॥ ११११ ॥
कोटिरेका तथान्यानि सहस्राणि तु षोडश ।

तेषां च—

कूर्माकाराणि सर्वेषां प्रोक्तानि भुवनानि तु ॥ १११२ ॥

अथ—

अत ऊर्ध्वं हरिहरौ रागतत्त्वे निबोध मे ।

संक्षेप में बतला रहा हूँ । हे वरानने ! शुद्ध, बुद्ध, प्रबुद्ध, प्रशान्त, परमाक्षर, शिव, सुशिव, ध्रुव, अक्षरराट् और शम्भुराट् काल तत्त्व में ये दश शिव समझे जाने चाहिये ॥ -११०९-१११० ॥

अक्षराट् और शम्भुराट् ये दो शिव हैं ॥ १११० ॥

उनमें से—

शङ्करों का वर्ण स्वर्ण के समान है जबकि शिव स्फटिक के समान है ॥ ११११- ॥

नियति तत्त्व में रहने वाले शङ्कर हैं । शिव तो काल तत्त्व में रहते हैं ॥

तथा—

हे यशस्विनि ! एक-एक (शङ्कर और शिव) का एक-एक करोड़ का परिवार हैं ॥ -११११-१११२- ॥

और उनमें—

उन सबके भुवन कूर्माकार तथा सोलह हजार योजन विस्तृत बतलाये गये हैं ॥ -१११२ ॥

अब—

उसके ऊपर रागतत्त्व में हरि और हर को मुझसे जानो ॥ १११३- ॥

काल्यकलनं वेद्यसम्बन्धं विना न युज्यते बोधरूपस्य पुंस इति किञ्चिन्मे स्यादिति वेद्यसामान्याभिलाषात्मना, अत एव स्त्र्यादिविषयबुद्धिधर्मस्थूलराग-विलक्षणेन रागतत्त्वेनावश्यमयमुपरक्तः । अतः पुंरञ्जके रागतत्त्वे हरिहरौ मुख्यौ भुवनेशौ ।

अन्यानप्याह—

सुहृष्टः सुप्रहृष्टश्च सुरूपा रूपवर्धनः ॥ १११३ ॥
मनोन्मनो महाधीरः............

एते पूर्वाभ्यां सहाष्टौ—

............वीरेशाः परिकीर्तिताः ।

यथा नियतिकालगता रुद्राः शङ्कराः शिवाश्चोक्ताः, तथा एते वीरेशा उच्यन्ते दुष्परिहरत्वाच्चैवमुक्ताः ॥

किं चान्यानपि—

रागतत्त्वे प्रवक्ष्यामि येऽन्ये रुद्रा व्यवस्थिताः ॥ १११४ ॥

(किसी भी) काल्य (= रचनीय) की कलना (= रचना) वेद्य के सम्बन्ध के बिना सम्भव नहीं होती (और वह सम्बन्ध) बोधरूप पुरुष के अन्दर 'मुझे कुछ हो जाय' इस प्रकार की वेद्य के विषय में सामान्य अभिलाषा होती है । इसलिये स्त्री आदि विषय वाले बुद्धि के धर्मभूत स्थूल राग से विलक्षण रागतत्त्व से यह (= पुरुष) उपरक्त है । इसलिये पुरुष के रञ्जक रागतत्त्व में हरि और हर मुख्य भुवनेश हैं ॥

अन्य (भुवनेशों) को भी बतलाते हैं—

(इस प्रकार हरि और हर के साथ) सुहृष्ट, प्रहृष्ट, सुरूप, रूपवर्द्धन, मनोन्मन और महाधीर ॥ -१११३-१११४- ॥

पूर्व दो (= हरि और हर) के साथ ये आठ—

वीरेश कहे गये हैं ॥ -१११४- ॥

जिस प्रकार नियति तत्त्व एवं कालतत्त्व में रहने वाले रुद्र शङ्कर और शिव कहे जाते हैं उसी प्रकार ये (रुद्र) वीरेश कहे जाते हैं । कठिनाई से शोध्य होने के कारण ये इस प्रकार (= वीरेश नाम से) कहे गये हैं ॥

इसके अतिरिक्त—

रागतत्त्व में जो अन्य रुद्र स्थित हैं उन अन्य रुद्रों को भी मैं कहूँगा ॥ -१११४ ॥

तानिति शेषः ॥ १११४ ॥

कल्याणः पिङ्गलो बभ्रुर्वीरश्च प्रभवस्तथा ।
मेधातिथिश्छन्दकश्च दाहकः शास्त्रकारिणः ॥ १११५ ॥

शास्त्रकारिण इति शास्त्रकारिनाम्न एकस्यैव गुरुत्वाद्बहुवचनं कृतमत्र पञ्च गुरव इति प्रदर्शनाय ॥ १११५ ॥

यदाह—

पञ्च शिष्यास्तथाचार्या दशैते संव्यवस्थिताः ।

आद्याः शिष्याः, अन्त्या आचार्याः ॥

सामान्यवेद्याभिव्यङ्गात्मकं रागतत्त्वं वेद्यप्रकाशेनोपपद्यते । तत्प्रकाशनाय किञ्चिज्ज्ञत्वप्रदं विद्यातत्त्वमस्य सम्बद्धमित्याह—

विद्यातत्त्वमतश्चोर्ध्वं तस्मिन् वै भुवनं शृणु ॥ १११६ ॥

भुवनमिति भुवनानीत्यर्थः ॥ १११६ ॥

तानि तदीशद्वारेण प्रतिपादयति—

उनको भी यह शेष है ॥ १११४ ॥

कल्याण, पिङ्गल, बभ्रु, वीर, प्रभव, मेधा, अतिथि, छन्दक, दाहक और शास्त्रकारी ॥ १११५ ॥

'शास्त्रकारिणः' पद में बहुवचन शास्त्रकारी नामक एक ही (रुद्र) के गुरु होने के कारण (मेघा आदि) पाँच गुरु हैं—इस बात को बतलाने के लिये हैं ॥ १११५ ॥

जैसा कि कहते हैं—

पाँच शिष्य तथा (पाँच) आचार्य इस प्रकार ये दश रहते हैं । (ये शिष्य और आचार्य नियति एवं काल तत्त्व के रुद्र हैं) ॥ १११६- ॥

इनमें से प्रथम पाँच शिष्य हैं और अन्तिम पाँच आचार्य ॥

सामान्य वेद्य के प्रति अभिष्वङ्ग (= आसक्ति) वाले राग तत्त्व की सिद्धि (विशिष्ट) वेद्य के प्रकाश से सिद्ध होती है । उस (= विशिष्ट वेद्य) के प्रकाशन के लिये किञ्चिज्ज्ञत्व प्रदान करने वाले तथा इस (= राग) तत्त्व से सम्बद्ध विद्यातत्त्व को बतलाते हैं—

इसके ऊपर विद्यातत्त्व है । उसमें स्थित भुवनों को सुनो ॥ -१११६॥

'भुवनम्' (एक वचन जाति अर्थ में है उसका तात्पर्य है—) भुवनानि ॥ १११६ ॥

उन भुवनों को इनके ईश्वरों के द्वारा प्रतिपादित करते हैं—

वामो ज्येष्ठश्च रौद्रश्च कलो विकरणस्तथा ।
बलविकरणश्चैव बलप्रमथनस्तथा ॥ १११७ ॥
सर्वभूतदमनश्च तथा चैव मनोन्मनः ।

कलो विकरण इति कलविकरण । क्वचिदेते वामादयः स्त्रीलिङ्गपाठेन दृश्यन्ते ॥

किञ्चिज्ज्ञत्वरूपविद्यासम्बन्धोऽपि नाकर्तुरूपपद्यत इति मायानिगूहितपूर्णज्ञान-क्रियाफारस्यास्य किञ्चित्कर्तृत्वोन्मीलनात् कलातत्त्वमस्ति । ततस्तत्र—

कलातत्त्वे महादेवि महादेवत्रयं स्थितम् ॥ १११८ ॥
महादेवो महातेजा महाज्योतिः प्रतापवान् ।

महच्छब्दोपलक्षितं देवत्रयं महादेवत्रयम् । प्रतापवानित्यतिदीप्तः ॥

तदित्थम्—

कलातत्त्वं समाख्यातं समासेन वरानने ॥ १११९ ॥

समासेनेत्युक्तेरयमाशयो यदन्येऽप्यत्र वामदेवभवोद्भवैकपिङ्गेक्षणभुवनेशांगुष्ठ-मात्राख्याः सन्ति । एते ह्यष्टौ मङ्गलेश्वराः पूर्वं बुद्धितत्त्वेऽपररूपेणोक्ताः, इह तु पररूपेण । तत्र च त्रय एव प्राधान्यादुक्तास्तदेवं नियतिकालरागविद्याकलाख्यं

वाम, ज्येष्ठ, रौद्र, कलविकरण, बलविकरण, बलप्रमथन, सर्वभूतदमन और मनोन्मन (ये आठ ईश्वर हैं) ॥ १११७-१११८- ॥

कल ही विकरण है इसलिये उसको कलविकरण कहते हैं । किसी-किसी ग्रन्थ में ये वाम आदि स्त्रीलिङ्ग पाठ (= वामा ज्येष्ठा आदि) के साथ देखें जाते हैं ॥

किञ्चिज्ज्ञत्व रूप विद्यासम्बन्ध भी कर्त्ता के बिना सिद्ध नहीं होता इसलिये माया के द्वारा निगूहित पूर्ण ज्ञानक्रियास्फार वाले इस (शिव) का किञ्चित्कर्तृत्व उन्मीलित होने से कला नाम का (एक और) तत्त्व भी है । इस कारण उस—

कलातत्त्व में, हे महादेवि! तीन महान् देवता स्थित हैं । वे हैं—महादेव, महातेज और प्रतापवान् महाज्योति ॥ -१११८-१११९- ॥

महत् शब्द से उपलक्षित तीन देव को महादेवत्रय कहते हैं । प्रतापवान् का अर्थ है—अत्यन्त दीप्तिमान् ॥

तो इस प्रकार—

हे वरानने !, कलातत्त्व संक्षेप में कहा गया ॥ -१११९ ॥

संक्षेप में—इस उक्ति का यह आशय है कि यहाँ वामदेव, भवोद्भव, एक पिङ्गेक्षण, भुवनेश और अंगुष्ठ मात्र नामक पाँच और हैं । ये आत (= महादेवत्रय

यदेतत्तत्वपञ्चकमुक्तम्, तत्प्रोक्तभौवनसन्निवेशाश्रयतया बहिः साधारणमेव । ततस्तु प्रतिपुरुषमेतन्नामकमेव तत्त्वपञ्चकं कञ्चुकशब्दवाच्यं भिन्नभिन्नमेवाद्भुतमन्तःकरणादिवत् । एतच्च तण्डुलस्य कम्बुकमिव पुंसः परमावरणम्, प्रकृत्यादितन्मात्रान्तं तु सूक्ष्मशरीरारम्भकं तुषवत् सूक्ष्मम्, भूतपञ्चकं तु स्थूलशरीरारम्भकं किंशारुकवत् स्थूलमेवेति सर्वमेतत्प्रातिलोम्येन प्रोक्तभुवनविभागेन शोधनीयम् ॥ १११९ ॥

प्रोक्तनामानः सर्व एव—

एते रुद्रा महादेवि त्रिनेत्राश्चन्द्रशेखराः ।

असामान्येन महेश्वराभिज्ञानेनालंकृताः ॥

येषां च प्राक् परिवारो न सङ्ख्यातः, तेऽपि—

रुद्रकोटिसहस्रैस्तु समन्तात् परिवारिताः ॥ ११२० ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशाः...........

तथा उपर्युक्त पाँच) मण्डलेश्वर पहले बुद्धितत्त्व में अपर रूप से कहे गये[1] और यहाँ (= कला तत्त्व में) पर रूप में । और उसमें तीन ही प्रधान रूप में कहे गये हैं । तो इस प्रकार नियति काल राग विद्या और कला नामक जो ये पाँच तत्त्व कहे गये वे उपर्युक्त भुवनसन्निवेश के आश्रय के रूप में बाह्य और साधारण हैं (अर्थात् सभी भुवनों में एक है) । ये ही पाँच तत्त्व पृथक्-पृथक् पुरुष के सन्दर्भ में 'कञ्चुक' शब्द से कहे जाते हैं और अन्तःकरण आदि की भाँति भिन्न-भिन्न और अद्भुत है । जैसे चावल के ऊपर कम्बुक (= भूसी) होती है उसी प्रकार ये पुरुष के ऊपर परम आवरण हैं । ये प्रकृति से लेकर तन्मात्रा पर्यन्त सूक्ष्मशरीर के आरम्भक हैं तथा तुष के समान सूक्ष्म है । पाँच महाभूत तो स्थूल शरीर के आरम्भक हैं तथा किशारुक (दाने के नोक) की भाँति स्थूल हैं । इन सबका विपरीत क्रम से उक्त भुवनविभाग के अनुसार शोधन करना चाहिये ॥ १११९ ॥

जिनके नाम ऊपर कहे गये हैं वे सब—

रुद्र, हे महादेवि ! तीन नेत्रों वाले तथा मस्तक में चन्द्रमा वाले हैं ॥ ११२०- ॥

अर्थात् महेश्वर के असाधारण अभिज्ञान से अलङ्कृत है ॥

जिन रुद्रों के परिवार की पहले चर्चा नहीं की गयी वे भी—

शुद्धस्फटिक की भाँति धवल हैं तथा सब ओर से हजारों करोड़ रुद्रों से परिवारित हैं ॥ -११२०-११२१- ॥

---

१. बुद्धितत्त्व में ईशान की चर्चा है और यहाँ कलातत्त्व में महाज्योति की । सम्भवतः ईशान और महाज्योति दोनों नाम एक ही मण्डलेश्वर का है ।

सर्व एव तु—

...............योगैश्वर्यबलान्विताः ।

विशेषमेषामाह—

रागे रक्तास्तु विज्ञेया ज्ञानयोगबलोत्कटाः ॥ ११२१ ॥
छत्राकारास्तु तेषां वै गृहा रत्नविचित्रिताः ।

अन्येषां तु कूर्माकारा उक्ताः ॥

गतमेतत् । अथैषाम्—

उपरिष्टाद्भवेन्माया............

तां च ते—

.............कथयामि समासतः ॥ ११२२ ॥
व्याप्य या वै त्वधोऽध्वानं वैश्वरूप्येण संस्थिता ।

व्याप्यातिमात्रमाप्य, आकलादिक्षित्यन्तं सर्वमिति व्युत्पत्त्या, न च भेदेनात्र व्याप्यव्यापकभावः, अपित्वभेदेनेत्याशयेन व्याप्य विश्वं स्थितेत्युक्तम् । समासत इति सङ्क्षिप्तभुवनेशप्रतिपादनाशयेन ॥

सबके सब—

योगैश्वर्य के बल से युक्त हैं ॥ -११२१- ॥

इनकी विशेषताओं को बतलाते हैं—

रागतत्त्व में ज्ञानबल और योगबल से उत्कट (ये रुद्र) रक्त वर्ण के बतलाये गये हैं । उनके घर चित्र-विचित्र रत्नों से भरे हुए तथा छाते के आकार के हैं ॥ -११२१-११२२- ॥

अन्य (तत्त्वों में रहने वाले रुद्रों) के (घर) कूर्म के आकार वाले बतलाये गये हैं ॥

नियति से लेकर कला तत्त्व तक की चर्चा समाप्त हुई । अब इनके—

ऊपर माया तत्त्व है ॥ -११२२- ॥

और उसको मैं तुमको—

संक्षेप में बतला रहा हूँ । यह नीचे के अध्वा को व्याप्त कर विश्वरूप में स्थित है ॥ -११२२-११२३- ॥

व्याप्त कर = अतिक्रान्त मात्रा में प्राप्त कर । कला तत्त्व से लेकर पृथिवीपर्यन्त सबको एक रूप से न कि भेद से यहाँ व्याप्यव्यापक भाव है । अभेद

यदेतत्तत्त्वपञ्चकमुक्तम्, तत्रोक्तभौवनसन्निवेशाश्रयतया बहि: साधारणमेव । ततस्तु प्रतिपुरुषमेतन्नामकमेव तत्त्वपञ्चकं कञ्चुकशब्दवाच्यं भिन्नभिन्नमेवाद्भुतमन्त:करणादिवत् । एतच्च तण्डुलस्य कम्बुकमिव पुंस: परमावरणम्, प्रकृत्यादितन्मात्रान्तं तु सूक्ष्मशरीरारम्भकं तुषवत् सूक्ष्मम्, भूतपञ्चकं तु स्थूलशरीरारम्भकं किंशारुकवत् स्थूलमेवेति सर्वमेतत्प्रातिलोम्येन प्रोक्तभुवनविभागेन शोधनीयम् ॥ ११९ ॥

प्रोक्तनामान: सर्व एव—

एते रुद्रा महादेवि त्रिनेत्राश्चन्द्रशेखरा: ।

असामान्येन महेश्वराभिज्ञानेनालंकृता: ॥

येषां च प्राक् परिवारो न सङ्ख्यात:, तेऽपि—

रुद्रकोटिसहस्रैस्तु समन्तात् परिवारिता: ॥ ११२० ॥

शुद्धस्फटिकसङ्काशा:...........

तथा उपर्युक्त पाँच) मण्डलेश्वर पहले बुद्धितत्त्व में अपर रूप से कहे गये[1] और यहाँ (= कला तत्त्व में) पर रूप में । और उसमें तीन ही प्रधान रूप में कहे गये हैं । तो इस प्रकार नियति काल राग विद्या और कला नामक जो ये पाँच तत्त्व कहे गये वे उपर्युक्त भुवनसन्निवेश के आश्रय के रूप में बाह्य और साधारण हैं (अर्थात् सभी भुवनों में एक है) । ये ही पाँच तत्त्व पृथक्-पृथक् पुरुष के सन्दर्भ में 'कञ्चुक' शब्द से कहे जाते हैं और अन्त:करण आदि की भाँति भिन्न-भिन्न और अद्भुत है । जैसे चावल के ऊपर कम्बुक (= भूसी) होती है उसी प्रकार ये पुरुष के ऊपर परम आवरण हैं । ये प्रकृति से लेकर तन्मात्रा पर्यन्त सूक्ष्मशरीर के आरम्भक हैं तथा तुष के समान सूक्ष्म है । पाँच महाभूत तो स्थूल शरीर के आरम्भक हैं तथा किशारुक (दाने के नोक) की भाँति स्थूल हैं । इन सबका विपरीत क्रम से उक्त भुवनविभाग के अनुसार शोधन करना चाहिये ॥ ११९ ॥

जिनके नाम ऊपर कहे गये हैं वे सब—

रुद्र, हे महादेवि ! तीन नेत्रों वाले तथा मस्तक में चन्द्रमा वाले हैं ॥ ११२०- ॥

अर्थात् महेश्वर के असाधारण अभिज्ञान से अलङ्कृत है ॥

जिन रुद्रों के परिवार की पहले चर्चा नहीं की गयी वे भी—

शुद्धस्फटिक की भाँति धवल हैं तथा सब ओर से हजारों करोड़ रुद्रों से परिवारित हैं ॥ -११२०-११२१- ॥

१. बुद्धितत्त्व में ईशान की चर्चा है और यहाँ कलातत्त्व में महाज्योति की । सम्भवत: ईशान और महाज्योति दोनों नाम एक ही मण्डलेश्वर का है ।

सर्व एव तु—

...............योगैश्वर्यबलान्विता: ।

विशेषमेषामाह—

रागे रक्तास्तु विज्ञेया ज्ञानयोगबलोत्कटा: ॥ ११२१ ॥

छत्राकारास्तु तेषां वै गृहा रत्नविचित्रिता: ।

अन्येषां तु कूर्माकारा उक्ता: ॥

गतमेतत् । अथैषाम्—

उपरिष्टाद्भवेन्माया.............

तां च ते—

...............कथयामि समासत: ॥ ११२२ ॥

व्याप्य या वै त्वधोऽध्वानं वैश्वरूप्येण संस्थिता ।

व्याप्यातिमात्रमाप्य, आकलादिक्षित्यन्तं सर्वमिति व्युत्पत्त्या, न च भेदेनात्र व्याप्यव्यापकभाव:, अपित्वभेदेनेत्याशयेन व्याप्य विश्वं स्थितेत्युक्तम् । समासत इति सङ्क्षिप्तभुवनेशप्रतिपादनाशयेन ॥

सबके सब—

योगैश्वर्य के बल से युक्त हैं ॥ -११२१- ॥

इनकी विशेषताओं को बतलाते हैं—

रागतत्त्व में ज्ञानबल और योगबल से उत्कट (ये रुद्र) रक्त वर्ण के बतलाये गये हैं । उनके घर चित्र-विचित्र रत्नों से भरे हुए तथा छाते के आकार के हैं ॥ -११२१-११२२- ॥

अन्य (तत्त्वों में रहने वाले रुद्रों) के (घर) कूर्म के आकार वाले बतलाये गये हैं ॥

नियति से लेकर कला तत्त्व तक की चर्चा समाप्त हुई । अब इनके—

ऊपर माया तत्त्व है ॥ -११२२- ॥

और उसको मैं तुमको—

संक्षेप में बतला रहा हूँ । यह नीचे के अध्वा को व्याप्त कर विश्वरूप में स्थित है ॥ -११२२-११२३- ॥

व्याप्त कर = अतिक्रान्त मात्रा में प्राप्त कर । कला तत्त्व से लेकर पृथिवीपर्यन्त सबको एक रूप से न कि भेद से यहाँ व्याप्यव्यापक भाव है । अभेद

तदाह—

तत्र रुद्रा महाभागा द्वादशैव महाबलाः ॥ ११२३ ॥

प्रधानभूताः स्थिताः । महाबला इति परमेशज्ञानं विना दुष्परिहराः ॥ ११२३ ॥

तानेतान् पुटविभागेन दर्शयति—

गहनश्च असाध्यश्च तथा हरिहरः प्रभुः ।
दशेशानश्च देवेशि त्रिगलो गोपतिस्तथा ॥ ११२४ ॥
अधःपुटे तु विज्ञेया मायातत्त्वे वरानने ।

एते षडित्यर्थः ॥

क्षेमेशो ब्रह्मणः स्वामी विद्येशानस्तथैव च ॥ ११२५ ॥
विद्येशश्च शिवश्चैव अनन्तः षष्ठ उच्यते ।
ऊर्ध्वमायापुटस्थास्तु रुद्रा एते प्रकीर्तिताः ॥ ११२६ ॥
एषां मध्ये तु भगवाननन्तेशो जगत्पतिः ।

श्रीमतङ्गशास्त्रे पुनर्मध्यपुटेऽपि—

'यत्रासौ विग्रहेशानः स्थितः परमदुर्जयः' (१।८।८३)

रूप से (व्याप्त होने के कारण ही) 'विश्व को व्याप्त कर स्थित है'—ऐसा कहा गया । समासतः = भुवनेशों के संक्षिप्त प्रतिपादन के आशय से ॥

वह बतलाते हैं—

वहाँ पर महा बलशाली और महा ऐश्वर्यवान् बारह रुद्र प्रधान होकर स्थित है ॥ -११२३ ॥

प्रधान होकर स्थित हैं—यह शेष है । महाबली का अर्थ है—परमेश्वर के ज्ञान के बिना अपरिहार्य (= शोधित न होने वाले) ॥ ११२३ ॥

उनको पुटविभाग के अनुसार दिखलाते हैं—

हे देवेशि ! हे वरानने ! गहन, असाध्य, हरिहर, दशेशान, त्रिगल और गोपति, इन छह को मायातत्त्व में अधःपुट में स्थित जानना चाहिये ॥ ११२४-११२५- ॥

अर्थात् इन छः को ॥

क्षेमेश, ब्रह्मस्वामी, विद्येशान, विद्येश, शिव और अनन्त ये छः ऊर्ध्व मायापुट में रहने वाले रुद्र कहे गये हैं । इनके मध्य में भगवान् जगत् के स्वामी अनन्तनाथ रहते हैं ॥ -११२५-११२७- ॥

श्री मतङ्गशास्त्र में मध्यपुट में भी—

'यत्र शर्वो भवश्चैव उग्रो भीमश्च वीर्यवान् ।
भस्मान्तको दुन्दुभिश्च श्रीवत्सश्च महाबलः ॥' (१।८।८५)

इति ग्रन्थेनाष्टकमुक्तम् । श्रीपूर्वशास्त्रे (५।२८-२९) तु महादेवाद्यङ्गुष्ठमात्र-मण्डलेश्वराष्टकमेव मायायामुक्तमिति तन्त्रप्रक्रियाभेदः ।

एष चानन्तनाथः—

उद्भवं भावयित्वा तु स्वेच्छया कुरुते प्रभुः ॥ ११२७ ॥

यस्य स्वकर्मपरिपाकाद्यादृगुद्भवः स्थावराद्यात्मक उचितस्तं तस्य भावयित्वा विचार्य स्वेच्छया परमेशेच्छाचेष्टितस्वेच्छामात्रेण, न तु कुम्भकारवत् सहकार्याद्य-पेक्ष्य कुरुते, यतोऽसौ प्रभुरियत्यध्वनि प्रभवनशीलः ॥ ११२७ ॥

किं चायम्—

सर्वज्ञः सर्वकर्ता च निग्रहानुग्रहे रतः ।

'जहाँ परम दुर्जय विग्रहेशान स्थित हैं ।' (म.शा. १।८।८३)

ऐसा प्रारम्भ कर—

'जहाँ शर्व, भव, उग्र, वीर्यवान्, भीम, भस्मान्तक, दुन्दुभि और महाबली श्रीवत्स (रहते हैं) ।' (म.शा. १।८।८५)

इस ग्रन्थ के द्वारा आठ की संख्या में कहे गये हैं ।

श्रीमालिनीविजय तन्त्र में माया से महादेव से लेकर अङ्गुष्ठमात्र पर्यन्त (मा.वि. तं. ५।२८-२९) आठ मण्डलेश्वर ही कहे गये हैं । इस प्रकार तन्त्रप्रक्रियाओं में परस्पर भेद है ।

और यह अनन्तनाथ—

उद्भव का भावन कर स्वेच्छा से (सृष्टि) किया करते हैं क्योंकि वे प्रभु हैं ॥ -११२७ ॥

जिस (जीव) का उसके अपने कर्मों के पारिपाक के कारण जैसा उद्भव = स्थावर आदि के रूप में उचित जन्म, होने वाला होता है उस (जीव) के उस (= उद्भव) की भावना = विचारणा, कर परमेश्वर की इच्छा के चेष्टित स्वेच्छामात्र से, न कि कुम्हार की तरह सहकारी कारणों की सहायता से, जन्म आदि करते हैं क्योंकि वह प्रभु = अध्वा के विषय में प्रभवनशील हैं ॥ ११२७ ॥

और भी यह—

सर्वज्ञ और सर्वकर्त्ता होते हुए निग्रह और अनुग्रह में लगे रहते हैं ॥ ११२८- ॥

कलादिक्षित्यन्तं सर्वं जानाति करोति च, तत्रैव आयातशक्तिपातानामितरेषां चानुग्रहं निग्रहं च करोति ॥

तदित्यम्—

प्रथमेन तु भेदेन रुद्रा द्वादश कीर्तिताः ॥ ११२८ ॥

इह—

'अतः परं भवेन्माया सर्वजन्तुविमोहिनी' (१०।११३८)

इति वक्ष्यमाणदृष्ट्या पारमेश्वरी शक्तिर्माया । सा तत्त्वरूपतया ग्रन्थिरूपतया च द्विधा स्फुरिता । तत्र तत्त्वरूपया—

'माया तु कोटिधा व्याप्य स्थिता सर्वं चराचरम्' (१०।६७१)

इति तथा—

'व्याप्य या वै त्वधोध्वानं वैश्वरूप्येण संस्थिता' (१०।११२३)

इति या उक्ता, तस्यामूर्ध्वाधरपुटात्मककाण्डरूपत्वमस्ति । तत्र पुटद्वये मायायाः प्रथमेन तत्त्वात्मना भेदेन द्वादश रुद्राः प्रकीर्तिता विभागेनावस्थिता उक्ताः ॥ ११२८ ॥

यस्त्वस्या निःसंख्यावान्तरभेदभिन्नकलादिक्षित्यन्ततत्त्वसन्ततिस्रोतोभेदप्रसूतिहेतुः

कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त सबको जानते हैं और सबकी रचना करते रहते हैं । उसी में शक्तिपातप्राप्त लोगों का अनुग्रह और अन्य लोगों का निग्रह करते हैं ॥

तो इस प्रकार—

प्रथम भेद से बारह रुद्र कहे गये ॥ -११२८ ॥

इस क्रम में—

'इसके बाद समस्त जीवों को मोह में डालने वाली माया है ।' (१०।११३८)

इस वक्ष्यमाण दृष्टि के अनुसार पारमेश्वरी शक्ति माया है । वह तत्त्व के रूप में और ग्रन्थि के रूप में दो प्रकार से स्फुरण करती है । उनमें से तत्त्व रूप से—

'माया करोड़ों प्रकार से चर-अचर को व्याप्त कर स्थित है ।' (१०।६७१)

तथा—

'जो नीचे के अध्वा को व्याप्त कर विश्व रूप से स्थित है ।' (१०।११२३)

जो कही गयी उसमें ऊपर और नीचे के काण्ड (= खण्ड) रूप में वह स्थित है । माया के उन दो पुरों में प्रथम तत्त्वरूप भेद से बारह रुद्र कहे गये हैं = विभाग पूर्वक स्थित कहे गये हैं ॥ ११२८ ॥

शक्तेः किञ्चिदुच्छूनतेवाम्नातो ग्रन्थ्यात्मा स्थूलस्वभावः, असौ सुसूक्ष्मतमसत्त्वरजस्तमोरूपतयोर्ध्वमध्याधरग्रन्थिभेदेन तालुग्रन्थिसमानरूपेण त्रिधाऽवस्थितः । यथोक्तं प्राक्—

'अधश्छादनमूर्ध्वं च सितरक्तं विनिर्दिशेत् ।
मध्ये तमो विजानीयाद् गुणास्त्वेते व्यवस्थिताः ॥'(२।६६)

इति । तत्र त्रिभेदे ग्रन्थ्यात्मनि रूपे रुद्राणां विभागेन स्थितिमाह—

अस्मिंस्तु ये यथा रुद्रा मायातत्त्वे व्यवस्थिताः ।
तथाहं कथयिष्यामि भेदत्रयविभागशः ॥ ११२९ ॥

अस्मिन्निति प्रोक्तकलादितत्त्वस्रोतःसन्तानप्रसूतिहेतौ ग्रन्थ्यात्मनि मायीये रूपे ये गोपत्याद्या अनन्ताद्या यथा येन क्रमेण स्थिताः, तथा भेदत्रयविभागश इति सत्त्वादिग्रन्थिरूपेण भेदेन वर्णयिष्यामि ॥ ११२९ ॥

तत्र—

गोपतिश्च ततो देवि अधोग्रन्थौ व्यवस्थितः ।

इसका एक स्थूल स्वभाव भी है । वह असंख्य अवान्तर भेद से भिन्न कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्वपरम्परा के स्रोतभेद का मूल कारण, शक्ति की किञ्चित् उच्छूनता के समान कहा गया ग्रन्थिरूप है । यह स्वभाव सुसूक्ष्मतम सत्त्व रजस् और तमस् रूप में ऊर्ध्व मध्य और अधर ग्रन्थि के भेद से तालुग्रन्थि के समान रूप से तीन प्रकार से स्थित है । जैसा कि पहले कहा गया—

'नीचे के और ऊपर के छादन (= गुणों) को श्वेत एवं रक्त समझना चाहिये । मध्य में तमोगुण को (काला) समझना चाहिये । इस प्रकार ये गुण व्यवस्थित हैं ।' (२।६६)

माया के उस तीन भेद वाले ग्रन्थि वाले रूप में रुद्रों की स्थिति विभागपूर्वक बतलाते हैं—

इस माया तत्त्व में जो रुद्र जिस प्रकार व्यवस्थित हैं तीन भेद के विभाग के अनुसार मैं उनको उसी प्रकार बतलाऊँगा ॥ ११२९ ॥

इसमें = उक्त कला आदि तत्त्वसमूह के विस्तार के प्रसव के कारणभूत, ग्रन्थिरूप मायीयरूप में, जो गोपति आदि तथा अनन्त आदि, जिस प्रकार = जिस क्रम से, स्थित हैं उस प्रकार । तीन भेदों के विभागानुसार = सत्त्व आदि ग्रन्थिरूप भेद के अनुसार वर्णन करूँगा ॥ ११२९ ॥

उनमें से—

हे देवि ! अधोग्रन्थि में गोपति रहते हैं ॥ ११३०- ॥

तत्र इति कलातत्त्वप्रतिपादितमहादेवादिरुद्रभुवनोर्ध्वं यो मायीयोऽधोग्रन्थिस्तत्र प्रागुक्त एव गोपतिः पररूपेण स्थितः ॥

तथा—

ग्रन्थ्यूर्ध्वे संस्थितो विश्वस्त्रिकलः क्षेम एव च॥ ११३० ॥
ब्रह्मणोऽधिपतिश्चैव शिवश्चेति स पञ्चमः ।

ग्रन्थ्यूर्ध्वं इति ऊर्ध्वग्रन्थावित्यर्थः । स इति प्रागुक्त एव । अपररूपेणेहायं विश्वाभिधो रुद्रः स्थितः, न त्वन्य इत्यर्थः ॥

किं च—

अध ऊर्ध्वमनन्तस्तु.............

अध इत्यधोग्रन्थेरूर्ध्वं यो ग्रन्थिस्तत्रानन्तः स्थित इत्यर्थः । एतच्च ग्रन्थितत्त्वात्मतया द्वित्वं मायायाः श्रीशिवतनौ—

'मायाबिलमिदमुक्तं परतस्तु गुहा जगद्योनिः ।
उत्पत्त्या तेष्वस्याः पतिशक्तिक्षोभमनुविधीयमानेषु ॥
योनिविवरेषु नानाकामसमृद्धेषु भगसंज्ञा ।'

इत्यादिग्रन्थेन गुरुभिर्दर्शितमिति । एतं व्याख्याक्रमं त्यक्त्वा यत्तु श्रीभुल्ल-

---

उसमें = कला तत्त्व में प्रतिपादित महादेव आदि रुद्रों के भुवन के ऊपर जो मायीय अधोग्रन्थि है, उसमें । पूर्वोक्त ही गोपति पररूप से स्थित है ॥

तथा—

ग्रन्थि के ऊर्ध्व में विश्व, त्रिकल, क्षेम, ब्रह्माधिपति तथा शिव ये पाँच (रुद्र) स्थित हैं ॥ -११३०-११३१- ॥

ग्रन्थि के ऊर्ध्व में = ऊर्ध्व ग्रन्थि में । वह = पूर्वोक्त । विश्व नामक रुद्र यहाँ अपर रूप में स्थित हैं । यह कोई दूसरा रुद्र नहीं है ॥

तथा—

अनन्त नीचे और ऊपर (उभयत्र स्थित हैं) ॥ -११३१- ॥

नीचे—नीचे की ग्रन्थि के ऊपर जो ऊर्ध्व ग्रन्थि है उसमें अनन्त स्थित हैं—यह अर्थ है । ग्रन्थि और तत्त्व के रूप में माया के दो प्रकार श्री शिवतनु शास्त्र में—

'यह मायाबिल पर रूप में संसार की कारणभूत गुहा कही गयी है । पति की शक्ति के क्षोभ के बाद विधीयमान एवं नाना कामनाओं को पूरा करने वाले उन योनिविवरों में इस (= ग्रन्थि) की उत्पत्ति होने से इस योनि का नाम भग है ।'

केन व्याख्यातं यथा परमेश्वरो लकुलेशाय ज्ञानं भेदेन प्रकाशितवानिति श्रीलकुलस्वच्छन्दप्रदर्शितस्थित्या द्विस्कन्धं पारमेश्वरज्ञानमिति द्विधा मायायां भुवनेशविभाग इह दर्शित इति, तद्युक्तमयुक्तं वेति सचेतसो जानन्ति ॥

यश्चायमनन्तभट्टारकाश्रयो मध्यमो ग्रन्थिरुक्तः—

............पाशाश्चैवात्र संस्थिताः ॥ ११३१ ॥

ते च—

पूर्वं वै कथिता देवि............

वैशब्द एवार्थे । पूर्वमेव पुरुषतत्त्वनिरूपणावसरे—

'अम्बा च सलिला ओघा' (१०।१०६९)

इत्यादिना तुष्टिसिद्ध्याद्या विद्येशपाशान्ता ये पाशा उक्ताः, त इह पररूपेणावस्थिता इत्यर्थः । माया हि सर्वेषां पाशानामुत्पत्तिभूः । तैस्त्वनन्त-प्रयुक्तैर्विशिष्टदेवतात्मभिः सूक्ष्मरूपैर्वामशक्त्याधिष्ठिता अणवो बध्यन्ते । बुद्धितत्त्वे तु तुष्टिसिद्ध्यादयः केचित्पाशाः स्थूलरूपाः स्थिताः, तदेषां विभवस्थान मित्युक्तप्रायम् ॥

इत्यादि ग्रन्थ के द्वारा बतलाये गये हैं । इस व्याख्या क्रम को छोड़ कर जो श्री भुल्लक ने व्याख्या की कि—परमेश्वर ने लकुलीशा को भेदपूर्वक ज्ञान का प्रकाशन किया इसलिये लकुलस्वच्छन्द की प्रदर्शित स्थिति के अनुसार परमेश्वर का ज्ञान दो स्कन्धों वाला है, इसलिये माया में भुवनेश का विभाग दो प्रकार से दिखलाया गया—यह व्याख्या समीचीन है या असमीचीन इसको सहृदय विद्वान् ही जानते हैं ॥

जो यह अनन्तनाथ वाली मध्यमग्रन्थि कही गयी—

समस्त पाश इसी में स्थित हैं ॥ -११३१ ॥

और वे—

हे देवि ! पहले ही कह दिये गये ॥ ११३२- ॥

'वै' शब्द 'एव' अर्थ में प्रयुक्त है । पहले ही—पुरुष तत्त्व के निरूपण के अवसर पर—

'अम्बा सलिला ओघा' (१०।१०६९)

इत्यादि से लेकर तुष्टि सिद्धि आदि तथा विद्येश पाश पर्यन्त जो पाश कहे गये वे यहाँ पररूप में स्थित हैं । माया समस्त पाशों की जन्मस्थली है । अनन्त के द्वारा प्रयुक्त विशिष्टदेवतारूपी उन सूक्ष्म पाशों के द्वारा वामाशक्ति से अधिष्ठित जीव बन्धन में डाल दिये जाते हैं । बुद्धि तत्त्व में तुष्टि सिद्धि आदि कुछ स्थूल

किं च—

..........अतो ऋषिकुलं भवेत् ।

यत्पूर्वं पाशमध्ये गुरुशिष्यात्मकपङ्क्तित्रयेण ऋषिकुलमुक्तम्, तदिह पाशानामुपरि स्थितम् ॥

किं चात्र—

योनिर्वागीश्वरी चैव यस्यां जातो न जायते ॥ ११३२ ॥

'वागेव विश्वा भुवनानि जज्ञे'[१]

इति स्थित्या योनिर्विश्वकारणं वागीश्वरी, अत्र सूक्ष्मेण रूपेण स्थिता, परेण शुद्धविद्यायां प्रतिपादयिष्यमाणत्वादपरेण सारस्वतभुवने प्रोक्तत्वात् । सर्वं हि स्थूलसूक्ष्मपररूपतया त्रिर्विभक्तं परमेश्वरशक्त्यात्मकं तत्र तत्र तथा तथावस्थितमेकादशे वक्ष्यति । कीदृशी वागीश्वरी?—इत्याह—यत्र यस्यां प्राङ्निर्णीतस्थित्या स्थूलसूक्ष्मपररूपायां जातो मन्त्रसंस्कृतिसम्पादितगर्भाधानादिसंस्कारेणोत्पन्नस्तत्र तत्र

पाश हैं इनका उत्पत्तिस्थान वह (= बुद्धितत्त्व) है—ऐसा प्राय: कह दिया गया है ॥

तथा—

इसके ऊपर ऋषि कुल स्थित है ॥ -११३२- ॥

पहले पाश के मध्य में गुरु शिष्य वाली तीन पंक्तियों के द्वारा जो ऋषि कुल कहा गया वह यहाँ पाशों के ऊपर स्थित है ॥

यहाँ पर—

वागीश्वरी योनि है जिसमें उत्पन्न होने पर जीव को पुन: जन्म नहीं लेना पड़ता ॥ -११३२ ॥

'वाग् ने ही सम्पूर्ण भुवनों को उत्पन्न किया ।' (वा.प.टी. १।१२०)

इस स्थिति के अनुसार योनि अर्थात् विश्व की कारणभूता वागीश्वरी यहाँ (= पाशों के ऊपर) सूक्ष्मरूप में स्थित है । क्योंकि पररूप से यह शुद्धविद्या में है-ऐसा आगे बतलाया जायेगा और अपररूप से सारस्वत भुवन में है—ऐसा कहा जा चुका है । परमेश्वर की शक्तिरूप समस्त विश्व स्थूल सूक्ष्म और पर रूप से तीन रूपों में विभक्त होकर स्थान-स्थान पर भिन्न-भिन्न रूपों में स्थित है—यह बात ग्यारहवें पटल में कही जायेगी । वह वागीश्वरी कैसी है ?—यह बतलाते हैं—पूर्ववर्णित स्थिति के अनुसार स्थूल सूक्ष्म पर रूप जिस वागीश्वरी में, उत्पन्न हुआ

---

१. वाक्यपदीये स्वोपज्ञटीकायां 'शब्दस्य परिणामोऽयम्' इति श्लोकव्याख्यानावसरे समुद्धृतेयमृक् सम्पूर्णा ।

तत्त्वे प्रागर्जिततत्तत्कर्मफलोपभोगाय नानायोनिभेदेन सृष्टो न जायत इति पाशशुद्धेर्योजनिकायाश्च सम्पन्नत्वात् परशिवैक्यप्राप्त्या मुच्यत इत्यर्थ: ॥ ११३२ ॥

किं चात्र मायायाम्—

ओङ्कारसाध्यधातारो दमनेशस्तत: परम् ।
ध्यानं भस्मेशमेवाहु:..........

ओङ्काराभिधान् साध्यादीन् पञ्च रुद्रानाहु:, अन्ये तु ऋषिकुलं यदनन्तरमुक्तम्, तदेवोङ्कारसाध्यादिनामषट्केन विभक्तमिति व्याख्यातवन्त: ॥

किं च—

..........प्रमाणानि तदूर्ध्वत: ॥ ११३३ ॥

हेयोपादेयाशेषप्रमासाधकत्वात् प्रमाणशब्दाभिधेया अष्टौ रुद्रा: प्रणवाख्यरुद्रपञ्चकावरणस्योपरि स्थिता: ॥ ११३३ ॥

तानि प्रमाणान्युद्दिशति—

= मन्त्र के संस्कार से सम्पादित गर्भाधान आदि संस्कार से उत्पन्न होकर पूर्व जन्मों में अर्जित तत्तत कर्मफलों के उपभोग के लिये अनेक योनिभेद से सृष्ट हुआ जीव उन-उन तत्त्वों में जन्म नहीं लेता । इस प्रकार पाशशुद्धि और योजनिका दीक्षा के सम्पन्न होने के कारण परशिवैक्य की प्राप्ति होने से जीव मुक्त हो जाता है—यह अर्थ है ॥ ११३२ ॥

इस माया में—

ॐकार, साध्य, धाता, दमनेश, ध्यान और भस्मेश (नामक रुद्रों को स्थित बतलाते हैं) ॥ ११३३- ॥

ॐकार नामक साध्य आदि पाँच रुद्रों को बतलाते हैं ।[१] अन्य विद्वानों ने—जिसके बाद ऋषिकुल कहा गया वही ॐकार साध्य आदि छ: नामों से विभक्त है—ऐसी व्याख्या की ॥

उसके ऊपर प्रमाणों की सत्ता है ॥ -११३३ ॥

हेय उपादेय समस्त प्रमा का साधक होने के कारण प्रमाण शब्द से अभिधेय आठ रुद्र प्रणव नामक पाँच रुद्रों के ऊपर स्थित हैं ॥ ११३३ ॥

उन प्रमाणों के नाम बतलाते हैं—

---

१. क्षेमराज की यह व्याख्या असमीचीन लगती है क्योंकि फिर 'ॐकारसाध्यधातार:' में बहुवचन असङ्गत होने लगेगा । इसलिये ये रुद्र पाँच नहीं वरन् छ: हैं अन्य विद्वानों का भी यही मत है ।

पञ्चार्थं गुह्यमेवाहू रुद्राङ्कुशमतः परम् ।
हृदयं लक्षणं चैव व्यूहमाकर्षमेव च ॥ ११३४ ॥
आदर्शं च तथैवेह अष्टमं परिकीर्तितम् ।

एते रुद्रा एतन्नामकपाशुपतशास्त्रावतारकाः । तत्र च हृदयाख्यं यत्प्रमाणमुक्तम्, तस्यान्तर्भूतानि यानि पुरकल्पकनकशालानिरुत्तरविश्वप्रपञ्चाख्यानि षट्क्रियाप्रधानानि प्रमाणानि प्रोक्तज्ञानप्रधानप्रमाणाष्टकविलक्षणानि हृदयाख्यात् प्रमाणाल्लकुशशिष्येण मुसुलेन्द्रेणोद्धृत्य आरुरुक्षूणां प्रथमं प्रदर्शितानि, न तानीह पृथग्गणितानि । एवम्—

'लाकुलं मौसुलं चैव द्विधा तन्त्रं प्रकीर्तितम्' (११।७१)

पाशुपतं यत्, तदत्र मायान्तरपरतया स्थितम्, परं पदं त्वेषामीश्वरतत्त्वमिति वक्ष्यति ।

अत एव—

'सर्वाध्वनौ विनिर्मुक्तं शैवानां तु परं पदम्' (११।७४)

इति वक्ष्यमाणस्थित्यैव पाशुपतेभ्यः शैवानां महदन्तरमित्युक्तम् ॥

ये प्रणवप्रमाणाभिधा रुद्रा उक्ताः—

पञ्चार्थ, गुह्य, रुद्राङ्कुश, हृदय, लक्षण, व्यूह, आकर्षण और आदर्श नाम से आठ रुद्र कहे गये हैं ॥ ११३४-११३५- ॥

ये रुद्र इन नाम वाले पाशुपत शास्त्रों के अवतारक हैं । उनमें जो हृदय नामक प्रमाण कहा गया है उसके अन्तर्गत जो पुर, कल्प, कनक, शाला, निरुत्तर और विश्वप्रपञ्च नामक छः क्रियाप्रधान प्रमाण हैं तथा प्रोक्त ज्ञानप्रधान आठ प्रमाणों से विलक्षण हैं साथ ही हृदय नामक प्रमाण से लकुश के शिष्य मुसलेन्द्र के द्वारा उद्धृत कर आरोहेच्छुओं को पहले बतला दिये गये, उनकी यहाँ पृथक् गणना नहीं की गयी । इस प्रकार—

'लाकुल और मौसुल (नाम से) तन्त्र दो प्रकार का कहा गया है ।'(११।७७)

(से ज्ञाप्य) जो पाशुपततन्त्र है वह यहाँ मायान्तरपरक है । इनका पर पद तो ईश्वर तत्त्व है—यह आगे बतलायेंगे ।

इसीलिये—

'शैवों का परम पद समस्त अध्वाओं से रहित है ।' (११।७४)

इस वक्ष्यमाण स्थिति के अनुसार शैवों का पाशुपतों से बहुत अधिक अन्तर है—यह कहा गया ॥

जो प्रणवप्रमाण नामक रुद्र कहे गये—

एते परिवृता देवि रुद्रकोटिसहस्रकैः ॥ ११३५ ॥
नानावर्णविचित्राश्च नानाभरणभूषिताः ।
नानानारीसहस्रैस्तु रमन्ते पत्युरिच्छया ॥ ११३६ ॥

पत्युरनन्तस्य । अतश्च स एव लकुलेशादीनां गुरुः ॥ ११३६ ॥

किं च—

त्रिनेत्राः शूलिनः सर्वे जटाचन्द्रकिरीटिनः ।
अलुप्तशक्तिविभवा मायातत्त्वाधिकारिणः ॥ ११३७ ॥
भुवनेषु विचित्रेषु योन्याकारेषु संस्थिताः ।

एवं चैतदाराधका एतत्पदप्राप्तिभाज एषामधिकारसमाप्तौ सह मुच्यन्त इत्यर्थलभ्यम् ॥

एवं मायायास्तत्त्वरूपतां ग्रन्थिरूपतां च निर्णीय शक्तिरूपतामप्याख्यातुमाह—

अतः परं भवेन्माया सर्वजन्तुविमोहिनी ॥ ११३८ ॥

सर्वान् जन्तून् जायमानान् सृज्यमानान् मोहयति स्वस्वरूपाख्यातिस-

---

हे देवि! वे एक हजार करोड़ रुद्रों से परिवृत हैं । ये रुद्र अनेक वर्ण वाले होने के कारण विचित्र तथा अनेक आभूषणों से अलङ्कृत हैं । पति की इच्छा से वे अनेक हजारों (अथवा अनेक प्रकार की हजारों) स्त्रियों के साथ रमण करते रहते हैं ॥ -११३५-११३६ ॥

पति की = भगवान् अनन्तनाथ की । इसलिये वे (अनन्तनाथ) ही लकुलीश आदि के गुरु हैं ॥ ११३६ ॥

और भी—

ये सब रुद्र तीन नेत्रों वाले, त्रिशूलधारी, जटा एवं उसमें चन्द्रमा को धारण करने वाले, अलुप्त शक्तिवैभव वाले, माया तत्त्व के अधिकारी हैं । ये योनि के आकार वाले विचित्र भुवनों में स्थित हैं ॥ ११३७-११३८-॥

इस प्रकार इन रुद्रों के आराधक इनके पद को प्राप्त होते हैं और इनका अधिकार समाप्त होने पर उन रुद्रों के साथ मुक्त हो जाते हैं—यह अर्थात् समझना चाहिये ॥

माया की तत्त्वरूपता और ग्रन्थिरूपता को बतला कर अब उसकी शक्तिरूपता को बतलाने के लिये कहते हैं—

इसके ऊपर समस्त जीवों को मोह में डालने वाली माया का स्थान आता है ॥ -११३८ ॥

तत्त्वाणवमलभाजः करोति । एवं चाभिदधन्मलस्यावास्तवतेत्याह, तच्चास्माभिः पूर्वमेव निर्णीतम् ॥ ११३८ ॥

किं चान्यत्—

निर्वैरपरिपन्थिन्या तया भ्रमितबुद्धयः ।
इदं तत्त्वमिदं नेति विवदन्तीह वादिनः ॥ ११३९ ॥

विवदन्ते परस्परविरुद्धं जल्पन्ति, अत एव वादिनो वादमात्रे पर्यवसिताः, न तु तत्त्वज्ञाने । विमतावात्मनेपदिनो वदेः परस्मैपदं व्यत्ययात् ॥

अतश्च एतानसौ—

सत्पथं तु परित्यज्य नयति द्रुतमुत्पथम् ।

सत्पथः पारमेश्वरशास्त्राणि, इतरदसत्पथः ॥

एतदेव व्यनक्ति—

गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमाः ॥ ११४० ॥
असद्युक्तिविचारज्ञाः शुष्कतर्कावलम्बिनः ।

जायमान अर्थात् सृज्यमान सब जन्तुओं को मुग्ध करती है = अपने स्वरूप के अज्ञानरूप आणवमल वाला बनाती है । यह कहते हुए ग्रन्थकार यह बतलाते हैं कि मल अयथार्थ है यह बतलाते हैं । इस तथ्य को हमने पहले ही स्पष्ट कर दिया है ॥ ११३८ ॥

तथा—

बिना वैर के विघ्न डालने वाली इस (माया) के द्वारा भ्रमितबुद्धि वाले जीव इस संसार में—यह तत्त्व है और यह नहीं—इस प्रकार से विवाद करते रहते हैं ॥ ११३९ ॥

विवाद करते रहते हैं = परस्पर विरुद्ध बोलते रहते हैं । इसीलिये वे वादी हैं अर्थात् विवाद करना ही उनका अन्तिम उद्देश्य है न कि तत्त्वज्ञान । 'वद' धातु से विमति अर्थ में (भासनोपसम्भाषा० पा.सू. १।३।४७) के अनुसार आत्मनेपद होना चाहिये किन्तु व्यत्यय के कारण परस्मैपद हो गया है ॥

इसलिये यह माया इन (जीवों) को—

सत्पथ से हटा कर अतिशीघ्र असन्मार्ग पर ले जाती है ॥ ११४०- ॥

सत्पथ का अर्थ है—पारमेश्वर शास्त्र । अन्य शास्त्र असत्पथ हैं ॥

इसी को स्पष्ट करते हैं—

जो नराधम गुरु, देव, अग्नि और शैवशास्त्र के प्रति भक्तिभाव नहीं

भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ॥ ११४१ ॥

असद्युक्तिः पारमेशपराद्वयागमबाह्यस्तर्कः । अमोक्षः परमाद्वैतचिदानन्दघन-परमेश्वरैक्यव्याप्तेरन्यत् सर्वमेव ॥ ११४१ ॥

कथमियं परिहार्या स्यात् ?—इत्याह—

शिवदीक्षासिना च्छिन्ना न प्ररोहेत्तु सा पुनः ।

शिवेन स्वच्छस्वतन्त्रचिदानन्दघनेन शङ्करेण प्रोक्ता या ज्ञानयोगक्रियाप्रधाना नानाप्रकारा दीक्षा,

'दीयते ज्ञानसद्भावः'

इति प्राङ्[1]निरूपितरूपा, सैव पाशच्छेदकत्वादसिरिव, तेन यस्य च्छिन्नेति स्वातन्त्र्यशक्त्यात्मपरस्वरूपप्रत्यभिज्ञानेनोन्मूलिता, तं प्रति न कदाचित् प्ररोहतीत्यर्थः ।

एवं मायायास्तत्त्वग्रन्थिशक्त्यात्मकं त्रिविधं रूपमुक्तम् । तत्र तत्त्वात्मकम-

---

रखते; असद् युक्ति असद् विचार वाले हैं तथा शुष्कतर्क का सहारा लेकर (सत् शास्त्र का खण्डन करते रहते हैं), यह माया उनको अमोक्ष में मोक्ष की कामना से भ्रमित करती रहती है ॥ -११४०-११४१ ॥

असद् युक्ति = पारमेश पराद्वय सम्बन्धी आगम से अतिरिक्त तर्क । अमोक्ष परम अद्वैत चिदानन्दघन परमेश्वर की ऐक्यव्याप्ति से भिन्न सब (अमोक्ष है) ॥ ११४१ ॥

इस (माया) का परिहार कैसे होगा ?—यह बतलाते हैं—

शैवी दीक्षारूपी खड्ग से कट जाने पर यह पुनः प्ररोह नहीं करती ॥ ११४२- ॥

शिव = स्वच्छस्वतन्त्र चिदानन्दघन शङ्कर, के द्वारा उक्त जो ज्ञान योग अथवा क्रिया वाली नाना प्रकार की दीक्षा जिसका निरूपण पहले—

'दीयते ज्ञानसद्भावः' (५।८८)

आदि के द्वारा किया जा चुका है वही पाश को काटने के कारण खड्ग के समान है । उसके द्वारा जिसकी (यह माया) काट दी गयी अर्थात् स्वातन्त्र्य शक्तिरूप पर स्वरूप के प्रत्यभिज्ञान से उन्मूलित कर दी गयी, उसके प्रति कभी भी पुनः उत्पन्न नहीं होती ।

इस प्रकार माया के तत्त्वात्मक, ग्रन्थ्यात्मक और शक्त्यात्मक तीन रूप कहे

---

१. पूर्वं (५।८८) दीक्षासम्बन्धिसौगतमतखण्डनावसरे ।

शेषविश्वव्यापकाण्डरूपसन्निभम्, ग्रन्थ्यात्मकं त्रिविधम्, शाक्तं तु स्वातन्त्र्यशक्तिसारमेव । तथात्वेनापरिज्ञायमानत्वान्मोहितान् प्रति मायेत्युच्यते । तदेवमियमीश्वरप्रयुक्ता निगूहितस्वस्वरूपान् पुंसः ज्ञातृकर्तृरूपान् स्वैः कलादिनियत्यन्तैस्तत्त्वैः किञ्चित्कर्तृत्वकिञ्चिज्ज्ञातृत्वाभिलाषकलननियमनैर्मितभोग्योपभोगभाजः प्रोक्तपाशशतपाशितान् विधाय किञ्चिदंशात्मभोग्यसामान्यरूपे प्रधानाशये तथा निक्षिपति, येन तत्कार्यगुणादिक्षित्यन्तस्थूलपाशपाशिता योनेर्योन्यन्तरमेवैतेऽनुसरन्ति । अतः पारमेश- दीक्षायां समुच्छेद्यैव । इयं चेयद्विश्वव्यापिकापि मायाऽख्यातिरूपापि पारमेश्वरप्रकाश- भित्तावेव प्रकाशत इति । एतन्मुखेन या विश्वप्रकाशिका पारमेश्वरप्रकाशभित्तिः, सा शुद्धविद्योच्यते । ततस्तां निरूपयति—

अथोपरि महाविद्या सर्वविद्याभवोद्भवा ॥ ११४२ ॥
जगतः प्रलयोत्पत्तिविभूतिनिधिरव्यया ।

'दशकोटिगुणा विद्या मायां व्याप्य व्यवस्थिता' (१०।६७१)

इत्युक्तत्वादशुद्धविद्यावैलक्षण्यतो महत्यशेषवेदनरूपत्वाद्विद्या सर्वासां विद्याराज्ञी-

---

गये । उनमें से तत्त्वात्मक रूप सम्पूर्ण विश्व में व्यापक अण्डस्वरूप है । ग्रन्थ्यात्मक रूप तीन प्रकार का है और शाक्तरूप परमेश्वर के स्वातन्त्र्य शक्ति का सार है । माया का इस रूप में ज्ञान न होने से जो लोग मोह में पड़े हैं उनके लिये यह माया कही जाती है । तो इस प्रकार ईश्वर से प्रायोजित यह निगूहित स्वस्वरूप वाले अत एव ज्ञाता एवं कर्त्ता रूप पुरुषों को कला से लेकर नियति पर्यन्त अपने तत्त्वों के द्वारा किञ्चितकर्तृत्व, किञ्चितज्ञातृत्व, अभिलाषा, कलन और नियमन के द्वारा परिमित भोग्य के उपभोगी तथा उक्त सैकड़ों पाशों से बद्ध कर किञ्चित् अंशात्मक भोग्यसामान्यरूप प्रधान आशय में उस प्रकार फेंक देती है जिससे उस (प्रधान के) कार्य गुण से लेकर पृथिवी तक स्थूलपाश से पाशित ये पुरुष एक योनि से दूसरी योनि में जन्म लेते रहते हैं । इसलिये पारमेश्वरी दीक्षा में ही यह उच्छेद्य हैं । यह माया विश्वव्यापिनी होती हुई भी अख्याति रूपा होती हुई भी पारमेश्वर के प्रकाशरूपी भित्ति (= दीवाल, आधार) पर ही प्रकाशित होती है । इसके द्वारा जो विश्वप्रकाशिका परमेश्वर प्रकाशरूपी भित्ति है, वह शुद्धविद्या कही जाती है । इसलिये उसका निरूपण करते हैं—

इसके ऊपर महाविद्या (= शुद्धविद्या) है जहाँ से समस्त विद्याओं एवं भवों का उद्भव होता है । यह संसार के प्रलय एवं उत्पत्ति की विभूति की अव्यय निधि है ॥ -११४२-११४३- ॥

'दश करोड़ गुना विस्तृत शुद्ध विद्या माया को व्याप्त कर स्थित है ।'

इस कथन से अशुद्धविद्या से विलक्षण होने के कारण तथा महतत्त्व (१०।६७१) का सम्पूर्णतया ज्ञान करने के कारण यह विद्या (= शुद्धविद्या) समस्त

प्रभृतीनां दिव्यानां भवानां च प्रणवोपलक्षितानां सर्वमन्त्राणामुद्भव उल्लासो यस्याः मायादितत्त्वतत्तत्प्रमातृभुवनादिरूपस्य जगतः प्रलयोत्पत्त्योर्विभूतौ च—

'विद्यामण्डलराजानां मण्डलानां विभूतयः ।
न शक्याः परिसङ्ख्यातुं मन्त्राणां च तथात्मनाम् ॥'

इति स्थित्याऽऽत्मभोगसम्पत्तौ निधिराश्रयः, विश्वसर्गस्थितिसंहारकारिणीत्यर्थः, स्वयं तु प्रकाशरूपतयाऽन्यथा । यत्त्वेकादशेऽत्रापि संहारादि वक्ष्यते, तत्सङ्कोचापेक्षया ॥

किं च—

सा एव परमा देवी वागीशीति निगद्यते ॥ ११४३ ॥

परमेति मायाया उक्ताया भेदप्रथोत्थापिकाया इयमन्याऽभेदप्रथोन्मीलनप्रथमसोपान कल्पा वागीशस्य परपरामर्शात्मनो महेश्वरस्येयं वागीशीति निरुच्यते ॥११४३॥

अत एव—

अष्टवर्गविभिन्ना च विद्या साऽभ्मातृकैव तु ।

विद्याराज्ञी आदि तथा दिव्य भवों = प्रणव से उपलक्षित समस्त मन्त्रों, का जहाँ से उल्लास होता है, वह है । इसीलिये मन्त्रात्मक समस्त अधिष्ठाताओं के निर्माण आदि के द्वारा उन (मन्त्र आदि) के द्वारा वह (= जगत्) अधिष्ठेय है । माया आदि तत्त्व और तत्तत् प्रमाता, भुवन आदि वाले इस जगत् के प्रलय और उत्पत्ति तथा विभूति के विषय में—

'विद्या मण्डल राजाओं, मण्डलों, मन्त्रों एवं मन्त्रात्मक (अधिष्ठाताओं) की विभूतियों की गणना नहीं की जा सकती ।'

इस स्थिति के अनुसार आत्मभोग की सम्पत्ति के विषय में यह निधि = आश्रय है । अर्थात् यह शुद्धविद्या विश्व की सृष्टि स्थिति और संहार की विधायिका है । अन्यथा वह अपने स्वरूप में प्रकाशरूप है । और जो ग्यारहवें पटल में तथा यहाँ भी संहार आदि का वर्णन किया जायेगा वह सङ्कोच की अपेक्षा से ॥

तथा—

यही परमा देवी और वागीश्वरी भी कही जाती है ॥ -११४३ ॥

परमा—भेदप्रथा की उत्थापिका उक्त माया से यह अन्य (= भिन्न) है । अर्थात् यह अभेदप्रथा के उन्मीलन का प्रथम सोपान है । (वागीशी =) वागीश अर्थात् परपरामर्शात्मा महेश्वर से सम्बद्ध होने से यह वागीशी कही जाती है ॥ ११४३ ॥

इसीलिये—

वह परा विद्या आठ वर्गों के रूप में भिन्न होकर मातृका कही

अ-क-च-ट-त-प-य-शैरष्टाभिर्वर्गैर्भिन्ना न त्वभिन्नाऽनाहतपरामर्शमयत्वेन भिन्नाशेषविश्वावभासभाजो मन्त्रानुन्मीलयेत्, अत एव चेयं मातृका वाच्यवाचकाशेषविश्वहेतुत्वेऽपि पशुभिस्तथात्वेनापरिज्ञाता माता ॥

अथात्र—

भुवनानि प्रवक्ष्यामि यथानुपूर्वशः ॥ ११४४ ॥

तत्र—

वामा ज्येष्ठा तथा रौद्री काली विकरणी तथा।
बलविकरणी चैव बलप्रमथनी तथा ॥ ११४५ ॥
दमनी सर्वभूतानां तथा चैव मनोन्मनी ।

एताश्च श्रीमदानन्दभैरवे—

'वामया विसृजेत् सर्वं ज्येष्ठया पालयेत् पुनः ।
रौद्र्या लोकोपसंहारं कुरुते स्वेच्छया प्रभुः ॥
काल्या कलति भूतानि विकरण्या किरेत् कलाः ।
बलमप्यन्यया सर्वं बलं मथ्नाति चान्यया ॥

जाती है ॥ ११४४- ॥

अवर्ग-कवर्ग, चवर्ग—टवर्ग-तवर्ग-पवर्ग-यवर्ग तथा शवर्ग से भिन्न न कि अभिन्न है तथा अनाहत परामर्शमय होने से भिन्न समस्त विश्व का अवभासन कराने वाले मन्त्रों को उन्मीलित करती है । इसीलिये यह मातृका है अर्थात् वाच्यवाचक रूप समस्त विश्व का हेतु होते हुए भी पशुओं के द्वारा उस रूप में (= विश्व के हेतु रूप में) परिज्ञात नहीं है ॥

अब यहाँ—

यथावत् क्रम से भुवनों को बतलाऊँगा ॥ -११४४ ॥

वहाँ पर—

१. वामा, २. ज्येष्ठा, ३. रौद्री, ४. काली, ५. कलविकरिणी, ६. बलविकरिणी, ७. बलप्रमथनी, ८. सर्वभूतदमनी और ९. मनोन्मनी (ये नव शक्तियाँ विराजमान हैं) ॥ ११४५-११४६- ॥

श्रीमत् आनन्द भैरव में इनका वर्णन इस प्रकार किया गया है—

'परमेश्वर अपनी इच्छा से वामा शक्ति के द्वारा सबकी सृष्टि करते हैं; ज्येष्ठा से पालन और रौद्री के द्वारा संसार का संहार करते हैं । काली के द्वारा प्राणियों की कलना (= रचना) करते हैं । कलविकरिणी के द्वारा कलाओं का प्रसार बलविकरिणी से समस्त बल का (विकिरण करते हैं) । अन्य अर्थात् बलप्रमथनी के

दमन्या दमयित्वा तु मनः सङ्कल्परूपकम् ।
नयते परमं स्थानमुन्मन्या तु महेश्वरः ॥'

इति निरुक्ताः । विकरण्येति कलविकरण्या कलाः शक्तीर्विकिरेत् सर्वं स्वशक्त्यधिष्ठितं करोति । अन्यया बलविकरण्या सर्वत्र बलं स्वव्यापारकरणसामर्थ्यं विकिरेत् । अन्यया बलप्रमथन्या सर्वेषां रुद्रक्षेत्रज्ञानां बलं प्रमथ्नाति । दमयित्वेति समनान्तां भूमिमाविश्येत्येवमत्र सङ्गतिः । ये तु पूर्वमशुद्धविद्याया वामादयो नव देवाः स्त्रीलिङ्गपाठाद्वामाद्या वा नव शक्तय उक्ताः (१०।१११७-१८), त एतदंशावताररूपाः स्थूला बोद्धव्याः ॥

एताश्च—

तप्तचामीकराकाराः पञ्चवक्त्रास्त्रिलोचनाः ॥ ११४६ ॥
अमोघवीर्याः सर्वज्ञाः सर्वतः सर्वदा स्थिताः ।
सर्वज्ञानुगताः सर्वाः सर्वाभरणभूषिताः ॥ ११४७ ॥
सर्वलक्षणसम्पन्नाः सर्वैश्वर्यसमन्विताः ।

तप्तचामीकराकारा अतिदीप्ताः । लक्षणानि विज्ञानयोगरूपाणि । सर्वतः सर्वत्र सर्वकालं स्थिता एतदनधिष्ठितं न किमप्यस्तीत्यर्थः । ईदृश्योऽपि सर्वज्ञं महेश्वरमनुगतास्तेन शक्तिमताऽधिष्ठिताः । सर्वमेवाभरणं तेन भूषिता ।

द्वारा सबके बल का मन्थन कर देते हैं । दमनी के द्वारा सङ्कल्पात्मक मन का दमन कर मनोन्मनी शक्ति के द्वारा परम पद को ले जाते हैं ।'

विकरणी से = कलविकरणी से । कलाओं = शक्तियों का विकिरण करते हैं । बलविकरिणी = सबके अपने-अपने व्यापार के सम्पादन के सामर्थ्य का, विकिरण करते हैं । अन्य = बलप्रमथनी, के द्वारा समस्त रुद्रक्षेत्रज्ञों के बल का मन्थन कर देते हैं । दमन कर समनापर्यन्त भूमि में आवेश कर (मन का दमन करते हैं) यहाँ यह अन्वय है । पहले अशुद्ध विद्या में जो वाम आदि नव देवगण अथवा स्त्रीलिङ्ग पाठ से वामा आदि नव शक्तियों का निर्वचन किया गया (१०।१११७-१८), वे इनके अंशावताररूप स्थूल समझने चाहिये ॥

ये शक्तियाँ—

तप्त सुवर्ण के समान रूप वाली, पाँच मुखों तीन नेत्रों वाली, अमोघवीर्य वाली, सब की सब सर्वज्ञ सर्व सर्वदा वर्त्तमान रहती हैं । सर्वज्ञ परमेश्वर के अनुकूल ये सब समस्त प्रकार के आभूषणों से भूषित, सर्वलक्षणसम्पन्न और समस्त ऐश्वर्य से युक्त हैं ॥ -११४६-११४८- ॥

तप्त चामीकर के आकार वाली अर्थात् अत्यन्त चमक-दमक वाली । लक्षण = विज्ञान और योग रूप लक्षण । सर्वतः = सर्वत्र । सब समय = कुछ भी इनसे

प्रधानाः सप्त कोट्यस्तु मन्त्राणां या व्यवस्थिताः ॥ ११४८ ॥

तासां मध्यात्—

एकैकस्य परीवारो लक्षायुतसहस्रशः ।

एकैकस्येति मन्त्रस्य ॥

किं च—

पद्माकारेषु दिव्येषु क्रीडन्ति भुवनेषु ते ॥ ११४९ ॥

त इत्येकशेषाद्वामाद्याः शक्तयो मन्त्राश्च ॥

अत्रैव—

त्रिगुणी ब्रह्मवेताली स्थाणुमत्यम्बिका परा ।
रूपिणी मर्दिनी ज्वाला सप्तसङ्ख्यास्तदीश्वराः ॥ ११५० ॥
विद्याराज्ञ्यः समाख्याताः............

तेषां मन्त्राणां विद्यानां चेश्वराः प्रभवः, अत एव विद्यानां मन्त्राणां राज्ञ्य इत्युक्ताः ॥

अनधिष्ठित नहीं है । ऐसी होती हुई भी ये सर्वज्ञ = महेश्वर, के अनुगत है = शक्तिमान् उनके द्वारा अधिष्ठित हैं। समस्त आभरण = सर्वाभरण, उससे भूषित हैं॥

मन्त्रों की जो प्रधान सात कोटियाँ हैं ॥ -११४८ ॥

उनमें से—

एक-एक मन्त्र का परिवार लाख दश हजार और हजार (लोगों से भरा पूरा है) ॥ ११४९- ॥

एक-एक = मन्त्र का ॥

तथा—

ये पद्माकार दिव्य भुवनों में क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ -११४९ ॥

'ते' इस पद में 'पुमान् स्त्रिया' (पा.सू. १।२।६७) से एकशेष होने के कारण इसका अर्थ है—वामा आदि शक्तियाँ और मन्त्र ॥

यहीं पर—

त्रिगुणी, ब्रह्मवेताली, स्थाणुमती, अम्बिका, रूपिणी, मर्दिनी और ज्वाला ये सात संख्या वाली विद्याराज्ञियाँ तथा उनके ईश्वर स्थित कहे गये हैं ॥ ११५०-११५१- ॥

('तदीश्वराः' शब्द की व्याख्या करते हैं—) उन = मन्त्रों और विद्याओं के

अत एवैताः—

............दीक्षाकाले विशोधयेत् ।

एतच्छुद्धावेतदधिष्ठितसप्तकोटिसङ्ख्याकमन्त्रशुद्धिसम्पत्ते ॥

एवं मायान्ताशेषविश्वभेदसर्वज्ञमन्त्राश्रयभूता योक्ता शुद्धविद्या, सापि स्वाङ्गकल्पतयाऽहमिदं सर्वमिति स्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्याभासात्मनीश्वरतत्त्वे भित्तिभूते सति भाति, नहि भेदाभेदप्रकाशं भित्तिभेदं विना भेदसर्वज्ञतापि घटते । तत ईश्वरतत्त्वं दर्शयितुमाह—

बाह्ये तस्यैश्वरं तत्त्वं...............

तस्येति विद्यातत्त्वस्य । बाह्य इति तदेव व्याप्त्या परिवृत्य स्थितमित्यर्थः ॥

अतश्च—

...............भुवनान्यत्र मे शृणु ॥ ११५१ ॥

तत्र मुख्यभुवनावस्थितस्येश्वरस्य तावत् स्वरूपमाह—

अष्टविद्येश्वरैर्युक्तो वीतमायो निरञ्जनः ।

ईश्वर = प्रभु । इसीलिये ये विद्याओं और मन्त्रों की राज्ञी कही गयी हैं ॥

इसलिये—

दीक्षा काल में इनका विशोधन करना चाहिये ॥ -११५१- ॥

क्योंकि इनके शुद्ध होने पर इनके द्वारा अधिष्ठित सात करोड़ मन्त्रों की भी शुद्धि हो जाती है ॥

इस प्रकार मायापर्यन्त समस्त विश्वभेद एवं सर्वज्ञ मन्त्रों की आश्रयभूता जो शुद्धविद्या कही गयी वह भी स्वाङ्गकल्प होने के कारण 'अहम् इदं सर्वम्' (= मैं यह सब हूँ) इस प्रकार इदन्ता और अहन्ता के स्पष्ट सामानाधिरण्य वाले ईश्वर तत्त्व के आधार बनने पर ही आभासित होती है । भेदाभेदप्रकाश रूप आधारभेद के बिना भेद की सर्वज्ञता का होना असम्भव है । इस कारण ईश्वरतत्त्व को दिखलाने के लिये कहते हैं—

उसके बाहर ईश्वर तत्त्व है ॥ -११५१- ॥

उसके = शुद्धविद्या तत्त्व के । बाहर = वह ईश्वर तत्त्व ही बाहर-बाहर चारो ओर से शुद्धविद्या तत्त्व को ढँक कर स्थित है ॥

इसलिये—

इस (ईश्वर तत्त्व) में स्थित भुवनों को मुझसे सुनो ॥ -११५१ ॥

उनमें मुख्य भुवन में स्थित ईश्वर के स्वरूप को बतलाते हैं—

स्थितिसंहारकर्ता वै मोक्षैश्वर्यप्रदायकः ॥ ११५२ ॥

युक्तो वक्ष्यमाणक्रमेण परिवृतः । वीता माया यस्मात्, यतोऽयं भिन्नवेद्यप्रथात्मनोऽञ्जनाद् मायाख्यान्मलान्निष्क्रान्तः । नहि मन्त्रवदसम्भेदेन सर्वं जानाति, अपि तु भेदाभेदरूपतया । अत एव भेदांशस्पर्शाद्विद्येश्वरपरिवृतत्वं भुवनादिव्यवस्था चास्योच्यमाना नायुक्ता । एवं शिवतत्त्वपर्यन्ते सूक्ष्मतयाऽऽसूत्रितकल्पस्य भेदस्य भावाद् भुवनादिव्यवस्थापि शोध्यतया वक्ष्यमाणोपपन्नैव । स्थितिसंहाराभ्यां सृष्टिरप्युपलक्षिता । तच्चैतत्सृष्ट्यादित्रयम्—

'शुद्धेऽध्वनि शिवः कर्ता'

इति नीत्या मन्त्रमण्डलादिशुद्धाध्वविषयमेवास्येति मन्तव्यम् । तथा च श्रीमालिनीविजये—

'स सिसृक्षुर्जगत्सृष्टेरादावेव निजेच्छया ।
विज्ञानकेवलानष्टौ बोधयामास पुद्गलान् ॥' (१।१९)

तथा

'मन्त्राणामसृजत्तद्वत् सप्त कोटीः समण्डलाः।' (१।२१)

(यह ईश्वर) आठ विद्येश्वरों से युक्त, मायारहित, निरञ्जन, स्थिति और संहार का कर्त्ता तथा मोक्ष एवं ऐश्वर्य को देने वाला है ॥ ११५२ ॥

युक्त = वक्ष्यमाणक्रम से परिवृत है । (वीतमायः का अर्थ है—) जिससे माया दूर चली गयी है । इसी कारण यह (निरञ्जन है अर्थात्) भिन्नवेद्यप्रथा रूप अञ्जन = माया नामक मल, से निष्क्रान्त (= परे) है । यह ईश्वर मन्त्र के समान सबको अभिन्न रूप से नहीं बल्कि भेदाभेदमय रूप में जानते हैं । इसलिये भेदांश के स्पर्श के कारण इसका विद्येश्वरों से परिवृत होना तथा इसमें उच्यमान भुवन आदि की व्यवस्था अयुक्त नहीं है (अर्थात् ठीक ही है ।) इस प्रकार शिवतत्त्व पर्यन्त सूक्ष्मरूप में स्थित जैसे भेद रहने से शोध्य के रूप में वक्ष्यमाण भुवन आदि की व्यवस्था भी ठीक ही है । (श्लोक में उक्त) स्थिति और संहार से सृष्टि भी समझनी चाहिये । यह जो सृष्टि आदि तीन हैं वे—

'शुद्ध अध्वा के कर्त्ता शिव हैं ।'

इस नियम के अनुसार इसके (= शिव के) मन्त्र मण्डल आदि शुद्धअध्वाविषयक ही हैं—ऐसा मानना चाहिये । श्रीमालिनीविजय में—

'सृष्टि की इच्छा वाले वे (शिव) सृष्टि के आदि में अपनी इच्छा से आठ विज्ञानकेवली पुद्गलों को उद्बोधित किया ।' (मा.वि.तं. १।१९)

तथा—

'उसी प्रकार उसने मण्डलों के सहित सात करोड़ मन्त्रों की रचना की ।' (मा.वि.तं. १।२१)

इति मोक्षमैश्वर्यं च लोकोत्तरभोगरूपं न केवलं मन्त्रेभ्यो ददाति, यावन्मन्त्रादिप्रयुक्त्याऽऽयातशक्तिपातेभ्यो मायागर्भगतेभ्योऽपि । एतदप्युपलक्षणपरम्, तेन दम्भेन देवगुर्वादिसेविमायीजनेभ्यो विलयमपि ददाति । एवं हि पञ्चविधकृत्यकारित्वमस्योक्तं भवति ॥ ११५२ ॥

अस्यासनवर्णनं ध्यानोपयोग्युपदिशति—

तस्यासनं तु विस्तीर्णं सहस्रदलसम्मितम् ।

असङ्ख्यातदलमित्यर्थः ॥

यतोऽत्र—

तिस्रः कोट्योऽर्धकोटिश्च मन्त्रास्तस्यासने स्थिताः ॥ ११५३ ॥

यद्यपि सप्त कोट्यो मन्त्राणाम्, तथापि—

'ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्ते जातमात्रे जगत्यपि ।
मन्त्राणां कोटयस्तिस्रः सार्धाः शिवनियोजिताः॥
अनुगृह्याणुसङ्घातं याताः पदमनामयम् ।' (१।४०-४१)

इति श्रीमालिनीविजयोक्तनीत्या सार्धास्तिस्रः कोट्योऽनुग्रहाधिकारायावस्थिता

इन उक्तियों स्पष्ट है कि (वह शिव) लोकोत्तरभोग रूप ऐश्वर्य और मोक्ष केवल मन्त्रों को नहीं वरन् मन्त्र आदि के माध्यम से आयातशक्तिपात वाले तथा मायागर्भ में वर्त्तमान जीवों को भी देते हैं । यह कथन भी उपलक्षण है—इसलिये दम्भ के साथ देव गुरु आदि की सेवा करने वाले मायीय जनों के लिये विलय भी देते हैं । इस प्रकार इस शिव की पञ्चकृत्यकारिता उक्त होती है ॥ ११५२ ॥

अब इनके ध्यानोपयोगी आसन का वर्णन करते हैं—

इनका आसन सहस्रदल अर्थात् असंख्य कमल दल के समान विस्तृत है ॥ ११५३- ॥

अर्थात् असंख्य कमल दल ॥

क्योंकि यहाँ—

उनके आसन पर साढ़े तीन करोड़ मन्त्र स्थित हैं ॥ -११५३ ॥

यद्यपि मन्त्रों की संख्या सात करोड़ है तथापि—

'ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त संसार के उत्पन्न होने पर शिव के द्वारा साढ़े तीन करोड़ मन्त्र नियुक्त किये गये ये अणुओं के ऊपर अनुग्रह कर परमशिवपद को प्राप्त किये ॥' (मा.वि.तं. १।४०-४१)

मालिनीविजयतन्त्र में उक्त इस नियम के अनुसार साढ़े तीन करोड़ मन्त्र

इत्येवमुक्तम् ॥ ११५३ ॥

तदित्थमयं विनियोज्यमन्त्रपद्मासनाधिरूढः—

तत्रस्थ ईश्वरो देवो वरदः सर्वतोमुखः ।

देवो द्योतनादिपरमार्थः । सर्वतो मुखं प्रधानरूपं यस्य ॥

आकारतोऽपि—

पञ्चवक्त्रः सुतेजस्को दशबाहुस्त्रिलोचनः ॥ ११५४ ॥
गोक्षीरधवलः सौम्यो नागयज्ञोपवीतवान् ।
दिव्याम्बरधरो देवो दिव्यगन्धानुलेपनः ॥ ११५५ ॥
सर्वलक्षणसम्पूर्णः सर्वाभरणभूषितः ।
त्रिशूलपाणीन्दुमौलिर्जटामुकुटमण्डितः ॥ ११५६ ॥
प्रसन्नवदनः कान्तो योगैश्वर्यप्रदायकः ।
वरदाभयहस्तश्च ध्येयोऽसावीशयोगिभिः ॥ ११५७ ॥

पञ्चवक्त्राद्याकृ(तौ)[1] प्रागुक्तं सतत्त्वं मन्तव्यम् । वरदाभयपाणिश्चेति चकारात् खड्गखेटकादेः परिग्रहः । सौम्य इति पारमेश्वरक्रियाशक्तिप्राधान्येन सृष्टि-

---

अनुग्रह के अधिकार के लिये स्थित हैं—यह कहा गया ॥ ११५३ ॥

तो इस प्रकार विनियोज्यमन्त्र रूपी पद्म के आसन पर आरूढ यह—

वरद और सर्वतोमुख देव ईश्वर उस आसन पर आसीन हैं ॥११५४-॥

देव = द्योतन आदि स्वभाव वाले । सर्वतोमुख = जिसका प्रधानरूप सर्वतोमुख हैं ॥

आकार से भी—

(यह) देव पञ्च वक्त्र वाले, तेजस्वी, दशबाहु वाले, तीन नेत्र वाले, गाय के दूध के समान धवल, सौम्य, नाग का यज्ञोपवीत पहने हुए, दिव्यवस्त्रधारी, दिव्यगन्ध के (और) अनुलेप वाले, सर्वलक्षणपरिपूर्ण, सर्वाभरणभूषित हैं । हाथ में त्रिशूल, मस्तक पर चन्द्रमा तथा जटारूपी मुकुट से अलंकृत है । प्रसन्न मुख वाले, कमनीय, योग एवं ऐश्वर्य को देने वाले, हाथ में वरद मुद्रा एवं अभय मुद्रा धारण किये हुए ये ईश्वर योगियों के ध्येय हैं ॥ -११५४-११५७ ॥

पाँच मुख आदि उनकी आकृति के विषय में तत्त्व समझना चाहिये । 'वरदाभयपाणिश्च' यहाँ 'च' से खड्ग और खेटक (= ढाल) आदि का ग्रहण होता है ।

---

१. तो ।

प्राधान्यात्, अत एव द्वादशपटलवक्ष्यमाणस्थित्या ध्यातः सन् योगैश्वर्यप्रदायक ईश्वरयोगिनाम् ॥ ११५७ ॥

यथा च परमेश्वरो रुद्रक्षेत्रज्ञानां ध्यानार्चनादिनाऽनुग्रहीतुं गृहीतेश्वराकारः, तथा तत्समवायिनी शक्तिरपि तथैवाऽऽश्रिताकृतिरित्याह—

तस्योत्सङ्गगता विद्या सर्वविद्यासमाश्रिता ।
दिव्यवस्त्रपरीधाना दिव्यमाल्यानुलेपना ॥ ११५८ ॥
दिव्यस्त्रग्दाममालाभिर्मुक्ताहारैर्विभूषिता ।
मुक्ताफलप्रतीकाशा पञ्चवक्त्रा त्रिलोचना ॥ ११५९ ॥

विद्येति मायीयवर्णभट्टारकरूपा मातृका, एवमपि प्रागुक्तयुक्त्या अंशेन भेदस्यानिवृत्तेरुत्सङ्गगतेत्युक्तम्, एवमुत्तरत्र । सर्वाभिर्विद्याभिः सर्वैर्मन्त्रविद्यागणैरुत्पत्तिक्षेत्रत्वात् सम्यगभेदेनाश्रिताऽवष्टब्धा । मुक्ताफलप्रतीकाशेति, अनुग्रहप्रवणत्वात् सौम्येत्यर्थः ॥ ११५९ ॥

एषा च—

आराधिता विधानेन वेदयेज्ज्ञानिनः सदा ।

सौम्य कहने का कारण है कि परमेश्वर की क्रियाशक्ति इनमें प्रधान रूप से है अतः इनमें सृष्टि की प्रधानता है । इसलिये बारहवें पटल में वक्ष्यमाण रीति से ध्यान किये जाने पर ईश्वर योगियों के लिये योगैश्वर्य प्रदान करने वाले हैं ॥ ११५७ ॥

जिस प्रकार परमेश्वर रुद्रक्षेत्रज्ञों के ऊपर ध्यान अर्चन के द्वारा अनुग्रह करने के लिये ईश्वर का आकार धारण करते हैं उसी प्रकार उन (= परमेश्वर) की समवायिनी शक्ति भी आकार का ग्रहण करती है—

यह कहते हैं—

समस्त विद्याओं की आश्रयभूता विद्या उनकी गोद में बैठी हुई है । वह दिव्य वस्त्र धारण की हुई, दिव्य माला एवं अनुलेप वाली, दिव्य मोतियों के हार एवं मालाओं से अलङ्कृत वह मोती के समान वर्ण वाली, पाँच मुखों एवं तीन नेत्रों वाली है ॥ ११५८-११५९ ॥

विद्या = मायीयवर्णरूपा मातृका । ऐसी होती हुई भी पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार अंशतः भेद के निवृत्त न होने से गोद में बैठी हुई कहा गया । ऐसा ही आगे भी समझना चाहिये । उत्पत्तिक्षेत्र होने के कारण समस्त विद्याओं और समस्त मन्त्रविद्यागणों के साथ सम्यक् = अभिन्न रूप से, स्थित = अवष्टब्ध है । मुक्ताफल के समान = अनुग्रहप्रवण होने के कारण सौम्य है ॥ ११५९ ॥

यह—

विधिपूर्वक आराधना किये जाने पर ज्ञानियों को सदा ज्ञान प्रदान

विधानेनान्तरभेदप्रत्यवर्शमबलेनाऽऽराधिता प्रसादं प्रापिता सती ज्ञानशालिनो वेदयेत् प्रकाशितस्वस्वरूपान् सम्पादयेत् ॥

किं च—

प्रहसन्तीव सा भाति महेशवदनेक्षणात् ॥ ११६० ॥

वदनमाकृत्यपेक्षया वक्त्रं स्वरूपापेक्षया तु परा शक्तिः । ईक्षणं दृष्टिर्ज्ञानं च ॥ ११६० ॥

अतो भगवतः परिवाररूपान्—

विद्येश्वरानतो वक्ष्ये पूर्वादीशान्तगान् क्रमात् ।

ते च विद्यातत्त्वगता अप्यत्र परेण रूपेण स्थिताः ॥

अनन्तश्चैव सूक्ष्मश्च तथा चैव शिवोत्तमः ॥ ११६१ ॥
एकनेत्रैकरुद्रौ च त्रिनेत्रश्च प्रकीर्तितः ।
श्रीकण्ठश्च शिखण्डी च ज्ञेया विद्येश्वराः क्रमात् ॥ ११६२ ॥

एते चानन्ताद्या गुरुभिः शिवतनावित्थमुक्ताः—

करती हैं ॥ ११६०- ॥

विधान के साथ = आन्तर भेद के प्रत्यवमर्श के बल से, आराधिता = प्रसन्न की गयी, ज्ञानशालि पुरुषों को, वेदन कराती है = अपने स्वरूप को प्रकाशित करती है ॥

तथा—

महेश के मुख के ईक्षण से वह हँसती हुई प्रतीत होती है ॥-११६०॥

वदन आकृति की अपेक्षा से वक्त्र अर्थात् मुख है । किन्तु स्वरूप की अपेक्षा से वह (= वदन) पराशक्ति है । ईक्षण का अर्थ है—दृष्टि और ज्ञान ॥ ११६० ॥

इसके बाद भगवान् के परिवाररूप—

विद्येश्वरों को बतलाऊँगा जो कि पूर्व दिशा से लेकर ईशान कोण तक क्रम से स्थित हैं ॥ ११६१- ॥

वे विद्यातत्त्व में रहते हुए भी यहाँ पररूप से स्थित हैं ॥

अनन्त, सूक्ष्म, शिवोत्तम, एकनेत्र, एकरुद्र, त्रिनेत्र, श्रीकण्ठ और शिखण्डी, ये क्रम से विद्येश्वर जानने चाहिये (अर्थात् पूर्व दिशा में अनन्त और क्रमशः ईशान दिशा में शिखण्डी स्थित हैं) ॥ -११६१-११६२ ॥

ये अनन्त आदि विद्येश्वर गुरु के द्वारा शिवतनुशास्त्र में इस प्रकार कहे गये हैं—

'भगबिलशतकलितगुहामूर्धासनगोऽष्टशक्तियुग्देवः ।
गहनाद्यं निरयान्तं सृजति च रुद्रांश्च विनियुङ्क्ते ॥
उद्धरति मनोन्मन्या पुंसस्तेष्वेव भवति मध्यस्थः ।
ते तेनोदस्तचितः परतत्त्वालोचनेऽभिनिविशन्ते ॥
स पुनरधःपथवर्तिष्वधिकृत एवाणुषु शिवेन ।
अवसितपतिविनियोगः सार्धमनेकात्ममन्त्रकोटीभिः ॥
निर्वात्यनन्तनाथस्तद्धामाविशति सूक्ष्मरुद्रस्तु ।
अनुगृह्याणुमपूर्वं स्थापयति पतिः शिखण्डिनः स्थाने ॥
इत्यष्टौ परिपाट्या यावद्धामानि यान्ति गुरुरेकः ।
तावदसङ्ख्याकानां जन्तूनां निर्वृतिं कुरुते ॥
तेऽष्टावपि शक्त्यष्टकयोगामलजलरुहासीनाः ।
आलोचयन्ति देवं हृदयस्थं कारणं परमम् ॥
ते भगवन्तमनन्तं ध्यायन्तः स्वहृदि कारणं शान्तम्।
सप्तानुध्यायन्त्यपि मन्त्राणां कोटयः शुद्धाः ।' इति ।

गुहा माया, तस्या मूर्धा शुद्धविद्या, तदेवासनम् । शक्त्यष्टकेन वामादिना योगो यत्र तादृशेऽमलजलरुह आसीनाः । परममनन्तमिति प्राप्तेश्वररूपम् ॥११६२॥

'सौ भग बिल से बनी गुहा (= माया) के मूर्धा (= शुद्धविद्या) के आसन पर आठ शक्तियों से युक्त होकर बैठे हुए देव (= अनन्तनाथ) गहन से लेकर निरय (= नरक) तक के लोकों की सृष्टि करते हैं एवं उनमें रुद्रों को नियुक्त करते हैं । उन लोकों में मध्यस्थ होकर वे मनोन्मनी शक्ति के द्वारा उदस्तचित्त वाले पुरुष के परतत्त्व के आलोचन में अभिनिविष्ट हो जाते हैं । पुनः वे अनन्तनाथ अधःपथ में रहने वाले अणुओं के लिये शिव के द्वारा अधिकृत होकर पति के कार्य को समाप्त करने के बाद करोड़ों मन्त्र जीवों के साथ शान्त हो जाते हैं और उस परधाम में आविष्ट हो जाते हैं । और सूक्ष्म रुद्र अपूर्व अणु के ऊपर अनुग्रह कर (उसे) शिखण्डी के स्थान पर स्थापित करते हैं । ये आठ विद्येश्वर परिपाटी (= क्रम) से जब तक अपने स्थानों को पहुँचते हैं तब तक एक गुरु (= अनन्तनाथ) असंख्य जन्तुओं को मुक्ति दिला देता है । वे आठो विद्येश्वर (वामा आदि) आठ शक्तियों के योग वाले निर्मल कमल पर बैठ कर हृदय में स्थित परम कारण देव का आलोचन करते रहते हैं । वे अपने हृदय में शान्त एवं (सृष्टि के) कारणस्वरूप भगवान् अनन्तनाथ का ध्यान करते रहते हैं । उनके पीछे सात करोड़ शुद्ध मन्त्र भी (भगवान् अनन्तनाथ का) ध्यान करते रहते हैं ।'

गुहा = माया, उसका शिर = शुद्धविद्या, वही आसन है । वामा ज्येष्ठ आदि आठ शक्तियों[१] के साथ योग है जहाँ पर वैसे अमल कमल पर आसीन हैं । परम

---

१. द्रष्टव्य श्लोक १०।११४५-४६ ।

अत्रैव चेश्वरतत्त्वे भुवनान्तराण्याह—

अतो रूपमवस्थानं.............

विद्येशावरणोर्ध्वं रूपावरणं नाम भुवनमित्यर्थः । एवमुत्तरत्र ॥

...............तत्र रुद्रान्निबोध मे ।
धर्मो ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च चतुर्थकम् ॥ ११६३ ॥

यद्वशाद्विद्येश्वराणामधस्तनाध्वाधारवत्त्वमशेषज्ञत्वम्, पूर्णतया नैराकाङ्क्ष्यम्, महाविभवप्रदत्वम् । त एते धर्माद्या रुद्रा ईश्वरस्य परिवाराः ॥ ११६३ ॥

अत्रैव चेश्वरतत्त्वे—

सूक्ष्मावरणमूर्ध्वेऽतः...........

अतो रूपावरणादूर्ध्वे ॥

...............तत्र शक्तित्रयं विदुः ।

ताश्च—

वामा ज्येष्ठा च रौद्री च शक्तयः समुदाहृताः ॥ ११६४ ॥

अनन्त = ईश्वररूप को प्राप्त ॥ ११६२ ॥

इसी ईश्वरतत्त्व में अन्य भुवनों को बतलाते हैं—

इसके बाद रूपावरण स्थित है ॥ ११६३- ॥

विद्येशावरण के ऊपर रूपावरण नामक भुवन है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ॥

वहाँ स्थित रुद्रों को मुझसे जानो । वहाँ धर्म ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य (नामक रुद्र हैं) ॥ -११६३ ॥

जिनके कारण विद्येश्वर अधस्तन अध्वा के आधार हैं; सर्वज्ञ हैं; पूर्णरूपेण निराकाङ्क्ष हैं तथा महावैभव को प्रदान करने वाले हैं वे धर्म आदि रुद्र ईश्वर के परिवार हैं ॥ ११६३ ॥

इसी ईश्वर तत्त्व में—

इसके ऊपर सूक्ष्म आवरण है ॥ ११६४- ॥

इस = रूपावरण से ऊपर ॥

(योगीगण) उसमें तीन शक्तियाँ मानते हैं ॥ -११६४- ॥

और वे—

वामा ज्येष्ठा और रौद्री शक्तियाँ कही गयी हैं ॥ -११६४ ॥

प्रधानभूताः ॥ ११६४ ॥

आसामेव हि काल्यादयः प्रागुक्ताः प्रपञ्चः । अत एवाह—

परिवारस्तु तासां वै कोट्योऽनेकास्तु सङ्ख्यया ।

आसामेवाशेषशक्तिप्रपञ्चात्मकत्वात् ॥

ये चासां परिवारत्वेन स्थिताः, ते—

सर्वे सर्वगता मन्त्राः सर्वज्ञाः सर्वकामदाः ॥ ११६५ ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशास्त्रिनेत्राः शूलपाणयः ।
सर्वलक्षणसम्पन्नाः सर्वाभरणभूषिताः ॥ ११६६ ॥
सर्वैश्वर्यसुसम्पूर्णाश्चारुचन्द्रार्धशेखराः ।

किं च—

शतपत्राब्जभाकारैः शुद्धहारेन्दुरश्मिभिः ॥ ११६७ ॥
नानारत्नोज्ज्वलैश्चित्रैः प्राकारैस्तोरणाकुलैः ।
ईश्वरानुगताः सर्वे तिष्ठन्ति भुवनेषु ते ॥ ११६८ ॥

शतपत्राब्जानां भा दीप्तिरिवाकारो येषां तादृशैः, तथाऽन्यैर्हारैः सुदीप्तिभिः

प्रधानभूत शक्तियाँ ॥ ११६४ ॥

पूर्वोक्त काली आदि इन्हीं तीन का विस्तार है । इसीलिये कहते हैं—

इन (तीन शक्तियों) का परिवार अनेक करोड़ हैं ॥ ११६५- ॥

क्योंकि ये तीन ही समस्त शक्तियों की प्रपञ्चरूपा हैं ॥

जो इनके परिवार के रूप में स्थित हैं वे—

वे सब मन्त्र सर्वगत, सर्वज्ञ, सर्वकामप्रद, शुद्धस्फटिक के समान, तीन नेत्र वाले, हाथ में त्रिशूल धारण किये हुए, समस्त लक्षणों से युक्त, समस्त आभरणों से अलंकृत, समस्त ऐश्वर्यों से सुसम्पूर्ण और मस्तक पर चारु अर्धचन्द्र धारण किये हैं ॥ -११६५-११६७- ॥

तथा—

शतदल कमल की प्रभा के समान आकार वाले, शुद्ध हार और चन्द्रमा की किरणों के समान, अनेक रत्नों से उज्ज्वल, चित्रविचित्र, तोरण से भरी हुई चाहारदीवारों से युक्त भुवनों में वे ईश्वर की आज्ञा से निवास करते हैं ॥ -११६७-११६८ ॥

सौ पत्रों वाले कमलों की जो भा = दीप्ति, उसके समान आकार है जिनका

ग्राकारैरुपलक्षितेषु भुवनेष्वीश्वरभट्टारकमन्त्रानुगताः क्रीडन्तीति सम्बन्धः ॥ ११६८ ॥

अत एवाराधकैरेते—

तमाराधयितुं देवं पूज्यन्ते सर्वकर्मसु ।

'यत्करोषि यदश्नासि यज्जुहोषि ददासि यत् ।
यत्तपस्यसि कौन्तेय तत्कुरुष्व मदर्पणम् ॥' (भ०गी० ९।२७)

इति न्यायेन कर्मविषये तमीश्वरमाराधयितुमेते परिवाररूपा मन्त्राः पूज्यन्ते, एतत्पूजकानामेवंव्याप्तिविदामेतन्मुखेन ईश्वरावाप्तिर्भवतीत्यर्थः ॥

किं च—

व्रतं पाशुपतं दिव्यं ये चरन्ति जितेन्द्रियाः ॥ ११६९ ॥
भस्मनिष्ठा जपध्यानास्ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम् ।

भस्मनिष्ठा स्नानमयक्लृप्तिरूपा येषाम् ॥

प्रासङ्गिकमुक्त्वा प्रकृतमाह—

तत्रेश्वरस्तु भगवान् देवदेवो निरञ्जनः ॥ ११७० ॥

वैसे, तथा अन्य हारों के द्वारा दीप्तिमान् प्राकारों से उपलक्षित भुवनों में ईश्वर-भट्टारक मन्त्रों से अनुगत होकर क्रीड़ा करते रहते हैं—यह अन्वय है ॥ ११६८ ॥

इसलिये आराधकों के द्वारा ये—

उस देव की आराधना के लिये सब कर्मों में पूजित होते हैं ॥११६९-॥

'जो कार्य करते हो; जो भोजन करते हो; जो हवन करते हो; जो दान करते हो और जो तपस्या करते हो उस सब को मुझे अर्पण करने की बुद्धि से करो ।' (भ.गी. ९।२७)

इस न्याय से कर्म के विषय में उस ईश्वर की आराधना करने के लिये परिवार रूप मन्त्र पूजित होते हैं । इस प्रकार की व्याप्ति को जानने वाले इनके पूजकों को इनके माध्यम से ईश्वर की प्राप्ति होती है ॥

और भी—

जो (लोग) जितेन्द्रिय होकर दिव्य पाशुपत व्रत का आचरण करते हैं; भस्म में निष्ठा रखते हैं; जप और ध्यान करने वाले हैं वे ऐश्वर पद को प्राप्त होते हैं ॥ -११६९-११७०- ॥

भस्मनिष्ठ = भस्मधारण कर उससे स्नान की कल्पना करने वाले ॥

प्रसङ्गप्राप्त विषय का कथन कर प्रकरणगत विषय को कहते हैं—

अधिकारं प्रकुरुते शिवेच्छाविधिचोदितः ।

तत्रेश्वरतत्त्वे देवानामनन्तादीनां देवः । अधिकारं तेषामेवानुग्रहादौ विनियोजनम् । शिवेच्छैव विधत्ते सर्वमिति विधिः, तत्प्रचोदितः । परमशिव एव हीच्छाज्ञानक्रियाप्रधानः शिवसदाशिवेश्वरभूमिका भासयति । यदुक्तं श्रीमतङ्गपारमेश्वरे—

'लयाधिकारभोगाह्वत्रितत्त्वोक्तिविमर्शनात् ।
पदार्थः पतिनामासौ प्रथमः परिकीर्तितः ॥' (१।२।१४) इति ।

अत्र चोक्तवक्ष्यमाणरूपाणि—

दश पञ्च च शोध्यानि भुवनानीश्वरे क्रमात् ॥ ११७१ ॥

तत्रेश्वरभुवनम् (१) विद्येशाष्टकावरणभुवनम् (२) धर्मादिचतुष्टयाश्रयरूपावरणभुवनम् (३) वामादिशक्तित्रयाश्रयसूक्ष्मावरणभुवनम् (४) इति चत्वारि तावदुक्तानि, वक्ष्यमाणानि तु शुद्धावरण-विद्यावरण-प्रमाणावरण-(माना)[1]वरण-मायावरण-शुद्धशिवावरण-मोक्षा-वरणाख्यानि सप्तावरणानि, ततो ध्रुवभुवनम्, ततो वामादिशक्ति-

---

उस तत्त्व में देवाधिदेव निरञ्जन भगवान्, शिव की इच्छा रूपी विधि से प्रेरित हो कर अपने अधिकार का प्रयोग करते हैं ॥ -११७०-११७१- ॥

उसमें = ईश्वर तत्त्व में । (देवदेव का अर्थ है—) देवों अर्थात् अनन्तनाथ आदि के देव । अधिकार = उन अनन्तनाथ आदि का अनुग्रह आदि में विनियोजन (= लगाना) । शिवेच्छा ही विधि है क्योंकि वही सबका विधान करती है । उस विधि के द्वारा प्रेरित । परमशिव ही इच्छा ज्ञान और क्रिया को प्रमुखता देकर क्रमशः शिव सदाशिव और ईश्वर की भूमिका में आभासित होते हैं । जैसा कि श्री मतङ्गपारमेश्वर शास्त्र में कहा गया—

'प्रलय अधिकार और भोग नामक तीन तत्त्वों की उक्ति के विमर्श के कारण ये पति नामक प्रथम पदार्थ कहे गये ॥' (म.पा. १।२।१४)

उक्त और वक्ष्यमाण रूपों वाले—

दश और पाँच भुवन (= पन्द्रह) यहाँ ईश्वर तत्त्व में क्रम से शोधनीय हैं ॥ -११७१ ॥

उनमें-ईश्वर भुवन, विद्येशाष्टक का आवरण भुवन, धर्म आदि चार के आश्रयरूप आवरण भुवन, वामा आदि तीन शक्तियों के आश्रयभूत सूक्ष्म आवरण भुवन ये चार कहे जा चुके हैं । आगे कहे जाने वाले हैं—१. शुद्धावरण २. दो भेद वाला विद्यावरण ३. प्रमाणावरण ४. नाम आवरण[2] ५. मायावरण ६. शुद्ध

---

१. नामा ।
२. यहाँ नामावरण की जगह मानावरण कहना अधिक ठीक है क्योंकि आगे मान आवरण की ही चर्चा है ।

त्रयाश्रयेच्छा-शक्तिभुवनम्, ततः प्रबुद्धावरणम् ततः समयावरणमित्येकादश चतुर्भिः सह पञ्चदश भवन्ति ॥ ११७१ ॥

एतानि पञ्चदशापि भुवनान्यान्तरेण क्रमेण—

तालुकोर्ध्वे विजानीयाद् दीक्षाकाले वरानने ।

मायातत्त्वात्मकतालुग्रन्थ्यूर्ध्वस्थशुद्धविद्यापद्मकर्णिकोर्ध्वे यदीश्वरतत्त्वं तालुकोर्ध्वगतम्, तत्र जानीयात् तद्विश्रान्तिपुरःसरं पूर्वोक्तमन्त्रक्रमेण शोधयेदित्यर्थः । एतच्चोपलक्षणम्, तेन ब्रह्माण्डगतानि भुवनानि हृद्विश्रान्त्या, जलादिप्रकृत्यन्तगतानि कण्ठविश्रान्त्या, प्रकृत्यादिमायान्तगतानि तालुविश्रान्त्या, तदूर्ध्वपदविश्रान्त्या शुद्धविद्यातत्त्वगतानि भुवनानि शोधनीयानि । एवं ललाट-ब्रह्मरन्ध्र-व्यापिनीपद-विश्रान्त्या सदाशिव-शक्ति-शिवतत्त्वगतानि वक्ष्यमाणानि भुवनानि शोधनीयानि ॥

अथ शुद्धावरणादिभुवनैकादशकं क्रमेण दर्शयति—

शुद्धावरणमूर्ध्वं तु तस्मिञ् छक्तिद्वयं स्मृतम् ॥ ११७२ ॥
ज्ञानं क्रिया च विख्यातं............

शिवावरण ७. मोक्षावरण—ये सात आवरण हैं । इसके बाद ध्रुवभुवन है । इसके ऊपर वामा आदि तीन शक्तियों की आश्रयभूत इच्छाशक्ति का भुवन है । इसके ऊपर प्रबुद्धावरण है । इसके ऊपर समयावरण है । इस प्रकार उक्त चार के साथ वक्ष्यमाण ग्यारह अर्थात् कुल मिलाकर पन्द्रह भुवन हैं ॥ ११७१ ॥

ये पन्द्रह भुवन आन्तर क्रम (= शरीर के अन्दर के क्रम) से—

हे वरानने ! दीक्षाकाल में तालु के ऊपर जानना चाहिये ॥ ११७२- ॥

मायातत्त्वात्मक तालुग्रन्थि के ऊपर स्थित शुद्धविद्यारूपी पद्मकर्णिका के ऊपर जो ईश्वर तत्त्व है वह तालुकोर्ध्वगत कहा गया है । उसमें जानना चाहिये = उसमें विश्राम करने के बाद पूर्वोक्त मन्त्र के क्रम से उसका शोधन करना चाहिये । यह कथन उपलक्षण है । इससे यह समझना चाहिये कि ब्रह्माण्डगत भुवनों का हृदय में विश्रान्ति के द्वारा, जल से लेकर बुद्धिपर्यन्त वाले भुवनों का कण्ठविश्रान्ति के द्वारा, प्रकृति से लेकर मायापर्यन्त भुवनों का तालु में विश्रान्ति के द्वारा, और उसके ऊर्ध्व पद में विश्रान्ति के द्वारा शुद्धविद्या में रहने वाले भुवनों का शोधन करना चाहिये । इसी प्रकार ललाट, ब्रह्मरन्ध्र और व्यापिनी पदों में विश्राम के द्वारा क्रमशः सदाशिव, शक्ति और शिव तत्त्व में स्थित वक्ष्यमाण भुवनों का शोधन करना चाहिये ॥

अब शुद्धावरण आदि ग्यारह भुवनों का क्रम से बतलाते हैं—

(ईश्वर के) ऊपर शुद्धावरण है । उसमें दो शक्तियाँ कहीं गयी हैं वे है—ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति ॥ -११७२-११७३- ॥

ज्ञानक्रियाशक्तिभुवनद्वितयरूपेण तद्भुवनमित्यर्थः, एवमुत्तरत्र ॥

अथ—

............द्वे विद्ये चाप्यतः परम् ।
भावसंज्ञाप्यभावाख्या तस्मिन् शक्तिद्वये स्मृते॥ ११७३ ॥

तस्मिन् ज्ञानक्रियाख्ये प्रोक्ते शक्तिद्वये विषयतया द्वे भावाभावाख्ये वेदन-परमार्थत्वाद्विद्ये स्थिते । तत्र पूर्वोक्तयुक्त्या स्फुटेदन्तात्मकभाववेदनशक्तिरेका, इदन्तोत्थानभितिभूताख्यात्यात्माभाववेदनशक्तिर्द्वितीयेत्येतद्भुवनद्वितयरूपं विद्यावरण-मेतदित्यर्थः ॥ ११७३ ॥

अतश्च—

तेजेशश्च ध्रुवेशश्च प्रमाणानां परं पदम् ।
प्रमाणावरणे चोर्ध्वे............

पूर्वोक्तानां मायातत्त्वाश्रितानां पञ्चार्थादिप्रमाणानां परमिदं पदं प्राप्तिस्थानं तेजेशश्च ध्रुवेशश्च विद्यावरणादूर्ध्वे प्रमाणावरणे स्थिते इत्येतत्प्रमाणावरणमपि भुवनद्वितययोगि ॥

वह भुवन ज्ञानशक्तिभुवन और क्रियाशक्तिभुवन दो प्रकार का है । इसी प्रकार आगे भी (समझना चाहिये) ॥

अब—

इसके बाद दो विद्यायें है । उन दो शक्तियों में भाव एवं अभाव नामक दो विद्यायें मानी गयी हैं ॥ -११७३ ॥

उपर्युक्त ज्ञान और क्रिया नामक दो शक्तियों में विषय के रूप में भाव और अभाव नामक दो विद्यायें हैं जिनका अन्तिम उद्देश्य वेदन (ज्ञान कराना) है । वेदन कराने के कारण उन्हें विद्या कहा जाता है । उनमें से पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार स्फुट इदन्तात्मक भाव का ज्ञान कराने वाली शक्ति एक है और इदन्ता के उत्थान की आधारभूत अख्याति वाली, अभाव का ज्ञान कराने वाली शक्ति दूसरी है । इस प्रकार ये दो भुवन विद्यावरणरूप हैं ॥ ११७३ ॥

इसके बाद—

प्रमाणों का परम पद तेजेश और ध्रुवेश ये दो प्रमाणावरण ऊपर स्थित हैं ॥ ११७४- ॥

मायातत्त्व में रहने वाले पूर्वोक्त पञ्चार्थ आदि (= गुह्य रुद्रांकुश आदि १०।११३४) प्रमाणों का यह पर पद = प्राप्तिस्थान, तेजेश और ध्रुवेश विद्यावरण के ऊपर प्रमाणावरण में स्थित हैं । इस प्रकार यह प्रमाणावरण भी दो भुवनों

अथ—

..............कथयामि च मानतः ॥ ११७४ ॥

मानतो माने प्रमाणावरणोर्ध्वगते माननाम्न्यावरणे रुद्रान् कथयामि ॥११७४॥

ते च—

ब्रह्मा रुद्रः प्रतोदश्च अनन्तश्च चतुर्थकः ।

तेनैतद्रुद्रभुवनचतुष्टयभुवनपरिष्कृतमेतनमायावरणभुवनमित्यर्थः ॥

अथ—

सुशुद्धावरणं चोर्ध्वे तत्र रुद्रत्रयं विदुः ॥ ११७५ ॥
एकाक्षः पिङ्गलो हंसः कथितं तु समासतः ।

परिवार एषामसङ्ख्य इति वक्ष्यति ।

अथ—

शिवावरणमूर्ध्वं तु तत्रैको ध्रुवसंज्ञकः ॥ ११७६ ॥
संस्थितो रुद्रराजस्य..........

वाला है ॥

इसके बाद—

मान (नामक आवरण) में (रुद्रों को) बतला रहा हूँ ॥ -११७४ ॥

मानतः = मान में = प्रमाणावरण के ऊपर स्थित मान नामक आवरण में, रुद्रों को बतला रहा हूँ ॥ ११७४ ॥

और वे—

ब्रह्मा, रुद्र, प्रतोद और अनन्त ये चार रुद्र हैं ॥ ११७५- ॥

यह मायावरण भुवन इन चार रुद्र भुवनों से परिष्कृत है ॥

तदनन्तर—

इसके ऊपर सुशुद्धावरण है । उसमें तीन रुद्र हैं—एकाक्ष पिङ्गल और हंस । यह मैंने संक्षेप में बतलाया ॥ -११७५-११७६- ॥

इनका परिवार असंख्य है—ऐसा कहेंगे ॥

इसके बाद—

उसके ऊपर शिवावरण स्थित है । वहाँ ध्रुव नाम वाला एक रुद्र स्थित है ॥ -११७६-११७७- ॥

अथ—

..............मोक्षावरणमूर्ध्वतः ।

तत्र च—

एकादशैव रुद्रांश्च कथयामि समासतः ॥ ११७७ ॥

तानाह—

ब्रह्मदन्किदिण्डिमुण्डाः सौरभश्च तथैव च ।
जन्ममृत्युहरश्चैव प्रणीतः सुखदुःखदः ॥ ११७८ ॥
विजृम्भितः.............

जन्महरो मृत्युहरः । सुखं द्यति खण्डयतीति सुखदः, एवं दुःखदः ॥

त एते एकादश—

.......समाख्यातास्तालूर्ध्वे तु व्यवस्थिताः ।

तालूर्ध्वे इति प्रागुक्तमेवैश्वरं तत्त्वमेषामाश्रय इति स्मारयति ॥

अथ—

पुनरूर्ध्वे ध्रुवं ज्ञेयं निरञ्जनपदं शुभम् ॥ ११७९ ॥

अब—

इसके ऊपर रुद्रराज का मोक्षावरण है ॥ -११७७- ॥

वहाँ पर रहने वाले—

ग्यारह रुद्रों को संक्षेप में बतला रहा हूँ ॥ -११७७ ॥

उनको बतलाते हैं—

ब्रह्मदन्कि, दिण्डि, मुण्ड, सौरभ, जन्महर, मृत्युहर, प्रणीत, सुखद, दुःखद और विजृम्भित ॥ ११७८-११७९- ॥

('जन्ममृत्युहर' का अर्थ है—) जन्महर और मृत्युहर, (सुखद का अर्थ है—) जो सुख का दान = खण्डन, कर दे । इसी प्रकार दुःखद का भी अर्थ समझना चाहिये ॥

जो वे ग्यारह रुद्र—

कहे गये वे तालु के ऊर्ध्व भाग में स्थित हैं ॥ -११७९- ॥

'तालु के ऊपर'—कथन के द्वारा भगवान् यह स्मरण दिला रहे हैं कि पूर्वोक्त ईश्वर तत्त्व ही इनका आश्रय है ॥

इसके—

प्रमाणावरणे शिवावरणे ध्रुवावरणे चैक एव स्थूलसूक्ष्मपरभेदेन ध्रुवाख्यो रुद्रस्त्रिरत्रोक्त इति पुनःशब्दार्थः ॥ ११७९ ॥

अथास्य ध्रुवावरणस्य—

ईशशक्तित्रयं मूर्ध्नि............

स्थितम् ॥

तच्च—

...............कथितं चानुपूर्वशः ।

वामा ज्येष्ठा रौद्री चेति यत्सूक्ष्मावरणे प्राक् शक्तित्रयमुक्तम्, तदेवेह पररूपेण स्थितमित्यर्थः ॥

किं चात्रैव प्रधानभूतायाः—

इच्छाशक्त्यभिधानायाः...............

शक्तेः पुरम् ॥

ताश्च वामाद्या एतस्याः—

............अन्तर्भूताः प्रकीर्तिताः ॥ ११८० ॥

ऊपर पुनः निरञ्जन एवं शुभ ध्रुवावरण है ॥ -११७९ ॥

प्रमाणावरण शिवावरण और ध्रुवावरण में एक ही ध्रुव नामक रुद्र क्रमशः स्थूल सूक्ष्म और पर भेद से तीन बार कहा गया यह 'पुनः' शब्द का अर्थ है ॥११७९॥

इस ध्रुवावरण के—

शिर पर (= ऊपर) ईश्वर की तीन शक्तियाँ स्थित हैं ॥ ११८०- ॥

स्थित है—यह शेष है ॥

और उन्हें—

क्रमशः कह दिया गया ॥ -११८०- ॥

वामा ज्येष्ठा और रौद्री नामक जो तीन शक्तियाँ पहले सूक्ष्मावरण में कही गयीं वे ही यहाँ पररूप में स्थित हैं ॥

यहीं पर प्रधानभूता—

इच्छाशक्ति नामक ॥ -११८०- ॥

शक्ति का पुर है ॥

वे वामा आदि शक्तियाँ इसके—

तेन वामादिभुवनत्रयपरिवृतमेतदिच्छाभुवनमत्रेत्यर्थः ॥ ११८० ॥

अथ—

प्रबुद्धावरणं चोर्ध्वे............

तत्र च रुद्रान्—

..............कथयामि समासतः ।
प्रीतः प्रमुदितश्चैव प्रमोदश्च प्रलम्बकः ॥ ११८१ ॥
विष्णुर्मदन एवाथ गहनः प्रथितस्तथा ।

तदेतदत्र—

रुद्राष्टकं समाख्यातं विज्ञेयं प्राग्दिशः क्रमात्॥ ११८२ ॥

ततोऽपि—

समयावरणं चोर्ध्वे...........

अत्र रुद्रान्—

............कथयामि समासतः ।
प्रभवः समयः क्षुद्रो विमलश्च शिवस्तथा ॥ ११८३ ॥
ततो घनः समाख्यातो निरञ्जनस्ततः परम् ।
रुद्रोङ्कारस्तु पञ्चैते...........

अन्तर्भूत कही गयी हैं ॥ -११८० ॥

इसलिये यहाँ इच्छाभुवन वामा आदि तीन भुवनों से घिरा हुआ है ॥ ११८० ॥

इसके—

ऊपर प्रबुद्धावरण है ॥ ११८१- ॥

वहाँ पर स्थित रुद्रों को—

संक्षेप में कह रहा हूँ । ये प्रीत, प्रमुदित, प्रमोद, प्रलम्बक, विष्णु, मदन, गहन और प्रथित हैं ॥ -११८१-११८२- ॥

यहाँ ये—

आठ रुद्र कहे गये । इनको क्रम से पूर्व आदि दिशा में (स्थित) जानना चाहिये ॥ -११८२ ॥

उससे भी—

ऊपर समयावरण है ॥ ११८३- ॥

यहाँ पर स्थित रुद्रों को—

संक्षेप में बतला रहा हूँ । क्षुद्र प्रभव नामक समय, विमलशिव, घन,

प्रभवाख्यस्य समयस्य विशेषणं क्षुद्र इति । विमलः शिव इति विमल-शिवाख्यः ॥

एतांश्च—

...........तालूर्ध्वे तु विजानत ॥ ११८४ ॥

विजानतेति बहुवचनमुपदेश्यशिष्यप्रशिष्यादिभेदेन, एवमन्यत्र । तालूर्ध्व इति एतावदन्तमीश्वरतत्त्वाश्रयमिति स्मरणाय ॥ ११८४ ॥

तदत्र भुवनपञ्चदशकान्तर्वर्तिभुवनान्तरसङ्ख्यापूर्वमेतदुपसंहरति—

एकोनषष्टिर्भुवनं ज्ञानशक्त्यादितः क्रमात् ।
रुद्रोङ्कारान्तमित्येतद् दीक्षाकाले विशोधयेत् ॥ ११८५ ॥

ज्ञानशक्तेरादीनीश्वरविद्येश्वररूपसूक्ष्मावरणगतानि यानि भुवनानि, ततः प्रभृति रुद्रोङ्कारान्तमेकोनषष्टिरीश्वरतत्त्वेऽवान्तरभुवनानि । तत्रेश्वरस्यैकम्, विद्येशानामष्टौ, रूपावरणे चत्वारि, सूक्ष्मावृतौ त्रीणि, शुद्धावृतौ द्वे, विद्यावृतौ द्वे, प्रमाणावृतौ द्वे, (माना)[1]वृतौ चत्वारि, सुशुद्धावृत्तौ त्रीणि, शिवावृतावेकम्, मोक्षावृतावेकादश,

---

निरञ्जन और रुद्रोंकार ये पाँच हैं ॥ -११८३-११८४- ॥

प्रभव नामक समय रुद्र का विशेषण है—क्षुद्र । 'विमलः शिवः' का तात्पर्य है विमलशिव नामक रुद्र ॥

इनको—

ताल के ऊपर जानो ॥ -११८४ ॥

'विजानत' इस पद में बहुवचन का प्रयोग उपदेश शिष्य प्रशिष्य आदि के भेद को दृष्टि में रखकर किया गया है । ऐसे ही अन्यत्र भी (समझना चाहिये) । 'तालु के ऊपर' कथन यह स्मरण कराने के लिये है कि यहाँ तक ईश्वर तत्त्व ही सबका आधार है ॥ ११८४ ॥

अब यहाँ पर पन्द्रह भुवनों के अन्दर वर्त्तमान अन्य भुवनों की संख्या बतलाते हुए प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

ज्ञानशक्ति से लेकर रुद्रोंकार पर्यन्त क्रम से उनसठ भुवन हैं । दीक्षाकाल में उनका भी शोधन होना चाहिये ॥ ११८५ ॥

ज्ञानशक्ति से लेकर ईश्वर विद्येश्वर रूप सूक्ष्म आवरण में स्थित जो भुवन हैं वहाँ से ले कर रुद्रोङ्कारपर्यन्त उनसठ अवान्तर भुवन हैं । उनमें ईश्वर का एक, विद्येश्वरों का आठ, रूपावरण में चार, सूक्ष्मावरण में तीन, शुद्धावरण में दो, विद्यावरण में दो, प्रमाणावरण में दो, मानावरण में चार, सुशुद्धावरण में तीन,

---

1. नामा ।

ध्रुवावृतावेकम्, इच्छाशक्तिभुवनं वामादिशक्तित्रयेण सह चत्वारि, प्रबुद्धावृतावष्टौ, समयावृतौ पञ्चेत्येवमेकोनषष्ट्याऽवान्तरभुवनैर्युक्तमेतदीश्वरतत्त्वं सङ्क्षेपेण, न तु विस्तरतः शोधयेत् ॥ ११८५ ॥

अस्य च—

एकैकस्य परीवारः कोट्योऽनेकाः सहस्रशः ।

ते च—

त्रिनेत्रा वरदाः सर्वे शुद्धसामर्थ्यविग्रहाः ॥ ११८६ ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशा दशबाह्विन्दुशेखराः ।
त्रिशूलपाणयः सर्वे जटामुकुटमण्डिताः ॥ ११८७ ॥
सर्वे सर्वगुणोपेताः सर्वज्ञाः सर्वदेश्वराः ।
सर्वलक्षणसम्पूर्णाः सर्वाभरणभूषिताः ॥ ११८८ ॥
रुद्रकन्यासमाकीर्णा दिव्यै रूपैर्मनोहरैः ।
संक्रीडन्ते पुरवरैः शिवेच्छाविधिचोदिताः ॥ ११८९ ॥

शुद्धं मायामलेनाकलुषं यत्सामर्थ्यं ज्ञानक्रियाविषयम्, तदेव विग्रहः स्वरूपं येषाम् । यद्यपि सर्वे 'अहमिदं सर्वम्'—इति स्वाङ्गकल्पाशेषविश्वप्रकाशात्मानः, तथापीश्वरेच्छातो नानारूपा अपि । एवमुत्तरत्रापि ॥ ११८९ ॥

शिवावरण में एक, मोक्षावरण में ग्यारह, ध्रुवावरण में एक, वामा आदि तीन शक्तियों के तीन भुवन के साथ इच्छाशक्ति भुवन चार, प्रबुद्धावरण में आठ, समयावरण में पाँच, इस प्रकार उनसठ अवान्तर भुवनों से ईश्वर तत्त्व युक्त है । इनका संक्षेप में न कि विस्तार से शोधन करना चाहिये ॥ ११८५ ॥

इनमें से—

एक-एक का परिवार अनेक हजार कोटि का है ॥ ११८६- ॥

और वे—

सब त्रिनेत्र, वरद, शुद्ध सामर्थ्य शरीर वाले, शुद्ध स्फटिक के समान, दश भुजा वाले, चन्द्रशेखर, हाथ में त्रिशूल लिये, जटामुकुट से अलङ्कृत हैं । सभी समस्त गुणों से युक्त, सर्वज्ञ, सर्वदा ऐश्वर्य सम्पन्न, सर्वलक्षण परिपूर्ण, सर्वाभरणभूषित, रुद्रकन्याओं से परिवृत, शिव की इच्छा विधि से प्रेरित होकर दिव्य मनोहररूप वाले श्रेष्ठ भुवनों में क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ -११८६-११८९ ॥

शुद्ध = मायामल से रहित जो ज्ञानक्रिया विषयक सामर्थ्य वही विग्रह = स्वरूप, है जिनका (वे शुद्ध सामर्थ्य विग्रह हैं) । यद्यपि सबके सब 'मैं यह सब हूँ

अथ—

ईश्वरस्य तथोर्ध्वे तु अधश्चैव सदाशिवात् ।
सुशिवावरणं चोर्ध्वे तस्मिन् ज्ञेयः सदाशिवः ॥ ११९० ॥

यदेतत् सर्वविषयस्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्यावभासादेकमीश्वरतत्त्वमुक्तम्, तदन्तरा स्फुटेदन्ताच्छादकाहन्तावभासात्मकसदाशिवतत्त्वं विना नोपपद्यते । नह्यान्तराभासं विना बाह्याभासस्योदयो भवतीत्येतदीश्वरतत्त्वभित्तिभूतेन सदाशिवतत्त्वेन भवितव्यमित्याशयेनेश्वरस्योपरि सदाशिवतत्त्ववर्तिवक्ष्यमाणप्रधानसदाशिवभुवनस्याधः सदाशिवतत्त्वाश्रितसुशिवावरणमस्तीत्युक्तम् । सुशिवश्चेह सदाशिवभट्टारक एव । यदाह 'तस्मिन् ज्ञेयः सदाशिवः' वक्ष्यमाणपररूपात् सदाशिवादन्योऽयमपररूप इत्यर्थः ॥ ११९० ॥

स च—

त्रिपञ्चनयनो देवश्चन्द्रार्धकृतशेखरः ।
वक्त्रपञ्चकसंयुक्तो दशबाहुर्महाबलः ॥ ११९१ ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशः स्फुरन् वै दीप्ततेजसा ।
सिंहासनोपविष्टस्तु.............

इस प्रकार समस्त विश्व को अपना प्रकाश स्वरूप मानते हैं तो भी ईश्वर की इच्छा से ये अनेकरूप वाले भी हैं । इसी प्रकार आगे भी समझ लेना चाहिये ॥ ११८९ ॥

इसके बाद—

ईश्वर के ऊपर तथा सदाशिव से नीचे सुशिवावरण है । उसमें सदाशिव को स्थित समझना चाहिये ॥ ११९० ॥

सर्वविषयक स्फुट इदन्ता और अहन्ता के सामानाधिकरण्य के अवभास से एक यह जो ईश्वर तत्त्व कहा गया वह बीच में स्फुट इदन्ता के आच्छादक तथा अहन्ता के अवभासक सदाशिव तत्त्व के बिना उपपन्न नहीं होता । अन्त:आभास के बिना बाह्य आभास का उदय नहीं होता इसलिये सदाशिव तत्त्व ईश्वर तत्त्व का आधार होना चाहिये—इस आशय से ईश्वर तत्त्व के ऊपर तथा सदाशिव तत्त्व में रहने वाले वक्ष्यमाण प्रधान सदाशिवभुवन के नीचे सदाशिवतत्त्व में रहने वाला सुशिवावरण है—यह कहा गया । यहाँ सदाशिव भट्टारक ही सुशिव हैं । वही कहा—'उसमें सदाशिव को जानना चाहिये ।' यह सदाशिव वक्ष्यमाण पर रूप सदाशिव की अपेक्षा दूसरे अपर रूप हैं । ११९० ॥

और वह—

देव पन्द्रह नेत्रों वाले, मस्तक पर अर्धचन्द्र धारण किये हुए, पाँच मुखों से युक्त, दश भुजा वाले, महाबली, शुद्धस्फटिक के समान, दीप्त

तदुपरि च—

......श्वेतपद्मासनस्थितः ॥ ११९२ ॥

पञ्चब्रह्माङ्गसहितः सकलाद्यैः समन्वितः ।
दशभिश्च शिवैर्युक्तो रुद्राष्टादशकान्वितः ॥ ११९३ ॥

पञ्च ब्रह्माणि सद्योजातादीनि । अङ्गानि हृदयादीनि ॥ ११९३ ॥

सकलादीन् विभजति—

सकलो निष्कलः शून्यः कलाढ्यः खमलङ्कृतः ।
क्षपणश्च क्षयान्तस्थः कण्ठ्यौष्ठ्यश्चाष्टमः स्मृतः ॥ ११९४ ॥

अस्यान्तरक्रमेण स्थानमाह—

भ्रुवोर्मध्ये तु विज्ञेयो देवदेवः सदाशिवः ।
सकलाद्यैर्वृतो देवः............

देव इति द्योतमानः ॥

किं च—

.............ओंकारेशादिभिः क्रमात् ॥ ११९५ ॥

तेज से स्फुरित होते हुए, तथा सिंहासन पर उपविष्ट हैं ॥११९१-११९२-॥

उसके ऊपर—

श्वेत कमल पर स्थित, पञ्च ब्रह्माङ्ग के सहित, सकल आदि से समन्वित, दश शिवों से युक्त और अट्ठारह रुद्रों से समन्वित (सदाशिव हैं) ॥ -११९२-११९३ ॥

पञ्चब्रह्म = सद्योजात आदि (= वामदेव, अघोर, ईशान और तत्पुरुष) (पञ्च) अङ्ग = हृदय आदि (= शिर, शिखा, दोनों भुजायें, तीन नेत्र) ॥ ११९३ ॥

सकल आदि का विभाजन करते हैं—

सकल, निष्कल, शून्य, कलाढ्य, खमलङ्कृत, क्षपण, क्षयान्तस्थ और कण्ठ्यौष्ठ (ये सकलादि) कहे गये हैं ॥ ११९४ ॥

(शरीर के) अन्दर के क्रम से इनके स्थान को बतलाते हैं—

सकल आदि से घिरे हुए देदीप्यमान देवाधिदेव सदाशिव को दोनों भ्रुवों के मध्य में स्थित जानना चाहिये ॥ ११९५- ॥

देव = द्योतमान ॥

(सकल आदि के) अतिरिक्त वे—

वृत इति वर्तते ॥ ११९५ ॥

ओंकारेशादीन् दश शिवानाह—

ओंकारेशः शिवो दीप्तः कारणेशो दशेशकः ।
सुशिवश्चैव कालेशः सूक्ष्मरूपः सुतेजसः ॥ ११९६ ॥
शर्वश्च दशमः प्रोक्तः..........

त एते प्राग्दिश आरभ्य—

............ऊर्ध्वान्तं संव्यवस्थिताः ।

सदाशिवस्य ब्रह्मावरणसकलाद्यावरणाभ्यां बहिः ॥

एषामपि—

रुद्राश्चाष्टादश बहिः.........

संव्यवस्थिता इत्येव ॥

...............तेषां नामानि वै शृणु ॥ ११९७ ॥
विजयस्त्वथ निःश्वासः स्वयम्भूश्चाग्निवीरराट् ।
रौरवो मुकुटो विसरश्चन्द्रो बिम्बः प्रगीतवान् ॥ ११९८ ॥
ललित सिद्धरुद्रश्च सन्तानः शर्व एव च ।
परश्च किरणश्चैव पारमेश्वर एव च ॥ ११९९ ॥

क्रमशः ॐकारेश आदि के द्वारा भी आवृत हैं ॥ -११९५ ॥

ॐकारेश आदि दश शिवों को बतलाते हैं—

ॐकारेश, शिव, दीप्त, कारणेश, दशेश, सुशिव, कालेश, सूक्ष्मरूप, सुतेजस और शर्व नामक दसवें रुद्र हैं ॥ ११९६-११९७- ॥

वे ये (शिव) पूर्व दिशा से आरम्भ कर—

ऊर्ध्व दिशापर्यन्त व्यवस्थित हैं ॥ -११९७- ॥

(अर्थात् ये) सदाशिव के ब्रह्मावरण और सकलादि आवरण के बाहर (स्थित हैं) ॥

इनके भी—

बाहर अट्ठारह रुद्र सम्यक् व्यवस्थित हैं ॥ -११९७- ॥

सम्यक् रूप से अवस्थित हैं—यह शेष है ॥

उनके नामों को सुनो । विजय, निःश्वास, स्वयम्भू, अग्नि, वीरराट्, रौरव, मुकुट, विसर, चन्द्र, बिम्ब, प्रगीतवान्, ललित, सिद्धरुद्र, सन्तान,

अग्निसहितो वीरराडिति द्वौ । एते चैतन्नामकस्य मुक्त्यवताराः शास्त्रावतारैर्विश्वमनुगृह्णानाः स्थिताः, अत एव दशाष्टादशभेदेन चैतदुच्यते ॥ ११९९॥

तदेवं ब्रह्माङ्गसकलादिशिवरुद्रावरणैश्चतुर्भिः परिवृतः—

सादाख्यस्तु समाख्यातः सकलो मन्त्रविग्रहः ।
सर्वकारणमध्यक्षः सृष्टिसंहारकारकः ॥ १२०० ॥
भुक्तिमुक्तिप्रदाता च साधकानां क्रियावताम् ।

भवनामतः प्रभृति सदिति व्यपदेशप्रवृत्तेः सदाख्ये सदाशिवतत्त्वे भवो देवः सादाख्यः, स च सकलो मन्त्रमूर्तिरिति । वक्ष्यमाणनिष्कलमूर्त्यपेक्षयाऽध्यक्षः सर्वेषामधिष्ठाता सर्वदर्शी च । सर्वकारणत्वं सुस्पष्टयति—सृष्टीति । सृष्टिसंहारौ स्थितिविलयावप्युपलक्षयतः । साधकानामित्याराधकानां मुमुक्षूणां मुक्तिं सिषाधयिषूणां मुक्तिम्, भुक्तिपूर्वां मुक्तिं तु क्रियावतामनुष्ठानपराणां सम्पादयति ॥

किं च—

कोटयः सप्त मन्त्राणामासने तस्य संस्थिताः ॥ १२०१ ॥

सर्व, पर, किरण और पारमेश्वर (ये अट्ठारह रुद्र हैं) ॥-११९७-११९९॥

(अग्निवीराट् का तात्पर्य है—) अग्नि के सहित वीरराट् । इस प्रकार दो (रुद्र) हैं । और ये (दश और अट्ठारह रुद्र) इस (सदाशिव) नामक (देव) के मुक्तिप्रद अवतार हैं जो शास्त्रों में वर्णित अवतारों (अथवा शास्त्रों के रूप में अवतारों) के द्वारा विश्व पर अनुग्रह करते हुए स्थित हैं । इसीलिये यह (= सदाशिव) दश और अट्ठारह भेद वाले कहे जाते हैं ॥ ११९९ ॥

इस प्रकार ब्रह्माङ्ग, सकल आदि, शिव एवं रुद्र इन चार आवरणों से परिवृत—

सादाख्य सकल, मन्त्रविग्रह, सर्वकारणअध्यक्ष, सृष्टिसंहारकारक, और क्रियावान् साधकों के लिये भोगमोक्षप्रद है ॥ १२००-१२०१- ॥

भव नाम से लेकर सत् ऐसा व्यवहार होने के कारण सदाशिव सदाख्य कहे जाते हैं । उस सदाख्य तत्त्व में जो हो उसे सादाख्य कहते हैं और वे हैं—सकल मन्त्रमूर्त्ति । यह वक्ष्यमाण निष्कलमूर्त्ति की अपेक्षा अध्यक्ष = सबके अधिष्ठाता एवं सर्वदर्शी हैं । सर्वकारणता को स्पष्ट करते हैं—सृष्टि......... । सृष्टि और संहार पद स्थिति और विलय को भी बतलाते हैं । साधकों को = आराधकों को मुमुक्षुओं को = मुक्ति को प्राप्त करने की इच्छा वालों को मुक्ति देते हैं और जो क्रियावान् अर्थात् अनुष्ठान करने वाले हैं उनको पहले भुक्ति और बाद में मुक्ति देते हैं ॥

तथा—

उनके आसन में सात करोड़ मन्त्र स्थित हैं ॥ -१२०१ ॥

निवृत्ताधिकाराश्चार्धचतस्त्र: प्रवृत्ताधिकाराश्चार्धचतस्त्र इति या: सप्त मन्त्रकोटय:, ता सर्वा अनेनाधिष्ठिता इत्यर्थ: । ईश्वरभट्टारकेण त्वधिकारे प्रवृत्ता अर्धचतस्त्र एवाधिष्ठितास्तस्य स्थूलभोगत्वादिति शेष: । अत एव प्रागीश्वरस्यासनपद्मं सहस्रदलमुक्तम् ॥ १२०१ ॥

अस्यासनं तु ततोऽपि विशिष्टमित्याह—

आसनं लक्षपत्राढ्यं चन्द्रकोट्ययुतप्रभम् ।

ईश्वरपद्मादप्यधिकदलमित्यर्थ: ॥

तच्च पद्मम्—

वामाद्यैर्विभुपूर्वैश्च पञ्चवक्त्रैस्त्रिलोचनै: ॥ १२०२ ॥
ताराद्यै: शक्तिभेदैश्च प्राग्दिश: परिवारितम् ।

वामाद्या: प्रागुक्ता एवेह परेण रूपेण स्थिता:, विभूपूर्वोक्तास्तु—

'विभुर्ज्ञानी क्रिया चेच्छा वागीशी ज्वालिनी तथा ।
वामा ज्येष्ठा च रौद्री च सर्वा: कालानलप्रभा: ॥' (८।६६)

इति श्रीपूर्वे निर्दिष्टा: । ताराद्यास्तु शक्तय: प्रागुक्ताष्टात्रिंशत्कलारूपा: । तत्र

निवृत्त अधिकार वाले आधाकम चार सौ अर्थात् (= साढ़े तीन सौ) और प्रवृत्त अधिकार वाले साढ़े तीन सौ इस प्रकार जो सात करोड़ मन्त्र हैं उन सबके यह अधिष्ठाता हैं । जहाँ तक ईश्वरभट्टारक की बात है वे तो अधिकार में प्रवृत्त साढ़े तीन करोड़ मन्त्रों के ही अधिष्ठाता है क्योंकि उनका (= ईश्वर का) भोग स्थूल है । इसीलिये ईश्वर का आसन कमल सहस्र दल वाला कहा गया है ॥ १२०१ ॥

इस (= सादाख्य) का आसन तो उससे भी विशिष्ट है—यह कहते हैं—

(यह) आसन एक लाख कमलदलों वाला है जिसकी कान्ति दश हजार करोड़ चन्द्रमा की कान्ति जैसी है ॥ १२०२- ॥

अर्थात् यह कमलासन ईश्वर के कमलासन की अपेक्षा अधिक दलों वाला है ॥

और वह पद्म—

पञ्चवक्त्र, त्रिलोचन, वामा आदि, विभु, पूर्व आदि तथा तारा आदि भिन्न-भिन्न शक्तियों द्वारा पूर्व दिशा से परिवारित हैं ॥ -१२०२-१२०३- ॥

पूर्वोक्त वामा आदि ही यहाँ पर पररूप से स्थित हैं । विभुपूर्वोक्तों का मालिनीविजय में—

'विभु, ज्ञानी, क्रिया, इच्छा, वागीशी, ज्वालिनी, वामा, ज्येष्ठा और रौद्री ये सब कालाग्नि के समान हैं । (मा.वि.तं. ८।६६)

वामाद्या: प्रागादिदिक्क्रमेण दलेषु मध्यान्ता: । विद्याद्यास्तु तत्प्रातिलोम्येन मध्यादिप्राग्दलान्ता: । तदुक्तं श्रीपूर्वे—

'वामा ज्येष्ठा' (८।३३)

इत्युपक्रम्य,

'भानुमार्गेण विन्यसेत् ।
विभ्वादिनवकं चान्यद्विलोमात् परिकल्पयेत् ॥' (८।६५) इति ।

ताराद्यास्तु प्रागादिक्रमेणैव न्यस्ता भावनीया: ॥

अस्य च देवस्य—

ज्ञानशक्ति: क्रियाशक्तिर्वामे दक्षिणत: स्थिते ॥ १२०३ ॥

पाठक्रमादर्थक्रमो बलीयानिति न्यायाद् ज्ञानशक्तिर्दक्षिणे क्रियाशक्तिर्वाम इति ज्ञेयम् ॥

किं च—

इच्छाशक्ति: परा देवि यया सर्वमधिष्ठितम् ।

इस प्रकार निर्देश है । तारा आदि शक्तियाँ पूर्वोक्त अड़तीस कलारूप हैं । उनमें से वामा आदि पूर्व आदि दिशा के क्रम से मध्यपर्यन्त दलों में स्थित हैं और विद्या आदि उसके उल्टे क्रम से अर्थात् मध्य से लेकर पूर्व आदि तक स्थित हैं । वही श्रीपूर्व शास्त्र में कहा गया—

'वामा ज्येष्ठा..........' (८।३३)

ऐसा प्रारम्भ कर—

'सूर्य मार्ग से न्यास करना चाहिये । और विभु आदि नव का विलोम से न्यास करे ।' (मा.वि.तं. ८।६५)

तारा सुतारा आदि की—वे पूर्व आदि के क्रम से न्यस्त हैं—ऐसी भावना करनी चाहियें ॥

इस देव (सदाशिव) की—

ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति (इनके) दाहिने तथा बाँये ओर स्थित बतलायी गयी हैं ॥ -१२०३ ॥

'पाठक्रम की अपेक्षा अर्थक्रम बलवान् होता है'—इस नियम के अनुसार ज्ञानशक्ति (सदाशिव के) दक्षिण पार्श्व में और क्रियाशक्ति वाम भाग में स्थित है—ऐसा समझना चाहिये ॥

और भी—

उत्पत्तिस्थितिसंहारांस्तिरोभावमनुग्रहम् ॥ १२०४ ॥
यया करोति देवेशः सर्वदा सर्वमध्वनि ।
तस्योत्सङ्गगता सा तु नित्यं चैवात्मवर्तिनी ॥ १२०५ ॥

परेति ज्ञानक्रियापेक्षया । अधिष्ठितं व्याप्तम् । सर्वमिति सृष्ट्यादिपञ्चकविशेषणम् । सर्वदेति—

'तदेवं व्यवहारेऽपि प्रभुर्देहादिमाविशन् ।
भान्तमेवान्तरर्थौघमिच्छया भासयेद्बहिः ॥' (१।६।७)

इति प्रत्यभिज्ञोक्तनीत्या देहाद्याविष्टश्चिदात्मा महेश्वरस्तदर्थावभास-तत्स्थिति-तच्चर्वण-तत्संस्कारावस्थापन-तत्प्रकाशमयत्वापादनैर्हि प्रतिक्षणं जगतः पञ्च कृत्यानि करोति । उत्सङ्गगतेति । आकृतिमत्त्वे आत्मशिवस्य ॥ १२०५ ॥

तत्कथं सदाशिवस्योक्तमिति तत्संख्यामाह—

सा चेच्छा देवदेवस्य शिवस्य परमात्मनः ।
स एवापररूपेण पञ्चमन्त्रमहातनुः ॥ १२०६ ॥
इच्छारूपधरः श्रीमान् देवदेवः सदाशिवः ।

हे देवि ! इनकी इच्छाशक्ति सर्वश्रेष्ठ बतलायी गयी है जिसने सबको अधिष्ठित कर रखा है । इसी के द्वारा देवेश अध्वाओं में सर्वदा समस्त उत्पत्ति, स्थिति, संहार, निग्रह और अनुग्रह (नामक पञ्चकृत्य) करते रहते हैं । उसकी गोद में बैठी हुई वह नित्य आत्मारूपी शिव में वर्त्तमान रहती है ॥ १२०४-१२०५ ॥

परा-ज्ञान और क्रिया शक्ति की अपेक्षा (इच्छा शक्ति पर है) । अधिष्ठित = व्याप्त । सब—यह सृष्टि आदि पञ्चकृत्य का विशेषण है । सर्वदा—

तो इस प्रकार प्रभु (= परमेश्वर) व्यवहार में भी देह आदि में आविष्ट होते हुए अपने अन्दर भासित होने वाले तत्त्वसमूह को अपनी इच्छा से बाहर अवभासित करते रहते हैं ।' (ई.प्र. १।६।७)

इस नियम के अनुसार देह आदि में आविष्ट चिदात्मा महेश्वर उन अर्थों का अवभासन-उनकी स्थिति-उनकी चर्वणा-उनका संस्कारावस्थापन-और उनको प्रकाशमय करने के द्वारा प्रतिक्षण जगत् का पञ्चकृत्य करते रहते हैं । गोद में बैठी हुई—ऐसा आत्म शिव के शरीर धारण करने पर होता है ॥ १२०५ ॥

तो फिर यह कार्य सदाशिव का कैसे कहा गया ?—इस प्रश्न का संख्यान (= स्पष्टीकरण) करते हैं—

देवाधिदेव परमात्मा शिव की वह इच्छा अपर रूप से पञ्चमन्त्र महातनु है अर्थात् वही इच्छारूपधर श्रीमान् देवाधिदेव सदाशिव हैं । (तात्पर्य यह है

यतः शिव एवापररूपेण सदाशिवः, अत इच्छाऽस्य शक्तिरुक्तेत्यर्थः । पञ्चभिरीशानादिब्रह्मभिर्मन्त्रैर्महती विश्वव्यापिका महामाहात्म्या च तनुर्यस्य । शिवस्यानुग्रहार्थमेतदपररूपग्रहणं स्वस्वातन्त्र्यादित्याह—इच्छारूपधर इति । अत एवायं सदेत्याकृतिपरिग्रहापरिग्रहयोः शिव इवेति कृत्वा सदाशिव उच्यते । श्रीमान् ज्ञानदीप्त्यतिशययुक्तः ॥

अत्र च—

शक्तयस्तस्य याः प्रोक्ताः.........

वामाद्याः ॥

.............तथा वै मन्त्रनायकाः ॥ १२०७ ॥

आवरणचतुष्टयस्थाः ॥ १२०७ ॥

एते सर्वे—

एकैकं परितो देवि पद्मैरर्बुदकोटिभिः ।
तथा खर्वनिखर्वैश्च प्रतिरूपैर्महाबलैः ॥ १२०८ ॥
विद्यारूपैः स्वरूपाढ्यैरप्रमेयगुणान्वितैः ।

कि शिव की इच्छा ही सदाशिव हैं) ॥ १२०६-१२०७- ॥

चूँकि शिव ही अपने अपर रूप से सदाशिव हैं इसलिये इच्छा इनकी शक्ति कही गयी है । ('पञ्चमन्त्र महातनुः' की व्याख्या करते हैं—) ईशान आदि पाँच ब्रह्ममन्त्रों से बनी महती = विश्वव्यापिनी और महामाहात्म्य वाली शरीर है जिसकी वह (पञ्चमन्त्र महातनु है) । शिव ने अनुग्रह हेतु अपने स्वातन्त्र्य से इस अपर रूप को धारण किया इसलिये कहा—इच्छारूपधर । इसीलिये ये सदाशिव कहे जाते हैं जिसका अर्थ होता है—सत् अर्थात् आकृति के परिग्रह और अपरिग्रह के विषय में शिव के समान हैं । श्रीमान् का तात्पर्य है—अत्यधिक ज्ञानदीप्ति से युक्त ॥

इनमें—

जो वामा आदि शक्तियाँ कही गयीं तथा चार आवरणों में रहने वाले मन्त्र नायक कहे गये ॥ १२०७ ॥

आवरण चतुष्टय में रहने वाले—यह शेष है ॥ १२०७ ॥

वे सब—

हे देवि ! एक-एक करके सब ओर से करोड़ों अरब पद्मों[1] तथा खर्ब

---

१. यह संख्या का नाम है जो दश नील के बराबर होती है । एक नील दश खर्ब के बराबर होता है ।

सर्वलक्षणसम्पन्नैः　　सर्वाभरणभूषितैः ॥ १२०९ ॥
हास्यलास्याविलासाढ्यैर्भ्रूक्षेपोन्मदविभ्रमैः　।
चन्द्रकोटिशतप्रख्यैः　प्रस्रवद्भिरिवामृतम् ॥ १२१० ॥

परिवृता इत्यर्थः । एकैकमिति क्रियाविशेषणम् । पद्मार्बुदादयो वक्ष्यमाण-सङ्ख्याविशेषरूपाः । प्रतिरूपैरिति मुख्यसदृशैः । बलं ज्ञानक्रियासामर्थ्यम् । रूप-माकृतिसौन्दर्यं स्वरूपं च । गुणाः सर्वज्ञत्वादयः । लक्षणानि ज्ञानयोगैश्वर्याणि । सर्वेण आभरणेन भूषितैः । अशेषविश्वात्मभिः परानुग्रहप्रवणतया नित्यप्रमुदितत्वेन हास्यलास्यादियुक्तत्वम् । अत एव हेलामात्रेण परानुग्रहसम्पत्तेर्भ्रूक्षेपेणोद्गतो मदो येषु तादृशा विभ्रमा विलासा येषां तैर्विद्यावृन्दैः परिवृता इति सङ्गतिः ॥१२१०॥

अतश्चात्र—

ताभिः सार्धं सदा रुद्राः प्रक्रीडन्तीच्छया प्रभोः ।
पुरवरैः　सर्वतोभद्रैश्चन्द्रकोटिसमप्रभैः ॥ १२११ ॥

ताभिर्विद्याभिः क्रीडन्ति परानुग्रहायैव विहरन्ति पुरवरैरुपलक्षिताः ॥ १२११ ॥

निखर्ब एवं अपने समान रूप वाले महाबलशाली विद्यारूपों से आवृत हैं । ये विद्यायें अत्यन्त सुन्दर, अप्रमेय गुणों से युक्त, सर्वलक्षणसम्पन्न, सर्वाभरणभूषित, हास्यलास्य विलास से भरपूर, भौंहों के विक्षेप से मद का विभ्रम पैदा करने वाली तथा अमृतक्षरण करने वाले सौ करोड़ चन्द्रमा के समान हैं ॥ १२०८-१२१० ॥

एकैकम्—यह क्रियाविशेषण है (अर्थात् इसे परिवृता के साथ जोड़ना चाहिये) पद्म अर्बुद आदि संख्यायें है जिनका वर्णन आगे किया जायेगा । प्रतिरूप = मुख्य सदृश । बल = ज्ञान और क्रिया का सामर्थ्य । रूप = आकृति का सौन्दर्य और स्वरूप । गुण-सर्वज्ञता तृप्ति आदि । लक्षण = ज्ञान, योग ऐश्वर्य । (सर्वाभरण भूषितैः का अर्थ है—) सब आभरणों से अलङ्कृत । अशेष विश्वात्मा होने के कारण परानुग्रहप्रवण होने से नित्यप्रमुदित होने के कारण ये हास्य लास्य आदि से युक्त हैं । इसीलिये हेलामात्र (= अनायास) परानुग्रहसम्पत्ति के कारण भ्रूक्षेप के द्वारा जिनमें मद प्रकट हो गया है ऐसे विभ्रम = विलास, हैं जिनके उन विद्या समूहों से परिवृत हैं—यह अन्वयार्थ है ॥ १२१० ॥

इसलिये यहाँ—

प्रभु की इच्छा से कोटि चन्द्र के समान कान्ति वाले सर्वतोभद्र श्रेष्ठ भुवनों में उनके साथ रुद्रगण सदा क्रीड़ा करते रहते हैं ॥ १२११ ॥

उन = विद्याओं के साथ । क्रीड़ा करते हैं = दूसरों के ऊपर अनुग्रह करने के लिये विहरण करते रहते हैं । 'पुरवरैः' उपलक्षित (वे रुद्र क्रीड़ा करते हैं) ॥ १२११ ॥

त एते सर्वे—

मायाधर्मविनिर्मुक्ता निर्मला विगतज्वराः ।
अधिकारं प्रकुर्वन्ति सर्वज्ञामोघशक्तयः ॥ १२१२ ॥

मायाया धर्मश्चित्स्वरूपावरणम्, तेन विनिर्मुक्ताः । यद्यपि परमशिवापेक्षयैषां सङ्कुचितत्वं महामायाकार्यं पाशेनास्ति, तथापि मायाप्रमातृवत् सङ्कोचमया न भवन्ति । अत एव च निर्मला मायानावृताः । सङ्कोच एव हि पुंसामाणव-मलमित्युक्तप्रायम् । अत एवैते विगतज्वराः सर्वसन्तापरहिता । एवमपि चानुग्राह्यानुग्रहाय शिवेन नियतिकालाधिकारवशानुबद्धाः स्थापिताः । सर्वज्ञाश्च ते, अमोघशक्तयश्च त इति समासः ॥

किं च—

अधिकारक्षये शान्ता जायन्ते सर्वगाः शिवाः ।

शान्ता निवृत्तमहामायाकृततावन्मन्त्राख्याः, तथा व्यापकशिवैकीरूपा भवन्ती-त्यर्थः ॥

इत्थं च—

वे ये सब—

माया के धर्म से रहित, निर्मल, सन्तापरहित, सर्वज्ञ और अमोघ शक्ति वाले होते हुए अपने अधिकार का उपभोग करते हैं ॥ १२१२ ॥

माया का धर्म है—चित् के स्वरूप को ढँक देना । ये उस आवरण से रहित हैं । यद्यपि पाश के कारण परमशिव की अपेक्षा इनके लिये महामाया का कार्य सङ्कोच रहता है तथापि जैसे मायाप्रमाता सङ्कोचमय रहते हैं वैसे ये नहीं रहते । इसीलिये ये निर्मल = माया से अनावृत हैं । सङ्कोच ही पुरुषों का आणव मल है—यह प्रायः कह दिया गया है इसीलिये ये विगतज्वर = सन्तापरहित, हैं । ऐसा होने पर भी अनुग्राह्यों के प्रति अनुग्रह करने के लिये शिव ने इन्हें नियति काल के अधिकारवश अनुबद्ध कर स्थापित कर दिया है । 'सर्वज्ञामोघशक्तयः' का समासविग्रह करते हैं—सर्वज्ञाश्च ते अमोघशक्तयश्च ते ॥

तथा—

अधिकार का क्षय हो जाने पर ये शान्त सर्वव्यापी शिव हो जाते हैं ॥ १२१३- ॥

शान्त = इनका महामायाकृत मन्त्र नाम मिट जाता है । तथा व्यापक शिव से एक हो जाते हैं ॥

इस प्रकार—

परप्रेर्याः पुनर्भूयो न भवन्ति कदाचन ॥ १२१३ ॥

महासंसारतः सदाशिवान्ते विश्वत्र शून्यातिशून्यपदमाप्ते येऽविदिततत्त्वास्ते महासृष्टौ भूयः सृज्यन्ते, यथैकादशे दर्शयिष्यते । एते तु भगवन्तो मुच्यन्त एवेति पुनःशब्दस्यार्थः ॥

उपसंहरति—

सुशिवावरणं ख्यातं मन्त्रगर्भं वरानने ।

मन्त्रा आसनगता आवरणगताश्च गर्भे यस्य तदेतत् सुशिवस्य सदाशिवभट्टारकस्य सम्बन्धि आवरणं भुवनमित्यर्थः । अथ च परिपूर्णज्ञानशालिव्यतिरेकेणान्येषां परपदावारकत्वादेव तान्यावरणानीत्युच्यन्ते ॥

अथ—

बिन्द्वावरणमूर्ध्वेऽतश्चन्द्रकोटिसमप्रभम् ॥ १२१४ ॥

बिन्दुतत्त्वस्थानव्याप्तिरूपमावरणं बिन्द्वावरणम् ॥ १२१४ ॥

तत्र पद्मं महादीप्तं दशकोटिसमन्वितम् ।
तत्र पद्मे स्थितो देवः शान्त्यतीतो महाद्युतिः ॥ १२१५ ॥

ये पुनः परप्रेर्य होकर संसार में कभी जन्म नहीं लेते ॥ -१२१३ ॥

महासंसार से लेकर सदाशिवपर्यन्त सर्वत्र शून्य-अतिशून्य पद को प्राप्त करने वाले भी जो (साधक) तत्त्वज्ञानी नहीं हैं वे महासृष्टि में पुनः सृजित होते हैं—यह बात ग्यारहवें पटल में बतलायी जायेगी । लेकिन ये ऐश्वर्यशाली महानुभाव तो मुक्त ही हो जाते हैं—यह 'पुनः' शब्द का अर्थ है ॥

(इस प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

हे वरानने ! मन्त्रगर्भित सुशिवावरण का कथन हो गया ॥ १२१४- ॥

आसन में रहने वाले तथा आवरण में रहने वाले मन्त्र जिसके गर्भ में हैं वह (मन्त्रगर्भ है) । यह सुशिव = सदाशिवभट्टारक से सम्बद्ध आवरण अर्थात् भुवन है। परिपूर्ण ज्ञानशाली को छोड़ कर अन्य के लिये परपद का आवारक होने के कारण ये आवरण कहे जाते हैं ॥

अब—

इसके ऊपर में करोड़ों चन्द्रमा के समान कान्ति वाला बिन्दु आवरण है ॥ -१२१४ ॥

विन्द्वावरण का अर्थ है—बिन्दुतत्त्वस्थान की व्याप्ति रूप आवरण ॥ १२१४ ॥

उस विन्दु आवरण में दश करोड़ (दलों) से युक्त महादीप्तिमान कमल

पञ्चवक्त्रो विशालाक्षो दशबाहुस्त्रिलोचनः ।
तडित्सहस्रपुञ्जाभः स्फुरन्माणिक्यमण्डितः ॥ १२१६ ॥

अशेषं यद्विश्वम्, तदिह प्राप्तमहाविकासदीप्तियोगोत्कृष्टत्वान्माणिक्यम् ॥१२१६॥

किं च—

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च।
परिवारः स्मृतस्तस्य शान्त्यतीतस्य सुव्रते ॥ १२१७ ॥

प्रागुक्तं कलाचतुष्टयमेवाशेषविश्वाध्वगर्भं परशक्तिरूपतया स्थितमस्य देवस्य परिवारः ॥

किं च—

तस्य वामे तु दिग्भागे शान्त्यतीता व्यवस्थिता ।

एताश्च—

पञ्चवक्त्रा स्मृता सर्वा दशबाह्विन्दुशेखराः ॥ १२१८ ॥

तदेवम्—

है । उस कमल के ऊपर महाद्युतिमान् भगवान् शान्त्यतीत विराजमान हैं । ये पाँच मुखों वाले, विशाल नेत्रों वाले, दश भुजाओं और तीन नेत्रों वाले, हजारों विद्युत्समूह के समान कान्तिवाले तथा चमकते हुए माणिक्य से अलङ्कृत हैं ॥ १२१५-१२१६ ॥

जो समस्त विश्व है वही महाविकास को प्राप्त होने से दीप्तिमान् होने के कारण उत्कृष्ट होने से माणिक्य है ॥ १२१६ ॥

और भी—

हे सुव्रते ! निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या तथा शान्ता (कलायें) उनका परिवार कही गयी हैं ॥ १२१७ ॥

समस्त विश्वाध्वा को अपने गर्भ में धारण करने वाली अत एव परशक्ति के रूप में स्थित पूर्वोक्त चार कलायें इस देव का परिवार हैं ॥

तथा—

उस देव के वाम भाग में शान्त्यतीता कला स्थित है ॥ १२१८- ॥

ये—

समस्त कलायें पाँच मुखों एवं दश भुजाओं वाली तथा चन्द्रशेखरा हैं ॥ -१२१८ ॥

बिन्दुतत्त्वं समाख्यातं पुरकोट्यर्बुदैर्वृतम् ।

मन्त्रमन्त्रेशतदीशपरिवारसम्बन्धिभिः । एष च शान्त्यतीत ईश्वरभट्टारकपरख्यातिरूपः । यद्वक्ष्यति ।

'आभिः कलाभिः संयुक्तो ध्यातव्यो बिन्दुरीश्वरः' (१२।१५७)

इति । योजनिकाग्रन्थेऽप्युक्तम्—

'बिन्दुश्चैवेश्वरः स्वयम्' (४।२६४)

इति अस्मिन् ह्यध्वनि स्थूलसूक्ष्मादिभेदेन मन्त्रदेवतादीनां स्थितिरित्युक्तप्रायम् ॥

एतद्बिन्द्वावरणमुक्त्वाऽर्धचन्द्राद्यावरणमप्याह—

अर्धचन्द्रस्तदूर्ध्वे तु तदूर्ध्वे तु निरोधिका ॥ १२१९ ॥

अत्र भुवनान्याह—

एते द्वे तु महास्थाने पञ्चपञ्चकलान्विते ।

कला देवताः—

तत्र—

तो इस प्रकार—

एक करोड़ अर्बुद भुवनों से युक्त यह बिन्दु तत्त्व कहा गया ॥१२१९-॥ (ये भुवन) मन्त्र मन्त्रेश्वर और उनके ईश (= मन्त्रमहेश्वर) के परिवार से सम्बद्ध और यह शान्त्यतीत ईश्वरभट्टारक परख्यातिरूप है । जैसा कि कहेंगे—

'इन कलाओं से युक्त ईश्वरबिन्दु का ध्यान करना चाहिये ।' (१२।१५७)

योजनिका ग्रन्थ में भी कहा गया—

'स्वयं ही ईश्वर बिन्दु है ।' (४।२६४)

इस अध्वा में स्थूल सूक्ष्म आदि (= पर) भेद से मन्त्रदेवता आदि (= र, मन्त्रमहेश्वर) की स्थिति है—यह लगभग कहा गया ॥

इस विन्द्वावरण का निर्वचन कर अर्धचन्द्रादि आवरण को भी कहते हैं—

इसके ऊपर अर्धचन्द्र और इस (= अर्धचन्द्र) के ऊपर निरोधिका आवरण है ॥ -१२१९ ॥

इसमें भुवनों को बतलाते हैं—

ये दोनों महास्थान पाँच-पाँच कलाओं से युक्त हैं ॥ १२२०- ॥

कला = देवतायें ॥ १२१९- ॥

ज्योत्स्ना ज्योत्स्नावती कान्तिः सुप्रभा विमला शिवा ॥ १२२० ॥
अर्धचन्द्रे स्थिता ह्येता निरोधिन्यां शृणु प्रिये ।
रुन्धनी रोधनी रौद्री ज्ञानबोधा तमोपहा ॥ १२२१ ॥

विमलाया विशेषणं शिवेति । अर्धचन्द्रपदस्य प्रकाशाह्लादप्रकर्षात्तच्छक्तीनां तथोचितनामानि । निरोधिनीपदस्यापि निरोधहेतुत्वाद्रुन्धनी रोधनी रौद्रीति तिस्रः शक्तयः । प्रबुद्धानां तु निरोधनिवृत्तौ ज्ञानबोधा तमोपहेति शक्तिद्वयमूर्ध्वप्रवेशदातृत्वादेवमभिधानम् ॥ १२२१ ॥

अत्र पूर्वोक्तं मात्राविभागं स्मारयति—

अर्धमात्रः स्मृतो बिन्दुः खरूपश्च चतुष्कलः ।
तस्याप्यर्धमर्धचन्द्रस्त्वष्टांशश्च निरोधिका ॥ १२२२ ॥

'ह्रस्वं दीर्घं प्लुतं सूक्ष्ममतिसूक्ष्मम्' (६।४)

इत्येतद्ग्रन्थनिर्णयावसर एवैतन्निर्णीतं यथा यावद्यावन्मन्त्रोच्चार ऊर्ध्वोर्ध्वं पदमाश्रयति, तावत्तावद्वाच्यवाचकगता स्थूलरूपता निवर्तते, सूक्ष्मसूक्ष्मतरादिरूपता

उनमें—

अर्धचन्द्र में ज्योत्स्ना, ज्योत्स्नावती, कान्ति, सुप्रभा और कल्याणकारिणी विमला नामक कलायें हैं । हे प्रिये! अब निरोधिनी में स्थित देवताओं को सुनो । (यहाँ) रुन्धनी, रोधनी, रौद्री, ज्ञानबोधा और तमोऽपहा है ॥ -१२२०-१२२१ ॥

चूँकि अर्धचन्द्र पद प्रकाश एवं आह्लाद से परिपूर्ण है इसलिये उसकी शक्तियों के नाम उसी के अनुसार उचित हैं । निरोधिनी स्तर भी निरोध का कारण होने से रुन्धनी रोधनी और रौद्री ये तीन शक्तियाँ (अज्ञानियों के लिये हैं) और जो ज्ञानी है उनका निरोध दूर हो जाने से ज्ञानबोधा तमोपहा ये दो शक्तियाँ उर्ध्वस्तर में प्रवेश देती है । अतः उनके ये नाम हैं ॥ १२२१ ॥

यहाँ पर पूर्वोक्त मात्राविभाग का स्मरण कराते हैं—

बिन्दु आधी मात्रा वाला है । वह आकाश की भाँति रूप वाला तथा चार कलाओं वाला है । अर्धचन्द्र उसकी आधी मात्रा वाला है । निरोधिका बिन्दु के आठवें भाग की मात्रा वाली हैं ॥ १२२२ ॥

'ह्रस्व दीर्घप्लुत सूक्ष्म और अतिसूक्ष्म' (६।४)

यह बात इस ग्रन्थ के निर्णय के अवसर पर ही कह दी गयी । तात्पर्य यह है कि मन्त्र का उच्चारण जितने-जितने ऊर्ध्व पद को प्राप्त करता जाता है, वाच्य और वाचक में रहने वाली स्थूलता उतनी-उतनी ही मात्रा में कम होती जाती है ।

चाभिव्यज्यमाना विश्रान्तिप्रकर्षं ददाति यावदुन्मनापरतत्त्वात्मनि पर्यन्ते सर्वोपाधि-प्रशान्त्या चिदानन्दघनस्वच्छन्दभैरवरूपावेशो भवतीति । तदेवेह परमेश्वरेण स्मारितं तथा भुवनशुद्ध्यवसरे सूक्ष्मतरसूक्ष्मतमादिरूपा मान्त्री व्याप्तिरनुसरणीया गुरुभिः । एवमुत्तरत्रापि स्वयमनुसर्तव्यम् ॥ १२२२ ॥

निरोधिन्याः स्वरूपं निर्वक्ति—

निरोधयति देवान् सा ब्रह्माद्यांस्तु वरानने ।

का तु कथा सामान्यजन्तूनाम् ॥

यत एवम्, तेनैषा—

निरोधिनीति विख्याता..........

अतश्च पूर्वोक्तकरणबन्धव्याप्त्यनुसरणपुरःसरमन्त्रोच्चारयुक्त्या—

..........तां भित्त्वा तु वरानने ॥ १२२३ ॥
सादाख्यपरभावेन पञ्चमन्त्रमहातनुः ।

लभ्यत इति शेषः । सादाख्यदेव इत्यर्थः । परभावेनेति प्रागुक्तो यः, स

तथा मन्त्रों की सूक्ष्म सूक्ष्मतर आदि रूपता क्रमशः अभिव्यक्त होती हुई तब तक प्रकृष्ट विश्रान्ति देती रहती है जब तक कि परतत्त्वरूप उन्मना के अन्त में समस्त उपाधियों के प्रशान्त होने से (साधक के अन्दर) चिदानन्दघनस्वच्छन्द भैरवरूप का समावेश नहीं हो जाता । वही बात परमेश्वर के द्वारा (उक्त श्लोक में) स्मरण करायी गयी । इसका उद्देश्य है कि भुवनशुद्धि के अवसर पर गुरुओं के द्वारा सूक्ष्मतर सूक्ष्मतम आदि रूपा मन्त्रव्याप्ति का अनुसरण करना चाहिये । इसी प्रकार आगे भी स्वयं समझना चाहिये ॥ १२२२ ॥

अब निरोधिनी के स्वरूप का निर्वचन करते हैं—

हे वरानने ! वह ब्रह्मा आदि देवताओं को (उन्मना पद में जाने से) रोक देती है ॥ १२२३- ॥

फिर सामान्य जीवों की क्या बात है ? ॥

चूँकि ऐसा है इसलिये यह—

निरोधिनी कही गयी है ॥ -१२२३- ॥

इसलिये पूर्वोक्त करण-बन्ध-व्याप्ति का अनुसरण करते हुए मन्त्रोच्चार युक्ति के द्वारा—

हे वरानने ! उस (रोधिनी) का भेदन कर सादाख्यपरभाव के द्वारा पञ्चमन्त्रमहातनु (= सदाशिव स्तर, की प्राप्ति होती है) ॥-१२२३-१२२४-॥

एवानेन सूक्ष्मेण रूपेणेत्यर्थः ॥

तस्य स्थानं रूपं च निरूपयति—

तस्योर्ध्वे तु स्मृतो नादः स किञ्जल्करजःप्रभः ॥ १२२४ ॥
महद्भिः पुरुषैर्व्याप्तः सूर्यकोट्ययुतप्रभैः ।

तस्येति निरोधिकावरणस्य । नाद इति समस्तवाचकाभेदमयपरामर्शसतत्त्वः श्रीसदाशिव एव पररूपः । किञ्जल्करजःप्रभ इति दीप्त्यतिशययुक्तः । महद्भि पुरुषैरिति मन्त्रमहेश्वरभूमेः प्रभृत्युत्तरोत्तरं तारतम्येन स्थितैः ॥

किं चात्र—

तेषां वै नायिका वक्ष्ये भुवने पञ्चसङ्ख्यया ॥ १२२५ ॥

तेषां महतां पुरुषाणां मध्ये नायिकाः प्रधानभूता देवताः । भुवन इत्यस्मिन् नादावरणं गते भुवनपञ्चक इत्यर्थः ॥ १२२५ ॥

ता आह—

इन्धिका दीपिका चैव रोचिका मोचिका तथा ।

प्राप्त होती है—यह जोड़ना चाहिए । (पञ्चमन्त्रमहातनु का अर्थ है—) सादाख्यदेव । परभाव के द्वारा-जिसे पहले कह दिया गया है वही इस सूक्ष्म रूप से है—यह अर्थ है ॥

उस सादाख्य के स्थान और रूप का निरूपण करते हैं—

उसके ऊपर किञ्जल्क (= पराग) की धूल के समान नादावरण माना गया है । यह दश हजार करोड़ सूर्य के समान कान्तिवाले महापुरुषों से व्याप्त है ॥ -१२२४-१२२५- ॥

उसके = निरोधिनी आवरण के । नाद—समस्त वाचक के अभेदमय परामर्श-तत्त्व वाले श्रीसदाशिव ही पररूप हैं । किञ्जल्करज की प्रभा वाला कहने का तात्पर्य है—अत्यधिक दीप्ति से युक्त । महान् पुरुषों से कहने का तात्पर्य है—मन्त्रमहेश्वर भूमिका से लेकर उत्तरोत्तर तर तम भाव से अर्थात् उत्कर्ष के क्रम से स्थित ॥

और भी—

पाँच संख्या से युक्त भुवन में उन (पुरुषों) की नायिकाओं को कहूँगा ॥ -१२२५ ॥

उन = महापुरुषों, के मध्य में, नायिकायें = प्रधानभूत देवतायें । भुवन में = नादावरण में स्थित पाँच भुवनों में ॥ १२२५ ॥

उन (देवताओं) को बतलाते हैं—

ऊर्ध्वगा तु समाख्याता कला त्वेषा तु पञ्चमी ॥ १२२६ ॥

दीप्त्यतिशयादासामीदृंशिनामानि । पञ्चमीत्येतासां मध्ये प्रधानभूता ॥१२२६॥

किं च—

तस्मिन् पद्मं सुविस्तीर्णं...........

तस्मिन्नित्यूर्ध्वगशक्तिधाम्नि । सुविस्तीर्णमिति प्रकृतापेक्षया ॥

तत्र च—

............ऊर्ध्वगेशः स्थितः प्रभुः ।

ऊर्ध्वगाख्याया नादान्तात्मनः शक्तेरीशोऽधिष्ठाता ॥

स च—

चन्द्रार्बुदप्रतीकाशः पञ्चवक्त्रस्त्रिलोचनः ॥ १२२७ ॥
चन्द्रार्धशेखरः शान्तो दशबाहुर्महातनुः ।
इन्धिकादिवृतो देवः शूलपाणिर्जटाधरः ॥ १२२८ ॥

शान्त इति नादपर्यन्तविश्वोपशमात् । जटाधरत्वादिकं प्राग्वत् ॥ १२२८ ॥

इन्धिका, दीपिका, रोचिका, मोचिका और ऊर्ध्वगा ये (देवतायें) हैं इनमें ऊर्ध्वगा कला पाँचवीं है ॥ १२२६ ॥

अत्यन्त दीप्त होने के कारण उनके इस प्रकार के नाम हैं । पञ्चमी कहने का तात्पर्य है कि यह उन सब में प्रधान है ॥ १२२६ ॥

तथा—

उसमें एक विस्तृत पद्म है ॥ १२२७- ॥

उसमें = ऊर्ध्वगशक्ति भूमि में । सुविस्तीर्ण-प्रस्तुत पद्म की अपेक्षा से ॥

और वहाँ—

ऊर्ध्वगेश प्रभु स्थित हैं ॥ -१२२७- ॥

(ऊर्ध्वगेश का अर्थ है—) ऊर्ध्वगामी नादान्त शक्ति का ईश = अधिष्ठाता ॥

और वह (= ऊर्ध्वगेश)—

देव एक अर्बुद चन्द्रमा के समान, पाँच मुख तीन नेत्र वाले, मस्तक पर अर्धचन्द्र धारण किये हुए, शान्त, दश भुजा वाले, विशालकाय, इन्धिका आदि शक्तियों से युक्त, शूलपाणि और जटाधारी हैं ॥-१२२७-१२२८॥

शान्त—क्योंकि नादपर्यन्त विश्व का उपशम हो गया है । जटाधरत्व आदि की

किं च—

ऊर्ध्वगा तु कला तस्य नित्यमुत्सङ्गगामिनी ।

इयदन्ता सदाशिवतत्त्वस्य व्याप्तिः । एवमत्र सादाशिवे तत्त्वे सुशिवबिन्द्वर्ध-चन्द्रनिरोधिकानादनादान्तरूपाणि पञ्चावरणानि । तत्र सुशिवावरणे सदाशिवः, वक्त्राङ्गैकादशिका, सकलाद्यष्टकम्, ओङ्कारादिशिवदशकम्, विजयादिरुद्राष्टादश-कमिति श्रीसदाशिवेन सहावरणदेवता अष्टचत्वारिंशत् । आसनपद्मगतास्तु वामाद्या नव, विश्वाद्या नव, ताराद्या अष्टात्रिंशदिति षट्पञ्चाशत्, ज्ञानक्रिये पार्श्वगते, इच्छा उत्सङ्गस्थेति सप्तोत्तरशतमत्र देवतानाम् । बिन्द्वावरणे शान्त्यतीतेशः, शान्त्यतीता, निवृत्त्याद्याश्चतस्र इति षड् देवताः । अर्धचन्द्रावरणे तु ज्योत्स्नादिशक्तिपञ्चकम् । निरोधिन्यां रुन्धन्यादिशक्तिपञ्चकम् । ततो नादभट्टारकः । ततो नादान्तपदे इन्धिकाद्याश्चतस्र ऊर्ध्वगेश्वर ऊर्ध्वगा चेति षट् । एवमत्र सदाशिवतत्त्वे सत्रिंशच्छतं देवतानाम् ॥

अथ शक्तितत्त्वे भुवनेशानादिशति—

ततः सुषुम्णाभुवनं सुषुम्णा तत्र संस्थिता ॥ १२२९ ॥

व्याख्या पूर्व की भाँति समझनी चाहिये ॥ १२२८ ॥

तथा—

उनकी ऊर्ध्वगा कला नित्य ही उनकी गोद में विराजमान रहती है ॥ १२२९- ॥

यहाँ तक सदाशिव तत्त्व की व्याप्ति है । इस प्रकार इस सदाशिव तत्त्व में सुशिव रूप बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद और नादान्त रूप पाँच आवरण हैं । उनमें से सुशिवावरण में सदाशिव, ग्यारह वक्त्राङ्ग, आठ सकल आदि, ॐकार आदि दश शिव, विजय आदि अट्ठारह रुद्र इस प्रकार सदाशिव को लेकर (११ + ८ + १० + १८ + १) = ४८ आवरण देवतायें हैं । आसन पद्म के ऊपर वामा आदि नव, विश्वा आदि नव तथा तारा आदि अँड़तीस इस प्रकार (९ + ९ + ३८) = छप्पन (आवरण देवतायें हैं) । पार्श्व में ज्ञानशक्ति और क्रियाशक्ति तथा गोद में इच्छा शक्ति इस प्रकार इसमें (४८ + ५६ + २ + १ = १०७) एक-सौ सात देवतायें हैं विन्द्वावरण में शान्त्यतीतेश, शान्त्यतीता तथा निवृत्ति आदि चार इस प्रकार छः देवतायें हैं । अर्धचन्द्र आवरण में ज्योत्स्ना आदि पाँच शक्तियाँ हैं । निरोधिनी में रुन्धनी आदि पाँच शक्तियाँ हैं उसके ऊपर नादभट्टारक हैं । इसके बाद नादान्त पद में इन्धिका आदि चार तथा ऊर्ध्वगेश्वर और ऊर्ध्वगा इस प्रकार छह देवतायें हैं । इस प्रकार यहाँ सदाशिव तत्त्व में कुल मिलाकर एक सौ तैंतीस देवतायें हैं ॥

अब शक्ति तत्त्व में स्थित भुवनेश्वरों को बतलाते हैं—

सुषुम्णाख्या देवता, यदधिष्ठानान्मध्यनाडी सुषुम्णेत्युच्यते ॥ १२२९ ॥

न चासावेव स्थिता, अपि तु तत्प्रभुः—

सुषुम्णेशः स्थितस्तत्र चन्द्रकोट्ययुतप्रभः ।
दशबाहुस्त्रिनेत्रश्च श्वेतपद्मोपरिस्थितः ॥ १२३० ॥
शशाङ्कशेखरः श्रीमान् पञ्चवक्त्रो महातनुः ।

किं च—

इडा च पिङ्गला चैव वामदक्षिणतः स्थिते ॥ १२३१ ॥
सुषुम्णा तु वरारोहे तुषारकणधूसरा ।
श्वेतपद्मकरा देवी पद्ममालाविभूषिता ॥ १२३२ ॥
पञ्चवक्त्रा सुशोभाढ्या त्रिनेत्रा शूलधारिणी ।
तस्योत्सङ्गगता देवी ध्यातव्या साधकादिभिः ॥ १२३३ ॥

तुषारधूसरा त्विति तुशब्दाद् इडापिङ्गले श्यामलोहिते इति तन्त्रान्तराज्ज्ञातव्यम् ॥ १२३३ ॥

एषा सुषुम्णा विश्वव्यापिनीत्याह—

इसके ऊपर सुषुम्ना का भुवन है । उसमें सुषुम्ना स्थित है ॥ -१२२९॥

(सुषुम्ना का अर्थ है—) सुषुम्ना नामक देवता । इससे अधिष्ठित होने के कारण मध्यनाड़ी सुषुम्ना कही जाती है ॥ १२२९ ॥

न कि यही स्थित है बल्कि इसके प्रभु—

सुषुम्नेश भी वहाँ स्थित हैं । वह दश हजार करोड़ चन्द्रमा के समान कान्तिवाले, दशबाहु, त्रिनेत्र वाले हैं । ये श्वेतकमल के ऊपर बैठे हुये हैं । इनके मस्तक पर चन्द्रमा शोभित है । ये श्रीमान् पाँच मुख एवं विशाल शरीर वाले हैं ॥ १२३०-१२३१- ॥

तथा—

इनके बायें और दाँये क्रमशः इडा और पिङ्गला स्थित हैं । हे वरारोहे! तुषार के कण के समान धूसर, हाथ में श्वेत कमल ली हुई, पद्ममाला से विभूषित, पञ्चवक्त्रा, शोभायुक्त, तीन नेत्रों वाली शूलधारिणी देवी सुषुम्ना उन (=सुषुम्नेश) की गोद में बैठी है । साधकों को चाहिये कि वे (उस देवी का वैसा ही) ध्यान करे ॥ -१२३१-१२३३ ॥

'तुषार धूसरा तु' ऐसा पाठ मानने पर 'तु' शब्द से (यह समझना चाहिये कि इडा और पिङ्गला श्याम तथा रक्त वर्ण की हैं)—ऐसा अन्य तन्त्र शास्त्रों से जानना चाहिये ॥ १२३३ ॥

ग्रथितस्तु तया सर्वस्त्वध्वायमधऊर्ध्वगः ।

ग्रथित उम्भितो व्याप्तः, अधः अनन्तान्तः, ऊर्ध्वे शिवतत्त्वान्तः । सर्वोऽध्वेति शारीरो बाह्यश्च ॥

अतश्च विश्वव्यापकसुषुम्णादिशक्तिभित्तिमाश्रितो नादस्तदधःप्रसरणमार्गेणाधस्तनं सर्वमध्वानमधिष्ठितं मूलभूतं ऊर्ध्वप्रसरणेन विभिद्य, नादान्तभूमिमारुह्य, ब्रह्मबिलात्मनि शक्तितत्त्वे लीयते—इत्याह—

नाड्याधारस्तु नादो वै भित्त्वा सर्वमिदं जगत्॥ १२३४ ॥
अधःशक्त्या विनिर्गत्य यावद्ब्रह्माणमूर्ध्वतः ।
नाड्या ब्रह्मबिले लीनस्त्वव्यक्तध्वनिरक्षरः ॥ १२३५ ॥
नदते सर्वभूतेषु शिवशक्त्या त्वधिष्ठितः ।

नाडिः सुषुम्णा आधारो यस्य । भित्त्वेत्यत्र करणम्, अध इत्युदयस्थानादुत्थिता क्रमेणारोहन्ती शक्तिः । ऊर्ध्वत इत्यूर्ध्वशक्त्या पूर्वोक्तप्रयोगतः स्पष्टीभूतया, ब्रह्मबिलान्तं निर्गत्य तत्रैव तया नाड्या सह लीनः शिलष्टो भवति । सापि हि नाडी तदन्तेति तत्रैव शिलष्टा शक्तिद्वययोगाच्च नादस्यानच्कस्य

यह सुषुम्ना विश्वव्यापिनी है—यह कहते हैं—

इसके द्वारा अधः एवं ऊर्ध्व में स्थित यह समस्त अध्वा ग्रथित है ॥ १२३४- ॥

ग्रथित = उम्भित = व्याप्त । अधः—अनन्त पर्यन्त । ऊर्ध्व—शिवतत्त्व पर्यन्त । समस्त अध्वा-शरीर के अन्दर रहने वाला तथा बाहरी (यहाँ 'यथा ब्रह्माण्डे तथा पिण्डे'—यह सिद्धान्त मानने पर ही ऐसा कहा जा सकता है) ॥

इसलिये विश्वव्यापक जो सुषुम्ना आदि शक्तिरूपी आधार उसके ऊपर अधिष्ठित = आश्रित मूलभूत नाद उस (सुषुम्ना) के नीचे प्रसरणमार्ग से नीचे समस्त अध्वा का ऊर्ध्व प्रसरण के द्वारा भेदन कर नादान्त भूमि पर आरूढ होता है । तत्पश्चात् (वह नाद) ब्रह्मबिलरूपी शक्ति तत्त्व में विलीन हो जाता है—यह कहते हैं—

नाडी रूपी आधार वाला नाद इस समस्त संसार का भेदन कर अधः शक्ति द्वारा निकल कर नाड़ी द्वारा ऊपर ब्रह्मा तक पहुँच कर ब्रह्मबिल में लीन हो जाता है । यह अव्यक्त अक्षर ध्वनि शिव की शक्ति से अधिष्ठित होकर समस्त प्राणियों में नदन करता रहता है ॥ -१२३४-१२३६- ॥

नाडी अर्थात् सुषुम्ना है आधार जिसका (वह नाड्याधार है) । भेदन कर करण का । अधः—उदयस्थान से । उत्थिता = क्रमशः ऊपर चढ़ती हुई शक्ति । ऊर्ध्वतः = पूर्वोक्त प्रयोग से स्पष्ट हुई ऊर्ध्व शक्ति के द्वारा ब्रह्मबिल पर्यन्त निकल कर वहीं पर उसी (= मध्य) नाडी के साथ लीन = संश्लिष्ट, हो जाता है । वह नाडी भी

द्विकुब्जरूपत्वात् । स च नादः—

'नादाख्यं यत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम्' (कालो० १।५)

इत्याम्नायान्तरोक्तनीत्या सर्वभूतेष्वव्यक्तध्वनिरूपः, अत एवाक्षरोऽविचलत्स्व-रूपो नदन् वक्ष्यमाणघोषादिपरामर्शमयत्वेन स्थितः । यद्यपि ब्रह्मबिललीन इत्युक्त-स्तथापि लयोऽस्य सूक्ष्मतररूपेण शक्तिस्फुरत्तात्मनाऽवस्थानमत एव शिवशक्त्या त्वधिष्ठित इत्युक्तम्, न त्वत्यन्तं नाश इत्यक्षर इत्युचितैवोक्तिः ॥

यत एवंविधा नादस्य व्याप्तिरतः—

एवं ज्ञात्वा वरारोहे शोधयेत्तं शिवाध्वरे ॥ १२३६ ॥
ततो ब्रह्मबिलं ज्ञेयं रुद्रकोट्यर्बुदान्वितम् ।
तत्र ब्रह्मा परो ज्ञेयः शशाङ्कशतसप्रभः ॥ १२३७ ॥
दशबाहुस्त्रिनेत्रश्च पञ्चवक्त्रेन्दुशेखरः ।
त्रिशूलपाणिर्भगवान् जटामुकुटमण्डितः ॥ १२३८ ॥

ब्रह्मबिलं नामावरणमन्तरिव बहिर्भुवनाश्रयत्वेनापि स्थितम् । यद्यपि सार्धा-स्तिस्रः कोट्यो मन्त्राणामुक्तास्तथापि तत्परिवारस्यासङ्ख्यत्वादत्रापि च तेषां

तदन्त = वहीं पर शिलष्ट हो जाती है क्योंकि (अधः और ऊर्ध्व) दो शक्तियों के योग से स्वररहित नाद द्विकुब्ज (दो ओर से टेढ़ा) हो जाता है । और वह नाद—

'जो नाद नामक परबीज है वह समस्त प्राणियों में स्थित है' (कालोत्तरतन्त्र १।५)

इस अन्य आम्नाय में कथित रीति से समस्त भूतों में अव्यक्त ध्वनि के रूप में स्थित है । यद्यपि (यह नाद) ब्रह्मबिल में लीन कहा गया है तथापि इसका लय होने का अर्थ है—सूक्ष्मतररूप अर्थात् शक्ति की स्फुरता के रूप में स्थित होना । इसीलिये शिव की शक्ति के द्वारा अधिष्ठित है—ऐसा कहा गया, न कि (उसका) अत्यन्त नाश हो जाता है । इसलिये 'अक्षर' यह कथन भी ठीक ही है ॥

चूँकि नाद की व्याप्ति इस प्रकार की है इसलिये—

हे वरारोहे ! ऐसा जानकर शिवयाग में उस (= नाद) का शोधन करना चाहिये । इसके ऊपर करोड़ अरब रुद्रों से युक्त ब्रह्मबिल (आवरण) को जानना चाहिये । उसमें सौ चन्द्रमा के समान कान्तिवाले पर ब्रह्मा निवास करते हैं । वे भगवान् दश बाहु, त्रिनेत्र, पञ्चवक्त्र, इन्दुशेखर त्रिशूलपाणि और जटारूपी मुकुट से मण्डित हैं ॥ -१२३६-१२३८ ॥

ब्रह्मबिल नामक आवरण जैसे (मनुष्य के शरीर के) अन्दर स्थित है उसी प्रकार बाहर भुवनों के आश्रय के रूप में भी स्थित है । यद्यपि मन्त्रों की संख्या साढ़े तीन करोड़ कही गयी है तो भी उनके परिवार के असंख्य होने के कारण

सूक्ष्मतमेन रूपेणावस्थितत्वाद्रुद्रकोट्यर्बुदान्वितमित्युक्तम् । पर इति प्रागुक्ताद्-ब्रह्माण्डगतात् स्थूलाद् बुद्धितत्त्वगताच्च सूक्ष्मादुत्कृष्टः, अत एव शाक्तत्वादयं सितो दशबाह्वादिरूपश्च ॥ १२३८ ॥

किं च—

ब्रह्माणी तु परा शक्तिर्या सा मोक्षपथे स्थिता ।
द्वारं या मोक्षमार्गस्य रोधयित्वा व्यवस्थिता ॥ १२३९ ॥
मोक्षमार्गप्रदात्री च ब्रह्मोत्सङ्गे च संस्थिता ।

परेत्यर्थात् । मोक्षपथे—

'शैवी मुखमिहोच्यते।' (वि०भै० २०)

इति स्थित्योर्ध्वोन्मुखशक्तिमार्गे । अतश्चाज्ञानिनः प्रति तदेव शक्तिपथात्मकं मोक्षद्वारमीश्वरेच्छया रुन्धाना स्थिता । ज्ञानिनः प्रति मोक्षमार्ग प्रददाति तच्छीला ॥

यतो ब्रह्माणी एवंविधा, अतः प्रोक्तमन्त्रोच्चारक्रमेण—

तां भित्त्वात्र वरारोहे गन्तव्यमूर्ध्वतः प्रिये ॥ १२४० ॥

यहाँ भी उनके सूक्ष्मतम रूप से स्थित होने के कारण उनकी संख्या करोड़ अरब कही गयी है । पर = ब्रह्माण्ड में रहने वाले पूर्वोक्त स्थूल ब्रह्मा एवं बुद्धितत्त्व में रहने वाले सूक्ष्म ब्रह्मा की अपेक्षा उत्कृष्ट । इसीलिये शाक्त होने के कारण यह शुक्ल वर्ण एवं दश भुजा आदि वाले हैं (जब कि स्थूल और सूक्ष्म ब्रह्मद्वय क्रमशः रक्त कमल एवं शङ्ख गोक्षीर के सदृश हैं) ॥ १२३८ ॥

तथा—

परा शक्ति ही ब्रह्माणी है जो मोक्ष पथ में स्थित है । वह मोक्षमार्ग का द्वार रोक कर खड़ी रहती है । ब्रह्मा की गोद में स्थित वह मोक्ष का मार्ग (प्रशस्त कर) देने वाली है ॥ १२३९-१२४०- ॥

परा शक्ति है—इसे अर्थात् समझना चाहिये (क्योंकि स्थूला और सूक्ष्मा का वर्णन पहले आ चुका है) । मोक्षपथ में—

'यहाँ शैवीमुख कही जाती है ।' (वि.भै. २०)

इस कथन के अनुसार ऊर्ध्व उन्मुख शक्ति मार्ग में स्थित है । इसलिये अज्ञानियों के प्रति वह उसी शक्तिपथ रूप मोक्षद्वार को ईश्वर की इच्छा से बन्द कर स्थित रहती है जब कि ज्ञानियों के लिये मोक्ष मार्ग का उद्घाटन करने का उसका स्वभाव है ॥

चूँकि ब्रह्माणी इस प्रकार की हे, इसलिये उक्त मन्त्रोच्चार के क्रम से—

अत्रेति शक्तितत्त्वे यदूर्ध्वं शक्तिव्यापिनीसमनाधाम, तत्रेत्यर्थः ॥ १२४० ॥

अथ—

अत ऊर्ध्वं स्थिता शक्तिः प्रसुप्तभुजगाकृतिः।
आधारो भुवनानां सा तां प्रवक्ष्यामि सुव्रते ॥ १२४१ ॥

शक्तिरिति शक्तितत्त्वगतशक्त्यावरणम् । सा च प्रसुप्तभुजगस्येव आकृतिर्यस्या इत्यनेन ब्रह्मबिलान्तमशेषमान्तरमुन्मिषितरूपत्वाद्विषमूर्छितमिव कृत्वा निःस्पन्दरूपकुण्डलाकारतया स्थिता । सा चान्तरेण क्रमेण ब्रह्मरन्ध्रोपरि त्वग्भूमिकां निविष्टा । आधार इयमेवाध ऊर्ध्वं च व्याप्य विश्वं धारयन्ती आधारशक्तिरित्यर्थः । तां प्रवक्ष्यामीति तत्रस्थानि भुवनान्यधिष्ठातृदेवताद्वारेण वच्मीत्यर्थः ॥ १२४१ ॥

तत्र—

सूक्ष्मा चैव सुसूक्ष्मा च तथा चान्यामृतामिता।

शक्तिभूमेः सूक्ष्मत्वाह्लादकत्वापरिच्छिन्नत्वयोगात्तद्देवतानां तादृश्येव नामानि ॥

हे वरारोहे ! हे प्रिये ! उसका यहाँ पर भेदन करके ही ऊपर की ओर जाना चाहिये ॥ -१२४० ॥

यहाँ पर = शक्तितत्त्व में, जिसके ऊपर शक्ति, व्यापिनी और समना धाम है, वहाँ पर ॥ १२४० ॥

इसके बाद—

इसके ऊपर सोये हुये सर्प की आकृति वाला शक्ति तत्त्व है । वह (= शक्ति) समस्त भुवनों का आधार है। हे सुव्रते ! उसको कहूँगा ॥१२४१॥

शक्ति का अर्थ है—शक्तितत्त्व में स्थित शक्त्यावरण । और वह प्रसुप्त सर्प के समान आकृति वाली है । इस कथन का तात्पर्य यह है कि स्वयं उन्मिषितरूप होने के कारण ब्रह्मबिल (= ब्रह्मरन्ध्र) पर्यन्त समस्त आन्तर भूमि को विषमूर्च्छित के समान बना कर निःस्पन्दरूप कुण्डल के आकार के रूप में स्थित है । वह आन्तर क्रम से ब्रह्मरन्ध्र के ऊपर त्वचा के समान निविष्ट है (अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र को ढँक दिया है) । आधार—का अर्थ है कि यही नीचे और ऊपर व्याप्त होकर विश्व को धारण करने वाली आधार शक्ति है । उसको कहूँगा = उस शक्ति तत्त्व में स्थित भुवनों को उनके अधिष्ठातृ देवता के द्वारा कहूँगा ॥ १२४१ ॥

उसमें—

सूक्ष्मा, सुसूक्ष्मा, अमृता और अमिता (ये चार देवतायें हैं) ॥१२४२-॥

शक्तिभूमि के सूक्ष्म, आह्लादक और अपरिच्छिन्न होने के कारण उनमें रहने वाली देवताओं के वैसे ही नाम है ॥

एतासां च—

व्यापिनी मध्यतो ज्ञेया..........

एता एव तु—

..........शेषाः पूर्वादितः क्रमात् ॥ १२४२ ॥

सर्वाश्च एताः—

पञ्चवक्त्रास्त्रिनेत्राश्च सुतेजस्का महाबलाः ।

तदित्थम्—

शक्तितत्त्वं समाख्यातं...............

अत्र च सौषुम्णावरणे सुषुम्णा, तदीश्वरः, इडापिङ्गले चतस्रो देवताः, ब्रह्मबिलावरणे ब्रह्मा ब्रह्माणीति द्वे, शक्त्यावरणे सूक्ष्मादिदेवतापञ्चकमित्येकादश शक्तितत्त्वे देवताः ॥

यच्च प्रागस्फुटेदन्ताहन्तासामानाधिकरण्याभासात् सदाशिवतत्त्वं ज्ञानशक्तिप्रधानमुक्तम्, तत् तदासूत्रकेच्छाशक्तिप्रधानं शक्तितत्त्वं विना न घटते । नहि किञ्चिदुच्छूनतारूपान्तरासूत्रणां विना कस्याप्युदय इति सदाशिवतत्त्वस्य भित्तिभूतं

इन (चारों) मे से—

व्यापिनी को मध्य में स्थित जानना चाहिये ॥ -१२४२- ॥

ये ही—

शेष पूर्व आदि के क्रम से हैं ॥ -१२४२ ॥

ये सभी—

पञ्चवक्त्र, त्रिनेत्र, तेजस्विनी और महाबलशालिनी हैं ॥ १२४३- ॥

तो इस प्रकार—

शक्तितत्त्व का वर्णन किया गया ॥ -१२४३- ॥

यहाँ सौषुम्न आवरण में सुषुम्ना, उसके ईश्वर, इडा और पिङ्गला इस प्रकार कुल चार देवतायें हुयीं । ब्रह्मरन्ध में ब्रह्मा और ब्रह्माणी मिला कर दो तथा शक्ति आवरण में सूक्ष्मा आदि (= सुसूक्ष्मा, अमृता, अमिता और व्यापिनी) पाँच इस प्रकार कुल मिला कर (४+२+५ = ११) ग्यारह देवतायें शक्तितत्त्व में स्थित हैं ॥

जो पहले अस्फुट इदन्ता-अहन्तासामानाधिकरण्य के आभास के कारण ज्ञानशक्तिप्रधान सदाशिव तत्त्व कहा गया वह उस (= सदाशिव तत्त्व) के आसूत्रक (= प्रारम्भक) इच्छाशक्तिप्रधान शक्ति तत्त्व के बिना सम्भव नहीं है । किञ्चिदुच्छूनता रूप भीतरी आसूत्रणा के बिना किसी भी तत्त्व का उदय नहीं होता । इस प्रकार

शक्तितत्त्वमुक्तम् । तदपि शक्तिरूपत्वात् स्वाश्रयमपेक्षत इति इयतः शक्तितत्त्वान्तस्य विश्वस्य यदाश्रयस्तच्छिवतत्त्वमुक्तम् । तच्च शक्त्यन्ताध्वोत्तीर्णम्, तदारोहक्रमेणैव प्राप्यमित्थं चोपलभ्यतां नातिक्रामतीति तत्राप्यतिसुसूक्ष्मतया भुवनस्थितिं वक्तुमाह—

.........शिवतत्त्वं शृणु प्रिये ॥ १२४३ ॥
पुरश्रेष्ठैरनेकैस्तु समन्तात् परिवारितम् ।
हेमप्राकाररचितं रत्नमाणिक्यमण्डितम् ॥ १२४४ ॥
अशेषभोगसम्पन्नं सर्वकामगुणोदयम् ।

धाराधिरूढेऽत्रापि शिवतत्त्वे हेमप्राकारादिव्यवस्थेत्यहो बताख्यातेर्महिमा । एवं चाभिदधदियत्पर्यन्तातिसुसूक्ष्मस्थित्या पृथिव्यादीनां व्याप्तिरिति चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्यमेव शक्तिपञ्चकं गुणप्रधानताद्याभासनवैचित्र्येण सप्तपञ्चकतत्त्वाभासरूपतया यथोत्तरमाश्यानीभावप्रकर्षाद्भूतपञ्चकान्तेन रूपेण स्फुरति । भूतपञ्चकमपि यथोर्ध्वं सूक्ष्मसूक्ष्मतराद्याभासवैचित्र्येण प्रोक्तशक्तिपञ्चकात्मकेन गलिताश्यानीभावात्मना पूर्णेन रूपेण विकसतीति पञ्चशक्तिसामरस्यमयं परमशिवतत्त्वमेव इत्थम्—

शक्तितत्त्व सदाशिवतत्त्व का आधार है । वह (शक्तितत्त्व) भी शक्ति रूप होने के कारण अपने आश्रय की अपेक्षा करता है (क्योंकि शक्ति आश्रयहीन नहीं होती) इसलिये यहाँ से लेकर शक्तितत्त्व पर्यन्त विश्व का जो आश्रय है वह शिवतत्त्व कहा गया । वह शिवतत्त्व शक्तिपर्यन्त अध्वा से परे है । वह शिवतत्त्व आरोह क्रम से ही प्राप्य है । इस प्रकार वह भी उपलभ्यता से परे नहीं है, इसलिये उस (शिवतत्त्व) में भी अतिसूक्ष्मरूप में भुवनों की स्थिति बतलाने के लिये कहते हैं—

हे प्रिये ! अब शिव तत्त्व को सुनो । यह अनेक श्रेष्ठ भुवनों से चारो ओर व्याप्त है । यह तत्त्व सुवर्ण की चारदीवारी से बना, रत्नों और माणिक्य से अलङ्कृत समस्त भोग से सम्पन्न तथा समस्त काम एवं गुणों का उदयस्थान है ॥ -१२४३-१२४५- ॥

(तत्त्वों के शोधन की) धारा में अधिरूढ़ इस शिवतत्त्व में भी हेमप्राकार आदि की व्यवस्था है (जबकि यह निष्कल निरञ्जन निरवद्य परमतत्त्व अर्थात् परमशिव का ही स्फुरण है) ऐसा होना अज्ञान की महिमा है कितने आश्चर्य की बात है । ऐसा कहते हुए परमेश्वर यह शिक्षा देते हैं कि—यहाँ तक (= शिवतत्त्व तक) अत्यन्त सूक्ष्म स्थिति के साथ पृथिवी आदि तत्त्वों की व्याप्ति है । इस प्रकार चित् आनन्द इच्छा ज्ञान और क्रिया नामक पाँच शक्तियाँ ही गुण प्रधान रूप से विचित्र आभासन के द्वारा क्रमशः अपकृष्ट होती हुई पञ्चमहाभूतपर्यन्त पैंतीस तत्त्वों के आभास के रूप में स्फुरित होती हैं । (विपरीत क्रम से देखने पर) ये पाँच महाभूत भी उत्तरोत्तर सूक्ष्म सूक्ष्मतर आदि विचित्र आभासों के द्वारा स्थूलता के विगलन से अपने पूर्णरूप में विकसित होते हैं । इससे यह निष्कर्ष निकला कि परमशिव

'स्थूलसूक्ष्मस्वरूपेण तदेकं संव्यवस्थितम्' (४।२९५)

इत्युक्तयुक्त्या विश्वात्मनाऽवस्थितम् । अतस्तत्र तत्र पदे शिवरूपतया विश्वावभासवत्त्वेऽपि तथानवभासात्मकाज्ञानबन्धविनिवर्तनं दीक्षाज्ञानक्रमेण क्रियत इति शिक्षयति परमेश्वरः । सर्वकामगुणोदयमिति सर्वेषामत्युत्तमभोगरूपाणां कामानां गुणानां च सर्वज्ञत्वादीनामुदयो यत्र यतश्चेति योज्यम् ॥

किं च—

भुवनानि प्रवक्ष्यामि तत्रैव संस्थितानि तु ॥ १२४५ ॥

तानि चाधिष्ठातृमुखेनाह—

व्यापकं व्योमरूपं च अनन्तानाथनाश्रित[1]म् ।
कारणानां पञ्चकं च शिवतत्त्वे व्यवस्थितम् ॥ १२४६ ॥

अनन्तेति त्रयस्य समाहारः ॥ १२४६ ॥

किं च—

तत्र पद्मं सुविस्तीर्णमनन्तानन्तसम्भवम् ।

(चिदानन्द आदि) पाँच शक्तियों का सामरस्य है और वही इस प्रकार—

'वह एक तत्त्व ही स्थूल सूक्ष्म स्वरूप से व्यवस्थित हैं ।' (४।२९५)

इस उक्तयुक्ति से विश्व के रूप में स्थित है । इसलिये यद्यपि भिन्न-भिन्न स्तर पर विश्व शिवरूप में ही अवभासित हो रहा है तथापि अज्ञान के कारण हम विश्व को शिवरूप में अवभासमान नहीं समझते । इसलिये दीक्षाज्ञान के क्रम से उस अज्ञान का निवर्त्तन किया जाता है । सर्वकामगुणोदय = समस्त अत्युत्तम भोग रूप कामनाओं और सर्वज्ञत्व आदि गुणों का उदय जिसमें और जिसके कारण होता है वह है—ऐसी योजना करनी चाहिये ॥

और भी—

उस (शिव तत्त्व) में स्थित भुवनों को बतलाऊँगा ॥ -१२४५ ॥

अधिष्ठातृगण के वर्णन के माध्यम से उनको बतलाते हैं—

उस शिवतत्त्व में व्योमव्यापक, व्योमरूप, अनन्तेश, अनाथ और अनाश्रित ये पञ्चकारण स्थित हैं ॥ १२४६ ॥

'अनन्तानाथनाश्रितम्' में तीन पद का समाहार द्वन्द्व हैं ॥ १२४६ ॥

तथा—

---

१. अनन्तानाथनाश्रितम्—यहाँ अनन्त, अनाथ और अनाश्रित पदों को लेकर समाहारद्वन्द्व समास है—नन्तश्चानाश्रितश्च नाश्रितश्चेत्येतेषां समाहारे अनन्तानाथनाश्रितम् ।

सुविस्तीर्णं प्रोक्तसर्वपद्मापेक्षया । समनन्तरप्रोक्तानन्तादित्येतदावरणात् प्रभृत्य-नन्तस्याशेषविश्वस्यानन्तमध्यानन्तान्तस्य सम्भवो यतः । अत एव प्राग् (१।३८) अनन्तासनमित्यनन्ताद्यनन्तमध्यानन्तान्तमासनमनन्तासनमित्यस्माभिर्व्याकारीति युक्त-मुत्पश्यामः ॥

तस्य पद्मस्य मध्यस्थो देवश्चाप्यनाश्रितः ॥ १२४७ ॥

देवी द्योतनादिरूपः, न किञ्चिद्भुवनाध्ववर्ति समाश्रितोऽपि तु सर्वैर्भुवने-शैराश्रितः ॥

स च—

पञ्चवक्त्रधरः शान्तः सर्वज्ञः परमेश्वरः ।
दशबाहुर्महादीप्तः सृष्टिसंहारकारकः ॥ १२४८ ॥
सर्वानुग्रहकर्ता च प्रणतार्तिविनाशनः ।
भुक्तिमुक्तिप्रदाता च सूर्यकोट्यर्बुदप्रभः ॥ १२४९ ॥
स्फुरन्मुकुटमाणिक्यः समन्तादुपशोभितः ।
दिव्याम्बरधरो देवो दिव्यगन्धानुलेपनः ॥ १२५० ॥
पद्मासनोन्नतोरस्कः शशाङ्ककृतशेखरः ।

उसमें अनन्त अनन्तसम्भव (= अनन्त से उत्पन्न) सुविस्तीर्ण कमल स्थित है ॥ १२४७- ॥

सुविस्तीर्ण—उपर्युक्त सभी कमलों की अपेक्षा । समनन्तर कहे गये अनन्त आवरण से लेकर अनन्त = अशेष विश्व का अनन्त मध्य और अनन्तान्त की उत्पत्ति जहाँ से होती है (वह अनन्तानन्तसम्भव है) । इसीलिये पहले (१।३८) में 'अनन्तासनम्' की व्याख्या करते हुए मैंने कहा अनन्त आदि अनन्तमध्य और अनन्तान्तर आसन को अनन्तआसन कहते हैं । इसलिये वह व्याख्या ठीक समझ रहा हूँ ॥

उस कमल के मध्य में यह देव अनाश्रित शिव विराजमान हैं ॥-१२४७॥

देव = द्योतन आदि रूप वाला । यह किसी एक भुवनाध्वा में रहने वाले के द्वारा नहीं वरन् समस्त भुवनेश्वरों के द्वारा सुसेवित हैं ॥

और वह—

परमेश्वर पञ्चवक्त्रधर, शान्त, सर्वज्ञ, दशबाहु, महादीप्त, सृष्टिसंहारकारक, सर्वानुग्रहकर्त्ता, प्रणतों के दुःख को नष्ट करने वाले, भोगमोक्षप्रद, करोड़ों अरब सूर्य के समान कान्तिवाले, माणिक्ययुक्त चमकते मुकुटवाले, सब ओर से शोभायमान, दिव्यवस्त्रधारी, दिव्यगन्ध और लेप वाले, कमल के ऊपर आसीन, उन्नत वक्षस्थलवाले, चन्द्रशेखर,

आबद्धमणिपर्यंकश्चामरोत्क्षेपवीजितः ॥ १२५१ ॥
रुद्रकोट्यर्बुदानीकैः समन्तादुपशोभितः ।

शान्त इति शक्त्यावरणपर्यन्तगतस्य भेदसंस्कारस्यापि प्रशमात् । पञ्चवक्त्रा-दित्वं प्राग्वत् । सृष्टिसंहारौ स्थितिविलयावप्युपलक्षयतः । सर्वेति यस्य यस्यानुग्रह आयाति, तत एव प्रणतार्तिविनाशन इति । एतत् प्राग्वत् साधकाभिप्रायेण । एतदेव भुक्तिमुक्तीत्युक्त्या व्यक्तीकृतम् । उन्नतोरस्को महोत्साहः ॥

किं चात्र—

व्यापिनी व्योमरूपा चानन्तानाथा त्वनाश्रिता ॥ १२५२ ॥
पञ्चवक्त्रा महावीर्या दशबाह्विन्दुशेखराः ।
त्रिनेत्राः शूलहस्ताश्च कारणैश्च समन्विताः ॥ १२५३ ॥
पूर्वाद्युत्तरपर्यन्ता एताश्चैव व्यवस्थिताः ।

कारणैरित्येतैरेव व्यापिनीप्रभृतिभिः सम्यगन्वितास्तदभिन्ना इत्यर्थः । एता इत्यनाथान्ताश्चतस्रः ॥

पञ्चम्याः स्थितिमाह—

मणिजटित पर्यङ्कवाले, चामर से वीजित तथा करोड़ अरब रुद्रों से चारो ओर उपशोभित हैं ॥ १२४८-१२५२- ॥

वह शान्त इसलिये हैं कि—शक्त्यावरणपर्यन्तस्थित भेदसंस्कार का भी उपशम हो गया है । उनका पञ्चवक्त्र आदि होना पहले की भाँति समझना चाहिये । श्लोकस्थ सृष्टिसंहार पद स्थिति और विलय को भी बतलाते हैं । सर्वानुग्रहकर्त्ता का तात्पर्य है जिस-जिस व्यक्ति का अनुग्रह आता है उस-उस का । इसीलिये वे प्रणतार्त्तिविनाशन हैं । यह कथन पूर्व की भाँति साधकों को दृष्टि में रख कर किया गया है । 'भुक्ति-मुक्ति' इस उक्ति से भी यही व्यक्त किया गया है । उन्नतोरस्क = अत्यन्त उत्साह युक्त (क्योंकि जो अत्यन्त उत्साहयुक्त होता है उसी का वक्ष उन्नत हो जाता है) ॥

इसके अतिरिक्त यहाँ (= इस पद्म में)—

व्यापिनी, व्योमरूपा, अनन्ता, अनाथा और अनाश्रिता (शक्तियाँ स्थित) हैं । ये सब पञ्चवक्त्रा, महावीर्या, दशभुजा, चन्द्रशेखरा, त्रिनेत्रा, शूल हस्ता तथा पञ्चकारणों से समन्वित हैं । (इनमें से प्रथम चार) पूर्व से लेकर उत्तर तक स्थित हैं ॥ -१२५२-१२५४- ॥

कारणों से = इन्हीं व्यापिनी आदि से । (समन्वित का अर्थ है—) सम्यक् अन्वित अर्थात् उनसे अभिन्न ये = (व्यापिनी से लेकर अनाथा पर्यन्त चार) ॥

पाँचवीं शक्ति की स्थिति को बतलाते हैं—

अनाश्रितो मध्यगस्तु संस्थितः प्रभुरव्ययः ॥ १२५४ ॥
अनाश्रितकला देवी तस्योत्सङ्गे च संस्थिता ।

एवमाचक्षाणस्यायमाशयो यच्छक्तिसम्बन्धादेव सर्वे शक्तिमन्तस्तत्तत्स्वकार्यं सम्पादयन्ति, अतश्च परमशिवपदमपि प्रस्फुरच्छक्तिस्फाररसमेवेहोपेयम्, न तु शान्ताशेषशक्तिकम् । यस्तु शान्तव्यपदेशोऽत्र, **स भेद**प्रशमादिति ॥

उपसंहरति—

एवं वै शिवतत्त्वं तु कथितं तव सुन्दरि ॥ १२५५ ॥

तदेतत्—

शोधयित्वा ततश्चोर्ध्वं शक्तिश्चैव परा स्मृता ।
समना नाम सा ज्ञेया...........

ततः शिवतत्त्वादूर्ध्वं त्वक्शेषस्थव्यापिनीपदावस्थितानाश्रितभट्टारकापेक्षया तत्पदविश्रान्त्या ज्ञातव्या । एषा च सह मनसा सुसूक्ष्मतमेन संवेदनेन वर्तते, न तु संविदि त्रिभूमिकामाप्तेति कृत्वा समना । यदुक्तं प्राक्—

अव्यय और प्रभवनशील अनाश्रित (देव) कमल के मध्य में विराजमान हैं और अनाश्रित कला देवी उस (देव) की गोद में स्थित है ॥ -१२५४-१२५५- ॥

इस प्रकार कहने वाले (परमेश्वर) का यह आशय है कि शक्ति के सम्बन्ध से ही सब शक्तिमान् होकर तत्तत् कार्यों का सम्पादन करते हैं । इसलिये यहाँ पर परमशिव पद भी प्रस्फुरत् शक्ति के स्फार रूपी आनन्द से परिपूर्ण ही मानना चाहिये न कि शान्त अशेषशक्ति वाला । और जो यहाँ (श्लोक सं. १२४८ में) शान्त पद का कथन किया गया वह भेद के नष्ट होने के कारण (न कि शान्त होना परमशिव का स्वभाव है) ॥

प्रकरण का उपसंहार करते हैं—

हे सुन्दरि ! इस प्रकार तुमको शिवतत्त्व बतलाया गया ॥ -१२५५ ॥

तो इसका—

शोधन करने के बाद उसके ऊपर परा शक्ति की स्थिति मानी गयी है उसे समना समझना चाहिये ॥ १२५६- ॥

वहाँ से = शिवतत्त्व से, ऊपर । इसे त्वक् शेष में रहने वाली व्यापिनी पद में स्थित अनाश्रितभट्टारक (= अनाश्रित शिव) की अपेक्षा से उस पद (= शिवपद) में विश्रान्ति के द्वारा जानना चाहिये । (इसके समना नाम पड़ने का कारण यह है कि—) यह मन = सुसूक्ष्मतम संवेदन, के साथ रहती है न कि संविद् में

'सङ्कल्पः क्रमतो ज्ञानं'[1] (४।३९४) इति ॥

अत ऊर्ध्वं मननव्यापारो नास्तीत्याह—

...............मनश्चोर्ध्वं न जायते ॥ १२५६ ॥

एषा च समना—

परिपाट्या स्थितानां तु पृथिव्यादिशिवावधौ ।
सर्वेषां कारणानां च कर्तृभूता व्यवस्थिता ॥ १२५७ ॥

सर्वेषामित्यनन्ताद्यनाश्रितान्तानाम् ॥ १२५७ ॥

अतश्चेयम्—

बिभर्त्यण्डान्यनेकानि शिवेन समधिष्ठिता ।

'पृथग्द्वयमसङ्ख्यातमेकमेकं पृथग्द्वयम्' (२।५०)

इति श्रीमालिनीविजयोक्तनीत्या ब्रह्माण्डप्रकृत्यण्डात्मकमण्डद्वयमसंख्यातम्, मायाण्डशक्त्यण्डद्वयं त्वेकैकरूपमिति कृत्वैषा शक्तिरनेकान्यण्डान्यन्तःकृत्वा

त्रिभूमिका (= आसूत्रण अवभासन और निर्माण) को प्राप्त है । इसलिये यह समना कही जाती है । जैसा कि पहले कहा गया—

'सङ्कल्प क्रमिक ज्ञान है ॥' (४।३९४)

इसके ऊपर मनन का व्यापार नहीं है—यह कहते हैं—

इसके ऊपर मन की गति नहीं है ॥ -१२५६ ॥

और यह समना—

पृथिवी से लेकर शिवपर्यन्त क्रम से स्थित समस्त कारणों की कर्त्री बतलायी गयी हैं ॥ १२५७ ॥

समस्त के = अनन्तनाथ से लेकर अनाश्रित शिव पर्यन्त के ॥ १२५७ ॥

इसलिये यह—

शिव से अधिष्ठित होकर अनेक अण्डों को धारण करती है ॥१२५८-॥

'पृथक्-पृथक् स्थित दो अण्ड असंख्य हैं और दो पृथक्-पृथक् अण्ड एक-एक हैं ।' (मा.वि.तं. २।५०)

मालिनीविजयतन्त्र में उक्त इस नीति के अनुसार ब्रह्माण्ड और प्रकृत्यण्ड ये अण्डद्वय असंख्य हैं । मायाण्ड और शाक्ताण्ड एक-एक हैं । इस प्रकार यह शक्ति अनेक अण्डों को अपने अन्दर समाहित करके स्थित है । इस प्रकार उस

---

१. समनं क्रमविज्ञानं ।

स्थितेति तच्छास्त्रप्रक्रियाप्यत्रोररीकृतैव ॥

शक्तित्वादेव चैषा शिवेन सम्यगभेदव्याप्त्याऽधिष्ठितेति यदुक्तम्, तत् स्फुटयति भाविपटलार्थैकीकारयुक्त्या—

तत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम् ॥ १२५८ ॥
सृष्टिस्थितिसमाहारं तिरोभावमनुग्रहम् ।

आरूढ इत्यशेषविश्वभावासूत्रणेन भित्तिकल्पमननमात्रात्मकैतच्छक्तिभूमिकां स्वामुल्लास्येत्यर्थः । परमकारणमिति परमशिवः ॥

स हि—

हेतुकर्ता महेशानः सर्वकारणकारणम् ॥ १२५९ ॥

सर्वेषां ब्रह्माद्यनाश्रितान्तानां पृथिव्यादिबीजान्तानामपि तेनैव तत्तद्भूमिकाग्रहणात् तथावभासितानां कारणानां कारणं स्वातन्त्र्यात् स्वभित्तावुल्लासक इत्यर्थः । तथा महानीश्वरस्तेषां तत्तदुचितविभवप्रदत्वेन सर्वातिशायी । कर्तेति स्वतन्त्रः । हेतुरिति तेषामेव स्वे स्वे कर्मणि योजनप्रवर्तकं निमित्तम् ॥ १२५९ ॥

मालिनीशास्त्र की प्रक्रिया को भी यहाँ माना गया है ॥

शक्ति होने के कारण ही यह शिव के साथ सम्यक् अभिन्न रूप में अधिष्ठित है-यह जो कहा गया उसको भावी पटल के अर्थ के साथ सङ्गति बैठाते हुए कहते हैं—

इस पर आरूढ़ होकर परम कारण शिव सृष्टि स्थिति संहार निग्रह और अनुग्रह करते हैं ॥ -१२५८-१२५९- ॥

'आरूढ़ होकर' का अर्थ है—सम्पूर्ण विश्व की सत्ता के आसूत्रण के द्वारा भित्तिकल्प केवल मननरूपा अपनी शक्तिभूमिका को उल्लासित कर । परम कारण = परम शिव ॥

क्योंकि—

वह महेश्वर समस्त कारणों का कर्त्ता अर्थात् समस्त कारणों का कारण कहा गया है ॥ -१२५९ ॥

सब का = ब्रह्मा से लेकर अनाश्रित शिव तक तथा पृथिवी से लेकर बीजपर्यन्त का भी । क्योंकि वही तत्तद् भूमिका का निर्वाह करता है । और इस प्रकार उस रूप में अवभासित कारणों का भी कारण अर्थात् अपने स्वातन्त्र्य के कारण अपने ही ऊपर उन सबका उल्लासक है । इस प्रकार वह महान् ईश्वर उनको उनके स्वरूप के अनुसार वैभवप्रदाता होने के कारण सबसे बढ़ कर है । कर्त्ता = स्वतन्त्र । हेतु = उनको अपने-अपने कर्म में प्रवृत्त कराने का कारण ॥ १२५९ ॥

किं च—

समना नाम या शक्तिः सा तस्य करणं स्मृतम्।

स्वशक्त्यैव विश्वमाभासयतीत्यर्थः ॥

यतः—

तयाधितिष्ठेद् देवेशो ह्यधःकारणपञ्चकम् ॥ १२६० ॥

तया स्वमननशक्त्याऽनाश्रितादिव्याप्यन्तं सदाशिवाद्यशेषकारणत्वात् कारणपञ्चकमधितिष्ठेत् तदनुप्राणनतया स्वकार्यसामर्थ्ययुक्तं कुर्यात् । तथा च शिव एव पररूपोऽनाश्रितादिरूपतां गृह्णाति । तथा तदीया परा शक्तिरप्यनाश्रितादिशक्तिरूपतया स्फुरति ॥ १२६० ॥

तत्र तत्कारणपञ्चकमध्यात् प्रधानभूतस्य—

अनाश्रितस्य देवस्य कारणं सेयमाश्रिता।

परमेश्वरेण स्वशक्त्याऽऽभास्यमानोऽनाश्रितभट्टारकादिः परिग्रहवर्तिस्वस्वशक्तिसहित एव आभास्यते । अतस्ता एव देव्योऽनाश्रितादीनां स्वकार्यकारणतां

तथा—

जो समना नामक शक्ति है वह उस (परमेश्वर) का करण मानी गयी है ॥ १२६०- ॥

(परमेश्वर) अपनी शक्ति के द्वारा ही विश्व को अवभासित करते हैं ॥

क्योंकि—

उसी के द्वारा देव (परम शिव) नीचे के पञ्च कारणों के ऊपर अधिकार रखते हैं ॥ -१२६० ॥

उसके द्वारा = अपनी मनन शक्ति के द्वारा, (परमेश्वर) अनाश्रित से लेकर व्यापी तक सदाशिव आदि समस्त का कारण होने से पाँच कारणों (= ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव) के अधिष्ठाता हैं अर्थात् उनको अनुप्राणित कर उनको अपने कार्य के सामर्थ्य से युक्त करते हैं । इस प्रकार परम शिव ही अनाश्रित शिव आदि रूप को ग्रहण करते हैं । उसी प्रकार उसकी परा शक्ति भी अनाश्रिता आदि शक्ति के रूप में स्फुरण करती है ॥ १२६० ॥

उन पाँच कारणों में से प्रधानभूत—

अनाश्रितदेव की आश्रिता यह कारण है (अर्थात् इसी शक्ति का आश्रय लेकर अनाश्रित देव सदाशिव आदि का कारण बनते हैं) ॥ १२६१- ॥

परमेश्वर के द्वारा अपनी शक्ति से आभास्यमान अनाश्रित भट्टारक आदि,

भजन्ते ॥

तच्चैतच्छक्तियुक्तः—

स वै प्रेरयते भूयस्त्वनाथं तु जगत्पतिम् ॥ १२६१ ॥

भूय इत्यस्येदमाकूतं यत्परमशिव एव गृहीतानाश्रितभूमिको द्वितीयामिमां प्रेरणां करोति ॥ १२६१ ॥

इत्थमेव च—

अनाथश्चाप्यनन्तेशमनन्तो व्योमरूपिणम् ।
व्योमव्यापी महादेवो व्यापिनं बोधयेत् प्रभुम् ॥ १२६२ ॥

एते च प्रोक्तस्वशक्तिसहिता एव प्रेरकाः प्रेर्याश्च ॥ १२६२ ॥

किं च—

व्यापिनी करणं तस्य कर्ता वै व्याप्यसौ प्रभुः ।

कर्तृत्वमेतदीयं कर्मप्रदर्शनेनाभिव्यनक्ति—

कर्मरूपा स्थिता माया यदधः शक्तिकुण्डली ॥ १२६३ ॥

परिग्रहवर्त्तिनी अपनी-अपनी शक्तियों के सहित ही आभासित किये जाते हैं । इसलिये वे देवियाँ ही अनाश्रित शिव आदि के अपने कार्यों की कारण होती हैं ॥

इस शक्ति से युक्त—

वह पुनः जगत्पति अनाथ को प्रेरित करते हैं ॥ -१२६१ ॥

'भूयः' कहने का तात्पर्य यह है कि परमशिव ही अनाश्रित शिव की भूमिका पर उतर कर पुनः इस द्वितीय प्रेरणा को करते हैं ॥ १२६१ ॥

और इसी प्रकार—

अनाथ अनन्तेश को, अनन्तेश व्योमरूपी को, और व्योमरूपी महादेव भगवान् व्योमव्यापी को उद्बोधित करते हैं ॥ १२६२ ॥

ये अपनी-अपनी शक्ति के सहित प्रेरक हैं और प्रेर्य भी ॥ १२६२ ॥

और भी—

व्यापिनी उसकी करण है और यह भगवान् व्योमव्यापी उस (= करण) के कर्त्ता हैं ॥ १२६३- ॥

इसके कर्तृत्व को कर्मप्रदर्शन के द्वारा अभिव्यक्त करते हैं—

जिससे नीचे शक्तिकुण्डलिनीरूपी यह माया कर्मरूपा होकर स्थित

पूर्वोक्तकुण्डलाकारतयाऽशेषविश्वगर्भा शक्तिः शक्तिकुण्डलिनी । मायेत्यशेषासूत्रणादेतदन्तोत्थापनभित्तिभूतत्वान्महामायारूपा । कुण्डलीति च्छान्दसत्वात् । यद् यस्माद् एतदीयक्रियाशक्तिव्यापकत्वात् कर्मरूपा स्थिता तेषां भगवानेतदाभासकत्वेन कर्ता सन् कर्मीभूतः । यथोक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

'आत्मानमत एवायं ज्ञेयीकुर्यात् पृथक्स्थितिः ।
ज्ञेयं न तु तदौन्मुख्यात् खण्ड्येतास्य स्वतन्त्रता।' (१।५।१५)

इति । तथा—

'कर्तृकर्मत्वतत्त्वैव कार्यकारणता ततः' (२।४।२) इति ।

स्पन्देऽपि—

'अवस्थायुगलं चात्र कार्यकर्तृत्वशब्दितम्' (१।४)

इति ॥ १२६३ ॥

न केवलमसौ महामायात्मा शक्तिस्तस्य कर्मतया स्थितया, यावत् तदन्तर्गतं तदुल्लास्यं च—

बतलायी गयी है ॥ -१२६३ ॥

पूर्वोक्त कुण्डलाकार रूप में समस्त विश्व को अपने अन्दर समाहित करने वाली शक्ति ही शक्तिकुण्डलिनी है । माया का अर्थ है—महामाया क्योंकि सबका आसूत्रण करने वाली तथा सबके उत्थापन की आधारभूता है । श्लोक सं. १२६३ में 'कुण्डली' शब्द का प्रयोग छान्दस है (लौकिक संस्कृत में 'कुण्डलिनी' होगा) । 'यत्' का अर्थ है यस्मात् अर्थात् इसकी क्रियाशक्ति का व्यापक होने से, कर्मरूप में स्थित है । भगवान् परमशिव उनका (= समस्तविश्व का) आभासक होने से कर्त्ता होते हुए भी कर्म है (क्योंकि आभास्य भी वही है) । जैसा कि ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया—

'इसलिये यह परमेश्वर अपने को पृथक् स्थिति वाला ज्ञेय बनाते हैं न कि उसके औन्मुख्य से यह ज्ञेय होते हैं । (क्योंकि ज्ञेय के औन्मुख्य के कारण ज्ञेय होने से) इस परमेश्वर की स्वतन्त्रता खण्डित हो जायेगी ।' (ई.प्र. १।५।१५)

तथा—

'इसलिये कार्यता और कारणता (उस परमेश्वर के) कर्तृत्व एवं कर्मत्व के कारण होती है' (ई.प्र. २।४।२)

स्पन्दकारिका में भी कहा गया है—

'उस परमेश्वर की दो अवस्थायें ही कर्त्ता और कर्म शब्द से कही गयी हैं' ॥ १२६३ ॥ (स्प.का. १।४)

केवल यह महामायारूपा शक्ति ही उसके कर्म के रूप में स्थित नहीं है बल्कि

नादबिन्द्वात्मकं कार्यम्..........

एतच्चानन्तरपटले क्रमेण व्यक्तीकरिष्यति ॥

अतश्चास्माद् व्यापिभट्टारकाद् परमशिवाधिष्ठितात्—

..............इत्यादिजगदुद्भवः ।

महामायादिभूम्यन्तपरसूक्ष्मस्थूलवाच्यवाचकात्मकाशेषविश्वोद्भवः । एष एव भगवांस्तदाभासात्मना स्फुरतीत्यर्थः ।

यत एवं समनाभूमिमाश्रित्य परमेश्वरः परसूक्ष्मस्थूलरूपं विश्वमाभासयति, अत एवाभास्यमानम्—

यत् सदाशिवपर्यन्तं पार्थिवाद्यं च सुव्रते ॥ १२६४ ॥
तत्सर्वं प्राकृतं ज्ञेयं विनाशोत्पत्तिसंयुतम् ।

सदाशिवोऽत्र पररूपोऽनाश्रितभट्टारकः । सूक्ष्मदृष्ट्या प्रकृतेर्विश्वकारणात् समनात आयातं प्राकृतम्, स्थूलदृष्ट्या तु सदाशिवतत्त्वात् प्रभृति क्षित्यन्ता चतुस्त्रिंशत्सङ्ख्या तत्त्वप्रसृतिः । प्रकृतेः शक्तितत्त्वात् शिवतत्त्वाभेदभाज आयातीति ।

उनके अन्तर्गत और उस (परमेश्वर से) उल्लास्य—

नाद और बिन्दु भी उसके कार्य हैं ॥ १२६४- ॥

इस तथ्य को (भगवान्) एकादश पटल में स्पष्ट करेंगे ॥

इसलिये परमशिव से अधिष्ठित इस व्योमव्यापी भट्टारक से—

इत्यादि (= महामाया आदि) जगत् का उद्भव होता है ॥ -१२६४- ॥

महामाया से लेकर भूमि पर्यन्त पर सूक्ष्म-स्थूल वाच्य-वाचक रूप सम्पूर्ण विश्व की उत्पत्ति होती है । तात्पर्य यह है कि यही भगवान् तत्तत् आभास के रूप में स्फुरित होते हैं ।

चूँकि इस प्रकार समना भूमिका पर उतर कर परमेश्वर पर सूक्ष्म स्थूल रूप विश्व का आभासन करते हैं इसलिये—

हे सुव्रते ! पृथिवी से लेकर सदाशिव पर्यन्त जो कुछ आभास्यमान है उस सबको उत्पत्ति और विनाश वाला प्राकृत तत्त्व जानना चाहिये ॥ -१२६४-१२६५- ॥

यहाँ सदाशिव का अर्थ है—पर रूप अनाश्रितभट्टारक । सूक्ष्म दृष्टि से विश्व की कारणभूता प्रकृति अर्थात् समना से उत्पन्न हुये को प्राकृत कहते हैं और स्थूल दृष्टि से सदाशिव तत्त्व से पृथिवीतत्त्व तक चौंतीस संख्या वाला तत्त्व का प्रसार है । प्रकृति अर्थात् शिव तत्त्व से अभिन्न शक्ति तत्त्व से (यह संसार) उत्पन्न होता

अत्र द्विविधो व्याख्याक्रमः प्रसिद्धः । तत्र आद्य एव ज्यायान्, भाविपटलेऽनाश्रितस्यापि सृष्टिसंहाराघ्रातत्वाभिधानात् । एतच्च विनाशोत्पत्तिमज्ज्ञेयं न पुनरत्राधारपदे विश्रमितव्यम्, अथ च ज्ञेयं ज्ञेयमानतयैव ज्ञानोपारोहपरज्ञानैकात्म्यापत्तियुक्त्या विलाप्यमित्यर्थः । उत्पत्तिविनाशेति वक्तव्ये विपर्ययपाठः सृष्टिसंहारपरम्पराया अनादित्वप्रतिपादनपरः ॥

एवं समनान्तमध्वानमुक्त्वा पूर्वोपक्रान्तं दीक्षाविधिमेव स्मारयति—

या सा शक्तिः पुरा प्रोक्ता समना त्वध्वमूर्धनि ॥ १२६५ ॥
स्फुरत्सूर्यसहस्राभकिरणानन्तभास्वरा ।
ध्यात्वा चैतां समावाह्य स्थापयेत्तु विधानवित् ॥ १२६६ ॥
उपचारं ततः कृत्वा वागीश्यावाहनं तथा ।
स्थापनं पूजनं चैव पशोर्यागं तथैव च ॥ १२६७ ॥
गर्भधारित्वजनने अधिकारं तथैव च ।
योगं भोगं लयं चैव निष्कृतिं तदनन्तरम् ॥ १२६८ ॥
भुवनाधिपहोमं च भुवनाधिपवासिनाम् ।
भुवनानां यथायोगं होमं कृत्वा वरानने ॥ १२६९ ॥
त्रितत्त्वं शोधयेच्चातोऽवयवांश्च यथाक्रमम् ।

है । इस विषय में दो प्रकार की व्याख्या प्रसिद्ध है । उनमें से पहली व्याख्या अधिक समीचीन है क्योंकि आगे के पटल में अनाश्रितभट्टारक का भी सृष्टिसंहार कहा गया है । इस कथन को विनाशोत्पत्ति वाला समझना चाहिये । इसलिये इसे आधार मान कर यहीं नहीं रुक जाना चाहिये तथा ज्ञेय को ज्ञेयमान के रूप में ही, ज्ञान के उपारोह परज्ञान के साथ एक करके विलापित करना चाहिये—यह अर्थ है । ऊपर के श्लोक में 'उत्पत्तिविनाश' के बदले 'विनाशोत्पत्ति' कहने का तात्पर्य है कि सृष्टिसंहार की परम्परा अनादि है ॥

(पृथिवी से लेकर) समना पर्यन्त अध्वा का वर्णन कर पूर्वोपक्रान्त दीक्षाविधि का स्मरण कराते हैं—

अध्वा के अन्तिम स्तर पर चमकते हुए हजारों सूर्य की अनन्त किरणों के समान भास्वर जो समना नामक शक्ति कही गयी है उसका ध्यान कर आवाहन करने के बाद आचार्य उसकी स्थापना करे ! उसका षोडशोपचार से पूजन करने के बाद वागीश्वरी का आवाहन स्थापन पूजन तथा पशुयाग करना चाहिये । गर्भाधान, जन्म, अधिकार, योग, भोग, लय, निष्कृति, भुवनेश्वर होम, भुवनेश्वर में रहने वाले भुवनों का यथायोग होम करने के बाद हे वरानने ! तीन तत्त्वों और उनके अवयवों का क्रम से शोधन करना चाहिये ॥ -१२६५-१२७०- ॥

स्फुरदित्यादिनैतदाह—यथा विश्वमत्रासूत्रितकल्पं प्रभामात्ररूपव्यतिरिक्तशक्त्यात्मकमिति । 'या सा' इत्यत्र 'माया' इति केचित् पठन्ति । एतामिति शिवतत्त्वाधिष्ठातृशिवभट्टारकात्मिकाम् । आवाहनादिः पूर्वोक्तक्रमात् । उपचारः पूजा । वागीश्या आवाहनमत्र परस्वरूपायाः । वागीशीस्थापनपूजनानन्तरं शिष्यप्रोक्षण-ताडन-तद्धृत्प्रवेश-तच्चैतन्याकर्ष-तद्ग्रहणादिपूर्वं वागीशीगर्भे तच्चैतन्यस्य योगः । गर्भधारित्वमेतत्पदोचितमहामन्त्रमयतौचित्येन । भुवनानां ये भुवनाधिपाः प्रधानभूतास्तेषां होमं कृत्वा, येऽन्ये तत्प्रधानभुवनापेक्षया भुवनान्तरवासिनस्तत्तत्त्वगतावान्तरभुवननिष्ठा रुद्रास्तेषामपि । यथायोगमिति संक्षिप्तदीक्षायामन्तर्भावभावनयुक्त्या, अन्यत्र तु पृथग् होमं कृत्वा श्रावणादि कार्यम् । यद्यपि समनान्तर्गतव्यापिनीपदे व्याप्यादिपञ्चकातिरिक्तानि भुवनेशान्तराणि न सन्ति, तथाप्यस्य विधेः सर्वशेषत्वादेवमुक्तम् । पश्चादात्मविद्याशिवाख्यं तत्त्वत्रयं शोधयेदिति शारीरवाचिकमानसशुद्ध्यर्थं पूर्वोक्तहोमक्रमेण शुद्धं सम्पादयेत् । एवं ह्याचार्योऽस्मिञ्छिवयागे शरीरादिव्यापाराविष्टशुद्धतत्त्वमय एव भवतीति दर्शयति । अवयवांश्चेत्येतत्तत्त्वत्रयान्तर्वर्तित्वाद् मायान्तसदाशिवान्तानि तत्त्वान्येवावयवानेतदन्तर्भावयुक्त्यैव

'स्फुरत्' इत्यादि के द्वारा यह कहते हैं—कि इससे विश्व आसूत्रितकल्प, प्रभामात्ररूप अनतिरिक्त (अर्थात् शक्ति से भिन्न नहीं) शक्ति रूप है । कुछ लोग 'या सा' के स्थान पर 'माया' पाठ मानते हैं । इसको = शिवतत्त्व के अधिष्ठाता शिवभट्टारक रूपवाली । आवाहन आदि—पूर्वोक्त क्रम के अनुसार करना चाहिये । उपचार = पूजा । यहाँ जिस वागीशी का आवाहन (करने की बात कही गयी है वह) परस्वरूपा वागीशी (न कि शुद्धविद्या) का आवाहन है । वागीश्वरी की स्थापना और अर्चना के बाद शिष्य का प्रोक्षण ताड़न, उसके हृदय में प्रवेश, उसके चैतन्य का आकर्षण, उस चैतन्य का ग्रहण आदि करने के बाद वागीश्वरी के गर्भ में उस चैतन्य का योजन करना चाहिये । गर्भधारण का अर्थ है—शिष्य चैतन्य को इस पद के योग्य महामन्त्र से व्याप्त करना । भुवनों के जो प्रधान भुवनाधिपति हैं उनके लिये होम करने के बाद उन प्रधान भुवनों की अपेक्षा जो दूसरे भुवनों में रहने वाले हैं अर्थात् तत्तत् तत्त्वगत अवान्तर भुवनों में रहने वाले रुद्र हैं, उनका भी (हवन करना चाहिये) । 'यथायोग' कहने का तात्पर्य है—संक्षिप्त दीक्षा में अन्तर्भाव की भावनायुक्ति से । अन्यत्र पृथग् होम करने के बाद श्रावण आदि करना चाहिये । यद्यपि समना के अन्तर्गत स्थित व्यापिनी पद में व्योमव्यापी आदि पाँच कारणों के अतिरिक्त अन्य भुवनेश्वर नहीं हैं फिर भी इस विधि के सर्वविधिशेष होने के कारण ऐसा कहा गया । इसके बाद आत्मा विद्या एवं शिव नामक तीन तत्त्वों का शोधन करना चाहिये । इनकी कायिक वाचिक मानसिक शुद्धि के लिये पूर्वोक्त होमक्रम से इनको शुद्ध करना चाहिये । इस प्रकार इस शिवयाग में आचार्य शरीर आदि व्यापार से आविष्ट शुद्धतत्त्वमय हो जाता है—यह बतलाते हैं । (श्लोक सं १२६९ से उक्त) 'अवयवांश्च' का अर्थ है कि इन (आत्मा विद्या और शिव नामक) तीन तत्त्वों के अन्तर्वर्त्ती होने के कारण माया से लेकर सदाशिव पर्यन्त तत्त्व ही

होमकर्मणा शोधयेत् । यथोक्तं पुरस्तात्—

'आत्मतत्त्वविभागेन धाम्ना वै जुहुयाच्छतम् ॥
सशब्दोच्चारयोगेन आत्मतत्त्वे तु होमयेत् ।
मायातत्त्वावधि ज्ञेयं दैशिकेन शिवाध्वरे ॥
विधिवैकल्यकर्मार्थं प्रायश्चित्तविशुद्धये ।' (४।२१०-२१२)

इत्यादि ॥

अत्र च मध्ये निष्कृत्यनन्तरम्—

विश्लेषपाशच्छेदौ च कृत्वा पूर्णां तु पातयेत् ॥ १२७० ॥

तदुक्तं प्राक्—

'विश्लेषो निष्कृतेर्भोगात्' (४।१२६)

इत्यादि । अत्र च पाशच्छेदानन्तरं तद्धोमचैतन्यैकभावनापूर्वं शिवेन पूर्णाहुतिः ॥ १२७० ॥

ततस्तच्चैतन्यस्योद्धारात्मस्थीकार-तत्स्थीकारान् कृत्वा व्याप्यादिभुवनेश्वराह्वान-तत्पूजन-पुर्यष्टकांशार्पण-श्रावणा-विसर्जनादिः कृत्वा प्रायश्चित्तहोमस्त्रितत्त्वयुक्त्या कर्तव्य इति । ईदृशं क्रमं लेशतः स्मारयति—

प्रायश्चित्तं ततो हुत्वा.........

अवयव हैं । उनका शोधन इन तीन के अन्तर्भावयुक्ति के द्वारा होम से करना चाहिये । जैसा कि पहले कहा गया—

आत्म तत्त्व के विभाग.........प्रायश्चित की शुद्धि के लिये ॥' (४।२१०-२१२)

इसके बीच निष्कृति होम के बाद—

विश्लेष और पाशच्छेद कर पूर्ण आहुति देनी चाहिये ॥ -१२७० ॥

वही पहले कहा गया—

'निष्कृति के भोग से विश्लेष होता है ।' (४।१२६)

इत्यादि । यहाँ पाशच्छेद के बाद उस होम और शिष्यचैतन्य की शिव के साथ ऐक्यभावना करते हुए पूर्णाहुति दी जानी चाहिये ॥ १२७० ॥

इसके बाद उस चैतन्य का उद्धार आत्मस्थीकार, तत्स्थीकार करने के बाद व्योमव्यापी आदि भुवनेश्वरों का आवाहन, उनका पूजन, पुर्यष्टकांश का उनको अर्पण, श्रावण, विसर्जन आदि करने के बाद त्रितत्त्वयुक्ति के द्वारा प्रायाश्चित्त होम करना चाहिये । इस प्रकार के क्रम का लेशमात्र स्मरण कराते हैं—

इसके बाद प्रायश्चित्तहोम कर ॥ १२७१- ॥

ततः किं कर्तव्यमित्याह—

....कर्तरीमभिमन्त्रयेत् ।

तया च—

शिखां छित्वा.........

पूर्वोक्तभावनामन्त्रादिक्रमेण—

.....समर्प्यैतां.....

कस्यचिद्धस्ते—

..............शिशुं संस्नापयेद् गुरुः ॥ १२७१ ॥

स्नानाय आदिशेत् । एवमिहापि शिखाच्छेदविधेर्विशेषाचोदनाद् यत् टीकाकारैर्निर्बीजदीक्षाविषयत्वं प्राग्व्याख्यातम् तदसदेव मन्तव्यम् ॥ १२७१ ॥

अथ—

आचार्यः प्रयतो भूत्वा सकलीकरणादिकम् ।

कृत्वा—

स्रुचोऽग्रे तु शिखां कृत्वा हुत्वा स्नायादनन्तरम्॥ १२७२ ॥

उसके बाद क्या करना चाहिये—यह कहते हैं—

कर्त्तरी (कैंची) का अभिमन्त्रण करना चाहिये ॥ -१२७१- ॥

और उसके द्वारा—

शिखा का छेदन कर ॥ -१२७१- ॥

पूर्वोक्त भावना मन्त्र आदि के क्रम से—

इस (शिखा) का किसी के हाथ में समर्पण कर गुरु शिशु को स्नान कराये ॥ -१२७१ ॥

(स्नापयेत् का अर्थ है—) स्नान के लिये आदेश दे । यहाँ पर भी शिखाछेद-विधि का विशेष वर्णन न करने से जो टीकाकारों ने इसे निर्बीज दीक्षाविषयक बतलाया उसे असमीचीन ही मानना चाहिये ॥ १२७१ ॥

इसके बाद—

आचार्य पवित्र होकर सकलीकरण आदि ॥ १२७२- ॥

करने के बाद—

स्रुक् के अग्रभाग में शिखा को रख कर हवन करने के बाद स्नान करे ॥ -१२७२ ॥

ततोऽपि—

सकलीकरणं कृत्वा आचार्यस्तु वरानने ।
शिशोरपि विधिं कृत्वा..........

प्राग्वन्मन्त्रन्यासादिरूपम् ॥

...........शिवकुम्भं समर्चयेत् ॥ १२७३ ॥

तथा—

भैरवं मध्यदेशस्थं..........

यागस्येत्यर्थात् ॥

किं च—

............भैरवाग्निं समर्चयेत् ।

आचार्यः पूजयेत् ॥

ततो भगवन्तं विज्ञाप्य, पूर्वोक्तयुक्त्या योजनिकार्थम्—

पूर्णां सम्पूर्य विधिवद्वाममन्त्रमनुस्मरन् ॥ १२७४ ॥
पूर्वोक्तलक्षणेनैव प्रोच्चरेत्तं प्रयत्नतः ।

इसके बाद—

हे वरानने ! आचार्य सकलीकरण कर शिशु की भी पूर्व की भाँति मन्त्रन्यास आदि रूप विधि का सम्पादन कर शिवकुम्भ की पूजा करे ॥ १२७३ ॥

पूर्वोक्त मन्त्रन्यास पूर्वक विधि करके ॥

उसी प्रकार—

याग के मध्यदेश में स्थित भैरव ॥ १२७४- ॥

और भी—

भैरवाग्नि की अर्चना करे ॥ -१२७४- ॥

अर्थात् आचार्य (उनकी) पूजा करे ॥

इसके बाद भगवान् को विज्ञापित करके पूर्वोक्त युक्ति के अनुसार योजनिका के लिये—

पूर्णाहुति भर कर विधिवत् वाम मन्त्र का स्मरण करते हुए पूर्वोक्त लक्षण से प्रयत्नपूर्वक उस (मन्त्र) का स्मरण करे ॥ -१२७४-१२७५- ॥

पूर्वोक्तं लक्षणं योजनिकोक्तसमस्तप्रमेयानुसन्धिपूर्वपूर्णाहुतिप्रयोगरूपम् । तं मन्त्रम् ॥

तदत्र मन्त्रोच्चारावसरे—

हेयाध्वानमधः कुर्वन् रेचयेत्तं वरानने ॥ १२७५ ॥
यावत् सा समना शक्तिः.......

समनान्तस्य पाशत्वाद्धेयाध्वत्वम् । रेचयेदित्यूर्ध्वेन, इत्यर्थात् ॥

अथोपादेयाध्वप्रवेशप्रमुखां परतत्त्वविश्रान्तिरूपां योजनिकामाह—

......तदूर्ध्वे चोन्मना स्मृता ।

मनो मननमात्ररूपमपि तत्र न क्रमते न सम्भवति, अपि तु मन्त्ररूपैवेयं दशेत्यर्थः । अत एवात्र प्राक्—

'व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधरूपेण योजयेत् ।
तदा शिवतत्त्वमायाति पशुर्मुक्तो भवार्णवात् ॥' (४।४३७)

इत्युक्तम् ॥

यतश्चात्र मननं न क्रमते, अत एव—

पूर्वोक्त लक्षण का तात्पर्य है—योजनिका में उक्त समस्त प्रमेय के अनुसन्धान के साथ पूर्णाहुति के प्रयोग रूप । उसका = मन्त्र का ॥

इस मन्त्र के उच्चारण के अवसर पर—

हे वरानने ! हेय अध्वा को नीचे करते हुए उसका वहाँ तक रेचन करना चाहिये जहाँ तक कि समना शक्ति है ॥ -१२७५-१२७६- ॥

समना पर्यन्त पाशजाल के होने से वहाँ तक का अध्वा हेय है अर्थात् रेचन ऊर्ध्व मुख से करणीय है—यह समझना चाहिये ॥

अब उपादेय अध्वा में प्रवेश वाली परतत्त्वविश्रान्ति रूपा योजनिका को बतलाते हैं—

उस (समना) के ऊपर उन्मना कही गयी है ॥ -१२७६- ॥

वहाँ पर मन किञ्चित् भी मनन नहीं करता । यह (उन्मना) दशा मन्त्र रूपा मात्र है । इसीलिये इस विषय में पहले—

'(आचार्य) मानसिक व्यापार को छोड़ कर (शिष्य को) बोध रूप से युक्त करे। इसके बाद पशु भवसागर से मुक्त होकर शिव हो जाता है ।' (४।४३७)

ऐसा कहा गया ॥

नात्र कालः कलाश्चारो न तत्त्वं न च देवताः ॥ १२७६ ॥

कालः क्षणादिपरार्धान्तः । कला निवृत्त्यादिशान्त्यतीतान्ताः । चारः प्राणवाह । तत्त्वं तस्य भाव इति व्युत्पत्त्या तत्तद्भुवनावभासप्रमात्राद्यनुगततत्तत्सामान्याभासरूपम् । देवता ब्रह्माद्यनाश्रितान्ताः ॥ १२७६ ॥

किं तर्हीदम्—

सुनिर्वाणं परं शुद्धं गुरुवक्त्रं तदुच्यते ।

गुरोः परमशिवस्य वक्त्रं प्राप्त्युपायः । यदुक्तं त्रिशिरोभैरवे—

'गुरोर्गुरुतरा शक्तिः' इति ॥

अतश्च—

तदतीतं वरारोहे परं तत्त्वमनामयम् ॥ १२७७ ॥

तामप्यतीतं तदीयपार्यन्तिकविश्रान्तिरूपम्, न पुनरसौ समनावदतिक्रमणीया भवति, सुनिर्वाणमित्यभिधानात् । वरारोहे इति प्राग्वत् । परं विश्वोतीर्णं

चूँकि यहाँ मनन भी सम्भव नहीं हैं इसलिये--

इस स्तर पर न काल है न कलायें, न प्राणचार है और न देवतायें ॥ -१२७६ ॥

काल-क्षण से लेकर परार्धपर्यन्त । कला-निवृत्ति से लेकर शान्त्यतीता तक चार = प्राण का सञ्चार । तत्त्व का अर्थ है—तत् का = उसका भाव अर्थात् तत्तत् भुवन का अवभास वाले प्रमाता के अनुसार तत्तत् सामान्य आभास । देवता ब्रह्मा से लेकर अनाश्रित भट्टारक पर्यन्त ॥ १२७६ ॥

तो फिर यह क्या है ?—(उत्तर देते है—)

वह सुनिर्वाण, पर, शुद्ध गुरुवक्त्र कहा जाता है ॥ १२७७- ॥

यह गुरु = परमशिव, का वक्त्र = प्राप्ति का उपाय । जैसा कि त्रिशिरोभैरव में कहा गया—

'शक्ति गुरु से भी गुरुतर है ।'

इसलिये—

हे वरारोहे ! यह उस (समना) से भी परे, पर अनामय तत्त्व बतलाया गया है ॥ -१२७७ ॥

उस (समना) के भी परे उसका अन्तिम विराम स्थल । यह (= उन्मना) समना तत्त्व की भाँति अति क्रमणीय नहीं है क्योंकि इसे सुनिर्वाण कहा गया है । वरारोहे! की व्याख्या पूर्व की भाँति समझनी चाहिये । पर = विश्वोत्तीर्ण और

विश्वमयत्वात् पूर्णं च । तस्य क्षित्यादेरुन्मनान्तस्य सर्वस्य भावश्चित्प्रकाशमयः स्वभाव इति व्युत्पत्त्या तत्त्वं पारमार्थिकं स्वरूपम्, न तु पृथ्वीतत्त्वादिवत् काठिन्यादिवेद्याभासरूपम् । अनामयमिति न विद्यत आमयोऽख्यातिर्यत्र तत् । उक्तं च त्रिकसारे—

'बिन्दुनादात्मकैर्देहैः शान्तैश्च शिवसम्भवैः ।
अतीतस्तु भवेद् देवो निरञ्जनः परः शिवः ॥' इति ॥ १२७७ ॥

यत एवमतः—

गुरुवक्त्रप्रयोगेण तस्मिन् योज्येत शाश्वते ।
निष्कम्पे कारणातीते विरजे निर्मले शुभे ॥ १२७८ ॥
सर्वज्ञे परमे तत्त्वे व्योमातीते ह्यतीन्द्रिये ।

गुरुवक्त्रे उन्मनायां यः प्रकृष्टयोगः ऐकात्म्यं तेन—

'व्यापारं मानसं त्यक्त्वा बोधरूपेण योजयेत्' (४।४३७)

इत्युक्तरूपेण तदनुप्रवेशतदवष्टम्भात्मना । योज्येतेति स्वात्मना सह शिष्यात्मा तत्सामरस्यमाप्येत । यथोक्तम्—

विश्वमय होने से पूर्ण । (तत्त्व पद की व्याख्या करते हैं—) उस = पृथिवी से लेकर उन्मनापर्यन्त सवपूर्ण का, भाव = चित्प्रकाशमय स्वभाव—इस व्युत्पत्ति के अनुसार तत्त्व का अर्थ है—पारमार्थिक स्वरूप न कि पृथिवी आदि तत्त्व की भाँति काठिन्य आदि वैद्याभासरूप । अनामय का अर्थ है—जिसमें आमय = अख्याति (= अज्ञान) नहीं है, वह । त्रिकसार में कहा भी गया है—

'जो बिन्दु नाद रूप, शान्त एवं शिव से उत्पन्न शरीरों से परे है वही देव निरञ्जन पर शिव हैं' ॥ १२७७ ॥

चूँकि ऐसा है इसलिये—

(आचार्य को चाहिये कि वह) गुरुवक्त्र के प्रयोग के द्वारा (शिष्य-चैतन्य को) शाश्वत, निष्कम्प, कारणातीत, विरज, निर्मल, शुभ, सर्वज्ञ, व्योमातीत, अतीन्द्रिय परमतत्त्व से जोड़ दे ॥ १२७८-१२७९- ॥

('गुरुवक्त्रप्रयोगेण' को स्पष्ट करते हैं—) गुरुवक्त्र = उन्मना के साथ जो प्रकृष्ट योग (प्रयोग =) एकात्मता उसके द्वारा—

'मानसिक व्यापार को छोड़ कर बोध रूप से जोड़ना चाहिये ।' (४।४३७)

इस उक्त नियम से उस परतत्त्व में अनुप्रवेश और उसमें स्थिरता के साथ । जोड़ना चाहिये—अपनी आत्मा के साथ शिष्य की आत्मा को उस (परतत्त्व) के साथ समरस बनाये । जैसा कि कहा गया—,

'तस्मिन् युक्तः परे तत्त्वे सार्वज्ञ्यादिगुणान्वितः ।
शिव एको भवेन्नित्यमविभागेन सर्वशः ॥' (४।४०२)

इति । शाश्वते नित्योदिते, अत एव निष्कम्पे सर्वदा व्यवहारदशास्वपि विमलचिद्घनैकरूपे । कारणानि ब्रह्माद्यनाश्रितान्यतीते तदनुभवविलक्षणेऽशेषविश्वाभासमय इत्यर्थः । अशेषविश्वप्रकाशमपि चैतत्र तेन विश्वेन मनागप्युपहितम्, तस्य विश्वस्य तत्प्रकाशैकरूपत्वादित्यतो विरजस्कत्वान्निर्मले । अतश्च शुभे परश्रेयःस्वभावे । सर्वं च तद् ज्ञं च तदिति सर्वज्ञं, तस्मिन् विश्वाद्वयप्रकाशरूपे परमे तत्त्वे । व्योम्नि शून्यातिशून्यपदस्याप्यतीतमत्ययः प्रशमो यत्र तस्मिन् । अतीन्द्रिय इति सदा सर्वस्य सर्वत्र च स्वप्रकाशैकपरमार्थे ॥

उपसंहरति—

इत्यध्वा चैष वै प्रोक्तः समासेन मयानघे ॥ १२७९ ॥

चकारात् तच्छुद्धिपरिकर्मापि । एष इत्यध्वान्तरव्याप्तो भुवनाध्वा ॥ १२७९ ॥

न चायं दीक्षायां शोधनार्थमेवेत्थमुक्तः, अपि त्वेतावत् समस्तप्रमेयकरणे परप्रमात्रावेशमपि ज्ञानशालिनामुन्मीलयतीत्याह—

'उस पर तत्त्व में युक्त हुआ शिष्य सर्वज्ञता आदि गुणों से भरपूर होकर नित्य अविभक्त होता हुआ सर्वप्रकारेण एकमात्र शिव हो जाता है ।' (४।४०२)

शाश्वत = नित्योदित । इसीलिये निष्कम्प = सर्वदा व्यवहार दशा में भी विमल चिद्घनमात्र । कारण—अर्थात् ब्रह्मा से लेकर अनाश्रित शिव पर्यन्त पञ्च कारण से परे उनके अनुभव से विलक्षण समस्त विश्वाभासमय । समस्तविश्व का प्रकाशक होते हुए भी इस विश्व के द्वारा रञ्चमात्र भी उपलिप्त नहीं है क्यों कि वह उस विश्व का एकमात्र प्रकाशक है । इसलिये रजस रहित होने से निर्मल है । इसलिये शुभ = परश्रेयःस्वभाव रूप है । जो सब होते हुए ज्ञ भी है वह सर्वज्ञ है उसमें अर्थात् विश्व के साथ अद्वयभाव से स्थित होते हुए प्रकाशरूप पर तत्त्व में । प्रकाश अर्थात् शून्यातिशून्य पद के भी परे अत्यय = प्रशम है जिसमें, वह, उसमें । अतीन्द्रिय = सदा सब का सर्वत्र केवल स्वप्रकाशपरमार्थमात्र में योजन करना चाहिये ॥

उपसंहार करते हैं—

हे अनघे ! इस प्रकार मैंने संक्षेप में अध्वा का वर्णन किया ॥-१२७९॥

श्लोक में 'चकार' से उसकी शुद्धि का अनुष्ठान भी बतलाया । यह—अध्वा के अन्दर व्याप्त भुवनाध्वा ॥ १२७९ ॥

केवल दीक्षा में शोधन के लिये ही यह नहीं कहा गया बल्कि ज्ञानियों द्वारा इतना प्रमेय बना लेने के बाद परप्रमाता में उनका समावेश भी हो जाता है—यह कहते हैं—

ज्ञात्वा चैवं महादेवि प्रयाति परमं पदम् ।

एवमुक्तरूपमिमध्वानं यः कश्चित् प्रमेयतया परिच्छिनत्ति, स परां प्रमातृतामाविशति ॥

आचार्य पुनः—

देहे देवे च शिष्ये च कलशे ह्यग्निमध्यतः ।
एवं ज्ञात्वा वरारोहे मुच्यते मोचयत्यपि ॥ १२८० ॥

'साक्षात् स्वदेहसंस्थोऽहं कर्तानुग्रहकर्मणाम्' (मा०वि० ९।४९)

इत्युक्त्वाद् आदौ देहे वास्तवीं सर्वाध्वमयतां जानीयात्, येन तावदशेषाध्वशरीरः परभैरवाविष्टो भवति । ततो देवादावधिकरणचतुष्टये स्वाहम्भावाभेदप्रथां तथैव जानन् मुच्यते सर्वात्मकपरभैरवतामेति, तथाविधस्वात्माभेदेन चानुग्राह्यानपि पश्यन् मोचयति—

'मत्समत्वं गतो जन्तुर्मुक्त इत्यभिधीयते' (मा०वि० ९।५३)

इति स्थित्या परभैरवरूपानेव सम्पादयतीति शिवम् ॥ १२८० ॥

हे महादेवि ! इस प्रकार से ज्ञान प्राप्त कर (ज्ञानी) परमपद को प्राप्त होता है ॥ १२८०- ॥

उक्तरूप वाले इस अध्वा को जो प्रमेय के रूप में जान लेता है वह पर प्रमाता में अविष्ट हो जाता है ॥

और आचार्य—

(आचार्य) देव, देह, शिष्य, कलश और अग्नि में ऐसी भावना कर, हे वरारोहे ! स्वयं मुक्त होता और (शिष्य को) मुक्त कराता है ॥ १२८० ॥

'(ऐसा आचार्य) साक्षात् अपने देह में रहता हुआ भी अनुग्रहकृत्यों का कर्त्ता होता है ।' (मा.वि.तं. ९।४९)

ऐसा कथन होने से आचार्य को पहले अपने शरीर को वास्तविक अध्वामय जानना चाहिये । इसके द्वारा समस्त अध्वा ही उसका शरीर हो जाता है फलतः वह परभैरवावेश वाला हो जाता है । इसके बाद देव शिष्य कलश और अग्नि इन चार में अपने अहंभाव रूप अभेदप्रथा को उसी प्रकार जानता हुआ मुक्त हो जाता है अर्थात् परभैरव हो जाता है और उस प्रकार अनुग्राह्यों को अपने से अभिन्न देखता हुआ उनको भी मुक्त करा देता है—

'जीव जब मेरे तुल्य हो जाता है तब ही वह मुक्त कहा जाता है ।' (मा.वि.तं. ९।५३)

ग्रन्थग्रन्थिविभेदनं प्रतिपदं पूर्वापरालोचनं
तात्त्वी युक्तिरभङ्गुरान्तरबहिस्तत्त्वैक्यसन्दर्शनम् ।
सम्यक्सङ्कलनाः पुरेशविषयाः पूर्णाद्वयामर्शनं
स्वाच्छन्दे भुवनाध्वनीह तदियत्किञ्चिन्मया द्योतितम् ॥

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्यव्याख्योपेते भुवनाध्वदीक्षाविधिर्नाम दशमः पटलः ॥ १० ॥



इस स्थिति के अनुसार उनको परभैरव रूप बना देता है ॥ १२८० ॥

पग-पग पर ग्रन्थ की ग्रन्थियों का खोलना, पूर्वापर की आलोचना, तत्त्व वाली युक्ति, नित्य आन्तर और बाह्य तत्त्वैक्य का निर्वचन, भुवनेश्वरों की सम्यक् सङ्कलनायें, पूर्ण अद्वय भाव का आमर्शन यह सब विषय 'स्वच्छन्द तन्त्र के इस भुवनाध्वा पटल में मैंने कुछ-कुछ दिखलाया ॥

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के दशम पटल 'भुवनाध्वदीक्षाविधि' की श्रीक्षेमराजविरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ १० ॥



एकादशः पटलः

*** स्वच्छन्दोद्योतः ***

स्वस्वरूपात्मशक्त्यैव स्वाभिन्नं संसृजन् जगत् ।
संहरंश्च जयत्येकः स्वच्छन्दो बोधभैरवः ॥

यदुक्तम्—

'अत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम् ।
सृष्टि .... ॥' (१०।१२५८)

इत्यादि, तन्निर्णायियिषुः पटलसङ्गतिं कुर्वती श्रीदेव्युवाच—

अध्वायं तु मया ज्ञातस्त्वत्प्रसादात् सुराधिप ।
जगत्सृष्टिस्त्वया देव सूचिता न तु वर्णिता ॥ १ ॥

अयमिति भुवनात्मा । जगदिति देहगतबाह्यगततत्त्वाध्वरूपमेव । सूचितेति—

*** ज्ञानवती ***

स्वस्वरूपा आत्मशक्ति के द्वारा अपने से अभिन्न संसार की सृष्टि और संहृति करने वाले एकमात्र स्वच्छन्द बोधभैरव सबसे बढ़ कर हैं ।

जैसा कि कहा गया—

'इस पर आरूढ़ होकर परम कारण शिव सृष्टि.......करते हैं ।' (१०।१२५८)

इत्यादि उसका विचार करने की इच्छा वाली श्री देवी पिछले पटल से सङ्गति बैठाती हुई बोली—

हे सुरेश्वर ! आपकी कृपा से मैंने इस अध्वा का ज्ञान कर लिया । हे देव ! आपने जगत् की सृष्टि की सूचना तो दी किन्तु उसका वर्णन नहीं किया ॥ १ ॥

यह = भुवनरूप । जगत् — देह में स्थित और बाहरी तत्त्वाध्वा रूप जगत् ।

'नादबिन्द्वादिकं कार्यमित्यादिजगदुद्भवः' (१०।१२६४) इति ॥

अतश्च त्वम्—

अध्वसृष्टिं महादेव कथय स्व प्रसादतः ।

हे महादेव अशेषविश्वप्रभो द्योतनादिसतत्त्व, स्व आत्मन्, प्रसादतोऽन्तर्नैर्मल्य-गमनात् तात्त्विकार्थानिगूहनेनाध्वनः सृष्टिमुत्पत्तिं कथय । सृष्टिमित्युपलक्षणपरम्, स्थितिसंहारयोरप्यभिधास्यमानत्वात् ॥

एतन्निर्णयाय श्रीभैरव उवाच—

योऽसौ सूक्ष्मः परो देवः कारणं सर्वगः शिवः ॥ २ ॥
निमित्तकारणं सोऽत्र कथितस्तव सुव्रते ।

योऽसाविति प्रतिपादितनिःसामान्यचिदानन्दघनः, परः सूक्ष्म इत्यन्तःकरणस्या-प्यगोचरः, देवो द्योतनादिसतत्त्वः, कार्यते स्वशक्त्या आभास्यतेऽस्मिन्निति च कारणं तेन स्वतन्त्रः कर्ता स्वशक्त्यैव स्वभित्तौ सर्वमाभासयतीत्यर्थः । यद्वक्ष्यति—

सूचित किया—

'नाद बिन्दु आदि भी परमशिव के कार्य हैं । (इसलिये उसी से) संसार की उत्पत्ति होती है ।' (१०।१२६४) के द्वारा ॥

इसलिये—

हे महादेव ! हे स्व ! आप कृपा कर अध्वसृष्टि को बतलाइये ॥ २- ॥

हे महादेव ! समस्त विश्व के मूल उत्स ! द्योतन आदि वाले ! स्व ! = आत्मन् ! प्रसादतः = मेरे अन्दर निर्मलता आने के कारण तात्त्विक अर्थ को प्रकट कर, अध्वा की सृष्टि अर्थात् उत्पत्ति को बतलाइये । 'सृष्टि' पद उपलक्षण है क्योंकि आगे स्थिति और संहार भी कहे जायेंगे ॥

इसको बतलाने के लिये श्री भैरव ने कहा—

हे सव्रते ! जो यह पर सूक्ष्म देव सर्वगामी कारणभूत शिव हैं वे यहाँ तुमको निमित्त कारण बतलाये गये ॥ -२-३- ॥

जो यह = प्रतिपादित असाधारण चिदानन्दघन । पर सूक्ष्म = अन्तःकरण का भी विषय न बनने वाला । देव = द्योतन आदि वाला । ('कारण' पद की व्युत्पत्ति बतलाते हैं—) जो किया जाता है = अपनी शक्ति के द्वारा आभासित बनाया जाता है वह कार्य है तथा जिसके द्वारा आभासित बनाया जाता है वह कारण अर्थात् कर्त्ता होता है । विशेष का कथन न करने से सर्वत्र वहीं कर्त्ता है । तथा जिसके द्वारा कार्य किया जाय और जिसमें कार्य किया जाय (इस विग्रह को ध्यान में रखकर यह तात्पर्य निकलता है कि) स्वतन्त्र कर्त्ता अपनी ही शक्ति के द्वारा अपनी

'स्वतेजसा वरारोहे' (११।४)

इत्यादि । यच्च तदाभासयति, न तद् व्यतिरिक्तमित्याह—सर्वग इति । सर्वं गच्छति प्राप्नोति सर्वात्मतां गृह्णाति, अथ च तद्गच्छति, आभासयति, अधितिष्ठति च तावदशेषव्यापकतदनाच्छादितस्वप्रकाशतया । स्वप्रकाशस्यास्य सिद्धौ न वराकं प्रमाणमुपयुक्तम्, प्रत्युत एतदायत्ता प्रमाणादिवस्तुसिद्धिः । अतश्च शिव उन्मलननिमीलनाद्यवस्थास्वपि श्रेयःस्वभाव एव इत्येवंभूतो यः, सोऽत्र जगति कर्तव्ये निमित्तकारणम् । तव सुव्रते तदद्वयसमापत्तिकारणभूते, कथितः, न तु व्यापकत्वनित्यत्वमात्रेण दिक्कालादिसाधारणेन, नाप्युपादानाद्यपेक्षकार्यजनकत्वेन कुम्भकारादिसाधारणेन रूपेण यथा अन्येषामद्वैतोपदेशायोग्यानामुक्तः । एवमीश्वरस्यानीश्वरत्वमेवोपेतम् । यथोक्तमन्यैः—

'ये त्वीश्वरं व्यपदिशन्ति निमित्तहेतुं
दत्तस्तिलाञ्जलिरमीभिरिहेशितायै ।
अन्याङ्गतोपगमनेन वशीकृतस्य
कामीश्वरस्थितिममी वत सङ्गिरन्ते ॥'[१] इति ॥

ही आधारभूमि में सबको आभासित करता है । जैसा कि कहेंगे—

'हे वरारोहे ! वह अपने तेज से............।' (११।४)

इत्यादि । और जिसका आभासन करते हैं वह भी उनसे भिन्न नहीं है, इसलिये कहा—सर्वगामी । इसका तात्पर्य है—सबको जाता है अर्थात् सबको प्राप्त करता है अर्थात् सर्वात्मता को धारण करता है, साथ ही उसको जाता है अर्थात् आभासित करता है और अशेष व्यापक अपने को अनाच्छादित करने वाले स्वप्रकाश के रूप में उसको अधिकृत करता है । स्वप्रकाश इस तत्त्व की सिद्धि के लिये बेचारा प्रमाण समर्थ नहीं है उल्टे प्रमाण आदि वस्तु की सिद्धि इसके अधीन है । इसलिये चाहे उन्मीलन की अवस्था हो या निमीलन की शिव श्रेयःस्वभाव वाले ही हैं । इस प्रकार के जो यह शिव हैं वे इस जगत् की रचना में निमित्त कारण बनते हैं । सुव्रते = तुम उसके अद्वयसमापत्ति की कारणभूता हो इसलिये कहा गया न कि व्यापकत्व नित्यत्व मात्र दिक् काल आदि साधारण होने से और न ही उपादान आदि की अपेक्षा रख कर कार्य को बनाने वाले कुम्भकार आदि साधारण रूप से, जैसा कि अद्वैत उपदेश के अयोग्य दूसरों को बतलाया गया । इस प्रकार ईश्वर की अनीश्वरता (ईश्वर के ईश्वर का न होना) ही स्वीकृत होता है । जैसा कि दूसरे लोग कहे हैं—

'जो लोग ईश्वर को (संसार का) निमित्त कारण मानते हैं उन लोगों के द्वारा इस (जगत्) में ईश्वरता को तिलाञ्जलि दे दी गयी । (क्योंकि वह उपादान कारणों के होने पर ही निमित्त कारण बनेगा । इस प्रकार) अन्य वस्तुओं को अङ्ग मानने

१. स्पन्दप्रदीपिकायामागमरहस्यश्लोकत्वेनायमुद्धृतः ।

तस्माद्यथोक्तमेव साधु ॥

ननु निष्प्रयोजना न प्रेक्षापूर्वकारिणां प्रवृत्तिरस्ति, न चास्येयज्जन्तुचक्रायासदायां सृष्टौ किमपि प्रयोजनमुत्पश्यामः ?—इत्याशङ्का शमयितुमाह—

अकामात् संसृजेत् सर्वं जगत् स्थावरजङ्गमम् ॥ ३ ॥
स्वतेजसा वरारोहे व्योम संक्षोभ्य लीलया ।

अकामात् परिपूर्णत्वेन फलानभिलाषात्, लीलया स्वतन्त्रक्रीडयैव, सर्वं स्थावरजङ्गमं जगत् जीवात्मकं निर्मिमीते; न तु जीवा नाम नित्याः केचित् सम्भवन्ति । एवं ह्यनादिमति संसारे जीवानामानन्त्येऽपि प्रतियुगमेकैकमुक्तौ संसारोच्छेद एव स्यात् । तेन परमेश्वर एव स्वच्छस्वच्छन्दचिन्मात्रमूर्तिः—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (३।३०)

इति शिवसूत्रोक्तस्थित्या स्वरूपगोपनासतत्त्ववेद्यवेदकप्रपञ्चरूपं जगद् दर्पणनगरवदनतिरिक्तमप्यतिरिक्तमिवाभासयति । एवं च न कश्चिद्व्यतिरिक्तो जीवपदार्थोऽपि

से वह तो उन वस्तुओं के वश में हो गया फिर उसकी किस ईश्वरस्थिति को ये लोग कहते हैं (क्योंकि ईश्वर का अर्थ है—ऐश्वर्यवान् अर्थात् सर्वोच्च होते हुए सबको अधीन करने या रखने वाला) ।'

इस कारण जैसा कहा गया वही ठीक है ॥

प्रश्न—विचारपूर्वक कार्य करने वालों की प्रवृत्ति निष्प्रयोजन नहीं होती और जन्तुचक्र को इतना बड़ा कष्ट देने वाली इस परमेश्वर की सृष्टि में हम कोई प्रयोजन नहीं देख रहे हैं ?—इस शङ्का को शान्त करने के लिये कहते हैं—

हे वरारोहे ! (वह परमेश्वर) बिना किसी इच्छा के लीलावश अपने तेज से आकाश को संक्षुब्ध कर स्थावर जङ्गम रूप समस्त जगत् की सृष्टि करते हैं ॥ -३-४- ॥

अकाम से = परिपूर्ण होने के कारण फल की इच्छा न होने से । लीला से = स्वतन्त्र क्रीड़ा के ही द्वारा । समस्त स्थावर जङ्गम रूप जीवात्मक जगत् का निर्माण करते हैं न कि जीव नामक कोई अलग नित्य सत्तायें सम्भव हैं । क्योंकि ऐसा होने पर अनादिमान् संसार में जीवों के अनन्त होने पर भी प्रत्येक युग में एक-एक की भी मुक्ति होने पर (कभी न कभी) संसार का उच्छेद हो ही जायेगा । इसलिये स्वच्छ स्वच्छन्द चिन्मात्र मूर्त्ति परमेश्वर ही ।

'इसकी अपनी शक्ति का प्रचय ही विश्व है ।' (शि.सू. ३।३०)

इस शिवसूत्रोक्त रीति के अनुसार स्वरूप का गोपन कर वेद्यवेदकप्रपञ्च रूप जगत् को दर्पणनगर की भाँति अभिन्न होते हुए भी भिन्न की भाँति अवभासित करते हैं । इस प्रकार जीव नामक भी कोई अतिरिक्त पदार्थ नहीं हैं जिसके

यदायासकत्वेन भगवतोऽप्रेक्षापूर्वकारिता स्यात् । ईदृशं च जगदसौ न व्यक्तिरिक्तेन कारणेन केनचित् प्रकाशयति, अपि तु स्वतेजसा—

'तस्य देवातिदेवस्य परबोधस्वरूपिणः ।
विमर्शः परमा शक्तिरवियुक्तो यया प्रभुः ॥'

इति श्रीकालिकाकुलोक्तस्थित्या व्योम उन्मनावरणं स्वस्वरूपमेव संक्षोभ्य—

'अत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम्' (१०।१२५८)

इत्युक्तदृशा व्यापिनीशक्तिसदाशिवादिभावाभावात्मकस्वशक्तिभित्तिभूतसमनाशक्तिभूमिकामाश्रित्य समनात्मकस्वशक्तिभित्तौ स्वशक्त्यैव परमेश्वरेण जगद् भास्यत इति तात्पर्यम् ॥

अतश्च यत्राक् कारणशब्दस्यार्थत्रयं व्याख्यातम्, तदेवेह स्फुटीभूतम्, अत एवात्र न व्यतिरिक्तमुपादानं किमपि, अपि तु तदेव व्योमेत्याह—

उपादानं तु तत्प्रोक्तं संक्षुब्धं समवायतः ॥ ४ ॥

तदेव व्यापकावरणस्वस्वरूपं व्योम समवायतो नित्याविभिन्नविमर्शमय-

---

आयासकारी होने से भगवान् को अप्रेक्षापूर्वकारी कहा जाय । इस प्रकार के जगत् को वह किसी भिन्न कारण की सहायता से नहीं बल्कि—

'परबोध रूप उस देवातिदेव का आत्मविमर्श ही उसकी परमा शक्ति है । वह प्रभु उससे नित्य अवियुक्त रहते हैं ।'

श्रीकालिकाकुल में वर्णित इस नीति के अनुसार अपने तेज से व्योम अर्थात् उन्मनावरण रूप अपने स्वरूप को ही संक्षुब्ध कर—

'इस पर आरूढ़ होकर परमकारण शिव सृष्टि.........करते हैं ।' (१०।१२५८)

इस उक्त नियम के अनुसार व्यापिनी शक्ति सदाशिव आदि भावाभावात्मक अपनी शक्ति के आधारवाली समना शक्तिभूमि का आश्रयण लेकर समनात्मक अपनी शक्तिरूपी भित्ति पर अपनी ही शक्ति के द्वारा इस संसार को भासित करते हैं । यह तात्पर्य है ॥

इसलिये पहले जो कारण शब्द का तीन अर्थ बतलाया गया वही यहाँ और अधिक स्पष्ट हो गया । इसलिये यहाँ (इस जगत् की सृष्टि के विषय में) कोई अतिरिक्त उपादान नहीं है वरन् वह आकाश ही है—यह कहते हैं—

वह (व्योम) समवाय के कारण संक्षुब्ध होने पर उपादान बतलाया गया है ॥ -४ ॥

व्यापक आवरण ही जिसका अपना स्वरूप है वही व्योम, समवाय के कारण = नित्य अभिन्नविमर्शमयपराशक्तिसम्बन्ध के कारण, संक्षुब्ध = उत्पादित संक्षोभ

पराशक्तिसम्बन्धात् संक्षुब्धं भावितसंक्षोभं योग्यस्पर्शभूमिकाप्रदर्शनेन किञ्चिच्चलमिवेदन्ताभासोल्लासभित्तिभूतत्वावभासनेनोच्छलदिव । वस्तुतो ह्युन्मनाख्यैवपरविमर्शमयी पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यशक्तिरहन्तैकरसा स्वरूपगोपनक्रीडा सदाशिवानाश्रितपदात्मकसर्वभावाभाससूत्राभित्तिकल्पसमानरूपतया स्फुरति । इत्थं च करणाधिकरणोपादानरूपमशेषं विश्वकर्तुः परमेश्वरादभिन्नमेवेति प्रतिपादितं भवति ॥ ४ ॥

यथा च भगवता प्रकाशमानतया स्वाव्यतिरिक्तमपि व्यक्तिरिक्तमिव जगदाभास्यते, तथा तन्मध्यनियतपौर्वापर्यावभासात्मा महामायाशक्तिभूमौ मायापदे च विचित्रः कार्यकारणभावोऽपि प्रदर्श्यते । यथोक्तं प्रत्यभिज्ञायाम्—

'मूर्तिवैचित्र्यतो देशक्रममाभासयत्यसौ ।
क्रियावैचित्र्यनिर्भासात् कालक्रममपीश्वरः ॥' (२।१।५)

इति ॥ ४ ॥

तदेतदुपपादयितुमाह—

तस्माच्छून्यं समुत्पन्नं शून्यात् स्पर्शसमुद्भवः ।
तस्मान्नादः समुत्पन्नः पूर्वं वै कथितस्तव ॥ ५ ॥

वाला होकर योग्यस्पर्शभूमिका के प्रदर्शन से मानो कुछ चलता हुआ अर्थात् इदन्ता के आभासोल्लास के आभासन के द्वारा मानो उछलता हुआ होता है । वस्तुतः उन्मना नामक परविमर्शमयी पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यशक्ति जो कि अहन्तामात्र आनन्दवाली तथा स्वरूप का तिरोहण रूपी क्रीड़ा करने वाली है, ही सदाशिव, अनाश्रित पद रूप समस्त भावाभास के आसूत्रण की आधारकल्प समना के रूप में स्फुरण करती रहती है । इस प्रकार करण अधिकरण उपादान रूप जो कुछ है वह विश्वस्त्रष्टा परमेश्वर से अभिन्न ही है—यह प्रतिपादित होता है ।

जैसे भगवान् प्रकाशमानता के द्वारा अपने से अभिन्न भी जगत् को भिन्न के समान आभासित करते हैं उसी प्रकार महामायाशक्ति और माया के स्तरों पर उसके मध्य में निश्चित पौर्वापर्य का अवभासरूप विचित्र कार्यकारण भाव भी दिखलाते हैं । जैसा कि ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया—

'यह परमेश्वर मूर्त्ति के वैचित्र्य के कारण देशक्रम को और क्रियावैचित्र्य के निर्भास से कालक्रम को आभासित करते हैं (अर्थात् देश और काल के वैचित्र्य का कारण उनका स्वयं को विचित्र विभिन्न मूर्त्तियों एवं विचित्र क्रिया के रूप में भासित होना है)' ॥ ४ ॥ (ई.प्र. २।१।५)

इसको सिद्ध करने के लिये कहते हैं—

उससे शून्य की उत्पत्ति हुई । शून्य से स्पर्श उत्पन्न हुआ । उससे नाद उत्पन्न हुआ जिसे मैंने तुमको पहले ही बतला दिया है ॥ ५ ॥

तस्मात् समनाशक्तिरूपाद् व्योम्नः शून्यमनाश्रितभट्टारकान्ताशेषविश्वावभास-प्रशमाभावावभासात्मकव्यापिनीपदमुत्पन्नम् । ततोऽपि प्रतिपादितरूपप्रसुप्तभुज-गाकारशक्तितत्त्वात्मा स्पर्शः । इत्थमेकैव परमेशेच्छाशक्तिः परसूक्ष्मस्थूलरूपतया मेयाभाससूत्रणामयी समना व्यापिनी शक्तिरिति चोच्यते, एकस्या अपीच्छायाः सूक्ष्मरूपज्ञानक्रियाशक्तिसम्भेदेन त्रित्वात् । तस्मादपि शक्त्यात्मनः स्पर्शात् शून्य-रूपवाच्यवाचकोभयात्मकस्य जगतो मध्यात् प्रथमं समस्तवाचकाविभागमयो नाद उत्पन्नः । संशब्देन उत्पाद्यमानस्य सर्वस्य कार्यस्य शक्त्यात्मककारणभित्ति-संलग्नतोच्यते । पूर्वमिति नादावरणरूपणाद्यवसरे ॥ ५ ॥

यश्चायं नाद उक्तः—

अष्टधा स तु देवेशि व्यक्तः शब्दप्रभेदतः ।

स्वयमव्यक्तध्वनिरूपोऽपि वक्ष्यमाणैर्भेदैरष्टधा व्यक्तरूपतां प्राप्तः ॥

तद्यथा—

घोषो रावः स्वनः शब्दः स्फोटाख्यो ध्वनिरेव च ॥ ६ ॥
झाङ्कारो ध्वङ्कृतश्चैव अष्टौ शब्दाः प्रकीर्तिताः ।

उससे = समना शक्ति रूप व्योम से । शून्य = पृथ्वी से लेकर अनाश्रित शिव पर्यन्त समस्त विश्व का अवभास प्रशम और अभाव (= नाश) का अवभास रूप व्यापिनी पद, उत्पन्न हुआ । उससे भी प्रतिपादितरूप प्रसुप्तभुजगाकार शक्ति तत्त्व वाला स्पर्श उत्पन्न हुआ । इस प्रकार परमेश्वर की एक ही इच्छा शक्ति जो कि प्रमेय के आभास का आसूत्रण करती है, पर रूप में समना, सूक्ष्मरूप में व्यापिनी और स्थूलरूप में शक्ति कही जाती है क्योंकि एक ही इच्छा सूक्ष्म रूप ज्ञान और क्रिया शक्ति के भेद से तीन प्रकार की है । उस शक्त्यात्मक स्पर्श से शून्यरूप वाच्यवाचक उभयात्मक जगत् के मध्य से पहले समस्त वाचक का अविभागमय नाद उत्पन्न हुआ । ('समुत्पन्न' में) 'सम्' शब्द (= उपसर्ग) से यह कहा जाता है कि उत्पाद्यमान समस्त कार्य शक्त्यात्मक कारणभित्ति से संलग्न हैं । पहले = नाद आवरण के निरूपण के अवसर पर ॥ ५ ॥

और यह जो नाद कहा गया—

हे देवेशि ! वह शब्द के भेद से आठ प्रकार से व्यक्त हुआ ॥ ६- ॥

यह नाद स्वयं अव्यक्त ध्वनिरूप होता हुआ भी वक्ष्यमाण भेदों से आठ प्रकार से व्यक्त हुआ ॥

जैसे—

घोष, राव, स्वन, शब्द, स्फोट, ध्वनि, झाङ्कार और ध्वङ्कृत ये आठ प्रकार के शब्द कहे गये हैं ॥ -६-७- ॥

एते च धर्मशिवाचार्येण स्वपद्धतौ—

'एतेषां लक्षणं वच्मो गुरुपारम्परागतम्'

इत्युपक्रम्य इत्थं व्याख्याताः—

'श्रवणाङ्गुलिसंयोगाद्यः शब्दः सम्प्रवर्तते ।
दीप्तवह्निस्वनाभासः स शब्दो घोष उच्यते ॥
तदन्तेऽनुभवो यस्य ईषन्मर्मविसर्पिणः ।
भिन्नकांस्यनिभो रूक्षः स रावः स्यात्तदन्तगः ॥
ततो वंशध्वनिप्रख्यो निवाते सौम्यवर्षवत् ।
स नादः स्वन इत्युक्तस्तत्परः कथितो ह्यसौ ॥
चतुर्थः स तु वै शब्दः सर्वशब्दभवारणिः ।
आत्मानं रावयन्नादः खे यथा भ्रमरीरवः ॥
वाक्यस्य स्फुटतां धत्ते वर्णभेदावभासकः ।
स्फोट इत्युदितो नादः पञ्चमः शास्तृभिस्ततः ॥
ततोऽतितानधर्मित्वान्नादः श्रोत्रसुखावहः ।
विपञ्च्याः पञ्चमीं तन्त्रीं हत्वा तीव्रप्रयत्नतः ॥
तथा व्यज्यत आकाशे सह षष्ठो ध्वनिसंज्ञितः ।

इन शब्दों का श्रीधर्मशिवाचार्य के द्वारा अपनी पद्धति में—

'इनका गुरु परम्परा से प्राप्त लक्षण बतलाते हैं ।'

ऐसा प्रारम्भ कर व्याख्यान किया गया—

कान और ऊँगली के संयोग से (= कान के ऊपर उँगली रखने से) जो शब्द उत्पन्न होता है, जलती हुई अग्नि के स्वन के समान प्रतीत होने वाला वह शब्द घोष कहा जाता है ।

उस घोष के अन्त में कुछ-कुछ मर्म तक पहुँचने वाला, भिन्नकांस्य के ध्वनि के समान जो रुक्ष शब्द है वह राव है जो उस (= घोष) के अन्त में होता है ।

इसके बाद बाँस की ध्वनि के समान, वायु से रहित सौम्य वर्षा के समान होने वाला नाद स्वन होता है जो राव के बाद कहा गया है ।

चतुर्थ नाद को शब्द कहते हैं । वह सम्पूर्ण शब्द को उत्पन्न करने वाली अरणि है । जिस प्रकार आकाश में भ्रमरी रव करती है उस प्रकार अपने को रावित करता हुआ नाद शब्द है ।

वर्णों के भेद का आभास कराने वाला जो नाद वाक्य को स्पष्ट करता है उसे स्फोट कहते हैं । वह शास्त्रज्ञों के द्वारा पञ्चम नाद कहा गया है ।

इसके बाद अत्यन्त तानधर्मी होने के कारण जो नाद कानों को सुख देता है

सर्वतन्त्रीसमाघाताद्वीणायामिव साधुः यः ॥
मृदुस्तब्धं निनदति झाङ्कारः सप्तमस्त्वसौ ।
घण्टानिनादानुकृतिः कदाचिद् व्यज्यतेऽन्यथा ॥
तुङ्गमेघध्वनिनिभः सोऽष्टमो ध्वङ्कृतः स्मृतः ।'

एषामष्टानामपि—

नवमस्तु महाशब्दः सर्वेषां व्यापकः स्मृतः॥ ७ ॥
नदत्यसौ सदा यस्मात् सर्वभूतेष्ववस्थितः ।

'शक्तिमध्यगतो नादो वंशनादान्तसंनिभः ।'

इति यो नादः प्रतिपादितः, स महाशब्दः सर्वेष्वन्तःसञ्ज्ञबहिःसञ्ज्ञेषु स्थावरादिदेवयोन्यन्तेषु भूतेष्ववस्थितः । अत एव हि—

'नादाख्यं यत्परं बीजं सर्वभूतेष्ववस्थितम्' (कालो० १।५)

इत्याद्युक्तिप्रतिपादतया नादाख्यया विमर्शसत्तया सर्वेषां सत्त्वम् ॥

यतः एवमतः—

तीव्र प्रयत्न से वीणा के पाँचवें तार को आहत कर जो आकाश में व्यक्त होता है उस नाद का नाम ध्वनि है । यह छठाँ शब्द है ।

वीणा के सभी तारों को एक साथ अच्छी तरह आहत करने पर जो मृदु एवं स्तब्ध निनाद होता है वह झाङ्कार कहा जाता है यह सप्तम नाद है ।

जो घण्टा के निनाद के समान कभी व्यक्त होता है तथा उत्तुङ्ग मेघ की ध्वनि के समान जो नाद है उसे ध्वङ्कृत कहा गया है । यह आठवाँ नाद है ॥

इन आठों के अन्दर वर्त्तमान—

एक नवाँ महा शब्द है जो सबका व्यापक माना गया है । क्योंकि वह समस्त प्राणियों में स्थित हुआ सर्वदा नदन करता रहता है ॥ -७-८- ॥

'शक्ति के मध्य में रहने वाला नाद बाँस के अन्तिम नाद के समान होता है ।'

इस श्लोकार्ध से जिस नाद का प्रतिपादन किया गया है वह महाशब्द समस्त अन्तःसञ्ज्ञा वाले (वृक्ष आदि) तथा बाह्य सञ्ज्ञा वाले (जङ्गम प्राणी) स्थावर से लेकर देवयोनि तक सभी प्राणियों में स्थित है ।

इसीलिये—

'नाद नामक जो पर बीज सम्पूर्ण प्राणियों में स्थित है ।'

इत्यादि उक्ति के द्वारा प्रतिपादित (वह महाशब्द) नाद नामक विमर्शसत्ता के द्वारा सबका सत्त्व है ॥

तस्मात् सदाशिवो देवो व्यक्तो वै दृक्क्रियात्मकः॥ ८ ॥

स एव नादो ज्ञानक्रियायपसदाशिवभट्टारकाभिव्यक्तिसतत्त्व इत्यर्थः ॥ ८ ॥

अथास्मात्—

नादाद् बिन्दुः समुत्पन्नः सूर्यकोटिसमप्रभः ।

अन्तःकृतज्ञानशक्तिप्रधाननादपरामर्शः समस्तवेद्याविभक्तः क्रियाशक्त्यात्मा प्रकाशो बिन्दुः समस्तवेद्याविभिन्नप्रथत्वादेव सूर्यकोटिसमप्रभः ।

स चैव दशधा ज्ञेयो दशतत्त्वफलप्रदः ॥ ९ ॥
दशधा वर्णरूपेण दशदैवतसंयुतः ।

क्रियाशक्तिप्रधानो बिन्दुरन्तर्गतेच्छाज्ञानशक्तिद्वयः, एकैकस्याश्च शक्तेः सर्वशक्तिसम्भेद इति नव शक्तयः, एतत्सामरस्यात्मा मुख्यो दशमः स्वभाव इति दशधात्वमस्य । तच्च—

चूँकि ऐसा है इसलिये—

उस (= नाद) से ज्ञान क्रिया वाला सदाशिव देव व्यक्त हुआ ॥ -८ ॥

वही नाद ज्ञानक्रियारूप सदाशिव भट्टारक के रूप में अभिव्यक्ति वाला है ॥८॥

बाद में इस—

नाद से करोड़ों सूर्य के समान प्रभा वाला बिन्दु उत्पन्न हुआ ॥ ९- ॥

ज्ञानशक्तिप्रधान नादपरामर्श को अपने अन्दर समेटे हुए, समस्त वेद्य से अविभक्त क्रियाशक्ति रूप प्रकाशबिन्दु समस्त वेद्यों से अभिन्नरूप में प्रसृत होने के कारण ही करोड़ों सूर्य के समान कान्ति वाला है ॥

उसको दश प्रकार का और दश तत्त्वरूपी फल को प्रदान करने वाला, दश प्रकार के रंगों वाला तथा दश देवताओं से युक्त समझना चाहिये ॥ -९-१०- ॥

क्रियाशक्तिप्रधान बिन्दु के अन्दर इच्छा और ज्ञान दो शक्तियाँ रहती हैं । (इन इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्तियों में से) एक-एक शक्ति समस्त तीन-तीन से युक्त हैं; इस प्रकार नव शक्तियाँ हुईं—

इच्छा	—	इच्छा + ज्ञान + क्रिया से युक्त	=	३
ज्ञान	—	ज्ञान + इच्छा + क्रिया से युक्त	=	३
क्रिया	—	क्रिया + इच्छा + ज्ञान से युक्त	=	३
			=	९

और इनके सामरस्य वाली एक मुख्य शक्ति हैं । इस प्रकार दश शक्तियाँ हुईं । और वे—

'सितं रक्तं च पीतं च कृष्णं हरितपिङ्गलम् ।
नीलं विचित्रवर्णं तु स्फटिकाभं मनोरमम् ॥' (१२।१५४)

इति द्वादशपटलवक्ष्यमाणवर्णस्वरूपभेदेन दशधा । तत्रैव—

'कुङ्कुमाभं च नारेशं त्रिनेत्रं तु जटाधरम् ।
पूर्वाननमभिध्यायेद्वायुभक्षस्य यत्फलम् ॥
तत्पुण्यफलमाप्नोति .... ।' (१२।१२५-१२६)

इत्यादितत्पुरुषादिदेवतापञ्चकध्यानं तत्फलपञ्चकं च प्रतिपादयिष्यति । तथा तत्रैवान्तर्गतनादानुद्भिन्नाकारबिन्दुप्रकाशापेक्षया—

'घण्टानादस्य वा ध्यानात् सिद्धिः षाण्मासिकी भवेत् ।
ईप्सिता मर्त्यलोके तु सिद्धिस्तस्य प्रजायते ॥
लिङ्गध्यानं तु यः कुर्यात् पूर्वबीजेन संयुतम् ।
मासेनैकेन पश्येत् स सूक्ष्मलिङ्गं तनूपरि ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं तद्दृष्ट्वा तु विमुच्यते ।
सिद्धिस्तु मानुषे लोके षण्मासेन प्रजायते ॥' (१२।१५७)

इत्यन्तर्गतनादाविभक्तप्रकाशविद्वात्मषष्ठदेवताध्यानं तत्फलं च प्रतिपादयिष्यति ।

'१. श्वेत २. सम ३. पीत ४. कृष्ण ५. हरित ६. पिङ्गल ७. नील ८. विचित्र वर्ण ९. स्फटिक के समान और १०. मनोरम हैं ।' (१२।१५४)

इस प्रकार बारहवें पटल में वक्ष्यमाण वर्णस्वरूप के भेद से दश प्रकार के हैं । और वहीं पर—

'कुंकुम के समान आभा वाले त्रिनेत्र, जटाधारी, पूर्व की ओर मुख किये हुए नारेश (= तत्पुरुष) का ध्यान करना चाहिये । वायुभक्षण का जो फल होता है (नारेश के ध्यान से ध्याता) उसी फल को प्राप्त करता है ।' (१२।१२५)

इत्यादि तत्पुरुष आदि (= सद्योजात, ईशान, वामदेव अघोर) पाँच देवताओं का ध्यान और उस ध्यान के फल का प्रतिपादन करेंगे और वहीं पर नाद के अनुद्भिन्न आकार वाले बिन्दु की अपेक्षा—

'अथवा घण्टानाद के ध्यान से छह महीने में सिद्धि हो जाती है । मर्त्यलोक में उसको इष्ट सिद्धि मिलती है । जो (पुरुष) पूर्व बीज (= रेफ) से युक्त लिङ्ग का ध्यान करता है एक महीने (तक ध्यान करने) से वह अपने शरीर के ऊपर सूक्ष्म लिङ्ग का दर्शन करता है । शुद्ध स्फटिक के समान उस लिङ्ग का दर्शन कर मुक्त हो जाता है । छह महीने (तक ध्यान करने) से मनुष्य लोक में उसे सिद्धि मिलती है ।' (१२।१३७-१४०)

इस प्रकार अन्तर्गत नाद से अभिन्न प्रकाश बिन्दु रूप छठें देवता के ध्यान और उसके फल का प्रतिपादन करेंगे । यथा—

यथा—

'निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
कलाचतुष्टयोपेतो ध्यातव्यो बिन्दुरीश्वरः ॥' (१२।१५७)

इत्याद्यभिधास्यति । इत्थं दशदैवतसंयुतो निवृत्त्यादिकलाभिश्च सह दशतत्त्वफलप्रद इति व्याख्येयम् । टीकाकारैस्त्वेवमेतत्पूर्वापरमपरामृश्य—

'स चैव दशधा' (११।९)

इत्यादिर्विद्यातत्त्वविषयो ग्रन्थः, तत्र च षण्ठवर्णान् बिन्दुविसर्गौ च वर्जयित्वाऽकारादिवर्णदशकयुक्तत्वं तत्संभिन्नैकैककादिव्यञ्जनदेवतायोगाद् दशदैतत्वम्, एतद्वर्णदशकाभिव्यक्तत्वात् सर्ववाङ्मयरूपं फलं दशधाऽत्रेति यत् स्वकल्पनया व्याकारि, तदुपेक्ष्यम् । विद्यातत्त्वविषयस्तु ग्रन्थः—

'तस्माद्विद्या ततो माया' (११।५४)

इत्यग्रे भविष्यति । एतदपि तैर्न परामृष्टम्, इत्यलं पूर्वैः सह निर्बन्धेन ॥

अथैतस्मात्—

बिन्दोः सदाशिवो ज्ञेयः सोऽष्टभेदाङ्गसंयुतः ॥ १० ॥
पञ्चब्रह्मकलाभिश्च विद्याङ्गैः शक्तिभिर्युतः ।

'निवृत्ति, प्रतिष्ठा' विद्या और शान्ता इन चार कलाओं से युक्त बिन्दु रूप ईश्वर का ध्यान करना चाहिये ।' (१२।१५७)

इत्यादि कहेंगे । इस प्रकार दश देवताओं से युक्त तथा निवृत्ति आदि कलाओं के साथ वे देव दश तत्त्व का फल देने वाले हैं—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये । अन्य टीकाकारों ने पूर्वापर का परामर्श न कर—

'स चैव दशधा ज्ञेयः................ ।' (११।९)

इत्यादि श्लोक विद्यातत्त्वविषयक है । उस विषय में (सोलह स्वर वर्णों में से) षण्ठ (= नपुंसक) वर्णों (= ऋ ॠ ऌ ॡ) तथा अनुस्वार और विसर्ग इन छह वर्णों को छोड़ कर अकार आदि दश वर्ण से युक्त होना और उनसे भिन्न 'एक-एक' क आदि व्यञ्जनों के देवता के योग से दश देवता का होना, इन दश वर्णों से अभिव्यक्त होने के कारण यहाँ सर्ववाङ्मयरूप दश प्रकार का फल है—ऐसी जो व्याख्या की, उसकी उपेक्षा करनी चाहिये । क्योंकि विद्यातत्त्वविषयक ग्रन्थ—

'उस (सदाशिव ईश्वर) से विद्या और उस (विद्या) से माया........' (११।५४)

इस श्लोक में आगे स्फुट होगा । इसका भी उन लोगों ने ध्यान नहीं रखा । इस प्रकार पूर्ववर्ती टीकाकारों के साथ निर्बन्ध (= दोषारोपण) करना व्यर्थ है ॥

इसके बाद इस—

पञ्चभिश्च महाज्ञानैर्मूर्तिभिश्च समन्वितः ॥ ११ ॥

स सदाशिव इति यः पूर्वं भौवनेऽध्वनि बिन्द्वावरणादधः स्थूलरूप उक्तः, तस्यैव हि सकलाद्यष्टभेदैरङ्गैः परिवारै पञ्चभिरीशानादिब्रह्मभिः सर्वज्ञत्वादिरूपैर्वेदनप्रधानैः षड्भिरङ्गैर्वामाद्याभिर्विद्याद्याभिश्च शक्तिभिस्ताराद्यष्टात्रिंशत्कलाभिः पञ्चवक्त्रोद्भूतस्रोतःपञ्चकरूपैर्महद्भिर्ज्ञानशास्त्रैः ओंकारादिभिर्दशभिर्विजयादिभिरष्टादशभिश्च मूर्तिभिर्व्यक्तत्वं पूर्वमभिहितम् । अतो यदन्यैर्बिन्दुः सदाशिव इति पठित्वा घोषाद्यष्टकाङ्गयुक्तनादाख्यसदाशिवरूपो बिन्दुरिति सामानाधिकरण्येन व्याख्यातम्, तदसत् ॥

किं च—

स एवापररूपेण परमात्मा शिवोऽव्ययः ।

यः पूर्वं परमकारणरूपोऽव्ययः शिव उक्तः, स एवापररूपेण सदाशिवभट्टारकः, न त्वसौ व्यतिरिक्त इत्यर्थः ॥

अतः—

द्विधावस्थः स च ज्ञेयः सोच्चारोच्चारवर्जितः ॥ १२ ॥

बिन्दु से आठ प्रकार के अङ्गों, पाँच ब्रह्म कलाओं, विद्याङ्गों, शक्तियों, पाँच महाज्ञानों और मूर्त्तियों से युक्त सदाशिव का आविर्भाव मानना चाहिये ॥ -१०-११ ॥

'वह सदाशिव है'—इस (वाक्य) के द्वारा जो पहले भुवनाध्वा में बिन्द्वावरण के नीचे स्थूल रूप वाला कहा गया—उसी की अभिव्यक्ति कही गयी है । (यह अभिव्यक्ति) सकल आदि आठ भेद वाले अङ्गों अर्थात् परिवारों, पाँच ईशान आदि ब्रह्मों, वेदनप्रधान सर्वज्ञता आदि छह अङ्गों, वामा आदि विद्याओं, शक्तियों अर्थात् तारा आदि अँड़तीस कलाओं, (शिव के) पाँच मुखों से उद्भूत पाँच स्रोतरूप महाज्ञान अर्थात् शास्त्रों, ॐकार आदि दश तथा विजया आदि अट्ठारह मूर्त्तियों के द्वारा (पहले कही गयी) है । इसलिये जो अन्य टीकाकारों ने बिन्दु = सदाशिव ऐसा पाठ कर घोष आदि आठ प्रकार के अङ्गों से युक्त नाद नामक सदाशिव ही बिन्दु हैं—ऐसी सामानाधिरण्येन व्याख्या की, वह व्याख्या असमीचीन है ॥

और भी—

वही अव्यय परमात्मा शिव अपर रूप से (सदाशिव है) ॥ १२- ॥

जो पहले परमकारण रूप अव्यय (अर्थात् पर) शिव कहा गया है वही अपर रूप से सदाशिव भट्टारक है न कि यह (सदाशिव) उस (= परमकारण परशिव) से भिन्न है ॥

इसलिये—

मुद्रामन्त्रस्वरूपेण स एव च पुनर्द्विधा ।
क्रियाज्ञानस्वरूपेण इच्छारूपस्वरूपतः ॥ १३ ॥

यः शिवोऽव्यय उक्तः, स द्विधा व्यापकत्वेनावस्थितो ज्ञेयो ज्ञातव्यः । कथम् ?—इत्याह—सहोच्चारेण ऊर्ध्वोच्चारणरूपेण बिन्दुनादादिपरामर्शात्मना रूपेण वर्तते, उच्चारवर्जितस्त्वशेषविश्वव्यापिपरमशिवात्मा स्वभावः, एतत्स्वरूपप्राप्त्युपायात्मनापि मुद्रामन्त्रस्वरूपेण द्विधा । मुद्रा हि परतत्त्वप्रतिबिम्बभूताऽन्तःसंविद्रविणमुद्रणाद् मुदं रान्ती, पाशमोचनभेदद्रावणकारिणी तत्तत्संनिवेशरूपतया परस्फारमनुकुर्वती, तथा मन्त्रोऽप्यन्तर्गुप्तभाषणात्मकपरपरामर्शसतत्त्वेन मननत्राणधर्मा परतत्त्वप्राप्त्युपायः परमेशात्मैव । परमेश्वर एव ह्युपेयपदवदुपायरूपतया स्फुरितः । किं च, क्रियाशक्तिप्रधानेनेश्वरभट्टारकात्मना ज्ञानशक्तिप्रधानेन च सदाशिवभट्टारकात्मना स एव स्फुरितः, तथेच्छाशक्त्यात्मनाऽनाश्रितरूपेण स्वरूपेण च शक्तिमद्रूपपरमशिवात्मना ॥ १३ ॥

न केवलमित्थमुपेयात्मनोपायात्मतया शक्तिवैचित्र्येण भगवानेवं भाति, यावत् समस्तशास्त्रीयलौकिकव्यवहारगतसर्ववाचकात्मतया तद्वाच्यवस्त्वात्मतया चेत्याह—

उसे दो प्रकार से स्थित समझना चाहिये—१. सोच्चार और २. उच्चाररहित । पुनः वह मुद्रा और मन्त्र के रूप से दो प्रकार का बतलाया गया है । इसके अतिरिक्त क्रियास्वरूप ज्ञानस्वरूप और इच्छास्वरूप से भी वह स्थित है ॥ -१२-१३ ॥

जो शिव अव्यय रूप कहे गये हैं उन्हें व्यापक रूप से दो प्रकार से स्थित समझना चाहिये । किस प्रकार?— यह बतलाते हैं—(१) उच्चारण के साथ अर्थात् ऊर्ध्व उच्चारण रूप बिन्दु नाद आदि के परामर्श रूप से स्थित है; (२) उच्चाररहित अर्थात् समस्त विश्वव्यापी परम शिव रूप स्वभाव के रूप में । इस स्वरूप की प्राप्ति के उपाय के रूप में भी वह मुद्रा एवं मन्त्र के रूप में दो प्रकार से स्थित हैं । इनमें से मुद्रा परतत्त्व का प्रतिबिम्ब रूप है । यह अन्तः संविद्रूपी धन का मुद्रण करने से, मुद को लाने से, पाशमोचन भेद का द्रावण करने से, तत्तत् सन्निवेश रूप में परतत्त्व के स्फार का अनुकरण करने से मुद्रा कही जाती है । इसी प्रकार मन्त्र भी अन्तर्गुप्त भाषणात्मक पर परामर्श वाला होने से मनन एवं त्राण धर्म वाला तथा परतत्त्व की प्राप्ति का उपाय होने से परमेश्वर रूप ही है । परमेश्वर ही उपेय की भाँति उपायरूप से भी स्फुरित हो रहे हैं । इसके अतिरिक्त क्रियाशक्तिप्रधान होने से ईश्वर, ज्ञानशक्तिप्रधान होने से सदाशिव के रूप में वही स्फुरित हो रहे हैं । उसी प्रकार इच्छाशक्ति रूप से तथा अनाश्रित शिव के रूप में एवं शक्तिमत् परमशिव के रूप में भी वही स्फुरित हो रहे हैं ॥ १३ ॥

इस प्रकार वह भगवान् शक्ति वैचित्र्य के कारण केवल उपेय और उपाय के ही रूप में नहीं वरन् सम्पूर्ण शास्त्रीय एवं लौकिक व्यवहार में वर्त्तमान समस्त वाचक

शब्दावबोधरूपेण वस्तुरूपस्वरूपतः ।

शब्दरूपेण तदवबोधरूपेण तथा शब्दवाच्यवस्तुरूपेण स्वरूपेण च पूर्णचिदात्मनेत्यर्थः । स्वरूपेणेत्युक्तेरिदमाकूतं यदशेषशब्दार्थचिन्तारूपतया स्फुरन्नपि परमेश्वरोऽपरिम्लानचिदानन्दघन एवेति सर्वमिदं परभैरवाद्वैतरूपमेव । तदुक्तं मयैव—

हेयं केचन मन्वते जगदिदं बाह्यं तनुस्थं परे
(मेयान्ते हि)[1] निवेशकेऽप्यथ परे देहे परस्मिन् स्थि(तम्)[2] ।
भिन्नं भाति न जातु यत्पुनरिदं चिद्भानुभासस्ततो
भाभिर्भामि निजाभिराभिरभितो विश्वात्मभिर्भैरवः ॥

इति । येषां तु परमेशमायाशक्त्यावृतत्वादेतत्प्रथायोग्यता नास्ति, तदभिप्रायेण—

'समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्' (४।४३२)

इत्याद्युक्तमिति न पूर्वापरवैषम्यं किञ्चित् ॥

पद एवं उनके वाच्य वस्तु के रूप में भी भासित हो रहे हैं—यह कहते हैं—

शब्द और उसके अवबोध के रूप में तथा वस्तु के रूप और स्वरूप में (भी वे ही भासित हो रहे हैं) ॥ १४- ॥

शब्द रूप से और उस (शब्द) के अवबोध के रूप में, उसी प्रकार शब्द की वाच्य वस्तु के रूप में तथा अपने रूप में अर्थात् पूर्णचित्स्वरूप में भी (वे भासित) हो रहे हैं । (श्लोक में) स्वरूपेण कथन का यह तात्पर्य है कि समस्त शब्द एवं अर्थ के बोध के रूप में स्फुरित होते हुए भी परमेश्वर अपने अपरिम्लान चिदानन्दघन रूप में स्थित रहते हैं अर्थात् यह सब कुछ जो है वह परभैरव अद्वैत रूप ही है । वही मैंने कहा है—

'कुछ लोग इस संसार को हेय मानते हैं । दूसरे लोग इसे बाह्य एवं भिन्न-भिन्न शरीरों में स्थित मानते हैं । दूसरे लोग मेयान्त (= प्रमेय के अन्त वाले) निवेशक (= भुवनों) को पर देह में स्थित मानते हैं । चिद्भानु के आभास के कारण यह कभी भी भिन्न नहीं आभासित होता । इस कारण मैं भैरव विश्वरूपिणी इन अपनी द्युतियों के द्वारा सर्वत्र भासित हो रहा हूँ (अर्थात् यह विश्व भी मुझसे भिन्न नहीं है; मैं ही इस रूप में प्रकाशित हो रहा हूँ) ।'

परमेश्वर की मायाशक्ति से आवृत होने के कारण जिनके अन्दर इस प्रकार से (स्वात्म) विस्तार की योग्यता नहीं है उनके अभिप्राय से—

'हे वरारोहे ! पाश जाल समना स्तर तक अनन्त कहा गया है' (४।४३२)

इत्यादि कहा गया । इस प्रकार से पूर्व और पश्चात् के वर्णन में कोई

---

१. मेश्वरान्त । २. तौ ।

तदित्थम्—

स्थूलः सूक्ष्मः परश्चैव परातीतो निरञ्जनः ॥ १४ ॥
व्योमरूपस्वरूपेण समनोन्मन एव च ।
उन्मनातीतो देवेशि शिवो ज्ञेयः शिवागमे ॥ १५ ॥

योऽसावुन्मनाक्रमं जानामीत्युक्तामुन्मनाशक्तिमतिशयेनेतः प्राप्तस्तद्धाराधिरूढः शक्तिमदात्मा शिवागमे शिवः श्रेयःस्वभाव उच्यते, स्थूलो भूम्यादिप्रकृत्यन्तेन रूपेण, सूक्ष्मः पुमादिमायान्तेन, परः शुद्धविद्यादिशक्तितत्त्वान्तेन स्फुरितस्तथा व्योमरूपेणानाश्रितात्मना स्वरूपेण, किं च समनोन्मने शक्ती विद्येते यस्यासौ समनोन्मनस्तद्रूपीत्यर्थः, अशेषविश्वात्मना परमेश एव स्फुरतीति यावत् ॥

एवं स्थूलाद्युन्मनान्तं विश्वं परमेशमयेवेत्युपसंहारदृष्ट्योक्त्वा प्रसरक्रमेणापि तत्तत्कारणात्मना स एव स्फुरतीत्यादिशति—

उन्मनासमनास्थानं शिवेन समधिष्ठितम् ।
पञ्चकारणरूपेण तदधः पुनरेव सः ॥ १६ ॥

विरोध नहीं है ॥

तो इस प्रकार—

हे देवेशि ! इस शैवागम के अनुसार शिव को स्थूल, सूक्ष्म, पर, परातीत, निरञ्जन, व्योमरूपी, समना उन्मना रूपी और उन्मनातीत समझना चाहिये ॥ -१४-१५ ॥

(उन्मनातीत पद की व्याख्या करते हैं—) 'उन्मनाक्रम को जानता हूँ' इस प्रकार उक्त उन्मना शक्ति को (अति =) अत्यधिक रूप से इत = प्राप्त है अर्थात् उसकी धारा पर अधिरूढ़ है वह शक्तिमान् तत्त्व शैवागम में शिव = श्रेयः स्वभाव वाला, कहा जाता है । वही पृथिवी से लेकर प्रकृति तत्त्व तक के रूप में स्थूल रूप से । पुरुष से लेकर माया पर्यन्त सूक्ष्म रूप से तथा शुद्धविद्या से लेकर शक्ति तत्त्व तक पररूप से, स्फुरण कर रहा है । इसके अतिरिक्त व्योमरूप = अनाश्रित शिव रूप से स्थित है । और भी (समनोन्मन रूप से अर्थात्) समना और उन्मना ये दोनों शक्तियाँ जिसके पास हैं उस रूप में स्फुरित हो रहा है । तात्पर्य यह है कि समस्त विश्व के रूप में परमेश्वर ही स्फुरित हो रहा है ॥

इस प्रकार स्थूल से लेकर 'उन्मना पर्यन्त विश्व परमेश्वरमय है'—यह बात उपसंहार की दृष्टि से कह कर सृष्टिक्रम से भी तत्तत् कारण के रूप में वही (= परमेश्वर ही) स्फुरण कर रहे हैं—यह कहते हैं—

उन्मना (और उसके नीचे वर्त्तमान) समना ये दोनों स्थान शिव के द्वारा अधिष्ठित हैं । उनके नीचे पञ्च कारण (= सदाशिव, ईश्वर, रुद्र, विष्णु

तिष्ठत्यस्मिन् विश्वमिति स्थानमुन्मनारूपं स्वातन्त्र्यशक्तिरूपम्, तत्स्वातन्त्र्यावभासितं च यद् भावाभावरूपाशेषसूत्रणात्म समनारूपं स्थानं तत् शिवेन सम्यगधिष्ठितं स्वभित्तौ स्वाभेदेनावभासितमित्यर्थः । तस्याः समनाया अध इति व्याप्यात्मनि शून्यातिशून्ये पदे चिदानन्देच्छाज्ञानक्रियाख्यशक्तिपञ्चकप्रधानेनानाश्रितादिव्याप्यन्तपञ्चकारणरूपेण स एव शिवः पुनरपि स्थितः, न पुनरनाश्रितादयस्तद्व्यतिरिक्ताः केचित् ॥ १६ ॥

किं चैतत्—

कारणं पञ्चकं देवि अधिष्ठाय त्वधस्ततः ।

ततोऽनाश्रितादिपञ्चकारणात्मनो रूपादधः शक्तिब्रह्मबिलसुषुम्नानादनादान्तबिन्दुपदान्यधिष्ठायाभेदेन तद्भूमीराभास्यैतत्कारणपञ्चकं स्थितमित्यनुषङ्गः ॥

एतद्विभजति—

व्यापकः शक्तिमूर्धस्थो बिलद्वारमनाश्रितः ॥ १७ ॥
अनन्तश्च सुषुम्नेशस्त्वनाथश्चोर्ध्वगस्तथा ।

और ब्रह्मा) के रूप में भी वही स्थित है ॥ १६ ॥

(स्थान शब्द का विग्रह करते हैं—) जिसमें विश्व स्थित रहता है वह स्थान कहलाता है । यह स्थान उन्मना रूप अर्थात् स्वातंत्र्यशक्ति रूप है । उस स्वातन्त्र्य से अवभासित भावाभावरूप समस्त सूत्रण वाला जो समनारूप स्थान है वह शिव के द्वारा सम्यक् अधिष्ठित है अर्थात् अपनी भित्ति पर अपने से अभिन्न रूप में अवभासित है । उस = समना, के नीचे = व्याप्यस्वरूप शून्य अतिशून्य पद में, चित् आनन्द इच्छा ज्ञान और क्रिया शक्ति प्रधान जो अनाश्रित (= ब्रह्मा) से लेकर व्योमव्यापी (= सदाशिव) पर्यन्त पञ्चकारण रूप में भी वही = शिव ही, स्थित हैं । अर्थात् अनाश्रित आदि उन (= शिव) से भिन्न नहीं हैं ॥ १६ ॥

तथा—

हे देवि ! ये पञ्च कारण उनसे नीचे के तत्त्वों को अधिष्ठित कर वर्त्तमान हैं ॥ १७- ॥

वे अनाश्रित आदि पञ्चकारण अपने स्वरूप से नीचे वाले पदों शक्ति, ब्रह्मबिल, सुषुम्ना, नाद, नादान्त और बिन्दु पदों को अधिष्ठित कर अर्थात् अभेदेन उन भूमियों को आभासित कर स्थित रहते हैं ॥

इनकी स्थिति का विभाजन करते हैं—

व्योमव्यापक (= सदाशिव) शक्ति के मूर्धा पर स्थित हैं । अनाश्रित (= ब्रह्मा) ब्रह्मबिल के द्वार पर स्थित हैं । अनन्त (= रुद्र) सुषुम्ना के

व्योमरूपी महादेवि बिन्द्वीशः परिकीर्तितः ॥ १८ ॥

व्यापक इति व्यापिभट्टारकः प्रपञ्चव्याप्त्या, शक्तिमूर्धस्थ इति शक्त्यावरणरूपो यो मूर्धा तत्स्थ इति तद्गतः ।

'स्थूलः सूक्ष्मः' (११।१४)

इत्युक्तकारणपञ्चकात्मतया स्फुरितः, तथानाश्रितभट्टारको बिलद्वारमिति तदधिष्ठातृब्रह्मरूपः, एवमनन्तः सुषुम्नावरणाधिष्ठातृसुषुम्नेपरूपः, अनाथ ऊर्ध्वग इति नादान्ताधिष्ठात्रूर्ध्वगेशरूपः, व्योमभट्टारकोऽपि बिन्द्वावरणगतशान्त्यतीताख्यबिन्द्वीशमूर्तिः । ननु चानाहतानाथानन्तव्योमव्यापिनो ये पूर्वमुद्दिष्टास्ते यद्युत्तरा भूमीरानुलोम्येन भजन्ते, तदनाश्रितः शक्तिमूर्धस्थ इत्याद्युक्त्या भवितव्यम् । अथ प्रातिलोम्येन तथा—

'व्यापी तु शक्तिमूर्धस्थो बिलद्वारं खरूपकः'

इत्यादि दर्शनीयम्, तत्कोऽत्र क्रमः । एक एव पञ्चशक्तिसामरस्यात् परमेश्वरो यथास्वातन्त्र्यमनाश्रितादिव्याप्यन्तकारणपञ्चकरूपतां प्रपञ्चव्याप्त्या श्रित्वा शक्त्यादि-

---

स्वामी हैं । अनाथ (= विष्णु) ऊर्ध्व (= नाद नादान्त) के ऊपर रहते हैं । हे महादेवि ! व्योमरूपी (= ईश्वर) बिन्दु के स्वामी हैं ॥ -१७-१८ ॥

व्यापक का अर्थ है—प्रपञ्च की व्याप्ति के कारण व्यापी भट्टारक । शक्तिमूर्धस्थ = शक्तिआवरण रूप जो मूर्धा उसमें स्थित अर्थात् उसमें वर्तमान—

'स्थूलः सूक्ष्मः.......... ।' (११।१४)

इस श्लोक में वर्णित पञ्चकारण के रूप में स्फुरित है । उसी प्रकार अनाश्रित भट्टारक ब्रह्मबिल के द्वार के अधिष्ठाता ब्रह्मा के रूप में स्थित हैं । इसी प्रकार अनन्त सुषुम्ना आवरण के अधिष्ठाता होने से सुषुम्नेश रूप हैं । अनाथ ऊर्ध्वग हैं कथन का तात्पर्य है कि वे नादान्त भूमि के अधिष्ठाता के रूप में ऊर्ध्वगेश हैं । व्योमभट्टारक भी बिन्दु आवरण में रहने वाले शान्त्यतीत नामक बिन्दु के ईश्वर हैं ।

प्रश्न—यदि अनाहत अनाथ अनन्त और व्योमव्यापी जिनके नाम पहले बतलाये जा चुके हैं, उत्तरोत्तर भूमियों को अनुलोम क्रम से अधिष्ठित करते हैं तो अनाश्रित शक्ति के मूर्धा पर स्थित हैं—ऐसा कहना चाहिये और यदि विलोम क्रम से अधिष्ठित करते हैं तो फिर यह कहना चाहिये कि—

'(व्योम) व्यापी शक्ति के मूर्धा पर स्थित है और खरूप (= व्योमरूपी ईश्वर) ब्रह्मबिल के द्वार पर ।'

तो उपर्युक्त दोनों क्रमों में से कौन सा क्रम अपनाया जाना चाहिये ?

उत्तर—एक ही परमेश्वर अपनी पाँच शक्तियों के सामरस्य के कारण अपने स्वातन्त्र्य के अनुसार प्रपञ्चव्याप्ति के द्वारा अनाश्रित से लेकर व्यापी पर्यन्त पञ्च

बिन्द्वावरणगततत्तदीशमूर्तिरूपतयापि स्फुरितः, न त्वत्रानुलोम्यं प्रातिलोम्यं वा किञ्चित्, अपि त्वक्रम एवात्र क्रमो वास्तवेन वृत्तेन सर्वेषां भगवदेकमयत्वा-दित्याशयेनायमीदृशः क्रमोऽत्र प्रदर्शितः । एवमुत्तरत्रापि स्मर्तव्यम् । तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

'या चैषा प्रतिभा तत्तत्पदार्थक्रमरूषिता ।
अक्रमानन्तचिद्रूपः प्रमाता स महेश्वरः ॥' (१।७।१)

इति ॥ १८ ॥

इमामेवाभेदसारां प्रपञ्चव्याप्तिं सार्धश्लोकेन प्रदर्शयति—

अनाश्रितः स्वयं ब्रह्मा समधिष्ठाय संस्थितः ।
अनाथो विष्णुरित्युक्तस्त्वनन्तो रुद्र एव च ॥ १९ ॥
व्योमरूपीश्वरः प्रोक्तो व्यापी चैव सदाशिवः ।

अनाश्रितभट्टारक एव स्वयं साक्षाद् ब्रह्मा समधिष्ठाय संस्थित इति भूरादिब्रह्मलोकान्तमित्यर्थात् ॥

किं च—

व्यापकश्च पुनर्देवि हाटकः परमेश्वरः ॥ २० ॥
विद्यामन्त्रगणैर्युक्तः सप्तपातालनायकः ।

कारण बन कर शक्ति से लेकर बिन्दु तक के आवरण में तत्तत् अधिष्ठाता के रूप में स्फुरित हो रहे हैं । इसलिये यहाँ आनुलोम्य और प्रातिलोम्य नामक कोई वस्तु नहीं है । बल्कि यहाँ अक्रम ही क्रम है क्योंकि सब कुछ केवल भगवन्मय है—इसी आशय से इस प्रकार का यह क्रम दिखलाया गया । इसी प्रकार आगे भी स्मरण रखना चाहिये । वही ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया—

'तत्तत् पदार्थ के क्रम से रूषित (= मिश्रित) जो यह प्रतिभा है वह अक्रम आनन्द चिद् रूप प्रमाता परमेश्वर ही हैं (उनसे भिन्न कुछ नहीं) ॥ १८ ॥ (ई.प्र. १।७।१)

इसी अभेद परमार्थवाली प्रपञ्चव्याप्ति को डेढ़ श्लोक के द्वारा दिखलाते हैं—

जो अनाश्रित (कहे गये वे) स्वयं ब्रह्मा हैं और जो अधिष्ठित करके रहते हैं वे अनाथ विष्णु कहे गये हैं । अनन्त रुद्र हैं । व्योमरूपी ईश्वर हैं और व्योमव्यापी सदाशिव है ॥ १९-२०- ॥

अनाश्रित भट्टारक ही स्वयं साक्षात् ब्रह्मा है । अधिष्ठित करके रहते हैं—पृथिवी से लेकर ब्रह्मलोक तक को—इतना अर्थात् समझ लेना चाहिये ॥

और भी—

अनन्तश्चैव देवेशि रुद्रः कालाग्निविग्रहः ॥ २१ ॥
अनाथोऽनन्तरूपेण स्थितश्चाध्वनि धारकः ।
अनाश्रितो महादेवि स्थितो वै हूहुकः प्रभुः ॥ २२ ॥

अनन्तरूपेणेति कर्परिकाधोगतानन्तभट्टारकात्मना । अध्वनीति कर्परिकापर्यन्ते। हूहुक इति पूर्वोक्तानन्तभुवनान्तर्वर्ती । तदेवं स्थूलेन हूहुकादिना सूक्ष्मेण ब्रह्मादिना च पञ्चकेनैक एव परमेश्वरः पूर्वोक्तपञ्चशक्त्यात्मा स्वच्छन्दनाथः प्रपञ्चव्याप्त्या स्फुरित इत्यनेनापि आशयेन—

'स्थूलः सूक्ष्मः परश्चैव परातीतो निरञ्जनः' (११।१४)

इति श्लोकार्धं सङ्गमयितव्यम् । अनाश्रितादिपञ्चकस्यैवं प्रपञ्चव्याप्तिं तथा सर्वादिरनाश्रितनाथस्य सर्वान्तहूहुकनाथरूपतां प्रदर्शयन् सर्वमिदं निरञ्जनसतत्त्वमेवेति शिक्षयति, वस्तुतोऽनाश्रितभट्टारकस्य निरञ्जनपरभैरवस्वरूपाव्यतिरेकात् ॥ २२ ॥

यदाह—

स्वशक्त्याश्रितः स भगवांस्तेन गीतस्त्वनाश्रितः ।

हे देवि ! हाटक परमेश्वर ही व्यापक हैं । विद्या एवं मन्त्रगणों से युक्त वे सात पातालों के अधिष्ठाता हैं । हे देवेशि ! कालाग्नि शरीर वाले रुद्र (= कालाग्निरुद्र) ही अनन्त हैं । धारण करने वाले अनाथ (= विष्णु) अध्वा में अनन्तनाथ के रूप से स्थित हैं । हे महादेवि ! अनाश्रित प्रभु हूहुक (के रूप में स्थित) हैं ॥ -२०-२२ ॥

अनन्त रूप से = कपाल के नीचे स्थित अनन्त भट्टारक के रूप में । अध्वा में = कर्परिका तक (के अध्वा) में । हूहुक-ये पूर्वोक्त अनन्त भुवन के भीतर रहने वाले हैं । तो इस प्रकार स्थूल हूहुक आदि और सूक्ष्म ब्रह्मा आदि पाँच के रूप में एक ही परमेश्वर जो कि पूर्वोक्त (चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान, क्रिया नामक) पाँच शक्तियों वाले स्वच्छन्दनाथ हैं, अपनी प्रपञ्चव्याप्ति के द्वारा स्फुरित हो रहे हैं इस आशय से भी—

'स्थूल, सूक्ष्म, पर, परातीत, निरञ्जन ।' (११।१४)

इस श्लोकार्ध की सङ्गति बैठानी चाहिये । अनाश्रित आदि पाँच की इस प्रकार की प्रपञ्चव्याप्ति को तथा सब के आदिभूत अनाश्रितनाथ की सर्वान्त हूहुकनाथ रूप को, प्रदर्शित करते हुए (भगवान् शिव या ग्रन्थकार) यह शिक्षा देते हैं कि इस सबका मूल तत्त्व निरञ्जन ही है क्योंकि वस्तुतः अनाश्रित भट्टारक निरञ्जन परभैरव के स्वरूप से अभिन्न हैं ॥ २२ ॥

जो कि कहा—

चूँकि वह भगवान् अपनी शक्ति पर आश्रित हैं इसलिये वे अनाश्रित

स्वा विशेषानुपादानाद् विश्वस्य प्रभवभूता या पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यशक्तिस्तामाश्रितः साक्षात्तद्भित्तौ तदविभिन्नस्फारतया स्फुरति । परमेश्वरो हीच्छाशक्त्यात्मनाऽनाश्रितभट्टारकः स्वरूपकल्प एव । यदाह श्रीप्रत्यभिज्ञाकारः—

'सा द्वितीयैव शिवता' इति ॥

अतश्च—

तस्याश्रितं जगत्सर्वमुन्मन्यन्तं वरानने ॥ २३ ॥

उन्मनी शक्तिरन्ते यस्य समनावधेर्जगतः, तत् तस्य आश्रितमनाश्रितभट्टारकरूपशिवतत्त्वाश्रितमित्यर्थः ॥ २३ ॥

यथा च पारमेशीं परां विश्वधारिकां स्वातन्त्र्यशक्तिभित्तिमाश्रित्यानाश्रितनाथः, तथा च परमूर्तिर्हूहुकभट्टारकोऽपि तामेवाश्रित्य स्थितः इत्याह—

संस्थितश्चाम्भसो मूर्ध्नि शक्त्याधारस्तु हूहुकः ।

शक्त्याधार इत्यपरशक्त्याश्रयः । अम्भसो मूर्ध्नीत्यनेनास्य देशनिर्देशः । यत् श्रीभुल्लकः शक्त्याधार इति ब्रह्माण्डकर्परिकारूपाधारशक्त्याश्रय इतीहापि व्याकार्षीत्, तदस्य विस्मृतवस्तुसमर्थनचरमेवेत्युपेक्ष्यम् ॥

कहे गये हैं ॥ २३- ॥

('स्वशक्त्याश्रितः' की व्याख्या करते हैं—) अपनी = विशेष का ग्रहण न होने से विश्व की कारणभूता, जो पारमेश्वरी स्वातन्त्र्यशक्ति है उसके आश्रित हैं । साक्षात् उसी भित्ति पर उससे अभिन्न स्फार के रूप में स्फुरित हो रहे हैं । परमेश्वर इच्छाशक्ति के द्वारा अनाश्रित भट्टारक के स्वरूप जैसे ही हैं । जैसा कि ईश्वरप्रत्यभिज्ञाकार (श्री उत्पलदेव) ने कहा—

'वह (= इच्छा शक्ति) दूसरी शिवता ही है' ॥

इसलिये—

हे वरानने! उन्मनापर्यन्त समस्त विश्व उस (= परमेश्वर) के आश्रित होते हैं ॥ २३ ॥

('उन्मन्यन्तं' पद की व्याख्या करते हैं—) उन्मनी शक्ति है अन्त में जिस समनापर्यन्त जगत् के, वह (उन्मन्यन्त) है । उसके आश्रित अर्थात् अनाश्रितभट्टारक रूप शिव तत्त्व के आश्रित है ॥ २३ ॥

जिस प्रकार परमेश्वर की परा विश्वधारिका स्वातन्त्र्यशक्तिरूपी भित्ति को आधार बना कर अनाश्रितनाथ (= ब्रह्मा, स्थित हैं) उसी प्रकार अनाश्रितभट्टारक की अपेक्षा परमूर्त्ति हूहुकभट्टारक भी उसी (= स्वातन्त्र्यशक्ति) को आश्रित कर स्थित हैं—यह कहते हैं—

शक्त्याधार हूहुक जलतत्त्व के शिर पर स्थित हैं ॥ २४- ॥

शक्त्याधार = अपरा शक्ति को आधार बनाने वाले । 'अम्भसो मूर्ध्नि', कथन से इस (= हूहुक) का देश बतलाया गया । जो श्री भुल्लक ने यहाँ पर भी 'शक्त्याधार' का अर्थ ब्रह्माण्डकर्परिका रूप आधारशक्ति के आश्रय वाला, ऐसी व्याख्या की यह व्याख्या उनके वस्तुविस्मरण का ही समर्थन करती है अतः उपेक्ष्य है ॥

किं च—

अप्तत्त्वं चैव तदध आग्नेयं तदनन्तरम् ॥ २४ ॥
वायव्यं नाभसं चैव तन्मात्राणीन्द्रियाणि च ।
विषयाश्च मनश्चैव अहङ्कारस्त्वनुक्रमात् ॥ २५ ॥
बौद्धं गौणं च देवेशि प्राकृतं पौरुषं तथा ।
नियतिः कालरागौ च विद्या चैव कला तथा ॥ २६ ॥
मायातत्त्वं तथा विद्या ईश्वरश्च सदाशिवः ।
बिन्द्वर्धेन्दुनिरोधी च नादो नाडी त्वतः परम् ॥ २७॥
अधो ब्रह्मबिलं देवि शक्तितत्त्वं ततः परम् ।
पञ्चकारणसंयुक्ता व्यापिनी च ततः परम् ॥ २८॥
समना उन्मना चैव प्रक्रियाण्डैर्युता प्रिये ।

विषया इति ये पूर्वं रश्म्यावरणगता उक्तास्त इह विषयाकारतया स्थिताः । ततश्च यदाह श्रीभुल्लको विषया महाभूतस्वरूपा एवेहेन्द्रियग्राह्या इन्द्रियोक्त्यनुषङ्गेण प्रसङ्गादुक्ता इति, तदसत् । बौद्धमित्यादौ तत्त्वमिति योजनीयम् । नाडीति

और भी—

उस (= हूहुक = अनाश्रित = ब्रह्मा) के नीचे जलतत्त्व है । उसके नीचे आग्नेय तत्त्व है । इसी प्रकार वायव्य, नाभस, तत्त्व, पञ्चतन्मात्रायें, इन्द्रियाँ, उनके विषय, मन, अहङ्कार, बुद्धितत्त्व, गुणतत्त्व, प्रकृति, पुरुष, नियति, काल, राग, विद्या, कला, माया, शुद्धविद्या, ईश्वर, सदाशिव, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, इसके बाद सुषुम्ना नाडी, अधो ब्रह्मबिल, शक्ति, पञ्च कारणों से युक्त व्यापिनी, फिर समना और अन्त में प्रक्रियाण्डों से युक्त उन्मना (= परमेश्वर की शक्ति) है ॥ -२४-२९- ॥

विषय—दशम पटल में जो गन्ध आदि रश्मि के आवरण में स्थित कहे गये वे ही यहाँ विषय के आकार में स्थित हैं । इसलिये जो श्रीभुल्लक ने कहा कि—यहाँ विषय से तात्पर्य महाभूत से है जो कि इन्द्रियग्राह्य हैं क्योंकि इन्द्रिय के कथन के साथ-साथ वे ही कहे जाने चाहिये—यह उनका कथन समीचीन नहीं है । 'बौद्ध'

सुषुम्नावरणगता च सुषुम्नैव । अधो ब्रह्मबिलमित्यपास्य ऊर्ध्वं ब्रह्मबिलमिति टीकाकारपाठो न साधुः ऊर्ध्ववदधोऽपि सुषुम्नान्तस्याध्वनो ब्रह्मबिलव्याप्तत्वात् पृथिव्यादितत्त्वानामुत्तरोत्तरमन्तर्बहिर्व्याप्त्यवस्थित्या प्रतिपादितत्वात् । उन्मनाया विशेषणं प्रक्रियाण्डैर्युतेति प्रोक्तया प्रक्रियया स्थिता अण्डा ब्रह्माण्डप्रकृत्यण्ड-मायाण्डशक्त्यण्डास्तैर्युता सम्बद्धा । ते हि सर्वे तदेकाश्रयाः ॥

एतत् सङ्कलयति—

एवं वै प्रक्रियाण्डं तु अधोर्ध्वं संव्यवस्थितम्॥ २९ ॥

प्रोक्तप्रक्रियया स्थितं यदण्डमित्येकवचनाद् मायाण्डं शक्त्यण्डं चैकरूपम्, तदध ऊर्ध्वे चान्तर्वर्तितत्तत्तत्त्वगर्भीकारेण सम्यक् सबाह्याभ्यन्तरव्याप्त्या विशेषेणावस्थितम् ॥

किं शक्त्यण्डमायाण्डद्वयमेवान्तर्वर्तितत्तत्तत्त्वोर्ध्वाधरादिव्याप्त्या स्थितम्, नेत्याह—

एवंविधान्यभोऽधो वै ऊर्ध्वोर्ध्वं च समन्ततः ।

के आगे 'तत्त्वम्' जोड़ना चाहिये । नाडी का अर्थ है—सुषुम्नावरण में स्थित सुषुम्ना नाडी । ('ब्रह्मबिलम्' का अर्थ है— अधो ब्रह्मबिलम्) इस अर्थ को छोड़कर 'ऊर्ध्वब्रह्मबिलम्'—ऐसा जो टीकाकारों ने पाठ किया वह उचित नहीं है क्योंकि सुषुम्नान्त अध्वा ऊपर की भाँति नीचे भी ब्रह्मबिल से व्याप्त है । इसका कारण यह है कि पृथिवी आदि तत्त्व उत्तरोत्तर भीतर और बाहर उभयत्र व्याप्त हैं—ऐसा कहा गया है । 'प्रक्रियाण्डैर्युता' यह उन्मना का विशेषण है । इसका स्पष्टार्थ है कि प्रोक्त प्रक्रिया के अनुसार जो अण्ड-ब्रह्माण्ड, प्रकृत्यण्ड, मायाण्ड और शाक्ताण्ड-स्थित हैं उन्मना उनसे युत = सम्बद्ध है । वे समस्त अण्ड उसके आधार पर स्थित हैं ॥

इसका सङ्कलन करते हैं—

इस प्रकार प्रक्रियाण्ड नीचे और ऊपर स्थित है ॥ -२९ ॥

प्रोक्त प्रक्रिया के अनुसार स्थित जो अण्ड, अर्थात् एकवचन कहने से मायाण्ड और शाक्ताण्ड एक हैं, वह नीचे और ऊपर अपने अन्दर तत्तत् तत्त्वों को रख कर (संव्यवस्थित =) सम्यक् = बाह्याभ्यन्तर व्याप्ति के द्वारा विशेष रूप से स्थित हैं ॥

क्या मायाण्ड और शाक्ताण्ड ये ही दो अपने अन्दर वर्त्तमान तत्तत् तत्त्व को ऊपर नीचे व्याप्त कर स्थित हैं ?—नहीं—यह बतलाते हैं—

इन दोनों के नीचे-नीचे और ऊपर-ऊपर चारो ओर इस प्रकार के बहुत सारे (अण्ड तैर रहे हैं) ॥ ३०- ॥

एवंविधानीति बहुवचने मायाण्डान्तर्गतप्रकृत्यण्डब्रह्माण्डपरामर्शस्तेषां बहुत्वात्। तदुक्तं श्रीमालिनीविजये—

'पृथगद्वयमसङ्ख्यातमेकमेकं पृथग् द्वयम्' (२।५०)

इति । एवंविधानीत्युक्तिः 'अधोऽध ऊर्ध्वोर्ध्वं च समन्ततः' इत्यनेन व्याख्याता ॥

बहुवचनसूचितमनेकत्वं स्फुटयति—

यथा आत्माणवो देवि असङ्ख्याता व्यवस्थिताः॥ ३० ॥
एवं वै प्रक्रियाण्डानि त्वसङ्ख्येयान्यनेकशः।

व्यवस्थिता इति ऐश्वर्या मायाशक्त्या तथा संकुचितत्वेन आभासनादित्यर्थः । प्रकृत्यण्डानीति बहुवचनात् प्रकृत्यण्डब्रह्माण्डरूपाणीत्युक्तमेव ॥

तर्हि तान्यपि विभागेन किं न वर्ण्यन्ते ।

यतः—

एकेन वर्णितेनेह सर्वोऽध्वा वर्णितः प्रिये ॥ ३१ ॥

'एवंविधानि' इस बहुवचन से मायाण्ड के अन्दर घूमने वाले प्रकृत्यण्डों (और उनके अन्दर तैरने वाले) ब्रह्माण्डों का परामर्श होता है । क्योंकि वे (ब्रह्माण्ड और प्रकृत्यण्ड) भी बहुत (= असङ्ख्य) हैं । वही श्रीमालिनीविजयतन्त्र में कहा गया—

'पृथक् दो (= ब्रह्माण्ड और प्रकृत्यण्ड) असङ्ख्य हैं । और एक-एक (= मायाण्ड तथा शाक्ताण्ड) पृथग्द्वय (= अलग-अलग ब्रह्माण्डों और प्रकृत्यण्डों इन दोनों वाला) है ।' (मा.वि.तं. २।५०)

'एवंविधानि' इस कथन की 'अधोऽधः ऊर्ध्वोर्ध्वं च समन्ततः' के द्वारा व्याख्या कर दी गयी ॥

('एवंविधानि' इस) बहुवचन के द्वारा सूचित अनेकत्व को स्पष्ट करते हैं—

हे देवि ! जिस प्रकार आत्मारूपी अणु असङ्ख्य रूप में स्थित हैं उसी प्रकार से अनेक प्रकार के असङ्ख्य प्रक्रियाण्ड (इस विश्व में) स्थित कहे गये हैं ॥ -३०-३१- ॥

'व्यवस्थित'—कहने का कारण है—ईश्वर की माया शक्ति के उस-उस प्रकार से संकुचित होने से उस प्रकार से आभासन के कारण स्थित हैं । 'प्रकृत्यण्डानि' इस बहुवचन से प्रकृत्यण्ड और ब्रह्माण्ड दोनों अण्डों को समझना चाहिये ॥

तो उनका भी अलग-अलग वर्णन क्यों नहीं किया जाता ।

(ऐसा इसलिये) क्योंकि—

यथा ह्येकं तथा सर्वं प्रक्रियाण्डं स्थितं प्रिये ।
सर्वेषां प्रक्रियाण्डानां स्वस्वरूपेण सुव्रते ॥ ३२ ॥
व्यापकस्तु शिवः सूक्ष्मः सबाह्याभ्यन्तरं स्थितः ।
सर्वातिशयनिर्मुक्तः सर्वकारणवर्जितः ॥ ३३ ॥
सृष्टिसंहारनिर्मुक्तः प्रपञ्चातीतगोचरः ।

स्वेनानपायिचित्प्रकाशात्मना स्वरूपेण सर्वेषां सूक्ष्मः शिव इति परमशिवभट्टारको बहिरन्तश्च व्यापकः स्थितश्चित्प्रकाशात्मकपरमशिवरूपतां विना कस्यापि सत्तासिद्धेः शिवमयमेव विश्वमित्यर्थः । शिवसदाशिवेश्वरादीनामधराधरापेक्षया यथोत्थानमतिशयोऽस्ति । परमशिवस्तु चित्प्रकाशमात्रात्मतया महासत्तात्मा महासामान्यरूप इत्येतदन्यस्यातिशयावधेरभावात् सर्वातिशयैर्निर्मुक्तः सर्वकारणं सर्वकारणवर्जितश्च नित्योदितचिदेकमूर्तिरिति तन्त्रेण व्याख्येयम् यतः सृष्टिसंहाराभ्यां निर्मुक्तः । सर्वस्य हि जगत एष एव भगवान् स्वच्छस्वच्छन्दचिदेकमूर्तिः स्रष्टा संहर्ता च, न त्वस्याप्यन्यस्तस्य कल्प्यमानस्यापि एतत्प्रकाशात्मतां विनाऽनुपपत्तेः । किं चायं प्रपञ्चं वैचित्र्यमतीतः स्वचित्प्रकाशैकमयत्वेनैव प्रकाशमानो गोचरो जगदात्मा सर्वो विषयो यस्य । तदुक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

हे प्रिये ! एक अध्वा का वर्णन करने से समस्त अध्वा का वर्णन हो जाता है । हे प्रिये ! जैसे एक अण्ड उसी प्रकार सब प्रक्रियाण्ड स्थित हैं । हे सुव्रते ! समस्त प्रक्रियाण्डों का व्यापक सूक्ष्म शिव सबके अन्दर और बाहर स्थित है । वह सर्वातिशयरहित, सर्वकारणवर्जित, सृष्टिसंहार से निर्मुक्त और प्रपञ्च से अतीत है ॥ -३१-३४- ॥

अपने नित्य चित् प्रकाशवाले स्वरूप के द्वारा शिव सबके सूक्ष्म हैं । शिव का अर्थ है परमशिव । यह सबके अन्दर और बाहर स्थित हैं क्योंकि चित्प्रकाशात्मक पमर शिव के बिना किसी की भी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती । अर्थात् सम्पूर्ण विश्व शिवमय ही है । शिव सदाशिव ईश्वर आदि का, नीचे-नीचे की अपेक्षा उत्कर्ष के अनुसार, अतिशय है किन्तु परमशिव सम्पूर्ण चित्प्रकाशस्वरूप, महासत्ता महासामान्य रूप है । इससे अतिरिक्त कोई अतिशय की सीमा नहीं है इसकारण यह समस्त अतिशय से निर्मुक्त, सबका कारण, सब कारणों से रहित, नित्य उदित, चिदेकमूर्त्ति है—ऐसी तन्त्रेण (= एक साथ) व्याख्या करनी चाहिये । क्योंकि वह सृष्टि और संहार से निर्मुक्त है । स्वच्छ स्वच्छन्द चिदेकमूर्त्ति यही भगवान् समस्त संसार के स्रष्टा और संहर्त्ता हैं । न कि इनका भी कोई दूसरा स्रष्टा और संहर्त्ता है क्योंकि कल्प्यमान उस अन्य की भी सिद्धि इनकी प्रकाशात्मता के बिना नहीं हो सकती ।[1] इसके अतिरिक्त यह प्रपञ्च = विचित्रता, से परे होते हुए अपनी चित्प्रकाशमयता के द्वारा प्रकाशमान गोचर जगदात्मा है । सब कुछ इनका विषय है

---

१. इसके अतिरिक्त ऐसा मानने पर अनवस्था दोष आ जायेगा ।

'स्वात्मेव स्वात्मना पूर्णा भावा भान्त्यमितस्य तु' (२।१।७)

इति ॥

किं चायम्—

निर्मलो विमलः शान्तस्त्वध ऊर्ध्वं व्यवस्थितः ॥ ३४ ॥

निर्गता आणवाद्या मला यस्मात् तथाभूतोऽसौ, विमलः चित्प्रकाशैकमूर्तिः, अतश्च समस्तभेदोपशमात् शान्तः, तथापि च स एवाध इति मायादिक्षित्यन्ततया, ऊर्ध्वं च शुद्धविद्यादिशिवान्ततया, विविधेन रूपेणावस्थितः, नहि तत्प्रकाशातिरिक्ता कापि कस्यापि कदापि सत्ताऽस्तीत्युक्तत्वात् ॥ ३४ ॥

एतद् दृष्टान्तप्रमुखं घटयति—

आकाशस्य यथा नोर्ध्वं न मध्यं नाप्यधः क्वचित् ।
एवं सर्वगतो देवः शिवः परमकारणम् ॥ ३५ ॥
व्याप्य देवि जगत्सर्वं व्योमसु व्योमवत् स्थितः ।

व्योमसु गृहघटाद्यवच्छिन्नेष्वाकाशप्रदेशेषु यथा व्योमाभेदमयमेव स्थितम्, तथा जगत्सर्वं प्रकाशमानत्वात् प्रकाशमयं चित्प्रकाशात्मा शिवोऽभेदेन व्याप्य स्थितः ।

(ये किसी के विषय नहीं है) । वही ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया—

'असीम परमेश्वर की अपनी सत्ता के द्वारा अपनी की तरह पूर्ण भाव उस अमित को भासित (प्रकाशित) होते हैं' ॥ (२।१।७)

और भी यह—

निर्मल, विमल तथा शान्त होते हुए भी नीचे ऊपर स्थित हैं ॥ -३४॥

(निर्मल शब्द की व्याख्या करते हैं—) जहाँ से आणव आदि मल निर्गत हो चुके हैं उस प्रकार का यह निर्मल हैं । विमल = केवल चित्प्रकाशमात्र । इसलिये समस्त भेद का उपशम होने के कारण शान्त हैं । ऐसा होते हुए भी वह परमेश्वर अधः = माया तत्त्व से लेकर पृथिवी तक तथा ऊपर = शुद्धविद्या से लेकर शिव पर्यन्त, विविध रूप से स्थित हैं । क्योंकि उनके प्रकाश के अतिरिक्त किसी की कोई भी सत्ता कभी भी नहीं है—यह कहा जा चुका है ॥ ३४ ॥

इस तथ्य को दृष्टान्त के द्वारा सिद्ध करते हैं—

जिस प्रकार आकाश का न कहीं ऊर्ध्व है न अधः है, और न मध्य है इसी प्रकार हे देवि! परमकारण सर्वगत देव शिव व्योम में स्थित व्योम की भाँति समस्त जगत् को व्याप्त कर स्थित हैं ॥ ३५-३६- ॥

जिस प्रकार व्योम आकाशों में = गृह घट आदि से अवच्छिन्न (= सीमित)

अत एवास्य देशकालादिकृत ऊर्ध्वमध्याधरभेदो न कश्चित् ॥

एतदेवाद्वयज्ञानं परमोपादेयमित्याह—

एवं ज्ञात्वा वरारोहे न भूयो जन्मभाग् भवेत् ॥ ३६ ॥

एवं शिवभट्टारकस्यैव स्वप्रकाशमयसमस्तजगदभेदव्यातिं प्रदर्श्य, तत्प्रपञ्चरूपाणां ब्रह्मादीनां यावती व्याप्तिस्तामपि दर्शयति—

कारणानां पुनर्व्याप्तिं कथयामि समासतः ।

पूर्वमनाश्रितादेः परमकारणपञ्चकस्य हूहुकान्तं व्याप्यव्यापकभावो दर्शितः, इदानीं तु तस्यैवापररूपतया ब्रह्मादिपञ्चकरूपस्य तत्त्वाद्यधिष्ठानद्वारिका व्याप्तिः प्रदर्श्यते—

तत्त्वे तु पार्थिवे ब्रह्मा अधिष्ठाता व्यवस्थितः ॥ ३७ ॥
अप्तत्त्वे तु स्थितो विष्णू रुद्रस्तेजसि संस्थितः ।
ईश्वरो वायुतत्त्वे तु आकाशे तु सदाशिवः ॥ ३८ ॥

व्यवस्थितः पूर्वम्—

घटाकाश मठाकाश आदि में अभिन्न रूप से स्थित रहता है उसी प्रकार प्रकाशमान होने के कारण प्रकाशमय शिव सम्पूर्ण जगत् को अभेदेन व्याप्त कर स्थित हैं । इस कारण इस परमेश्वर का देश काल आदि कृत ऊर्ध्व मध्य और अधर जैसा कोई भेद नहीं है ॥

यही अद्वयज्ञान परम उपादेय है—यह कहते हैं—

हे वरारोहे ! इस प्रकार का ज्ञान कर मनुष्य पुनर्जन्म नहीं प्राप्त करता ॥ ३६ ॥

इस प्रकार समस्त जगत् में शिव भट्टारक की ही स्वप्रकाशमय अभेदव्याप्ति को बतला कर उस (शिवभट्टारक) के प्रपञ्च (= विस्तार) रूप ब्रह्मा आदि की जितनी व्याप्ति है—उसको भी दिखलाते हैं—

अब पञ्चकारणों की व्याप्ति संक्षेप में कह रहा हूँ ॥ ३७- ॥

पहले अनाश्रित आदि पाँच परमकारणों का हूहुक पर्यन्त व्याप्यव्यापक सम्बन्ध दिखलाया गया । अब उसी ब्रह्मा आदि पाँच की अपर रूप से तत्त्वों के अधिष्ठान वाली व्याप्ति को दिखलाते हैं—

पार्थिव तत्त्व के अधिष्ठाता ब्रह्मा हैं; जल तत्त्व के विष्णु, तेजस् तत्त्व के रुद्र, वायु तत्त्व के ईश्वर और आकाशतत्त्व के सदाशिव अधिष्ठाता हैं ॥ -३७-३८ ॥

पहले—

'कलानां यावती व्याप्तिस्तत्त्वानां तावदेव हि' (५।१३)

इत्युक्तत्वात् प्रतिष्ठादिकलाव्याप्ततत्त्वानुसार्यप्तत्त्वादितत्त्वस्वरूपं मन्तव्यम् ॥ ३८ ॥

आदित्यश्च स्मृतो ब्रह्मा सोमो विष्णुश्च सुव्रते ।
ग्रहाणामधिपो रुद्रो नक्षत्राणां तथेश्वरः ॥ ३९ ॥
यजमानस्तु देवेशि स्वयं देवः सदाशिवः ।

इह पृथिव्यादिपञ्चकं सूर्यः सोमो यजमानश्चेति याऽष्टौ महेश्वरस्य मूर्तयः, ततः कलाव्याप्तिसतत्त्वं मेयरूपं पृथिव्यादिमूर्तिपञ्चकं ब्रह्मादिकारणैरधिष्ठितमित्युक्तम् । यत्तु करणपक्षे निविष्टा च याजमानी मूर्तिः पञ्चमीति, तत्रापि ब्रह्माद्यधिष्ठितत्वमुक्तम् । आदित्य इति प्राणो दक्षिणस्रोतश्च । सोमोऽपानो वामस्रोतश्च । ग्रहनक्षत्राधिपौ बाह्यौ सोमसूर्यौ प्रमेयप्रकाशेनोपयुक्तौ । सदाशिवस्य यजमानत्वमशेषप्रमेयप्रमाणाधिष्ठातृपरप्रमातृमयत्वात् ॥

समस्तमहेश्वरमूर्त्यधिष्ठातारो ये ब्रह्मादयस्तेऽपि सद्यआदिभगवन्मन्त्रमया एवेतीत्थमपि परमेश्वराद्वयमयमेव जगदित्यादिशति—

सद्योजातस्तु वै ब्रह्मा वामो विष्णुः प्रकीर्तितः ॥ ४० ॥
अघोरो रुद्र इत्युक्तस्तथा पुरुष ईश्वरः ।

'कलाओं की जितनी व्याप्ति है तत्त्वों की भी उतनी ही व्याप्ति है ।'(५।१३)

कथन से प्रतिष्ठा आदि (= विद्या शान्ता) कला में व्यापत तत्त्व के अनुसार जल तत्त्व आदि का तत्त्व स्वरूप समझना चाहिये ॥ ३८ ॥

हे सुव्रते ! आदित्य (= प्राण को ब्रह्मा) सोम (= अपान को विष्णु) ग्रहों के स्वामी (= बाह्य चन्द्रमा को) रुद्र नक्षत्रों के स्वामी सूर्य को ईश्वर माना गया है । हे देवेशि ! यजमान तो स्वयं देव सदाशिव है ॥३९-४०-॥

पृथिवी आदि पाँच, सूर्य, चन्द्र और यजमान ये जो परमेश्वर की आठ मूर्त्तियाँ हैं इनमें से कलाव्याप्ति वाली मेयरूप जो पृथिवी आदि पाँच मूर्त्तियाँ हैं वे ब्रह्मा आदि पाँच कारणों से अधिष्ठित हैं—यह कहा जा चुका है । और जो करणपक्ष में निविष्ट यजमान की मूर्त्ति है वह भी ब्रह्मा आदि के द्वारा अधिष्ठित है—ऐसा कहा गया । सूर्य प्राण और दक्षिण स्रोत (= दक्षिण नाड़ी-पिङ्गला) है । सोम अपान और वाम स्रोत (= वाम नाडी इडा) है । ग्रहों का अधिप सोम और नक्षत्रों का अधिप सूर्य ये दोनों प्रमेयों का प्रकाशन करने के कारण उपयोगी हैं और सदाशिव यजमान हैं क्योंकि ये समस्त प्रमेय प्रमाण के अधिष्ठातास्वरूप परप्रमाण हैं ॥

महेश्वर की समस्त मूर्त्तियों के अधिष्ठातृगण जो ब्रह्मा आदि हैं वे भी भगवान् के सद्योजात आदि (के नाम से प्रसिद्ध) मन्त्रस्वरूप ही हैं । इस प्रकार भी यह संसार परमेश्वराद्वयमय ही है—यह कहते हैं—

ईशानस्तु वरारोहे स्वयं देवः सदाशिवः ॥ ४१ ॥

यच्चैतद् ब्रह्माद्यधिष्ठातृ भगवच्छक्तिरूपं सद्यआदिमन्त्रपञ्चकम्, तदेव वेदादिसमस्तशास्त्रप्रपञ्चरूपमित्याह—

सद्योजातस्तु ऋग्वेदो वामदेवो यजुः स्मृतः ।
अघोरः सामवेदस्तु पुरुषोऽथर्व उच्यते ॥ ४२ ॥
ईशानश्च सुरश्रेष्ठः सर्वविद्यात्मकः स्मृतः ।

ऋगादिवेदाः प्रत्येकं कर्मदेवताज्ञानकाण्डात्मका मन्तव्याः । सर्वविद्यात्मक इत्युक्त्या प्रोक्तोऽपि प्रविभागोऽस्यैव भगवतः प्रपञ्च इति शास्त्रक्रमेणापि भगवद्द्वयमयमेव जगत् ॥

ज्ञानक्रमेणाप्यद्वैतमित्याह—

लौकिकं देवि विज्ञानं सद्योजाताद्विनिर्गतम् ॥ ४३ ॥
वैदिकं वामदेवात्तु आध्यात्मिकमघोरतः ।
पुरुषाच्चातिमार्गाख्यं निर्गतं तु वरानने ॥ ४४ ॥
मन्त्राख्यं तु महाज्ञानमीशानात्तु विनिर्गतम् ।

सद्योजात ब्रह्मा हैं, वामदेव विष्णु, अघोर रुद्र, तत्पुरुष ईश्वर और हे वरारोहे ! ईशान तो स्वयं सदाशिव ही हैं ॥ -४०-४१ ॥

और जो ब्रह्मा आदि के अधिष्ठाता भगवान् शिव की शक्तिस्वरूप सद्योजात आदि पाँच मन्त्र हैं वे ही वेद आदि समस्त शास्त्रों के विस्तारस्वरूप हैं—यह कहते हैं—

सद्योजात ऋग्वेद, वामदेव यजुर्वेद, अघोर सामवेद, तत्पुरुष अथर्ववेद कहे जाते हैं । सुरश्रेष्ठ ईशान सर्वविद्यात्मक माने गये हैं ॥ ४२-४३- ॥

ऋग् आदि समस्त वेदों में से प्रत्येक को कर्मकाण्ड, देवताकाण्ड और ज्ञानकाण्ड स्वरूप मानना चाहिये । 'सर्वविद्यात्मकः' इस कथन से उपर्युक्त विभाग भी इन्हीं भगवान् का विस्तार है । इस प्रकार शास्त्र के क्रम से भी यह संसार केवल भगवन्मय ही है ॥

(शास्त्र के क्रम से अद्वैतता को बतला कर) ज्ञान के क्रम से भी अद्वैत है । यह कहते हैं—

हे देवि ! लौकिक विज्ञान सद्योजात से निकला हुआ है । वैदिक विज्ञान वामदेव से । आध्यात्मिक विज्ञान अघोर से और हे वरानने ! तत्पुरुष से अतिमार्ग नामक विज्ञान निकला है । मन्त्र नामक महाज्ञान ईशान से निकला हुआ है ॥ -४३-४५- ॥

लौकिकं वार्तादण्डनीत्यायुर्वेदधनुर्वेदनाट्यवेदादिप्रतिपाद्यकृषिनयानयचिकित्सादिविज्ञानम् । वैदिकं नित्यनैमित्तिककाम्ययज्ञादिस्वरूपम् । आध्यात्मिकं सांख्योगादिप्रतिपादितप्रकृतिपुरुषविवेकज्ञानसर्ववृत्तिनिरोधज्ञानादिकम् । आतिमार्गिकं वेदसांख्ययोगाद्युक्तोपासात्मकप्रसिद्धमार्गातिक्रान्तं सामान्येन पारमेशशास्त्रप्रतिपादितविविधमुद्रामण्डलक्रियाद्युपायरूपं विज्ञानमिहाभिप्रेतम्, नतु विशिष्टं चतुष्टयात् । मन्त्राख्यमिति तत्रैव पारमेशेषु शास्त्रेषु पञ्चप्रणवाधिकारप्रतिपादितनीत्या मन्त्रेषु आ समन्तात् ख्यानं यस्य तथाभूतं यन्महाज्ञानं मन्त्रवीर्यदं ज्ञानपादप्रोक्तक्रियादितन्त्रात्मविज्ञानाद्वैलक्षण्येनानुभवसारतां मन्त्राणां प्रथयति ॥

पञ्चतत्त्वाधिष्ठानद्वारेण विश्वाधिष्ठातृत्वं ब्रह्मादिकारणपञ्चकस्योक्तम्, वितत्य तु प्रतिपादयितुमाह—

तथा तत्त्वविभागेन पुनश्च शृणु सुव्रते ॥ ४५ ॥
चतुर्विंशतितत्त्वानि ब्रह्मा व्याप्य व्यवस्थितः ।
प्रधानान्तं तु देवेशि पौरुषं तु जनार्दनः ॥ ४६ ॥

लौकिक का अर्थ है—वार्त्ता (= कृषि, वाणिज्य आदि से सम्बद्ध शास्त्र) दण्डनीति (= नीतिशास्त्र) आयुर्वेद, धनुर्वेद, नाट्यवेद आदि से प्रतिपाद्य कृषि, नीति, अनय (= द्यूतविद्या चौरविद्या आदि) चिकित्सा आदि विज्ञान । वैदिक (विज्ञान का अर्थ है—) नित्य, नैमित्तिक, काम्य कर्म अर्थात् यज्ञ आदि । आध्यात्मिक = सांख्य योग आदि के द्वारा प्रतिपादित प्रकृतिपुरुष विवेक (= भेद) ज्ञान, (चित्त की) समस्त वृत्तियों के निरोध का ज्ञान आदि । अतिमार्गिक = वेद सांख्य योग आदि में उक्त उपासनात्मक प्रसिद्ध मार्ग से परे तथा सामान्य रूप से पारमेश्वर शास्त्र में प्रतिपादित अनेक प्रकार की मुद्रा मण्डल क्रिया आदि उपाय वाला विज्ञान । न कि (लौकिक आदि) चार से विशिष्ट (कोई अन्य) । मन्त्र नामक = उन्हीं पारमेश्वर शास्त्रों में पञ्चप्रणवाधिकार में प्रतिपादित नीति के अनुसार मन्त्रों में आ = सब प्रकार से, ख्यान (= कथन) है जिसका वैसा मन्त्रों में वीर्य का आधान करने वाला जो महाविज्ञान (मन्त्र को महाज्ञान कहने का तात्पर्य है कि) ज्ञानपाद में कथित क्रिया आदि तन्त्र वाले विज्ञान से यह मन्त्रज्ञान विलक्षण है क्योंकि यह अनुभवैकगम्य है ॥

ब्रह्मा आदि पाँच कारण पञ्च तत्त्व के अधिष्ठाता होने से विश्व के अधिष्ठाता है—यह कहा जा चुका । इसी बात को विस्तार के साथ प्रतिपादित करने के लिये कहते हैं—

हे सुव्रते ! तत्त्वविभाग के क्रम से पुनः उस प्रकार (= तत्तत् कारणों के तत्तत् तत्त्वाधिष्ठातृत्व) को सुनो । ब्रह्मा चौबीस तत्त्वों (= पृथिवी से लेकर) प्रकृति पर्यन्त को व्याप्त कर स्थित हैं और जनार्दन (= विष्णु) पुरुष तत्त्व को ॥ -४५-४६ ॥

गुणतत्त्वस्य पृथगविवक्षितत्वात् चतुर्विंशतितत्त्वानि व्याप्येति प्राग्वदभेदेनाधिष्ठाय, अत एव प्रतिपादितहृदयविषयाऽऽलोचनादिसृष्टिकारिणी ब्राह्मी व्याप्तिरस्तीति तत्र तत्रोच्यते ॥

नियतेरथ मायान्तं रुद्रो व्याप्य व्यवस्थितः ।
विद्या तथैश्वरं तत्त्वं व्याप्तं चैवेश्वरेण तु ॥ ४७ ॥
ऊर्ध्वं सदाशिवो देवः सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः ।

ऊर्ध्वमिति सदाशिवशक्तिशिवाख्यं तत्त्वत्रयम् । सदाशिव इत्यनाश्रितपरव्याप्त्येत्यर्थः ॥

आत्मविद्याशिवाख्यतत्त्वत्रयविभागेन च कारणानां विश्वाधिष्ठितत्वमाह—

तत्त्वत्रयविभागेन पुनर्वक्ष्यामि सुव्रते ॥ ४८ ॥

कारणव्याप्तिमिति शेषः ॥ ४८ ॥

तत्र—

आत्मतत्त्वे तु वै ब्रह्मा मायान्ते च व्यवस्थितः ।
विद्यातत्त्वे तथा विष्णुर्यावत् सादाख्यगोचरम् ॥ ४९ ॥

गुणतत्त्व को प्रकृतितत्त्व को पृथक् न मानने के कारण चौबीस तत्त्व कहे गये हैं । व्याप्त कर = पूर्व की भाँति अभिन्न रूप से अधिष्ठित होकर । इसीलिये ब्राह्मी व्याप्ति प्रतिपादितहृदयविषय वाली आलोचन आदि सृष्टि करने वाली है—ऐसा स्थान-स्थान पर कहा जाता है ॥

(कला विद्या राग और काल सहित) नियति से लेकर माया पर्यन्त को व्याप्त कर रुद्र स्थित हैं । शुद्ध विद्या और ईश्वर तत्त्व ईश्वर के द्वारा व्याप्त हैं । इसके ऊपर सबको व्याप्त कर सदाशिव स्थित हैं ॥ ४७-४८- ॥

ऊपर के = सदाशिव शक्ति और शिव नामक तीन तत्त्वों को । सदाशिव—अनाश्रित शिव की पर व्याप्ति के द्वारा ॥

आत्मा शुद्धविद्या और शिव नामक तीन तत्त्वों के विभाग के द्वारा कारणों की विश्वाधिष्ठातृता को बतलाते हैं—

हे सुव्रते ! पुनः तीन तत्त्वों के विभाग से (पञ्च) कारण की व्याप्ति को बतला रहा हूँ ॥ -४८ ॥

कारण की व्याप्ति को—यह जोड़ना चाहिए ॥ ४८ ॥

उस क्रम में—

मायापर्यन्त आत्मतत्त्व में ब्रह्मा स्थित हैं । शुद्धविद्या तत्त्व से लेकर

शिवतत्त्वे तथा रुद्रो विज्ञेयस्तु वरानने ।
सादाख्यमूर्ध्वमध्वानं सर्वं व्याप्य व्यवस्थितः ॥ ५० ॥

सादाख्यगोचरमिति सदाशिवतत्त्वम् । सर्वमिति शिवतत्त्वान्त एव ब्रह्मविष्णुरुद्रान्ता ब्रह्मणो व्याप्तिः, ईश्वरसदाशिवान्ता विष्णोः, शिवरूपा रुद्रस्येति कारणपञ्चकस्याप्यनया भङ्ग्याऽभेद एव दर्शितः ॥ ५० ॥

न केवलं कारणपञ्चकमेतावत्कारणत्रयव्याप्तिसतत्त्वम्, यावत्कारणत्रयमपि पारमेशरौद्र्यादिशक्तित्रयपरमार्थमित्याह—

रौद्र्या अधिष्ठितात्मा वै स रुद्रः परिकीर्तितः ।
व्याप्तश्च वामया विष्णुर्ज्येष्ठया च पितामहः ॥ ५१ ॥

समस्तरुग्द्रावणाद् विश्ववमनादभेदप्राधान्यप्राशस्त्यप्रकर्षाच्च रौद्रीवामाज्येष्ठाख्या याः शक्तयस्तासामधिष्ठाने क्रमव्यतिक्रमः परमार्थाद्वयक्रमवस्तुतत्त्वप्रदर्शनाय ॥ ५१ ॥

किं च—

ज्ञानशक्तिः स्मृतो ब्रह्मा क्रियाशक्तिर्जनार्दनः ।

सदाशिव तत्त्व तक विष्णु स्थित हैं । हे वरानने ! शिव तत्त्व में रुद्र को व्यवस्थित जानना चाहिये । यह रुद्र सादाख्य और उसके ऊपर के तत्त्वों को व्याप्त कर स्थित हैं ॥ ४९-५० ॥

सादाख्य गोचर = सदाशिव तत्त्व । सब को = शिव तत्त्व पर्यन्त को ही । ब्रह्मा की व्याप्ति ब्रह्मा विष्णु रुद्र तक है । विष्णु की ईश्वर से लेकर सदाशिव तक है । रुद्र की व्याप्ति शिवरूपा है ।इस प्रकार इस भङ्गी से पाँचों कारण अभिन्न ही हैं—यह दिखलाया गया ॥ ५० ॥

केवल यही नहीं है कि पञ्चकारण तीन कारणों से व्याप्त हैं वरन् तीनो कारण (ब्रह्मा विष्णु और रुद्र) भी परमेश्वर की रौद्री आदि तीन शक्तियों से व्याप्त हैं—यह कहते हैं—

वह रुद्र (परमेश्वर की) रौद्री शक्ति से अधिष्ठित कहे गये हैं विष्णु उनकी वामा शक्ति से तथा पितामह (= ब्रह्मा) ज्येष्ठा शक्ति से अधिष्ठित बतलाये गये हैं ॥ ५१ ॥

समस्त रोगों (= पाशों) के द्रावण (= नाश) के कारण (अथवा समस्त रुक् = प्रकाश = ज्ञान के द्रावण = प्रसार के कारण), विश्व का वमन करने के कारण और अभेदप्रधान प्राशस्त्य के कारण क्रमशः रौद्री वामा और ज्येष्ठा नामक जो शक्तियाँ उनके अधिष्ठान के विषय में क्रम का उल्टा बताना परमार्थ अद्वयक्रम वाले वस्तुतत्त्व के प्रदर्शन के लिये हैं (वस्तुतः क्रम वामा ज्येष्ठा और रौद्री है) ॥ ५१॥

तथा—

इच्छाशक्तिः परो रुद्रः.........

परशब्दस्त्रिष्वपि सम्बध्यते । अत्रापि क्रमान्यथात्वे प्रोक्त एवाशयः ॥

यश्चायं परो रुद्रः—

..............स शिवः परिगीयते ॥ ५२ ॥
विष्णुः सदाशिवो देवो ब्रह्मा चैवेश्वरस्तथा ।

एवं शक्तित्रयेणापरं कारणत्रयमिव तद्व्यापकं परमपि कारणत्रयमधिष्ठितमित्युक्तं भवति ॥

तदित्थमुपायोपेयाद्यैकात्म्योक्त्या कारणगताधिष्ठात्रधिष्ठेयमुखेन समस्ताध्वव्याप्त्या मूर्त्यष्टकाधिष्ठितयुक्त्या वाचकमुखेन तज्ज्ञानदृष्ट्या तद्वाच्यषट्त्रिंशत्पञ्चत्रिंशतत्त्वभेदोक्तिद्वारेण शक्तित्रयाधिष्ठाननिरूपणक्रमेण च परभैरवाद्वयमयं जगदिति व्याप्यव्यापकसतत्त्वप्रदर्शनेन परमौपनिषदिकमर्थं प्रपञ्चप्रक्रान्तजगत्सृष्ट्यपेक्षं कार्यकारणविभागवैचित्र्यमेवानुबध्नाति—

सदाशिवः शिवाद् देवि उत्पन्नः प्रभुरीश्वरः ॥ ५३ ॥

ज्ञानशक्ति को परब्रह्मा क्रियाशक्ति को परविष्णु और इच्छा शक्ति को पररुद्र कहा गया है ॥ ५२- ॥

पर शब्द का (ब्रह्मा विष्णु रुद्र) तीनों से सम्बन्ध है । यहाँ भी क्रम के अन्यथा होने से उपर्युक्त ही उद्देश्य है । (यहाँ भी क्रम इच्छा ज्ञान और क्रिया इस प्रकार का है).॥

जो यह पररुद्र है—

वह शिव कहे जाते हैं । विष्णु को सदाशिव और ब्रह्मा को ईश्वर कहा जाता है ॥ -५२-५३- ॥

जिस प्रकार अपर तीन कारण तीन शक्तियों से अधिष्ठित हैं उसी प्रकार उन (तीन अपर कारणों) के व्यापक पर तीन कारण भी (उन्हीं तीन शक्तियों से) अधिष्ठित हैं—उक्त कथन का यह तात्पर्य है ॥

तो इस प्रकार उपाय और उपेय आदि की अभिन्नता के कथन के द्वारा कारण में स्थित अधिष्ठातृ अधिष्ठेय के द्वारा समस्त अध्वा की व्याप्ति के द्वारा, (पृथिवी आदि) आठ मूर्त्ति के अधिष्ठित युक्ति के द्वारा, वाचक मुखेन उन (आठ मूर्त्तियों) के ज्ञान की दृष्ट से तथा उन (वाचकों) के वाच्य छत्तीस अथवा पैंतीस तत्त्व भेद के कथन के द्वारा तथा तीन शक्तियों के अधिष्ठान निरूपण के क्रम से व्याप्य व्यापक तत्त्व प्रदर्शन से यह बतलाया गया कि यह संसार पर भैरव रूप अद्वय तत्त्व वाला है । इस परम औपनिषदिक अर्थ तथा प्रपञ्चप्रकान्त जगत् की सृष्टि की अपेक्षा वाले कार्यकारणविभाग के वैचित्र्य को बतलाते हैं—

यद्यपि—

'बिन्दोः सदाशिवो ज्ञेयः' (११।१०)

इति प्रागुपक्षिप्तम्, तथापि प्रतिपादितव्याप्यव्यापकभावपरमार्थदृशा बिन्दुपर्यन्ते प्रसृत्य शिवभट्टारक एव प्रपञ्चव्याप्त्या सदाशिव ईश्वरश्च प्रभुः सम्पन्न इत्यत्र तात्पर्यम् ॥ ५३ ॥

तस्माद्विद्या ततो माया.............

तत इति विद्यातत्त्वात् । एषां च तत्त्वानामुत्पत्तिक्रमे युक्तिः पूर्वमेव दर्शिता ॥

किं च—

.................विद्यायाः पुनरीश्वरः ।
ज्ञानशक्तिकराग्रेण स्वेच्छया परमेश्वरः ॥ ५४ ॥
सप्त कोटीस्तु मन्त्राणां सृजेज्ज्ञानक्रियात्मिकाः ।

'अष्टवर्गविभिन्ना तु विद्या सा मातृका परा' (१०।११४४)

हे देवि ! शिव से भगवान् सदाशिव और ईश्वर उत्पन्न हुये । (यहाँ 'उत्पन्नः' एक वचन का प्रयोग इस दृष्टि से किया गया है कि सदाशिव और ईश्वर अकेले एक मात्र शिव के निमेष उन्मेष हैं । भेद इतना ही है कि एक अन्तर्निमेष है दूसरा बाह्य उन्मेष) ॥ -५३ ॥

यद्यपि पहले कहा गया कि—

'बिन्दु से सदाशिव की उत्पत्ति जाननी चाहिये ।' (११।१०)

तथापि पूर्व प्रतिपादित व्याप्यव्यापक भाव को दृष्टि में रख कर बिन्दु पर्यन्त प्रसृत होकर शिव भट्टारक ही प्रपञ्च व्याप्ति के द्वारा भगवान् सदाशिव और ईश्वर बने हैं—यहाँ यह तात्पर्य है ॥ ५३ ॥

उस (= ईश्वर) से शुद्धविद्या सृष्ट होती है और उस (= विद्या) से ईश्वर (आगे की सृष्टि करते हैं) ॥ ५४- ॥

उससे = विद्यातत्त्व से । इन तत्त्वों के उत्पत्तिक्रम के विषय में युक्ति पहले ही दिखला दी गयी है ॥

तथा—

परमेश्वर (= ईश्वर) अपनी इच्छा से ज्ञानशक्ति रूपी कराग्र के द्वारा ज्ञानक्रिया वाले सात करोड़ मन्त्रों की सृष्टि करते हैं ॥ -५४-५५- ॥

'वह परा विद्या आठ वर्ग के भेद से भिन्न होकर मातृका कहलाती है ।' (१०।११४४)

इति पूर्वमुक्तस्वरूपाया विद्यायाः सकाशात् परमेश्वर इति परमशिवस्वरूप ईश्वरभट्टारकः स्वेच्छामात्रेणानुग्रहाख्यकृत्यप्रपञ्चनार्थं ज्ञानशक्तिरेव कराग्रं तेन सप्त कोटीर्मन्त्राणां मननत्राणसतत्त्वानां सृजति । ज्ञानशक्तिकरणत्वात् सृज्यमानत्वाच्चैताः कारणानुगुण्येन ज्ञानक्रियात्मिका इति पूर्णज्ञानक्रियासतत्त्वा भोगमोक्षप्रदाः ॥

परमेश्वर इति विशेषणेनेश्वरस्य परमशिवरूपत्वमुक्तं यतस्तत एव तत्सृष्टानां मन्त्राणामणुशक्तिशम्भुपक्षतया सर्वत्रैवानुग्रहार्थमवस्थितत्वमस्तीत्याह—

ते च सादाख्यपर्यन्ते पार्थिवाद्ये तु सुव्रते ॥ ५५ ॥
अनुग्रहं प्रकुर्वन्ति देहिनां भुवने स्थिताः ।

पृथ्व्याद्यनाश्रितान्ते यानि भुवनानि, तेषु स्थिताः सन्तो देहिनां भोगमोक्षरूपमनुग्रहं प्रकर्षेणानवरतं कुर्वन्ति ॥

एते च—

शिवशक्तिसमाविष्टास्त्रिनेत्राश्चन्द्रमौलयः ॥ ५६ ॥

शिवशक्तिसमाविष्टत्वादेवैषामनुग्रहकर्तृत्वम् ॥ ५६ ॥

इस प्रकार पहले वर्णितस्वरूप वाली विद्या के पास से, परमेश्वर = परमशिव रूप ईश्वरभट्टारक, स्वेच्छामात्र से अनुग्रह नामक कृत्य के विस्तार के लिये, ज्ञानशक्ति ही कराग्र = अंगुली, है उसके द्वारा सात करोड़ मनन त्राण वाले मन्त्रों की रचना करते हैं । ज्ञानशक्तिरूप करण होने तथा सृज्यमान होने के कारण ये सात करोड़ मन्त्र कारण के अनुरूप ज्ञानक्रियात्मक हैं अर्थात् पूर्ण ज्ञान क्रिया वाले ये भोगमोक्ष प्रदायी हैं ॥

चूँकि 'परमेश्वर' विशेषण देने से ईश्वर परमशिव रूपी कहा गया इसलिये उस ईश्वर के द्वारा सृष्ट मन्त्र अणुशक्ति शम्भुपक्ष के रूप में सर्वत्र अनुग्रह के लिये स्थित हैं—यह कहते हैं—

हे सुव्रते ! और वे मन्त्र पृथिवी से लेकर सदाशिव तत्त्व पर्यन्त भुवन में स्थित होकर प्राणियों के ऊपर अनुग्रह करते रहते हैं ॥ -५५-५६- ॥

पृथिवी से लेकर अनाश्रित शिवपर्यन्त जितने भुवन हैं उनमें स्थित होकर (ये मन्त्र) प्राणियों के ऊपर भोग मोक्ष रूप अनुग्रह को प्रकृष्ट रूप से अर्थात् सर्वदा करते रहते हैं ॥

और ये (मन्त्र)—

शिव की शक्ति से समाविष्ट, तीन नेत्रों वाले तथा मस्तक पर चन्द्रमा धारण किये हैं ॥ -५६ ॥

शिव की शक्ति से समाविष्ट होने के कारण ही ये अनुग्रहकर्त्ता हैं ॥ ५६ ॥

युक्तं चैतद्यतः —

रुद्रमूर्तिभिरेकोऽसौ शिवः परमकारणम् ।
जगद् व्याप्य स्थितो मायी शूलपाणिरनेकधा ॥ ५७ ॥

रुद्राः सर्वरुग्द्राविणो मन्त्राः । एकोऽप्यनेकधा रुद्रमूर्तिभिर्जगद् व्याप्य स्थित इत्यत्र विशेषणद्वारको हेतुर्मायीति । स्वरूपगोपनारूपया महामायाशक्त्या ह्यसावनुग्रहाख्यकृत्यनिर्वाहाय नानारुद्रमूर्तिभिः स्फुरितः । मायाशक्त्यैव वक्ष्यमाणजगद्रूपतया परमेश्वरः स्वाभासस्वच्छस्वच्छन्दचिदानन्दसुन्दरः स्वस्वातन्त्र्याद् दर्पणनगरवत् स्वानधिकेनाप्यधिकेनेव केन नाम रूपेण न भवतीत्युक्तमसकृत्, अतो यत् श्रीसद्योज्योतिषा उक्तम्—

'एकः शिवोऽविकारी तच्छक्तिश्चाप्यतो न तौ योग्यौ ।
बहुधा स्थातुं यद्वा चैतन्यविनाकृतौ विकारित्वात् ॥' (त.सं. ४५)

इति, तत् प्रोक्तश्रुतियुक्तिभ्यां बाधितत्वादपर्यालोचिताद्वयवादसतत्त्वमित्युपेक्ष्यमेव ॥ ५७ ॥

यह ठीक भी है क्योंकि—

एक ही यह शूलपाणि, मायावी, परम कारण शिव रुद्रमूर्त्तियों के द्वारा संसार को व्याप्त कर अनेक रूपों में स्थित हैं ॥ ५७ ॥

रुद्र = समस्त रुक् (= रोग = मायीय जाल) को द्रुत (= नष्ट) करने वाले (अथवा समस्त रुक् = प्रभा, प्रकाश को द्रुत = प्राप्त होने वाले) अर्थात् मन्त्र । शिव एक होते हुए भी अनेक प्रकार से रुद्रमूर्त्तियों के द्वारा संसार को व्याप्त कर स्थित हैं । यहाँ इस व्याप्ति का कारण है उनका मायावी होना । इसे 'मायी' विशेषण के द्वारा सङ्केतित किया गया है । तात्पर्य यह है कि स्वरूपगोपना रूप महामाया शक्ति के द्वारा ये अनुग्रह नामक कार्य के निर्वाह के लिये अनेक रुद्रमूर्त्तियों के द्वारा स्फुरित हो रहे हैं । अपने आभास से स्वच्छ और स्वच्छन्द (= अपनी इच्छानुसार चलने वाले) चिदानन्दसुन्दर परमेश्वर अपने स्वातन्त्र्य के कारण मायाशक्ति के द्वारा, दर्पणनगर की भाँति अपने से अनतिरिक्त होते हुए भी अतिरिक्त की भाँति किस रूप से नहीं स्फुरित हो रहे हैं ? अर्थात् सदा स्फुरित हो रहे हैं—ऐसा बार-बार कहा जा चुका है । इसलिये जो सद्योज्योति शिवाचार्य ने कहा—

'शिव एक और अविकारी हैं । उनकी शक्ति भी वैसी ही है । इसलिये वे दोनों अनेक रूप में स्थित होने के योग्य नहीं हैं । अथवा वे दोनों चैतन्य से रहित हैं क्योंकि उनमें विकार है ।'

उनका यह कथन उपर्युक्त श्रुति (रुद्रमूर्त्तिभि... ११।५७) तथा तर्क के द्वारा बाधित होने से उपेक्षणीय है क्योंकि उन्होंने शिवाद्वयवाद की सम्यक् आलोचना नहीं

किं चायमाश्रितानन्तभट्टारकमूर्तिः—

ज्ञानशक्त्या पुनश्चैव समालोक्य वरानने ।
इच्छाशक्त्या समाविष्टः क्रियाशक्त्या तु सुव्रते ॥ ५८ ॥
मायातत्त्वं जगद्बीजं नित्यं विभुतयाऽव्यम् ।
तत्स्थं कृत्वात्मवर्गं तु युगपत् क्षोभयेत् प्रभुः ॥ ५९ ॥

जगतः कलादिक्षित्यन्तस्य विश्वस्य यद्बीजं कारणं मायातत्त्वं नित्यमिति तच्छक्तेरनिदंप्रथमिकतया प्रवृत्तत्वात्, अत एव चाव्ययम्, न तु तत्त्वात्मतया तन्नित्यमविनाशि च भवति, 'ततो माया' इत्युक्तत्वात्, तत्संहारस्य प्रतिपादयिष्यमाणत्वात्; एवंभूतं यद् मायातत्त्वं तत्स्थमिति तद्वशाद्रोपितज्ञानक्रियारूपमात्मवर्गं कृत्वेति स्वभित्तावाभास्य, पुनश्च तं तथाविधं ज्ञानशक्त्या समालोक्य युगपदक्रममेव क्षोभयेदिति सर्वकर्तृत्वसर्वज्ञत्वनैराकांक्ष्याकालकलितत्वसार्वात्म्यरूपाद्धर्माद् अपरामर्शनमयकिञ्चित्कर्तृत्वकिञ्चिज्ज्ञत्वसाकाङ्क्षत्वकाल कलितत्वनियततोत्थापककलाविद्यारागकालनियत्यात्मककञ्चुककलनापुरःसरं प्रधानकारणकार्यपरवशं सम्पादयति परमेश्वरः । कीदृगसौ ?—इत्याह—इच्छाशक्त्या क्रियाशक्त्या च समाविष्टः,

---

की ॥ ५७ ॥

और भी अनन्तनाथ की मूर्त्ति का आश्रयण करने वाले यह प्रभु (= शिव)

हे वरानने ! हे सुव्रते ! ज्ञानशक्ति के द्वारा समालोचन करने के बाद इच्छाशक्ति और क्रियाशक्ति से समाविष्ट होकर संसार का बीजभूत, नित्य, व्यापक होने के कारण अव्यय मायातत्त्व, जिसमें कि आत्मवर्ग को छिपा दिया है, को एक साथ क्षुब्ध करते हैं ॥ ५८-५९ ॥

जगत् = कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त विश्व का जो बीज = कारण माया तत्त्व, वह नित्य है क्योंकि वह इदं प्रथमतया कभी प्रवृत्त नहीं हुआ और इसीलिये वह अव्यय है न कि तत्त्व के रूप में वह नित्य और अविनाशी है क्योंकि 'उसके बाद माया' ऐसा कहा गया है और उसके नाश का प्रतिपादन आगे किया जायेगा । इस प्रकार का जो मायातत्त्व उसमें स्थित है अर्थात् उस (= माया) के कारण ज्ञानक्रिया रूप आत्मवर्ग को छिपा लिया है । छिपाने के बाद परमेश्वर अपनी ही भित्ति पर उस (मायामय जगत्) को आभासित कर फिर उसके बाद उस प्रकार के उस जगत् तथा माया तत्त्व को अपनी ज्ञानशक्ति से समालोकित कर एक साथ = बिना क्रम से, क्षुब्ध करते हैं = सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञत्व, निराकाङ्क्षता, अकालकलित्व और सर्वात्मत्व रूप धर्म से परामर्शनरहित किञ्चित्कर्तृत्व, किञ्चिज्ज्ञत्व, साकाङ्क्षत्व, कालकलितत्त्व एवं नियतोत्थापकत्व वाले कला, विद्या, राग, काल, नियति रूप कञ्चुक की रचना करने के बाद अपने को प्रधान कारण और उसके कार्य के परवश बना देते हैं ।

यह परमेश्वर कैसे हैं—यह बतलाते हैं—इच्छा शक्ति और क्रियाशक्ति से

'एवंभूतमिदं वस्तु भवत्विति यदा पुनः ।
जाता तदैव तत्तद्वत्कुर्वत्यत्र क्रियोच्यते ॥' (३।८)

इति श्रीमालिनीविजयनिर्दिष्टनीत्येच्छामात्रानन्तरमेव क्रियाशक्त्याऽऽभासयतीत्यर्थः ॥ ५९ ॥

युगपत्क्षोभयेदित्युक्तिं दृष्टान्तेन परिघटयति—

हेलादण्डाहतायाश्च बदर्या वा फलानि तु ।
तिर्यगूर्ध्वमधस्ताच्च निर्गच्छन्ति समासतः ॥ ६० ॥

वाशब्द इवार्थे । बदर्या इव फलानि मायाया आत्मानः समनन्तरवक्ष्यमाणतिर्यगूर्ध्वाधरभूमीर्गच्छन्ति ॥ ६० ॥

तत्र—

मुक्तेस्तु भाजनं येऽत्र अनुध्याताः शिवेन तु ।
ऊर्ध्वं गच्छन्ति ते सर्वे शिवं परमनिर्मलम् ॥ ६१ ॥

अनुध्याता इति कृतशक्तिपाताः । यदुक्तं श्रीश्रीकण्ठ्याम्—

समाविष्ट है—

'यह वस्तु इस प्रकार की हो जाय' ऐसी स्थिति जब होती है तब उसको उस प्रकार का बनाने वाली शक्ति इस शास्त्र में (परमेश्वर की) क्रियाशक्ति कही जाती है ।' (मा.वि.तं. ३।८)

इस प्रकार मालिनीविजय तन्त्र में निर्दिष्ट नीति के अनुसार परमेश्वर इच्छा मात्र के तत्काल बाद क्रियाशक्ति के द्वारा जगत् को आभासित करते हैं ॥ ५९ ॥

एक साथ क्षुब्ध करते हैं—इस उक्ति को दृष्टान्त के द्वारा सङ्गत करते हैं—

जिस प्रकार बिना किसी कष्ट के लीलावश फेंके गये दण्ड से आहत बेर के पेड़ से फल तिरछे ऊपर नीचे एक साथ गिरते हैं (उसी प्रकार समस्त चराचर जगत् को परमेश्वर एक साथ क्षुब्ध करते हैं) ॥ ६० ॥

श्लोक में 'वा' शब्द का प्रयोग 'इव' अर्थ में हुआ है । जैसे बेर के वृक्ष से फल उसी प्रकार माया से निकल कर आत्मायें आगे कही जाने वाली रीति से तिर्यक् ऊपर और नीचे भूमि पर जाती हैं ॥ ६० ॥

उनमें से—

जिनको शिव ने मुक्ति का पात्र समझ लिया वे सब परमनिर्मल ऊर्ध्वलोक में शिवपद को प्राप्त होते हैं ॥ ६१ ॥

अनुध्याता = जिनके ऊपर शक्तिपात हो चुका है वे लोग । जैसा कि

'यया विना न सर्वज्ञः शिवः सा शक्तिरैश्वरी ।
या सा शिवप्रयुक्ता तु पशूनां मोक्षयेत्ततः ॥
पतेद् दीक्षानुसन्धाने दीक्षा ज्ञानादिलक्षणा ।' इति ।

ऊर्ध्वमिति शिवैक्यप्राप्तिरेवैषामूर्ध्वगतिरित्यर्थः ॥ ६१ ॥

तथा—

विद्याया भाजनं तिर्यङ्मन्त्ररूपा भवन्ति वै ।

तदुक्तमन्यत्र—

'विद्याविद्येशत्वं त्वपरा मुक्तिः............ ।' (त०सं० ५१) इति ॥

किं च—

संसारभाजनं ये तु मलकर्मकलान्विताः ॥ ६२ ॥
अधस्तात्ते व्रजन्त्यत्र घोरेऽध्वन्यतिदारुणे ।

मलोऽख्यात्यात्मक आणवः, शुभादिवासनात्मकं कर्म, कलादिकं तु मायीयम् । घोरे भेदमये । अतिदारुणे दुःखबहले ॥ ६२ ॥

श्रीश्रीकण्ठी संहिता में कहा गया—

'जिसके बिना शिव सर्वज्ञ नहीं हो सकते वह ईश्वर की शक्ति है । शिव के द्वारा प्रयुक्त वह पशुओं को मुक्त करती है । वह दीक्षा के अनुसन्धान में निहित रहती है । दीक्षा ज्ञान आदि (= क्रिया) को कहते हैं ।'

ऊर्ध्व—शिव के साथ एक हो जाना ही इन (जीवात्माओं) की ऊर्ध्वगति होती है ॥ ६१ ॥

तथा—

जो आत्मायें तिर्यक् निकलती हैं वे मन्त्र रूप होती हैं और शुद्धविद्या तत्त्व में निवास करती हैं ॥ ६२- ॥

वही अन्यत्र कहा गया—

'(शुद्ध) विद्यातत्त्व में विद्येश होना अपरा मुक्ति है । (त.सं. ५१)

इसके अतिरिक्त—

जो आत्मायें मल, कर्म एवं कला से युक्त होने के कारण सांसारिकता का पात्र होती हैं वे नीचे अत्यन्त दारुण एवं घोर अध्वा में पतित होती हैं ॥ -६२-६३- ॥

मल = अख्याति रूप आणव मल[1] । कर्म = शुभ अशुभ वासना । कला = माया से उत्पन्न (कला विद्या आदि) । घोर = भेदमय । अति दारुण = दुःख से भरा ॥ ६२ ॥

---

१. स्वातन्त्र्यहानिर्बोधस्य स्वातन्त्र्यस्याप्यबोधता ।
द्विधाऽऽणवं मलमिदं स्वस्वरूपापहानितः ॥ (ई.प्र. २।२।४)

एवं प्रसङ्गाद् मन्त्राणां बद्धमुक्तानां च स्वरूपं प्रतिपाद्य प्रकृतामेव तात्त्वीं सृष्टिं दर्शयति—

तस्मात् कला समुत्पन्ना विद्या रागस्तथैव च ॥ ६३ ॥
कालो नियतितत्त्वं च पुंस्तत्त्वं प्रकृतिस्तथा ।

केवलमेतदुच्यते कञ्चुकपञ्चकवलिताः पुमांसो भोक्तारः, भोग्यसामान्यरूपा च प्रकृतिर्युगपदेव मायातः सम्भूताः, भोक्तृभोग्ययोः परस्परापेक्षित्वात्, अतोऽत्र कलादीनां युगपदेव तस्मादिति मायातत्त्वादुद्भव उक्तः । श्रीमालिनीविजये तु कलातो विद्यादिचतुष्टयं प्रकृतिश्च, श्रीरौरवादौ तु कला रागविद्ये प्रसूय, अव्यक्तं जनितवतीत्यादिरागमेषु यः क्रम उक्तः तथा क्वचित् कञ्चुकानां चतुष्टयं क्वचित्त्रयमिति सङ्ख्यान्यथाभावोऽपि दृश्यते, न तत्र भ्रमितव्यम् ।

'कदलीगर्भदलवन्मोदकादिरसादिवत् ।
कदम्बगोलवच्चित्राः कञ्चुकाश्चित्रसंविदः ॥'

इति श्रीत्रिकसारनिरूपितनीत्या कश्चिद्रज्यन्वेत्ति कश्चिच्च विदन्रज्यतीत्यादिः

इस प्रकार प्रसङ्गवश मन्त्रों एवं बद्ध मुक्त आत्माओं के स्वरूप का प्रतिपादन कर प्रकरणप्राप्त तत्त्वसृष्टि को बतलाते हैं—

उस (= मायातत्त्व) से कला, विद्या, राग, काल और नियति तत्त्व तथा पुरुष और प्रकृति तत्त्व उत्पन्न हुए ॥ -६३-६४- ॥

केवल यह कहा जाता है—पाँच कञ्चुकों से वलित (= आवेष्टित) पुरुष भोक्ता है । प्रकृति सामान्यभोग्य रूपा है । ये दोनों मायातत्त्व से उत्पन्न हुये हैं क्योंकि भोक्ता और भोग्य परस्परापेक्ष होते हैं । इसलिये इस शास्त्र में उस मायातत्त्व से कला आदि की उत्पत्ति एक साथ कही गयी है । मालिनीविजयतन्त्र में विद्या आदि चार तथा प्रकृति की उत्पत्ति कला से मानी गयी है । श्री रौरव आदि शास्त्रों में कला तत्त्व राग और विद्या को उत्पन्न करने के बाद अव्यक्त को उत्पन्न की—इस प्रकार भिन्न-भिन्न आगमों में जो क्रम कहा गया, इसके अतिरिक्त कहीं चार कञ्चुकों की कही तीन कञ्चुकों की भिन्न-भिन्न सङ्ख्या दिखलायी गयी इस विषय में भ्रम नहीं करना चाहिये ।

'विचित्र कञ्चुक केले के गर्भ में स्थित पत्ते के समान, मोदक आदि के रस (= स्वाद) आदि के समान, कदम्बपुष्प के गोलक के समान चित्रसंविद (= विचित्र प्रतीतिवाले) हैं ।'

पुंसां विचित्रप्रतीतिक्रमानुसारी कञ्चुकक्रमोऽन्यथाऽन्यथा च सम्भाव्यते, प्रतिपुं कलादितत्त्वक्रमस्योक्तत्वादिति तदनुसारं तत्तच्छास्त्रावतारकैस्तथा तथा क्रमभेदमात्र-प्रतिपादनमेतत् कृतम्, अन्तर्भावानन्तर्भावाच्च सङ्ख्याभेदोऽपि दर्शितः । वस्तुतश्च किञ्चित्करोमीत्यादिप्रतीतिपञ्चकाक्षिप्ततत्त्वपञ्चककञ्चुकवलिताः पुमांसो भोक्तारः, किञ्चिदंशात्मा भोग्यसामान्यरूपा प्रकृतिर्मायातो युगपदेव उद्भूता इति एतत्तन्त्रोक्त-मेव ज्यायः प्रतिभाति ॥

अथ—

सत्त्वं रजस्तमश्चैव प्रकृतेस्तु गुणास्त्रयः ॥ ६४ ॥

त्रिरूपं गुणतत्त्वं जातमित्यर्थः ॥ ६४ ॥

एतद् व्यापारभेदेन विभजति—

सत्त्वं प्रकाशजनकं प्रवृत्तिजनकं रजः ।
तमोऽवष्टम्भकं प्रोक्तं विज्ञेयं तु गुणत्रयम् ॥ ६५ ॥

अवष्टम्भकमावारकम् । अत्र सर्वत्रोपपत्तिः प्रागेव (२।६६) दर्शिता ॥ ६५ ॥

त्रिकसार में निरूपित उक्त रीति के अनुसार कोई रागयुक्त होता हुआ अनुभव करता है और कोई अनुभव करता हुआ रागान्वित होता है । इस प्रकार पुरुषों के कञ्चुकक्रम की प्रतीति का क्रम विचित्र होता है । यह क्रम प्रत्येक पुरुष में भिन्न-भिन्न सम्भव होता है क्योंकि प्रति पुरुष कला आदि तत्त्व का क्रम कहा गया है । इसलिये तत्तत् शास्त्रनिर्माताओं ने क्रमभेद का भिन्न-भिन्न प्रकार से प्रतिपादन किया है । और इन (कञ्चुकों का एक दूसरे में) अन्तर्भाव और अनन्तर्भाव के कारण सङ्ख्या का भेद भी दिखलाया है । वस्तुतः 'कुछ कर रहा हूँ' ('कुछ जान रहा हूँ अमुक के प्रति राग है, मेरा इतना समय है, मैं सीमित हूँ) इन पाँच अनुभवों से आक्षिप्त (कला आदि) पाँच तत्त्वरूपी कञ्चुक से आवेष्टित पुरुष ही भोक्ता हैं । और किञ्चिद् अंशवाली भोग्यसामान्यरूपा प्रकृति है । ये सब माया से एक साथ उद्भूत हुए हैं—ऐसा इस तन्त्र का कथन ही अधिक समीचीन मालूम पड़ता है ॥

इसके बाद—

प्रकृति से सत्त्व, रजस् और तमस् ये तीन गुण प्रादुर्भूत हुए ॥ -६४॥

अर्थात् तीन रूपों वाला गुण तत्त्व उत्पन्न हुआ ॥ ६४ ॥

व्यापार के भेद से इसका विभाग करते हैं—

सत्त्वगुण प्रकाश का जनक और रजोगुण प्रवृत्ति (movemant) का जनक है। तमोगुण को अवष्टम्भक (= आवरक) जानना चाहिये । इस प्रकार तीनों गुणों को समझना चाहिये ॥ ६५ ॥

गुणत्रयेऽधिष्ठातृदेवता आह—

सत्त्वं ब्रह्मा रजो विष्णुस्तमो रुद्रः प्रकीर्तितः ।

सामानाधिकरण्योक्त्याऽधिष्ठात्रभेद एवादिष्टः । अधिष्ठातारोऽपि व्यापारभेदात् त्रयः, वस्तुतस्त्वेक एव परमेश्वरस्तत्तद्व्यापार इति ॥

पूर्वोपक्रान्तमेवार्थं भावप्रत्ययभङ्ग्या प्रथयति—

ब्रह्मत्वे सृजते लोकान् विष्णुत्वे स्थितिकारकः ॥ ६६ ॥
रुद्रत्वे संहरेत् सर्वं जगदेतच्चराचरम् ।

एतदनुसारतश्च—

जाग्रत्स्वप्नसुषुप्तं च तिस्रोऽवस्थाश्च तद्गताः ॥ ६७ ॥

तद्गता इति सत्त्वादिगुणवशोत्थिता इत्यर्थः ॥

अथ—

गुणेभ्यो धिषणा जाता..............

अवष्टम्भक = आवरण करने वाला । इस सबकी सिद्धि पहले ही (स्व.तं. २।६६ में) दिखलायी जा चुकी है ॥ ६५ ॥

तीनों गुणों की अधिष्ठात्री देवताओं को बतलाते हैं—

सत्त्व को ब्रह्मा, रजस् को विष्णु और तम को रुद्र बतलाया गया है ॥ ६६- ॥

('सत्त्वं ब्रह्मा' इत्यादि) समान विभक्ति के कथन से (इन गुणों का उनके) अधिष्ठाताओं से अभेद बतलाया गया । अधिष्ठाता लोग भी अपने-अपने भिन्न व्यापार के कारण तीन हैं । सच तो यह है कि एक ही परमेश्वर भिन्न-भिन्न व्यापार वाला है ॥

पहले बतलाये गये विषय को ही भावप्रत्यय की भङ्गिमा के द्वारा स्पष्ट करते हैं—

(परमेश्वर) ब्रह्मा हो कर लोकों की सृष्टि करते हैं विष्णु बन कर संसार का पालन करने वाले होते हैं । रुद्र हो कर इस समस्त चराचर जगत् का संहार करते हैं ॥ -६६-६७- ॥

और इसके अनुसार—

उनमें जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति तीनों अवस्थायें रहती हैं ॥ -६७ ॥

तद्गता = सत्त्व आदि गुणों के कारण उत्पन्न ॥

इसके बाद—

धिषणा बुद्धिः ॥

सा च—

..............भावभेदैः समन्विता ।

भावा धर्मादयः, भेदाश्च अहङ्कारेन्द्रियादयो वक्ष्यमाणाः ॥

किं च—

ब्रह्मा तत्राधिपत्येन बुद्धितत्त्वे व्यवस्थितः ॥ ६८ ॥
सर्वज्ञं च तमेवाहुर्बौद्धानां परमं पदम् ।

तमेव ब्रह्माणं सर्वज्ञम् न तु सर्वकर्तारम्, बौद्धानां परमं पदं मोक्षधाम आगमिकाः कथयन्ति । 'सर्व एव तदेवाहुः' इति पाठः सर्व एवागमिका बुद्धितत्त्वं बौद्धानां परमं पदमाहुरिति व्याकार्यः ॥

एवमुत्पत्तिप्रतिपादनप्रसङ्गेन बुद्धिवृत्त्यात्मकहर्षविषादादिरूपक्षणिकज्ञानसन्ततिभावनानिष्ठानां बौद्धानां बुद्धितत्त्वप्राप्तिरेव मोक्ष इति प्रतिपाद्य, वाद्यन्तराभिमतप्राप्यपदरूपान् मोक्षाभासान् प्रदर्श्य शैवानां सर्वोत्तमसत्यमोक्षभाजनत्वमिति स्फुटयति । यदुक्तं पुरस्तात्—

'इत्येवंवादिनां तेषां वादानां तु शतत्रयम् ॥
त्रिषष्टिरधिकाश्चान्ये वादिनां भ्रान्तचेतसाम् ।
अज्ञानतिमिरान्धानामुन्मीलनकृदुत्तमम् ॥' (१०।६८०-६८१)

इत्यादि । तत्र—

गुणेष्वारहतानां च प्रधानं वेदवादिनाम् ॥ ६९ ॥

परमं पदमिति सम्बन्धः, एवमुत्तरत्र । आर्हता हि लोकपञ्जरस्थानीयशोकमोहाद्यावरणस्य तप्तशिलारोहादितपोवशात् प्रशमे सुखसंविदात्मकपुद्गलान्मज्जनान्मुक्तिमाहुः, सुखं च सत्त्वगुणरूपमिति गुणेषु स्थिताः इति ॥ ६९ ॥

ते हि—

'अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीः प्रजाः सृजमानां सरूपाः ।
अजो ह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येनां भुक्तभोगामजोऽन्यः ॥' (श्वे० ४।५)

इत्यादि वदन्तः प्रायः प्रकृतिमेव परं पदमित्याहुः । तदुक्तं गीतासु—

गुणों से धिषणा उत्पन्न हुई ॥ ६८- ॥

धिषणा = बुद्धितत्त्व ॥

और वह—

भावों तथा भेदों से युक्त है ॥ -६८- ॥

भाव = धर्म आदि (= अर्धम ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य, अवैराग्य, ऐश्वर्य, अनैश्वर्य) । भेद = वक्ष्यमाण अहङ्कार इन्द्रियाँ आदि ॥

और भी—

वहाँ बुद्धितत्त्व में ब्रह्मा अधिपति के रूप में स्थित हैं । उस सर्वज्ञ (ब्रह्मा) को बौद्धों का परम पद मानते हैं ॥ -६८-६९- ॥

उस सर्वज्ञ ब्रह्मा को ही न कि सर्वकर्त्ता को, आगामिक लोग बौद्धों का (परम पद =) मोक्षधाम, बतलाते हैं । 'सर्व एव तत् एव आहुः'—ऐसा पाठ मानने पर, सर्व एव = सभी आगमिक, तत् एव = बुद्धितत्त्व को ही, बौद्धों का परमपद मानते हैं—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये ॥

इस प्रकार उत्पत्तिप्रतिपादन के प्रसङ्ग से बुद्धि में रहने वाली वृत्तिस्वरूप हर्ष विषाद आदि रूप क्षणिक भावनाओं में रहने वाले बौद्धों के मत में बुद्धितत्त्व की प्राप्ति ही मोक्ष है—इसका प्रतिपादन कर, अन्य सिद्धान्त वालों के द्वारा मान्य तथा प्राप्य पद रूप मोक्षाभासों को बतला कर शैव साधक ही सर्वोत्तम सत्य रूप मोक्ष के पात्र हैं—इसको स्पष्ट करते हैं । जैसा कि पहले कहा गया—

'ऐसा कहने वाले उन भ्रान्तचित्त लोगों के तीन सौ तिरसठ वाद (= मत) हैं । ऐसे जो लोग अज्ञानतिमिर से अन्धे हो गये हैं, यह शास्त्र उन के नेत्रों का उत्तम उन्मीलनकारी है ।' (१०।६८०-६८१) इत्यादि में वहाँ—

गुणों में आस्था रखने वाले आरहत (= जैन दार्शनिक) हैं । अन्य विद्वान् जो कि वेद को भी मानने वाले हैं, प्रधानतत्त्व को (ही परमपद मानते हैं) ॥ -६९ ॥

'परम पद है' ऐसा अन्वय है । इसी प्रकार आगे भी सम्बन्ध जोड़ लेना चाहिये । जैन मतानुयायी लोग लोकरूपी पिंजड़े में स्थित शोक मोह आदि आवरण का तप्त शिला पर बैठने आदि तपस्या के बल से, उपशम होने पर सुखसंविदस्वरूप पुद्गल के उन्मज्जन से मुक्ति मानते हैं और वह सुख सत्त्वरूप है । इस प्रकार वे गुणों में स्थित (= आस्थावान्) है ॥ ६९ ॥

वे (= वेदवादी) लोग—

'रक्त श्वेत कृष्ण रूपों वाली, एक समान बहुत सी प्रजाओं की सृष्टि करने वाली एक अंजा (= प्रकृति) को एक अज (= पुरुष) जुषमाण (= प्रेम करता हुआ, अनुशयन करता है (= उसके स्वरूप को अपना स्वरूप समझता है) । दूसरा अज (= पुरुष इसके) भोगों का भोग कर लेने के बाद इसको छोड़ देता है ।' (श्वे.उ. ४।५)

इत्यादि कहने वाले प्रकृति को ही परम पद मानते हैं । वही गीता में कहा

'त्रैगुण्यविषया वेदाः' (भ०गी० २।४५)

पौरुषं चैव सांख्यानां सुखदुःखादिवर्जितम् ।

तेषां हि सुखदुःखाद्यात्मकप्रकृतिविविक्तचितिशक्तिमात्ररूपस्वरूपावाप्तिर्मोक्षः ॥

षड्विंशकं च देवेशि योगशास्त्रे परं पदम् ॥ ७० ॥

षड्विंशमेव षड्विंशकम् यद्यपि—

'तदा द्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्' (यो०सू० १।३)

इत्युक्त्या विविक्तपुंरूपतावाप्तिर्योगस्थैर्मोक्ष उक्तः, तथापि—

'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः' (यो०सू० १।२४)

इत्येतत्सूत्रभाष्ये भगेवता व्यासमुनिना प्राग्बन्धकोटिवद्भ्यो मुक्तपुरुषेभ्योऽपीश्वरस्य नित्यनिर्मुक्तत्वनित्यैश्वर्ययोगरूपो विशेषो दर्शित इति पञ्चविंशसङ्ख्यकमुपेक्ष्य, तदनुग्रहकारि षड्विंशकमीश्वररूपं परमं पदं योगशास्त्रे दर्शितम् ॥ ७० ॥

गया—

समस्त वेद त्रिगुणविषयक हैं (हे अर्जुन ! तुम त्रिगुणरहित बनो) (भ.गी. २।४५)

सांख्यों के (मत में) सुख दुःख आदि से रहित पौरुष (स्वरूप की प्राप्ति ही मोक्ष) है ॥ ७०- ॥

उनके (मत में) सुखदुःख स्वरूप प्रकृति से भिन्न चितिशक्तिमात्र रूप जो स्वरूप है उसकी प्राप्ति ही मोक्ष है ॥

हे देवेशि ! योगशास्त्र के अनुसार छब्बीसवाँ (= ईश्वर) तत्त्व परम पद है ॥ -७० ॥

'षड्विंशक' पद में स्वार्थ में कन् प्रत्यय जुड़ा है । यद्यपि—

'उस समय (= चित्तवृत्तिनिरोध होने पर) द्रष्टा की स्वरूप में स्थिति होती है ।' (यो.सू. १।३)

इस उक्ति से योगदार्शनिक विविक्त (= प्रकृति से पृथक्) पुरुष रूपता की प्राप्ति को मोक्ष कहते हैं तथापि—

'जो क्लेश कर्मविपाक और उसके आशय (= वासना या संस्कार) से अपरामृष्ट पुरुषविशेष है वह ईश्वर है ।' (यो.सू. १।२४)

इस सूत्र के भाष्य में भगवान् व्यासमुनि ने पहले बन्धनयुक्त और बाद में मुक्त पुरुषों की अपेक्षा ईश्वर का नित्यनिर्मुक्तत्व और नित्यऐश्वर्ययुक्तत्वरूप वैशिष्ट्य दिखलाया है इसलिये पचीस वाले मत की उपेक्षा कर उस (= पचीसवें अर्थात् पुरुष तत्त्व) के प्रति अनुग्रह करने वाले ईश्वर रूप छब्बीसवें तत्त्व को ही योग

व्रते पाशुपते प्रोक्तमैश्वरं परमं पदम् ।

'लाकुलं मौसुलं चैव द्विधा तन्त्रं प्रकीर्तितम् ।'

इति द्विधा यत्पाशुपतं, ततो मौसुलस्य निर्णेष्यमाणत्वाद् लकुलेशप्रतिपादितमेवेह पाशुपतव्रतमुच्यते । तत्र चेश्वरतत्त्वावाप्तिरेव परमं पदम् । पूर्वमेव—

'व्रतं पाशुपतं दिव्यं ये चरन्ति जितेन्द्रियाः ।
भस्मनिष्ठा जपध्यानास्ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम् ॥' (१०।११७०)

इत्युक्तम् ॥

पाशुपतभेद एव तु क्रियाप्रधाने—

मौसुले कारुके चैव मायातत्त्वं प्रकीर्तितम् ॥ ७१ ॥

श्रीलकुलेशशिष्येण मुसुलेन्द्रेण कारोहणस्थानावतीर्णेन चापरेण मायातत्त्वगतक्षेमेशब्रह्मस्वामिप्राप्तिहेतुक्रियाबहुलाः स्वे स्वे शास्त्रे व्रतविशेषा उक्ता इति मायातत्त्वमेव तत्र परमं पदम् ॥ ७१ ॥

तथा च मायातत्त्वनिविष्टः—

क्षेमेशो ब्रह्मणः स्वामी तेषां तत्परमं पदम् ।

शास्त्र में परमपद बतलाया है ॥ ७० ॥

पाशुपत व्रत में ईश्वर को परमपद कहा गया है ॥ ७१- ॥

'तन्त्र दो प्रकार का कहा गया है—लाकुल और मौसुल ।'

इस प्रकार पाशुपत मत जो दो प्रकार का कहा गया उनमें से चूँकि मौसुल की चर्चा आगे करेंगे इसलिये लकुलेश के द्वारा प्रतिपादित मत ही यहाँ पाशुपत व्रत कहा जाता है । इस मत में ईश्वर तत्त्व की प्राप्ति ही परमपद कहा जाता है । पहले ही कह दिया गया है—

'जो लोग जितेन्द्रिय होकर भस्म धारण कर जप और ध्यान करते रहते हैं । वे ऐश्वर पद को प्राप्त करते हैं ॥ (१०।११७०)

पाशुपत मत के ही क्रियाप्रधान भेद वाले—

मौसुल और कारुक मत में माया तत्त्व (परमपद) कहा गया है ॥ -७१ ॥

श्रीलकुलीश के शिष्य मुसुलेन्द्र तथा कारोहण स्थान में जन्म लेने वाले अन्य (= कारुक) इन दोनों आचार्यों ने माया तत्त्व में स्थित क्षेमेश ब्रह्म स्वामी की प्राप्ति के हेतुभूत विशिष्टव्रतों को अपने-अपने शास्त्र में कहा है । इस प्रकार उन (आचार्यों के मत) में माया तत्त्व ही परमपद है ॥ ७१ ॥

तथा माया तत्त्व में निविष्ट—

यथासङ्ख्येन ॥

येऽपि वैमलाख्याः पाशुपतभेदाः, तथा पञ्चार्थप्रमाणाष्टकोक्तोपासापराः परे, तेषामीश्वरतत्त्वगततेजेशध्रुवेशौ परं पदमित्याह—

तेजेशो वैमलानां च प्रमाणे च ध्रुवं पदम् ॥ ७२ ॥

वैमलप्रमाणशास्त्रनिष्ठो हि—

दीक्षाज्ञानविशुद्धात्मा देहान्तं याव चर्यया ।
कपालव्रतमास्थाय स्वं स्वं गच्छति तत्पदम् ॥ ७३ ॥

दीक्षाज्ञानविशुद्धात्मेतिपदेन प्रोक्तक्रियाप्रधानव्रतमात्रनिष्ठमौसुलकारुकेभ्योऽत्र विशेषो दर्शितः । स्वं स्वं प्रोक्ततेजेशध्रुवेशरूपम् । यदुक्तं पुरस्तात्—

'तेजेशश्च ध्रुवेशश्च प्रमाणानां परं पदम्' (१०।११७४)

इति ॥ ७३ ॥

ये तु कपालाद्यस्थिव्रतधारिणः पूर्वोक्तलाकुलाम्नायात्—

क्षेमेश ब्रह्मा के स्वामी हैं । इसलिये उन (मुसुलेन्द्र आदि) का वह (= माया तत्त्व) परम पद है ॥ ७२- ॥

(यह परमपद का निर्धारण) यथासङ्ख्य है (= यथा क्रम है अर्थात् लकुलेश का ईश्वर तत्त्व और मौसुल आदि का माया तत्त्व परमपद है) ॥

और जो वैमल नामक पाशुपत मत के भेद हैं तथा दूसरे जो पञ्चार्थ—प्रमाणाष्टक में उक्त उपासनाक्रम को मानने वाले हैं; उनका परम पद ईश्वर तत्त्व में स्थित तेजेश और ध्रुवेश हैं—यह कहते हैं—

वैमलों का परम पद तेजेश और प्रमाणाष्टकोक्त उपासकों का ध्रुव है ॥ -७२ ॥

वैमलप्रमाण शास्त्र ने आस्था रखने वाला (साधक)—

दीक्षा एवं ज्ञान के द्वारा शुद्धचित्त वाला होकर देहान्त तक चर्या के द्वारा कपालव्रत का पालन कर अपने-अपने परम पद को प्राप्त होता है ॥ ७३ ॥

'दीक्षा एवं ज्ञान के द्वारा विशुद्ध आत्मा वाला' इस पद से उपर्युक्त केवल क्रियाप्रधान व्रत में निष्ठा रखने वाले मौसुल और कारुकों की अपेक्षा इसमें वैशिष्ट्य बतलाया गया है । अपने-अपने = उपर्युक्त तेजेश और ध्रुवेश रूप । जैसा कि पहले कहा गया—

'तेजेश और ध्रुवेश ये प्रमाणों के परम पद हैं' ॥ ७३ ॥ (१०।११७४)

'भस्मनि शयीत' (१।३)

इत्यादिपाशुपतशास्त्रचोदनातः—

जपभस्मक्रियानिष्ठास्ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम् ।

अत्र मध्ये मौसुलादिविषयां मायातत्त्वावस्थितिमुल्लङ्घ्य—

'व्रते पाशुपते प्रोक्तमैश्वरं परमं पदम्' (११।७१)

इति यद् व्युत्क्रमेणोक्तम्, तन्मौसुलादीनां पाशुपतभेदप्रदर्शनाय ॥

तदेवमा बौद्धेभ्यो लाकुलान्तास्तत्त्वाध्वभोगभाजः न तु मुक्ताः । ये तु षट्-स्रोतोभेदभिन्नं शैवशास्त्रमास्थिताः, तेषाम्—

सर्वाध्वनो विनिष्क्रान्तं शैवानां तु परं पदम् ॥ ७४ ॥

उक्तं चान्यत्र—

'वेदादिभ्यः परं शैवं...................... ।'[1] इति ।

और जो कपाल आदि अस्थि का व्रत करने वाले हैं तथा पूर्वोक्त लाकुल आम्नाय के अनुसार—

'भस्म के ऊपर सोना चाहिये' (१।३)

इत्यादि पाशुपत शास्त्र के विधिवाक्य के अनुसार—

जप और भस्म क्रिया करने वाले हैं वे ईश्वर पद को प्राप्त होते हैं ॥ ७४- ॥

बीच में मौसुल आदि विषय वाली मायातत्त्वान्तर्वर्तिनी स्थिति का उल्लङ्घन कर—

'पाशुपत व्रत (किये जाने) पर (साधक को) ऐश्वर परम पद प्राप्त होता है ।' (११।७१)

यह जो व्युत्क्रम से कहा गया वह कथन मौसुल आदि का पाशुपत मत से भेद बतलाने के लिये हैं ॥

तो इस प्रकार बौद्धों से लेकर लकुलीशपर्यन्त साधक तत्त्वाध्वा का केवल भोग करते हैं; वे मुक्त नहीं होते और जो षट्स्रोत (= भगवान् शिव के ईशान, तत्पुरुष, सद्योजात, वामदेव, अघोर तथा अधोवक्त्र नामक छह मुखों से निकले छह सम्प्रदाय) भेद से भिन्न शैवशास्त्र में आस्था रखने वाले हैं उन—

शैवों का परमपद समस्त अध्वा से परे है ॥ -७४ ॥

अन्यत्र कहा भी गया है—

---

१. वेदाच्छैवं ततो वामं ततो दक्षं ततः कुलम् ।
ततो मतं ततश्चापि त्रिकं सर्वोत्तमं परम् ॥ (तं०आ० ५।४९)

यत्तु—

'..................शैवाद्वामं तु दक्षिणम् ।
दक्षिणात्परतः कौलं कौलात्परतरं नहि ॥'

इत्युच्यते, तत् शिवप्रोक्तशास्त्राणामवान्तरवैचित्र्यप्रतिपादनाभिप्रायेणैव । शैवाद्वाममित्यत्र हि शैवशब्देनानुत्तीर्णशिवपदप्रापकं कैरणादि सिद्धान्तशास्त्रमुच्यते ॥ ७४॥

तदेवं प्रासङ्गिकमेतन्निर्णीय प्रकृतमाह—

बुद्धितत्त्वादहङ्कारः पुनर्जातस्त्रिधा प्रिये ।
सात्त्विको राजसश्चैव तामसश्च प्रकीर्तितः ॥ ७५ ॥

पारिभाषिकसञ्ज्ञाभेदस्तु प्रातिलोम्यक्रमेण—

भूतादिर्वैकृतश्चैव तैजसश्च त्रिधा स्थितः ।

तत्र—

तन्मात्राण्यथ भूतादेस्तेभ्यो भूतान्यजीजनत् ॥ ७६ ॥

परमेश्वर इति शेषः । भूतानां स्थूलसूक्ष्माणामादिः कारणमिति व्युत्पत्तितोऽपि भूतादिः ॥

'वेद आदि से उत्कृष्ट शैव शास्त्र है........ ।'

और जो

'..........शैव से वाम, वाम से दक्षिण, दक्षिण से कौल उत्कृष्टतर है । कौल से बढ़कर (कोई शास्त्र) नहीं है ।'

यह कहा जाता है वह शिवोक्त शास्त्रों के अवान्तर वैचित्र्य को बतलाने के अभिप्राय से । 'शैवाद् वामम्' यहाँ पर शैव शब्द से अनुत्तीर्ण शिवपद को देने वाला कैरण आदि सिद्धान्तशास्त्र कहा जाता है (न कि त्रिक शास्त्र) ॥ ७४ ॥

तो इस प्रकार प्रसङ्गतः प्राप्त इसका निर्वचन कर प्रस्तुत का वर्णन करते हैं—

हे प्रिये ! पुनः बुद्धितत्त्व से तीन प्रकार का अहङ्कार पैदा हुआ । (वह तीन प्रकार) सात्त्विक राजस और तामस कहा गया है ॥ ७५ ॥

पारिभाषिक नाम का भेद उल्टे क्रम से (जानना चाहिये)—

(वह है) भूतादि (= तामस अहङ्कार) वैकृत (= राजस अहङ्कार) और तैजस् (= सात्त्विक अहङ्कार) है ॥ ७६- ॥

उस (त्रिविध अहङ्कार) में—

परमेश्वर ने भूतादि से तन्मात्राओं को और उन (= तन्मात्राओं) से पाँच महाभूतों को उत्पन्न किया ॥ -७६ ॥

तन्मात्राण्याह—

शब्दः स्पर्शश्च रूपं च रसो गन्धश्च पञ्चमः ।
एतानि पञ्च ख्यातानि तन्मात्राणि........

एषां मध्ये—

..........क्रमेण तु ॥ ७७ ॥
शब्दाद् व्योम समुत्पन्नं स्पर्शाद्वायुस्तथा पुनः ।
रूपात्तेजः समुत्पन्नमापो जाता रसात् पुनः ॥ ७८ ॥
गन्धात्तु पृथिवी जाता...........

स्पर्शादयो यथोत्तरं पूर्वपूर्वतन्त्रमात्रसहिता वाय्वादीनां द्व्यादिगुणानां कारणमिति समानतन्त्रादनुसर्तव्यम् ॥

तदेतत् तन्मात्रभूतजन्म—

.........समासात् कथितं तव ।

किं च—

कर्मेन्द्रियाणि जातानि तस्माद्वैकारिकादथ ॥ ७९ ॥

परमेश्वर—यह शेष है । (भूतादि शब्द का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ बतलाते हैं—) स्थूल एवं सूक्ष्म भूतों का आदि = कारण, इस विग्रह से भी भूतादि (नाम पड़ा) ॥

तन्मात्राओं को बतलाते हैं—

शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध इस प्रकार ये पाँच तन्मात्रायें बतलायी गयी हैं ॥ ७७- ॥

इनमें से—

क्रमशः शब्दतन्मात्रा से व्योम, स्पर्शतन्मात्रा से वायु, रूप से तेज, रस से जल और गन्धतन्मात्रा से पृथिवी उत्पन्न हुई ॥ -७७-७९- ॥

स्पर्श आदि क्रमशः उत्तरोत्तर पूर्व-पूर्व तन्मात्रा के साथ दो आदि गुणों वाले वायु आदि का कारण है ऐसा समान तन्त्र से मानना चाहिये । (स्पष्टार्थ यह है कि आकाश केवल शब्दतन्मात्रा से, वायु शब्दस्पर्श दो तन्मात्राओं से, तेज शब्द स्पर्श रूप तीन तन्मात्राओं से उत्पन्न हुआ है । इसी प्रकार जल और पृथिवी क्रमशः चार और पाँच तन्मात्राओं से उत्पन्न हुए हैं । इसीलिये आकाश का केवल एक गुण शब्द है किन्तु वायु आदि में पूर्व-पूर्व भूतों के भी गुण निहित हैं) ॥

तो इस प्रकार तन्मात्राओं और (पाँच महा—) भूतों का जन्म—

संक्षेप में तुमको बतलाया गया ॥ -७९- ॥

तथा—

विकारोऽन्यान्यरूपतात्मकं चाञ्चल्यं प्रयोजनं यस्य तद्वैकारिकं राजसमिह विवक्षितम् । अथेति पादपूरणाय ॥ ७९ ॥

कानि तानीत्याह—

वाक्पाणिपादं पायुश्च उपस्थश्चेति पञ्चमम् ।

तथा—

बुद्धीन्द्रियाणि पञ्चैव तैजसात्तु भवन्त्यथ ॥ ८० ॥

अथेति प्राग्वत् । तेजः प्रकाशः प्रयोजनं यस्य, तत् तैजसं सात्त्विकमिहाभिप्रेतम् ॥

तान्याह—

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चैव पञ्चमी ।

चाञ्चल्यात् सर्वविषयप्रकाशकत्वाच्च—

उस वैकारिक अहङ्कार से कर्मेन्द्रियाँ उत्पन्न हुईं ॥ -७९ ॥

(वैकारिक शब्द को स्पष्ट करते हैं—) विकार का अर्थ है—अन्य-अन्य रूपग्रहण करने वाला चाञ्चल्य । वह प्रयोजन है जिसका वह वैकारिक अर्थात् राजस अहङ्कार यहाँ विवक्षित है । (श्लोक के अन्त में आया हुआ) 'अथ' शब्द पादपूर्त्ति के लिये है (अन्यथा छन्दोभङ्ग हो जायेगा) ॥ ७९ ॥

वे (= इन्द्रियाँ) कौन हैं—यह बतलाते हैं—

वाणी, हाथ, पैर, पायु (= मलद्वार) और उपस्थ (= जननेन्द्रिय) ॥ ८०- ॥

तथा—

ज्ञानेन्द्रियाँ भी पाँच ही कही गयी हैं और वे तैजस अहङ्कार से उत्पन्न होती हैं[1] ॥ -८० ॥

यहाँ भी 'अथ' पादपूर्त्ति के लिये है । (तैजस शब्द का स्वारस्य बतलाते हैं) तेज = प्रकाश (= ज्ञान), यह प्रयोजन है जिसका वह तैजस अर्थात् सात्त्विक अहङ्कार यहाँ अभिप्रेत है ॥

उन (= बुद्धीन्द्रियों) को बतलाते हैं—

श्रोत्र, त्वक्, दोनों आँखें, जिह्वा और नासिका (ये पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ बतलायी गयी हैं) ॥ ८१- ॥

---

१. सांख्य दर्शन के अनुसार कर्मेन्द्रियाँ और ज्ञानेन्द्रियों तथा मन की उत्पत्ति सात्त्विक अहङ्कार से उत्पन्न होती है—

'सात्त्विक एकादशकः प्रवर्त्तते वैकृतादहङ्कारात् ।'

उभयात्म मनः प्रोक्तं व्याप्तृ सर्वेन्द्रियाणि तु ॥ ८१ ॥

व्याप्तृ इति तृन्प्रत्ययः, अत एव सर्वेन्द्रियाणीत्यत्र षष्ठ्यभावः । श्रीपूर्वशास्त्रे तु—

'..........तैजसात्तस्मान्मनोऽक्षेशमजायत ।
वैकारिकात्ततोऽक्षाणि...................... ॥' (१।३१)

इति प्रक्रियाभेदमात्रमस्ति ॥ ८१ ॥

तदेवंप्रतिपादितोत्पादक्रमाणि सर्वाण्येतानि तत्त्वानि—

आत्मोपकारकाण्येव कथितानि यथार्थतः ।

वक्ष्यमाणविभागस्यात्मनो लौकिकालौकिकभोगतत्साधनतदाश्रयादिदानेन यथार्थेन निजनिजानुरूपप्रयोजनसम्पादनेनैतान्युपकारकाण्येव ॥

अतश्चैतत्कृतविचित्रोपस्कार आत्मा विचित्ररूप इत्याह—

आत्मा चैवान्तरात्मा च बाह्यात्मा चैव सुन्दरि ॥ ८२ ॥
निरात्मा परमात्मैतान् कथयामि समासतः ।

चाञ्चल्य एवं सर्वविषयक ज्ञान कराने के कारण—

मन को उभयात्मक (= कर्मेन्द्रिय और ज्ञानेन्द्रिय दोनों) कहा गया है । यह समस्त इन्द्रियों का व्यापक है ॥ -८१ ॥

'व्याप्तृ' यहाँ पर 'तृन्' (पा०सू० ३।२।१३५) से तृन् प्रत्यय हुआ है । इसलिये 'सर्वेन्द्रियाणि' यहाँ षष्ठी विभक्ति नहीं है । मालिनीविजयतन्त्र में तो—

'............तैजस उस (= अहङ्कार) से अक्षेश (= इन्द्रियों का स्वामी = मन) उत्पन्न हुआ । वैकारिक उससे इन्द्रियाँ.......' (मा.वि.तं. १।३१)

ऐसा केवल प्रक्रियाभेद है (किन्तु सबकी उत्पत्ति अहङ्कार से ही मानी गयी है) ॥ ८१ ॥

तो इस प्रकार जिनकी उत्पत्ति के क्रम का वर्णन किया जा चुका है वे सभी तत्त्व—

आत्मा के यथार्थतः उपकारक बतलाये गये हैं ॥ ८२- ॥

जिसका विभाग आगे कहा जायेगा ऐसी आत्मा के लौकिक अलौकिक भोग, उसके साधन और उस साधन के आश्रय प्रदान करने के द्वारा तथा यथार्थ के द्वारा = अपने-अपने अनुरूप प्रयोजन सम्पादन के द्वारा, ये उपकारक ही हैं ॥

इसलिये इनके द्वारा किये गये विचित्र उपकार वाला आत्मा विचित्र रूप वाला है—यह कहते हैं—

यथा—

अबुधश्च बुधश्चैव बुध्यमानस्तथैव च ॥ ८३ ॥
प्रबुद्धः सुप्रबुद्धश्च पुनश्च कथयामि ते ।

एतानित्येव ॥

तत्र—

प्रधानसाम्यमाश्रित्य सुखदुः खविवर्जितः ॥ ८४ ॥
यदा तस्मिन् स्थितो देवि तदात्मा तु स उच्यते ।

प्रधानस्य प्रकृतिरूपस्य यत् साम्यं गुणानामन्योन्याभिभवाद्यभावात् सामरस्येनावस्थानम्, तदाश्रित्य । तस्मिन्निति प्रधान एव । सुखादिरहितः प्रकृतिलीनत्वाद् व्यामूढः । यद्वक्ष्यति—

'गुणसाम्यमनिर्देश्यमप्रतर्क्यमनौपमम् ।
तस्मिन् जगदशेषं तु प्रसुप्तमिव तिष्ठति ॥' (११।२८७)

इति । एवमेष कञ्चुकमात्रशरीरः प्रकृतिलीन आत्मेत्युक्तः ॥

हे सुन्दरि ! आत्मा, अन्तरात्मा, बाह्यात्मा, निरात्मा और परमात्मा, इनको मैं संक्षेप में बतला रहा हूँ ॥ -८२-८३- ॥

(जीव की दशा को दृष्टि में रख कर एक और वर्गीकरण हो सकता है) जैसे—

पुनः अबुध, बुध, बुध्यमान, प्रबुद्ध और सुप्रबुद्ध को तुमको बतला रहा हूँ ॥ -८३-८४- ॥

उनमें से—

हे देवि ! जब (यह जीव) प्रधानतत्त्व के साथ साम्य बना कर सुख-दुःख से रहित हुआ उस (प्रधानतत्त्व) में स्थित होता है तब वह आत्मा कहलाता है ॥ -८४-८५- ॥

प्रकृतिरूप प्रधान तत्त्व का जो, साम्य = गुणों का अन्योऽन्याभिभव न होने के कारण समरस होकर स्थित होना, उसको आधार बना कर । उसमें = प्रधान तत्त्व में ही । सुख आदि से रहित = प्रकृति में लीन होने के कारण व्यामूढ । जैसा कि कहेंगे—

'गुणों का जो साम्य है वह अनिर्देश्य, अप्रतर्क्य और अनुपम है । उसमें समस्त संसार प्रसुप्त के समान स्थित रहता है ।' (११।२८७)

इस प्रकार यह (जीव जब) कञ्चुक मात्र शरीर वाला होकर प्रकृति में लीन रहता है तब आत्मा कहा जाता है ॥

अयमेव च—

पुर्यष्टकसमायोगात् पर्यटेत् सर्वयोनिषु ॥ ८५ ॥
अन्तरात्मा स विज्ञेयो निबद्धस्तु शुभाशुभैः ।

आन्तरसूक्ष्मशरीरात्मकपुर्यारम्भकतन्मात्रपञ्चकमनोबुद्ध्यहङ्कारात्मकं पुर्यष्टकम्, तत्सम्बन्धाद्वासनारूपैः शुभाशुभैर्निबद्धः सन् योनेर्योन्यन्तरं प्रसरन्नात्मबाह्यात्मनोरन्तर्मध्येऽवस्थितत्वादन्तरात्मा ज्ञेयः ॥

एष एव तु—

बुद्धिकर्मेन्द्रियैर्युक्तो महाभूतैः समावृतः ॥ ८६ ॥
बाह्यात्मा तु सदा देवि भुङ्क्तेऽसौ विषयान् सदा ।

स्थूलदेहवानिति यावत् ॥

यदा त्वयम्—

भूतभावविनिर्मुक्तस्तत्त्वधर्मकलोज्झितः ॥ ८७ ॥
मलधर्मैकयुक्तात्मा मायाधर्मतिरस्कृतः ।
निरात्मा तु सदा ज्ञेयः..........

और यही (जब)—

पुर्यष्टक से संयुक्त होकर सब योनियों में भ्रमण करता है तब शुभाशुभ संस्कारों से निबद्ध इसे अन्तरात्मा समझना चाहिये ॥ -८५-८६- ॥

(इस स्थूल शरीर के) भीतर सूक्ष्मशरीररूप पुरी के आरम्भक पाँच तन्मात्रायें तथा मन बुद्धि और अहङ्कार ये पुर्यष्टक कहे जाते हैं । इसके सम्बन्ध से वासनारूप शुभ और अशुभ से निबद्ध होकर एक योनि से दूसरी योनि में भटकने वाले जीव को आत्मा और बाह्य आत्मा के बीच में स्थित होने के कारण अन्तरात्मा जानना चाहिये ॥

यही (अन्तरात्मा जब)—

ज्ञानेन्द्रियों कर्मेन्द्रियों और महाभूतों से समावृत होता है तब हे देवि! यह बाह्यात्मा कहा जाता है और (ऐसी स्थिति में) सदा विषयों का भोग करता है ॥ -८६-८७- ॥

स्थूलदेह वाला हो कर (भोग करता है) ॥

और जब यह—

भूतों तथा भावों से रहित, तत्त्व धर्म एवं कलाओं से परित्यक्त, केवल एक मल (आणव मल) के धर्म से युक्त तथा माया धर्म से तिरस्कृत

भूतैः स्थूलसूक्ष्मैः, भावैश्च बुद्धिधर्मैर्विनिर्मुक्तः, तत्त्वधर्मेण पुंस्तत्त्वात्मना रूपेण कलोपलक्षितेन च कञ्चुकेनोज्झितः, केवलं मलधर्मेणैवैकेनापूर्णमन्यतात्मकाणव-मलस्वभावेन युक्तः संकुचितस्वभावः, यतो मायायाः पूर्वोक्तशक्तिरूपायाः, न तु तत्त्वात्मनः, धर्मेण अख्यात्यात्मना रूपेण, तिरस्कृतः संकुचिताभासीकृतः, एवंभूतो निरात्मा, आत्मनः पूर्वोक्तपाशशतवलितात् पुंस्तत्त्वलक्षणात् स्वभावाद् निष्क्रान्तः परमेशशास्त्रदृशाऽभ्यस्तमायापुंस्तत्त्वविवेकज्ञानो विज्ञानाकल इत्यर्थः । यदुक्तं श्रीपूर्वे—

'........................तत्र विज्ञानकेवलः ।
मलैकयुक्तः.................................. ॥' (१।२३)

इति । मलकर्मैकयुक्तात्मेत्यपपाठः ॥

यदा तीव्रतमानुग्रहात् पूर्णतया स्फुरत्ययम्, तदा—

............परमात्माथ कथ्यते ॥ ८८ ॥

न तु पूर्ववत् पशुरूपः ॥ ८८ ॥

यतः—

(= रहित) हो जाता है तब इसे निरात्मा समझना चाहिये ॥ -८७-८८- ॥

भूत—स्थूल भूतों और सूक्ष्म तन्मात्राओं, भावों = धर्माधर्म आदि बुद्धि के गुणों से विनिर्मुक्त । तत्त्वधर्म = पुंस्तत्त्वरूप धर्म तथा कला से उपलक्षित कञ्चुक से उज्झित (= परित्यक्त), केवल एक मलधर्म = अपूर्णमन्यतारूप आणव मल से युक्त अर्थात् संकुचितस्वभाव वाला हो जाता है । क्योंकि पूर्वोक्त शक्तिरूपा माया के न कि तत्त्वरूप माया के, धर्म = अख्यातिरूप धर्म, से तिरस्कृत = संकुचित जैसा बना दिया जाता है । इस प्रकार का हुआ वह निरात्मा कहलाता है अर्थात् अपने सैकड़ों पाश से वलित पुंस्तत्त्वलक्षण वाले स्वभाव से, निष्क्रान्त अर्थात् पारमेश्वर शास्त्र के अनुसार माया एवं पुरुष तत्त्व के भेदज्ञान का अभ्यासी होने से विज्ञानाकल (या विज्ञानकेवली) हो जाता है । जैसा कि श्रीपूर्व शास्त्र में कहा गया—

.....उनमें से विज्ञानकेवली एक मल से युक्त होता है..... ।' (मा.वि.तं. १।२३)

(मलधर्मैकयुक्तात्मा की जगह) मलकर्मैकयुक्तात्मा पाठ असमीचीन है ॥

जब तीव्रतम अनुग्रह के कारण यह पूर्ण रूप से स्फुरित होता है तब—

परमात्मा कहा जाता है ॥ -८८ ॥

न कि पहले की भाँति पशु ॥ ८८ ॥

क्योंकि—

मलकर्मकलाद्यैस्तु निर्मुक्तश्च यदा प्रिये ।
सर्वाध्वसमतीतश्च मायामोहोज्झितश्च यः ॥ ८९ ॥
निर्मलत्वं यदा याति पदं परममव्ययम् ।
परमात्मा तदा देवि प्रोच्यते प्रभुरव्ययः ॥ ९० ॥

यत एवाणवादिमलत्रयेण निःशेषेण संसारपर्यन्तेन रूपेण मुक्तः, अत एव सर्वं समनान्तमध्ववानं सम्यक् तेषां विलापनयुक्त्याऽप्यतीतो न क्वाप्यध्वनि गृहीतात्माभिमानः, अतश्च मायामोहेनेति—

'कर्मरूपा स्थिता माया यदधः शक्तिकुण्डली' (१०।१२६३)

इति पूर्वमुक्ता या माया, तत्कृतेन मोहेन सुसूक्ष्मेणापि महामायासङ्कोचेन, उज्झितो रहितः इत्थंभूतः सन् यदा परमं पदं परमशिवैक्यरूपं निर्मलत्वमायाति, तदा असावव्ययोऽविनाशी प्रभुः सर्वत्र स्वामी परमात्मेत्युच्यते ॥

अथाबुधादिभेदान् व्याकर्तुमुपक्रमते—

अबुधं च पुनर्देवि कथयामि समासतः ।

तथा च—

तत्त्वभूतात्मसंहारे कलाक्षित्यन्तगोचरे ॥ ९१ ॥

हे प्रिये (यह जीव) जब मल कर्म कला आदि से निर्मुक्त, समस्त अध्वाओं के पार, मायाकृत मोह से रहित हुआ अव्यय परमपद रूप निर्मलत्व को प्राप्त होता है । हे देवि ! तब यह अव्यय प्रभु परमात्मा कहा जाता है ॥ ८९-९० ॥

चूँकि यह संसारपर्यन्तरूपी आणव आदि तीन मलों से पूर्णतया मुक्त हो जाता है अत एव समनापर्यन्त सम्पूर्ण अध्वा को, उनकी भली-भाँति विलापनयुक्ति के द्वारा, पार कर जाता है अर्थात् किसी भी अध्वा में आत्माभिमान युक्त नहीं होता फलतः माया के मोह से—

'कर्मरूपा माया स्थित है जिसके नीचे शक्ति कुण्डली है ।' (१०।१२६३)

इस श्लोकार्ध के द्वारा पूर्वोक्त जो माया उसके द्वारा प्रचालित मोह से = अत्यन्त सूक्ष्म महामाया के सङ्कोच से, उज्झित = रहित हो जाता है । ऐसा हुआ वह जब परम पद = परम शिव के साथ ऐक्य रूप निर्मलत्व को प्राप्त होता है तब यह अव्यय अविनाशी प्रभु = सर्वत्र स्वामी, परमात्मा कहा जाता है ॥

अब अबुध आदि भेदों की व्याख्या करने का उपक्रम करते हैं—

हे देवि ! अब संक्षेप में अबुध को बतला रहा हूँ ॥ ९१- ॥

तथा—

मायासाम्यनिशायां वै संहृत्य परमेश्वरः।
निर्व्यापारो भवेत्तावद्यावद्वै नोदयः पुनः ॥ ९२ ॥

'अबुधस्तिष्ठते तत्र' (११।९५)

इति वक्ष्यमाणेन सम्बन्धः । कलादिक्षित्यन्तं यानि तत्त्वानि त्रिंशत्, तेषां तदाश्रयाणां च स्थावरादिब्रह्मान्तानां चतुर्दशानां भूतानां य आत्मा स्वभावः, तस्य संहारे प्रवृत्तः परमेश्वरो मायायाः साम्यं समस्तविकृतिप्रशमात्मकं तदेव विश्व-प्रस्वापाद् निशा तस्यां मायीयमशेषमध्वप्रपञ्चमनन्तभट्टारकमुखं संहृत्य निर्व्यापारो भेदसृष्ट्यनुन्मुखस्तावद्भवति, यावद् वक्ष्यमाणमायानिशाकालप्रशमात्मा नोदय इति, यावन्नायं सुखप्रवृत्तः । तत्प्रवृत्तौ हि स पुनरन्तर्मुखेन जगत् सृजन् सव्यापार एव भवति ॥ ९२ ॥

अस्मिंश्च समये—

सुखदुःखाद्यभावश्च ह्यात्मवर्गस्य कर्मणः ।

कर्मणः कार्यस्य, कलादिक्षित्यन्तदेहयोगेनोल्लास्यस्यात्मवर्गस्य सर्वस्य जीव-

---

कला से लेकर पृथिवी तक के तत्त्वों और भूतों का संहार होने पर माया के साम्य रूपी निशा में (सबका) संहार कर परमेश्वर पुनः (भेदसृष्टि के) उदय तक जब व्यापारशून्य हो जाता है (तब तक की अवस्था में स्थित वह अबुध कहलाता है) ॥ -९१-९२ ॥

'उस अवस्था में बोधरहित होकर स्थित रहता है' (११।९५)

इस श्लोक का वक्ष्यमाण के साथ सम्बन्ध है । कला से लेकर पृथिवी तक जो तीस तत्त्व हैं उनका और उनके आश्रित स्थावर से लेकर ब्रह्मा पर्यन्त चौदह प्रकार के प्राणियों का जो आत्मा = स्वभाव, उसके संहार में प्रवृत्त परमेश्वर माया के समस्त विकारों का प्रशमन रूप साम्य वही विश्व के सो जाने से निशा है । उस निशा में अनन्तनाथ से लेकर समस्त मायीय अध्व विस्तार का संहार कर व्यापाररहित होता हुआ अर्थात् भेदसृष्टि के उन्मुख तब तक नहीं होता जब तक कि वक्ष्यमाण मायानिशा के काल का प्रशमरूप उदय नहीं होता अर्थात् जब तक यह सुखपूर्वक अथवा सुख के लिये प्रवृत्त नहीं होता । उस प्रवृत्ति के होने पर वह पुनः अन्तर्मुख होकर अर्थात् अपने अन्दर ही अन्दर संसार की सृष्टि करता हुआ व्यापारवान् होता है ॥ ९२ ॥

और इस समय—

उसके कार्यस्वरूप आत्मसमूह के अन्दर सुख दुःख आदि का अभाव रहता है ॥ ९३- ॥

कर्म का = कार्य का कला से लेकर पृथिवीपर्यन्त देह के योग से उल्लास्य

जातस्य सुखदुःखशरीराद्यभावो भवति, गाढमूढत्वं सम्पद्यत इत्यर्थः ॥

तदा ह्यसावात्मवर्गः—

मलनिद्राविमूढात्मा रुद्धचैतन्यदृक्क्रियः ॥ ९३ ॥
न विजानाति शब्दादीनात्मानं च वरानने ।
कारणं न विजानाति न च स्थानं स्वकं प्रिये ॥ ९४ ॥
सर्वमेतन्न जानाति यतो लुप्ताक्षदृक्क्रियः ।
अबुधस्तिष्ठते तत्र यावन्मायाअहर्मुखम् ॥ ९५ ॥

मलेनाख्यात्यात्मना जनितया निद्रया स्वापेन विशेषेण मूढो जाड्यं प्रापित आत्मा, यतश्च रुद्धे चैतन्यात्मिके पूर्णे दृक्क्रिये यस्य, यतश्च संहारवशाद् लुप्ते अक्षसम्बन्धिन्यौ दृक्क्रिये यस्य तथाभूतोऽयम् अत एव न विजानाति शब्दादीन् आत्मानं च ग्राहकस्वरूपम्, ईदृगहमित्यन्तःकरणेनापि निश्चिनुते न । कारणं च परमेशमीदृशव्यामोहादिदशोत्थापकं स्वं च मायात्मकं स्थानमाश्रयं न जानाति । एतत्सर्वं यतो न जानाति ततोऽयमबुध्यमानत्वादबुधः । तत्रेति मायायां तावदास्ते यावन्मायीयमहर्मुखम् । मायाअहर्मुखमिति सन्ध्यभावश्छान्दसः । यतः शब्दापेक्षं

आत्मवर्ग का = समस्त जीवसमूह का, सुख दुःख शरीर आदि का अभाव होता है अर्थात् (आत्मवर्ग की) यह गाढमूढ़ अवस्था होती है ॥

उस समय यह आत्मवर्ग—

मल से उत्पन्न निद्रा के कारण विमूढ़ तथा चैतन्य रूप ज्ञान-क्रिया से रहित रहता है । हे वरानने ! वह शब्द आदि विषयों तथा अपने को नहीं जानता । हे प्रिये ! वह अपने कारण और अपने स्थान को नहीं जानता । चूँकि उसकी इन्द्रियों ज्ञान और क्रिया का लोप हो गया रहता है इसलिये वह यह सब नहीं जानता । उस स्थिति में वह अबुध होकर तब तक रहता है जब तक माया का प्रभात नहीं हो जाता ॥ -९३-९५ ॥

अख्याति रूप मल के द्वारा जनित निद्रा = सुषुप्ति, के द्वारा विशेष रूप से मूढ़ = जड़ता को प्राप्त, आत्म (= स्वरूप है जिसका, वह) । इस कारण उसके चैतन्यरूप पूर्ण ज्ञान और क्रिया लुप्त हो गयी हैं । अर्थात् संहार के कारण इसकी इन्द्रियसम्बन्धी ज्ञान और क्रिया लुप्त हो गयी हैं । इस कारण शब्द आदि ग्राह्य विषयों तथा ग्राहकस्वरूप अपने को नहीं जानता । तात्पर्य यह है कि 'मैं इस प्रकार का हूँ'—ऐसा अपने अन्तःकरण से निश्चय नहीं कर पाता । कारण को = इस प्रकार की व्यामोह आदि दशा के प्रवर्त्तक परमेश्वर को तथा माया के स्थान = आश्रय रूप अपने को नहीं जानता । चूँकि वह इस सबको नहीं जानता इसलिये अबुध्यमान होने के कारण यह अबुध है । वहाँ = माया में, तब तक रहता है जब तक मायीय प्रातःकाल नहीं हो जाता । 'माया अहर्मुखम्' यहाँ दीर्घ सन्धि का

तत इत्यध्याहार्यम् । तदयमित्थं मायालीनः प्रलयाकलोऽबुध इत्युक्तः । यस्तु पूर्वम्—

'प्रधानसाम्यमाश्रित्य' (११।८४)

इति ग्रन्थेनात्मा उक्तः, स प्रकृतिलीन इति विशेषः ॥ ९५ ॥

तदित्थम्—

अबुधस्तु समाख्यातः............

अथ—

............बुधं चैव निबोध मे ।

तत्र—

परिपाकगते कर्मणीश्वरेच्छाकरोद्धृते ॥ ९६ ॥
प्रकाशं नायनं यद्वदनुगृह्णाति भास्करः ।
करणान्यनुगृह्णाति तद्वदीश्वर आत्मनाम् ॥ ९७॥

आत्मनामनेककर्ममध्यात् कस्मिंश्चित् कर्मणि, उद्रेकवशात् परिपाकगते फलदानयोग्ये, अस्याणोरस्मात् कर्मण ईदृक् फलमस्तु, इतीदृगीशस्या-

---

अभाव छान्दस है । 'यतः' शब्द की अपेक्षा वाले 'ततः' शब्द को 'अबुधस्तत्र तिष्ठेत्' के पहले जोड़ लेना चाहिये । तो इस प्रकार माया में लीन प्रलयाकल (जीव) अबुध कहा जाता है । और जो पहले—

'प्रधान के साथ साम्य बना कर' (११।८४)

इस ग्रन्थ से आत्मा की चर्चा की गयी वह आत्मा प्रकृतिलीन है । (अबुध और इसमे) यही अन्तर है ॥ ९५ ॥

तो इस प्रकार—

अबुध का वर्णन किया गया ॥ ९६- ॥

अब—

मुझसे बुध को जानो ॥ -९६- ॥

कर्म के परिपक्व हो जाने पर ईश्वरेच्छारूपी हाथ से (उस कर्म के) उद्धृत होने पर ईश्वर जीवात्माओं के करणों को उसी प्रकार अनुगृहीत करते हैं जिस प्रकार सूर्य (पदार्थों के अवलोकन के लिये) इन्द्रियों को अनुग्रहीत करता है ॥ -९६-९७ ॥

आत्माओं के अनेक कर्माशयों के मध्य में से किसी एक कर्माशय का उद्रेकवश परिपाक होने पर अर्थात् फलदान के योग्य होने पर 'इस जीव को इस

नन्तमूर्तेर्भगवतो या इच्छा, सैव करस्तेन उद्धृतेऽनन्तकर्मसन्ततिमध्याद् निष्कृष्य तं तमात्मानं प्रति भोगाय योजिते सति, तेषामेवात्मनां कलादीनि करणानि, अनुगृह्णाति उन्मीलयति येन ते आत्मानः किञ्चित्कर्तृत्वादिप्रतीतिभाजो जायन्ते । अत्र दृष्टान्तो यथा नायनं प्रकाशं भास्करोऽगृह्णाति । यथा तदनुग्रहं विना नासौ भावान् प्रकाशयति, एवमीश्वरानुन्मीलिताः कलादयो न किञ्चित्कर्तृत्वादिप्रतीतिभाज आत्मनः सम्पादयन्तीति सर्वत्र ईश्वरेच्छैव भगवती भवति ॥ ९७ ॥

तदनुग्रहादेव ह्यात्मा—

कलोन्मीलितचैतन्यो विद्यादर्शितगोचरः ।

एतत् पूर्वमेव व्याकृतम् ॥

किं च—

रागोऽस्य रञ्जकत्वेन विषयानन्दलक्षणः ॥ ९८ ॥

सामान्यविषयाभिष्वङ्गात्मा रागोऽस्य पुंसो रञ्जकत्वेन स्थितः ॥ ९८ ॥

कर्म से इस प्रकार का फल प्राप्त हो'—ऐसी ईश्वर = भगवान् अनन्तनाथ की जो इच्छा, वही हाथ है, उसके द्वारा उद्धृत = अनन्त कर्माशयों में से एक को निकाल कर पृथक्-पृथक् आत्मा के प्रति संयुक्त करने पर उन्हीं आत्माओं के कला आदि करणों को परमात्मा अनुगृहीत करते हैं = उन्मीलित करते हैं, जिससे वे आत्मायें किञ्चित्कर्त्तत्व आदि अनुभव वाली होती हैं । इस विषय में दृष्टान्त हैं—जैसे सूर्य चक्षु के प्रकाश को अनुगृहीत करता है । जिस प्रकार उस (= सूर्य) के अनुग्रह के बिना यह (= नायन प्रकाश) पदार्थों को प्रकाशित नहीं करता (= ज्ञान नहीं कराता) उसी प्रकार ईश्वर के द्वारा उन्मीलित न होने पर कला आदि आत्माओं को किञ्चित्कर्त्तृत्व के अनुभव वाली नहीं बनाती । इस प्रकार सर्वत्र ईश्वरेच्छा ही ऐश्वर्यशालिनी है ॥ ९७ ॥

उस भगवती के अनुग्रह से ही आत्मा—

कला के द्वारा उन्मीलित चैतन्य वाला तथा विद्या के द्वारा विषय का द्रष्टा होता है ॥ ९८- ॥

इसकी व्याख्या पहले ही की जा चुकी है ॥

तथा—

विषयानन्दलक्षण वाला राग इस (जीव) के रञ्जक के रूप में स्थित कहा गया है ॥ -९८ ॥

समान्य विषयों में आसक्तिस्वरूप राग इस पुरुष के रञ्जक के रूप में स्थित बतलाया गया है ॥ ९८ ॥

तथा—

कालो वै कलयत्येनं तुट्यादिप्रलयावधिः ।
नियतिर्निश्चितं नित्यं योजयेच्च शुभाशुभे ॥ ९९ ॥

एतदपि प्रागेव निर्णीतम् ॥ ९९ ॥

संयोज्य च तत्फलमस्य—

परमाणुसहस्रांशान्न च न्यूनं च चाधिकम् ।

तदित्थं कलादिपञ्चकवेष्टितोऽयम्—

पुंभावं समनुप्राप्य तत्त्वे च पुरुषाह्वये ॥ १०० ॥

वर्तते इति शेषः ।

'आख्याह्वयश्च विज्ञेयौ नामपर्यायनामनी ।'

इत्युक्तेः सञ्ज्ञायां रूढ आह्वयशब्दः । पुरुष इत्याह्वयो यस्य तत् पुरुषाह्वयम् ॥ १०० ॥

पुरुषशब्दमक्षरसाम्येन निर्वक्ति—

तथा—

तुटि से लेकर प्रलयपर्यन्त वाला काल इसकी कलना (रचना या गणना) करता है और नियति इसको निश्चित रूप से नित्य शुभ और अशुभ कर्म में नियुक्त करती है ॥ ९९ ॥

इसकी भी व्याख्या पहले की जा चुकी है ॥ ९९ ॥

(शुभाभुभ कर्म में) नियुक्त कर उसको (उसके कर्मों का जो) फल देती है वह—

परमाणु के सहस्रांश से भी न तो कम न अधिक होता है ॥ १००-॥

तो इस प्रकार कला आदि (= विद्या, राग, काल और नियति) से वेष्टित यह (= जीव)—

पुरुष भाव को प्राप्त कर पुरुष नामक तत्त्व में रहता है ॥ -१०० ॥

वर्तमान है—यह जोड़ना चाहिए ।

'आख्या और आह्वय ये दोनों नाम के पर्यायवाची शब्द है ।'

इस उक्ति के अनुसार 'आह्वय' शब्द सञ्ज्ञा अर्थ में रूढ़ है । 'पुरुष' ऐसा आह्वय (= नाम) है जिसका वह पुरुषाह्वय है ॥ १०० ॥

पुरुष शब्द की अक्षरसाम्य के अनुसार व्याख्या करते हैं—

पुरं प्रधानमित्युक्तं प्रपञ्चानेकसंकुलम् ।
तत्पुरं पोषयेद्यस्मात्तस्माद्वै पुरुषः स्मृतः ॥ १०१ ॥

बुद्ध्यादिक्षित्यन्तेनानेकेन प्रपञ्चेन परिणामभूयस्त्वेन संकुलं व्याप्तं प्रधानं यस्मात् पोषयेद् आत्मप्रकाशाभिनिवेशनेन चेतनायमानं सम्पादयेत्, तस्मादयं पुरुष इत्युक्त इत्यर्थः । प्रपञ्चानेकेति पूर्वनिपातव्यत्ययश्छान्दसः ॥ १०१ ॥

तदित्थं प्रधानाशयमापन्नमिमम्—

यतः श्रीकण्ठनाथस्तु नियत्या कर्मतः पशुम् ।
प्रधानपाशजालेन वेष्टयेदसमञ्जसम् ॥ १०२ ॥

पशुमाणवपाशपाशितं कलादिकञ्चुकवलितं च पुरुषं प्रधानाशयमापन्नं प्रधानान्तेध्वन्यधिकृतः श्रीकण्ठनाथः प्रधानसम्बन्धिना पाशजालेन नियतिवशोत्थित-कर्मानुसारमसमञ्जसम्, अनात्मन्यभिनिवेशनायाननुरूपमेव वेष्टयेत् ॥ १०२ ॥

प्राधानिकपाशवेष्टनं स्पष्टयति—

बद्धस्त्रिगुणबन्धेन बुद्ध्या वैकारिकेण तु ।
तन्मात्रेन्द्रियबन्धेन दृढं भूतैश्च वेष्टितः ॥ १०३ ॥

पुर का अर्थ है—अनेक प्रपञ्च से व्याप्त प्रधान (या प्रकृति) तत्त्व । जिस कारण उस पुर का पोषण करता है इसलिये यह (आत्मा) पुरुष कहा गया है ॥ १०१ ॥

चूँकि अत्यधिक परिणाम वाले बुद्धि से लेकर पृथिवीपर्यन्त अनेक प्रपञ्च से संकुल = व्याप्त, प्रधान का पोषण करता है = अपने प्रकाश को अभिनिविष्ट कर चेतन बनाता है, इसलिये यह (अणु) पुरुष कहलाता है । 'प्रपञ्चानेक' में पूर्वनिपात का व्यत्यय (= उल्टा क्रम होना) छान्दस है (लौकिक संस्कृत में 'अनेकप्रपञ्चसंकुल' पाठ होगा) ॥ १०१ ॥

तो इस प्रकार प्रधान आशय को प्राप्त इस—

पशु को श्रीकण्ठनाथ नियति के द्वारा (उत्थित) कर्म के अनुसार प्रधानपाश के जाल से असमञ्जस वेष्टित करते हैं ॥ १०२ ॥

पशु अर्थात् आणव पाश से आबद्ध तथा कला आदि पाँच कञ्चुक से वेष्टित पुरुष, जो कि प्रधान आशय को प्राप्त है, को प्रधानपर्यन्त अध्वा में अधिकृत श्रीकण्ठनाथ प्रधानसम्बन्धी पाशजाल के द्वारा नियतिवशात् उत्थित कर्म के अनुसार, असमञ्जस = अनात्मपदार्थों में आत्माभिमान के लिये अननुरूप, वेष्टित करते हैं ॥ १०२ ॥

प्रधान के पाश के वेष्टन को स्पष्ट करते हैं—

यह (अणु) त्रिगुणरूप बन्धन से बद्ध होकर बुद्धि, वैकारिक आदि

पूर्वं सत्त्वादिगुणैर्वलितः, ततस्तत्परिणामक्रमादध्यवसायात्मना बुद्ध्या, ततोऽभिमानात्मकदुरतिक्रमणीयविकारप्रयोजनेन वैकारिकादिरूपेणाहङ्कारेण । वैकारिकेणेत्युपलक्षणपरम् । ततोऽप्याहङ्कारिकेण तन्मात्रेन्द्रियवर्गेण, ततोऽपि तन्मात्रकार्यैराहारादिवशोत्थशुक्रशोणितक्रमप्रसृतैः स्थूलैर्भूतैर्दृढं गाढं कृत्वाऽयं वेष्टितो बद्धः ॥ १०३ ॥

कीदृशोऽयम्—

बद्धः सञ्चरति ह्येवं मायाद्यवनिगोचरे ।

एवं बद्धो मायादिभूम्यन्ते सञ्चरति योनेर्योन्यन्तरं श्रयति ॥

अतश्च—

संसारी प्रोच्यते तस्मात् संसरेद्यत् पुनः पुनः ॥ १०४ ॥

एवमित्थं निरुक्तस्य पुरुषस्य संसारिणः—

शब्दादिविषया यस्माद्विद्यन्ते विषयी ततः ।

अहङ्कार, तन्मात्राओं, एकादश इन्द्रियों एवं पञ्च महाभूतों से दृढ़ वेष्टित होता है ॥ १०३ ॥

(यह जीव) सबसे पहले सत्त्व आदि गुणों से बद्ध होता है । तत्पश्चात् उसके परिणामक्रम से अध्यवसायात्मिका बुद्धि के द्वारा, इसके बाद अभिमानात्मक दुरतिक्रमणीय विकारप्रयोजन वाले वैकारिक आदि (= राजस और भूतादि) अहङ्कार से (बद्ध होता है) । 'वैकारिकेण' वह शब्द उपलक्षणपरक है (इससे राजस और भूतादि को भी जानना चाहिये) । इसके बाद अहङ्कार से उत्पन्न तन्मात्राओं और इन्द्रियसमूह के द्वारा, इसके बाद तन्मात्राओं के कार्य आहार आदि के द्वारा उत्पन्न शुक्र एवं शोणित के क्रम से प्रसृत स्थूल भूतों वाले (शरीर) के द्वारा दृढ = गाढ़ रूप से, वेष्टित = बद्ध होता है ॥ १०३ ॥

यह (जीव) किस प्रकार का है ? (—यह कहते हैं—)

इस प्रकार बद्ध यह (अणु) माया से लेकर पृथिवी पर्यन्त सञ्चरण करता है ॥ १०४- ॥

इस प्रकार बद्ध होकर (यह पशु) माया से लेकर भूमिपर्यन्त सञ्चरण करता है अर्थात् एक योनि से दूसरी योनि में जन्म लेता है ॥

इसलिये—

चूँकि (एक योनि से दूसरी योनि में) बार-बार संसरण करता है इस कारण (यह) संसारी कहा जाता है ॥ -१०४ ॥

इस प्रकार निर्वचन किये गये संसारी पुरुष के—

एष एवेत्यर्थः ॥

अतश्चायम्—

विषयाः परमित्याह..............

स्त्र्यादयो ये विषयाः तदेव परं प्रकृष्टं वस्त्विति ब्रूते ॥

कीदृशा विषयाः—

................नानाभेदैर्विसर्पिताः ॥ १०५ ॥

नानाकर्मविपाकैश्च............

नानाभेदैरित्युपलक्षिताः । विसर्पिता उपसम्प्राप्ताः । नानाकर्मविपाकैः सुखदुःखादिभेदैः सहेत्यर्थः ॥

तदेतान् विषयानयं—

..............भुङ्क्ते तद्भावभावितः ।

तेषां विषयाणां भावेन सत्तया भावितो वासितान्तःकरणः ॥

शब्द आदि चूँकि विषय बनते हैं इसलिये (यही) विषयी बतलाया जाता है ॥ १०५- ॥

यही पुरुष ॥

इसलिये यह—

कहता है कि विषय[1] ही परम तत्त्व हैं ॥ -१०५- ॥

स्त्री आदि जो कि विषय हैं वही परम = प्रकृष्ट वस्तु हैं—ऐसा यह कहता है ॥

ये विषय कैसे हैं ?—(उत्तर देते हैं—)

अनेक प्रकार के कर्मविपाक के साथ ये भी अनेक प्रकार से प्राप्त होते हैं ॥ -१०५-१०६- ॥

नाना भेदों से उपलक्षित । विसर्पित = उपसम्प्राप्त । नानाकर्मविपाकों के साथ = सुखदुःख आदि भेदों के साथ ॥

तो यह (जीव) उन विषयों का—

तद्भावभावित होकर उपभोग करता है ॥ -१०६- ॥

(तद्भावभावितः की व्याख्या करते हैं—) उन विषयों के भाव = सत्ता, के द्वारा, भावित = वासित अन्तःकरण वाला ॥

---

१. विषिन्वन्ति = विशेषण निबध्नन्ति = स्वेन रूपेण निरूपणीयं कुर्वन्ति इति विषयाः ।

एवं भुङ्क्ते तु वै यस्मात्तस्माद्भोक्ता स उच्यते ॥ १०६ ॥

स इति विषयी ॥ १०६ ॥

किं चायम्—

तस्मिंस्तज्ज्ञो वरारोहे क्षेत्रे वै कार्षको यथा ।

तस्मिन्निति भूतपर्यन्ते क्षेत्रे । तज्ज्ञ इति क्षेत्रज्ञ उच्यते । कार्षको यथेति दृष्टान्तपक्षे क्षेत्रं केदारः ॥

दृष्टान्तं श्लेषच्छायया स्फुटयति—

महाभिलाषमालोक्य कृषेद्वै लोभलाङ्गलैः ॥ १०७ ॥

यथा कार्षकः कलुषजलरजोविश्रान्तिर्मा स्यादितीदृशमहाभिलाषमालोक्य विचार्य तत् क्षेत्रं लाङ्गलैर्हलैः कृषत्युल्लिखति, तथा

'अभिलाषो मलोऽत्र तु' (स्व० ४।१०५)

इत्युक्तस्थित्या मलरूपमभिलाषं विमृश्य देहात्मकक्षेत्रं बहुलोभेन कृषति

चूँकि वह इस प्रकार भोग करता है इसलिये वह भोक्ता कहा जाता है ॥ -१०६ ॥

वह = विषयी ॥ १०६ ॥

इसके अतिरिक्त —

हे वरारोहे ! यह उस (क्षेत्र) में तज्ज्ञ (= क्षेत्रज्ञ) कहा जाता है जैसे कि कृषक (कृषिक्षेत्र को जानने के कारण क्षेत्रज्ञ कहा जाता है) ॥ १०७-॥

उसमें = (माया से ले कर) भूतपर्यन्त क्षेत्र में । तज्ज्ञ = क्षेत्रज्ञ, कहा जाता है । जैसे कि कार्षक । यहाँ दृष्टान्त पक्ष में केदार (= क्यारी) क्षेत्र है ॥

इस दृष्टान्त को श्लेषच्छाया के द्वारा स्पष्ट करते हैं—

(यह पशु) महा अभिलाष को ध्यान में रख कर लोभ रूपी हल से कर्षण करता है ॥ -१०७ ॥

जैसे कृषक खेत में गन्दापानी और मिट्टी अर्थात् कीचड़ न रह जाय इस महा इच्छा को ध्यान में रख कर (उस खेत में पानी को सुखाने के लिये) उस खेत का लाङ्गल से = हल से, कर्षण करता है = मिट्टी को उलट-पलट करता है उसी प्रकार—

'यहाँ अभिलाष ही मल है ।' (४।१०५)

इस उक्त स्थिति के अनुसार मलरूप अभिलाष का विमर्शन कर देहरूपी क्षेत्र

कर्मबीजवापयोग्यं करोतीति रूपकश्लेषच्छायया उक्तिः ॥

अथ च—

वपेच्च मोहभावेन मनोवाक्कायिकं सदा ।
धर्माधर्ममयं बीजं प्रविकीर्य समन्ततः ॥ १०८ ॥

मोहभावेनेति महायासदाय्येतदित्यविचारेण । वपेदिति क्षेत्रपरिनिष्ठितं सम्पादयेत् ॥

तदुत्तरकालं च—

तस्माद्वै अङ्कुरोत्पत्तिः...............

तस्मादेव बीजाद् नानाशरीरेन्द्रियात्मनोऽङ्कुरस्योत्पत्तिर्भवति ॥

कीदृशीत्याह—

...............सुखदुःखफलोदया ।

सुखरूपस्य दुःखफलस्योदयो यत्र ॥

सा चाङ्कुरोत्पत्तिः—

वर्धते कामक्रोधेन सिक्ता रागाम्बुना भृशम् ॥ १०९ ॥

का बहुत लोभ के साथ कर्षण करता है = कर्म रूपी बीज को करने के योग्य बनाता है । इस प्रकार यहाँ रूपक और श्लेष अलङ्कार के द्वारा कथन है ॥

इसके बाद—

मोहवश यह मानसिक वाचिक और शारीरिक धर्म-अधर्म से परिपूर्ण बीज को चारो ओर बिखेर कर उसका वपन करता है ॥ १०८ ॥

मोहभाव से = यह महाकष्टदायी है ऐसा विचार न कर । वपन करता है = क्षेत्र में स्थापित करता है ॥

उस (= वपन) के उत्तर काल में—

उससे अंकुर की उत्पत्ति होती है ॥ १०९- ॥

उसी बीज से अनेक शरीर इन्द्रिय रूप अङ्कुर की उत्पत्ति होती है ॥

कैसी ?—यह कहते हैं—

सांसारिक सुख रूपी दुःख फल को उत्पन्न करने वाली ॥ -१०९- ॥

सुख रूप दुःखफल का उदय है जिससे वह (अर्थात् जो संसार का सुख है उसकी भी परिणति दुःख में ही होती है) ॥

और वह अङ्कुरोत्पत्ति—

अतश्च—

यस्मिन् देशे च काले च वयसा यादृशेन च।
उप्तं शुभाशुभं कर्म तत्काले लभते फलम् ॥ ११० ॥

तत्काल इति भाविजन्मगततारुण्यादिसमये इत्यर्थः ॥ ११० ॥

लब्ध्वा च तत्—

भुङ्क्ते तु विविधाकारं पूर्वकर्मवशाद् बुधः।

बुध इति यो निर्णेतुमुपक्रान्तः ॥

तदेवमयमीदृशं क्षेत्रम्-

यस्मादेवं विजानाति तस्मात् क्षेत्रज्ञ उच्यते ॥ १११ ॥

तदित्थम्—

विषयान् बुध्यते यस्माद् बुधस्तस्मात् प्रकीर्तितः।

इत्थमयं बुधः पुरुषः संसारी विषयी भोक्ता क्षेत्रज्ञ इति च तत्तदर्थानुगताभिः

काम, क्रोध, राग रूपी जल से सीचीं जाने पर तेजी से बढ़ती है ॥ -१०९ ॥

इसलिये—

जिस देश में, जिस काल में जिस प्रकार की अवस्था के द्वारा जैसा शुभ अशुभ कर्म का वपन होता है। उस समय उसका फल (जीव) प्राप्त करता है ॥ ११० ॥

उस समय = भावी जन्म में होने वाले तारुण्य आदि के समय ॥ ११० ॥

और उसे प्राप्त कर—

विद्वान् पूर्व कर्मवशात् अनेक आकार वाले उस (= फल) का भोग करता है ॥ १११- ॥

बुध = वह व्यक्ति जो (विषय और विषयी आदि का) निर्णय करने के लिये प्रवृत्त हुआ है ॥

तो इस प्रकार के इस क्षेत्र को—

जिस कारण वह इस प्रकार (= पूर्वोक्त रूप में) जानता है इसलिये वह क्षेत्रज्ञ कहा जाता है ॥ -१११ ॥

तो इस प्रकार—

चूँकि वह विषयों को जानता है इसलिये बुध कहा जाता है ॥ ११२- ॥

सञ्ज्ञाभिरुच्यते ॥

बुध्यमानं लक्षयति—

तदेवानिष्टरूपेण यदा भावयते पुमान् ॥ ११२ ॥
बुध्यमानस्तु स तदा............

तदेवेति विषयभोगादि ॥

एतदेव विभजति—

.............अधुना कथयामि ते ।

तथा—

यदा जुगुप्सते भोगान् शुभांश्चैवाशुभांस्तथा ॥ ११३ ॥
कृत्रिमानेव मन्येत परं वैराग्यमाश्रितः ।
मायाद्यवनिपर्यन्तमिन्द्रजालं तु बुध्यते ॥ ११४ ॥

मायेत्यादिना तत्तत्तत्त्वभुवनभोगेष्वपि भेदमयेष्वस्य विरक्तिर्दर्शिता ॥

किं च—

पुत्रमित्रकलत्राणि सुहृत्स्वजनबान्धवाः ।
यदर्जितं मया द्रव्यं शुभेनाप्यशुभेन वा ॥ ११५ ॥

इस प्रकार यह जीव बुध, पुरुष, संसारी, विषयी, भोक्ता और क्षेत्रज्ञ इस प्रकार तत्तत् अर्थ के अनुसार होने वाले नामों से पुकारा जाता है ॥

अब बुध्यमान को बतलाते हैं—

जब पुरुष उसी को अनिष्ट रूप से समझने लगता है तब वह बुध्यमान (होता है) ॥ -११२-११३- ॥

उसी को = विषय भोग आदि को ॥

इसी को स्पष्ट करते हैं—

अब तुमको बतला रहा हूँ। जीव जब शुभ और अशुभ भोगों से घृणा करने लगता है, परवैराग्य से युक्त होकर उनको कृत्रिम समझता है; माया से लेकर पृथिवी तक को इन्द्रजाल मानता है ॥ -११३-११४ ॥

माया से लेकर..........इत्यादि कथन के द्वारा भेदमय तत्तत् तत्त्वों में स्थित भुवनों के भोगों में भी विरक्ति बतलायी गयी ॥

तथा—

(वह सोंचता है कि) मैंने शुभ या अशुभ साधनों के द्वारा जो धन

तद्भोक्ष्यन्ते त्विमे सर्वे निरातङ्का निराकुलाः ।
एकाकी चाहमेवैष यास्यामि यमसादनम् ॥ ११६ ॥
तस्माच्च न शुभा ह्येते वैरिणोऽनर्थकारिणः ।

मित्रं परस्परोपकारवशात् स्निग्धम्, सुहृत्त्वकारणमेव शोभनहृदयः । स्वजनो दासादिः । सदनमेव सादनम् ।

न केवलं पुत्रादिभ्य एव जुगुप्सते, यावत्—

स्वात्मीयमप्ययं देहं नित्यमेव जुगुप्सते ॥ ११७ ॥
शुक्रशोणितसम्भूतं विषयोरगदूषितम् ।
नानाव्याधिसमाकीर्णं जरामृत्युभयाकुलम् ॥ ११८ ॥

अतश्च—

सोऽहमस्मि मलाकीर्णे कथमत्र रमाम्यहम् ।

सोऽहमस्मीत्यागमाद्यवगतसत्यात्मस्वरूपो भवामि । मलमशुचिद्रव्यम् ॥

तदित्थमयमाविर्भूतवैराग्यः—

अर्जित किया है उसका उपभोग मेरे पुत्र, मित्र, स्त्री, सुहृत्, अपने आदमी तथा भाई बन्धु निरातङ्क एवं निराकुल होकर भोग करेंगे । मैं अकेला यमलोक जाऊँगा । इसलिये ये (= पुत्रादि) शुभ नहीं हैं बल्कि वैरी और अनर्थकारी है। ॥ ११५-११७- ॥

मित्र = परस्पर उपकार करने के कारण प्रिय होता है और सुहृत् तो बिना कारण के सुन्दर हृदय वाला होता है । स्वजन = दास आदि । सादन का अर्थ है—सदन ॥

(वह व्यक्ति) केवल पुत्र आदि के ही प्रति घृणा नहीं करता बल्कि—

अपने इस देह के प्रति भी नित्य घृणा करता है । (वह सोचता है कि यह जो शरीर) शुक्र और शोणित से उत्पन्न होता है; विषय रूपी साँप से दूषित होता है; अनेक प्रकार के रोगों से भरा हुआ और जरामृत्यु तथा भय से परिपूर्ण है ॥ -११७-११८ ॥

इसलिये—

'मैं वह हूँ' फिर मल से व्याप्त (इस शरीर) में किस प्रकार से रमण करूँ ॥ ११९- ॥

'सोऽहमस्मि' का अर्थ है—आगम आदि के द्वारा अवगत सत्यस्वरूप हूँ । मल = अपवित्र वस्तु (मल मूत्र आदि) ॥

नित्यमुद्विग्नचित्तस्तु चिन्तयेद्वै पुनः पुनः ॥ ११९ ॥
कथं मुक्तिर्भवेदस्मात् संसाराद् दुरतिक्रमात् ।
एवं प्रबुद्धो देवेशि तल्लयस्तत्परायणः ॥ १२० ॥
सर्वारम्भविनिर्मुक्तः प्रमुक्तः प्रोच्यते तदा ।
प्रबुद्धस्तु समाख्यातः सुप्रबुद्धं तु मे शृणु ॥ १२१ ॥
दीक्षाज्ञानेन योगेन चर्ययाप्यथ सुव्रते ।
यदा प्राप्तः परं स्थानमध्वातीतं निरामयम् ॥ १२२ ॥
विरजो विमलं शान्तं प्रपञ्चातीतगोचरम् ।
निष्कम्पं कारणातीतं सर्वज्ञं सर्वतोमुखम् ॥ १२३ ॥
सुतृप्तानादिसम्बुद्धं स्वतन्त्रं नित्यमेव हि ।
अलुप्तशक्तिविभवं सुप्रबुद्धं सनातनम् ॥ १२४ ॥
तस्मिन् युक्तस्तदात्मा वै तद्गुणैस्तु समन्वितः ।
सुप्रबुद्धः स एवोक्तो भैरवस्य वचो यथा ॥ १२५ ॥
न चाधिकारिता दीक्षां विना योगेऽस्ति शाङ्करे ।

इह आत्माऽन्तरात्मा चोक्तः, विज्ञानाकलो निरात्मेति, प्रलयाकलोऽप्यबुध इति, सकल एव च बाह्यविषयावबोधाद् बुद्ध इति, आयातशक्तिपातो बुद्ध्यमानः, शिवयज्ञदीक्षितः प्राप्तज्ञानः प्रबुद्धः, स्वभ्यस्तज्ञानस्तु प्राप्तशिवैकात्म्यो निश्चलप्रति-

---

तो इस प्रकार उत्पन्न वैराग्य वाला यह—

नित्य उद्विग्नचित्त होकर बार-बार सोचता है कि इस दुरतिक्रम संसार से किस प्रकार से मुक्ति हो । हे देवेशि ! इस प्रकार वह प्रबुद्ध होकर जब तल्लय (= संसार के विचार में लीन) तत्परायण (= संसार से मुक्त होने में लगा हुआ) सर्वारम्भ से हीन होकर जाता है तब प्रमुक्त कहा जाता है । प्रबुद्ध का वर्णन किया गया अब मुझसे सुप्रबुद्ध को सुनो । हे सुव्रते ! दीक्षा के ज्ञान, योग और चर्या के द्वारा साधक जब उस स्थान को प्राप्त करता है जो कि पर, अध्वातीत, निरामय, विरज, विमल, शान्त, प्रपञ्चातीत लोगों का विषय, निष्कम्प, कारणातीत, सर्वज्ञ, सर्वतोमुख, सुतृप्त, अनादिसम्बुद्ध, स्वतन्त्र, नित्य, अलुप्तशक्तिविभव वाला, सुप्रबुद्ध और सनातन है तो उसमें युक्त हुआ तत्स्वरूप होकर उसके गुणों से युक्त हो जाता है तो जैसा भैरव का वचन है उसके अनुसार वह सुप्रबुद्ध कहा गया है । इस प्रकार से शाङ्कर योग में बिना दीक्षा के अधिकार नहीं प्राप्त होता है ॥ -११९-१२६- ॥

यहाँ आत्मा और अन्तरात्मा कहा गया । विज्ञानाकल ही निरात्मा है । प्रलयाकल ही अबुध है । सकल ही बाह्य विषयों के तत्त्वज्ञान के कारण बुद्ध है ।

पत्तिर्जीवन्मुक्तः सुप्रबुद्ध इति शुद्धात्मा बुद्ध्यमानः प्रबुद्धः सुप्रबुद्धः परात्मेति चतुर्विध उक्तः ॥

एवमात्मोपयोगितत्त्वसर्गनिरूपणानन्तरं ज्ञानियोगिनः प्रत्युपयोगिनो हेयोपादेयताप्रदर्शनायात्मनोऽवस्थाविशेषान् निरूप्य—

'गुणेभ्यो धिषणा जाता भावभेदैः समन्विता' (११।६८)

इत्युपक्रान्तान् भावभेदान्निरूपयितुम्—

अधुना कथयिष्यामि भावभेदान् वरानने ॥ १२६ ॥

भावयन्ति वासयत्यन्तःकरणमिति भावा धर्मादयोऽष्टौ ॥ १२६ ॥

तत्रादौ भेदानाह—

कारणानि दश त्रीणि कार्यं च दशधा प्रिये ।

भावानप्याह—

एकादशेन्द्रियवधा अहङ्कारस्तु वै त्रिधा ॥ १२७ ॥

जिसके ऊपर शक्तिपात हो गया वह बुध्यमान है । शिवयज्ञ में दीक्षित और ज्ञानप्राप्त पुरुष प्रबुद्ध है । जिसने ज्ञान का सम्यक् अभ्यास कर लिया; शिव के साथ ऐकात्म्य को प्राप्त हो गया, निश्चल प्रतिपत्ति (= दृढ़ विश्वास = दृढ़ ज्ञान) वाला तथा जीवन्मुक्त है वही सुप्रबुद्ध है । इस प्रकार शुद्धात्मा साधक बुध्यमान, प्रबुद्ध, सुप्रबुद्ध और परात्मा इस प्रकार चार प्रकार का कहा गया ॥

आत्मोपयोगी तत्त्वसृष्टि के निरूपण के बाद ज्ञानी योगी के प्रति उपयोगी हेयता और उपादेयता के प्रदर्शन के लिये मन की विशिष्ट अवस्थाओं का निरूपण कर—

'गुणों से भावभेदयुक्त बुद्धि उत्पन्न हुई ।' (११।६८)

इस प्रकार उपक्रम को प्राप्त भावों के भेदों का निरूपण करने के लिये कहते हैं—

हे वरानने ! अब भावभेदों को बतलाऊँगा ॥ -१२६ ॥

जो अन्तःकरण को भावित = वासनायुक्त, करते हैं वे भाव कहलाते हैं । ये धर्म आदि (= अधर्म, ज्ञान-अज्ञान, वैराग्य अवैराग्य, ऐश्वर्य-अनैश्वर्य रूप) आठ बतलाये गये हैं ॥ १२६ ॥

उनमें पहले भेदों को बतलाते हैं—

हे प्रिये ! कारण दश हैं, तीन (अन्तःकरण हैं) और कार्य दश प्रकार के हैं ॥ १२७- ॥

भावों को भी बतलाते हैं—

बुद्धिरष्टविधा चैव पञ्चधा तु विपर्ययः ।

अत्राहङ्कारस्त्रिविधो भेदमध्ये गणनीयः ॥

अथ—

नामान्येषां विभागेन कथयामि यथाक्रमम् ॥ १२८ ॥

तत्र कार्यविषयाणि कारणानि, कार्याणि च स्थूलानि सूक्ष्मप्रतीतिहेतुभूतानीत्याशयेनोद्देशवैपरीत्येन नामान्याह—

पृथिव्यापस्तथा तेजो वायुराकाशमेव च ॥ १२९ ॥
गन्धो रसश्च तन्मात्रे रूपतन्मात्रमेव च ।
स्पर्शः शब्दश्च पञ्चैव तन्मात्राणीरितानि तु ॥ १३० ॥

ईरितान्युदीरितानि ॥ १३० ॥

एतत्ते दशधा कार्यं कीर्तितं नामसङ्ख्यया ।

अथ—

वाक्पाणिपादं पायुं च उपस्थं च तथा विदुः ॥ १३१ ॥

इन्द्रियों के वध (= असामर्थ्य) ग्यारह कहे गये हैं । अहङ्कार तीन प्रकार का बतलाया गया है । बुद्धि आठ प्रकार की और विपर्यय पाँच प्रकार का बतलाया गया है ॥ -१२७-१२८- ॥

यहाँ तीन प्रकार के अहङ्कार की गणना भेद के मध्य की जानी चाहिये ॥

अब—

विभाग के क्रम से इनके नामों को बतला रहा हूँ ॥ -१२८ ॥

उसमें कारण कार्यविषयक होते हैं और कार्य स्थूल होते हैं जो कि सूक्ष्म अनुभव के कारण हैं इस आशय से उद्देश के विपरीत क्रम से नामों को बतलाते हैं (अर्थात् पहले स्थूल महाभूत, फिर उनके सूक्ष्म अंश फिर उनसे सम्बद्ध इन्द्रियों का वर्णन करेंगे)—

पृथिवी, जल, तेज, वायु और आकाश (ये कार्य हैं) । गन्धतन्मात्रा, रसतन्मात्रा, रूपतन्मात्रा, स्पर्शतन्मात्रा और शब्दतन्मात्रा ये पाँच (पञ्च महाभूतों के सूक्ष्म अंश हैं) ॥ -१२९-१३० ॥

ईरितानि = कहे गये हैं ॥ १३० ॥

ये नाम लेकर दश प्रकार का कार्य तुमको बतलाया गया ॥ १३१- ॥

अब—

हे देवि ! वाक्, पाणि, पाद, पायु (= मलत्याग की इन्द्रिय) और

श्रोत्रं त्वक्चक्षुषी जिह्वा नासिका चेति कीर्तितम् ।
बहिष्करणकं देवि दशधा संव्यवस्थितम् ॥ १३२ ॥
मनोऽहङ्कारबुद्ध्याख्यं त्रिधान्तःकरणं स्मृतम् ।

एवं त्रयोविंशतिधा कार्यकारणान्युक्त्वा, इन्द्रियासामर्थ्यरूपानिन्द्रियवधाख्यान् भावान् यथाक्रमं व्यनक्ति—

मूकता कौण्यपंगुत्वं तथानुत्सर्गतापि च ॥ १३३ ॥
निरानन्दश्च विज्ञेयो बधिरत्वं तथैव च ।
शीर्णता चैव गात्रस्य तथा चान्धत्वमेव च ॥ १३४ ॥
अनास्वादस्त्वगन्धश्च अनवस्था मनस्यथ ।
इतीन्द्रियवधाः ख्याता एकादश तु तत्क्रमात् ॥ १३५ ॥

तत्क्रमादिति प्रोक्तवाक्पाण्यादिक्रमात् ॥

प्रागेव च—

तेजसो वैकृताख्यश्च भूतादिश्च तृतीयकः ।
अहङ्कारस्त्रिधा प्रोक्तो मया ते वरवर्णिनि ॥ १३६ ॥

अथ—

धर्मो ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च चतुर्थकम् ।

उपस्थ (= जननेन्द्रिय) श्रोत्र, त्वचा, नेत्र, जिह्वा और नासिका ये दश प्रकार के बाह्य करण हैं । मन अहङ्कार और बुद्धि ये तीन अन्तःकरण कहे गये हैं ॥ -१३१-१३३- ॥

इस प्रकार तेईस कार्यकारणों का वर्णन कर इन्द्रियों के असामर्थ्य रूप इन्द्रियवध नामक भावों को क्रम से कहते हैं—

मूकता, लूलापन, लङ्गड़ापन, अनुत्सर्गता (= मल का अन्दर से न निकलना) और निरानन्द (ये पाँच कर्मेन्द्रियों के असामर्थ्य हैं) । बहरापन, शरीर का शीर्ण होना (= ढीला ढाला होना), अन्धता, आस्वाद का अनुभव न होना, और गन्ध का अनुभव न होना, मन का अस्थिर होना, ये ग्यारह क्रम से इन्द्रियवध है ॥ -१३३-१३५ ॥

तत्क्रमात् = उपर्युक्त वाक् पाणि आदि के क्रम से ॥

पहले ही—

हे वरवर्णिनि ! मैंने तुमको तैजस, वैकृत और भूतादि भेद से तीन प्रकार का अहङ्कार बतला दिया ॥ १३६ ॥

अब—

अधर्मं च तथाज्ञानमवैराग्यमनैश्वरम् ॥ १३७ ॥
अष्टावेते समाख्याता बुद्धेर्धर्मादयो गुणाः ।

किं च—

तमो मोहो महामोहस्तामिस्त्रोऽन्यो विपर्ययः ॥ १३८ ॥
अन्धतामिस्त्रमित्याहुरेवं पञ्च विपर्ययाः ।

गुणबुद्ध्यहङ्कृत्तन्मात्रात्मनि सूक्ष्मशरीरे इन्द्रियभूतात्मके स्थूलदेहे दृष्टानुश्रविकैः स्पृहणीये शब्दादिविषयपञ्चके य आत्माभिमानः, स क्रमेण तमो मोहो महामोह इत्युच्यते। यस्तु शरीरबाह्यविषयापकारिणि द्वेषः, स तामिस्त्रः । तद्वियोगभयात् त्रासोऽन्धतामिस्त्रः ॥

तदेवम्—

भावभेदाः समाख्याताः पञ्चाशत्ते यथाक्रमम् ॥ १३९ ॥

अथ धर्मादीनां प्रभेदान् प्रतिपादयन् सांख्योक्तांस्तुष्टिसिद्ध्यादीन् दर्शयितुं

धर्म, ज्ञान, वैराग्य, ऐश्वर्य, अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य ये आठ बुद्धि के गुण हैं ॥ १३७-१३८- ॥

तथा—

तम, मोह, महामोह, तामिस्त्र और अन्धतामिस्त्र बुद्धि के ये पाँच विपर्यय हैं ॥ -१३८-१३९- ॥

(सांख्य के अनुसार धर्म आदि आठ) गुण, बुद्धि अहङ्कार और तन्मात्र रूप सूक्ष्मशरीर में, इन्द्रिय भूत वाले स्थूल देह में, प्रत्यक्षवादी, अनुमान वाले एवं वैदिक लोगों के द्वारा स्पृहणीय शब्द आदि पाँच विषयों में जो आत्माभिमान है (= ये गुण आदि ही आत्मा है ऐसा मानना) वह क्रम से तम, मोह और महामोह कहा जाता है अर्थात् सूक्ष्मशरीर में आत्माभिमान तम, स्थूलशरीर में मोह और विषयो में आत्माभिमान महामोह है । शरीर के बाहर विषयों के अपकारी (= विषय की प्राप्ति में बाधा पहुँचाने वाले) के प्रति जो द्वेष है वह तामिस्त्र है । उस (= विषयपञ्चक) के सम्भावित वियोग के भय से उत्पन्न जो त्रास है वह अन्धतामिस्त्र है ॥

तो इस प्रकार—

तुमको क्रमशः पचास[1] भावभेद बतलाये गये । (जो इस प्रकार हैं— १० इन्द्रियाँ + ३ अन्तःकरण + १० इन्द्रियकार्य + ११ इन्द्रियासामर्थ्य + ३ अहङ्कार + ८ बुद्धि धर्म + ५ विपर्यय = ५०) ॥ -१३९ ॥

---

१. एष प्रत्ययसर्गो विपर्ययाशक्तितुष्टिसिद्ध्याख्यः ।
गुण वैषम्यविमर्दात् तस्य भेदास्तु पञ्चाशत् ॥ सां.का. ४६

प्रक्रमते—

पुनश्चाष्टौ तु ये बुद्धेर्भेदा धर्मादयः स्थिताः ।
तेषां भेदा यथा भिन्नास्तथाहं कथयामि ते ॥ १४० ॥

'पुनः' शब्दः 'कथयामि' इत्येतदनन्तरं योज्यः ॥

धर्माद्यष्टकरूपा या बुद्धिः, सा ज्ञानाख्यभेदवर्जम्—

बध्नाति सप्तधा सा तु पुंसः संसारवर्त्मनि ।

अष्टमेन तु—

मोचयेज्ज्ञानभावेन सांख्यज्ञानरतान्नरान् ॥ १४१ ॥

सांख्येत्याद्युक्तेः सांख्यदृष्टावेव ते मुक्ताः, न त्विहेत्याशयोऽग्रे व्यक्तीभविष्यति ॥ १४१ ॥

एषां धर्मादीनां मध्यात्—

ज्ञानं च सात्त्विकं प्रोक्तं त्रयोऽन्ये राजसाः स्मृताः ।
तामसाश्चाप्यधर्माद्याश्चत्वारो वै वरानने ॥ १४२ ॥

अब धर्म आदि भेदों का प्रतिपादन करते हुए सांख्य शास्त्र में वर्णित तुष्टि सिद्धि आदि को दिखलाने का उपक्रम करते हैं—

बुद्धि के जो धर्म आदि आठ भेद हैं उनके भेद जिस प्रकार अलग-अलग हैं उसको मैं तुमको पुनः बतला रहा हूँ ॥ १४० ॥

'पुनः' शब्द को 'कथयामि' के ठीक पहले जोड़ना चाहिये ॥

धर्म आदि आठ रूपों वाली जो बुद्धि है वह ज्ञान नामक भेद को छोड़ कर—

सात प्रकार के धर्मों के द्वारा संसार अध्वा में पुरुष को बन्धन में डालती है ॥ १४१- ॥

और आठवें धर्म द्वारा—

सांख्य के ज्ञान में निरत मनुष्यों को ज्ञान नामक आठवें धर्म के द्वारा मुक्त करती है ॥ -१४१ ॥

'सांख्य................' इत्यादि उक्ति से (यह समझना चाहिये कि) वे सांख्य की ही दृष्टि से मुक्त होते हैं न कि यहाँ (= शैवागम) में—यह आशय आगे चल कर स्पष्ट होगा ॥ १४१ ॥

इन धर्म आदि में से—

ज्ञान को सात्त्विक कहा गया है । अन्य तीन (= धर्म वैराग्य और

त्रय इत्यैश्वर्यवैराग्यधर्माः ॥ १४२ ॥

किं च—

धर्मश्च दशधा प्रोक्तो ज्ञानं चैवाष्टधा स्मृतम् ।
वैराग्यं नवधा चैवमैश्वर्यं चाष्टधा विदुः ॥ १४३ ॥
एत एव विपर्यस्ता अधर्माद्याः प्रकीर्तिताः ।

एत एव ते धर्मादयो यथाप्रोक्तसङ्ख्याप्रभेदा इत्यर्थः ॥

तत्र धर्मं दशविधं तावदाह—

अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं सन्तोष आर्जवम् ॥ १४४ ॥
अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता ।
एवं दशविधो धर्मः कथितस्तु वरानने ॥ १४५ ॥

अकल्कताऽपापचित्तता ॥ १४५ ॥

ज्ञानभेदानाह—

तारं सुतारं तरणं तारकं च प्रमोदकम् ।

ऐश्वर्य) राजस माने गये हैं । हे वरानने ! शेष अधर्म आदि चार तामस बतलाये गये हैं ॥ १४२ ॥

तीन = ऐश्वर्य, वैराग्य और धर्म ॥ १४२ ॥

और भी—

धर्म दश प्रकार का, ज्ञान आठ प्रकार का, वैराग्य नव प्रकार का और ऐश्वर्य आठ प्रकार का माना गया है । ये ही विपरीत होने पर अधर्म आदि कहे गये हैं ॥ १४३-१४४- ॥

ये ही = धर्म आदि, जो कि अलग-अलग उक्तसङ्ख्याभेद वाले हैं (उतने ही अधर्म आदि होते हैं) ॥

उनमें से दश प्रकार के धर्म को बतलाते हैं—

अक्रोध, गुरुसेवा, (बाह्य आभ्यन्तर दोनों प्रकार की) पवित्रता, (यथालाभ-) सन्तोष, सरलता, अहिंसा, सत्य, अस्तेय (= चोरी न करना तथा अत्यधिक संग्रह न करना) अकल्कता, हे वरानने! यह दश प्रकार का धर्म कहा गया है ॥ -१४४-१४५ ॥

अकल्कता = मन में पापभावना का न होना ॥ १४५ ॥

ज्ञान के भेदों को बतलाते हैं—

प्रमुदितं रम्यकं च सदाप्रमुदितं तथा ॥ १४६ ॥
एतज्ज्ञानं समाख्यातं समासात् परमेश्वरि ।

यत् पूर्वं पुंस्तत्त्वभुवननिर्णयावसरे—

'तारा चैव सुतारा च' (१०।१०७१)

इत्यादि सिद्ध्यपेक्षया स्त्रीपाठेनोक्तम्, तत् सांख्योक्तोहादिरूपसिद्ध्यष्टकं ज्ञानविशेषमित्याशयेन । इह ज्ञानसमानाधिकरण्येन नपुंसकनिर्देशेनोक्तौ केवलं पूर्वं मोदमानेति यत्पठितम्, तत्स्थान इह तरणमिति पाठमात्रभेदः न तु वस्तुभेदः कश्चित् ॥

पूर्वोक्तं तुष्टिनवकमपि वैराग्यप्रभेदरूपमित्याह—

अम्भा च सलिला ओघा वृष्टिसञ्ज्ञा तथापरा ॥ १४७ ॥
सुतारा च सुपारा च सुनेत्रा च परा स्मृता ।
अष्टमी च कुमारी स्यादुत्तमाम्भसिका तथा ॥ १४८ ॥

तदित्थम्—

वैराग्यं नवधा चैव कथितं तु मया तव ।

हे परमेश्वरि ! तार, सुतार, तरण, तारक, प्रमोदक, प्रमुदित, रम्यक और सदा प्रमुदित ये संक्षेप में ज्ञान कहे गये ॥ १४६-१४७- ॥

जो पहले पुरुषतत्त्वभुवन के निर्वचन के अवसर पर—

'तारा और सुतारा.........' (१०।१०७१)

इत्यादि स्त्रीलिङ्गपाठ के द्वारा कहा गया वह सांख्य शास्त्र में वर्णित ऊह आदि सिद्धियों को दृष्टि में रख कर (= शब्द, अध्ययन, तीन दुःखों का नाश, मित्रलाभ, दान) । यहाँ ('एतज्ज्ञानम्' में नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग है उसके समान 'तरणम्' में भी नपुंसक लिङ्ग का प्रयोग किया गया है । स्व.तं. १०।१०७१) 'मोदमाना' पाठ का जो अर्थ है 'तरणं' का भी वही अर्थ है । अन्तर इतना ही है कि यहाँ 'तरणा' ऐसा स्त्रीलिङ्ग पाठ नहीं है बल्कि 'ज्ञान' को दृष्टि में रखकर 'तरणम्' पाठ है । अर्थ में कोई भेद नहीं है ॥

नव तुष्टियाँ भी वैराग्य के प्रभेद रूप हैं—यह कहते हैं—

अम्भा, सलिला, ओघा, वृष्टि, सुतारा, सुपारा, सुनेत्रा, कुमारी और उत्तमाम्भसिका (ये नव तुष्टियाँ) कही गयीं ॥ -१४७-१४८ ॥

तो इस प्रकार—

मैंने तुमको नव प्रकार का वैराग्य बतलाया ॥ १४९- ॥

तदेतत्सिद्धितुष्टिसप्तदशकमिह तारादिदेवताधिष्ठितत्वादेवमभिहितमिति प्रागेवोक्तम् ॥

अथैश्वर्यं विभागतो दर्शयति—

अणिमा लघिमा चैव महिमा प्राप्तिरेव च ॥ १४९ ॥
प्राकाम्यं च तथेशित्वं वशित्वं च तथा परम् ।
यत्रकामावसायित्वमष्टमं परिकीर्तितम् ॥ १५० ॥
ऐश्वर्यमष्टधा चैव कथितं तु वरानने ।

अथाक्रोधादिविपरीतान् क्रोधादीनधर्मभेदानाह—

क्रोधश्चागुरुशुश्रूषा अशौचं च ततः परम् ॥ १५१ ॥
असन्तोषोऽनार्जवं च हिंसा चासत्यमेव च ।
स्तेयमब्रह्मचर्यं च तथा चैव सकल्कता ॥ १५२ ॥
एवमेष समाख्यातो दशधाऽधर्मसंग्रहः ।

अज्ञानभेदानाह—

अतारमसुतारं च अतारणमथापि च ॥ १५३ ॥
अतारकं च देवेशि चतुर्थं परिकीर्तितम् ।
अप्रमोदोऽप्रमुदितमरम्यकमथापि च ॥ १५४ ॥

ये सत्रह सिद्धियाँ और तुष्टियाँ तारा आदि देवताओं के द्वारा अधिष्ठित होने के कारण ही इस प्रकार (= तारा आदि नाम से) कही गयी—यह पहले (स्व.तं.टी. १०।१०७१ में) ही कहा जा चुका है ।

अब ऐश्वर्य को विभाग के साथ दिखलाते हैं—

अणिमा (= अत्यन्त सूक्ष्म हो जाना), लघिमा (= बहुत हलका होना), महिमा (= बहुत बड़ा होना), प्राप्ति (= इष्ट वस्तु का लाभ), प्राकाम्य (= इच्छा की स्वतन्त्रता), ईशित्व (= सबका स्वामी होना), वशित्व (= सबको वश में करना) और यत्रकामावसायित्व (= जहाँ कहीं भी जाने की शक्ति)—इस प्रकार हे वरानने ! तुमको आठ प्रकार का ऐश्वर्य बतलाया ॥ -१४९-१५१- ॥

अब अक्रोध आदि के विपरीत क्रोध आदि अधर्म के भेदों को बतलाते हैं—

क्रोध, गुरुसेवा का अभाव, अपवित्रता, असन्तोष, कुटिलता, हिंसा, असत्य, चोरी, व्यभिचार, सकल्कता, यह दश प्रकार का अधर्म का संग्रह (संक्षिप्त रूप) बतलाया गया ॥ -१५१-१५३- ॥

अज्ञान के भेदों को बतलाते हैं—

हे देवेशि ! १. अतार, २. असुतार, ३. अतारण, ४. अतारक,

असदाप्रमुदितं तदज्ञानं चैवमष्टधा ।

एता एव सांख्यैरुहादिसिद्धिविपरीता अष्टौ बुद्धेरशक्तय उक्ता: ॥

अवैराग्यभेदानाह—

अनम्भा असलिला च अनोघाऽवृष्टिरेव च ॥ १५५ ॥
असुतारमसुपारमसुनेत्रमत: परम् ।
अकुमारी च विज्ञेयानुत्तमाम्भसिका तथा ॥ १५६ ॥

तदित्थम्—

अनणिमालघिमा चैवामहिमा महेश्वरि ।
अप्राप्तिरप्राकाम्यं चानीशित्वं च तथैव च ॥ १५७ ॥
अवशित्वं तथा चैवायत्रकामावसायिता ।

तदित्थम्—

अनैश्वर्यं च देवेशि अष्टधा परिकीर्तितम् ।

एवं तत्त्वसर्गान्तरितो यो भावसर्गोऽभिहित:, स यथा यत्र स्थित-स्तत्प्रतिपादयितुमाह—

अनैश्वर्यादिभिश्चैते पैशाचाद्या अधिष्ठिता: ॥ १५८ ॥

---

५. अप्रमोद, ६. अप्रमुदित, ७. अरम्यक और ८. असदाप्रमुदित—यह आठ प्रकार का अज्ञान है ॥ -१५३-१५५- ॥

ये ही सांख्यों के द्वारा ऊह आदि सिद्धियों के विपरीत बुद्धि की आठ अशक्तियाँ कही गयी हैं ॥

अवैराग्य के भेदों को बतलाते हैं—

अनम्भा, असलिला, अनोघा, अवृष्टि, असुतार, असुपार, असुनेत्र, अंकुमारी और अनुत्तमाम्भसिका (ये नव अवैराग्य हैं) ॥ -१५५-१५६ ॥

इसी प्रकार—

हे महेश्वरि ! अनणिमा, अलघिमा, अमहिमा, अप्राप्ति, अप्राकाम्य अनीशित्व, अवशित्व और अयत्रकामावसायित्व ॥ १५७-१५८- ॥

इस प्रकार—

हे देवशि ! आठ प्रकार का अनैश्वर्य कहा गया ॥ -१५८- ॥

तत्त्वसृष्टि के भीतर जो भावसृष्टि कही गयी वह जिस प्रकार जहाँ स्थित है उसको बतलाने के लिये कहते हैं—

ये पैशाच आदि अनैश्वर्य आदि से अधिष्ठित हैं (अर्थात् इनमें अनैश्वर्य

अधिष्ठिता व्याप्ता: ॥ १५८ ॥

अतश्च—

यथाक्रमेण तेष्वष्टौ संस्थितान् कथयामि ते ।

तेषु पैशाचादिषु । अष्टावनैश्वर्यादीन् ॥

तत्र—

अनैश्वर्यं हि पैशाचे अवैराग्यं च राक्षसे ॥ १५९ ॥
याक्षे चैव तदज्ञानं गान्धर्वेऽधर्म एव च ।
धर्मं चैव तथैन्द्रे तु ज्ञानं सौम्ये प्रतिष्ठितम् ॥ १६० ॥
प्राजापत्ये तु वैराग्यमैश्वर्यं ब्रह्मणि स्थितम् ।

प्रधानतयेति शेष: ॥

यच्चैतदैश्वर्यमुक्तम्—

चतुष्षष्टिगुणं चैतत् पदे ब्राह्मे व्यवस्थितम् ॥ १६१ ॥
षट्पञ्चाशद्गुणं तच्च प्राजापत्ये व्यवस्थितम् ।
अष्टचत्वारिंशद्गुणं सौम्ये वै परिकीर्तितम् ॥ १६२ ॥
चत्वारिंशद्गुणं चैव माहेन्द्रैश्वर्यमुच्यते ।

आदि प्रधानतया रहते हैं) ॥ -१५८ ॥

अधिष्ठित = व्याप्त ॥ १५८ ॥

इसलिये—

उनमें क्रमश: स्थित आठ को तुमसे कह रहा हूँ ॥ १५९- ॥

उनमें = पैशाच आदि में, आठ = अनैश्वर्य आदि को ॥

उनमें—

अनैश्वर्य पिशाचों में, अवैराग्य राक्षसों में, अज्ञान यक्षों में और गन्धर्वों में अधर्म रहता है । इन्द्र में धर्म, चन्द्रमा में ज्ञान, प्रजापति में वैराग्य और ब्रह्मा में ऐश्वर्य रहता है ॥ -१५९-१६१- ॥

प्रधानतया—यह जोड़ना चाहिए ॥ (उपर्युक्त पिशाच आदि में अनैश्वर्य आदि) प्रधानरूप में रहता है ॥

जो यह ऐश्वर्य कहा गया—

वह ब्राह्म पद में (सार्वभौम चक्रवर्ती सम्राट् के ऐश्वर्य की अपेक्षा) चौसठ गुना अधिक होता है । प्राजापत्य पद में छप्पन गुना स्थित है ।

द्वात्रिंशद्गुणितं देवि गान्धर्वैश्वर्यमुच्यते ॥ १६३ ॥
चतुर्विंशगुणं याक्षं षोडशं राक्षसं स्मृतम् ।
ऐश्वर्यमष्टगुणितं पैशाचं परिकीर्तितम् ॥ १६४ ॥
एवं स्थितं तदैश्वर्यं देवयोनिषु सुव्रते ।

देवयोनिष्वित्यर्थलब्धमभिदधतोऽयमाशयः—यादृक् सार्वभौमस्य नरपतेरैश्वर्यम्, ततोऽष्टगुणं पैशाचम्, ततोऽप्युत्तरोत्तरमष्टगुणं राक्षसादिषु, अन्यथाऽवधेरभावे किमपेक्षमष्टगुणत्वादि स्यात् । एवं ब्राह्मैश्वर्यापेक्षं पिशाचानामनैश्वर्यमेवोल्बणम्, चक्रवर्त्यपेक्षया त्वष्टगुणमैश्वर्यमुच्यते ॥

एवंविधैश्वर्यव्यक्तिरिक्तास्तु ये धर्मादयः, ते—

अन्ये सप्तस्वरूपेण संस्थिता देवयोनिषु ॥ १६५ ॥

यद्यपि सर्वे बुद्धिधर्माः सन्तिः, तथापि पैशाचादिक्रमेणानैश्वर्यादिरेकैकस्य प्रकर्षः, अन्येषां त्वपकर्ष इत्युक्तम् ॥ १६५ ॥

न केवलमित्थमेते देवयोनिषु गुणप्रधानभावेन स्थिताः, यावत्—

एत एव सुसङ्कीर्णा मानुषेषु व्यवस्थिताः ।

चन्द्र पद में अँड़तालिस गुना है । इन्द्र का ऐश्वर्य चालिस गुना है । गन्धवों में बत्तीस गुना यक्षों में चौबीस गुना, राक्षसों में सोलह गुना और पिशाचों में आठ गुना ऐश्वर्य निहित रहता है । हे सुव्रते ! वह ऐश्वर्य इस प्रकार देवयोनियों में स्थित है ॥ -१६१-१६५- ॥

'देवयोनियों में' इस अर्थात् प्राप्त (विषय) को कहने वाले भगवान् का यह उद्देश्य है—सार्वभौम राजा का जैसा ऐश्वर्य होता है उससे आठ गुना पिशाचों का, उससे भी उत्तरोत्तर आठ-आठ गुना राक्षस आदि में होता है । अन्यथा सीमा के न रहने पर किसकी अपेक्षा आठ गुना आदि होगा । इससे यह सिद्ध होता है कि ब्रह्मा के ऐश्वर्य की अपेक्षा पिशाचों का अनैश्वर्य सबसे अधिक है । किन्तु चक्रवर्त्ती सम्राट् की अपेक्षा तो उनमें आठ गुना ऐश्वर्य कहा ही जाता है ॥

इस प्रकार के ऐश्वर्य से भिन्न जो धर्म आदि हैं वे—

अन्य सात देवयोनियों में अपने रूप में स्थित रहते हैं ॥ -१६५ ॥

यद्यपि ऐश्वर्य आदि सब के सब बुद्धि के धर्म हैं तो भी पैशाच आदि के क्रम से एक-एक अनैश्वर्य आदि का उनमें प्रकर्ष है और अन्य (ब्रह्मा आदि में) अपकर्ष है—यह कहा गया ॥ १६५ ॥

देवयोनियों में ही ये इस प्रकार गुणप्रधान भाव से स्थित हैं—ऐसी बात नहीं है वरन्—

सुष्ठु सङ्कीर्णा अलक्ष्यमाणविवेकाः, अत एव मानुष्यमेकरूपम् ॥

तिर्यग्भेदे का वार्ता इत्याह—

प्रधानगुणभावेन स्थावरान्तं व्यवस्थिताः ॥ १६६ ॥

पश्वादयस्तामसत्वाद् अधर्मादिचतुष्टयमयाः । तत्रापि च यथोत्तरमधर्मादयः प्रकृष्यन्ते ॥ १६६ ॥

अथात्रैव यथाविभक्तविषये भावभेदे—

गुणत्रयस्य व्याप्तिं वै कथयामि यथास्थिताम् ।

तत्र—

सत्त्वेनाधिष्ठिता देवा ब्रह्माद्या मघवान्तकाः ॥ १६७ ॥

ब्रह्माद्या मघवदन्ताश्चत्वारः सत्त्वप्रधानाः ॥

गन्धर्वयक्षमनुजा दैत्याश्चैव तु राजसाः ।
यातुधानाः पिशाचाश्च तामसाः परिकीर्तिताः ॥ १६८ ॥

दैत्या यक्षप्राया एव ॥ १६८ ॥

ये ही सुसङ्कीर्ण होकर मनुष्यों में स्थित हैं ॥ १६६- ॥

(सुसङ्कीर्ण का अर्थ है—) सुष्ठु (= भली-भाँति) सङ्कीर्ण (= मिश्रित) अर्थात् इनके भेद लक्षित नहीं होते । इसीलिये मनुष्य में ये एक रूप में स्थित हैं ॥

तिर्यक् (= पशु पक्षी आदि) के भेद में क्या स्थिति है ?—यह कहते हैं—

(ये अधर्म आदि) प्रधानगुण भाव से स्थावरपर्यन्त स्थित हैं ॥-१६६॥

पशु आदि तामस होने के कारण अधर्म आदि चार से भरपूर होते हैं । उनमें भी उत्तरोत्तर अधर्म आदि का प्रकर्ष है अर्थात् पशुओं की अपेक्षा पक्षियों में, पक्षियों की अपेक्षा सरीसृपों में और उनकी अपेक्षा स्थावरों में अधर्म आदि अधिक होता है ॥ १६६ ॥

अब यहीं पर विषयानुसार भावभेद के विभक्त होने पर—

तीनों गुणों की यथास्थित व्याप्ति को बतला रहा हूँ ॥ १६७- ॥

उनमें—

ब्रह्मा से लेकर इन्द्रपर्यन्त देवता सत्त्व गुण से अधिष्ठित हैं ॥-१६७॥

ब्रह्मा से लेकर इन्द्रपर्यन्त चार देवताओं में सत्त्वगुण अधिक है ॥

गन्धर्व, यक्ष, मनुष्य और दैत्य राजस हैं । यातुधान और पिशाच तामस कहे गये हैं ॥ १६८ ॥

रजःसत्त्वोत्कटा ज्ञेया ऋषयः संशितव्रताः ।

संशितं सुतीक्ष्णं व्रतं ज्ञानविज्ञानोपायानुष्ठाननियमो येषां ते देवमानुषान्तरालप्रायत्वाद् रजःसत्त्वाभ्यामुत्कटाः ॥

ये च देवाद्या ऋषिपर्यन्तयोनिभेदाः—

अन्योन्याभिभवास्ते च पृथिव्यां संव्यवस्थिताः ॥ १६९ ॥

यातुधानप्रभृतिभिर्देवर्षिप्रभृतयो दुर्वृत्तेन भूर्लोकेऽभिभूयन्ते, तैरपि ते शौर्यतपोमन्त्रादिप्रभावात्, न तु गुणा अन्योन्याभिभवाः पृथिव्यामिति व्याख्येयं तेषामन्योन्याभिभवादिरूपतायाः सर्वत्राविशेषात् पृथिव्यामिति विशेषचोदनाया अनुपपत्तेः ॥ १६९ ॥

किं च—

अत्यन्ततमसाविष्टाः स्थावराश्च सरीसृपाः ।

वृक्षादयः सर्पाद्याश्च गाढतामसा मोहक्रोधमयत्वात् ॥

दैत्य भी यक्ष जैसे ही होते हैं ॥ १६८ ॥

तीक्ष्ण व्रत वाले ऋषि रजस् एवं सत्त्व गुणों से विशिष्ट होते हैं ॥१६९-॥

संशित = सुतीक्ष्ण, व्रत = ज्ञान विज्ञानोपायभूतअनुष्ठाननियम है जिनके वे; देवता और मनुष्य के बीच वाले होने के कारण रजस् एवं सत्त्व के कारण उत्कट हैं ॥

देवता से लेकर ऋषिपर्यन्त जो भिन्न-भिन्न योनियाँ हैं—

वे पृथिवी में स्थित रहती हैं और एक-दूसरे को पराजित करती रहती हैं ॥ -१६९ ॥

इस पृथिवी लोक में देवता ऋषि आदि यातुधान आदि के द्वारा दुष्ट आचरण से अभिभूत किये जाते हैं और वे (= यातुधान आदि) भी उन (= देवताओं आदि) के द्वारा शूरता तपस्या मन्त्र आदि के प्रभाव से (अभिभूत किये जाते हैं) पृथिवी पर गुण अन्योऽन्य के अभिभव के कारण हैं ऐसी व्याख्या नहीं करनी चाहिये क्योंकि वे सर्वत्र अन्योऽन्य का अभिभव करते हैं इसलिये 'पृथिवी पर' यह विशेष कथन अनुपपन्न हो जायगा ॥ १६९ ॥

इसके अतिरिक्त—

स्थावर (= तरु गुल्म लता आदि) तथा सरीसृप (रेंगकर चलने वाले सर्प आदि) अत्यन्त तमोगुण से अविष्ट हैं ॥ १७०- ॥

वृक्ष आदि और सर्प आदि गाढ तमोगुण वाले हैं क्योंकि वे मोह और क्रोध से भरे हैं ॥

किं च—

पादपादविहीनाश्च तामसाः परिकीर्तिताः ॥ १७० ॥

सरीसृपाद्या विज्ञेयाः............

सरीसृपा आदौ येषां प्रातिलोम्यक्रमेण पक्ष्यादीनां ते सरीसृपाद्याः पश्वन्ताः सर्व एव तामसाः, किन्तु पादपादविहीना इति सरीसृपेभ्यः पक्षिणां पादेन हीनं तामसत्वम्, तेभ्योऽपि मृगाणां, तेभ्योऽपि पशूनाम् । तदीदृशी गुणव्याप्तिरिह भगवता विभज्य दर्शिता, सांख्यैस्तु—

'ऊर्ध्वं सत्त्वविशालस्तमोविशालस्तु मूलतः सर्गः ।
मध्ये रजोविशालो ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तः ॥' (सा०का० ५४)

इत्यविशेषेण देवयोनिपश्वादिमनुष्याणां सत्त्वतमोरजोमयत्वं दर्शितम् ॥

तदित्थं गुणवैचित्र्येण दर्शिता ये—

.............स्थावरान्तास्तु सुव्रते ।

चतुर्दश योनिभेदाः ॥

एषामन्तर्गताश्चान्या अनन्ता एव योनयः ॥ १७१ ॥

तथा—

सरीसृप से लेकर (ऊपर पशु पर्यन्त जीव) एक-एक चतुर्थांश कम तमोगुण वाले हैं ॥ -१७०-१७१- ॥

(सरीसृपाद्याः की व्याख्या करते हैं—) सरीसृप है आदि में जिनके अर्थात् विलोम क्रम से पक्षी आदि के वे, सरीसृप से लेकर पशु पर्यन्त सभी तामस हैं । किन्तु वे एक-एक पाद से कम हैं । वह इस प्रकार—सरीसृपों की अपेक्षा पक्षियों में एक पाद कम तमोगुण है । उन पक्षियों से मृगों (= जङ्गली जानवरों) में एक पाद कम है । उनकी अपेक्षा पशुओं (= पालतू जानवरों) में एक पाद कम तमोगुण है । भगवान् शिव ने इस प्रकार को गुणव्याप्ति की अलग-अलग करके दिखलाया है । सांख्यदर्शन वालों ने—

ब्रह्मा से लेकर स्तम्ब पर्यन्त सृष्टि में ऊर्ध्वलोक सत्त्वगुण से शोभायमान है । मूल सृष्टि तमोविशाल है । मध्य में रजोगुण वाला है । (सां.का. ५४)

इस प्रकार सामान्यरूप से देवयोनि पशु आदि और मनुष्यों का सत्त्वरजस्तमोमयत्व दिखलाया है ॥

तो इस प्रकार गुणों के वैचित्र्य के द्वारा—

स्थावर पर्यन्त हे सुव्रते ! ॥ -१७१- ॥

जो चौदह प्रकार की योनियाँ दिखलायी गयीं ॥

मानुषेषु तथानन्ता भेदानन्त्यव्यवस्थया ।
न शक्या गदितुं ता वै कर्मानन्त्यप्रभेदतः ॥ १७२ ॥

मानुषेष्विति पुनर्विशेषोक्त्या दिग्देशकालसमाचारादिवैचित्र्येण तेषामनन्तशाखत्वं कथयति । कर्मसम्बन्धिनोऽनन्ताद् प्रभेदादिति योन्यानन्त्यहेतुः ॥ १७२ ॥

किं च—

गुणास्तु मानुषे लोके धर्माद्या इव संस्थिताः ।

यथा—

'एत एव सुसङ्कीर्णा मानुषेषु व्यवस्थिताः' (११।१६६)

इति धर्माद्याः सुसङ्कीर्णा मनुष्याणामुक्ताः तथा गुणा अप्यलक्ष्यमाणविशेषा इत्यर्थः ॥

अधर्मादिभिर्गुणैश्च ये सङ्कीर्णा मानुषाः तदुपदेष्टृणि—

धर्माद्येषु निबद्धानि यानि ज्ञानानि सुव्रते ॥ १७३ ॥
अधर्माद्येषु यानि स्युस्तानि ते कथयाम्यहम् ।

धर्माद्येष्विति तद्विषये तद्वाचके इत्यर्थात् । ज्ञानानि शास्त्राणि ॥

इनके अन्तर्गत दूसरी अनन्त योनियाँ हैं । अनन्त भेदों की व्यवस्था के अनुसार मनुष्यों में ही अनन्त योनियाँ है । अनन्तकर्मों के भेद के कारण उनका वर्णन नहीं किया जा सकता ॥ -१७१-१७२ ॥

'मानषेषु' इस विशेषोक्त के द्वारा दिग्देश, काल, आचार आदि के भेद से उनकी अनन्त शाखा है । ऐसा ग्रन्थकार का तात्पर्य है । कर्मसम्बन्धि अनन्त प्रभेद —यह अनन्त योनियों का कारण है ॥ १७२ ॥

तथा—

धर्म आदि की भाँति गुण भी मनुष्य लोक में संस्थित हैं ॥ १७३- ॥

यथा—

'ये ही मनुष्य लोक में भलीभाँति मिश्रित होकर स्थित हैं ।' (११।१६६)

इस कथन के अनुसार जैसे मनुष्यों में धर्म आदि सुसङ्कीर्ण कहे गये हैं उसी प्रकार गुण भी अलग-अलग नहीं दिखायी देते—यह अर्थ है ॥

जो मनुष्य अधर्म आदि गुणों से भरे हैं—

हे सुव्रते ! धर्म आदि के विषय में तथा अधर्म आदि के विषय में जो शास्त्र रचे गये उनको मैं तुम्हें बतला रहा हूँ ॥ -१७३-१७४- ॥

तत्र—

हेतुशास्त्रं च यल्लोके नित्यानित्यविडम्बकम् ॥ १७४ ॥

नित्यत्वानित्यत्वाभ्यां साध्याभ्यां विडम्बयति वञ्चयति प्रतिपाद्यं तत्त्वतस्तन्निश्चयायोगादिति नित्यानित्यविडम्बकम् । भावप्रधानो निर्देशः ॥ १७४ ॥

किं च—

वादजल्पवितण्डाभिः...............

यदुक्तं प्रमाणतर्कसाधनोपालम्भः सिद्धान्ताविरुद्धः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहो वीतरागकथारूपो वादः । स एव च्छलजातिनिग्रहोपपन्नः पुरुषशक्तिपरीक्षार्थो जल्पः । प्रतिपक्षस्थापनहीनस्तु वितण्डा ॥

एवंभूतं हेतुशास्त्रं सदागमबाह्यं तर्कशास्त्रं यत्, तेन—

.............विवदन्ते ह्यनिश्चिताः ।

न विद्यते निश्चितं वस्तुसतत्त्वनिश्चयो येषाम्, ते विवदन्ते—इदं तत्त्वमिदं नेति परस्परव्याहतं रटन्ति ॥

धर्म आदि में = उन विषयों वाले या उनके वाचक में । ज्ञान = शास्त्र ॥

उनमें—

लोक में जो तर्कशास्त्र है वह नित्य-अनित्य का विडम्बक है ॥-१७४ ॥

('नित्यानित्यविडम्बकम्' की व्याख्या करते हैं—) जो नित्यत्व अनित्यत्व रूप साध्यों के द्वारा विडंबना करता है = वञ्चना करता है (= ठगता है, धोखा देता है) प्रतिपाद्य का तात्त्विक रूप से निश्चय नहीं करता वह नित्यानित्यविडम्बक (कहलाता) है । इसमें 'विडम्ब' धातु से भाव अर्थ में 'ण्वुल्' प्रत्यय किया गया है ॥ १७४ ॥

तथा—

वाद-जल्प वितण्डा के द्वारा ॥ १७५- ॥

जैसा कि कहा गया—जो प्रमाण एवं तर्क रूप साधन वाला, सिद्धान्तसम्मत, पक्षप्रतिपक्षपरिग्रह वाला वीतरागकथा रूप है वह वाद होता है । वही यदि छल जाति और निग्रह से युक्त तथा पुरुष की शक्ति की परीक्षा के लिये किया जाय तो जल्प होता है । प्रतिपक्ष की स्थापना से रहित कथा को वितण्डा कहते हैं ॥

इस प्रकार का जो हेतुशास्त्र अर्थात् सदागम से बाह्य तर्कशास्त्र, उससे (नैयायिक लोग)—

अनिश्चित विवाद करते रहते हैं ॥ -१७५- ॥

जिनको वस्तु अर्थात् यथार्थतत्त्व का निश्चय नहीं है, वे विवाद करते हैं = यह

यतस्तेषाम्—

हेतुनिष्ठानि वाक्यानि..............

न त्वागमिकार्थविचाररूपाणि ॥

अतश्च—

.......वस्तुशून्यानि सुव्रते ॥ १७५ ॥
ज्ञानयोगविहीनानि देवतारहितानि तु ।

तेनैषाम्—

धर्मार्थकाममोक्षेषु निश्चयो नैव जायते ॥ १७६ ॥

अत एवैतानि—

अज्ञानेन निबद्धानि त्वधर्मेण निमित्ततः ।

उक्तं च प्राक्—

'गुरुदेवाग्निशास्त्रस्य ये न भक्ता नराधमाः ॥
असद्युक्तिविचारज्ञाः शुष्कतर्कावलम्बिनः ।

तत्त्व है यह (तत्त्व) नहीं है ऐसा परस्पर व्याहत (= एक दूसरे को आक्षिप्त करते हुए) भाषण देते हैं ॥

(ऐसा इसलिये) क्योंकि उनके—

वाक्य हेतुनिष्ठ हैं (= केवल तर्कयुक्त है) ॥ -१७५- ॥

न कि आगम के अर्थ का विचार करने वाले हैं ॥

और इसलिये—

हे सुव्रते ! इस प्रकार वे वाक्य वस्तुशून्य, ज्ञानयोगरहित तथा देवतारहित हैं ॥ -१७५-१७६- ॥

इसलिये—

धर्म अर्थ काम और मोक्ष के विषय में इनको (उनके स्वरूप का) निश्चय नहीं होता ॥ -१७६ ॥

इसलिये—

ये अधर्म के हेतुभूत अज्ञान से निबद्ध हैं ॥ १७७- ॥

पहले कहा भी गया है—

'जो नराधम गुरु देवता अग्नि और शास्त्र के भक्त नहीं होते । असद् युक्ति

भ्रमयत्येव तान् माया ह्यमोक्षे मोक्षलिप्सया ॥'
(१०।११४०-११४१)

इति । तथा—

'सत्पथं तु परित्यज्य नयति द्रुतमुत्पथम्' (१०।११४०)

इति ॥

यत एवंभूतं हेतुशास्त्रं तेन—

निरयं ते प्रगच्छन्ति ये तत्राभिरता नराः ॥ १७७ ॥

किं च, अधर्मनिमित्तकाज्ञानमयेषु शुष्कतर्केषु—

अवैराग्यादनैश्वर्यं भुञ्जते निरये सदा ।

अतश्चाधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्याख्या बुद्धिधर्माः—

चत्वारस्ते वरारोहे दुःखदा नरके सदा ॥ १७८ ॥
मोहकाः सर्वजन्तूनां यतस्ते तामसाः स्मृताः ।

एवमधर्मादिचतुष्टयमयानि शुष्कतर्कशास्त्राण्युक्त्वा धर्मादिनिबद्धानि शास्त्राण्याह—

और असद् विचार करते हैं (और इसकी पुष्टि के लिये) शुष्क तर्क का सहारा लेते हैं उनको अमोक्ष में मोक्ष की इच्छा से माया भ्रमित करती ही रहती है ।' (१०।११४०-११४१)

तथा—

(वह माया इनको) सन्मार्ग से हटा कर शीघ्र असन्मार्ग पर ले जाती है । (१०।११४०)

चूँकि तर्क शास्त्र इस प्रकार का है इसलिये—

जो मनुष्य उनमें आस्थावान् हैं वे नरक को जाते हैं ॥ -१७७ ॥

तथा—अधर्म के निमित्तभूत अज्ञानमय शुष्कतर्क के होने पर—

अवैराग्य के कारण सदा नरक में अनैश्वर्य को भोगते हैं ॥ १७८- ॥

इसलिये अधर्म अज्ञान अवैराग्य और अनैश्वर्य नामक जो बुद्धिधर्म हैं ।

हे वरारोहे ! वे चारों नरक में सदा ही दुःखदायी होते हैं । चूँकि वे तामस बतलाये गये हैं इसलिये समस्त प्राणियों को मोह में डालने वाले हैं ॥ -१७८-१७९- ॥

इस प्रकार अधर्म आदि चार से भरे हुए शुष्क तर्क शास्त्र का वर्णन कर धर्म आदि वाले शास्त्रों को बतलाते हैं—

धर्मेणैकेन देवेशि बद्धं ज्ञानं हि लौकिकम् ॥ १७९ ॥

लौकिकं वार्तादण्डनीत्यादि ॥ १७९ ॥

धर्मज्ञाननिबद्धं तु पाञ्चरात्रं च वैदिकम् ।

पाञ्चरात्रैरभिगमनोपादानेज्यादिधर्मवत्—

'भूत एव स स्वयं भवति'

इत्यादि ज्ञानमप्युपदिश्यते । वैदिकैरपि कर्मानुष्ठानवत्—

'पुरुष एवेदं सर्वम्' (ऋ०वे० १०।९०।२)

इति ज्ञानकाण्डादौ ज्ञानमप्युच्यते ॥

बौद्धमारहतं चैव वैराग्येणैव सुव्रते ॥ १८० ॥

बद्धमित्येव ॥ १८० ॥

ज्ञानवैराग्यसम्बद्धं सांख्यज्ञानं हि पार्वति ।

ज्ञानं पुंस्प्रकृतिविवेकोपलब्धिः ॥

ज्ञानं वैराग्यमैश्वर्यं योगज्ञानप्रतिष्ठितम् ॥ १८१ ॥

हे देवेशि ! लौकिक ज्ञान केवल धर्म से बद्ध है ॥ -१७९ ॥

लौकिक = वार्त्ता (= कृषि, वाणिज्य) दण्डनीति आदि ॥ १७९ ॥

पाञ्चरात्र और वैदिक शास्त्र धर्म और ज्ञान दोनों से नियन्त्रित हैं ॥ १८०- ॥

पाञ्चरात्र लोग अभिगमन उपादान यज्ञ आदि धर्म के समान—

'वह (= साधक) स्वयं भूत ही होता है (अर्थात् साधक के अन्दर सृष्टि करने का सामर्थ्य आ जाता है)।'

इत्यादि ज्ञान का उपदेश करते हैं । वैदिक लोग भी कर्मानुष्ठान की भाँति—

'यह सब पुरुष ही है ।' (ऋ.वे. १०।९०।२)

इस प्रकार ज्ञानकाण्ड आदि में ज्ञान की भी चर्चा करते हैं ॥

हे सुव्रते ! बौद्ध और जैन वैराग्य के द्वारा बद्ध हैं ॥ -१८० ॥

बद्ध है—यह जोड़ना चाहिए ॥ १८० ॥

हे पार्वति ! सांख्यों का ज्ञान, ज्ञान और वैराग्य से सम्बद्ध है ॥ १८१- ॥

ज्ञान = पुरुष और प्रकृति के भेद की उपलब्धि ॥

ज्ञान वैराग्य और ऐश्वर्य योगज्ञान में प्रतिष्ठित हैं ॥ -१८१ ॥

पातञ्जलादौ विभूतिपादे ऐश्वर्यस्याप्युक्तत्वात् ॥ १८१ ॥

एवं लौकिकादीनि योगान्तानि शास्त्राणि धर्मादिरूपबुद्धिधर्मनिष्ठानि, तदुत्तरं तु पारमेश्वरम्—

अतीतं बुद्धिभावानामतिमार्गं प्रकीर्तितम् ।
लोकातीतं तु तज्ज्ञानमतिमार्गमिति स्मृतम् ॥ १८२ ॥

बुद्धिभावानां सर्वेषां प्रोक्तप्रपञ्चानां धर्मादीनामतीतमिति द्वितीयास्थाने व्यत्ययेन षष्ठी । तदेतदतिमार्गं शास्त्रं मार्गं पशुलोकमतीतमिति कृत्वा ॥ १८२ ॥

तदेतत् स्पष्टयति—

लोकाश्च पशवः प्रोक्ताः सृष्टिसंहारवर्त्मनि ।
तेषामतीतास्ते ज्ञेया येऽतिमार्गे व्यवस्थिताः ॥ १८३ ॥

सृष्टिसंहारमार्गे ये पशवः स्वसृष्टसंहर्त्रात्मकं संवित्तत्त्वं न जानन्ति, तत एव सृज्यमानाः संह्रियमाणाश्च ते सर्व एवेह लोका उच्यन्ते । तदतीता अतिमार्गस्थाः ॥ १८३ ॥

यतः—

कपालव्रतिनो ये च तथा पाशुपताश्च ये ।

क्योंकि पातन्जल योगसूत्र के विभूतिपाद में ऐश्वर्य का भी वर्णन है ॥ १८१ ॥

इस प्रकार लौकिक से लेकर योग पर्यन्त समस्त शास्त्र धर्म आदि रूप बुद्धिधर्म में आस्था रखने वाले हैं । उसके बाद पारमेश्वर शास्त्र है—

बुद्धि के भावों से ऊपर (का मार्ग) अतिमार्ग कहा गया है । चूँकि वह ज्ञान लोक से परे हैं इसलिये अतिमार्ग कहा गया है ॥ १८२ ॥

बुद्धि के भाव = प्रोक्तप्रपञ्चवाले समस्त धर्म आदि । यहाँ व्यत्यय के कारण द्वितीया के स्थान में षष्ठी हो गयी है । वह अतिमार्गशास्त्र लोक = पशुलोक से अतीत है (इसलिये अतिमार्ग कहा गया) ॥ १८२ ॥

इस (= अतिमार्ग) को स्पष्ट करते हैं—

सृष्टि और संहार के मार्ग में लोग पशु कहे गये हैं । जो अतिमार्ग में स्थित हैं उन्हें उनके पार समझना चाहिये ॥ १८३ ॥

जो पशु सृष्टि और संहार के मार्ग में अपने सृष्टि कारक और संहारक संवित् तत्त्व को नहीं जानते इसीकारण (बार-बार) सृष्टि और संहार किये जाने वाले वे सब (पशु) लोक कहे जाते हैं । उससे अतीत = अतिमार्ग में स्थित ॥ १८३ ॥

क्योंकि—

सृष्टिर्न विद्यते तेषां............

चोऽप्यर्थे भिन्नक्रमः । ये कपालव्रतिनः पाशुपताश्च, तेषामपि सृष्टिर्नास्तिः, किमङ्ग सर्वाध्वोत्तीर्णानां शैवानामित्यर्थात् ॥

का तर्ह्येषां स्थितिः ?—इत्याह—

............ईश्वरे च ध्रुवे स्थिताः ॥ १८४ ॥

उक्तं च प्राक्—

'दीक्षाज्ञानविशुद्धात्मा देहान्ते शैवचर्यया ।
कपालव्रतमास्थाय स्वं स्वं गच्छति तत्पदम् ॥
जपभस्मक्रियानिष्ठास्ते व्रजन्त्यैश्वरं पदम् ।' (११।७३-७४)

इति ॥ १८४ ॥

ननु सर्वस्याध्वनः सर्गसंहारपात्रत्वादीश्वरतत्त्वस्थानामेषामपि ताभ्यां भवितव्यम्? उच्यते—तावन्मात्राख्यात्यंशसंहार एषां परभैरवस्वरूपापत्तिः, न तु पशुवत् संहृत-स्वरूपाः पुनः सृज्यन्ते । तदाह—

जो कपालव्रतधारी हैं और जो पाशुपत हैं उनकी भी सृष्टि नहीं होती है ॥ १८४- ॥

'च' का प्रयोग 'अपि' अर्थ में है । जो कपालव्रती और पाशुपत हैं उनकी भी सृष्टि (= पुनर्जन्म) नहीं होती फिर जो समस्त अध्वा का भेदन करने वाले शैव हैं उनकी क्या बात ॥

तो इनकी क्या (= कहाँ) स्थिति होती है ?—यह कहते हैं—

वे ईश्वर तत्त्व और ध्रुव तत्त्व में स्थित होते हैं ॥ -१८४ ॥

पहले कहा भी गया है—

'दीक्षा के कारण उत्पन्न ज्ञान के द्वारा विशुद्ध आत्मा वाला (पुरुष) शैवचर्या के द्वारा कपालव्रत धारण कर अपने-अपने उस (= शैव) पद को प्राप्त होता है । जप भस्म क्रिया के प्रति निष्ठावान् लोग ऐश्वर पद को प्राप्त होते हैं' ॥ १८४ ॥ (११।७३-७४)

प्रश्न—समस्त अध्वा का सृष्टि और संहार होता है इसकारण ईश्वर तत्त्व में स्थित (प्राणियों) का भी वह दोनों (= सृष्टि और संहार) होना चाहिये ?

उत्तर देते हैं—(जितने अज्ञान के कारण वे परस्वरूप को नहीं प्राप्त कर पाते) इनके उतने अंश वाले अज्ञान का संहार होता है और फिर परभैरव स्वरूप की प्राप्ति हो जाती है । ऐसा नहीं है कि पशु के समान वे संहृत होकर पुनः सृष्ट होते हैं । वही कहते हैं—

यस्मान्मोक्षं गमिष्यन्ति अपुनर्भवकारणम् ।

तस्माद्युक्तमुक्तं सृष्टिर्न विद्यते तेषामिति सम्बन्धः ॥

ये तु नातिमार्गस्थाः, तेषाम्—

लौकिकानां पुनः सृष्टिः पुनः संहार एव च ॥ १८५ ॥

अतश्च ते—

संसारचक्रमारूढा भ्रमन्ति घटयन्त्रवत् ।

घटयन्त्रमरघट्टः ॥

एतदेवोपपादयति—

धर्माद्यरकसंयुक्तमष्टारं चक्रकं प्रिये ॥ १८६ ॥
ईश्वराधिष्ठितं देवि नियत्यादण्डकाहतम् ।
मलकर्मकलाविद्धं भ्रमते कालवेगतः ॥ १८७ ॥

धर्मादयो ये संसारकारणभूतास्त एवारा इवारकाः परिभ्रमणहेतवः ।

जिस कारण वे अपुनर्जन्म के कारणभूत मोक्ष को प्राप्त करते हैं ॥१८५-॥

इस कारण ठीक कहा गया—'उनकी सृष्टि नहीं होती'—ऐसा अन्वय है ॥

जो अतिमार्ग में स्थित नहीं है, उन—

लौकिकों की पुनः पुनः सृष्टि होती जाती है; पुनः पुनः संहार होता जाता है ॥ -१८५ ॥

इसलिये वे—

संसार रूपी चक्र पर आरूढ होकर घटयन्त्र (= रहट) के समान चक्कर काटते रहते हैं ॥ १८६- ॥

घटयन्त्र = अरघट्ट (रहट—इसमे छोटी-छोटी बाल्टियाँ लगी होती हैं जो एक बड़े लोहे के चक्र पर टंगी रहती हैं । जैसे-जैसे चक्र घूमता है बाल्टी भी ऊपर नीचे आती जाती रहती है । इससे कुयें से पानी निकाला जाता है) ॥

इसी को सिद्ध करते हैं—

हे प्रिये ! (जिस प्रकार अरघट्ट यन्त्र में एक लोहे का दण्ड, लोहे का गोल चक्कर, बाल्टियों को बाँधने की कील और घुमाने वाला बैल होता है उसी प्रकार) यह चक्र धर्म आदि आठ अरों वाला है । हे देवि ! ईश्वर इसका नियन्ता है । नियति रूपी दण्ड से यह प्रेरित है । मल, कर्म और कला से आविद्ध (=कसा हुआ) है तथा काल के वेग के अनुसार भ्रमण कर रहा है ॥ -१८६-१८७ ॥

यदाहुः—

'धर्मेण गमनमूर्ध्वम्' (सां०का० ४४) इत्यादि ।

कुत्सितं चक्रं चक्रकम्, नियतिरेव आवर्तमानो दण्ड एव दण्डकः, तेन आहतं प्रेरितम्, मलेन आणवेन, कर्मणा, कलोपलक्षितेन मायीयेन विद्यादिना आविद्धं वेगेन प्रेरितम् कलनामयकालतत्त्वकृतवेगेन भ्राम्यति ॥

यत ईदृशमेतदतिविषमं चक्रम्, ततः—

लौकिकाद्येषु ज्ञानेषु ये तेष्वभिरताः प्रिये ।
हेतुशास्त्रपरा ये तु ये चान्ये पापकर्मिणः ॥ १८८ ॥
ते सर्वे चास्य चक्रस्य नान्तं पश्यन्ति मोहिताः ।

तेष्विति प्रोक्तरूपेषु । 'ये तु' इत्यनेन लौकिकनिष्ठेभ्योऽपि शुष्कतर्कनिष्ठानामौपहत्यं ध्वन्यते । मोहिता मायया स्थगितस्वरूपाः ॥

अयं च सर्वशास्त्रेभ्यः शिवशास्त्रस्य विशेषः, यत्—

लौकिकाद्येषु ये साध्या अतिमार्गान्तगोचरे ॥ १८९ ॥

संसार के कारणभूत जो धर्म आदि हैं वे ही अरक हैं । ये परिभ्रमण के कारण है ।

जैसा कि कहा है—

'धर्म के कारण ऊर्ध्वगमन होता है ।' (सां.का. ४४) इत्यादि ।

कुत्सित (=घृणित) चक्र ही चक्रक है (कुत्सिते कन्) । नियति ही घूमने वाला दण्ड है । दण्ड ही दण्डक है । (स्वार्थे कन्) उससे आहत = प्रेरित । मल = आणव मल, कर्म और कला से उपलक्षित मायीय-विद्या आदि (=काल राग नियति) के द्वारा, आविद्ध=वेग के साथ प्रेरित अर्थात् कलना वाले काल तत्त्व के द्वारा उत्पादित वेग से प्रेरित होकर चक्कर काटता है ॥

चूँकि यह चक्र इस प्रकार का अतिविषम है, इसलिये—

हे प्रिये ! जो लोग उन लौकिक आदि ज्ञानों में ही आसक्ति वाले हैं; जो तर्क शास्त्र में ही निष्ठा रखते हैं और जो अन्य प्रकार के पापकारी हैं वे सब मूढ होने के कारण ही इस चक्र के अन्त (= परिणाम) को नहीं देख पाते ॥ १८८-१८९- ॥

उन = प्रोक्तरूप वाले । 'और जो' इस कथन से यह ध्वनित होता है कि लौकिक निष्ठा वालों की अपेक्षा शुष्कतर्कनिष्ठा वाले अधिक उपहत होते हैं । मोहित = माया के द्वारा स्थगित स्वरूप वाले ॥

अन्य समस्त शास्त्रों से शिवशास्त्र की यह विशेषता है कि—

लीलया साधयेत् सर्वान् शिवज्ञाने महोदये ।

ये सिद्धिविशेषा लौकिकादौ साध्यास्तान् सर्वानतिमार्गलक्षणो योऽन्तः सर्वशास्त्रपरिनिष्ठास्थानम्, तद्गोचरे तद्विषये महोदयहेतौ शिवज्ञाने साधको लीलया साधयति ॥

यच्च शैवज्ञानेन साध्यते—

न सर्वैः साध्यते तद्वै.............

लौकिकादिभिः ॥

अत्र हेतुः—

.............यतोऽतीव सुनिर्मलम् ॥ १९० ॥

शिवज्ञानमिति शेषः ॥ १९० ॥

सुनिर्मलत्वमेव स्पष्टयति—

यतो योजयते देवि अभावे परमे पदे ।

अविद्यमाना भावभेदरूपाः पदार्था यत्र ॥

जो लौकिक आदि की (सिद्धियाँ) साध्य हैं, अतिमार्गपर्यन्त महाउदय के कारणभूत शिवज्ञान में (निष्ठा रखने वाला साधक उन) सबकी लीला से सिद्धि कर लेता है ॥ -१८९-१९०- ॥

अतिमार्गलक्षण जो अन्त अर्थात् सर्वशास्त्रपरिनिष्ठा का स्थान, उसके गोचर = उसके विषय वाले, महोदय के कारणभूत = शिवज्ञान का उदय होने पर साधक लौकिक आदि के लिये साध्य जो विशिष्ट सिद्धियाँ हैं उन सबकी लीलापूर्वक सिद्धि कर लेता है ॥

और जो शैवज्ञान के द्वारा सिद्ध किया जाता है—

वह सब लौकिक आदि के द्वारा नहीं सिद्ध किया जाता ॥ -१९०- ॥

सर्वैः = सभी लौकिक आदि के द्वारा ।

इसमें कारण है—

क्योंकि शिव ज्ञान अतीव सुनिर्मल है ॥ -१९० ॥

शिवज्ञान—यह जोड़ना चाहिए ॥ १९० ॥

निर्मलता को स्पष्ट करते हैं—

क्योंकि हे देवि ! (यह शिवज्ञान जीव को) अभावरूप परमपद में संयुक्त करता है ॥ १९१- ॥

एतत् स्फुटयति—

अभावं भावनातीतं प्रपञ्चातीतगोचरम् ॥ १९१ ॥
मनोबुद्ध्यादिनिर्मुक्तं हेतुवादविवर्जितम् ।
प्रत्यक्षादिप्रमाणैश्च व्यतीतं प्रभु चाव्ययम् ॥ १९२ ॥
सर्वतर्कागमातीतं पाशमन्त्रविवर्जितम् ।
सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं निर्मलं निरुपप्लवम् ॥ १९३ ॥

अविद्यमाना भावा यत्र तादृशं परमं पदम् । भावनातीतं यतः प्रपञ्चं वैचित्र्यमतीतो गोचरो विषयतया सम्भाव्यमानं रूपं यस्य । अत एव मनोबुद्ध्यादिनिर्मुक्तम् । अत एव च हेतुवादेन विवर्जितं सर्वविचारभित्तिभूतत्वाद्विचारयितुमशक्यमित्यर्थः । तथा प्रत्यक्षादिप्रमाणविषयः प्रमाणानामपि स्वप्रकाशतद्वित्तिवशेन प्रकाशनात् सर्वावभासोल्लासकत्वाच्च । प्रभु प्रभवनशीलं स्वतन्त्रम् । न चोल्लास्यविनाशेऽस्यान्यस्येव मनागप्यन्यथाभाव इत्यव्ययमिति । सर्वं तर्क्यते विचार्यते यैरागमैरित्यागमविशेषैः पारमेश्वरैस्तेषामेव सर्वविचारकत्वात्, तानप्यतिक्रान्तं तेषामप्यविषयः, यतो मायान्तैरशुद्धाध्वगैः पाशैः शुद्धाध्वस्थैश्च मन्त्रै-

---

('अभाव' पद की व्याख्या करते हैं—) नहीं हैं विद्यमान भावभेद रूप पदार्थ जिसमें (वह अभाव है) ॥

इस (वक्तव्य) को स्पष्ट करते हैं—

(यह) अभाव भावनातीत, प्रपञ्चातीत का विषय, मन बुद्धि आदि से निर्मुक्त, हेतुवाद से रहित, प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों से परे, प्रभवशील, अव्यय, समस्त तर्क समस्त आगम के अतीत, पाशमन्त्र से रहित, सर्वज्ञ, सर्वगामी, शान्त, निर्मल और निरुपप्लव है ॥ -१९१-१९३ ॥

(अभाव का अर्थ है—) नहीं विद्यमान हैं भाव जिसमें, उस प्रकार का यह परमपद है । यह भावनातीत भी है क्योंकि इसका विषय तथा सम्भाव्यमान रूप (प्रपञ्चातीत गोचर है अर्थात्) प्रपञ्च = वैचित्र्य के अतीत है । इसीलिये मन बुद्धि आदि (= अहङ्कार इन्द्रियाँ) से निर्मुक्त है । इसलिये हेतुवाद से विवर्जित है अर्थात् समस्त विचारों की आधारशिला होने के कारण यह विचारणा का विषय नहीं हो सकता । तथा यह प्रत्यक्ष आदि प्रमाणों का विषय नहीं है क्योंकि प्रमाण भी स्वप्रकाश उस तत्त्व के आधार पर ही ज्ञान कराते हैं और वह समस्त अवभास का उल्लासक है । प्रभु = प्रभवनशील = स्वतन्त्र । उल्लास्य (पदार्थों) का विनाश होने पर जिस प्रकार अन्य पदार्थों का अन्यथाभाव हो जाता है उस प्रकार इसका एकमात्र भी अन्यथाभाव नहीं होता । इसलिये यह अव्यय है । जिन आगमों के द्वारा सबके विषय में तर्कणा = विचार किया जाता है वह ऐसा (तत्त्व) पारमेश्वर आगमों के भी परे है अर्थात् उन (= आगमों) का भी विषय नहीं हैं क्योंकि

र्विवर्जितम् । सर्वं जानात्यभेदेन पश्यति, सर्वं गच्छत्यधिव्याप्नोति, तथापि च तेन न मनागप्यारूष्यत इति शान्तं चिदेकरूपम्, तथापि च निष्क्रान्ता उद्भूता आणवादिमला यस्मात्तादृक्, ईदृगपि च तैरसंस्पृष्टत्वाद् निरुप्लवं निर्विकल्पं सततावभास्वरसर्वाभासकस्वतन्त्रचिदेकरूपम् ॥ १९३ ॥

किं च—

सर्वशक्त्यात्मकं ह्येकं स्वतन्त्रानाथनादिमत् ।
सर्वातिशयनिर्मुक्तमनादिभववर्जितम् ॥ १९४ ॥
सर्वज्ञानपदातीतं शैवं ज्ञानं परं स्मृतम् ।

'शक्तयोऽस्य जगत्कृत्स्नं'

इति नीत्या जगदात्मकसर्वशक्तिस्वभावम् । एकमद्वितीयम् । स्वमात्मीयं रूपमेव तन्त्रं पञ्चधाकृत्यकर्मण्युपकरणं यस्य, तत्स्वतन्त्रम् । तथा न विद्यतेऽन्यो नाथो यस्य तदनाथं विश्वेश्वरम् । तथाऽनादिमत् सर्वस्यादिभूतम् । सर्वैर्ज्ञानक्रियादिविषयैर्निर्मुक्तं विश्वातिशायिनिरतिशयचिन्मात्ररूपमित्यर्थः । अनादिनाऽहंप्रथमिका-

---

मायापर्यन्त अशुद्ध अध्वा वाले पाशों तथा शुद्ध अध्वा में स्थित मन्त्रों से वह रहित है । ('सर्वज्ञ' का अर्थ है—) सब को जानता है अर्थात् सबको अभिन्न रूप से देखता है । (सर्वग का अर्थ है—) सबको प्राप्त होता है = अधिव्याप्त कर स्थित है । तो भी इसके द्वारा रञ्चमात्र भी रूषणा नहीं की जाती । इस प्रकार वह शान्त और चिदेकरूप है । ऐसा होने पर भी इससे आणव आदि मल निष्क्रान्त = उत्पन्न, होते हैं । ऐसा होने पर भी वह उन (= आणव आदि मलों) से असंस्पृष्ट होने के कारण निरुपप्लव = निर्विकल्प है अर्थात् सतत अवभास्वर, सर्वावभासक, स्वतन्त्र, चिदेकरूप है ॥ १९३ ॥

इसके अतिरिक्त—

वह शैव ज्ञान सर्वशक्ति वाला, एक, स्वतन्त्र है । इसका कोई स्वामी नहीं है । वह आदि (मध्यान्त) हीन हैं । समस्त अतिशयों से परे, अनादि, भव से रहित, समस्त ज्ञानों के स्थान से अतीत और पर कहा गया है ॥ १९४-१९५- ॥

'समस्त संसार इसकी शक्तियाँ हैं ।'

इस नीति के अनुसार वह शैव ज्ञान जगद्रूप समस्त शक्तिस्वभाव वाला है । एक = अद्वितीय । स्व = अपना रूप ही तन्त्र = (सृष्टि आदि) पाँच प्रकार के कृत्यों के करने में जिसका उपकरण है वह स्वतन्त्र है । तथा जिसका अन्य नाथ नहीं है वह अनाथ = विश्व का स्वामी है । अनादिमत् = सबका आदिभूत । समस्त (अतिशय =) ज्ञान क्रिया आदि विषयों से निर्मुक्त, विश्व से बढ़ कर निरतिशय चिन्मात्र रूप है । अनादि अर्थात् 'मैं प्रथम हूँ' इस प्रकार के प्रवृत्त भव

प्रवृत्तेन भवेन वर्जितमस्पृष्टम् । सर्वेषां बौद्धसांख्यलाकुलादिज्ञानानां यत्पदं स्वं स्वं विश्रान्तिधाम तदप्युल्लङ्घ्य स्थितम् । एवंभूतं यत् परमनुत्तरं शिवज्ञानम्, तद् अनुभवरूपं स्मृतमविच्छिन्नेन पारम्पर्येण प्रतीहतमित्यर्थः ॥

एवं तत्त्वभूतभावभेदसृष्टीः प्रतिपाद्य, धर्मज्ञानादिनिबद्धलौकिकादिज्ञान-निरूपणपूर्वं शैवज्ञानमाहात्म्यं च निर्णीयोक्ततत्त्वादिसृष्टिमनुवादभङ्ग्योपसंहरन् शिव-ज्ञानमाहात्म्यमेवाधिकावापेन दर्शयति—

एवं सृष्टानि तत्त्वानि ज्ञानानि च वरानने ॥ १९५ ॥
तत्त्वैरेतैर्जगत्सर्वं विसृष्टं सचराचरम् ।

विशेषेण सृष्टं चतुर्दशविधभूतसर्गात्मना प्रपञ्चितम् ॥

किं च—

भुवनानि विचित्राणि शतशोऽथ सहस्रशः ॥ १९६ ॥
तत्त्वाध्यन्तरसंस्थानि............

यानि भुवनानि भुवनाध्वन्युक्तानि, तान्यपि तत्त्वैरेव सृष्टानि ॥

तथा प्रोक्तज्ञानरूपाणि—

(= उत्पत्ति) से रहित है । समस्त = बौद्ध सांख्य लाकुल आदि ज्ञानों का जो पद = अपना-अपना विश्रान्तिस्थल, उसको भी पार कर स्थित है । इस प्रकार का जो पर = अनुत्तर शिवज्ञान वह अनुभव रूप कहा गया है अर्थात् अविच्छिन्न परम्परा से प्रतीत होता है ॥

तत्त्वभूत भावभेद. की सृष्टियों का प्रतिपादन करने के बाद धर्म ज्ञान आदि से सम्बद्ध लौकिक आदि ज्ञान का निरूपण कर तथा शैव ज्ञान के माहात्म्य का निर्वचन कर उक्त तत्त्व आदि की सृष्टि का अनुवाद करने के बाद उपसंहार करते हुए शिवज्ञान के माहात्म्य को ही अधिक उत्कर्ष के साथ दिखलाते हैं—

हे वरानने ! इस प्रकार तत्त्वों और ज्ञानों की सृष्टि हुई और इन तत्त्वों के द्वारा समस्त चर अचर जगत् की रचना हुई ॥ -१९५-१९६- ॥

(विसृष्ट का अर्थ है—) विशेषरूप से सृष्ट अर्थात् चौदह प्रकार की भूतसृष्टि के रूप में प्रपञ्चित ॥

और भी—

उक्त तत्त्वों के भीतर सैकड़ों हजारों प्रकार के विचित्र भुवन स्थित बतलाये गये हैं ॥ -१९६-१९७- ॥

जिन भुवनों को भुवनाध्व के अन्तर्गत कहा गया है, उन्हें भी तत्त्वों के द्वारा ही उत्पन्न किया ॥

...........शास्त्राणि विविधानि च ।

न केवलं भुवनानि शास्त्राणि च तत्त्वाभ्यन्तराणि, यावत्—

विज्ञानं कुहकं शिल्पं सिद्धिसन्दोहलक्षणम् ॥ १९७ ॥
सर्वं तत्त्वेषु बोद्धव्यं............

विविधं मन्त्रमण्डलमुद्रादिज्ञानम्, तथा कुहकं विस्मापकं मितहृदयप्रत्ययकारि इन्द्रजालप्रायम्, शिल्पं चित्रपुस्तपुत्तलिकानृत्तगीतादि, सिद्धीनां वश्याकर्षणादि-रूपाणां सन्दोहं समूहं लक्षयति दर्शयति च यद् ज्ञानं, तत् सर्वं तत्त्वेष्वस्तीति ज्ञेयम् ॥

यतः—

................सर्वतत्त्वेषु दृश्यते ।

तत्तत्तत्त्वौचित्येन तत्त्वसाक्षात्कारादिभिरुपलभ्यते ॥

न केवलं तत्त्वेषु साधकोपयोगि ज्ञेयमस्ति, यावत्—

प्रक्रिया शिवदीक्षा च तत्त्वैरेतैर्हि लभ्यते ॥ १९८ ॥

तथा पूर्वोक्त ज्ञान रूप—

नाना प्रकार के शास्त्र (भी स्थित हैं) ॥ -१९७- ॥

केवल भुवन और शास्त्र ही तत्त्वों के भीतर नहीं है बल्कि—

विज्ञान, कुहक, शिल्प, सिद्धिसमूह सब कुछ को तत्त्वों में स्थित समझना चाहिये ॥ -१९७-१९८- ॥

('विज्ञान' शब्द का अर्थ है—) विविध मन्त्र मण्डल मुद्रा आदि का ज्ञान । कुहक = विस्मयकारी, परिमित हृदय में ज्ञान कराने वाला इन्द्रजाल जैसा ज्ञान । शिल्प = चित्र, पुस्त (= लेपन, रेखाचित्र) पुतली, नृत्य गीत आदि का ज्ञान । इसी प्रकार जो ज्ञान वश्य आकर्षण आदि सिद्धियों के सन्दोह = समूह, को लक्षित करता है = दिखलाता है, वह सब तत्त्वों में है—ऐसा समझना चाहिये ॥

क्योंकि—

(यह) सब तत्त्वों में देखा जाता है ॥ -१९८- ॥

तत्तत् तत्त्वों के साक्षात्कर्त्ताओं के द्वारा तत्तत् तत्त्वों के औचित्य से उपलब्ध होता है ॥

तत्त्वों में केवल साधकोपयोगी ज्ञेय ही नहीं है बल्कि—

इन तत्त्वों से ज्ञानोपयोगी प्रक्रिया और शिवदीक्षा प्राप्त होती है ॥-१९८॥

पूर्वोक्ततत्त्वादिप्रदर्शनरूपा ज्ञानशालिनां साधकानां चोपयोगिनी या प्रक्रिया, तथा तत्तत्तत्त्वगतविचित्रभुवनभोगोचिततत्तद्योनिभेदोपपत्तिनिष्कृतिकर्मादिपाशप्रशमः शिवयोजनिका चैतैरुक्तरूपैस्तत्त्वैर्लभ्यते, नान्यथा । तदर्थं यथोक्ततत्त्वस्वरूपमवश्यज्ञेयम् ॥ १९८ ॥

युक्तं चैतत्, यतः—

नास्ति दीक्षासमो मोक्षः..........

'दीक्षैव मोचयत्यूर्ध्वं शैवं धाम नयत्यपि' ।

इति हि प्रतिपादितमन्यत्र ॥

दीक्षा च यैर्मन्त्रैः क्रियते, तद्वीर्यरूपा—

...............न विद्या मातृका परा ।

सा हि भगवती अशेषवाच्यवाचकात्मकजगदभेदचमत्कारात्मकशब्दराशिविमर्शपरमार्था सर्वमन्त्रारणिस्तत्र तत्रागमेषु निर्दिश्यते । सा चैषा विश्वावमर्शनेन परं ज्ञानं प्रयच्छति ॥

तच्च प्रतिपादिताध्वप्रक्रियामयमेवेत्याह—

पूर्वोक्त तत्त्व आदि की प्रदर्शनरूपा तथा ज्ञानी साधकों की उपयोगिनी जो प्रक्रिया वह तथा तत्तत् तत्त्वों में स्थित विचित्रभुवनभोग के लिये उचित तत्तद् योनिभेद की उपपत्ति निष्कृति कर्म आदि पाश का नाश तथा शिवयोजनिका दीक्षा भी इन उक्त रूप वाले तत्त्वों से ही प्राप्त होती है अन्यथा नहीं । इन सबके लिये यथोक्त तत्त्वों का स्वरूप अवश्य जानना चाहिये ॥ १९८ ॥

यह ठीक भी है क्योंकि—

दीक्षा के समान मोक्ष नहीं है ॥ १९९- ॥

'दीक्षा ही (पशु को) मुक्त कराती है और ऊर्ध्व शैवपद को प्राप्त भी कराती है ।'

ऐसा अन्यत्र कहा भी गया है ॥

जिन मन्त्रों के द्वारा दीक्षा की जाती है उन (मन्त्रों) की वीर्यरूपा—

मातृका (अकारादि वर्ण) से परा (= श्रेष्ठ) कोई विद्या नहीं है ॥-१९९- ॥

वह भगवती (मातृका) समस्त वाच्यवाचकरूप संसार के अभेदचमत्कार वाली शब्दराशि है जिसका परम प्रयोजन विमर्श है । सब मन्त्रों की अरणि वह भिन्न-भिन्न आगमों में निर्दिष्ट है । वह यह (भगवती मातृका) विश्व के अवमर्शन के द्वारा (साधक को) परम ज्ञान देती है ॥

न प्रक्रियापरं ज्ञानं...............

प्रक्रियातः परमन्यज्ज्ञानं परितुच्छमेव ॥

ज्ञानं ज्ञेयस्य ज्ञापकमिति पूर्वनिरूपितनीत्या ज्ञातेन लक्षणीयो यो लक्ष्यभूतपरतत्त्वैकात्मा योगस्ततोऽन्यो मितयोगो हेय एवेत्याह—

..........नास्ति योगस्त्वलक्ष्यकः ॥ १९९ ॥

अविद्यमानं परं लक्ष्यं विश्रान्तिधाम यस्य तादृशो योगो नास्ति । विद्यमानोऽपि मितयोग इहानुत्तरचर्चायामयोग एवेति योजनिकोक्तः परयोग एवेह योगः ॥ १९९ ॥

एवं परपुरुषार्थप्रापकदीक्षातदुपयोगिमातृकाप्रक्रियाज्ञानालक्ष्यकयोगस्वरूपमेतत्सर्वमेव सातिशयं वस्तु पारमेश्वर एव शासन उपादिश्यत इति तदेव सर्वशास्त्रोत्तममिति निरूपयति—

तत्सर्वं कथितं देवि शिवज्ञानमहोदधौ ।

शिवज्ञानमेवागाधत्वात् समग्रज्ञाननदीभेदविश्रान्तिधामत्वात् समस्तसम्पत्समवाप्तिहेतुत्वाच्च महोदधिः ॥

और वह (पर ज्ञान)—(पूर्व) प्रतिपादित अध्वप्रक्रियामय ही है—यह कहते हैं—

(अध्व) प्रक्रिया से बढ़कर कोई ज्ञान नहीं है ॥ -१९९- ॥

प्रक्रिया से भिन्न अन्य ज्ञान अत्यन्त तुच्छ है ॥

ज्ञान ज्ञेय का ज्ञापक होता है इस पूर्व निरूपित नीति के अनुसार ज्ञान के द्वारा लक्षणीय जो लक्ष्यभूत परतत्त्व वाला योग उससे अन्य जो मितयोग वह हेय ही है—यह कहते हैं—

लक्ष्यहीन योग योग नहीं होता ॥ -१९९ ॥

जिसका लक्ष्य पर अर्थात् विश्रान्तिधाम नहीं है वह योग नहीं होता । मितयोग (योग) होता हुआ भी इस अनुत्तरचर्चा में अयोग ही है । इस प्रकार योजनिकादीक्षा में वर्णित परयोग ही यहाँ (वास्तविक) योग है (शेष सब योगाभास हैं) ॥ १९९ ॥

इस प्रकार परम पुरुषार्थ को प्राप्त कराने वाली दीक्षा और उसके उपयोगी मातृकाप्रक्रियाज्ञान का अलक्ष्यक योगस्वरूप यह सब सातिशय वस्तु का उपदेश पारमेश्वर शास्त्र में ही होता है (अन्यत्र नहीं) । इस प्रकार वही (= पारमेश्वर शास्त्र ही) समस्त शास्त्रों में उत्तम है—यह बतलाते हैं—

हे देवि ! वह सब शिवज्ञानरूपी महासागर में कह दिया गया ॥ २००-॥

शिवज्ञान ही अथाह होने के कारण, समस्त ज्ञानरूपी, भिन्न-भिन्न नदी का

प्रकृतमुपसंहरन्नन्यदवतारयति—

एवं सृष्टिः समाख्याता स्थितिः संहार उच्यते॥ २०० ॥

संहारश्चेत्यर्थः । तत्र स्थितिर्नियतिकालावस्थानात्मा, तत्प्रान्ते च संहारस्तथेति ॥ २०० ॥

यतः प्रभृति प्रवृत्तो यादृशश्च यस्य स्थाप्यस्य संहार्यस्य च कालः, तत्सर्वमादेष्टुमाह—

मानुषाक्षिनिमेषस्य अष्टमांशः क्षणः स्मृतः ।
क्षणद्वयं तुटिर्ज्ञेया तद्द्वयं तु लवः स्मृतः ॥ २०१ ॥
लवद्वयं निमेषस्तु ज्ञातव्यो गणितक्रमात् ।
दश पञ्च निमेषाश्च काष्ठा चैव प्रकीर्तिता ॥ २०२ ॥
त्रिंशत्काष्ठाः कला ज्ञेयामुहूर्तस्त्रिंशदेव ताः ।
मुहूर्तस्तु पुनस्त्रिंशदहोरात्रस्तु मानुषः ॥ २०३ ॥

शास्त्रव्युत्पिपादयिषितानां मनुष्याणां स्वानुभवसिद्धो योऽक्ष्णो निमेषपक्ष्मसङ्कोचस्तदीयो योऽष्टमांशोऽत्यन्तमणीयान् कालावयवः, अक्षिनिमेषकाल प्रतीत्यैव

विश्रान्तिधाम होने से तथा समस्त सम्पत्ति की प्राप्ति का हेतु होने से महासमुद्र है ॥

प्रस्तुत का उपसंहार करते हुए अन्य विषय का प्रारम्भ करते हैं—

इस प्रकार सृष्टि की चर्चा की गयी । अब स्थिति और संहार का वर्णन किया जा रहा है ॥ -२०० ॥

स्थिति और संहार में स्थिति एवं नियति काल का अवस्थान रूप है और उसके अन्त में संहार भी वैसा ही है ॥ २०० ॥

जहाँ से प्रवृत्त होता है और जिस स्थाप्य और संहार्य का जिस प्रकार का काल होता है वह सब बतलाने के लिये कहते हैं—

मनुष्य की आँख की पलक गिरने के काल का आठवाँ अंश क्षण कहलाता है । दो क्षणों की एक तुटि होती है । दो तुटियों का एक लव होता है । गणित के क्रम से दो लव का एक निमेष होता है । पन्द्रह निमेषों को एक काष्ठा कहते हैं । तीस काष्ठाओं की एक कला जाननी चाहिये । तीस कलाओं का एक मुहूर्त्त होता है । तीस मुहूर्त्त का एक मानुषीय अहोरात्र होता है ॥ २०१-२०३ ॥

शास्त्रों का व्युत्पादन करने के इच्छुक मनुष्यों का स्वानुभवसिद्ध जो अक्षिनिमेष = पलकों का गिरना, उसका जो आठवाँ भाग-अत्यन्त छोटा काल खण्ड, वह क्षण होता है । इसकी कल्पना अक्षिनिमेष काल की प्रतीति के आधार पर होती है ।

कल्प्यमानः, स क्षणः । लव इति यः प्राणीयस्तुटिकालः । यदुक्तं प्राक्—

'तुटयः षोडश प्राणे पूर्वं हि कथिता मया ।
बाह्येनैव तु कालेन ते लवाः परिकीर्तिताः ॥' (७।२७) इति ।

लवद्वयं निमेष इति क्षणाष्टकरूपः । मुहूर्त इति द्विघटिकारूपः ॥ २०३ ॥

किं च—

अहोरात्रशतैश्चैव त्रिभिः षष्ट्यधिकैः प्रिये ।
संवत्सरस्तु विज्ञेयो मानुषः कमलेक्षणे ॥ २०४ ॥
संवत्सरशतं पूर्णमायुर्ज्ञेयं तु मानुषम् ।

विंशत्यधिकं हि शतं परमायुरिति प्रसिद्धम् ॥

यदुक्तं षष्ट्यधिकाहोरात्रशतत्रयेण वत्सर इति, तदेव पक्षमासादिविभागपूर्वं स्फुटयति—

दश पञ्च त्वहोरात्राः पक्षस्तु परिकीर्तितः ॥ २०५ ॥
पक्षद्वयेन मासस्तु ऋतुर्द्विगुण एव सः ।
ऋतुद्वयेन कालः स्यादयनं च त्रिभिस्त्रिभिः॥ २०६ ॥
ताभ्यां द्वाभ्यां वरारोहे वर्षं तु परिगीयते ।

जो प्राण का तुटिकाल है (अर्थात् सामान्य श्वास-प्रश्वास की प्रक्रिया में बाहर निकले प्रश्वास के बाद और श्वास लेने के पहले का जो अन्तराल है) वह लव होता है । जैसा कि पहले कहा गया—

'मैंने प्राण में जो सोलह तुटियाँ पहले बतलायी बाह्यकाल की सृष्टि से वे लव कहे गये हैं ॥' (७।२७)

दो लव का अर्थात् आठ क्षण का एक निमेष होता है । मुहूर्त्त = दो घड़ी ॥ २०३ ॥

हे कमलेक्षणे ! हे प्रिये ! तीन सौ साठ अहोरात्र का एक मानुष संवत्सर होता है । मनुष्य की पूर्ण आयु एक सौ साल की समझनी चाहिये ॥ २०४-२०५- ॥

एक सौ बीस वर्ष परमायु होती है—यह प्रसिद्ध है ॥

जो कहा गया कि तीन सौ साठ दिनरात का एक वर्ष होता है उसी को पक्ष मास आदि विभाग के द्वारा बतलाते हैं—

पन्द्रह दिन रात को एक पक्ष कहा गया है । दो पक्षों का एक मास और दो मासों की एक ऋतु होती है । दो ऋतुओं का एक काल और तीन-तीन ऋतुओं का एक-एक अयन होता है । हे वरारोहे ! दो अयनों

कालश्चतुर्मासस‌ञ्ज्ञः । अयनमुत्तरायणं दक्षिणायनं च ॥

इत्थमयनद्वयात्मको यो मनुष्याणां वत्सरः, स एव पित्र्योऽहोरात्र इत्याह—

दक्षिणं चायनं रात्रिरुत्तरं चायनं दिनम् ॥ २०७ ॥
पितॄणां तदहोरात्रमनेनाब्दस्तु पूर्ववत् ।
एवं दैवस्त्वहोरात्रस्तत्राप्यब्दादि पूर्ववत् ॥ २०८ ॥

आदिशब्दात् पक्षमासादि । इत्थं पितॄणां देवानां च तुल्याऽहोरात्रकलनेति पुराणपुस्तकेषु दृश्यते । अद्यतनैस्तु 'ऋतुर्द्विगुण एव सः' (११।२०६) इत्यतोऽनन्तरम्—

'कृष्णपक्षस्त्वहश्चैव शुक्लस्तु रजनी भवेत् ।
पितॄणां सोऽप्यहोरात्रस्त्वनेनाब्दस्तु पूर्ववत् ॥'

इति विपर्यास्य पठित्वा मानुष्यो मासः पित्र्योऽहोरात्र इति व्याख्यातम्, तेषां च सांवत्सरिकी पितृदिनव्यवस्था लौकिक्यपि स्थितिः प्रसृता ॥

का एक वर्ष कहा जाता है ॥ -२०५-२०७- ॥

काल का अर्थ है—चतुर्मास नामक काल । अयन = उत्तरायण और दक्षिणायन ॥

इस प्रकार दो अयन वाला जो मनुष्यों का वत्सर होता है वह पितरों का एक दिनरात होता है—यह कहते हैं—

दक्षिणायन पितरों की रात्रि है और उत्तरायण उनका दिन । इस गणना के अनुसार पितरों का एक अब्द जानना चाहिये (अर्थात् ३६०×३६० = १२९६०० मानुष अहोरात्र का पितरों का एक वर्ष होता है) । इस प्रकार देवताओं का अहोरात्र होता है । (अर्थात् पितरों का एक वर्ष देवताओं का एक दिन रात होता है) । इसी प्रकार (उन देवताओं का) वर्ष आदि भी समझना चाहिये ॥ -२०७-२०८ ॥

'आदि' शब्द से पक्ष मास आदि समझना चाहिये । इस प्रकार पितरों और देवताओं की अहोरात्रगणना तुल्य है—ऐसा पुरानी पुस्तकों में देखा जाता है । आधुनिक विद्वान् 'वही दो गुना होने पर ऋतु होता है ।'(११।२०६) इसके बाद—

'(मनुष्यों का) कृष्णपक्ष पितरों का दिन और शुक्लपक्ष उनकी रात होती है ।'

ऐसा विपर्यस्त पाठ कर मनुष्य का एक मास पितरों का एक अहोरात्र होता है—ऐसी व्याख्या किये हैं । उनकी संवत्सर वाली पितृदिन की व्यवस्था भी लौकिक व्यवस्था के अनुसार चलती है (अर्थात् जिस प्रकार लोक में पन्द्रह दिन का पक्ष तीस दिन का मास आदि होते हैं उसी प्रकार पितरों के भी मास वर्ष इनके १५-३० दिनों के होते हैं) ॥

तदेवं मानुषषष्ट्यधिकत्रिशताब्दपरिमाणो यो दिव्यो वत्सरस्तमाश्रित्य—

द्वादशाब्दसहस्राणि विज्ञेयं तु चतुर्युगम् ।

द्वादशाब्दसहस्राणि विज्ञेयं चतुर्युगम् ॥

अत्र चायं विभागः—

चतुर्भिस्तु कृतं देवि सहस्रैस्तु यथाक्रमम् ॥ २०९ ॥
त्रेता ज्ञेया त्रिभिर्देवि द्वाभ्यां वै द्वापरः स्मृतः ।
सहस्रेणैव वर्षाणां विज्ञेयस्तु कलिः प्रिये ॥ २१० ॥

एवं दश वर्षाणां सहस्राणि ॥ २१० ॥

यत्त्ववशिष्टं सहस्रद्वयम्, ततः—

सन्ध्याद्वयस्य मानं तु कथयामि युगे युगे ।

आद्यन्तगतस्य ॥

तत्र—

शतानि चत्वारि कृते त्वादिरन्तश्च कीर्त्यते ॥ २११ ॥
त्रेते शतत्रयं ज्ञेयं द्वापरे तु शतद्वयम् ।

इस प्रकार मनुष्य के तीन सौ साठ वर्षों का जो देवताओं का एक वर्ष होता है उसके आधार पर (= उस गणना के अनुसार)—

बारह हजार वर्षों का एक चतुर्युग जानना चाहिये ॥ २०९- ॥

चतुर्युग = बारह हजार वर्ष का होता है ॥

इसमें इस प्रकार का विभाग है—

हे देवि ! क्रम से चार हजार वर्षों का कृतयुग (= सत्ययुग) होता है । इसी प्रकार त्रेता युग तीन हजार वर्षों का, द्वापर दो हजार का और हे प्रिये ! कलियुग एक हजार दिव्यवर्षों का होता है ॥ -२०९-२१० ॥

इस प्रकार (४+३+२+१) दश हजार वर्ष हुए ॥ २१० ॥

जो दो हजार वर्ष शेष बचे उनसे ही—

एक-एक युग में आदि और अन्त में होने वाली दो सन्धियों का मान बतला रहा हूँ ॥ २११- ॥

उनमें—

कृतयुग में आदि और अन्त में चार सौ वर्ष (सन्धि) कही जाती है ।

कलौ चापि शतं ज्ञेयं सन्ध्यामानमिदं स्मृतम् ॥ २१२ ॥

एवं च कलेरन्ते शतं कृतस्यादौ चत्वारि शतानीति कलिकृतयुगयोः सन्ध्या पञ्च शतानि, एवं कृतत्रेतयोः सन्ध्या सप्त शतानि, त्रेताद्वापरयोः पञ्च शतानि, द्वापरकलियुगयोः त्रीणि शतानीति गणयित्वा सहस्रद्वयम् । एतत् प्रागुक्तेन सहस्रदशकेन सह द्वादशहस्रं चतुर्युगम् । यदा तु—

'सन्धिसन्ध्यंशमानं तु कथयामि'

इति पाठः, तदाप्रोक्तोभयमेलनात् ससन्धिमानमेकैकशतं तु सन्ध्यंशमानं ज्ञेयम् ॥ २१२ ॥

एतदेव च—

लौकिकेन तु मानेन पुनश्च कथयामि ते ।

यावत्सङ्ख्याकं भवति ॥

त्रिचत्वारिंशल्लक्षाणि सहस्राणि च विंशतिः ॥ २१३ ॥
लौकिकेन तु मानेन त्वियं सङ्ख्या चतुर्युगे।

त्रेता युग में तीन सौ, द्वापर में दो सौ और कलियुग में एक सौ वर्ष सन्ध्या मान माना गया ॥ -२११-२१२ ॥

इस प्रकार कलियुग के अन्त में एक सौ वर्ष और (उसके बाद प्रारम्भ होने वाले) सत्ययुग के आदि में चार सौ वर्ष, इस प्रकार कलियुग और कृतयुग की सन्ध्या (१ + ४ =) पाँच सौ वर्ष हुई । इसी प्रकार कृतयुग और त्रेता की सन्ध्या (४ + ३ =) सात सौ वर्ष की होती है । त्रेता और द्वापर की (३ + २ =) पाँच सौ वर्ष और द्वापर-कलियुग की सन्ध्या (२ + १ =) तीन सौ वर्ष की होती है । इस प्रकार ५ + ७ + ५ + ३ वर्ष अर्थात् दो हजार वर्ष हुए । इसको पूर्वोक्त दश हजार वर्षों के साथ जोड़ने से बारह हजार वर्ष हो गये । यदि—

('सन्ध्याद्वयस्य मानं तु' के स्थान पर) 'सन्धिसन्ध्यंशमानं तु कथयामि'

ऐसा पाठ मानें तो उक्त दोनों को मिलाने से एक-एक सौ वर्ष सन्ध्यंश मान जानना चाहिये (अर्थात् ५ + ७ + ५ + ३ में से १-१ निकाल देने पर ४ + ६ + ४ + २ = इस प्रकार सोलह सौ वर्ष सन्ध्या और १ + १ + १ + १ = चार सौ वर्ष सन्ध्यंश मानना चाहिये) ॥ २१२ ॥

और उसको—

इसी को लौकिक (= मानुष) प्रमाण के अनुसार जितनी सङ्ख्या होती है पुनः तुमको बतला रहा हूँ ॥ २१३- ॥

जितनी सङ्ख्या होती है ॥

वर्षाणामिति शेषः ॥

विभागेनापि—

एकैकस्य पुनर्देवि युगस्य कथयामि ते ॥ २१४ ॥

लौकिकवर्षसङ्ख्याम् ॥ २१४ ॥

दश सप्त च लक्षाणि सहस्राण्यष्टविंशतिः ।
कृतस्यैतद्भवेन्मानं............

आद्यन्तगतचतुःशतसन्ध्यंशयुक्तस्य, न तु केवलस्य । एवमुत्तरत्र ॥

...........त्रेतायाः कथयामि ते ॥ २१५ ॥
षण्णवतिः सहस्राणि लक्षाणि द्वादशैव तु ।
त्रेतायुगस्य मानं तु द्वापरस्य निबोध मे ॥ २१६ ॥
चतुःषष्टिः सहस्राणि ह्यष्टौ लक्षाणि सुव्रते ।
द्वापरस्य तु मानं च कलेस्तु कथयामि ते ॥ २१७ ॥
द्वात्रिंशत्तु सहस्राणि लक्षाणां च चतुष्टयम् ।
एतन्मानं कलेः प्रोक्तं समासात्तव सुव्रते ॥ २१८ ॥

लौकिक मान से चारो युगों में ४३२०००० वर्ष की सङ्ख्या बतलाई जाती है ॥ -२१३-२१४- ॥

'वर्षों की'—यह जोड़ना चाहिए ॥

उनके विभाग से भी—

हे देवि ! पुनः एक-एक युग के विभाग से लौकिक वर्षों की सङ्ख्या को बतला रहा हूँ ॥ -२१४ ॥

लौकिक वर्ष की सङ्ख्या ॥ २१४ ॥

सत्रह लाख अट्ठाईस हजार वर्ष—यह कृतयुग का मान (= भोगकाल) कहा गया है ॥ २१५- ॥

कृत युग का यह मान आदि और अन्त में स्थित चार सौ वर्ष सन्ध्यंश से युक्त का है न कि केवल का । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ॥

अब त्रेता का (मान) तुमको बतला रहा हूँ । त्रेता का मान बारह लाख छानबे हजार वर्ष का है । आगे द्वापर का मान मुझसे जानो । हे सुव्रते ! द्वापर का मान आठ लाख चौसठ हजार वर्ष है । कलि का मान तुमको बतला रहा हूँ । हे सुव्रते ! संक्षेप में कलि का मान चार लाख बत्तीस हजार वर्ष है ॥ -२१५-२१८ ॥

तदित्थम्—

वर्षैस्तु मानवैर्देवि मानमेतद्युगे युगे ।

एवमुक्तदिव्यलौकिकाब्दमानानुसारेण—

चतुर्युगैकसप्तत्या भवेन्मन्वन्तरं पुनः ॥ २१९ ॥

एतच्चास्य—

सन्ध्यामानविहीनं तु युगै(र्मानं)[१] प्रकीर्तितम् ।
एतद्दिव्येन मानेन मानं मन्वन्तरे स्मृतम् ॥ २२० ॥

चतुर्युगशतानि द्वादशाब्दसहस्राण्येकसप्तत्या गणयेत् ॥ २२० ॥

एतदेव च मानम्—

वर्षमानैः पुनश्चैव लौकिकैः कथयामि ते ।
सप्तषष्टिस्तु लक्षाणि त्रिंशत्कोट्यो वरानने ॥ २२१ ॥
सहस्रविंशतिर्ज्ञेयं मानं मन्वन्तरे प्रिये ।

सषष्टिशतत्रयकलनया मन्वन्तरकाल एव चैन्द्रस्थितिकालः ॥

तो इस प्रकार—

हे देवि ! मानवीय वर्षों के अनुसार एक-एक युग का यह मान होता है ॥ २१९- ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त दिव्य एवं लौकिक मान के अनुसार—

इकहत्तर चतुर्युगी का एक मन्वन्तर होता है ॥ -२१९ ॥

इस (मन्वन्तर) का यह—

मान जो युगों के द्वारा बतलाया गया वह सन्ध्यामान से विहीन बतलाया गया है । इस दिव्य मान से मन्वन्तर का मान माना गया है ॥ २२० ॥

बारह हजार एक सौ चतुर्युगों को इकहत्तर से गुणा करे ॥ २२० ॥

इसी मान को—

पुनः तुमको लौकिक वर्षमानो के द्वारा बतला रहा हूँ । हे वरानने! तीस करोड़ सँड़सठ लाख बीस हजार वर्ष एक मन्वन्तर का मान जानना चाहिये ॥ २२१-२२२- ॥

तीन-सौ साठ मन्वन्तर का एक ऐन्द्रकाल (= इन्द्र की आयु का काल) होता है ॥

---

१. र्मलं ।

एवमेवंविधैः—

चतुर्दशभिर्देवेशि कल्पो मन्वन्तरे भवेत् ॥ २२२ ॥

मन्वन्तरसन्ध्यामानमाह—

मन्वन्तरे व्यतिक्रान्ते चान्यस्मिन् पुनरागते ।
पञ्च वर्षसहस्राणि मध्ये सन्ध्या भवेत् सदा ॥ २२३ ॥

दिव्यानीत्यर्थात् ॥ २२३ ॥

अयं तु विशेषः, यत्—

आदौ सहस्रं सर्वेषामन्ते चापि पुनस्तथा ।

ब्रह्मदिनगतमन्वन्तरापेक्षयाऽऽदावन्ते चेति प्रथममन्वन्तरस्यादौ चरममन्वन्तरस्यान्ते सहस्रमेकमधिकमिति ॥

तदित्थं ससन्ध्याकालचतुर्दशमन्वन्तरकालः—

कल्पो ब्रह्मदिनं प्रोक्तं चतुर्युगसहस्रकम् ॥ २२४ ॥

कल्पते विश्वमस्मिन्निति कल्पः, एकसप्तत्या चतुर्युगैश्च मन्वन्तरगुणितैः

इस प्रकार के—

चौदह मन्वन्तरों से एक कल्प होता है ॥ -२२२ ॥

मन्वन्तर की सन्ध्या का मान बतलाते हैं—

एक मन्वन्तर के बीत जाने पर तथा दूसरे मन्वन्तर के आने पर सर्वदा उनके मध्य में पन्द्रह हजार दिव्य वर्षों की सन्ध्या होती है ॥ २२३ ॥

अर्थात् दिव्य वर्षों की सन्ध्या ॥ २२३ ॥

इतनी विशेषता है कि—

सब मन्वन्तरों के आदि और अन्त में एक हजार वर्ष अधिक मान होता है ॥ २२४- ॥

ब्रह्मा के दिन में स्थित मन्वन्तर की अपेक्षा से । आदि और अन्त में = प्रथम मन्वन्तर के आदि में और अन्तिम मन्वन्तर के अन्त में एक सहस्र अधिक मान होता है ॥

तो इस प्रकार सन्ध्याकाल के सहित चौदह मन्वन्तरों का काल—

एक कल्प होता है । यह ब्रह्मा का एक दिन कहा गया है । इसका मान एक हजार चतुर्युगी है ॥ -२२४ ॥

जिसमें विश्व की कल्पना (= नाश 'क्लृपू छेदने') होती है वह कल्प कहा

षड्भिरूनं चतुर्युगसहस्रं भवति । मन्वन्तरेषु सन्ध्याकालोऽप्युक्तनीत्या द्वासप्तति-सहस्रं इति तदीयचतुर्युगषट्केन सहस्रमानमेतदुक्तम् ॥ २२४ ॥

एतच्च—

वर्षमानेन दिव्येन पुनश्च कथयामि ते ।

सङ्ख्यातमिति शेषः ॥

तदाह—

कोटिरेका तु वर्षाणां लक्षणां चैव विंशतिः ॥ २२५ ॥
दिव्येनैव तु मानेन ब्रह्मणस्तु दिनं भवेत् ।

द्वादश सहस्राणि सहस्रगुणितान्येवमेव भवन्ति ॥

ईदृशस्यास्य ब्राह्मदिनस्य—

षण्णवत्या सहस्रैस्तु सन्ध्याकालः प्रकीर्तितः॥ २२६ ॥

अष्टौ चतुर्युगानि षण्णवत्या वर्षसहस्रैर्भवन्ति । तत्र प्रातःसन्ध्यायां दिन-शतानि चत्वारि चतुर्युगानि, सायंसन्ध्यायां चत्वारीति विभागः । निशाद्यन्तगता-

---

जाता है । चौदह मन्वन्तर से इकहत्तर चतुर्युगी को गुणित करने पर छहकम एक हजार अर्थात् (७१×१४ =) ९९४ होगा । मन्वन्तरों में सन्ध्या काल भी उक्त नीति के अनुसार ७२००० वर्ष होता है । इसलिये उसके छह चतुर्युगी से मिलकर यह सहस्रमान कहा गया है ॥ २२४ ॥

और यह—

पुनः दिव्य वर्षमान के अनुसार सङ्ख्यात (= गिने गये) इसको तुमको बतलाता हूँ ॥ २२५- ॥

गिने गए—यह शेष है ॥

उसको बतलाते हैं—

एक करोड़ बीस लाख दिव्य वर्षों के मान से ब्रह्मा का एक दिन होता है ॥ -२२५-२२६- ॥

बारह हजार को एक हजार से गुणा करने पर ऐसा होता है ॥

इस प्रकार के इस ब्राह्म दिन का—

९६००० वर्ष का सन्ध्याकाल कहा गया है ॥ -२२६ ॥

९६००० वर्षों की आठ चतुर्युगी होती है । उनमें प्रातः सन्ध्या में एक सौ दिन के चार चतुर्युग होते हैं और सायंसन्ध्या में भी चार । इस प्रकार (आठ

न्यप्येवमेवेत्यष्टयुगः प्रातः सायं च सन्ध्याकालः ॥ २२६ ॥

एतच्च—

लौकिकेन तु मानेन अधुना कथयामि ते ।

सङ्ख्यातमिति शेषः ॥

तदाह—

वर्षवृन्दानि चत्वारि त्वर्बुदत्रयमेव च ॥ २२७ ॥
कोटिद्वयं च देवेशि दिनं पैतामहं स्मृतम् ।
सन्ध्या कोटित्रयं चैव पञ्च लक्षाणि कीर्तिता॥ २२८ ॥
चत्वारिंशत्तथा षष्टिः सहस्राणि तथैव च ।

षण्णवतिसहस्राणि सषष्टिशतत्रयकलितान्येवमेव भवन्ति । अतश्च यत् श्रीभुल्लकः—

'सन्ध्या कोटित्रयं लक्षाणि चतुःसप्ततिरेव च'

इत्यादि पठितवान्, तदुपेक्ष्यम् ॥

यथा चायम्—

चतुर्युगी का) विभाग है । रात्रि के आदि और अन्त में भी ऐसा ही है । इस प्रकार प्रातः और सांय सन्ध्याकाल आठ युग वाला होता है ॥ २२६ ॥

और यह—

अब लौकिक मान के अनुसार इस गणना को तुमको बतला रहा हूँ ॥ २२७- ॥

'गणना को'—यह जोड़ना चाहिए ॥

उसको बतलाते हैं—

हे देवेशि ! चार वृन्द (= खरब) तीन अर्बुद (= अरब) दो करोड़ वर्ष का पितामह का एक दिन होता है । इसकी सन्ध्या तीन करोड़ पैंतालिस लाख साठ हजार वर्ष की होती है ॥ -२२७-२२९- ॥

इस प्रकार गणना करने पर छानबे हजार तीन सौ साठ वर्ष इसका काल होता है । इसलिये जो श्री भुल्लक ने कहा कि—

'सन्ध्याकाल तीन करोड़ चौहत्तर लाख वर्ष है'

उसकी उपेक्षा कर देनी चाहिये ॥

जिस प्रकार यह—

पश्चिमः सन्धिरेवं हि...............

सन्धिः सन्ध्याकालः ॥

तथा—

..............पूर्वसन्ध्यापि तत्समा ॥ २२९ ॥

तदित्थं ब्रह्मदिनावधिका—

नरकैः सह सप्तानां पातालानां तथा प्रिये ।
लोकानां चैव सप्तानां स्थितिरेषा प्रकीर्तिता ॥ २३० ॥

लोकानां तन्निवासस्थानानां भूरादीनाम् ॥

तथैषामेव—

संहारं च पुनर्देवि शृणुष्व कथयामि ते ।
ब्रह्मणः स्वदिनान्ते वै कल्पः संहार उच्यते ॥ २३१ ॥

स्वदिनान्त इति तन्निशायाम् । कल्प इति कल्प्यते च्छिद्यतेऽस्मिन् विश्वमिति कृत्वा । संहार इति संहारकालः ॥ २३१ ॥

तत्र—

दिनेनैकेन ब्राह्मेण इन्द्राश्चैव चतुर्दश ।

पश्चिम सन्ध्याकाल है उसी प्रकार ॥ -२२९- ॥

सन्धिः अर्थात् सन्ध्याकाल ॥

तदनन्तर—

पूर्व सन्ध्या भी उतने के बराबर है ॥ -२२९ ॥

तो इस प्रकार ब्रह्मा के दिन की अवधि—

हे प्रिये ! नरकों के साथ सात पातालों और सात ऊर्ध्व लोकों की स्थिति ब्रह्मा के एक दिन तक की कही गयी ॥ २३० ॥

लोकों की = उन लोगों के निवासस्थान पृथिवी आदि की ॥

उसी प्रकार—

हे देवि ! इनका संहार भी तुमको बतला रहा हूँ, सुनो । ब्रह्मा के अपने दिन के अन्त में संहार कल्प कहलाता है ॥ २३१ ॥

अपने दिन के अन्त में = उसकी रात्रि में । कल्प का अर्थ है जिसमें विश्व क्लृप्त अर्थात् छिन्न कर दिया जाता है (क्लृपू छेदने)। संहार = संहारकाल ॥ २३१॥

इस—

राज्यं कृत्वा क्रमाद्यान्ति मन्वन्तरव्यवस्थया ॥ २३२ ॥

प्रतिमन्वन्तरं राज्यं कृत्वा, एकैक इन्द्रः स्वकर्मौचित्येन गच्छति ॥ २३२ ॥

ततः संहरते विश्वं सप्तलोकान्तगोचरम् ।
सुप्ते पितामहे देवि ऊर्ध्वं कालाग्निरीक्षते ॥ २३३ ॥

तत इति चतुर्दशेन्द्रान्ते । पशुवन्निद्रायमाणेन ब्रह्मणा जनितविस्मयो यावत् कालाग्निरूर्ध्वमीक्षते, तावत् सप्तलोकान्तगोचरं विषयजातं संहरति ॥ २३३ ॥

अथ निरीक्षणसमये—

तस्य वै दक्षिणं वक्त्रं महाज्वालां विनिक्षिपेत् ।

अतश्च—

तस्माद्वक्त्रान्महाज्वाला लक्षयोजनविस्तृता ॥ २३४ ॥
ऊर्ध्वं प्रयाति सा दीप्ता तीव्रवेगा सुदुःसहा ।

अत्र चावसरे सप्तसु—

लोकेषु ये स्थिता लोका ये च पातालवासिनः ॥ २३५ ॥

ब्रह्मा के एक दिन में चौदह इन्द्र मन्वन्तर की व्यवस्था के अनुसार राज्य कर मृत्यु को प्राप्त होते हैं ॥ २३२ ॥

('मन्वन्तरव्यवस्थया' का तात्पर्य है—) एक-एक इन्द्र अपने कर्म के अनुसार एक-एक मन्वन्तर तक राज्य कर मर जाता है ॥ २३२ ॥

हे देवि! इसके बाद पितामह के सुप्त होने पर कालाग्नि रुद्र ऊर्ध्वेक्षण कर सात लोकों तक वर्त्तमान विश्व का संहार कर देते हैं ॥ २३३ ॥

इसके बाद = चौदहवें इन्द्र के बाद । पशु के समान निद्रायमाण ब्रह्मा जब तक आश्चर्य चकित होकर कालाग्नि को ऊपर की ओर देखते हैं तब तक यह कालाग्नि सात लोकों तक के विषयसमूह का संहार कर देता है ॥ २३३ ॥

निरीक्षण के समय—

उस कालाग्निरुद्र के दक्षिण दिशा वाले मुख से महाज्वाला निकलती रहती है ॥ २३४- ॥

इस कारण—

(कालाग्नि रुद्र के) उस मुख से एक लाख योजन विस्तार वाली अति दीप्त, अत्यन्त वेग वाली, सुदुःसह महाज्वाला ऊपर की ओर उठती रहती है ॥ -२३४-२३५- ॥

इस अवसर पर—

सुखदुःखोभये क्षीणे मोहं भूयिष्ठमागते ।
सत्तामात्रास्तु ते सर्वे भवन्ति ब्रह्मविष्टपे ॥ २३६ ॥

ये चेति चशब्दान्नरकादिक्षेत्रगताः । ब्रह्मविष्टपे सत्यलोकोर्ध्ववर्तिनि ब्रह्मभुवने ॥ २३६ ॥

कियदवधिका एषां मूढता ?—इत्याह—

यावन्नोदयनं भूयः सुखदुःखादिकर्मणाम् ।
तावत्तिष्ठन्ति ते मूढा यावद् ब्रह्मा न बुध्यते ॥ २३७ ॥

सुखदुःखयोरादिशब्दाद् जन्मायुषोर्हेतुभूतानि कर्माणि, तेषाम् । उदयो विपाकः ॥ २३७ ॥

ये तु—

रुद्रलोकाधिपतयः पातालपतयश्च ये ।
कूष्माण्डहाटकाद्यास्तु ते तिष्ठन्त्यतिनिर्मलाः ॥ २३८ ॥

न तु मनागपि म्लायन्ति ॥ २३८ ॥

किन्तु—

सात लोकों में जो लोग रहते हैं तथा जो पाताललोकवासी हैं उन सबके सुख और दुःख दोनों के क्षीण हो जाने पर जब वे अत्यधिक मोह को प्राप्त हो जाते हैं तो वे सब ब्रह्मविष्टप् में केवल सन्मात्र होकर रहते हैं ॥ -२३५-२३६ ॥

'ये च' यहाँ 'च' शब्द से नरक आदि क्षेत्र में रहने वालों को समझना चाहिये । ब्रह्मविष्टप् में = सत्यलोक के ऊपर वर्त्तमान ब्रह्मभुवन में ॥ २३६ ॥

इनकी मूढ़ता कितने समय तक रहती है ?—यह कहते हैं—

जब तक सुख-दुःख आदि के हेतुभूत कर्मों का उदय नहीं होता और जब तक ब्रह्मा (निद्रा से) उद्बुद्ध नहीं होते तब तक वे जीव मूढ अवस्था में पड़े रहते हैं ॥ २३७ ॥

सुख और दुःख के तथा 'आदि' शब्द से जन्म और आयु के हेतुभूत कर्मों के । उदय = परिपाक ॥ २३७ ॥

और जो—

रुद्रलोक के तथा पाताललोक के अधिपति कुष्माण्ड हाटकेश्वर आदि हैं वे इस समय अत्यन्त निर्मल रूप में रहते हैं ॥ २३८ ॥

अर्थात् वे रञ्चमात्र भी मलिन नहीं होते ॥ २३८ ॥

निर्व्यापारास्तु ते तावद्यावत् सृष्टिः पुनर्भवेत् ।

निवृत्तानुग्रहादिव्यापाराः ॥

अथ—

शून्यभूतेषु लोकेषु ज्वाला दहति दुर्धरा ॥ २३९ ॥
सा दहेन्नरकान् देवि पातालानि समन्ततः ।
त्रींल्लोकांश्चैव दहति भूर्भुवःस्वःपदान्तिकान् ॥ २४० ॥

शून्यभूतेषु लोकेष्विति तन्निमित्तम्, नरकेभ्यः प्रभृति स्वर्लोकान्तं दहति ॥ २४० ॥

ये त्वन्ये, ते—

धूमेन च त्रयो लोका विनश्यन्ति वरानने ।
महोजनस्तपःसञ्ज्ञाः.............

सप्तमस्तु—

.............सत्यलोकोऽपि सुव्रते ॥ २४१ ॥

पूर्वे च सर्वे—

किन्तु—

जब तक पुनः सृष्टि नहीं होती तब तक वे व्यापारशून्य रहते हैं ॥२३९-॥

(व्यापारशून्य का अर्थ है—) अनुग्रह आदि व्यापार से रहित ॥

अब—

लोक जब शून्य हो जाता है तो दुर्धर ज्वाला जलती है । हे देवि! वह नरकों और पातालों को तथा भूर्भुवः स्वः नामक तीनों लोकों को सब प्रकार से सब ओर से जला देती है ॥ -२३९-२४० ॥

लोकों के शून्य होने पर अर्थात् उस (दाह) के निमित्त (शून्य होने पर वह अग्नि) नरकों से लेकर स्वर्गलोक पर्यन्त (जला देती है) ॥ २४० ॥

और जो अन्य लोक हैं वे—

हे वरानने ! महः जनः तपः नामक तीन लोक (उस अग्नि से उठे) धूम से नष्ट हो जाते हैं ॥ २४१- ॥

और सातवाँ—

हे सुव्रते ! सातवाँ सत्यलोक भी (नष्ट हो जाता है) ॥ २४१ ॥

और पहले के सब लोग—

तिष्ठन्ति मोहितात्मानो निद्रया ते मृतोमपाः ।

अथ—

एवं दग्ध्वा जगत्सर्वं ज्वाला वक्त्रं विशेत् पुनः॥ २४२ ॥

कालाग्नेर्दक्षिणमेव ॥ २४२ ॥

ततो वान्ति महावाता ब्रह्मनिः श्वाससम्भवाः ।

ते च—

नाशयन्ति च तद्भस्म जगद्दाहोद्भवं प्रिये ॥ २४३ ॥

अथ—

ब्रह्मप्रस्वेदजं वारि तज्जगत् प्लावयेत् पुनः ।
तेनैव वारिणा देवि जगदेकार्णवं भवेत् ॥ २४४ ॥

कालवह्न्यूष्मजोऽस्य प्रस्वेदः ॥ २४४ ॥

अथ—

निशाक्षये पुनः स्थित्वा सुखदुःखफलोदये ।

निद्रा के द्वारा मूढ बना दिये गये मृततुल्य होकर पड़े रहते हैं ॥२४२-॥

इसके बाद—

इस प्रकार वह ज्वाला समस्त संसार को जला कर कालाग्निरुद्र के दक्षिण मुख में ही प्रविष्ट हो जाती है ॥ -२४२ ॥

कालाग्नि के दक्षिण मुख में ॥ २४२ ॥

इसके बाद ब्रह्माजी के निःश्वास से उत्पन्न हो तूफानी हवायें चलती हैं ॥ २४३- ॥

और वे—

हे प्रिये ! जगत् के दाह से उत्पन्न उस राख को (उड़ा कर) नष्ट कर देती है ॥ -२४३ ॥

इसके बाद—

ब्रह्मा के स्वेद से उत्पन्न जल उस समस्त जगत् को डुबो देता है । हे देवि ! उसी जल से समस्त जगत् एक समुद्र बन जाता है ॥ २४४ ॥

ब्रह्मा का पसीना कालाग्नि की गर्मी से उत्पन्न होता है ॥ २४४ ॥

इसके बाद—

कर्मतः सर्वलोकस्य ब्रह्मा लोकपितामहः ॥ २४५ ॥
शून्यभूतां समालोक्य भगवान् प्रभुरिच्छया ।
षड्विधां कुरुते सृष्टिं यथापूर्वव्यवस्थया ॥ २४६ ॥

कर्मपरिपाकक्रमेण कर्मिणां सुखदुःखफलस्योदयो यत्र तादृशे रात्र्यन्ते । स्थित्वाऽनुपशान्तनिःशेषनिद्रासंस्कारो भूत्वा । कर्मतः परिपक्वादिच्छामात्रात् । षड्विधामिति नारकिस्थावरसरीसृपादिपश्वन्तां त्रिविधां क्रमात्क्रममपचितां तामसीम्, तमोरजःसमाविष्टां मानवीम्, रजःसत्त्वसमाविष्टां मौनीम्, सात्त्विकीं तु दैवीम् । व्यवस्थयेति भुवनादिमर्यादया ॥ २४६ ॥

तत्र—

प्रथमां तामसीं सृष्टिं करोति तमसोत्कटान् ।
नरकान् विविधाकारान्..........

ततोऽंशेनांशेन तमसोऽनुत्कटत्वे—

..........पशून् वै स्थावरान्तगान् ॥ २४७ ॥

पशूनिति सरीसृपपक्षिमृगपशूनित्यर्थः ॥

रात्रि बीतने पर जब कर्म के कारण समस्त लोक के सुख-दुःख का उदय होता है तब लोक के पितामह ब्रह्मा (सृष्टि को) शून्य देख कर अपनी इच्छा से पूर्व व्यवस्था के अनुसार पुनः छह प्रकार की सृष्टि करते हैं ॥ २४५-२४६ ॥

कर्म के परिपाक के क्रम से कर्मी जीवों के सुख-दुःख रूपी फल के उदय वाले प्रभात में, उठ कर = समस्त निद्रासंस्कार के शान्त न होने पर, कर्म के कारण—इच्छामात्र से परिपक्व कर्म के कारण । छह प्रकार की—(१-३) नारकीय, स्थावर, सरीसृप से लेकर पशुपर्यन्त तीन प्रकार की क्रमशः निकृष्ट तामसी, तमोरजःयुक्त मानवी (४) रजःसत्त्व युक्त मुनियों की (५) तथा सात्त्विक देवताओं की (६) सृष्टि को व्यवस्था के द्वारा—भुवन आदि की मर्यादा के अनुसार, करते हैं ॥ २४६ ॥

इस (सृष्टि क्रम) में—

सर्वप्रथम अन्धकार अथवा तमोगुण से आच्छन्न अनेक आकार वाली नरक रूपी तामसी सृष्टि को करते हैं ॥ २४७- ॥

इसके बाद एक-एक अंश कर के तमोगुण के अनुत्कट होने पर—

स्थावर से लेकर पशुओं की (सृष्टि करते हैं) ॥ -२४७ ॥

पशुओं की—सरीसृप (= रेंगकर चलने वाले), पक्षी, मृग (= जङ्गली जानवर)

ततोऽपि—

तमोरजःसमावेशान् मानवान् संसृजेत् पुनः ।
रजःसत्त्वसमाविष्टः सृजेन्मुनिवरेश्वरान् ॥ २४८ ॥

एवमियत्पर्यन्तं ब्रह्मणः क्रमात्क्रमं निद्रासंस्कारस्याधिकाधिकतरत्वम् ॥२४८॥

अथ—

गतनिद्रः प्रबुद्धस्तु सत्त्वनिष्ठो जगत्पतिः ।
सृजेद् देवान् सलोकांश्च पूर्वयैव व्यवस्थया ॥ २४९ ॥

सह लोकैस्तन्निवासस्थानैर्वर्तन्ते ये तान् । एतच्च विशेषणं सिंहावलोकितन्यायेन पूर्वत्रापि सम्बध्यते । पूर्वव्यवस्था पैशाचादिब्रह्मान्ता ॥ २४९ ॥

इत्थं षड्विधायां सृष्टौ निष्पन्नायाम्—

ततो रुद्रेन्द्रसूर्येन्दुनक्षत्राणि ग्रहेश्वराः ।
अधिकारं प्रकुर्वन्ति स्वे स्वे विषयगोचरे ॥ २५० ॥

और पशु (= ग्रामीण जानवर) की सृष्टि करते हैं ॥

इसके बाद—

तमस् एवं रजोगुण के समावेश वाले मनुष्यों की सृष्टि करते हैं। तत्पश्चात् सत्त्व एवं रजोगुण से समाविष्ट मुनियों की रचना की जाती है ॥ २४८ ॥

इस प्रकार यहाँ तक ब्रह्मा का निद्रासंस्कार क्रमशः अधिक से अधिकतर क्षीण होता जाता है (अर्थात् तमोमयी सृष्टि में अधिकतर एवं रजस्तमोमयी में कम संस्कार रहता है) ॥ २४८ ॥

इसके बाद—

जगत्पति ब्रह्मा जब निद्रा बीतने पर जागते हैं और सत्त्वगुणयुक्त होते हैं तब पूर्व व्यवस्था के अनुसार देवलोकों के सहित देवताओं की सृष्टि करते हैं ॥ २४९ ॥

('सलोकान्' का अर्थ है) लोकों = उन देवताओं के निवास स्थान, के साथ जो रहते हैं उनकी (सृष्टि करते हैं) । यह 'सलोकान्' विशेषण सिंहावलोकन न्याय[1] से पहले भी मानवान् आदि के साथ जोड़ना चाहिये । पूर्व व्यवस्था = पिशाच से लेकर ब्रह्मापर्यन्त ॥ २४९ ॥

इस प्रक्रिया से छह प्रकार की सृष्टि के पूर्ण होने पर—

---

१. जैसे सिंह आगे चलता हुआ पीछे भी मुड़ कर देखा करता है ।

पारमेशान्नियोगात्—

दिने दिने सृजत्येवं............

ब्रह्मा ॥

कालाग्निस्तु—

..................संहरेच्च दिनक्षये ।

अस्य च ब्रह्मणः—

दिनमानं च यत्प्रोक्तं रात्रिसङ्ख्या च तावती ॥ २५१ ॥

तदित्थम्—

अहोरात्रेण चानेन अब्दं वै पूर्ववत् स्मृतम् ।

शतत्रयेण षष्ट्यधिकेन ॥

अब्दानां तु शते पूर्णे महाकल्पः स उच्यते ॥ २५२ ॥
ब्राह्मे वर्षशते देवि दिव्यान्यब्दानि मे शृणु ।
एकनवतिकोटिस्तु तथा लक्षाणि विंशतिः ॥ २५३ ॥
तथा सप्तैव खर्वाणि निखर्वाष्टकमेव च ।

रुद्र, इन्द्र, सूर्य, चन्द्रमा, नक्षत्र, ग्रहों के स्वामी अपने-अपने विषय के तत्त्वों पर अधिकार कर लेते हैं ॥ २५० ॥

इस प्रकार परमेश्वर के नियोग से—

ब्रह्मा प्रतिदिन सृष्टि करते रहते हैं ॥ २५१- ॥

और कालाग्नि—

ब्रह्मा के दिन के समाप्त होने पर संहार करते रहते हैं ॥ -२५१- ॥

इस ब्रह्मा का—

जो दिनमान बतलाया गया है रात्रि की सङ्ख्या भी उतने ही मान वाली है ॥ -२५१ ॥

तो इस प्रकार—

इस दिन रात के मान से (ब्रह्मा का) एक वर्ष पूर्व की भाँति कहा गया है ॥ २५२- ॥

(अर्थात्) तीन सौ साठ (ब्रह्म दिन का ब्रह्मा का एक वर्ष होता है) ॥

(ब्रह्मा के) सौ वर्ष पूर्ण होने पर वह (काल) महाकल्प कहा जाता है । हे देवि ! ब्रह्मा के एक सौ वर्ष में देवताओं के वर्षों को मुझसे सुनो ।

ब्राह्मं वर्षशतं चैतज्ज्ञातव्यं कालवेदिना ॥ २५४ ॥

दिव्यवर्षमानेन ब्राह्ममहः सन्ध्याकालं विना सविंशतिलक्षा कोटिरेकेत्युक्तम्, रात्रिश्च तावतीति कोटिद्वयं सचत्वारिंशल्लक्षम् । एतद्दिनानां शतत्रयेण सषष्टिना गुणितमष्टौ वृन्दानि, षडर्बुदानि, चतस्रश्च कोटयो भवन्ति । सन्ध्याकालोऽपि षण्णवत्या सहस्रैर्य उक्तः, सोऽपि शतत्रयेण सषष्टिना कलितः संस्तिस्रः कोटयः, पञ्चचत्वारिंशल्लक्षाणि, षष्टिः सहस्राणि भवन्ति । सोऽपि सायंप्रातर्भेदाद् द्विगुणः सन् कोटयः षड्लक्षाण्येकनवतिर्विंशतिः सहस्राणि भवन्ति । उभयं वृन्दान्यष्टौ, अर्बुदानि सप्ततिरेकनवतिर्लक्षाणि, विंशतिः सहस्राणि भवन्ति ८७०९१२०००० । एतदपि वत्सरसङ्ख्या शतेन कलितं निखर्वाण्यष्टौ खर्वाणि सप्त वृन्दस्थाने शून्यमेकनवतिः कोट्यो लक्षाणि विंशतिरिति ८७०९१२००००००० । इत्थमेषा यथोक्तैव सङ्ख्या भवति । एकान्ननवतिः कोट्य इत्यपपाठः ॥

तदित्थम्—

दैविकेन तु मानेन मानमित्थं प्रकीर्तितम् ।

अथैतदेव—

लौकिकेन तु मानेन पुनश्चैव निबोध मे ॥ २५५ ॥

काल को जानने वाला आठ निखर्व सात खर्व इक्यासी करोड़ बीस लाख दिव्य वर्षों का ब्रह्मा का एक सौ वर्ष जानना चाहिये ॥ -२५२-२५४ ॥

दिव्य वर्ष के मान से ब्रह्मा का एक दिन सन्ध्याकाल को छोड़ कर एक करोड़ बीस लाख वर्ष होता है—यह कहा जा चुका है । रात्रि भी उतने ही वर्षों की होती है । (इस प्रकार ब्रह्मा का) दिन और रात दो करोड़ चालिस लाख वर्षों का होता है । इन दिनों को तीन सौ साठ से गुणा करने पर आठ वृन्द छह अरब चार करोड़ होता है । जो सन्ध्याकाल छानबे हजार दिव्य दिन का कहा गया है वह भी तीन सौ साठ से गुणा करने पर तीन करोड़ पैंतालिस लाख साठ हजार होता है । वह भी सायं और प्रातः के भेद से दो गुणा करने पर छह करोड़ इक्यानबे लाख बीस लाख होता है है । यह एक वर्ष की सङ्ख्या है । इसे सौ से गुणा करने पर आठ निखर्व सात खर्व शून्य वृन्द इक्यानबे करोड़ बीस लाख की सङ्ख्या होती है—८७०९१२००००००० वर्ष । इस प्रकार भी गणना करने पर वही सङ्ख्या आती है । नवासी करोड़ का पाठ अशुद्ध है ॥

तो इस प्रकार—

देवताओं के (वर्ष के) मान से ब्रह्मा (के एक सौ वर्ष) का मान कहा गया ॥ २५५- ॥

अब इसी को—

तद्यथा—

द्वात्रिंशदब्दकोट्यस्तु तथा खर्वाष्टकं प्रिये ।
खर्वद्वयं च देवेशि निखर्वाः पञ्च एव तु ॥ २५६ ॥
शङ्कुत्रयं पद्ममेकं सागरत्रयमेव च ।

पूर्वोक्तैकनवतिकोट्या दैविकमानकलितस्य ब्राह्मवर्षशतस्य लौकिकवत्सरमानेन षष्टिशतत्रयकलनयोक्तैव सङ्ख्याऽऽयाति । यत्तु श्रीभुल्लकः—

'.............थाब्दकोट्यस्तु एकं चैवार्बुदं प्रिये ।
खर्वाशीतिस्तथा चैव निखर्वाणां च पञ्चकम् ॥
चतुष्टयं च शङ्कूनां त्रिंशत्सागर एव च ।'

इत्यपठत्, तदसङ्गतत्वादुपेक्ष्यमेव ॥

इत्थं लौकिकाब्दमानेन—

एतद् देवि समाख्यातं ज्ञातव्यं च मुमुक्षुभिः ॥ २५७ ॥

महाकल्पान्तावस्थितिदाय्यपि ब्राह्मं पदं संह्रियमाणत्वात् पर्यन्तविरसम्, एवं वक्ष्यमाणनीत्याऽनाश्रितान्तमपीति सर्वथा स्वस्ति स्वप्नोपमेभ्यो भोगेभ्यो इति

पुनः मुझसे लौकिक मान के अनुसार जानो ॥ -२५५ ॥

जैसे—

हे प्रिये ! (ब्रह्मा के सौ वर्ष में) तीन सागर, एक पद्म, तीन शङ्ख, पाँच निखर्व, दश खर्व और बत्तीस करोड़ लौकिक वर्ष होते हैं ॥ २५६-२५७- ॥

पूर्वोक्त इक्यानबे करोड़ दैविक मान से गुणित ब्रह्मा के सौ वर्ष का लौकिक वर्ष के मान से तीन सौ साठ से गुणा करने पर पूर्वोक्त ही सङ्ख्या आती है जो कि श्री भुल्लक ने—

'हे प्रिये ! तीस सागर, चार शङ्कु, पाँच निखर्व, अस्सी खर्व, एक अरब और बारह करोड़'—

जो ऐसा पाठ किया है, वह असङ्गत होने से उपेक्ष्य है ॥

हे देवि ! इस प्रकार लौकिक अब्द के मान से (ब्रह्मा का काल) कहा गया । मुमुक्षुओं को इसे जानना चाहिये ॥ -२५७ ॥

यद्यपि ब्रह्मा का पद महाकल्प पर्यन्त (ब्राह्मी स्थिति को) देने वाला है तथापि अन्त में इसका भी संहार होने से यह अन्त में नीरस ही है । इसी प्रकार वक्ष्यमाण रीति से अनाश्रित शिवपर्यन्त (का भी पद नीरस है) । इसलिये स्वप्न के समान (तुच्छ) भोगों का कल्याण हो (अर्थात् वह मुझे नहीं चाहिये) ऐसा मान कर

मत्वा दिक्कालाकाराकंलितचिद्घनपरभैरवस्वरूपसमापत्तिरेव मुमुक्षुभिराश्रयणीयेति तात्पर्यम् ॥ २५७ ॥

उपसंहरति-

एतल्लौकिकमानेन ब्राह्ममाब्दशतं स्मृतम् ।

उक्तवक्ष्यमाणपरिमाणोपयोगिन्या एकादिपरार्धान्तायाः सङ्ख्यायाः क्रमेण रूपं लक्षयति—

एकं दशगुणं पूर्वं शतं दशगुणं तु तत् ॥ २५८ ॥
शतं दशगुणं कृत्वा सहस्रं परिकीर्तितम् ।
सहस्रं दशगुणितमयुतं तद्धि कीर्तितम् ॥ २५९ ॥
दशायुतानि लक्षं तु नियुतं दश तानि च ।
दश तानि च कोटिः स्यात् दश कोटिस्तथार्बुदम् ॥ २६० ॥
अर्बुदैर्दशभिर्वृन्दं खर्वं दशभिरेव तैः ।
दशभिस्तैर्निखर्वं तु शङ्कुः स्याद् दश तानि तु ॥ २६१ ॥
शङ्कुभिर्दशभिः पद्मं दश पद्मानि सागरः ।
सागरैर्दशभिर्मध्यमन्त्यं तैर्दशभिः स्मृतम् ॥ २६२ ॥
अन्त्यं दशाहतं कृत्वा परार्धं परिकीर्तितम् ।

मुमुक्षुओं के द्वारा दिक्, काल और आकार से शून्य चिद्घन परभैरवस्वरूप समापत्ति का ही आश्रयण करना चाहिये—यह तात्पर्य है ॥ २५७ ॥

(उपर्युक्त वक्तव्य का) उपसंहार करते हैं—

लौकिक मान के अनुसार ब्रह्मा का यह एक सौ वर्ष कहा गया ॥ २५८- ॥

उक्त और वक्ष्यमाण परिणाम की उपयोगिनी एक से लेकर परार्ध पर्यन्त सङ्ख्या का क्रम से रूप दिखलाते हैं—

एक, फिर उसका दश गुना दश, उसका दशगुना सौ, सौ का दशगुना सहस्र कहा गया है । सहस्र का दश गुना अयुत (= दश हजार) कहा गया है । दश अयुत का लाख, और दश लाख का नियुत, दश नियुत की कोटि, उसका दश गुना दश कोटि, दश दश कोटि का अर्बुद (= अरब) दश अरब का वृन्द, दश वृन्द का खर्व, दश खर्व का निखर्व, दश निखर्व का शङ्कु, दश शङ्कु का पद्म दश पद्म का सागर, दश सागर का मध्य और दश मध्य का अन्त्य होता है । अन्त्य को दश से गुणा करने पर परार्ध होता है ॥ -२५८-२६३- ॥

उपसंहरति—

एवमष्टादशैतानि स्थानानि गणितस्य तु ॥ २६३ ॥

भवन्तीति शेषः ॥ २६३ ॥

एवं प्रसङ्गात् सङ्ख्यास्वरूपमुपदर्श्य प्रकृतमाह—

महाकल्पस्य पर्यन्ते ब्रह्मा याति परे लयम् ।

अवृत्तपरशक्तिपातः परे इति सापेक्षतया प्रकृष्टे समनन्तरे कारणे लीयते, वृत्तपरशक्तिपातस्तु परमशिवे

'परस्मिन् ब्रह्मणि व्रजेत्' (१०।५३३)

इति पूर्वग्रन्थेऽयमेवाशयः । एवमुत्तरत्राप्यनुसर्तव्यम् ।

यश्चायमेवमुक्तो महाकल्पः—

विष्णोश्च तद्दिनं प्रोक्तं रात्रिर्वै तत्समा भवेत् ॥ २६४ ॥

ब्रह्माण्डानुविषयलोकस्थस्य ॥ २६४ ॥

उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार गणित के ये (= दश से लेकर परार्ध तक) अठारह स्थान होते हैं ॥ -२६३ ॥

होते हैं—यह शेष है ॥ २६३ ॥

प्रसङ्गवश सङ्ख्या के स्वरूप को दिखला कर प्रस्तुत का वर्णन करते हैं—

महाकल्प के अन्त में ब्रह्मा पर ब्रह्म में लीन हो जाते हैं ॥ २६४- ॥

(ब्रह्मा के ऊपर) यदि शक्तिपात नहीं हुआ है तो वे पर अर्थात् अपनी अपेक्षा अव्यवहित उत्कृष्ट कारण में लीन हो जाते हैं । और यदि शक्तिपात हो गया है तो परमशिव में लीन होते हैं (जैसा कि पहले कहा गया—)

'पर ब्रह्म में जाते हैं ।' (१०।५३३)

इस वचन का यही आशय है । इसी प्रकार आगे भी अनुसरण करना चाहिये ।

जो इस प्रकार का (ब्रह्मा के एक सौ वर्ष का) महाकल्प कहा गया—

वह ब्रह्माण्ड के बाद (साधक के भेदन के) विषय वाले लोक में स्थित विष्णु का एक दिन कहा गया है और रात्रि भी उतनी ही बड़ी होती है ॥ -२६४ ॥

ब्रह्माण्ड के बाद साधक के लोक में स्थित विष्णु के ॥ २६४ ॥

किञ्च—

अनेन परिमाणेन तस्याब्दं तु विधीयते ।

अह्नां चैव शतत्रयेण सषष्टिना ॥

वर्षाणां च शते पूर्णे सोऽपि याति परे लयम् ॥ २६५ ॥

इत्यम्—

विष्णोरायुर्यदेवोक्तं रुद्रस्यैतद्दिनं भवेत् ।

रुद्रलोकस्थस्य ॥

स च—

दिने दिने सृजत्यन्यौ ब्रह्मविष्णू प्रजापती ॥ २६६ ॥

प्राक्सृष्टयोः परब्रह्मणि लयादन्यं विष्णुं सृष्ट्वा, तन्मूर्त्याविष्टो ब्रह्माणमप्यन्यं सृजतीत्यर्थः ॥

युक्तं चैतत्, यस्मात्—

और भी—

इस परिमाण से विष्णु के तीन सौ साठ दिन का उनका एक वर्ष होता है ॥ २६५- ॥

विष्णु के तीन-सौ साठ दिन ॥

एक सौ वर्ष पूर्ण हो जाने पर वह विष्णु भी परब्रह्म में लीन हो जाते हैं ॥ -२६५ ॥

इस प्रकार—

विष्णु की जो आयु कही गयी है वह रुद्रलोकस्थ रुद्र का एक दिन होता है ॥ २६६- ॥

रुद्र का अर्थात् रुद्र लोकस्थ का ॥

और वह—

वे रुद्र प्रतिदिन प्रजापति स्वरूप नये-नये ब्रह्मा और विष्णु की सृष्टि करते हैं ॥ -२६६ ॥

पूर्वरचित (ब्रह्मा और विष्णु) के पर ब्रह्म में लीन हो जाने के कारण रुद्र अन्य विष्णु की सृष्टि करते हैं और उस विष्णु की मूर्त्ति में आविष्ट होकर अन्य ब्रह्मा की भी सृष्टि करते हैं ॥

यह ठीक भी है क्योंकि—

ब्राह्मी च वैष्णवी शक्तिरधिकारपदं गता ।

यं चाधितिष्ठत्यात्मानं तत्सञ्ज्ञां स प्रपद्यते ॥ २६७ ॥

चो भिन्नक्रमः । पारमेश्वरी ब्राह्मी वैष्णवी च शक्तिर्यमात्मानं पुद्गलमधितिष्ठत्यधिकुरुते, स आत्मा तत्सञ्ज्ञामिति ब्रह्मत्वं विष्णुत्वं च प्राप्नोतीत्यर्थः ॥२६७॥

प्राप्य च तद्रूपत्वमसौ—

तदाधिकारं कुरुते इच्छया परमात्मनः ।

परमात्मनो निर्णीतस्वरूपस्य परमशिवस्य, न तु परेच्छाधिष्ठितोत्तरोत्तरकारणस्य इच्छया ॥

यथा च ब्रह्मविष्णू पारमेश्वरी ब्राह्मी वैष्णवी शक्तिः परमार्थतः, तथा विश्वमिदं पारमेश्वरशक्तिमयमेवेत्याह—

ब्रह्मविष्ण्विन्द्ररुद्राश्च विद्येशा ईश्वरस्तथा ॥ २६८ ॥

लोकाधिपाश्च देवेशि तथा च भुवनाधिपाः ।

ग्रहादिमातरो रुद्रा योगनक्षत्रराशयः ॥ २६९ ॥

शक्तियुक्तास्तु ते सर्वे भवन्ति तदधिष्ठिताः ।

(परमेश्वर की) ब्राह्मी और वैष्णवी शक्ति अधिकार प्राप्त कर जिस जीवात्मा को अपना अधिकार सौंपती है वह जीवात्मा उस सञ्ज्ञा को प्राप्त करता है ॥ २६७ ॥

च का क्रम भिन्न है (इसे वैष्णवी पद के बाद समझना चाहिये) । पारमेश्वरी ब्राह्मी और वैष्णवी शक्तियाँ जिस आत्मा अर्थात् पुद्गल को अधिष्ठित करती हैं = अधिकृत करती है, वह आत्मा उस सञ्ज्ञा अर्थात् ब्रह्मा और विष्णु नाम को प्राप्त करता है ॥ २६७ ॥

उस ब्रह्मा और विष्णु की स्वरूपता को प्राप्त कर यह जीव—

परमात्मा की इच्छा से तब अपने अधिकार का प्रयोग करता है ॥२६८-॥

परमात्मा का तात्पर्य है—निर्णीत (= पहले बतलाये गये) स्वरूप वाला परम शिव न कि पर की इच्छा से अधिष्ठित उत्तरोत्तर कारण । उस (= परमात्मा) की इच्छा से ॥

जिस प्रकार ब्रह्मा और विष्णु परमार्थतः परमेश्वर की ब्राह्मी एवं वैष्णवी शक्ति हैं उसी प्रकार यह संसार भी पारमेश्वरी शक्ति से परिपूर्ण है यह कहते हैं—

हे देवेशि ! ब्रह्मा, विष्णु, इन्द्र, रुद्र, विद्येश्वर, ईश्वर, लोकपाल, भुवनेश्वर, ग्रह आदि, मातायें, रुद्र, योग, नक्षत्र, राशियाँ ये सब शक्ति से युक्त हैं और उस शक्ति से अधिष्ठित कहे गये हैं । उस शक्ति के

तत्पराक्रमवीर्यास्तु स्वकीये तु पदे स्थिताः ॥ २७० ॥

लोकाधिपा इन्द्राद्या लोकपालाः । ग्रहादयश्च मातरश्चेति द्वन्द्वः, मातरो ब्राह्म्याद्याः । योगाः सुनफाद्या ज्योतिःशास्त्रप्रसिद्धाः । ते सर्वे इति, उक्तास्तया परमेश्वरेच्छयाऽधिष्ठिताः सन्तः शक्तियुक्ता निजनिजसामर्थ्यभाजो भवन्ति ॥ २७०॥

पूर्वं ब्राह्म्या वैष्णव्या चाधिष्ठितत्वं ब्रह्मविष्ण्वोरुक्तम्, इदानीं तु ब्रह्मादिभिरपि सह सर्वेषां परशक्त्यधिष्ठितत्वमतश्च सर्वमिदं जगत्—

शिवस्यैका महाशक्तिः शिवश्चैको ह्यनादिमान् ।
सा शक्तिर्भिद्यते देवि भेदैरानन्त्यसम्भवैः ॥ २७१ ॥

महती स्वातन्त्र्याख्या शक्तिः । शिवः प्रकाशानन्दघनः श्रेयोरूपः । चकारात् शक्तिरपि एकाऽद्वितीयाऽनादिमती च भेदैर्नानावैचित्र्यैर्भिद्यते ग्राह्यग्राहकाद्याभासतया स्फुरति ॥

शिवशक्त्यद्वयमयतां प्रासङ्गिकीमुक्त्वा प्रकृतमाह—

कारण ही वे पराक्रम और वीर्य से सम्पन्न होकर अपने-अपने पदों पर स्थित हैं ॥ -२६८-२७० ॥

लोकाधिप = इन्द्र आदि लोकपाल । (ग्रहादिमातरः मे) द्वन्द्व समास है । विग्रह होगा—ग्रहादयश्च मातश्च । मातायें = ब्राह्मी आदि । योग = ज्योतिष शास्त्र में प्रसिद्ध सुनफ (आनन्द, कर्ण, लम्ब) आदि । वे सब जो कि ऊपर कहे गये । उससे = परमेश्वर की इच्छा से, अधिष्ठित होकर । शक्तियुक्त हैं = अपने-अपने सामर्थ्य के पात्र होते हैं ॥ २७० ॥

(इस वर्णन के) पूर्व ब्रह्मा और विष्णु को ब्राह्मी और वैष्णवी शक्तियों का अधिष्ठाता कहा गया । अब ब्रह्मा आदि के साथ सब के सब परशक्ति से अधिष्ठित हैं इसलिये यह सम्पूर्ण संसार—

शिव की एक ही महाशक्ति है और शिव अनादिमान् भी एक ही हैं । हे देवि ! वह शक्ति आनन्त्य से उत्पन्न भेदों के कारण भिन्न-भिन्न होती हैं ॥ २७१ ॥

(परमेश्वर की) स्वातन्त्र्य नामक शक्ति अत्यन्त महीयसी है । शिव प्रकाशानन्दघन श्रेयस् रूप हैं । 'शिवश्च' में चकार का अर्थ है कि (जिस प्रकार शिव एक अनादिमान् हैं उसी प्रकार) शक्ति भी एक अद्वितीय और अनादिमती है । वह भेदों से = नानावैचित्र्यों से, ग्राह्य ग्राहक आदि आभास के रूप में स्फुरित होती रहती है ॥

प्रसङ्गतः प्राप्त शिवशक्ति की अद्वयमयता को बतला कर प्रस्तुत का कथन करते हैं—

एवं वै कुरुते सृष्टिं रुद्रश्चैव दिने दिने ।
संहारं च दिनान्ते वै.............

सा च संसाररूपस्य—

...............रात्रिर्वै तत्समा भवेत् ॥ २७२ ॥

दिनरात्रिसाम्यमेवेश्वरेच्छातः सूर्यसोमसञ्चारादिति टीकाकारमतमसमञ्जसम्, तत्तद्भुवनतदीश्वरप्रभाभास्वरेषु ब्रह्मादिलोकेषु सूर्यादीनां प्रकाशकत्वेन क्वाप्यश्रुतत्वात् ॥ २७२ ॥

इत्थम्—

दिनरात्रिप्रमाणेनानेन स्याद्वत्सरोऽस्य च ।

अस्येति रुद्रस्य ॥

वत्सराणां शते पूर्णे शतरुद्रदिनक्षयात् ॥ २७३ ॥
सोऽपि याति परं स्थानं यद्गत्वा निष्कलो भवेत् ।

रौद्रं वर्षशतं शतरुद्राणां दिनम्, तस्य क्षयः पर्यन्तः ॥

तदन्ते च—

इस प्रकार रुद्र प्रतिदिन के प्रारम्भ में सृष्टि और दिन के अन्त में संहार करते हैं ॥ २७२- ॥

संसार रूप उस (= सृष्टि) की—

रात्रि भी उनके दिन के बराबर होती है ॥ -२७२ ॥

दिन और रात्रि का साम्य ईश्वर की इच्छा से सूर्य चन्द्रमा के सञ्चार के कारण होता है—यह टीकाकार का मत असमीचीन है । क्योंकि ब्रह्मा आदि के लोक तत्तद् भुवनों के ईश्वर की प्रभा से सदा भासित होते रहते हैं । सूर्य आदि को कहीं भी प्रकाशक नहीं कहा गया है ॥ २७२ ॥

इस प्रकार—

इस दिन रात्रि के परिमाण से इस रुद्र का एक वर्ष होता है ॥२७३-॥

इन रुद्र का ॥

रुद्र के एक सौ वर्ष के पूर्ण होने पर अर्थात् शतरुद्र के एक दिन का अन्त होने पर वे रुद्र भी पर स्थान को चले जाते हैं जहाँ पहुँचने पर वे निष्कल हो जाते हैं ॥ -२७३-२७४- ॥

रुद्र का एक वर्ष शतरुद्रों का एक दिन होता है । उसका क्षय = अन्त ॥

उस (दिन) के अन्त में—

तस्मिन् स्थाने पुनश्चान्यस्तत्समश्च प्रभुर्भवेत्॥ २७४ ॥
रौद्रशक्तिसमायोगाद् ब्रह्मविष्ण्विन्द्रनायकः ।

तदित्थमहोरात्रादिकलनया—

शतरुद्रास्तु देवेशि स्वाब्दानां तु शतक्षये॥ २७५ ॥
ते प्रयान्ति परं तत्त्वं ततोऽण्डं तु विनश्यति ।

शतरुद्रजीवितावधिर्ब्रह्माण्डस्थितिकाल इत्यर्थः ॥

कीदृगण्डमित्याह—

सर्वभूतगुणाधारं सर्वतत्त्वालयालयम् ॥ २७६ ॥
सपर्वतवनोद्यानद्वीपसागरमण्डितम् ।
विमानमालाकुलितं ग्रहनक्षत्रमण्डितम् ॥ २७७ ॥
देवदानवगन्धर्वसिद्धविद्याधरोरगैः ।
ऋषिभिर्मानुषाद्यैश्च सप्तलोकनिवासिभिः ॥ २७८ ॥
नरकैश्चैव पातालैर्युक्तं भुवनमण्डितम् ।

सर्वेषां भूतानां पृथ्व्यादीनाम्, गुणानां च शब्दादीनाम्, भूतगुणानां च पाण्डित्यशौर्यादीनामाश्रयः, तथा सर्वतत्त्वालयानां षट्त्रिंशत्तत्त्वमयानां नानाशरीराणामालयो निवासरूपः ॥

उस स्थान पर पुनः (परमेश्वर की) रौद्री शक्ति के योग से उसी रुद्र के समान दूसरा रुद्र स्वामी बनता है । जो कि ब्रह्मा विष्णु और इन्द्र का नायक होता है ॥ -२७४-२७५- ॥

तो इस प्रकार अहोरात्र की गणना से—

हे देवेशि ! अपने सौ वर्ष के बीत जाने पर वे शतरुद्र पर तत्त्व में चले जाते हैं । इसके बाद ब्रह्माण्ड नष्ट हो जाता है ॥ -२७५-२७६- ॥

अर्थात् शतरुद्रों के जीवन तक ही ब्रह्माण्ड की स्थिति का समय है ॥

यह ब्रह्माण्ड कैसा है—यह बतलाते हैं—

यह समस्त भूतों और गुणों का आधार, सब तत्त्वों के आलय का आलय, पर्वत वन उद्यान द्वीप सागर से अलङ्कृत, विमानों से भरा हुआ, ग्रह नक्षत्र से अलङ्कृत, सप्तलोकनिवासी देव दानव गन्धर्व सिद्ध विद्याधर, सर्प, ऋषि, मनुष्य आदि, नरकों एवं पातालों से युक्त तथा भुवनों से मण्डित है ॥ -२७६-२७९- ॥

समस्त भूत = पृथिवी आदि पञ्चमहाभूत । गुण = शब्द आदि । (अथवा दूसरी व्याख्या के अनुसार) भूतों = प्राणियों के गुण = शूरता आदि का आश्रय

ईदृशं च—

अशेषभुवनाधारमण्डमप्सु प्रलीयते ॥ २७९ ॥

एवं च यथोत्पादं तत्त्वानि स्वकारणेषु लीयन्ते । यद्वक्ष्यति—

'आपस्तेजसि लीयन्ते' (११।२८४) इत्यादि ॥ २७९ ॥

इत्थं शतरुद्रान्तायां स्थितौ संहृतायां ब्रह्माण्डोर्ध्वाधरकर्परिकोपरिवर्ती संहर्तृरूपः—

ततः कालाग्निरुद्रश्च कालतत्त्वे लयं व्रजेत्।

अशेषविश्वकलनाकारित्वात् कालश्चासौ तत्त्वं च तदिति कालतत्त्वकालकलितः परमेश्वरः ॥

यद्येवम्, अबादितत्त्वसंहारं कः करोति ?—इत्याशङ्क्याह—

अप्तत्त्वात्तु समारभ्य यावन्मायान्तगोचरम् ॥ २८० ॥
तत्सर्वं संहरेत् कालः स्वयमेव चराचरम् ।

है तथा सर्वतत्त्वालय का = छत्तीस तत्त्वों वाले अनेक शरीरों का, आलय = निवास, है ॥

इस प्रकार—

समस्त भुवनों का आधारभूत अण्ड जल में विलीन हो जाता है ॥-२७९॥

उत्पत्ति के क्रमानुसार समस्त तत्त्व अपने कारणों में लीन हो जाते हैं । जैसा कि कहेंगे—

'जलतत्त्व तेज में लीन हो जाता है ।' (११।२८४)

इत्यादि ॥ २७९ ॥

इस प्रकार शतरुद्रपर्यन्त स्थिति का जब संहार हो जाता है तब ब्रह्माण्ड के ऊपर और नीचे कड़ाह के ऊपर रहने वाले संहर्त्ता—

कालाग्निरुद्र काल तत्त्व में लीन हो जाते हैं ॥ २८०- ॥

समस्त विश्व की कलना (= रचना) के करने के कारण काल तथा (चरम) तत्त्व होने के कारण परमेश्वर काल तत्त्व हैं जो कि काल की कलना से परे हैं ॥

यदि ऐसा है तो जल आदि तत्त्वों का संहार कौन करता है ?—यह शङ्का कर कहते हैं—

जल तत्त्व से लेकर माया तत्त्वपर्यन्त जो कुछ चराचर है, काल स्वयं उसका संहार करता है ॥ -२८०-२८१- ॥

कालः इत्यशेषविश्वकलनः परमेश्वर एवोर्ध्वोर्ध्वभुवनेशमूर्तिमाविश्याधोऽधोवर्त्ति-तत्त्वसंहारं क्रमेण करोतीत्यर्थः । एतच्चाग्रे व्यक्तीभविष्यति ॥

शुद्धेऽध्वनि कः संहर्ता ?—इत्याह—

तदूर्ध्वे शुद्धमध्वानं यावच्छक्त्यन्तगोचरम् ॥ २८१ ॥
तत्सर्वं संहरेद् घोरमघोरो घोरनाशनः ।

शक्त्यन्तस्याध्वनो घोरमिति विशेषणाद् मायादिक्षित्यन्तस्य घोरतरत्व-मित्यर्थादवगतम् । न विद्यते घोरं भेदसंसृष्टं रूपं यस्य सोऽघोर इत्ययमर्थो घोरनाशन इत्यनेन व्याख्यातः । अत्रापि च यथोत्तरमीश्वरसदाशिवादितत्त्वेश्वरमूर्त्या-विष्ट एवाघोरभट्टारकोऽधराधरतत्त्वं संहरतीत्यर्थो वक्ष्यमाणग्रन्थसङ्गत्या बोद्धव्यः ॥

प्रसङ्गागतं संहर्तृविचारमुपसंहरति—

त्रिष्वेवं संस्थितो रुद्रः कालरूपी महेश्वरः ॥ २८२ ॥

त्रिषु पृथ्वीमायाशक्त्यन्तेषु पदेषु । एवमिति संहर्तृतया । रुद्र इति कालाग्नि-रुद्रो भुवि, कालरूपी मायान्तं पदं कलयन्ननन्तभट्टारकः, शक्त्यन्तेषु महेश्वरः ।

काल = समस्त विश्व की कलना करने वाले परमेश्वर । वही ऊर्ध्व-ऊर्ध्व भुवनेश्वरों के शरीर में आविष्ट होकर क्रमशः अधो अधोवर्त्ती तत्त्वों का संहार करते हैं । यह तथ्य आगे स्पष्ट हो जायेगा ॥

(यहाँ तक अशुद्ध अध्वा के संहारक की चर्चा हुई । प्रश्न है कि—) शुद्ध अध्वा में संहारक कौन है ?—यह बतलाते हैं—

उस (= अशुद्ध अध्वा) के ऊपर शक्तिपर्यन्त जितना शुद्ध अध्वा है उस घोर का संहार घोरनाशन अघोर करते हैं ॥ -२८१-२८२- ॥

शक्तिपर्यन्त अध्वा का घोर विशेषण देने से माया तत्त्व से लेकर पृथिवी पर्यन्त तत्त्व घोरतर है—यह अर्थात् समझ लेना चाहिये । ('अघोर' शब्द का अर्थ स्पष्ट करते हैं—) नहीं है घोर = भेदसंसृष्ट रूप, जिसका वह अघोर है—इस अर्थ की घोरनाशन शब्द से व्याख्या की गयी । यहाँ भी उत्तरोत्तर ईश्वर सदाशिव आदि तत्त्वों की ईश्वरमूर्त्ति में आविष्ट होकर ही अघोर भट्टारक नीचे-नीचे वाले तत्त्वों का संहार करते हैं—यह अर्थ वक्ष्यमाण ग्रन्थ की सङ्गति से समझ लेना चाहिये ॥

प्रसङ्गात् प्राप्त संहर्त्ता के विचार का उपसंहार करते हैं—

इस प्रकार काल रूपी रुद्र महेश्वर तीनों (पदों) में स्थित हैं ॥ -२८२ ॥

तीन पदों में = पृथिवी माया एवं शक्ति नामक तत्त्वों में । इस प्रकार = संहारक के रूप में । रुद्र = पृथिवी तत्त्व में कालाग्निरुद्र, (जल से लेकर) माया तत्त्व तक की रचना करने वाले कालरूपी अनन्त भट्टारक (जलादि मायान्त मे)

अथवा एको महेश्वरो रोदनद्रावणकारित्वाद्रुद्रस्त्रिषु पदेषु कालरूपी संहर्ता कालाग्निरुद्रादिवैचित्र्येण स्थित इत्यर्थः ॥ २८२ ॥

एवं प्रासङ्गिकमर्थमुपसंहृत्य प्रकृतमनुसरति—

ततः संहरते तोयममरेशशतात्यये ।

तेजस्तत्त्वाधिष्ठितो रुद्रः, अमरेशसम्बन्धिवर्षशतसङ्ख्यातस्वदिनान्ते तोयं जल-तत्त्वं संहरतीत्यर्थः । अमरेशस्य च शतरुद्रायुष्कालपरीमाणं दिनमिति तदनुसारेण प्राग्वद्वर्षम्, तच्छतमायुस्तदपि तेजस्तत्त्वाधिपतेर्दिनमित्याद्युत्तरोत्तरं क्रमेणानुसरणीयम् ।

'अमरेशः शतात्यये' इत्यपपाठः, स्वशतात्यये तस्य संहर्तृत्वायोगात्तद-धरवर्तिशतरुद्रात्ययेऽपि तोयतत्त्वसंहाराभावात् ॥

तदेवादिशति—

एवं भूताद्यावरणपतयश्च शतात्यये ॥ २८३ ॥
संहरन्ति च देवेशि सृजन्ति च परस्परम् ।

तथा (शुद्ध विद्या से लेकर) शक्ति पर्यन्त तत्त्वसमूह में महेश्वर (कालरूपी अर्थात् संहर्ता) हैं । अथवा एक ही महेश्वर रोदन और द्रावण करने से रुद्र हैं और वे ही तीनो पदों में कालरूपी संहर्त्ता होने के कारण कालाग्निरुद्र आदि अनेक रूपों में स्थित हैं ॥ २८२ ॥

इस प्रकार प्रसङ्गतः प्राप्त विषय का उपसंहार कर प्रकरण प्राप्त विषय का अनुसरण करते हैं—

इसके बाद अमरेश के एक-सौ वर्ष बीत जाने पर (तेजस्तत्त्व के अधिष्ठाता रुद्र जलतत्त्व का) संहार कर देते हैं ॥ २८३- ॥

तेजस् तत्त्व के अधिष्ठाता रुद्र अमरेश सम्बन्धी एक-सौ वर्ष अर्थात् अपना एक दिन बीत जाने पर तोय का = जल तत्त्व का, संहार कर देते हैं । शतरुद्र का एक-सौ वर्ष का आयुष्काल अमरेश का एक दिन होता है इस गणना के अनुसार उनका एक वर्ष, इस एक-सौ वर्ष की अमरेश की आयु होती है । इस का तेजस्तत्त्वाधिपति का एक दिन होता है । इसी प्रकार आगे भी क्रम का अनुसरण करना चाहिये ।

('अमरेशशतात्यये' की जगह) अमरेशः शतात्यये पाठ असगंत है क्योंकि अपना सौ वर्ष पूर्ण होने पर वे (मर जायेंगे फिर) संहर्त्ता नहीं होंगे । और उनके नीचे वर्त्तमान शतरुद्र भी मर जायेंगे फिर जलतत्त्व का संहार नहीं होगा ॥

उसी को बतला रहे हैं—

हे देवेशि ! इस प्रकार पञ्चभूत आदि आवरणों के स्वामी अपने नीचे

भूततन्मात्राद्यावरणेश्वरा यथोत्तरमैश्वराण्यधराधरतत्त्वानि तदीश्वरसम्बन्धिवर्षशतान्तरूपे स्वदिनान्ते संहरन्ति, पुनस्तावत्कालस्वरात्र्यन्तेऽन्यानि सृजन्ति । क्वचित्तु—

'एवं भूतपतीनां तु प्राप्ते वर्षशतात्यये ।
यातैस्तैर्निष्कलस्थानं ततो भूतानि शाङ्करि ॥
संहरन्ति च देवेशि सृजन्ति च परस्परम् ।'

इति पाठः । अत्रापि यथोत्तरमधराधरगतानि तत्त्वानीति व्याख्येयम् ॥

तत्त्वानां परस्परलयात्मकं संहारं स्फुटयति—

आपस्तेजसि लीयन्ते तत्तेजश्चानिले पुनः ॥ २८४ ॥
तथानिलोऽम्बरं प्राप्य सह तेनैव लीयते ।
तन्मात्रेषु प्रलीयन्ते यथोत्पन्नानि च क्रमात् ॥ २८५ ॥
तन्मात्राण्यप्यहङ्कारे सेन्द्रियाणि यथाक्रमम् ।
स बुद्धौ सा च गहने गुणसाम्ये प्रलीयते ॥ २८६ ॥
गुणसाम्यमनिर्देश्यमप्रतर्क्यमनौपमम् ।
तस्मिन् जगदशेषं तु प्रसुप्तमिव तिष्ठति ॥ २८७ ॥

वाले अधिष्ठिता की आयु के सौ वर्ष पूर्ण हो जाने पर परस्पर सृष्टि और संहार करते रहते हैं ॥ -२८३-२८४- ॥

पञ्चभूत, उनकी तन्मात्राओं आदि आवरणों के अधिष्ठाता उत्तरोत्तर ईश्वर वाले अधराधर तत्त्वों का उनके ईश्वर के एक-सौ वर्ष के अर्थात् अपने एक दिन के अन्त में संहार कर देते हैं । फिर उतने ही समय की रात्रि के व्यतीत होने पर अन्य तत्त्वों की सृष्टि करते हैं । कहीं-कहीं—

'हे शाङ्करि ! इस प्रकार तत्तद् भूतों के स्वामी के एक-सौ वर्ष बीत जाने पर उन-उन स्वामियों के निष्कल स्थान में चले जाने पर हे देवेशि ! वे सब परस्पर अन्य-अन्य तत्त्वों की सृष्टि करते हैं ।'

ऐसा पाठ है । यहाँ भी अधराधर तत्त्वों की सृष्टि और उनका संहार करते हैं—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये ॥

तत्त्वों का परस्पर लय वाला संहार स्पष्ट करते हैं—

(उक्त प्रक्रिया के अनुसार) जल तेज में और तेज वायु में लीन होता है । इसी प्रकार वायु भी आकाश को प्राप्त कर उसके साथ लीन हो जाता है । जिस क्रम से तत्त्व उत्पन्न हुए थे उसी क्रम से वे सब अपनी-अपनी तन्मात्राओं में लीन हो जाते हैं । तन्मात्रायें भी इन्द्रियों के साथ अहङ्कार तत्त्व में वह अहङ्कार बुद्धितत्त्व में और वह बुद्धि गहन (= प्रकृति तत्त्व जो कि) गुणों की साम्यावस्था है, में लीन हो जाती है । यह गुणसाम्य

सह तेनैव लीयत इति तेनान्तःकृतपृथिव्यप्तेजोरूपतत्त्वत्रयेण वायुना सह व्योम लीयते । क्व लीयत इत्यत आह—तन्मात्रेष्विति । प्रलीयन्त इति बहुवचनस्य प्रशब्दस्य चायमाशयो यद् व्योम तल्लीनानि पृथिव्यप्तेजोवायुतत्त्वानि स्वकारणेषु तन्मात्रेषु प्रकर्षेण लीयन्ते तन्मयानि भवन्ति । यथोत्पन्नानीत्येकत्वादिक्रमेण यथा जातानि, तथैव । तेन पृथ्वी तन्मात्रपञ्चके, आपश्चतुष्टये, तेजस्तत्त्रये, वायुस्तद्द्वये, व्योम शब्दतन्मात्रे । गन्धो रसतन्मात्रे, तथा उपस्थः पायौ, पायुः पाणावित्यादिक्रमोऽनुसर्तव्यः । गहन इति प्रधानतत्त्वे । उपमैव औपमम् । इत्थं क्ष्मादिबुद्ध्यन्ते प्रकृतिविश्रान्ते सति तावदन्तमशेषं जगद् गाढनिद्रामूढमास्ते ॥ २८७ ॥

इत्थं प्रकृत्यन्ते संहृते सति—

परमाणुप्रमाणेन लीनं संतिष्ठते जगत् ।

परमाणुनाऽत्यन्तमणीयसा परमपेलवेन चेन्द्रियाद्यगोचरेण रूपेण जगत् चराचरं प्रलीनमास्ते ॥

अनिर्देश्य अप्रतर्क्य, अनुपम है । समस्त संसार उसमें प्रसुप्त की भाँति स्थित रहता है ॥ -२८४-२८७ ॥

उसी के साथ लीन हो जाता है = पृथिवी जल तेज ये तीन तत्त्व वायु में लीन होते हैं और परम्परया वायु के साथ आकश भी लीन हो जाता है । कहाँ लीन होता है ?—यह बतलाते हैं—तन्मात्राओं में । 'प्रलीयन्ते' इस बहुवचन एवं 'प्र' उपसर्ग का तात्पर्य यह है कि आकाश और उसमे लीन पृथिवी जल तेज वायु तत्त्व ये सब अपने कारणों अर्थात् तन्मात्राओं में प्रकर्ष के साथ लीन हो जाते हैं अर्थात् तन्मय हो जाते हैं । जिस प्रकार एकत्व के क्रम से उत्पन्न हुए थे उसी क्रम से (लीन भी होते हैं) । इस प्रकार पृथिवी पाँचो तन्मात्राओं में, जल चार तन्मात्राओं में, तेज तीन, वायु दो और आकाश एक अर्थात् केवल शब्दतन्मात्रा में लीन होता है । गन्ध तन्मात्र रस तन्मात्रा में, इसी प्रकार उपस्थ पायु में, पायु पाणि में, (पाणि पाद में पाद वाक् में) इत्यादि क्रम का अनुसरण करना चाहिये । गहन में = प्रधान तत्त्व में । औपम का अर्थ है—उपमा । इस प्रकार पृथिवी से लेकर बुद्धि पर्यन्त तत्त्व जब प्रकृति में लीन हो जाते हैं तब वहाँ तक का समस्त जगत् गाढ निद्रा में मूढ की भाँति स्थित हो जाता है ॥ २८७ ॥

इस प्रकार (पृथिवी से लेकर) प्रकृति पर्यन्त का संहार होने पर—

यह संसार परमाणु के परिमाण का होकर लीन होकर पड़ा रहता है ॥ २८८- ॥

परमाणु = अत्यन्त छोटे, परम पेलव (= कोमल) और इन्द्रिय आदि के द्वारा अज्ञेय रूप से यह चर-अचर रूप संसार लीन होकर पड़ा रहता है ॥

यच्च प्रकृतितत्त्वनिविष्टानां रुद्राणां पूर्वोक्तकलनयाऽऽयुः, तत्—

षड्विंशकस्य रुद्रस्य चैतद्दिनमिह स्मृतम् ॥ २८८ ॥

गुणतत्त्वेन सह प्रधानान्तं तत्त्वपञ्चविंशतिगतानां पञ्चविंशत्या प्रघट्टकैरवस्थितानां सर्वेषां रुद्राणां स्वामी श्रीकण्ठनाथ इह षड्विंशकोऽभिप्रेतः ॥ २८८ ॥

अस्य—

प्रजाः प्रजानां पतयः पितरो मानवैः सह ।
साङ्ख्यज्ञानेन ये सिद्धाः वेदेन ब्रह्मवादिनः ॥ २८९ ॥
छन्दः सामानि चोङ्कारो बुद्धिस्तद्देवताः प्रिये ।
अह्नि तिष्ठन्ति ते सर्वे परमेशस्य धीमतः ॥ २९० ॥

प्रजाः प्रजायमानानि चतुर्दशविधभूतानि । पतयो भुवनेशाः । पितरो मन्वाद्याः । प्रजाग्रहणसङ्गृहीतानामपि मानवानां पुनरुपादानं वैचित्र्योत्थापककर्मकारित्वेन संसारे प्रधानत्वात् । साङ्ख्यज्ञानं प्रकृतिपुरुषविवेकप्रत्ययः । वेदेन ब्रह्मवादिन इति—

'पुरुष एवेदं सर्वम्' (ऋ.१०।९०।२)

इति ब्रह्म ये वदन्ति वेदान्तविदः । तद्देवता इति बुद्धितत्त्वगता ब्रह्माद्या

प्रकृति तत्त्व में निविष्ट रुद्रों की पूर्वगणना के अनुसार जो आयु है वह—

छब्बीसवें रुद्र का दिन माना गाया है ॥ -२८८ ॥

गुण तत्त्व के साथ प्रकृतिपर्यन्त पचीस तत्त्वों में रहने वाले तथा पच्चीस तत्त्वों के समूह के साथ स्थित पच्चीस रुद्रों के जो स्वामी श्रीकण्ठनाथ हैं वे ही यहाँ छब्बीसवें रुद्र माने गये हैं ॥ २८८ ॥

इसके—

प्रजायें, प्रजापति, पितृलोग, मनुष्य, सांख्य के ज्ञान से सिद्ध, वेद के ज्ञान से सिद्ध ब्रह्मवेत्ता, छन्द, साम, ॐकार, बुद्धितत्त्व, उसकी देवतायें ये सब उस धीमान् परमेश्वर (= श्रीकण्ठनाथ) के दिन के समय स्थित रहते हैं ॥ २८९-२९० ॥

प्रजा = उत्पन्न होने वाले चौदह प्रकार के प्राणी । पति = भुवनेश्वर । पितर = मनु आदि । यद्यपि 'प्रजाः' कहने से मनुष्यों का भी संग्रह हो जाता है तथापि 'मानवैः' का पृथक् निर्वचन विचित्रता के जनक कर्मों के कर्त्ता होने से संसार में उनकी प्रधानता बतलाने के लिये किया गया । सांख्यज्ञान = प्रकृतिपुरुष का भेदज्ञान । वेद के द्वारा ब्रह्मवादी =

'यह सब पुरुष ही है' (ऋ.सं. १०।९०।२)

देवयोनयः । परमेशस्येति भुवनाध्वनि वर्णितमाहात्म्यस्य, अह्नि तिष्ठन्ति दिनारम्भेऽभिव्यज्यन्ते ॥ २९० ॥

किञ्चास्य—

दिनान्ते ते प्रलीयन्ते...............

पुनरपि च—

................रात्र्यन्ते विश्वसम्भवः ।

अथाव्यक्ततत्त्वस्थरुद्रसम्बन्धिदिनावधेर्मानुष्येण दिव्येन चाब्दमानेन कलयितुमशक्यत्वाद् बुद्धितत्त्वगतब्रह्मसम्बन्धिभिः प्रलयोद्भवैः सङ्कलनां कर्तुमाह—

षट्त्रिंशत्तु सहस्राणि ब्रह्मणां प्रलयोद्भवाः ॥ २९१ ॥
अव्यक्ते च दिनं प्रोक्तं रुद्राणां तन्निवासिनाम् ।

पूर्वोक्तनीत्या बुद्धितत्त्ववर्ती ब्रह्मा गुणतत्त्वगतरुद्रदिनान्ते संह्रियते, तद्दिनारम्भे चान्यः सृज्यत इति तदीयेऽब्दे सषष्टिशतत्रयं धीगतब्रह्मणां प्रलयोल्लासा भवन्ति । तावांश्च गुणतत्त्ववासिरुद्राणां जीवितावधिः । स चाव्यक्तनिष्ठरुद्राणां

इस प्रकार जो ब्रह्म की चर्चा करते हैं वे अर्थात् वेदान्त (= उपनिषत् या वेदान्त शास्त्र) के वेत्ता लोग । उसके देवता = बुद्धितत्त्व में रहने वाली ब्रह्मा आदि देवयोनियों । परमेश्वर का = भुवनाध्वा में वर्णित महिमा वाले का । दिन में रहते हैं = दिन के प्रारम्भ में अभिव्यक्त होते हैं ॥ २९० ॥

तथा इनके—

दिन का अन्त होने पर वे सब लीन हो जाते हैं ॥ २९१- ॥

और पुनः—

इनकी रात्रि के बीत जाने पर विश्व उत्पन्न होता है ॥ -२९१- ॥

चूँकि अव्यक्त तत्त्व में रहने वाले रुद्रों से सम्बद्ध दिन की अवधि की गणना मानवीय एवं दिव्य परिमाण से सम्भव नहीं है इसलिये बुद्धितत्त्व में रहने वाले ब्रह्मा के प्रलय एवं सृष्टि के द्वारा गणना करने के लिये कहते हैं—

ब्रह्मा के छत्तीस हजार सृष्टिप्रलय का, अव्यक्त में रहने वाले रुद्रों का एक दिन कहा गया है ॥ -२९१-२९२- ॥

पूर्वोक्त रीति के अनुसार बुद्धितत्त्व में रहने वाले (तथा अपने दिनमान से सौ वर्ष जीवित रहने वाले) ब्रह्मा का, गुण तत्त्वस्थ रुद्र के दिनान्त के समय संहार हो जाता है और उनके दूसरे दिन का आरम्भ होने पर दूसरे ब्रह्मा की सृष्टि होती है । इस प्रकार रुद्र के एक वर्ष में ३६० ब्रह्मा की ३६० उत्पत्ति और प्रलय होते हैं । और उतना ही गुणतत्त्ववासी रुद्रों का जीवनकाल होता है और यह अव्यक्त तत्त्व में

दिनकालः । तदिदं यदीदृगव्यक्तस्थरुद्राणां दिनमुक्तम्, तस्य चावान्तर उच्यते—

ब्रह्माण्डप्रलयप्रधानप्रलयमध्यवर्ती जलादिगुणान्ततत्त्वविषयो विचित्रो यः संहार उक्तः, सोऽवान्तरप्रलयो मन्तव्यः ॥

कस्तस्य प्रलयस्य तदन्ते च सृष्टेः कर्तेत्याह—

तस्मिन् संहरते सर्वं प्रधानस्य दिनक्षये ॥ २९२ ॥
रात्र्यन्ते च सृजेद् भूयः श्रीकण्ठो विश्वनायकः ।

यथा चास्य गुणमस्तकवर्तिनोऽपि विश्वनायकत्वं, तथा दशमपटले वितत्य दर्शितम् ॥

अथ—

तस्याप्यनेन न्यायेन परिमाणस्थितिर्भवेत् ॥ २९३ ॥
यस्मात् प्रलयकोट्यश्च व्यतीताश्च सहस्रशः ।

अनेन न्यायेन स्थितिरिति सषष्टिशतत्रयदिनसङ्ख्याब्दशतावधिः प्रलयकोट्य इत्यधोवर्तितत्त्वतत्त्वेशगताः ॥

रहने वाले रुद्रों का दिन कहा गया उसका अवान्तर कहा जाता है—

ब्रह्माण्ड का प्रलय जो कि प्रधान (= प्रकृति) के प्रलय का मध्यवर्त्ती है जिसमें जलतत्त्व से लेकर गुण तत्त्व तक का विचित्र संहार कहा गया, उसे अवान्तर प्रलय मानना चाहिये ॥

उस प्रलय का और उस प्रलय के अन्त में सृष्टि का कर्त्ता कौन है ?—यह बतलाते हैं—

प्रधान तत्त्व के (निवासियों के) दिन का क्षय होने पर विश्वनायक श्रीकण्ठनाथ सबका संहार करते हैं और रात्रि बीतने पर पुनः सृष्टि करते हैं ॥ -२९२-२९३- ॥

गुणों के ऊपर रहने पर भी जिस प्रकार यह विश्वनायक हैं वह दशम पटल में विस्तारपूर्वक दिखला दिया गया है ॥

अब—

इसी न्याय से उन श्रीकण्ठनाथ की भी परिमाणस्थिति होती है जिसमें हजारों करोड़ प्रलय व्यतीत होते हैं ॥ -२९३-२९४- ॥

इस न्याय से स्थिति का अर्थ है—तीन सौ साठ दिन की सङ्ख्या वाली शताब्दी अर्थात् तीन-सौ साठ शताब्दी । प्रलयकोटियाँ—ये (प्रधान तत्त्व के) नीचे वर्त्तमान तत्त्वों और तत्त्वेशों की होती हैं ॥

एतदवध्यन्ते च—

ततो नियतिकालौ च रागो विद्या कला तथा ॥ २९४ ॥
परस्परं लयं यान्ति क्रमात् सर्वे स्वमानतः ।

तत इति श्रीश्रीकण्ठीयाधिकारसमाप्तौ । क्रमादिति कलाद्यानुलोम्यक्रमेण यत् कञ्चुकपञ्चकं देशवैचित्र्येणावस्थितम्, तद् नियत्यादिप्रातिलोम्यक्रमेण चूर्णपाषाण-जलवत् परस्परं लीयते । स्वमानत इति कञ्चुकवासिसर्वरुद्रसम्बन्धिशतवर्षान्ते । अनेन चैतद्दर्शितं यत् सर्वेषां कञ्चुकवासिनां सपुंस्तत्त्वरुद्राणां युगपदेव च प्रलय इति । तथा च पूर्वं तेषाम्—

'तस्मात् कला समुत्पन्ना विद्यारागौ तथैव च ।
कालो नियतितत्त्वं च पुरुषः प्रकृतिस्तथा ॥' (११।६४)

इति सृष्टिरपि युगपदेवोक्ता । भुवनादिदेशव्यवस्था तु पृथगिति तदाशयेन क्रमात् सर्वे इतीहोक्तम् ॥

तदित्थम्—

कलाद्यवनिपर्यन्तं गहनेशदिनक्षये ॥ २९५ ॥

इस अवधि के बाद—

नियति काल राग विद्या और कला ये अपने-अपने मान के अनुसार क्रम से परस्पर लय को प्राप्त होते हैं ॥ -२९४-२९५- ॥

इसके बाद = भगवान् श्रीकण्ठनाथ का अधिकार समाप्त होने के बाद क्रम से—जो कला आदि पाँच कञ्चुक अनुलोम क्रम से दैशिक विचित्रता के साथ स्थित रहते हैं वह नियति आदि विपरीत क्रम से चूर्णपाषाण जल के समान (= जैसे जल में पहले पाषाण फिर चूर्ण विलीन होता है उस प्रकार) परस्पर लीन हो जाते हैं । अपने परिमाप के अनुसार = कञ्चुक में रहने वाले समस्त रुद्रों के एक-सौ वर्ष के बीत जाने पर । इससे यह दिखलाया गया कि कञ्चुक में रहने वाले सभी निवासियों एवं पुरुषतत्त्व में स्थित रुद्रों का प्रलय एक साथ होता है ।

इसी प्रकार—

'उससे कला विद्या राग काल नियति पुरुष तथा प्रकृति तत्त्व......' (११।६४)

इस वर्णन के अनुसार इनकी सृष्टि भी एक साथ कही गयी है । भुवन आदि स्थानों की व्यवस्था अलग-अलग है । इस आशय से यहाँ कहा गया—क्रम से सब (प्रलय को प्राप्त होते है) ॥

तो इस प्रकार—

गहनेश का दिन बीतने पर कला से लेकर पृथिवी पर्यन्त अनेक

नानाभुवनविन्यासरचनादिविभूषितम् ।
सगुणाधारपर्यन्तरुद्रक्षेत्रज्ञसङ्कुलम् ॥ २९६ ॥
गहनेशे लयं याति मूलप्रकृतिकारणे ।

गहनेशो मायातत्त्वग आद्यो रुद्रः । रचनादीत्यादिशब्दाद्विभवः ।

'अधश्छादनमूर्ध्वं च रक्तं शुक्लं विचिन्तयेत् ।
मध्ये तमो विजानीयाद् गुणास्त्वेते व्यवस्थिताः ॥' (२।६६)

इति पूर्वोक्तनीत्याऽऽधारो माया, स पर्यन्ते यस्य तद्गुणाधारपर्यन्तं कलातत्त्वं सहगुणाधारपर्यन्ता ये रुद्रक्षेत्रज्ञास्तैः सङ्कुलम् । गहनेश इति गहन ईशः प्रभुर्यस्य, तस्मिन् गहनेशे मायातत्त्वे मूलप्रकृतेः प्रधानस्यापि कारणे ॥

तच्च तथा लीनं सत्—

रात्र्यन्ते जायते भूयो गहनेशप्रचोदनात् ॥ २९७ ॥

तदित्थमस्य—

अहोरात्रस्त्वयं प्रोक्तः प्राकृतः परमेश्वरि ।

भुवनविन्यास की रचना आदि से विभूषित गुणाधारपर्यन्त के साथ रुद्र क्षेत्रज्ञ से व्याप्त तत्त्वसमूह मूलप्रकृति के कारणभूत गहनेश में लीन हो जाता है ॥ -२९५-२९७- ॥

गहनेश = मायातत्त्व में स्थित प्रथम रुद्र । रचना आदि—यहाँ पर 'आदि' शब्द से 'वैभव' को समझना चाहिये ।

'नीचे और ऊपर के छादन को क्रमशः रक्त और श्वेत अर्थात् रजस् और सत्त्व गुण तथा मध्य में तमोगुण समझना चाहिये । इस प्रकार ये गुण स्थित है ।' (२।६६)

इस पूर्वोक्त नीति के अनुसार 'आधार' का अर्थ है—माया । वह (= आधार) अन्त में है जिसके वह है गुणाधारपर्यन्त अर्थात् कला तत्त्व । गुणाधारपर्यन्त के साथ जो रुद्रक्षेत्रज्ञ हैं उनसे संकुल (= व्याप्त) है । (गहनेश का अर्थ है—) गहन हैं ईश अर्थात् प्रभु जिसके, उस गहनेश अर्थात् माया तत्त्व में । यह मूल प्रकृति अर्थात् प्रधान का भी कारण है ॥

उस प्रकार से लीन हुआ वह—(कलाद्यवनिपर्यन्त संकुल)—

रात्रि के व्यतीत हो जाने पर गहनेश की प्रेरणा से पुनः उत्पन्न होता है ॥ -२९७ ॥

तो इस प्रकार—

हे परमेश्वरि ! इस (= गहनेश) का अहोरात्र कहा गया ॥ २९८- ॥

प्रकृतिरिह विशेषाचोदनात् कलादिक्षित्यन्तस्य विश्वस्य कारणं मायोच्यते, तस्या अयं प्राकृतो मायीयः ॥

तद्गतश्च यो रात्रिकालः—

प्रलयश्च स एवोक्तो भूतानां परमेश्वरि ॥ २९८ ॥

कलातत्त्वान्तानां सर्वेषां प्रकृष्टचिरतरकालानामधस्तनकालापेक्षया कलयितुम-शक्यत्वात् प्राधानिककालमवधिं कृत्वा कलयितुमाह—

प्राधानिकपरार्धेन दशधा गुणितेन तु ।
माया संहरते सर्वं पुनश्चैव सृजेज्जगत् ॥ २९९ ॥

प्रधानस्यायं प्राधानिकः कालः, तस्य यत् परार्धं पूर्वोक्तः सङ्ख्याविशेषस्तेन । दशधा गुणितेनेति दशपरार्धगुणितेन प्राधानिककालेन मायाया दिनम्, रात्रिश्च तावती भवतीत्यर्थः । एतदुक्तं भवति—प्रधानाधिष्ठातृरुद्रायुष्कालो यः कञ्चुकनि-वासिनां दिनम्, तत् सषष्टिशतत्रयकलितमब्दस्तच्छतेन तदायुरित्यत्र नेदृशी कलना क्रियते, अपि तु स कञ्चुकवासिदिनात्मा प्राधानिकः कालः परार्धदशकेन गुणितः

विशेष विवरण न देने से यहाँ 'प्रकृति' शब्द का अर्थ कला से लेकर पृथ्वी पर्यन्त विश्व की कारणभूता माया कही गयी है । उस (प्रकृति) का (= से सम्बद्ध) जो है वह प्राकृत अर्थात् मायीय है ॥

उसमे जो रात्रिकाल है—

हे परमेश्वरि ! वही भूतों का प्रलय कहा गया है ॥ -२९८ ॥

कलापर्यन्त प्रकृष्ट चिरतरकाल वाले सभी तत्त्वों की अधस्तन काल की अपेक्षा गणना सम्भव न होने से प्रधान के काल को अवधि मान कर गणना करने के लिये कहते हैं—

प्रधान के परार्द्ध काल को दश से गुणित करने पर (जो सङ्ख्या होती है वह प्राधानिक काल है उसके अनुसार) माया समस्त संसार का संहार करती है और पुनः उसकी रचना करती है ॥ २९९ ॥

(प्राधानिकपरार्द्धेन की व्याख्या करते हैं—) प्रधान से सम्बद्ध को प्राधानिक कहते हैं ऐसा जो काल, उसकी जो पूर्वोक्त परार्द्ध सङ्ख्या उससे । दशधा गुणित = दशपरार्ध से गुणित प्रधानकाल का माया का एक दिन होता है और उतने ही मान की रात्रि होती है । उसको इस प्रकार कहा जा सकता है—प्रधान तत्त्व के अधिष्ठाता रुद्र का जो आयुष्काल है वह कञ्चुकतत्त्व में रहने वालों का एक दिन होता है । उसको ३६० से गुणा करने पर जो सङ्ख्या आती है वह उनका एक वर्ष होता है । उसके अनुसार एक-सौ वर्ष की आयु होती है—ऐसी गणना यहाँ प्रदर्शित नहीं है किन्तु वह कञ्चुकनिवासियों का दिन होता है । वह प्राधानिक काल

कञ्चुकवासिनामायुः, तच्च गाहिनिकं दिनमित्ययमत्र पूर्वतो विशेषो दर्शितः । इत्थं च परार्धदशकगुणितो यः प्राधानिककालस्तस्य शततमो भागः कञ्चुकवासिनाम् वर्षम्, तस्यापि षष्ट्यधिकत्रिशततमो भागोऽत्र दिनमितीत्थमत्र वर्षदिनादिव्यवस्था कार्या ॥ २९९ ॥

एवमुक्तपरार्धदशकगुणितं तद् गहनेशदिनम्, तत्कलनया वर्षम्, तच्छतरूपो यो गहनेशावस्थितिकालः, स एव तदाश्रयस्य मायातत्त्वस्य कालः । तमवधिं कृत्वेश्वरतत्त्वाधिष्ठातुरीश्वरस्य दिनपरिमाणं दर्शयितुमाह—

मायाकालपरार्धस्य शतधागुणितस्य च ।
ईश्वरः कुरुते सृष्टिं पुनश्च संहरेज्जगत् ॥ ३०० ॥

अत्रापि मायाया योऽवस्थितिकालस्तस्य यत् परार्धं तस्य शतधागुणितस्येति परार्धशतसङ्ख्यातस्य । तावत्कालमीश्वरः सृष्टिं स्वदिने, संहारं स्वरात्रौ शुद्धविद्या-तत्त्वान्तस्य विश्वस्य करोतीत्यर्थः । 'शतधागुणितस्य' इत्युक्तेरयमाशयो यत्किल मायावधिः कालः परार्धैर्दशभिर्गुणितो विद्यातत्त्वाधिपतेरनन्तनाथस्याधिकारकालः, तत्रापि पूर्ववद्भागकलनया वर्षदिनप्रविभागो ज्ञेयः—इत्येवंविधो योऽनन्तनाथाधिकार-

---

दश परार्द्ध से गुणित होने पर कञ्चुकवासियों की आयु होती है । वह गाहनिक (= माया का) दिन होता है । इस प्रकार प्रधान के काल को दश परार्द्ध से गुणा करने पर जो प्राधानिक काल होगा उसका सौवाँ भाग कञ्चुकवासियों का एक वर्ष होता है । उसका भी ३६० वाँ भाग यहाँ दिन होता है—इस प्रकार यहाँ वर्ष दिन आदि की व्यवस्था करनी चाहिये ॥ २९९ ॥

इस प्रकार उक्त परार्द्ध को दश से गुणा करने पर जो काल है वह गहनेश का १ दिन है । इस गणना के अनुसार एक वर्ष उसका सौ गुना अर्थात् १ सौ वर्ष यही गहनेश का स्थितिकाल है । यही उनके (= गहनेश के) आधारभूत माया तत्त्व का काल है । उसको सीमा मानकर ईश्वर तत्त्व के अधिष्ठाता ईश्वर के दिनपरिमाण को दिखाने के लिये कहते हैं—

मायाकाल के परार्ध को सौ से गुणित करने पर (जो सङ्ख्या आती है उतने काल के दिन में) ईश्वर सृष्टि की रचना करता है और इसके बाद जगत् का संहार करता है ॥ ३०० ॥

यहाँ भी माया का जो स्थिति काल है उसका जो परार्ध उसको सौ से गुणा करने पर परार्धशत सङ्ख्या होती है (वह ईश्वर का एक दिन होता है) उस अपने एक दिन में ईश्वर सृष्टि करते हैं और अपनी रात्रि में शुद्धविद्या तत्त्व तक के विश्व का संहार करते हैं । सौ से गुणा करने का यह आशय है कि दश परार्ध से गुणित जो माया तक का काल है वह विद्यातत्त्व के अधिपति अनन्तनाथ का अधिकारकाल है । उसमें भी पूर्व की भाँति भाग करने पर वर्ष और दिन का

कालः, सोऽपि परार्धदशकगुणित ईश्वरस्य दिनमिति । अत्राप्युक्तक्रमानुसारि-वत्सरतच्छतात्मा ईश्वराधिकारकालः ॥ ३०० ॥

सोऽपि प्रक्रान्तरीत्या परार्धशतगुणितः सदाशिवनाथस्य दिनमिति तदन्तेऽ-सावधोवर्ति विश्वं संहरतीत्याह—

ततः सदाशिवो देवः स्वमानेन च संहरेत् ।
सृजते च पुनर्भूय आत्मीये देव्यहर्मुखे ॥ ३०१ ॥

स्वमानेनेत्यवतरणिकायामेव व्याख्यातम् । पुनर्भूयः भूयो भूय इत्यर्थः ॥३०१॥

तदित्थम्—

महाप्रलय एवोक्तः सादाख्ये तु दिनक्षये ।

पूर्वोक्तमायीयप्रलयापेक्षयाऽयं महान्, शुद्धाध्वनोऽपि संहरणात् ॥

अनेन च परिमाणेनायमपि स्ववर्षशतान्ते—

बिन्दुतत्त्वे लयं याति पञ्चमन्त्रमहातनुः ॥ ३०२ ॥

प्रभाग समझना चाहिये । इस प्रकार का जो भगवान् अनन्तनाथ का काल है उसे भी दशपरार्ध से गुणित करने पर ईश्वर का एक दिन होता है । यहाँ भी उक्त क्रम के अनुसार वर्ष और उसका एक-सौ गुना अर्थात् एक सौ वर्ष तक का ईश्वर का अधिकारकाल होता है ॥ ३०० ॥

वह (= काल) भी प्रकरणक्रम से आगत रीति के अनुसार एक-सौ परार्ध से गुणित होने पर सदाशिवनाथ का एक दिन होता है। इस दिन के अन्त में यह (= सदाशिवनाथ अपने से) नीचे वर्त्तमान विश्व का संहार करते हैं—यह कहते हैं—

हे देवि ! इसके बाद सदाशिवनाथ अपने मान से (विश्व का) संहार करते हैं तथा आत्मीय प्रातःकाल होने पर पुनः पुनः सृष्टि करते रहते हैं ॥ ३०१ ॥

अपने मान से—इसकी व्याख्या अवतरणिका में ही कर दी गयी । पुनर्भूयः = बार-बार ॥ ३०१ ॥

तो इस प्रकार—

सदाशिव के दिन का अन्त होने पर महाप्रलय कहा गया ॥ ३०२- ॥

यह प्रलय पूर्वोक्त मायीय प्रलय की अपेक्षा महान् है क्योंकि इसमे शुद्ध अध्वा का भी संहार हो जाता है ॥

इस परिमाण से यह (= सदाशिव) भी अपने सौ वर्ष के अन्त मे—

पञ्चमन्त्रमहातनु (= ईशान तत्पुरुष सद्योजात वामदेव अघोर शरीर

विन्दुतत्त्व इत्यभिधानात्तदधोगतो भुवनाध्वा प्रतिपादितः, स्थूलः सदाशिवोऽत्र विवक्षितः । बिन्दुतत्त्वे लयं याति बिन्द्वीश्वररूपतामाविशति ॥ ३०२ ॥

तथाविधश्चासौ—

बिन्दुं चैवार्धचन्द्रं तु भित्त्वा चैव निरोधिकाम् ।
नादतत्त्वे लयं याति गृहीत्वा सचराचरम् ॥ ३०३ ॥

बिन्द्वर्धचन्द्रनिरोधिकाभूमीः क्रमात्क्रमं परार्धशतगुणितपरिमाणदिनादिव्यवस्था-कलितावस्थितीराविश्य स्थूलः सदाशिवभट्टारको नादात्मनि सूक्ष्मे सदाशिवपदे लीयते तदात्मा जायत इत्यर्थः ॥ ३०३ ॥

सोऽपि च—

नादः सौषुम्नमार्गेण भित्त्वा ब्रह्मबिलं प्रिये ।
शक्तितत्त्वे लयं याति शक्तितत्त्वदिनक्षये ॥ ३०४ ॥

नादात्मा सूक्ष्मः सदाशिवनाथः पूर्वोक्तकलनागणितसुषुम्नेशदिनान्ते तद्रूपतां श्रित्वा तथैव तदवधिकालगणनागणितब्रह्मेशदिनान्ते ब्रह्मरन्ध्रस्थब्रह्मरूपतां श्रित्वा

वाला) होते हुए बिन्दु तत्त्व में लीन हो जाते हैं ॥ -३०२ ॥

'विन्दुतत्त्व' कथन से उसके नीचे स्थित भुवनाध्वा को कहा गया । यहाँ (पञ्चमन्त्रमहातनु कथन से) स्थूल सदाशिव विवक्षित हैं । बिन्दु तत्त्व में लीन हो जाते हैं अर्थात् बिन्दुईश्वररूपता में प्रवेश कर जाते हैं ॥ ३०२ ॥

उस प्रकार के ये—

बिन्दु, अर्धचन्द्र और निरोधिका का भेदन कर चराचर को अपने अन्दर समेट कर नाद तत्त्व में लीन हो जाते हैं ॥ ३०३ ॥

बिन्दु, अर्धचन्द्र और रोधिनी ये तीनों पद क्रमशः सौ परार्ध से गुणित परिमाणात्मक दिन वाले है । (तात्पर्य यह है कि सदाशिव तत्त्व की अपेक्षा सौ परार्ध गुना बिन्दुतत्त्व का एक दिन होता है और इस गणना के अनुसार एक-सौ परार्ध वर्ष पूरा होने पर अर्धचन्द्र का एक दिन होता है । इसी प्रकार रोधिनी का सौ परार्ध वर्ष पूरा होने पर) स्थूल सदाशिवभट्टारक नाद रूपी सूक्ष्म सदाशिव पद में लीन हो जाते हैं अर्थात् तत्स्वरूप हो जाते हैं ॥ ३०३ ॥

वह—

नाद भी, हे प्रिये ! शक्ति तत्त्व के दिन का अन्त होने पर सुषुम्ना मार्ग से ब्रह्मबिल का भेदन कर शक्ति तत्त्व में लीन हो जाता है ॥ ३०४ ॥

नादरूप सूक्ष्म सदाशिवनाथ पूर्वोक्त कलना के अनुसार गणित सुषुम्नेश के दिन का अन्त होने पर उस रूप (= सुषुम्नेशरूप) होकर उसी प्रकार तदवधिकाल

तदीयावस्थितिकाले तथैव गणिते यच्छक्तितत्त्वस्थदेवतादिनम्, तदन्ते तन्मयी-भवतीत्यर्थः ॥ ३०४ ॥

अथ शक्तितत्त्वदिनावधिः कियान् कालः स्यात् ?—इत्याह—

परार्धः स तु विज्ञेयः कालस्तु वरवर्णिनि ।

पूर्वम्—

'प्राधानिकपरार्धेन दशधागुणितेन च' (११।२९९)

इति, तथा—

'मायाकालपरार्धस्य शतधागुणितस्य च' (११।३००)

इत्युक्तत्वाद् शक्तितत्त्वदिनान्तात्मा कालः परार्धपरार्धात्माऽतिविततसङ्ख्यो विज्ञेयः, न त्वेकपरार्धमात्ररूपः, पूर्वोक्तव्याघातापत्तेः । तथाहि भुवनाध्वनि तत्त्वानामुत्तरोत्तरं देशप्रमाणे प्रकर्ष उक्तस्तथेह स्थित्यादिकालोऽप्युत्तरोत्तरं प्रकृष्यत एवेत्यस्य ग्रन्थस्य तात्पर्यम् । इत्थं परार्धपरार्धमानं शक्तिदिनम्, तावत्येव च तदीया रात्रिरनया कलनया यद्वर्षशतम्, तदन्ते शक्तितत्त्वाधिष्ठातृसूक्ष्मदेवता-धिकारपरिसमाप्तिः ॥

गणना से गणित ब्रह्मेश के दिन का अन्त हो जाने पर ब्रह्मरन्ध्र में स्थित ब्रह्म के रूप वाला होकर उस ब्रह्म की स्थितिकाल में भी उसी प्रकार गणना करने पर जो शक्तितत्त्व में स्थित देवता का दिन है उसके अन्त में तन्मय हो जाते हैं ॥ ३०४॥

शक्ति तत्त्व के दिन तक कितना समय होता है ?—यह बतलाते हैं—

हे वरवर्णिनि ! इसे परार्धकाल समझना चाहिये ॥ ३०५- ॥

पहले—

'प्राधानिक परार्धेन दशधा गुणितेन च ।' (११।२९९)

तथा—

'मायाकाल परार्धस्य शतधा गुणितस्य च ।' (११।३००)

ऐसा कहे जाने से शक्तितत्त्व का एक दिन का काल परार्ध का परार्ध (परार्ध × परार्ध) अर्थात् अत्यन्त विस्तृत सङ्ख्या वाला जानना चाहिये न कि एक परार्ध रूप । क्योंकि ऐसा मानने पर पूर्वोक्त का खण्डन हो जायगा । उसे इस प्रकार समझिये—भुवनाध्वा में देशप्रमाण के विषय में तत्त्वों का उत्तरोत्तर प्रकर्ष कहा गया । उसी प्रकार यहाँ भी स्थिति आदि का काल भी उत्तरोत्तर प्रकृष्ट होता ही है—यह इस ग्रन्थ का तात्पर्य है । इस प्रकार परार्ध × परार्ध परिमाण का एक शक्तिदिन होता है । इतनी ही बड़ी इसकी रात्रि भी होती है । इस रीति से गणना करने पर जो एक सौ वर्ष होता है उसके अन्त में शक्तितत्त्व की अधिष्ठात्री सूक्ष्म

तच्च शिवतत्त्वस्थस्य व्यापीशस्याप्यहर्मुखम् ॥ ३०५ ॥

तत्रासौ—

ततश्च संसृजेद् भूयो व्यापी व्योमस्वरूपिणि ।
लीयते सोऽप्यनन्तेशे सोऽनाथे सोऽप्यनाश्रिते॥ ३०६ ॥

स्वाधिकारपरिसमाप्तौ लीयते ॥ ३०६ ॥

अथास्यानाथान्तविश्वाश्रयस्यानाश्रितनाथस्य कियद्दिनं स्यात्?—इत्याह—

शक्तिकालपरार्धस्य कोटिधागुणितस्य च ।
अनाश्रितस्य देवस्य दिनमेतत् प्रकीर्तितम् ॥ ३०७ ॥

यः परार्धपरार्धात्मा शक्तिकाल उक्तस्तस्य प्रकरणात् परार्धकोटिगुणितस्य यः कालः, तदनाश्रितस्य दिनम् ॥ ३०७ ॥

अथ—

अनेन परिमाणेन परार्धगुणितेन तु ।

देवता का अधिकार समाप्त हो जाता है ॥

और वह (= शक्ति तत्त्व का एक-सौ वर्ष) शिव तत्त्व में स्थित व्यापीश का प्रभात होता है ॥ -३०५ ॥

उस (प्रभात) में यह—

व्यापीश पुनः सृष्टि करते हैं । बाद में वे व्योमस्वरूप (= व्यापिनी) में लीन हो जाते हैं । फिर व्यापीश अनन्तेश में, अनन्तेश भी अनाथ में और अनाथ भी अपना अधिकार समाप्त हो जाने पर अनाश्रित में लीन हो जाते है ॥ ३०६ ॥

अपना अधिकार समाप्त होने पर लीन हो जाते हैं ॥ ३०६ ॥

अनाथपर्यन्त विश्व के आश्रयभूत इस अनाश्रितनाथ का दिन कितना होता है— यह कहते हैं—

शक्तिकाल के परार्ध को परार्ध करोड़ से गुणा करने पर जो काल होता है अनाश्रितनाथ का वह एक दिन होता है ॥ ३०७ ॥

शक्ति का जो परार्ध × परार्ध स्वरूप वाला काल कहा गया उसको प्रकरण के अनुसार परार्धकोटि से गुणा करने पर जो काल होता है वह अनाश्रित का एक दिन होता है ॥ ३०७ ॥

इसके बाद—

उक्त परिमाण को परार्ध से गुणित करने पर (अनाश्रितनाथ का

सोऽपि याति परं स्थानं कारणं स्वमनाश्रयम् ॥ ३०८ ॥

परार्धपरार्धरूपो यः शक्तिकालः परार्धकोट्या गुणितोऽनाश्रितदिनात्मा, सोऽपि परार्धेनेति परार्धपरार्धेन गुणितोऽनाश्रितस्याधिकारकाल इति तच्छतभागतत्षष्टि-त्रिशतभागाकर्षणादस्य वर्षदिनव्यवस्था प्राग्वदनुसरणीया । तदित्थमतिविततकालाध्वगतस्वाधिकारकालपरिसमाप्तावनाश्रितनाथः स्वमनाश्रयम्, कारणमिति—

'अत्रारूढस्तु कुरुते शिवः परमकारणम् ।
सृष्टिं.. ॥' (१०।१२५८)

इत्याद्युक्तनीत्या परमशिवमेव, तिष्ठत्यस्मिन् विश्वमिति व्युत्पत्त्या स्थानम्, याति, तदेकात्मा भवति ॥ ३०८ ॥

यश्चायमियतीमतिविततविततविततामध्वधारामधिरूढः—

स कालः साम्यसञ्ज्ञश्च..............

यथा गुणानां साम्यं प्रधानम्, तथा सर्वेषां सृष्टिस्थितिसंहारक्रियाकलनाभासानां यत् साम्यं प्रकर्षापकर्षशून्यं वपुः, तत् साम्यं ज्ञेयम् । समताश्रयः

अधिकारकाल होता है । उसके बीत जाने पर) वे भी अपने कारणभूत पर अनाश्रयस्थान को चले जाते हैं ॥ ३०८ ॥

शक्ति का जो परार्ध × परार्ध रूप काल है उसे एक कोटि परार्ध से गुणित करने पर अनाश्रित का एक दिन होता है । उसको भी परार्ध अर्थात् परार्ध के परार्ध से गुणित करने पर जो सङ्ख्या आती है वह अनाश्रित का अधिकार काल होता है । उसको एक-सौ से फिर तीन-सौ साठ से भाग देने पर एक वर्ष तथा एक दिन की व्यवस्था होती है । इसे पूर्व की भाँति समझना चाहिये । इस प्रकार अत्यन्त विस्तृत कालाध्वर्ती अपने अधिकारकाल के समाप्त होने पर अनाश्रितनाथ अपने अनाश्रय अर्थात् कारण में लीन हो जाते हैं ।

'परमकारण शिव इस पर आरूढ होकर सृष्टि करते हैं....... ।' (१०।१२५८) के अनुसार परम शिव ही अनाश्रय अर्थात् कारण है । उन्हें स्थान इसलिये कहा गया क्योंकि सम्पूर्ण विश्व इनमें ही स्थित रहता है । जाते है = उससे एकात्म हो जाते हैं ॥ ३०८ ॥

जो यह विस्तृत से भी विस्तृत इतनी बड़ी अध्वधारा पर अधिरूढ है—

उस काल को साम्य कहते हैं ॥ ३०९- ॥

जिस प्रकार गुणों का साम्य प्रधानतत्त्व है उसी प्रकार समस्त सृष्टि स्थिति संहार क्रिया की कलना के आभासों का जो साम्य अर्थात् प्रकर्ष अप्रकर्ष से शून्य शरीर है उसे साम्य (= समना) समझना चाहिये । साम्य के कारण समता का

साम्येन, कल्यमानत्वादेव च कालशब्देनोक्तः ॥

वैषम्यनिवृत्त्यात्मकसाम्यात्मकत्वादेव चायम्—

..................जन्ममृत्युभयापहः ।

समापन्नस्येत्यर्थः ॥

अथ—

ततोऽप्यूर्ध्वममेयस्तु कालः स्यात् परमावधिः ॥ ३०९ ॥
नित्यो नित्योदितो देवि अकल्यश्च न कल्यते ।

साम्यसञ्ज्ञः कालः प्रशान्तनिःशेषवैषम्यात्मतया कल्यमानत्वात् प्रमेयस्तथा नायम्, अत एव परमोऽवधिः सर्वप्रमेयप्रमात्रादिप्रतिष्ठापदमुन्मनापरतत्त्वसामरस्यात्मपरप्रमातृरूप इत्यर्थः । चो ह्यर्थे । यतो न कल्यते, अत एवाकल्यः ॥

कथं तर्हि कालशब्दोऽत्र प्रवृत्तः ?—इत्याह—

स चाधः कलयेत् सर्वं व्यापिन्यादिं धरावधिम्॥ ३१० ॥
तुट्यादिभिः कलाभिश्च देव्यध्वानं चराचरम्।

आश्रय है । और कल्यमान होने से यह 'काल' शब्द से कहा गया है ॥

वैषम्यनिवृत्तिस्वरूप साम्य वाला होने के कारण ही यह—

जन्ममृत्यु के भय को दूर करने वाला है ॥ -३०९- ॥

जो (साधक) समना को प्राप्त हो जाता है उसके (जन्म-मृत्यु के भय को दूर करता है) ॥

इसके बाद—

उसके भी ऊपर जो काल है वह अमेय है । वह अन्तिम सीमा है । हे देवि ! यह नित्य नित्योदित और अकल्य है इसलिये इसकी कलना (= गणना) नहीं होती ॥ -३०९-३१०- ॥

साम्य नामक काल में समस्त वैषम्य शान्त हो जाता है अतः कल्यमान होने के कारण यह प्रभा का विषय होता है । यह वैसा नहीं है । इसीलिये यह अन्तिम सीमा है । अर्थात् समस्त प्रमेय प्रमाता आदि की प्रतिष्ठा का स्थान है । यह उन्मना परतत्त्व का सामरस्यरूप परप्रमाता स्वरूप है । श्लोक में 'च' का प्रयोग 'हि' अर्थ में है । चूँकि यह कलित नहीं होता इसलिये अकल्य है ॥

फिर इसको काल क्यों कहा जाता है ?—यह कहते हैं—

हे देवि ! चूँकि यह तुटि आदि तथा कलाओं के द्वारा अधोवर्त्ती व्यापिनी से लेकर पृथिवी तक के चराचर अध्वा की कलना करता है ।

साम्यसञ्ज्ञं कालं भित्तिभूतमवधिमाश्रित्य तदुद्भूतं व्यापिन्यादिं सर्वमिति धरान्तमध्वानं यतः कलयत्यन्तः प्रकाशैकात्म्येन स्थितं बहिर्वैचित्र्यशतैः प्रक्षिपति, बहिराभासितं चान्तः क्षिपति नानात्वेन च परिगणयति, यत एव सर्वं कलयति ततोऽयं काल उच्यत इत्यर्थः ॥

एतदेवाधिकावापेनानुवदन्नुपसंहरति—

ऊर्ध्वमुन्मनसो यच्च तत्र कालो न विद्यते ॥ ३११ ॥
न कल्यः कल्यते कश्चिन्निष्कलः कालवर्जितः ।
यः शाङ्कर्युन्मनातीतः स नित्यो व्यापकोऽव्ययः ॥ ३१२ ॥

उन्मनसः सम्बन्धि ऊर्ध्वं परतत्त्वात्मकं यत्पदं तत्र कलनाहेतुः कालो नास्ति, यस्मान्न तत्र कल्यः कलनार्हः कोऽपि कल्यते, सर्वस्य तत्र परमशिवैकात्म्येनैवावस्थितेः । यतश्चायमप्रमेयत्वात्तुट्यादिकलाभ्यः कालावयवरूपेभ्यो निष्क्रान्तस्तेन क्रमाद्यवभासात्मककालवर्जितः, तद्रूपो न भवति केवलं प्रोक्तव्याख्यासतत्त्वविश्वकलनाकारित्वात् काल इत्युक्तः । अव्यय इत्यपरिक्षीयमाणमूर्तिः । उक्तं च योजनिकायाम्—

(इसलिये उसे काल कहते हैं—कलयति इति कालः) ॥ -३१०-३११- ॥

चूँकि (यह) आधारभूत साम्य नामक काल को अवधि मान कर उससे उत्पन्न व्यापिनी से लेकर पृथिवी पर्यन्त समस्त अध्वा की कलना करता है अर्थात अन्तःप्रकाश के रूप में स्थित इस समस्त विश्व को अनेक विचित्रता के साथ बाहर प्रस्फुटित करता है और बाहर आभासित को अन्दर ले जाता है तथा अनेक रूप में इसकी गणना करता है तात्पर्य यह है कि सबकी कलना करता है अतः यह काल कहा जाता है ॥

इसी बात को अधिक विस्तार से पुनः कहते हुए (प्रकरण का) उपसंहार करते हैं—

जो उन्मना के ऊपर है वहाँ काल नहीं है वहाँ किसी कल्य की कलना नहीं होती । इसलिये वह पद निष्कल और कालरहित है । हे शाङ्करि ! जो उन्मना से परे है वह नित्य व्यापक और अव्यय है ॥ -३११-३१२ ॥

उन्मना से सम्बद्ध ऊर्ध्व परतत्त्वरूप जो पद है उसमे कलना का कारण काल नहीं है क्योंकि वहाँ पर किसी कल्य अर्थात् कलना के योग्य की कलना नहीं होती । क्योंकि वहाँ सब लोग शिव से अभिन्न रूप में स्थित रहते हैं । चूँकि अप्रमेय होने के कारण यह तुटि आदि कालावयव से परे है इसलिये क्रम आदि के अवभासस्वरूप काल से रहित है । यह पद काल रूप नहीं है केवल उपर्युक्त व्याख्या वाले विश्व की कलना को करने के कारण इसे काल कहा गया है । अव्यय का अर्थ है—अपरिक्षीयमाण शरीर वाला । योजनिका नामक ग्रन्थ में भी

'सर्वकालं तु कालस्य व्यापकः परमोऽव्ययः ।
उन्मनान्ते परे योज्यो न कालस्तत्र वर्तते ॥' (४।२८७)

इति ॥ ३१२ ॥

यस्मात् —

तस्यादौ यादृशं रूपं कल्पान्ते चैव तादृशम् ।

आदौ सृष्टिकाले ॥

किञ्च—

अरूपो रूपनिर्मुक्तः सोऽनादिर्भववर्जितः ॥ ३१३ ॥
सर्वज्ञः सर्वकर्ता च दानादिगुणवर्जितः ।

रूप्यन्त इति रूपाणि देशकालाकारनियमा न विद्यन्ते यस्य, अत एव रूपेभ्य इदमीदृगित्यादिरूपव्यापारेभ्यो निर्मुक्तः, यतोऽनादिस्तत एव भवेनोत्पादेन वर्जितोऽसंस्पृष्टः । सर्वज्ञ इति प्राग्वत् । सर्वेण रूपेण कर्ता सर्वात्मना स्वतन्त्रः । चकारो ज्ञत्वकर्तृत्वयोः सामरस्यमाह । यश्च व्यतिरिक्ते ज्ञेये कार्ये ज्ञाता कर्ता च, असावनादिभिः प्रवाहनित्यतया वर्तमानैर्गुणैर्मायाधर्मैर्युक्तो भवति । अयं त्वभेद-

---

कहा गया है—

'काल के, व्यापक परम अव्यय तत्त्व की सब समय उन्मनान्त परतत्त्व में योजना करनी चाहिये । वहाँ काल नहीं रहता ॥ ३१२ ॥ (यो.४।२८७)

(ऐसा इसलिये) क्योंकि—

उसका आदि में जैसा रूप है कल्पान्त में भी वैसा ही रूप रहता है ॥ ३१३- ॥

आदि में = सृष्टिकाल में ॥

तथा—

वह अरूप, रूपरहित, अनादि, भव (= उत्पत्ति) से हीन, सर्वज्ञ, सर्वकर्त्ता तथा दान आदि गुणों से रहित है ॥ -३१३-३१४- ॥

जो रूपित होते हैं वे रूप हैं अर्थात् देश काल आकार के नियम । वे जिसके पास नहीं हैं (वह अरूप हैं) । इसलिये रूपों से = यह, इस प्रकार का इत्यादि रूप व्यापारों से, निर्मुक्त है । चूँकि यह अनादि है इस कारण भव = उत्पत्ति, से वर्जित = असंस्पृष्ट है । (सर्वकर्त्ता का अर्थ है—) सब प्रकार से कर्त्ता अर्थात् सर्वात्मना स्वतन्त्र । 'च' कार (उसके) ज्ञत्व और कर्तृत्व का साम्य बतलाता है । जो अपने से भिन्न ज्ञेय और कार्य के विषय में ज्ञाता और कर्त्ता होता है वह

सर्वज्ञसर्वकर्तृत्वात्मकत्वात्तैरसंस्पृष्टः ॥

एवमपि ततो नान्यत्किञ्चिदस्ति, अपि तु—

स एवापररूपेण.............

स्वस्वातन्त्र्यात् स्फुरन्नपि—

...............उन्मन्या मूर्ध्नि संस्थितः ॥ ३१४ ॥

अतश्चायम्—

देवदेवो जगन्नाथः परमात्मा शिवोऽव्ययः ।
पूर्वानुक्रमयोगेन सोऽकामात् सृजते जगत् ॥ ३१५ ॥

जगता कालाग्न्यादिशिवान्तेन नाथ्यत इति जगन्नाथः । पूर्वानुक्रमयोगेनेति समनापदमारुह्य तत्तत्कारणमूर्त्याश्रयणेनेत्यर्थः । अकामादित्यमिदमेवमहं करोमीति सङ्कल्पं विना । शिष्टं प्रागेव व्याख्यातप्रायम् ॥ ३१५ ॥

अकामादित्याक्षिपन्ती श्रीदेवी उवाच—

अकामस्य क्रिया नास्ति निष्क्रियश्च सृजेत् कथम् ।

अनादि तथा प्रवाहनित्यता के कारण वर्तमान गुणों अर्थात् माया के धर्मों से युक्त होता है । और यह अभिन्न सर्वज्ञ सर्वकर्त्ता होने के कारण उन मायाधर्मों से असंस्पृष्ट है ॥

उससे भिन्न कुछ भी नहीं है बल्कि—

वही अपर रूप से ॥ -३१४- ॥

अपने स्वातन्त्र्य के कारण स्फुरित होता हुआ—

उन्मना के ऊपर स्थित हैं ॥ -३१४ ॥

इसलिये ये—

देवाधिदेव, जगन्नाथ, परमात्मा, अव्यय शिव विना किसी इच्छा या प्रयोजन के पूर्वानुक्रम योग से संसार की रचना करते हैं ॥ ३१५ ॥

('जगन्नाथ' शब्द का अर्थ है—)जगत् अर्थात् कालाग्नि रुद्र से लेकर शिवपर्यन्त, के द्वारा जो नाथित (= अपेक्षित) होता है वह जगन्नाथ है । पूर्वानुक्रम योग से = समना पद पर आरूढ होकर तत्तत् कारणमूर्त्ति को धारण कर । बिना कामना के = 'मैं इसको इस प्रकार करूँ' इस सङ्कल्प के बिना । श्लोक के शेष (अंश) की व्याख्या प्रायः की जा चुकी है ॥ ३१५ ॥

'अकामात्' इस कथन को आक्षिप्त करती हुई देवी ने कहा—

एतं प्रश्नवरं गुह्यं कथय स्व प्रसादतः ॥ ३१६ ॥

सर्वा गमनपचनादिक्रिया सङ्कल्पपूर्वा, सङ्कल्पश्च चिदानन्दघने भगवति नेष्टः, तत्कथमक्रियस्य स्रष्टृत्वम्; अथ च चित्प्रकाशात्मकपरमेश्वरस्वरूपव्यतिरिक्त-स्यान्यस्य सत्त्वमेव न घटते, किमङ्ग कर्तृत्वम् । अत एतं प्रश्नानां मध्ये वरमुत्कृष्टं प्रश्नमेतन्निर्णयाच्च सर्वसंशयोच्छितिर्भवति । प्रसादतस्तत्त्वार्थोन्मीलनेन कथयेति एतन्निर्णयमादिश ॥ ३१६ ॥

इत्थं पृष्टः श्रीभैरव उवाच—

आदित्यस्य मणेर्यद्वत्तापिताद्रविरश्मिभिः ।
वह्निः सञ्जायते तस्माद्रवेस्तत्र न कामिता ॥ ३१७ ॥
मणेरपि न कामित्वं तद्वद् देवस्य चेष्टितम् ।

यः किल कुम्भकारादिः स्वव्यक्तिरिक्तं कार्यं किमपि प्रयोजनमुद्दिश्य जनयति, तस्य सङ्कल्पं विना तत्पूर्वकक्रियानुदयान्मा भूत् कर्तृत्वम्; परमेश्वरस्य स्वतन्त्रभट्टारकस्येदमेव परमेश्वरत्वम् यदयम्—

'सृष्टिसंहारकर्तारम्' (१३)

हे मेरे आत्मस्वरूप ! जो कामनारहित होता है उसके अन्दर क्रिया नहीं होती और इस प्रकार जो निष्क्रिय होता है वह सृष्टि कैसे करेगा ? आप प्रसन्न होकर इस श्रेष्ठ प्रश्न का समाधान कीजिये ॥ ३१६ ॥

गमन पचन आदि सम्पूर्ण क्रियायें सङ्कल्प के बाद होती हैं । और चिदानन्द-घन भगवान् में सङ्कल्प माना नहीं गया तो क्रियारहित स्रष्टा कैसे हो सकता है? साथ ही चित्प्रकाशात्मकपरमेश्वर के स्वरूप से भिन्न किसी अन्य की सत्ता ही नहीं है फिर कर्त्ता होने के क्या बात । इसलिये प्रश्नों में श्रेष्ठ इस प्रश्न को बतलाइये क्योंकि इसको बतलाने से समस्त संशय का उच्छेद हो जायगा । प्रसादतः = तत्त्वार्थ के उन्मीलन के साथ, कहिये = इसका निर्णय बतलाइये ॥ ३१६ ॥

इस प्रकार पूछे गये श्री भैरव ने कहा—

जिस प्रकार सूर्य की किरणों से तापित सूर्यकान्तमणि से अग्नि उत्पन्न हो जाती है किन्तु उस विषय में सूर्य की इच्छा नहीं रहती और सूर्यकान्तमणि की भी इच्छा नहीं रहती उसी प्रकार देवाधिदेव परमेश्वर की चेष्टा है ॥ ३१७-३१८- ॥

जो कुम्भकार आदि हैं वे अपने से भिन्न किसी भी कार्य को किसी प्रयोजन को दृष्टि से रख कर करते हैं उसके सङ्कल्प के बिना तत्पूर्वक (= सङ्कल्पपूर्वक) क्रिया का उदय न होने से भले ही वह कर्त्ता न हो किन्तु स्वतन्त्रभट्टारक परमेश्वर का यही परमेश्वरत्व है कि ये—

इत्याद्युक्तनीत्या स्वचिद्भित्तौ स्वातन्त्र्यशक्त्या दर्पणनगरवत् स्वानतिरिक्त-मप्यतिरिक्तमिव शिवादिक्षित्यन्तमनन्तावान्तरवैचित्र्यचित्रितमाभासयंस्तावदशेष-चमत्कारात्मकपूर्णानन्दघनस्वभाव एवेति वस्तुस्वभावमात्रसाम्येन सूर्यसम्पृष्ट-सूर्यकान्तोत्थवह्निरत्र दृष्टान्तः ॥

तदाह—

आदित्यवच्छिवो ज्ञेयः शक्तिर्मणिरिव स्थिता ॥ ३१८ ॥

न तु जाड्यं भिन्नत्वं च दार्ष्टान्तिके शङ्कनीयम्, दृष्टान्तदार्ष्टान्तिकयोः सर्वसाधर्म्यायोगात् ॥

किञ्च—

ऋतुकालमिताद् वृक्षात् कालोऽङ्कुरनियोजकः ।
यद्वच्छिवसमायोगात्तद्वच्छक्तेर्जगत्स्थितिः ॥ ३१९ ॥

ऋतुकालभाजस्तरोर्यथाऽयं स्वभाव एव यदङ्कुरादिवैचित्र्यवत्त्वम्, तथा नित्यावियुक्तचिदानन्दात्मनोः शिवशक्त्योः स्वरूपमेवैतद् यत् कृत्यपञ्चकप्रपञ्चात्मना

'सृष्टि एवं संहार के कर्त्ता से (देवी ने पूछा)' (१।३)

इत्यादि उक्त नीति के अनुसार अपनी चिद्भित्ति के ऊपर अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के द्वारा दर्पणनगर की भाँति शिव से लेकर पृथिवी पर्यन्त अनन्त अवान्तर वैचित्र्य से चित्रित अपने से अनतिरिक्त को भी अतिरिक्त की भाँति आभासित करते हुए सम्पूर्ण चमत्कारात्मक पूर्णानन्दघनस्वभाव ही हैं । इसलिये वस्तु के केवल स्वभाव की तुल्यता के कारण सूर्य के स्पर्श से उत्पन्न वह्नि का यहाँ दृष्टान्त दिया गया ॥

वही कहते हैं—

शिव को आदित्य के समान समझना चाहिये और शक्ति मणि के समान स्थित है ॥ -३१८ ॥

दार्ष्टान्तिक (= शिव) के अन्दर जड़ता और भिन्नता की शङ्का नहीं करनी चाहिये क्योंकि दृष्टान्त और दार्ष्टान्तिक में सर्वथा साधर्म्य नहीं मिलता ॥

और भी—

जिस प्रकार ऋतुकाल से युक्त वृक्ष से निकलने वाले अंकुर का नियोजक काल होता है उसी प्रकार शिव के समायोग से शक्ति से जगत् की उत्पत्ति होती रहती है ॥ ३१९ ॥

जैसे ऋतुकाल वाले वृक्ष का यह स्वभाव होता है कि उसमें अङ्कुर आदि वैचित्र्य उत्पन्न होते रहते हैं उसी प्रकार नित्यअवियुक्त चिद् आनन्द स्वरूप शिव

स्फुरणम् । तदुक्तं शिवसूत्रेषु—

'स्वशक्तिप्रचयोऽस्य विश्वम्' (३।३०)

इति । इत्थं चैवंविधाशेषविश्वचमत्कारसारपरमशिवात्मकस्वचिद्भूमिविमर्शनं सर्वशास्त्रेषु परमोपादेयं जीवन्मुक्तिप्रदमुच्यत इत्याशयेन प्रश्नवाक्ये गुह्यमभिहित-मिति शिवम् ॥ ३१९ ॥

शम्भोः पूर्णानन्दचिद्रत्नराशेः शक्तिर्बाह्याभासनात्मोच्छलन्ती ।
देवीत्रैतैकात्मरूपामिमां तां स्वां सम्पूर्णां देवतामामृशामि ॥

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्य-व्याख्योपेते एकादशः पटलः ॥ ११ ॥



और शक्ति का यह स्वरूप ही है कि वे पञ्चकृत्य के रूप में स्फुरित होते रहते हैं। वही शिवसूत्र में कहा गया—

'विश्व, उसकी अपनी शक्ति का प्रचय है ।' (शि.सू. ३।३०)

इस प्रकार ऐसे समस्त विश्व के चमत्कार वाले परम शिवस्वरूप अपनी चिद्भूमि का विमर्शन ही समस्त शास्त्रों का परम उपादेय है । इसी को जीवन्मुक्तिप्रद कहा जाता है । इस आशय से प्रश्न वाक्य में 'गुह्य' शब्द कहा गया ॥ ३१९ ॥

पूर्णानन्द चिद्रत्नराशि रूप शम्भु की शक्ति बाह्य आभास के रूप में उच्छलित होती है । मैं परा, परापरा और अपरा रूप अथवा वामा, ज्येष्ठा और रौद्री, तीन देवियों की एकात्मरूपा अपनी उस सम्पूर्ण देवता का स्मरण करता हूँ ॥

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के एकादश पटल की श्रीक्षेमराजविरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ ११ ॥



द्वादशः पटलः

*** स्वच्छन्दोद्योतः ***

स्वात्मनि स्वेच्छया क्लृप्ततत्तत्तत्त्वस्फुटद्युतौ ।
स्वाभिन्ना भासयन् सिद्धीः स्वच्छन्दो जयति प्रभुः ॥

पटलसङ्गत्यर्थमुक्तमनुवदन्ती तत्त्वसिद्धिबुभुत्सया श्रीदेव्युवाच—

सृष्टिः स्थितिश्च संहारस्तत्त्वानां कथितस्त्वया।
जगत्सम्भवहेतुश्च.............

जगतस्तत्त्वभूतभावभुवनादिरूपस्य हेतुः परमकारणं परमशिवः ॥

एतच्च—

.............त्वत्प्रसादाच्छ्रुतं मया ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

अपने अन्दर अपनी इच्छा से कल्पित तत्तत् तत्त्व के स्फुट प्रकाश में अपने से अभिन्न सिद्धियों को भासित करने वाले प्रभु जयशील हैं ॥

इस पटल की सङ्गति के लिये पूर्वोक्त का अनुवाद करती हुई देवी ने तत्त्वसिद्धि को जानने की इच्छा से कहा—

तत्त्वों की सृष्टि, स्थिति, संहार और जगत् की उत्पत्ति के हेतुभूत (परम शिव) का वर्णन आपने किया ॥ १- ॥

तत्त्वभूत भाव भुवन आदि रूप वाले जगत् के हेतु = परम कारण = परम शिव (को आपने बतलाया) ॥

और इसे—

आपकी कृपा से मैंने सुना ॥ -१ ॥

प्रसादादि प्राग्वत् ॥ १ ॥

इदानीं तु—

तत्त्वविज्ञानमाख्याहि सिद्धिस्तेषु यथा भवेत् ।

विज्ञानं धारणादिक्रमेण साक्षात्कारः । तेष्विति तद्विषया सिद्धिर्यथा स्यात् ॥

एतद् गदितुं श्रीभैरव उवाच—

पृथिव्यादि शिवान्तं च कथयामि समासतः ॥ २ ॥

यथा देहे यथा च बहिः स्थितम् । समासतः सङ्क्षेपेण, विस्तरतस्त्वग्रे धारणावसरे भविष्यति ॥ २ ॥

तत्र—

पृथ्वी कठिनरूपेण शृणु देहे यथा स्थिता ।

यथेति येन मांसादिना प्रकारेण ॥

तदाह—

मांसेऽस्थिषु तथा चैव स्नायुलोमनखेषु च ॥ ३ ॥

प्रसाद आदि को पूर्व वर्णित की भाँति (समझना चाहिये) ॥ १ ॥

और अब—

तत्त्वविज्ञान को बतलाइये जिससे कि उनकी सिद्धि हो जाय ॥ २- ॥

विज्ञान = धारणा आदि के क्रम से साक्षात्कार । उनकी = उन विषयों वाली । सिद्धि जिस प्रकार हो (वह बताइये) ॥

इसको बतलाने के लिये श्री भैरव ने कहा—

पृथिवी से लेकर शिव पर्यन्त (तत्त्वसमूह) को अब मैं संक्षेप में बतला रहा हूँ ॥ -२ ॥

(यह तत्त्वसमूह) जिस प्रकार देह में और जिस प्रकार बाहर स्थित है उसको समास से = संक्षेप से (कहूँगा) । विस्तृत वर्णन आगे धारणा के अवसर पर होगा ॥ २ ॥

पृथिवी देह में जिस प्रकार कठिन रूप से स्थित है उसे सुनो ॥ ३- ॥

जिस प्रकार = जिस मांस आदि प्रकार से ॥

उसको बतलाते हैं—

मांस, अस्थि, स्नायु, लोम, नख, मज्जा, आँत में उत्कट पाँच गुणों

मज्जान्त्रेषु च विज्ञेया पृथ्वी पञ्चगुणोत्कटा ।

एतच्चाग्रे स्फुटीभविष्यति ॥

कफासृगाममूत्रेषु रसस्वेदवसासु च ॥ ४ ॥
शुक्रे च संग्रहे चैव स्थिता आपश्चतुर्गुणाः ।

देहे इत्येव । रस आहारपानपरिणामोत्थ आद्यो देहधारको धातुः । संग्रह पार्थिवादीनां मांसादिभावेन परिणतानां संश्लेषः ।

पचने दहने चैव तेजस्यूष्मणि संस्थितम् ॥ ५ ॥

आहारादेः पाकनिमित्तं महाक्षारजननात्मकदाहाय परासह्यदीप्तये उपेलभ्योष्मसम्पत्तये च देहे तेजः स्थितम् ॥ ५ ॥

तेजस्त्वेवं स्थितं देवि प्रकाशे च त्रिलक्षणम् ।

प्रकाशे इति नेत्ररश्मिद्वारेण वस्तुप्रथनाय । त्रयो रूपस्पर्शशब्दा लक्षणं यस्य । एतच्चादृष्टवशाद् देहेऽनुद्रिक्तरूपस्पर्शं स्पष्टम् ॥

वायुरुच्छ्वासनिःश्वासस्पर्शनव्यूहलक्षणः ॥ ६ ॥

वाली पृथिवी को मानना चाहिये ॥ -३-४- ॥

यह आगे स्पष्ट होगा ॥

कफ, रक्त, आम (= अपरिपक्व भोजन) मूत्र, रस, पसीना, वसा, शुक्र और संग्रह में (शब्द, स्पर्श, रूप एवं रस नामक) चार गुणों वाला जल है ॥ -४-५- ॥

यह देह में ही रहता है । रस (का अर्थ है) भोजन पान के पारिपाक से उत्पन्न प्रथम देहधारक धातु । संग्रह = पार्थिव आदि का मांस आदि के रूप में परिणत संश्लेष (= चिपचिपा पदार्थ) ।

पचाने, जलाने, असह्य चमक उत्पन्न करने और गर्मी उत्पन्न करने में तेज स्थित है ॥ -५ ॥

आहार आदि के पाक का कारण तेज महाक्षारजनन रूप दाह के लिये, पर असह्य चमक के लिये प्राप्तव्य गर्मी की प्राप्ति के लिये, देह में स्थित है ॥ ५ ॥

हे देवि ! (उक्त प्रयोजन के साथ-साथ) प्रकाश के लिये भी यह त्रिलक्षण तेज (देह में) स्थित है ॥ ६- ॥

प्रकाश में—नेत्रज्योति के द्वारा वस्तु को प्रकाशित करने के लिये । (त्रिलक्षण का अर्थ है—) रूप, स्पर्श और शब्द ये तीन लक्षण हैं जिसके वह । अदृष्टवशात् देह में यह अनुद्रिक्त रूप और स्पर्श वाला है ॥

मूत्रोच्चारविसर्गेषु अन्नपानप्रवेशने ।

स्पर्शनं बाह्याभ्यन्तरस्पर्शग्रहणम् । व्यूहो रचना । उच्चारो मलपरिणामः । विसर्गो बहिष्कृतिः ॥

तदित्थम्—

वायुरेभिः स्थितो देहे विज्ञेयस्तु द्विलक्षणः ॥ ७ ॥

एभिर्व्यापारैरुपलक्षितः । द्वौ शब्दस्पर्शौ लक्षणं ज्ञप्तिहेतुर्यस्य स द्विलक्षणो द्विगुणः ॥ ७ ॥

एकलक्षणमाकाशं कथयामि यथा स्थितम् ।

एकः शब्दो लक्षणं यस्य । तत्र पृथिव्याः खटखटारूपः, जलस्य च्छलच्छलता, तेजसो धगधगाकृतिः, वायोः शुकशुकास्वभावः, आकाशस्य प्रतिश्रुत्काख्यः शब्दः । स्पर्शोऽपि पृथ्व्याः पाकजोऽनुष्णाशीतः, जलस्य शीतः, तेजस उष्णः, वायोरपाकजोऽनुष्णाशीतः । पृथ्व्याः सितादि नानारूपम्, जलस्य सितम्, तेजसो भास्वरम् । पृथ्व्याः षड्विधो मधुरादिरसः, जलस्य मधुरः ।

उच्छ्वास निःश्वास स्पर्श करने वाला वायु मूत्रत्याग, उच्चार, विसर्ग और अन्न-पान को शरीर के अन्दर पहुँचाने के लिये देह में स्थित है ॥ -६-७- ॥

स्पर्शन = बाह्य और आभ्यन्तर स्पर्श का ग्रहण । व्यूह = रचना । उच्चार = मल का परिपाक । विसर्ग = मल को बाहर करना ॥

तो इस प्रकार—

इन विशेषताओं से युक्त दो लक्षण वाला वायु देह में स्थित है ॥ -७ ॥

इनसे = इन (उपर्युक्त) व्यापारों से उपलक्षित । (द्विलक्षण पद का अर्थ है) दो = शब्द और स्पर्श हैं लक्षण = ज्ञान का कारण जिसके वह है द्विलक्षण = दो गुणों वाला ॥ ७ ॥

एक लक्षण वाला आकाश (देह में) जिस प्रकार स्थित है, उसे बतला रहा हूँ ॥ ८- ॥

एक अर्थात् शब्द है लक्षण जिसका (वह एकलक्षण है) । पृथिवी का शब्द खट् खट् होता है । जल का छल छल । तेज का धक् धक् आकृति वाला । वायु का शुक् शुक् (अर्थात् सू सू) । आकाश का शब्द प्रतिध्वनि है । पृथ्वी का स्पर्श पाकज अनुष्ण अशीत है । जल का (अपाकज और) शीत स्पर्श है । तेज का स्पर्श उष्ण है । वायु का स्पर्श अपाकज अनुष्णाशीत है । पृथिवी का रूप श्वेत आदि अनेक प्रकार (नील पीत रक्त हरित कपिश चित्र) का है । जल का श्वेत रूप है । तेज का भास्वर शुक्ल रूप है । पृथिवी का रस मधुर आदि छह प्रकार

पृथ्व्या एव तु सुरभिरूपो गन्ध इति । विशिष्टैरेव तैर्गुणैर्देहे पृथिव्यादिभूतानि लक्षणीयानि ॥

यथास्थितमित्युक्तं स्पष्टयति—

सुषिरात्मकं तु विज्ञेयं नवधाच्छिद्रलक्षणम् ॥ ८ ॥

नव च्छिद्राणि द्वाराणि ब्रह्मरन्ध्रचक्षुःश्रोत्रघ्राणास्यचूचुकनाभिलिङ्गगुदगतानि लक्षणं यस्य ॥ ८ ॥

इत्थं नवद्वारलक्षितम्—

शब्दात्मकं गुणं ह्येतत् कथितं तव सुव्रते ।

एवं देहे भूतपञ्चकं प्रदर्श्य, तदुपस्थापकतत्प्रकाशकानि कर्मेन्द्रियबुद्धिमनांसि प्रकाश्येन्द्रियकारणभौतिकरूपादिप्रतीतिवशानुमेयानि रूपाद्यविशेषरूपाणि तन्मात्राण्युपपादयिष्यति । तत्र तावत्—

वागिन्द्रियं वदेद्वाणीं सा च वाणी चतुर्विधा ॥ ९ ॥
संस्कृता प्राकृती चैव अपभ्रष्टानुनासिका ।

'संस्कृता नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः'

का है । जल का मधुर रस है । पृथिवी का गन्ध सुरभि है । इन्हीं विशिष्ट गुणों से शरीर में पृथिवी आदि महाभूतों को पहचानना चाहिये ॥

'यथा स्थितम्' इस कथन को स्पष्ट करते हैं—

नव प्रकार के छिद्ररूप लक्षण वाला आकाश सुषिरात्मक (= छिद्र रूप) जानना चाहिये ॥ -८ ॥

नव छिद्र = द्वार हैं लक्षण जिसके वह । वे नव छिद्र निम्न अङ्गों में स्थित है—१. ब्रह्मरन्ध्र, २. चक्षु, ३. श्रोत्र, ४. घ्राण, ५. मुख, ६. चूचुक (= स्तन का अग्रभाग) ७. नाभि, ८. लिङ्ग ॥ ८ ॥

इस प्रकार नवद्वार से लक्षित—

शब्द गुण वाला यह आकाश, हे सुव्रते ! तुमको बतलाया गया ॥ ९- ॥

इस प्रकार देह में पाँच महाभूतों को बतला कर उनके उपस्थापक और उनके प्रकाशक कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय और मन को, तथा प्रकाश्य इन्द्रिय के कारणस्वरूप भौतिक रूप आदि की प्रतीति के द्वारा अनुमेय तथा रूपादि से अविशिष्ट तन्मात्राओं को बतलायेंगे । उनमें से—

वाक् इन्द्रिय वाणी का उच्चारण करती है । वह वाणी चार प्रकार की है—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रष्ट और अनुनासिक ॥ -९-१०- ॥

इति तत्रभवद्भर्तृहरिणाउक्ततात्पर्या संस्कृता । प्रकृतिभूताया वर्णलोपान्यथाभावादिक्रमेण आयाता प्राकृती । यदाहुः—

'तद्भवस्तत्समो देशी त्रिविधः प्राकृतक्रमः' इति ।

अपभ्रष्टा देशभाषा विचित्रः । अनुनासिका नासिकामनुगता गीयमानाक्षररूपा वर्णाङ्गमितिप्रसिद्धा ॥

छेदनं भेदनं दानं व्यधनं शिल्पयोजनम् ॥ १० ॥
ग्रहणं विजयश्चैव सर्वं हस्तेन्द्रिये स्थितम् ।

छेदनं रज्ज्वादिषु । (भेदनं) भेदः शरादिकृतो लक्ष्याधिष्ठः । विजयो युद्धम् । विजयी इति वा पाठः ॥

समनिम्नोन्नताश्चैव लोष्ठकण्टकबालुकाः ॥ ११ ॥
कर्दमो जलदुर्गाणि रथ्याट्टालकपर्वताः ।
पादेन्द्रियेण गम्यन्ते देशान्तरगमागमे ॥ १२ ॥

देशान्तरगमनागमननिमित्तं समनिम्नादिस्थानानि पादेन्द्रियेण गम्यन्ते ॥ १२ ॥

'महर्षियों ने संस्कृत को दैवीवाक् (= देवताओं की भाषा) कहा है ।'

इस प्रकार योगिराज भर्तृहरि के द्वारा उक्त तात्पर्य वाली वाणी संस्कृत है । जो वाणी प्रकृति से वर्ण लोप अथवा वर्ण के रूप परिवर्त्तन आदि के क्रम से आयी है वह प्राकृत है । जैसा कि कहते हैं—

'प्राकृत भाषा का क्रम तीन प्रकार का है—तद्भव, तत्सम और देशज ।'

अपभ्रंश भाषायें देश (= तत्तद् विशिष्ट स्थान) की होती हैं और विचित्र अर्थात् अनेक प्रकार की होती हैं । अनुनासिका का तात्पर्य है—नासिका की अनुगत भाषा । यह गीयमान अक्षर रूप वाली होती है । वर्णाङ्ग के नाम से प्रसिद्ध है ॥

छेदन, भेदन, दान, व्यधन (= बींधना), शिल्पयोजन (= गृह आदि का निर्माण), ग्रहण और विजय यह सब कुछ हाथ नामक इन्द्रिय में स्थित है ॥ -१०-११- ॥

छेदन—रस्सी आदि का काटना । भेद = बाँण आदि के द्वारा लक्ष्य का भेदन । विजय = युद्ध । (विजयः के स्थान पर) विजयी पाठ भी है ॥

समतल, नीची भूमि, ऊँची भूमि, ढेला काँटा बालू वाली भूमि, कीचड़, पानी, दुर्ग, गली, महल, पर्वत ये सब स्थान देशान्तर को जाने अथवा वहाँ से आने के समय पैर नामक इन्द्रिय के द्वारा जाये जाते हैं ॥ -११-१२ ॥

देशान्तर गमनागमन के कारण पादेन्द्रिय के द्वारा समतल, नीचे ऊँचे आदि

उत्सर्गे पर्दिते चैव पायुर्वै चेष्टते सदा ।

उत्सर्गो मलमोक्षः । पर्दितं गुदरन्ध्रेण कुत्सितशब्दः ।

आनन्दकृदुपस्थश्च गम्यागम्यप्रवर्तकः ॥ १३ ॥

आनन्दकृत्त्वादेव विहितनिषिद्धादौ सर्वत्र प्रवर्तनमस्य स्वभावः, अत एव तन्नियमः शास्त्रे क्रियते ॥ १३ ॥

तदित्थम्—

कर्मस्वेतानि वर्तन्ते तेन कर्मेन्द्रियाणि तु ।

यथा चैतानि ईदृशि, तथा—

बुद्धीन्द्रियाणि देवेशि वर्तन्ते बुद्धियोगतः ॥ १४ ॥

बुद्धेर्ज्ञानस्य योगः सम्बन्धस्तत्र तन्निमित्तं प्रवर्तन्ते ॥ १४ ॥

तत्र वितत्य शब्दाख्यविषयप्रभेदनिरूपणपूर्वं श्रोत्रेन्द्रियस्य तदुपलब्धिसाधन-

---

स्थान जाये जाते हैं ॥ १२ ॥

उत्सर्ग एवं पादने (= अपानवायु के गुदा मार्ग से निकलने) की क्रिया में पायु इन्द्रिय सदा चेष्टा करती है ॥ १३- ॥

उत्सर्ग = मल का त्याग । पर्दन = गुदा के छिद्र से गन्दे शब्द का बाहर आना ॥

आनन्द को देने वाली तथा गम्या एवं अगम्या के प्रति प्रवृत्ति उत्पन्न करने वाली इन्द्रिय उपस्थ है ॥ -१३ ॥

आनन्दकारी होने के कारण ही विहित एवं निषिद्ध सर्वत्र प्रवृत्त होना इसका स्वभाव है । इसीलिये शास्त्र में इसका नियमन किया जाता है (कि यहाँ प्रवृत्ति करनी चाहिये यहाँ नहीं) ॥ १३ ॥

तो इस प्रकार—

चूँकि ये (उपर्युक्त इन्द्रियाँ) कर्म में प्रवृत्त होती हैं इसलिये ये कर्मेन्द्रियाँ (कही जाती) हैं ॥ १४- ॥

जैसे ये इस प्रकार की हैं उसी प्रकार—

हे देवेशि ! बुद्धि के योग से बुद्धीन्द्रियाँ भी प्रवृत्त होती हैं ॥ -१४ ॥

(बुद्धियोग का अर्थ है—) बुद्धि का = ज्ञान का, योग = सम्बन्ध । उस विषय में = उसके कारण, ये प्रवृत्त होती हैं ॥ १४ ॥

शब्द नामक विषय का विस्तार के साथ भेदनिरूपण करते हुए श्रोत्रेन्द्रिय को

त्वमाचष्टे—

षड्जाख्यर्षभगान्धारमध्यमाः पञ्चमः प्रिये ।
धैवतो निषधश्चैव स्वराः सप्त प्रकीर्तिताः ॥ १५ ॥
गान्धारो मध्यमः षड्जस्त्रयो ग्रामाश्च पार्वति ।

इत्थम्—

सप्त स्वरास्त्रयो ग्रामा मूर्छनाश्चैकविंशतिः ॥ १६ ॥
तान एकोनपञ्चाशदित्येतत् सुरमण्डलम् ।

तदित्थम्—

सूक्ष्मशब्दाः स्मृता ह्येते चराचररवस्थिताः ॥ १७ ॥

सूक्ष्मध्वनिमात्ररूपाः, अत एव चराचरे सर्वत्र रवरूपतया ध्वनिमात्रावस्थिताः ॥ १७ ॥

अथ—

स्थूलांश्चैव प्रवक्ष्यामि यथावत्तान्निबोध मे ।
भेरीपटहशङ्खोत्थो मृदङ्गपणवोत्थितः ॥ १८ ॥
वेणुगोमुखशब्दश्च मन्दलो दर्दुरो ध्वनिः ।

उसकी उपलब्धि का साधन बतलाते हैं—

हे प्रिये! षड्ज, ऋषभ, गान्धार, मध्यम, पञ्चम, धैवत और निषध—ये सात स्वर कहे गये हैं । हे पार्वति! गान्धार, मध्यम और षड्ज—ये तीन ग्राम हैं ॥ १५-१६- ॥

इस प्रकार—

सात स्वर, तीन ग्राम, इक्कीस मूर्छनायें और उञ्चास तान—ये सुरमण्डल हैं ॥ -१६-१७- ॥

तो इस प्रकार—

ये सूक्ष्म शब्द माने गये हैं जो चर एवं अचर के रव में स्थित बतलाये गये हैं ॥ -१७ ॥

ये सूक्ष्मध्वनि रूप में हैं, अत एव समस्त चर एवं अचर में सर्वत्र रव (शब्द) रूप से ध्वनि रूप में स्थित हैं ॥ १७ ॥

अब—

स्थूल शब्दों का अब यथावत् वर्णन करूँगा । उनको मुझसे जानो । भेरी, पटह, शङ्ख से उत्पन्न, मृदङ्ग, पणव से उत्थित, वंशी और गोमुख

तन्त्रीवाद्यानि चित्राणि करवाद्यानि यानि च ॥ १९ ॥
संयोगजवियोगोत्थाः काष्ठपाषाणवारिजाः ।
अपभ्रंशोऽनुनासिक्यः संस्कृतः प्राकृतो रवः ॥ २० ॥

संयोगजा हुडुक्कादिहस्तसङ्घोत्थाः, विभागजास्तु दलादिविश्लेषोदिताः ॥२०॥

तदित्थम्—

सप्तस्वरप्रतिष्ठानि व्यक्ताव्यक्तानि चैव हि ।
उक्तानुक्तानि गृह्णाति श्रवणेन्द्रिययोगतः ॥ २१ ॥

वाद्यसंस्कृताद्यात्मकानि सर्वाणि शब्दरूपाणि सप्तस्वरात्मकध्वनिविशिष्टनिष्ठानि श्रोत्रेण पुरुषो गृह्णाति ॥ २१ ॥

ततश्च—

शब्दोऽस्य विषयो ह्येष येन बुद्ध्येत पुद्गलः ।

एष प्रोक्तरूपः सर्वः शब्दोऽस्य श्रवणेन्द्रियस्य विषयः । कस्यास्येत्याह—येन पुद्गलः पुमान् बुद्ध्येत जानीयात् । एवमुत्तरत्रापि सङ्गतिः कार्या ॥

का शब्द, मन्दल और मेढक की ध्वनि, अनेक प्रकार के तन्त्रीवाद्य, (अनेक प्रकार के) करवाद्य, संयोगज शब्द, विभागज शब्द, काष्ठ पत्थर और जल से उत्पन्न शब्द, अपभ्रंश, अनुनासिक, संस्कृत, प्राकृत शब्द (स्थूल हैं) ॥ १८-२० ॥

संयोगज—हुडुक (ढोल) आदि तथा हाथ के संयोग से उत्पन्न शब्द ॥ २० ॥

विभागज—(बाँस, काष्ठ) आदि के टुकड़ों के अलग होने से उत्पन्न हुआ शब्द ॥ २० ॥

तो इस प्रकार—

(पुरुष) सात स्वर में स्थित व्यक्त और अव्यक्त, उक्त और अनुक्त शब्दरूपों का ग्रहण श्रवणेन्द्रिय के योग से करता है ॥ २१ ॥

पुरुष वाद्य और संस्कृत आदि तथा सप्त स्वर वाली विशिष्ट ध्वनियों में रहने वाले समस्त शब्द रूपों का ग्रहण श्रोत्रेन्द्रिय से करता है ॥ २१ ॥

इस कारण—

यह शब्द इसका विषय है जिसके द्वारा पुद्गल ज्ञान प्राप्त करता है ॥ २२- ॥

यह = जिसका स्वरूप ऊपर बतलाया जा चुका है वह समस्त शब्द, इसका = श्रवणेन्द्रिय का, विषय है । किसके श्रोत्रेन्द्रिय का—जिससे पुद्गल = पुरुष,

मृदुं च कठिनं चैव कर्कशं शीतलं तथा ॥ २२ ॥
उष्णं च पिच्छिलं लोष्ठं कर्दमं बालुकास्तथा ।
शरकुन्तासिघातादि ताडनं छेदनं तथा ॥ २३ ॥
एतानि वै विजानाति स्पर्शनं च त्वगिन्द्रियम् ।

स्पर्शनं सज्जानाति, स्पर्शनक्रमेण वेत्तीत्यर्थः ॥

तदित्थम्—

स्पर्शोऽस्य विषयो ह्येष येन बुद्ध्येत पुद्गलः ॥ २४ ॥

अथ—

चक्षुरिन्द्रियकर्माणि कथ्यमानानि मे शृणु ।
सितं रक्तं च पीतं च कृष्णं हरितधूम्रकम् ॥ २५ ॥
कपिलं पिङ्गलं बभ्रु अन्यान्यपि विशेषतः ।

रूपाणि ॥

तथा—

नरनारीपशुमृगान् ज्योतिः स्थावरजङ्गमम् ॥ २६ ॥

अवबोध करता है = जानता है । इसी प्रकार आगे भी सङ्गति बैठा लेनी चाहिये ॥

मृदु, कठिन, कर्कश; शीतल, उष्ण, पिच्छिल (= फिसलने वाला), लोष्ठ (= मिट्टी का ढेला) कीचड़, बालू, बाण, भाला, तलवार की चोट आदि, पीटना, काटना, इन सबको त्वगिन्द्रिय जानती है ॥ -२२-२४- ॥

स्पर्श होने से जानती है अर्थात् स्पर्शन के क्रम से जानती है ॥

तो इस प्रकार—

यह स्पर्श इस त्वगिन्द्रिय का विषय है जिसके द्वारा पुरुष वस्तु का ज्ञान करता है ॥ -२४ ॥

इसके बाद—

चक्षुरिन्द्रिय के वर्ण्यमान कार्यों को अब आप मुझसे सुनो । श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण, हरित, धूम के रङ्ग का, कपिल (= लोही रङ्ग), पिङ्गल (= हलका भूरा), खाकी बभ्रु (= गहरा भूरा) अथवा अन्य विशिष्ट रूपों को ॥ २५-२६- ॥

तथा—

नर, नारी, पशु, मृग, ज्योति, स्थावर एवं जङ्गम को ॥ -२६ ॥

तदित्थम्—

रूपाकृतिविविक्तानि चक्षुः पश्यति सर्वदा ।

रूपं सितादि, आकृतिः संस्थानम्; ताभ्यां विविक्तानि विलक्षणानि वस्तूनि चक्षुः पश्यतीत्यस्य कर्तृत्वमुपचरितम् ॥

तदेवम्—

रूपाख्यो विषयो ह्यस्य येनात्मा प्रतिबुद्ध्यते ॥ २७ ॥
मधुराम्लरसं चैव लवणं कटु तिक्तकम् ।
कषायमिश्रं स्वादुं च जिह्वा वेदयते रसम् ॥ २८ ॥

इत्थम्—

रसोऽस्य विषयो ह्येष येन बुद्ध्येत पुद्गलः ।
सुरभिर्दिव्यगन्धश्च दुर्गन्धश्चाप्यनेकधा ॥ २९ ॥
उभौ जिघ्रति नासाग्रे................

नासा कर्त्री अग्रे स्थितावुभौ जिघ्रति ॥

तो इस प्रकार—

रूप और आकृति से भिन्न-भिन्न वस्तुओं को चक्षु सदा ही देखा करती है ॥ २७- ॥

रूप—श्वेत आदि, आकृति = अवयवसङ्घटनाः उनके कारण विविक्त = विलक्षण वस्तुओं को चक्षुरिन्द्रिय देखती है । इस प्रकार इस चक्षुरिन्द्रिय का कर्तृत्व लक्षणा से सिद्ध होता है ॥

तो इस प्रकार—

रूप इस इन्द्रिय का विषय है जिसके द्वारा आत्मा ज्ञानवान् होता है । मधुर, अम्ल, लवण (= नमकीन), कटु (= सोंठ, मिर्च आदि का स्वाद) तिक्त (= नीम गुड्ची आदि का स्वाद), कषाय (= आँवला हर्रें आदि का स्वाद) रस को जिह्वा जानती है ॥ -२७-२८ ॥

इस प्रकार—

इस (= रसनेन्द्रिय) का विषय रस है जिससे पुरुष रसज्ञानवान् होता है । नासिका अपने अग्र भाग में स्थित सुगन्ध अर्थात् दिव्यगन्ध और अनेक प्रकार की दुर्गन्ध इन दोनों को जानती है ॥ २९-३०- ॥

नासिका कर्त्री है जो अपने अग्रभाग में स्थित सुगन्ध दुर्गन्ध दोनों को जानती है ॥

अतश्चास्यायम्—

...............विषयो गन्धसंज्ञितः ।
येनासौ बुद्ध्यते क्षेत्री अहङ्कारेण मोहितः ॥ ३० ॥

शरीरादौ बद्धाभिमानत्वादेव व्यतिरेकेण विषयान् वेत्ति । एतच्च पूर्वत्रापि सम्बन्धनीयम् ॥

सङ्कल्पे च विकल्पे च दशधाक्षेषु धावति ।
अनिवारितसन्देहमजय्यं सर्वदेहिनाम् ॥ ३१ ॥
मनश्च कथितं ह्येतद्धर्माधर्मनिबन्धकम् ।

बुद्धिकर्मेन्द्रियविषये य इदं श्रितमिदमादधे इति सङ्कल्पः, यश्च इदमीदृशमिति निश्चयात्मा विकल्पः; अत्र धावति यथातथा प्रवर्तते; अत एवैतदनिवारितसन्देहं सर्वत्र ससंशयम्, ज्ञानयोगं विना यत्र केनचिज्जेतुं पार्यते; धर्माधर्माभ्यां निबध्नातीति तन्निबन्धकं तत्सङ्गमकृत् ॥

अथेन्द्रियकार्यरूपाद्युपलब्ध्यनुसारेण देहे तन्मात्रावस्थितिं दर्शयितुमाह—

इसलिये इस (= घ्राणेन्द्रिय) का यह—

गन्ध नामक विषय है जिसके द्वारा अहङ्कार से मूढ़ बनाया गया यह क्षेत्री (= जीव, गन्ध का) ज्ञान करता है ॥ -३० ॥

(यह जीव) शरीर आदि (= इन्द्रिय, मन) में अपने स्वरूप का अभिमानी होकर व्यतिरेकेण (= विपरीत क्रम से अर्थात् इन्द्रियों को नहीं वरन् आत्मा को ज्ञान होता है किन्तु हम इन्द्रियों को ज्ञानवान् मानते हैं) विषयों को जानता है । (अहङ्कारेण मोहित) इस अंश को सर्वत्र (= प्रत्येक ज्ञानेन्द्रिय के सन्दर्भ में) जोड़ना चाहिये ॥ ३० ॥

जो, सङ्कल्प विकल्प और दश प्रकार की इन्द्रियों के विषय में सन्देह-सहित और सब प्राणियों से अजेय के रूप में दौड़ता है वह मन कहा गया है । यह धर्म और अधर्म का कारण है ॥ ३१-३२- ॥

ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के विषय में—'मैंने इसे पकड़ लिया', 'मैंने इसे जान लिया'—'ऐसा जो सङ्कल्प', और 'यह इस प्रकार है' ऐसा जो निश्चय रूप विकल्प इनमे दौड़ता है = जैसे-तैसे प्रवृत्त होता है, इसलिये यह अनिवारित सन्देह वाला = सर्वत्र संशययुक्त है तथा ज्ञानयोग के विना जिसको कोई जीत नहीं सकता (वह मन है) । यह धर्म और अधर्म के द्वारा (जीव को) बन्धन में डालता है अर्थात् उनका सङ्गम कराने वाला है ॥

अब इन्द्रियों के कार्यभूत रूप आदि की उपलब्धि के अनुसार देह में तन्मात्र की अवस्थिति को दिखलाने के लिये कहते हैं—

स्वरूपधर्मं वक्ष्यामि तन्मात्राणां यथार्थतः ॥ ३२ ॥

अर्थः प्रयोजनं तदनुसारेण तन्मात्राणां स्वरूपमुपागतनियताश्रयावस्थितिरूपं धर्मं स्वभावं वच्मि ॥ ३२ ॥

तत्र—

गन्धं तु गन्धतन्मात्रं नासिकाग्रेण जिघ्रति ।
जिह्वया रसतन्मात्रं रसं गृह्णाति संस्थितम् ॥ ३३ ॥
चक्षुषा रूपतन्मात्रं रूपं गृह्णात्युपागतम् ।
गृह्णाति स्पर्शतन्मात्रं त्वचा स्पर्शमुपागतम् ॥ ३४ ॥
शब्दं च शब्दतन्मात्रं गृह्णाति श्रवणेन तु ।

गन्धादिप्रतीतिसाधनघ्राणादीन्द्रियाश्रयनासिकादिक्षेत्रगतमदृष्टवशादुद्भूतगन्धतन्मात्रादिकं कर्तृ, तेनैव घ्राणादिनां गन्धादिगुणं गृह्णातीति सङ्गतिः । अत्र चाय—माशयः—

यदाहङ्कारिकत्वाद् व्यापकत्वेऽपीन्द्रियाणां गन्धतन्मात्राद्यवस्थितिनियमितं नासिकादिक्षेत्रमभिव्यक्तिस्थानमिति, तत एव समुद्भूतवृत्तिगन्धतन्मात्रनियन्त्रिता गन्धस्योपलब्धिर्भवतीति नियमिततन्मात्रोपरक्ताहङ्कारिकत्वमिन्द्रियाणाम्, अन्यथा

अब प्रयोजनानुसार तन्मात्राओं के स्वरूप एवं धर्म को कहूँगा ॥ -३२ ॥

(यथार्थतः का अर्थ है—) अर्थ = प्रयोजन, उसके अनुसार तन्मात्राओं का स्वरूप = उपागत निश्चित आश्रय की स्थिति, तथा धर्म = स्वभाव बतलाऊँगा ॥३२॥

उन (= पाँच तन्मात्राओं) में—

गन्ध तन्मात्रा नासिका के अग्रभाग के द्वारा गन्ध का घ्राणन करती है । रस तन्मात्रा जिह्वा के द्वारा रस का आस्वादन करती है । रूप तन्मात्रा चक्षु के द्वारा समीप आये हुए रूप का ग्रहण करती है । स्पर्श तन्मात्रा उपागत स्पर्श का त्वचा के द्वारा ग्रहण करती है और शब्द तन्मात्रा श्रवणेन्द्रिय के द्वारा उपागत शब्द का ग्रहण करती है ॥ ३३-३५- ॥

गन्ध आदि के अनुभव के साधन घ्राण आदि इन्द्रियों की आश्रयभूत जो नासिका आदि क्षेत्र, उनमें वर्त्तमान और अदृष्टवशात् उद्भूत (= प्रकट) गन्ध तन्मात्रा आदि कर्त्ता हैं । उन्हीं घ्राण आदि के द्वारा पुमान गन्ध आदि का ग्रहण करता है । यहाँ यह तात्पर्य है—

अहङ्कार से उत्पन्न होने के कारण इन्द्रियाँ व्यापक हैं फिर भी गन्ध तन्मात्रा आदि में उनकी स्थिति सीमित है । नासिका आदि तत्तत् क्षेत्र उनकी अभिव्यक्ति के स्थान हैं । इसीलिये समुद्भूतवृत्ति वाले गन्धतन्मात्र से नियन्त्रित गन्ध की उपलब्धि होती है । इससे यह निष्कर्ष निकला कि इन्द्रियों का आहङ्कारिकत्व नियमित

साङ्ख्यवत् केवले आहङ्कारित्वे नियतविषयसम्बन्धो न घटते, नैयायिकवद्वा केवलभौतिकत्वे त्वहंप्रतीत्यनुगमो न स्यात् ॥

एतदुपसंहरति—

सूक्ष्मस्तन्मात्रधर्मोऽयं भूतानां प्रकृतिक्रमात् ॥ ३५ ॥

यतो भूतानां प्रकृतयस्तन्मात्राणि तत एव तत्तत्तन्मात्राधिष्ठिततत्तदिन्द्रिय-कारणकपृथिव्यादिभूतगतगन्धादिगुणोपलब्धिर्भवतीत्ययमिन्द्रियगतानां तन्मात्राणां सूक्ष्मः सर्वजनासङ्वेतितो धर्मोऽस्ति ॥ ३५ ॥

देहेऽहङ्कारस्थितिं दर्शयति—

वैकारिकस्ततश्चोर्ध्वं बुद्ध्यते येन पुद्गलः ।
अहं विद्वानहं भोगी त्वहं जातो महाकुले ॥ ३६ ॥
अहं दाता च भोक्ता च तेजस्वी बलवानहम् ।
अहं योद्धा च संग्रामे शत्रवश्च मया जिताः ॥ ३७ ॥
धर्मशीलश्च गुणवान् श्रेयस्कर्ता ह्यहं परम् ।

तन्मात्राओं से प्रभावित है । यदि इन्द्रियों का आहङ्कारिकत्व ऐसा नहीं माना जायगा तो सांख्य के समान उनके केवल अहङ्कारिक होने से उनका नियत विषय के साथ सम्बन्ध घटित नहीं होगा । अथवा नैयायिकों के समान यदि उन्हें केवल भौतिक मानेंगे तो अहं प्रतीति का अनुगम नहीं होगा (अर्थात् 'अहं जिघ्रामि' 'अहं शृणोमि' इत्यादि बोध नहीं होगा) ॥

इसका उपसंहार करते हैं—

भूतों की प्रकृति के क्रम के कारण तन्मात्राओं का यह धर्म सूक्ष्म है ॥ -३५ ॥

चूँकि तन्मात्रायें महाभूतों की प्रकृतियाँ हैं इसलिये तत्तत् तन्मात्राओं से अधिष्ठित तत्तत् जो इन्द्रियाँ उनके कारण पृथिवी आदि महाभूतों में गन्ध आदि गुणों की उपलब्धि होती है । इस प्रकार इन्द्रियों में रहने वाली तन्मात्राओं का यह सूक्ष्म अर्थात् सर्वसामान्य के द्वारा अननुभूत धर्म है ॥ ३५ ॥

देह में अहङ्कार की स्थिति दिखलाते हैं—

इन (इन्द्रियों, तन्मात्राओं) से ऊपर वैकारिक अहङ्कार है जिसके द्वारा यह पुद्गल ज्ञान करता है । (उसके ज्ञान का स्वरूप यह है—) मैं विद्वान् हूँ । मैं भोगी हूँ । मैं महान् कुल में उत्पन्न हुआ हूँ । मैं दाता और भोक्ता हूँ । मैं तेजस्वी और बलवान् हूँ । मैं योद्धा हूँ । मैंने युद्ध में शत्रुओं को जीत लिया है । मैं धर्मशील गुणवान् उत्कृष्ट श्रेयस्कर्त्ता हूँ । मैं पापी

अहं पापी दुराचारो मूर्खश्चाहं दुराकृतिः ॥ ३८ ॥
न दत्तं न मया भुक्तं मत्समो नास्ति दुःखितः ।
इत्यहङ्कारचित्तानां ममत्ववशवर्तिनाम् ॥ ३९ ॥
अहङ्कारो निबध्नाति संसारे दृढबन्धनैः ।

विद्वान् बोद्धा पापी, इत्यादिसात्त्विक्यादिप्रतीतिरूपैः संसारहेतुभिर्दृढैर्बन्धनैरहङ्कारो निबध्नाति जनान् । ऊर्ध्वमित्येतावदन्ततत्त्वव्यापकत्वेन ॥

तदित्थम्—

त्रिविधस्याप्ययं धर्मोऽहङ्कारस्य प्रकीर्तितः ॥ ४० ॥

यत्तु 'वैकारिकस्ततश्चोर्ध्वम्' इत्युक्तम् (१२।३६), तदहङ्कारस्य राजसता-प्राधान्यदर्शनाय ॥ ४० ॥

अथ धर्ममुखेन धर्मिरूपाया बुद्धेर्देहे सत्तामाह—

बुद्धिधर्मास्ततो वक्ष्ये धर्मादींस्तव सुव्रते ।
धर्मो ज्ञानं च वैराग्यमैश्वर्यं च चतुष्टयम् ॥ ४१ ॥
अधर्मश्च तथाज्ञानमवैराग्यमनैश्वरम् ।

एषां मध्यात्—

दुराचारी मूर्ख हूँ । मैं कुरूप हूँ । मैंने (धन का) न तो दान किया न भोग किया । मेरे समान कोई दूसरा दुःखी नहीं है । इस प्रकार अहङ्कारपूर्ण चित्तवाले तथा ममत्व के वशवर्त्ती जनों को अहङ्कार संसार में दृढ़ बन्धनों से बाँधता है ॥ ३६-४०- ॥

विद्वान्, बोद्धा, पापी इत्यादि सात्त्विक आदि (= राजस और तामस) प्रतीति रूप संसार के कारणभूत दृढ़ बन्धनों से अहङ्कार लोगों को बन्धन में डालता है । ऊर्ध्व कहने का तात्पर्य है कि अहङ्कार पृथ्वी से लेकर तन्मात्र और इन्द्रियों तक का व्यापक है ॥

तो इस प्रकार—

तीन प्रकार के अहङ्कार का यह धर्म कहा गया ॥ -४० ॥

और जो 'वैकारिकस्ततश्चोर्ध्वम्' (१२।३६) यह कथन है वह अहङ्कार की राजसता को बतलाने के लिये है ॥ ४० ॥

अब देह में धर्म के द्वारा धर्मीरूपा बुद्धि की सत्ता को बतलाते हैं—

हे सुव्रते ! इसके बाद तुमको बुद्धि के धर्मभूत धर्म आदि को बतलाऊँगा । धर्म, ज्ञान, वैराग्य और ऐश्वर्य ये चार तथा अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य और अनैश्वर्य (ये बुद्धि के धर्म हैं) ॥ ४१-४२- ॥

बध्नाति सप्तधा सा तु ज्ञानभावेन मोहयेत् ॥ ४२ ॥

साङ्ख्यसिद्धानिति, अर्थात् ॥ ४२ ॥

एषा चेत्थं मुख्यतया लक्ष्यत इत्याह—

बुद्धिश्चाध्यवसायं च करोति विविधेष्वपि ।

वस्तुषु ॥

धर्मादीनामथाष्टानां लक्षणानि शृणु प्रिये ॥ ४३ ॥

तत्र—

उपवासो जपो मौनमक्रोधोऽस्तेयमार्जवम् ।
सत्यं शौचं च दानं च दया क्षान्तिश्च सर्वदा ॥ ४४ ॥
विद्याभ्यासश्च लज्जा च इन्द्रियाणां च निग्रहः ।
इष्टापूर्तं तीर्थसेवा पितॄणां चैव तर्पणम् ॥ ४५ ॥
अभयं सर्वसत्त्वेभ्यो जीवितस्य च रक्षणम् ।
धीगुणः प्रथमो ह्येष धर्म इत्यभिधीयते ॥ ४६ ॥

इह यः पूर्वम्—

'अक्रोधो गुरुशुश्रूषा शौचं सन्तोष आर्जवम् ।

इनमें से—

वह बुद्धि सात प्रकार से बन्धन में डालती है तथा ज्ञान के द्वारा सांख्यसिद्धों को मोह में डाल देती है (इसी कारण वे प्रकृतिपुरुष विवेक के द्वारा प्राप्त स्वरूपस्थिति को ही मोक्ष मान लेते हैं) ॥ -४२ ॥

यह मुख्यतया इस प्रकार लक्षित होती है—यह कहते हैं—

बुद्धि विविध वस्तुओं में अध्यवसाय (= निश्चयात्मक ज्ञान) उत्पन्न करती है ॥ ४३- ॥

हे प्रिये ! अब धर्म आदि आठ के लक्षणों को सुनो ॥ -४३ ॥

वहाँ—

उपवास, जप, मौन, अक्रोध, चोरी न करना, सरलता, सत्य भाषण, (बाह्याभ्यन्तर दोनों प्रकार की) पवित्रता, दान, दया, क्षमा, विद्या का सर्वदा अभ्यास, लज्जा, इन्द्रियों पर नियन्त्रण, इष्ट, पूर्त्त, तीर्थसेवा, पितृतर्पण, समस्त प्राणियों को अभयदान देना, जीवित की रक्षा बुद्धि का यह गुण प्रथम धर्म कहा जाता है ॥ ४४-४६ ॥

जो कि पहले—

अहिंसा सत्यमस्तेयं ब्रह्मचर्यमकल्कता ॥' (११।१४५)

इत्येवं दशविधो धर्म उक्तः, तस्यैव सप्रपञ्चभङ्गयन्तरप्रतिपादनमेतत् । तथा चेन्द्रियाणां निग्रहो ब्रह्मचर्यस्य प्रपञ्चोक्तिः । लज्जा उपवासो जपो मौनं दानं दया क्षान्तिरिष्टापूर्तादित्रयं चाकल्कतायाः प्रपञ्चः । विद्याभ्यासो जीवितरक्षा च गुरुशुश्रूषायाः फलम् । सर्वसत्त्वाभयमहिंसारूपम् । स्तेयवर्जनक्षान्ती सन्तोषार्जवरूपे ॥ ४६ ॥

तदित्थम्—

धर्मकर्मनिबद्धानां संसारमनुवर्तिनाम् ।
पुनर्मर्त्यं पुनः स्वर्ग्यं तिर्यक्त्वं च पुनः पुनः ॥ ४७ ॥

भवतीति शेषः ॥ ४७ ॥

एवम्—

धर्मभावः समाख्यातः.............

इदानीम्—

.............ज्ञानभावं च मे शृणु ।

'अक्रोधः गुरुशुश्रूषा................अकल्कता ।' (११।१४५)

श्लोक के द्वारा दश प्रकार के धर्म का उल्लेख किया गया 'उपवासो जपो...' इत्यादि उसी का दूसरे प्रकार से विस्तार के साथ वर्णन है । इन्द्रियों का निग्रह ब्रह्मचर्य के विस्तार का कथन है । लज्जा उपवास जप मौन दान दया क्षमा इष्ट पूर्त और दत्त ये तीन सबके सब अकल्कता का प्रपञ्च हैं । विद्याभ्यास तथा जीवों की रक्षा यह गुरुशुश्रूषा का फल है । सब प्राणियों को अभय देना अहिंसा का रूप है । चोरी न करना और क्षमा, सन्तोष और सरलता के रूप हैं ॥ ४६ ॥

तो इस प्रकार—

धर्म कर्म में लगे हुए, संसार के पीछे भागने वाले (जीव) पुनः मनुष्य होते हैं । फिर उनको स्वर्ग मिलता है और फिर तिर्यक् योनि में जन्म लेते हैं । ऐसा बार-बार होता है ॥ ४७ ॥

होता है—यह जोड़ना चाहिए ॥ ४७ ॥

इस प्रकार—

धर्मभाव की व्याख्या की गयी ॥ ४८- ॥

अब—

मुझसे ज्ञानभाव को सुनो ॥ -४८- ॥

भावं बुद्धिधर्मम् ॥

तमेव स्फुटयति—

चतुर्विंशतिकः पिण्डः करणेन्द्रियसंयुतः ॥ ४८ ॥
प्राकृतः स तु विज्ञेयो धर्माधर्मप्रवर्तकः ।

मनोवाक्कायव्यापारैर्धर्माद्यर्जकः ॥

अकर्ता निर्गुणश्चाहं..............

तेन प्रकृतिभिन्नस्य—

..........न मे बन्धोऽस्ति प्राकृतः ॥ ४९ ॥

केवलमिदं सर्वम्—

प्रकृत्या कारितं मन्ये.............

बुद्ध्यादिद्वारेण प्रवर्तितमिति निश्चिनोमि ॥

तदीदृशविवेकज्ञानोत्थात्—

..................वासनादेव मुच्यते ।

वासनं संस्कारः । मुच्यत इति साङ्ख्यभिक्षुः ॥

भाव का अर्थ है बुद्धिधर्म ॥

उसी को स्पष्ट करते हैं—

करणेन्द्रिय से संयुक्त यह पिण्ड चौबीस तत्त्वों वाला है । धर्माधर्म के प्रवर्त्तक इस शरीर को प्राकृत समझना चाहिये ॥ -४८-४९- ॥

(धर्माधर्म का प्रवर्त्तक =) मन वाणी और शरीर के व्यापारों से धर्म अधर्म को प्राप्त करने वाला ॥

मैं अकर्त्ता और निर्गुण हूँ ॥ -४९- ॥

इसलिये प्रकृति से भिन्न—

मेरा न तो प्राकृत बन्ध है न मोक्ष ॥ -४९ ॥

इस सबको मैं केवल—

प्रकृति के द्वारा कराया गया मानता हूँ ॥ ५०- ॥

बुद्धि आदि के द्वारा प्रवर्त्तित है—ऐसा निश्चय करता हूँ ॥

तो इस प्रकार के विवेकज्ञान से उत्पन्न—

वासना से ही (जीव) मुक्त हो जाता है ॥ -५०- ॥

तदेतत्—

साङ्ख्यज्ञानं मया प्रोक्तं प्रकृतेर्येन मुच्यते ॥ ५० ॥

कतिपयं कालं पृथग्भवति ॥ ५० ॥

अथ—

मुक्तं प्रकृतिबन्धात्तं पुनर्बध्नाति चेश्वरः ।

स च—

बद्धः संसरते भूयो यावद् देवं न विन्दति ॥ ५१ ॥
ईश्वरं सृष्टिकर्तारं सर्वजन्तुनिबन्धकम् ।

प्रकृतेर्जडायाः कर्तृत्वाघटनात् पुंसस्तदनभ्युगमात् संसर्गेऽपि जगदुदयो न स्यादिति तयोर्बन्धमोक्षनिर्मातारं यावदीश्वरं न लभते तावत्साङ्ख्यमुक्तोऽपि पुनः प्रत्यावर्तते तत्त्वज्ञानानुदयात् ॥

वासन = संस्कार । मुक्त होता है—ऐसा सांख्य शास्त्र के विद्वान् विज्ञानभिक्षु कहते हैं ॥

तो इस—

सांख्य ज्ञान को मैंने तुमको बतलाया जिससे जीव प्रकृति (के बन्धन) से मुक्त हो जाता है ॥ -५० ॥

(मुक्त हो जाता है =) कुछ समय के लिये पृथक् हो जाता है ॥ ५० ॥

इसके बाद—

प्रकृति के बन्धन से मुक्त उस (= अणु) को ईश्वर पुनः बन्धन में डाल देते हैं ॥ ५१- ॥

और वह (अणु)—

बद्ध होकर संसार के आवागमन में तब तक पड़ा रहता है जब तक कि समस्त प्राणियों को बन्धन में डालने वाले सृष्टिकर्त्ता देव ईश्वर को नहीं प्राप्त करता (या जानता) ॥ -५१-५२- ॥

चूँकि प्रकृति जड़ है इसलिये वह कर्त्री नहीं हो सकती । पुरुष को कर्त्ता माना नहीं जाता । इस कारण (उन दोनों का) संसर्ग होने पर भी जगत् की उत्पत्ति ही नहीं होगी । इस प्रकार जीव जब तक उन दोनों (= प्रकृति पुरुष) के बन्ध-मोक्ष के निर्माता ईश्वर को प्राप्त नहीं करता तब तक सांख्य दर्शन के अनुसार मुक्त हुआ भी बार-बार (संसार में) प्रत्यावर्त्तन करता रहता है क्योंकि (जीव को) तत्त्वज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई है ॥

वैराग्यं लक्षयितुमाह—

वैराग्यात् सन्त्यजेत् पुत्रान् दारानिष्टान् सुसम्मतान् ॥ ५२ ॥
हस्त्यश्वरथयानानि सुहृद्भोगधनानि च ।

सुष्ठु सम्मताननुकूलान् ॥

किञ्च—

उपवासं जपं तीर्थं पञ्चाग्निं जलशायिताम् ॥ ५३ ॥
उपास्यैतानि घोराणि देहं सन्त्यजति क्षणात् ।

दक्षिणाग्न्याहवनीयगार्हपत्यौपसदिकसावित्राख्याग्निपञ्चमध्यावस्थानं ग्रीष्मे पञ्चाग्न्याख्यं तपः । एतानीति तपांसि ॥

कथं त्यजति ?—इत्याह—

गिरिवृक्षजलाग्निभ्यः प्रहारोद्बन्धनाशनैः ॥ ५४ ॥

गिर्यादीनाश्रित्येत्यर्थः । वृक्षः प्रयागादिस्थितो वटः । आशनमशनमाङ् पूर्वस्य अश्नातेः प्रयोगः ॥

वैराग्य का लक्षण बतलाने के लिये कहते हैं—

वैराग्य के कारण अत्यन्त प्रिय सुसम्मत पुत्र, स्त्री, हाथी, घोड़े, रथ रूपी यानों, मित्रों भोगों और धनों को पूर्णरूपेण छोड़ देता है ॥ -५२-५३- ॥

(सुसम्मतान्—) सुष्ठुसम्मत = अनुकूल ॥

(मनुष्य) उपवास, जप, तीर्थ, पञ्चाग्नि, जलाशय रूप इन घोर तपस्याओं की उपासना कर एक क्षण में देह का त्याग कर देता है ॥ -५३-५४- ॥

ग्रीष्म ऋतु में दक्षिण आहवनीय, गार्हपत्य औपसदिक (= घर की अग्नि) तथा सूर्य इन पाँच अग्नियों के मध्य बैठना पञ्चाग्नि नामक तप है । इनको = तपस्याओं को ॥

कैसे छोड़ता है ?—यह कहते हैं—

पर्वत, वृक्ष, जल अग्नि से प्रहार, उद्बन्धन और आशन (= विष आदि का भक्षण) के द्वारा (देह को छोड़ता है) ॥ -५४ ॥

गिरि आदि का आश्रयण कर । वृक्ष = प्रयाग आदि तीर्थों में स्थित बरगद आदि । आशन का अर्थ है—अशन । आङ् उपसर्गपूर्वक अश (भोजने) धातु से (ल्युट् प्रत्यय जोड़ कर आशन) बनता है । (तात्पर्य यह है कि—वैराग्य उत्पन्न होने पर मनुष्य पर्वत या वृक्ष से गिर कर, जल में डूब कर, अग्नि में जल कर,

तदेवंप्रायाण्यन्यान्यपि—

वैराग्यं तु समाश्रित्य कुरुते साहसान्यपि ।
ऐश्वर्यभावमापन्नो द्रव्यैस्तृप्तिं न गच्छति ॥ ५५ ॥
न दारैर्न धनैर्भोगैः परिवारैर्न वाहनैः ।
तपो व्रतानि मन्त्रांश्च ऐश्वर्यार्थे तु साधयेत् ॥ ५६ ॥

किञ्च—

युद्धं द्यूतं तथा मायां चौर्यं चानृतहिंसनम् ।
अन्यान्यपि त्वयुक्तानि विस्रम्भच्छलघातिताम् ॥ ५७ ॥
ऐश्वर्यभावमापन्नः करोति च बहून्यपि ।

तपोव्रतादीनि सात्त्विकस्य, युद्धादीनि तु राजसस्य, आश्वासहननादीनि तामसस्यार्थाहरणकारणानि ॥

धर्मादिचतुष्टयं प्रदर्श्य, अधर्मादीनपि देहिनो दर्शयति क्रमेण—

प्राणिहिंसारतो नित्यं चौरिकानृतदम्भवान् ॥ ५८ ॥
याचको दुःखदाता, च भवेच्चाधर्मचेष्टितम् ।

प्रहार से, गला दबा कर अथवा विषभक्षण के द्वारा प्राण दे देता है) ॥

तो इस प्रकार के अन्य भी—

साहस को वैराग्ययुक्त व्यक्ति करता है । ऐश्वर्य से सम्पन्न होने पर भी वह द्रव्यों से तृप्त नहीं होता । इसी प्रकार स्त्री, धन, भोग, परिवार, वाहन से तृप्त न होता हुआ मनुष्य ऐश्वर्य के लिये तप व्रत और मन्त्र का जप आदि करता है ॥ ५५-५६ ॥

और भी—

ऐश्वर्यभाव से भरा हुआ मनुष्य युद्ध, जुआ, माया (= छल कपट), चोरी, झूठ, हिंसा तथा अन्य विश्वासघात आदि अनेक असमीचीन उपायों को करता है ॥ ५७-५८- ॥

अर्थोपार्जन के, तपस्या व्रत आदि सात्त्विक, युद्ध आदि राजस, विश्वासघात आदि तामस कारण हैं ॥

धर्म आदि चार का वर्णन कर मनुष्य के अधर्म आदि को भी क्रम से दिखलाते हैं—

सदा प्राणियों की हिंसा में निरत, चोरी झूठ और दम्भ से युक्त, पाचक और दुःखदाता ये अधर्म की चेष्टा वाले होते हैं ॥ -५८-५९- ॥

चौरिका चौर्यम् । प्राणिहिंसारतत्वादि, एतदधर्मस्य चेष्टितं भवतीत्यर्थः ॥

नास्ति धर्मो न चाधर्मः स्वर्गं मोक्षं च को गतः ॥ ५९ ॥
अज्ञानभावमापन्नः सर्वं मिथ्येति भाषते ।
नित्यं दुःखी परप्रेष्यो भारं यानं वहन्नपि ॥ ६० ॥
कृच्छ्रजीवी च सततमवैराग्ये न खिद्यते ।

सतीत्यर्थः ॥

राज्यं कृत्वा तु सामन्तः सामन्त्याद् ग्रामभुग्भवेत् ॥ ६१ ॥
ग्रामाद् भ्रष्टस्तदर्धेन वर्ततेऽसावनीश्वरः ।
न शोचति न चोद्विग्नः क्रीडते पूर्वराज्यवत् ॥ ६२ ॥
अनैश्वर्यस्य भावोऽयमेवं ते समुदाहृतः ।

अथ देहस्थम्—

अव्यक्तं त्रिगुणं वक्ष्ये संसारस्य प्रवर्तकम् ॥ ६३ ॥

ईश्वरेच्छात इति, अर्थात् ॥ ६३ ॥

एतस्मादेव—

चौरिका = चोरी । प्राणियों की हिंसा में रत होना आदि—यह अधर्म की चेष्टा है ॥

अज्ञान भाव को प्राप्त मनुष्य का कथन होता है कि न धर्म है न अधर्म, स्वर्ग और मोक्ष को किसने प्राप्त किया । सब कुछ मिथ्या है । ऐसा मनुष्य नित्य दुःखी, पर प्रेष्य, भारयुक्तयान (अथवा भार और यान) का ढोता हुआ भी निरन्तर कष्ट से जीवन बिताता हुआ अवैराग्य होने पर भी खिन्न नहीं होता ॥ -५९-६१- ॥

जैसे कोई राजा राज्य करने के बाद सामन्त होता है । सामन्त के अधिकार का उपभोग कर ग्रामप्रधान होता है । ग्राम अधिकारी से च्युत होने पर अनीश्वर अर्थात् सामान्य ग्रामीण हो जाता है किन्तु पतन से पतन होने पर भी न उसे शोक होता है और न वह उद्विग्न होता है बल्कि पूर्वराज्य की भाँति व्यवहार करता है । यह अनैश्वर्य का भाव तुमको बतलाया गया ॥ -६१-६३- ॥

अब—

संसार के प्रवर्त्तक अव्यक्त त्रिगुण को बतलाऊँगा ॥ -६३ ॥

अर्थात् ईश्वर की इच्छा से ॥ ६३ ॥

जिस कारण इसी से—

यस्माच्च जगदुत्पत्तिः प्रकृतिस्तेन चोच्यते ।

एतदेव प्रकर्षेण क्रियते प्रपञ्च्यते बुद्ध्यादिक्ष्मान्तं सर्वमस्यामीश्वरेणेति प्रकृतिः ॥

किञ्च, देहावस्थितिप्रतीतिहेतुम्—

अस्य धर्मं प्रवक्ष्यामि रजःसत्त्वतमोऽभिधम् ॥ ६४ ॥

तत्र—

प्रकाशभावः सत्त्वं च धर्मः सत्त्वसमाश्रितः ।

प्रकाशभावोऽर्थाकृतिसम्वेदनम्, सत्त्वं शुद्धचित्तता यया पूर्वोक्तो धर्मः ॥

सत्त्वसम्बन्धादेव यश्च परेषां धनान्नादेः—

संविभागी च सततं नित्यं सत्त्वोपकारकः ॥ ६५ ॥
क्षमादयासमायुक्तो ज्ञानविज्ञानपारगः ।

स सात्त्विक इत्यर्थः । सत्त्वोपकारको दानं विनापि वागादिना प्राण्युपकारी ॥

जगत् की उत्पत्ति होती है अत एव इसे प्रकृति कहते हैं ॥ ६४- ॥

ईश्वर के द्वारा इसमें बुद्धि से लेकर पृथिवी तक सब कुछ प्रकर्ष के साथ सम्पादित किया जाता है अतः इसे (प्रक्रियतेऽस्मिन् इस व्युत्पत्ति के अनुसार) प्रकृति (कहा जाता है) ॥

और भी देह की सत्ता एवं उसकी प्रतीति का कारण—

इस (= अव्यक्त) के रजः, सत्त्व और तमस् नामक उस धर्म को बतलाऊँगा (जो कि देह की सत्ता और उसकी प्रतीति का कारण कहा गया है) ॥ -६४ ॥

उनमे से—

सत्त्व गुण प्रकाशभाव को कहते हैं । यह सत्त्व (= शुद्ध चित्त) में रहने वाला धर्म है ॥ ६५- ॥

प्रकाशभाव = विषय एवं उसकी आकृति का ज्ञान । सत्त्व = शुद्ध चित्तता । जिसके द्वारा पूर्वोक्त धर्म (= प्रकाश) होता है ॥

सत्त्व से सम्बन्ध के कारण ही जो व्यक्ति दूसरों को धन अन्न आदि का—

सम्भागी बनाता है; सदा प्राणियों का उपकार करता है; क्षमा दया आदि से युक्त तथा ज्ञान (= सांसारिक अवबोध) विज्ञान (= अध्यात्म-क्रिया) का पारङ्गत होता है ॥ -६५-६६- ॥

किञ्च—

प्रीतिर्दानं धृतिर्मेधा तपः शौचं दमस्तथा ॥ ६६ ॥
ऋतवाक् समदृष्टिश्च दिव्यबुद्धिप्रबोधनम् ।
यस्मिन्नेते सदा धर्मा भवन्ति पुरुषोत्तमे ॥ ६७ ॥
स सात्त्विकस्तु विज्ञेयः............

समदृष्टिः स्वात्मनीव परत्र प्रतिपत्तिः । दिव्यबुद्धिः प्रतिभा ॥

अथ—

.............रजोधर्मांश्च मे शृणु।
निस्त्रिंशश्चातिलोभी च विद्वेषी क्रोधनस्तथा ॥ ६८ ॥
कामी हर्षसमाविष्टो दुःखार्तः पर्यटेत् सदा।
मानी दम्भसमायुक्तोऽप्यहङ्कारे व्यवस्थितः ॥ ६९ ॥
नित्यं युद्धरतः शूरः.........

कामी सन् हर्षयुक्तः, न तु सन्तोषसुखवानिति ॥

एवंविधो यः तस्यैतन्निस्त्रिंशत्वादिकम्—

वह सात्त्विक कहा जाता है । सत्त्वोपकारक का अर्थ है—दान के विना भी वाणी और कर्म से प्राणियों का उपकार करने वाला ॥

और भी—

जिस व्यक्ति के अन्दर प्रेम, दान, धैर्य, मेधा, तप, पवित्रता, दम, सत्यवाक्, समदृष्टि, दिव्यबुद्धिप्रबोधन ये धर्म सदा रहते हैं उसे सात्त्विक समझना चाहिये ॥ -६६-६८- ॥

समदृष्टि = जैसा अपने विषय में वैसा ही दूसरे के विषय में ज्ञान । दिव्य बुद्धि = प्रतिभा (प्रबोधन = ज्ञान अर्थात् प्रातिभज्ञान) ॥

अब—

मुझसे अब आप रजो गुण के धर्मों को सुनो । जो अति निर्दय, अत्यन्त लोभी, विद्वेषी, क्रोधी, कामी होते हुए हर्षयुक्त, दुःखार्त्त हुआ सर्वदा घूमता रहता है । अभिमानी, दम्भ युक्त, अहङ्कारी, नित्य युद्ध में रत तथा वीर है ॥ -६८-७०- ॥

('कामी हर्षसमायुक्तः' का अर्थ है—) कामी होता हुआ हर्ष से युक्त । केवल हर्षयुक्त अथवा सन्तोषसुखयुक्त होना सत्त्वगुणी का लक्षण है । न कि सन्तोषसुख वाला ॥

जो व्यक्ति इस प्रकार का है उसके निस्त्रिशत्व आदि—

..............राजसं गुणलक्षणम् ।

अथ—

कामक्रोधाभिभूतत्वं लोभेन च समन्वयः ॥ ७० ॥
ईर्ष्या दम्भो विषादश्च मद उन्माद एव च ।
निद्रालस्यमकर्मित्वं दौर्मेध्याज्ञानिते तथा ॥ ७१ ॥
अधर्मताबुद्धिमत्त्वं नास्तिक्यं छलचित्तता ।

एतत्सर्वम्—

तमः.......

तमोगुणरूपम् ॥

अतश्च—

........चिह्नानि चैतानि दृश्यन्ते यत्र मानवे ॥ ७२ ॥
तामसः स तु विज्ञेयः पुरुषः कलुषाशयः ।

तदित्थम्—

एतत्त्रिगुणमव्यक्तं त्रिगुणं समुदाहृतम् ॥ ७३ ॥

एतत् त्रिभिर्गुणैर्युक्तत्वात् त्रिगुणम् ॥ ७३ ॥

एतत् सम्यग्विदित्वा तु मुच्यते प्राकृतैर्गुणैः ।

राजस गुण के लक्षण हैं ॥ -७०- ॥

काम क्रोध से अभिभूत होना, लोभ से समन्वित होना, ईर्ष्या, दम्भ, विषाद, मद, उन्माद, निद्रा, आलस्य, अकर्मिता, दुर्बुद्धि, अज्ञान, अधर्मता, अबुद्धिमत्ता, नास्तिकता, छलयुक्त मन का होना, यह सब तम अर्थात् तमोगुण का रूप है ॥ -७०-७२- ॥

इसलिये—

ये चिह्न जिस मनुष्य के अन्दर दिखलायी पड़ते हैं उसे मलिन आशयवाला तामस पुरुष समझना चाहिये ॥ -७२-७३- ॥

तो इस प्रकार—

तीन गुणों वाला यह त्रिगुण अव्यक्त कहा गया है ॥ -७३ ॥

तीन गुणों से युक्त होने के कारण यह त्रिगुण (कहा जाता) है ॥ ७३ ॥

इसको भली-भाँति जान कर (मनुष्य) प्राकृत गुणों से मुक्त हो जाता है ॥ ७४- ॥

विदित्वा प्रमेयतया परिच्छिद्य, प्राकृतैर्धर्मैर्मुच्यते प्रकृतिवैव्यक्त्यमेति ॥

वस्तुतस्तु न स मुच्यते, यत एतावती अस्य प्रतीतिर्यदुत—

गुणधर्मा न चैवाहं बुद्ध्यहङ्कृद्गुणो नहि ॥ ७४ ॥
करणेन्द्रियहीनश्च भूततन्मात्रवर्जितः ।
अकर्ता निर्गुणश्चाहं चिन्मात्रः पुरुषः स्मृतः ॥ ७५ ॥

करणबाह्येन्द्रियाधिष्ठातृसमः । स्मृत इति पुराणादिप्रणेतृभिः । अतश्च अहमकर्ता ॥ ७५ ॥

अत एव—

मानसं वाचिकं चैव शारीरं कर्म यत्कृतम् ।

तत्सर्वम्—

प्रकृत्या कारितं मन्ये............

प्रकृतिप्रयुक्तैर्मनःप्रभृतिभिः कृतमित्यवैमि ॥

एवं च न प्रयोजकत्वम्, नापि मुख्यं कर्तृत्वं पुंसोऽस्तीति कृत्वा—

जानकर = प्रमेय के रूप में परिच्छिन्न कर । प्राकृत धर्मों से मुक्त हो जाता है = प्रकृति से विविक्तता को प्राप्त होता है अर्थात् अपने को प्रकृति से भिन्न समझता है ॥

किन्तु वस्तुतः वह मुक्त नहीं होता क्योंकि उसका अनुभव होता है कि—

मैं गुणधर्मों वाला नहीं हूँ, बुद्धि अहङ्कार गुणों वाला नहीं हूँ । मैं करणेन्द्रियों से रहित, पञ्चमहाभूत पञ्चतन्मात्राओं से रहित, अकर्त्ता, निर्गुण, चिन्मात्र पुरुष कहा गया हूँ ॥ -७४-७५ ॥

अन्तःकरण (= मन) एवं बाह्य इन्द्रियों के अधिष्ठाता के समान हूँ । कहा गया—पुराण आदि के निर्माताओं के द्वारा । इसलिये मैं अकर्त्ता हूँ ॥ ७५ ॥

इसीलिये—

जो मानसिक, वाचिक अथवा शारीरिक कर्म किया गया ॥ ७६- ॥

उस सबको—

प्रकृति के द्वारा कराया गया मानता हूँ ॥ -७६- ॥

प्रकृति से प्रयुक्त मन आदि के द्वारा किया गया है—ऐसा समझता हूँ ॥

इस प्रकार पुरुष न तो (किसी अन्य कर्त्ता का) प्रेरक है और न मुख्य कर्त्ता—ऐसा होने से—

............अकर्ता पुरुषः स्मृतः ॥ ७६ ॥
एवं संन्यस्य कर्माणि वर्तते न च नित्यशः ।
नाहं कर्ता न मे बन्ध एवं बुध्येत यो नरः ॥ ७७ ॥
प्रकृतेः स विमुच्येत यावन्न सृजतीश्वरः ।

एवमितिवचनेन कर्माणि संन्यस्येति सङ्गतिः ॥

प्रकृतिमात्रविवेकमात्मनो मन्यमानोऽकर्त्र्या जडायाः प्रकृतेः कर्तृत्वमधिष्ठातुरीश्वरस्य बन्धादिकर्तुश्चाकर्तृत्वं मोहान्मन्यमानस्तत्त्वाप्रज्ञानात् कञ्चित् कालं निवृत्तप्रकृतिसम्बन्धोऽपि न तत्त्वतः प्रकृतिबन्धात् प्रमुच्यते । तदाह—

साङ्ख्यज्ञानेन सम्मूढो मुक्तिरित्यभिमन्यते॥ ७८ ॥
नहि मुक्तिर्भवेत्तस्य कञ्चित्कालं विदेहता ।

कञ्चित्कालं या विदेहता सा न मुक्तिर्यतस्तस्मात् साङ्ख्यज्ञानेन मोहितो मुक्तिरिति मिथ्यैव जानाति ॥

केवलमेतावज्ज्ञानादसौ—

तिष्ठेत् प्रकृतिनिर्मुक्तः सृष्टिसंहारवर्जितः ॥ ७९ ॥

पुरुष अकर्त्ता कहा गया है । जो मनुष्य इस प्रकार कर्मों का सम्यक् त्याग कर नित्य व्यवहार करता है और 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ और न मेरा बन्धन है'—ऐसा समझता है वह प्रकृति के बन्धन से तब तक मुक्त रहता है जब तक ईश्वर दूसरी सृष्टि नहीं करते ॥ -७६-७८- ॥

'एवम्' इस शब्द के साथ 'कर्माणि संन्यस्य' का सम्बन्ध है ॥

प्रकृतिमात्र से अपने को भिन्न मानता हुआ जड़ प्रकृति को कर्त्ता मानने वाला एवं मोहवश प्रकृति के अधिष्ठाता तथा बन्ध-मोक्ष के कर्त्ता ईश्वर को कर्त्ता न मानने वाला तत्त्व के अज्ञान के कारण कुछ समय तक प्रकृति से सम्बन्ध के समाप्त होने पर भी तत्त्वतः प्रकृति के बन्धन से मुक्त नहीं होता । वही कहते हैं—

सांख्यज्ञान से सम्मूढ व्यक्ति 'मेरी मुक्ति हो गयी है'—ऐसा मानता है । किन्तु कुछ समय के लिये उसका विदेह हो जाना उसकी मुक्ति नहीं होती है ॥ -७८-७९- ॥

चूँकि कुछ काल तक जो विदेहता (= अपने को देह से पृथक् समझना) है वह मुक्ति नहीं है । इसलिये सांख्यज्ञान से मोहित पुरुष 'मेरी मुक्ति हो गयी है' ऐसा व्यर्थ जानता है ॥

इतने ज्ञान से यह—

तब तक प्रकृति से निर्मुक्त, सृष्टि—संहार से रहित रहता है जब तक

यावत्करोत्यसौ सृष्टिमीश्वरः परमेश्वरः ।

इदमेवास्य प्रकृतिनिर्मुक्तत्वं यत् प्रकृतिकार्यशरीरादिसर्गसंहारवर्जितत्वम् । एवं च यावदीश्वरः पुंसां भोगाय पुनः सृष्टिं न आरभते, तावदसौ प्रकृतिलीनप्राय एवास्ते इत्युक्तं भवति । न चैतावन्मात्रस्रष्टृत्वमस्य ऐश्वर्यम्, अपि तु शुद्धाशुद्ध-सर्वाध्वविषयमित्याशयेन परमेश्वरोऽनाश्रितान्तस्य विश्वस्य प्रभुरित्युक्तम् ॥

तत ईश्वरे पुंसां कर्मपरिपाकानुसारिभोगदानाय सृष्ट्याभिमुख्यमाश्रयति साङ्ख्य-योगी—

तावत्प्रकृतिबन्धेन संसारे क्षिप्यते पुनः ॥ ८० ॥
क्षिप्तः संसरते भूयः संसारे घोरसागरे ।
धर्माधर्मनिबद्धस्तु साङ्ख्यज्ञानेन मोहितः ॥ ८१ ॥

तावत् प्रकृतादविशिष्टो यः प्रकृतिबन्धस्तेन । घोरो विभीषिकाशतप्रदो दुरन्तत्वाच्च सागर इव सागरः । यद्यपि च नाहं कर्ता प्रकृतिरेव कर्त्रीत्यनेनावसितम्, तथापि तत्तस्या जडत्वाद् नोपपन्नम्, बुद्धेश्चिच्छायायोगे चेतनत्वमुपचरितं कथं मुख्यं कर्तृत्वं स्यात्, प्रकृतेश्च सत्त्वोद्रेकाभावात्

कि यह परमऐश्वर्य सम्पन्न ईश्वर नयी सृष्टि नहीं करता ॥ -७९-८०- ॥

प्रकृति के कार्यरूप शरीर आदि की सृष्टि एवं उसके संहार से रहित होना ही इस (= सांख्यज्ञानी) की प्रकृतिमुक्तता है । इस प्रकार जब तक ईश्वर पुरुषों के भोग के लिये पुनः सृष्टि का आरम्भ नहीं करते तब तक यह (= सांख्यज्ञानी) प्रकृति में लीन जैसा रहता है—यह कथन है । इस ईश्वर का ऐश्वर्य इतना ही नहीं है कि वह इतनी (= प्रकृति के कार्यभूत शरीर की) सृष्टि करता है बल्कि शुद्ध अशुद्ध सम्पूर्ण अध्व वाली (सृष्टि को करने के कारण उसका ऐश्वर्य है) । इसी आशय से परमेश्वर (पृथ्वी से लेकर) अनाश्रित शिवपर्यन्त विश्व का स्वामी है—ऐसा कहा गया ॥

इसलिये सांख्ययोग का अनुयायी व्यक्ति पुरुषों (= जीवों) को उनके कर्मपाक के अनुसार भोग देने के लिये ईश्वर को सृष्टि का कर्त्ता मानता है—

उतने प्रकृतिबन्ध के कारण जीव संसार में भेज दिया जाता है । यहाँ आने पर यह घोर संसारसागर में गोता लगाता रहता है क्योंकि वह धर्म और अधर्म से निबद्ध तथा सांख्यज्ञान से मोहित है ॥ -८०-८१ ॥

उतनी मात्रा में प्राकृत बन्ध से अविशिष्ट अर्थात् उसके समान जो बन्ध है उससे । घोर = सौ प्रकार का भय देने वाला तथा दुरन्त होने से समुद्र की भाँति (यह संसार भी) समुद्र है । यद्यपि इस कथन से 'मैं कर्त्ता नहीं हूँ, प्रकृति कर्त्री है'—यह तथ्य निश्चित हुआ तथापि (प्रकृति का) वह (= कर्तृत्व) उसके जड़ होने से सङ्गत नहीं होता और बुद्धि का चेतनत्व चित् तत्त्व के छायायोग से सिद्ध होता

चिच्छायाग्रहणायोग्यतयोपचरितमपि चेतनायमानत्वं नास्तीति कथं कर्मसम्बन्धः, कथं वा ज्ञानान्नैष्कर्म्यप्राप्तिः । अतोऽवश्यमीश्वरेच्छावशोत्थापितकलादिसम्बन्धहेतुकं पुंसो मितविषयं कर्तृत्वमस्तीत्यनादिभवोपार्जितधर्माधर्मनिबद्धत्वमस्य साङ्ख्यज्ञान-मोहितस्यास्तीति युक्तमुत्पश्यामः ॥ ८१ ॥

इत्थमीश्वरेच्छातः संसारसङ्गरतोऽयम्—

अहं कर्ता च भोक्ता च ईश्वरो बलवानहम् ।

इति मन्यमानः—

ममत्वेनैव सम्मूढो भ्राम्यते घटयन्त्रवत् ॥ ८२ ॥

अहङ्कारपूर्वकत्वान्ममकारस्य । भ्राम्यत इति ईश्वरेण । यदुक्तं गीतासु—

'ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशे वसतेऽर्जुन ।
भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया ॥' (१८।६१) इति ॥

एतदुपसंहरति—

साङ्ख्यज्ञानं मया प्रोक्तं............

है अतः वह मुख्य कैसे होगा ? और प्रकृति में सत्त्वोद्रेक न होने से वह चित् की छायाग्रहण के योग्य नहीं होगी इसलिये उसमे तो उपचरित भी चेतनता नहीं है फिर कर्म से उसका सम्बन्ध कैसे होगा अथवा ज्ञान से नैष्कर्म्य की प्राप्ति कैसे होगी? इसलिये यह मानना पड़ेगा कि ईश्वर की इच्छा के कारण उत्थापित कला आदि से सम्बन्ध होने के कारण ही पुरुष का सीमितविषयक कर्तृत्व है । इसलिये सांख्य के ज्ञान से मोहित यह (= सांख्ययोगी) अनादि भव से उपार्जित धर्म अधर्म से निबद्ध होता है—यह विचार हम ठीक समझते हैं ॥ ८१ ॥

इस प्रकार ईश्वरेच्छा के कारण संसाररूपी सङ्गर (= युद्ध, कष्ट) से—

मैं संस्कार का कर्त्ता भोक्ता ईश्वर और बलवान् हूँ ॥ ८२- ॥

ऐसा समझता हुआ—

ममता के कारण भली भाँति मूढ हुआ (यह जीव ईश्वर के द्वारा) घट यन्त्र के समान घुमाया जाता है ॥ -८२ ॥

क्योंकि ममता का कारण अहङ्कार होता है । घुमाया जाता है—ईश्वर के द्वारा। जैसा कि गीता में कहा गया—

'हे अर्जुन ! ईश्वर समस्त प्राणियों के हृदय में रहता है । वह अपनी माया के द्वारा समस्त प्राणियों को घटयन्त्र पर आरूढ़ घट के समान घुमाता रहता है ।' (भ.गी. १८।६१)

इसका उपसंहार करते हैं—

इह पूर्वं यत् प्रश्नितम्—

'तत्त्वविज्ञानमाख्याहि सिद्धिस्तेषु यथा भवेत्' (१२।२)

इति, तन्निर्णयाय देहाश्रयाणि धरादिप्रकृत्यन्तानि तत्त्वानि प्रतिपादितानि । अधुनोच्चारणादिक्रमेण तत्तत्सिद्ध्यर्थं साक्षात्कार्यमेतत्कार्यतत्त्वस्वरूपं स्थूलदृशा प्रदर्श्य, सूक्ष्मदृशा परदृशा चात्माश्रयाणि नियत्यादिसमस्तानि शुद्धविद्यादिशिवान्तानि च सिद्ध्यर्थमेव तत्त्वान्तरध्यानानि दर्शयन्नुपक्रमते—

...........शृणु ध्यानाधिदैवतम् ।

पृथिव्यादितत्त्वानां ध्यानं तत्संवाच्यतत्त्वाधिष्ठातृदेवतास्वरूपं च वक्ष्यमाणतत्तत्सिद्धिप्रदं शृण्विति सम्बन्धः । अत्र चादौ—

'समयाचारयुक्तस्य साधकस्य वरानने ।
जायते विविधा सिद्धिर्गिरिगह्वरमाश्रिते ॥
सुशुद्धे भूप्रदेशे तु..................... ।' (६।१-२)

इत्यादिक्रमेण पूर्वोक्तभैरवपूजापूर्वकं पृथ्व्यादितत्त्वध्यानमारब्धव्यम् ॥

तत्र तावत्—

मैने सांख्य ज्ञान को बतलाया ॥ ८३- ॥

इस पटल में पहले जो प्रश्न किया गया था—

'आप तत्त्वविज्ञान को बतलाइये जिससे उस विषय में सिद्धि हो ।' (१२।२)

उसके निर्णय के लिये देह में रहने वाले पृथिवी से लेकर प्रकृति पर्यन्त तत्त्वों का प्रतिपादन किया गया । अब उच्चारण आदि के क्रम से तत्तत् सिद्धि के लिये साक्षात्करणीय तथा इन (धरा आदि) के कार्यतत्त्व के स्वरूप को स्थूल दृष्टि से बतलाने के बाद सूक्ष्म दृष्टि और पर दृष्टि से आत्मा में रहने वाले नियति को साथ रखते हुए शुद्धविद्या से लेकर शिवपर्यन्त तत्त्वान्तरध्यानों को सिद्धि के लिये बतलाने का उपक्रम करते हैं—

अधिदैवत ध्यान को सुनो ॥ -८३- ॥

पृथिवी आदि तत्त्वों का ध्यान और उनके वाच्य तत्त्वाधिष्ठात्री देवताओं के स्वरूप, जो कि वक्ष्यमाण तत्तत् सिद्धि को देने वाले हैं, को सुनो—ऐसा अन्वय है । इस विषय में पहले—

'हे वरानने ! समयी साधक को अनेक प्रकार की सिद्धि मिलती है । पहाड़ की गुफा में स्थित सुशुद्ध भूप्रदेश में......... ।' (६।१-२)

इत्यादि क्रम से भैरव की पूर्वोक्त पूजा करने के बाद पृथिवी आदि तत्त्व के ध्यान का प्रारम्भ करना चाहिये ॥

पृथ्वीं कठिनरूपेण चतुःसागरमेखलाम् ॥ ८३ ॥
सपर्वतवनाकीर्णां मृगपक्षिसमाकुलाम् ।
सुस्थिरां पीतवर्णाभामूबीजेन समन्विताम् ॥ ८४ ॥
ध्यात्वा तत्सिद्धिमभ्येति...........

चतुःसागरमेखलादिरूपा या पृथ्वी पूर्वं उक्ता, तां सुस्थिरकठिनपीतवर्णाभां भुवनाध्वप्रतिपादिततत्तद्देवतात्मिकां सर्वदेहे गतां ध्यात्वा तत्सिद्धिमेति तन्मयः साधको भवति । अस्याश्च पूर्वोक्तरसात्मप्रक्रियया—

'धरित्र्यादिप्रधानान्तमूकारो वाचकः स्मृतः' (५।५)

इति कृत्वोकारबीजवाच्यत्वमुक्तम् । ध्यात्वेत्युक्त्या ध्यानात्पूर्वं धारणा आक्षिप्ता ॥ सा च—

'स्वदेहं हेमसङ्काशं तुर्याश्रं वज्रलाञ्छितम्' (मा.वि. १२।१२)

इतीदृग्धारणापूर्वं पृथ्वीध्यानमभ्यस्येत् ॥

............विषसत्त्वान्निवारयेत् ।

उनमें—

पृथिवी का ध्यान कठिन रूप (= ठोस रूप) में करना चाहिये । उसके सब ओर चार सागरों की मेखला है । वह पर्वत, वन से भरी हुई है । मृगों पक्षियों से व्याप्त है । स्थिर, पीत वर्ण वाली, ऊ बीज से युक्त है । ऐसा ध्यान कर साधक उसकी सिद्धि प्राप्त करता है ॥ -८३-८५- ॥

चार सागररूपी मेखला आदि वाली पृथिवी जो कि पहले कही गयी ऐसी सुस्थिर, कठिन, पीतवर्ण वाली, भुवनाध्वा में प्रतिपादित तत्तत् देवता वाली अपनी सम्पूर्ण देह में व्याप्त है—ऐसा ध्यान कर साधक उसकी सिद्धि को प्राप्त करता है अर्थात् तन्मय हो जाता है । पूर्वोक्त रसात्मा प्रक्रिया के द्वारा—

'धरित्री से लेकर प्रधान पर्यन्त का वाचक ऊकार माना गया है ।' (५।५)

वचन के अनुसार पृथिवी ऊकार बीज का वाच्य है—यह कहा गया । 'ध्यान कर'—इस कथन से ध्यान के पूर्व धारणा का आक्षेप किया गया । और वह—

'स्वर्ण के समान, चौकोर और वज्र से चिह्नित अपने शरीर का ध्यान करना चाहिये' (मा.वि. १२।१२)

इस प्रकार धारणा करने के बाद पृथ्वी के ध्यान का अभ्यास करना चाहिये ॥

(ऐसा ध्यान करने वाला योगी साधक) विष और सत्त्व को दूर कर देता है ॥ -८५- ॥

विषं स्थावरजङ्गमादिरूपम्, सत्त्वान् पिशाचापस्मारादीन् शक्तिस्तम्भनादिक्रमेण हेलयैव नाशयति ॥

समापन्नपृथ्वीध्यानस्त्वसौ—

अचाल्यः सर्वभूतानां यथैव वसुधा भवेत् ॥ ८५ ॥

एतत्—

'तत्सिद्धिमभ्येति' (१२।८४)

इति पूर्वोक्तेः स्फुटीकरणम् । यथैव वसुधेति पृथ्वीजयेन तदधिष्ठातृवत् तत्रैश्वर्यमाप्नोति । एवमुत्तरत्रापि योज्यम् ॥ ८५ ॥

जलध्यानमाह—

जलापूरितसर्वाङ्गो जलध्यानेन पूरयेत् ।
एवमभ्यस्यमानस्तु विषसत्त्वान् विनाशयेत् ॥ ८६ ॥
तृष्णादाहविनिर्मुक्त ईतिभिश्च विवर्जितः ।

विष = स्थावर और जङ्गम (= विषधर जन्तुओं का) विष । सत्त्व = पिशाच अपस्मार आदि । साधक इनकी शक्ति के स्तम्भन आदि के क्रम से इनको सरलता से नष्ट कर देता है ॥

(इस प्रकार के) पृथ्वीध्यान से युक्त यह (= साधक)—

जिस प्रकार पृथिवी उस प्रकार समस्त प्राणियों के द्वारा अचाल्य हो जाता है ॥ -८५ ॥

यह कथन—

'उसकी सिद्धि को प्राप्त करता है ।' (१२।८४)

इस पूर्व वचन का स्पष्टीकरण है । जिस प्रकार पृथिवी—पृथिवी के विजय से उसके अधिष्ठाता की भाँति उस पृथिवी पर ऐश्वर्य प्राप्त करता है । इसी प्रकार आगे भी समझना चाहिये ॥ ८५ ॥

जल के ध्यान को बतलाते हैं—

(साधक यह ध्यान करे—) मेरा समस्त अङ्ग जल से आपूरित हो रहा है । जल के ध्यान से अपने सम्पूर्ण शरीर के माध्यम से विश्व को पूरित हुआ ध्यान करना चाहिये । इस प्रकार का अभ्यास करने वाला साधक विष एवं सत्त्वों को नष्ट कर देता है । तृष्णा, दाह से रहित, ईतियो[1]

---

१. अतिवृष्टिरनावृष्टिर्मूषकाः शलभाः शुकाः ।
प्रत्यासन्नाश्च राजानः षडेता ईतयः स्मृताः ॥

जगदापूरयेत् सिद्धः पूर्वबीजसमन्वितः ॥ ८७ ॥

जलध्यानेन पूरयेदिति अङ्गोपाङ्गप्रसरणक्रमेण विश्वमापूरितं भावयेत् । एवमभ्यस्यन्विषादि नाशयेदिति आप्यायनयुक्त्या साध्यमाप्याययति प्रशान्तविषभूतदोषं करोति, स्वयं च तत्तत्सन्तापाद्यवसरेषु तृष्णादिभिरीतिभिश्च सर्वोपद्रवैर्विवर्जितः क्रमाच्च सिद्ध इति निष्पन्नाप्तत्वध्यानो जगदपि अम्भोवदेव आप्याययति । पूर्वबीजमूकार एव, प्रधानान्तं तस्यैव वाचकत्वेन उक्तत्वात् । अत्रापि—

'जलात्मकं स्मरेद् देहं सितं शीतं सुवर्तुलम् ।' (मा.वि. १३।२)

इति श्रीपूर्वोक्तनीत्या कमललाञ्छितसितार्धचन्द्रमण्डलात्मिकां जलधारणां बद्ध्वा ऊकारपरामर्शपूर्वं प्राङ्निर्दिष्टदेवताधिष्ठितं जलमयं स्वदेहं ध्यायेत् ॥ ८७ ॥

'स्वशरीरोत्थितो वह्निर्ज्वलन् वै सर्वदाहकः ।
त्रिकोणं चिन्तयेद् देहं रक्तज्वालावलीधरम् ॥' (मा.वि. १३।२१)

इति श्रीपूर्वनिरूपितवह्निधारणया स्वदेहं ध्यात्वा—

से वर्जित वह सिद्ध पुरुष पूर्वबीज से युक्त हुआ संसार को आपूरित कर देता है ॥ ८६-८७ ॥

जलध्यान से पूरण करना चाहिये—(अपने शरीर के) अङ्ग और उपाङ्ग में प्रसरण के क्रम से पूरे विश्व के आपूरण की भावना करनी चाहिये । इस प्रकार का अभ्यास करने वाला पुरुष विष आदि को नष्ट कर देता है अर्थात् आप्यायन की युक्ति से साध्य को आप्यायित करता है = साध्य के अन्दर वर्त्तमान विषदोष को शान्त कर देता है । तत्तत् सन्ताप आदि के अवसरों पर, तृष्णा आदि, ईतियों एवं समस्त उपद्रवों से वर्जित होता हुआ वह क्रमशः सिद्ध होता हुआ अर्थात् जल तत्त्व के ध्यान में सिद्ध होता हुआ संसार को भी जल की भाँति तृप्त कर देता है । पूर्व बीज का अर्थ है—ऊकार । क्योंकि प्रकृति पर्यन्त तत्त्वों का यही वाचक है । यहाँ भी—

'अपने शरीर को श्वेतवर्ण का, शीतल और गोलाकार रूप में स्मरण करना चाहिये ।' (मा.वि.तं. १३।२)

इस श्रीपूर्वोक्त नीति के अनुसार कमल से युक्त श्वेत अर्धचन्द्रमण्डलरूप जलधारणा करने के बाद ऊकारपरामर्श के साथ पूर्वनिर्दिष्ट देवता से अधिष्ठित और जलमय अपने शरीर का ध्यान करना चाहिये ॥ ८७ ॥

'अपने शरीर से उत्पन्न वह्नि स्वयं जलता हुआ सबको जलाने वाला है । अपने शरीर का त्रिकोणात्मक तथा रक्तज्वालासमूह को धारण किया हुआ ध्यान करना चाहिये ।' (मा.वि.तं. १३।२१)

मालिनीविजय तन्त्र में वर्णित वह्नि की इस धारणा से अपने देह का ध्यान कर—

कुर्यात् कर्मसहस्राणि स्वबीजेन तु बीजितः ।

बीजितः परामर्शयुक्त्या योजितः । स्वबीजं रेफ इत्यसदिह तथा प्रक्रमाभावात् । प्रधानान्तं देहाश्रयाणि तत्त्वान्युक्त्वा तत्त्वध्यानप्रतिपादनस्यायमेवाशयो यन्नवात्मप्रक्रियया ऊकारादिवाचकपरामर्शपूर्वमेतत्सिद्धिः स्यादिति ॥

कृष्णरेण्वात्मको वायुर्ध्येयो बीजेन संयुतः ॥ ८८ ॥
पूरयेद्वै जगद्देहान्.............

अत्रापि—

'स्वदेहं चिन्तयेत्कृष्णं वृत्तं षड्बिन्दुलाञ्छितम् ।
चलं सधूधूशब्दं च............................ ॥'(मा.वि. १३।३४)

इति श्रीपूर्वोक्तवायवीयधारणापूर्वकाद् ध्यानाज्जगद्गतान् देहानुच्छ्वासमात्रेण पूरयेदाप्याययेत् ॥ ८८ ॥

ध्यानप्रकर्षात्तु—

..............सिद्धश्चाश्चर्यकारकः ।

अपने बीज (= ऊकार) से बीजित होकर योगी साधक सहस्रों कर्मों को करे ॥ ८८- ॥

बीजित = परामर्शयुक्ति के द्वारा योजित । यहाँ स्वबीज का अर्थ रेफ समझना असमीचीन है क्योंकि उस प्रकार का प्रक्रम नहीं चल रहा है । देह में रहने वाले प्रधानपर्यन्त तत्त्वों का वर्णन करने के बाद तत्त्वों के ध्यान के प्रतिपादन का यह आशय है कि नवात्म प्रक्रिया[1] के द्वारा ऊकार आदि वाचकों के परामर्श के बाद इसकी सिद्धि होती है ॥

कृष्ण धूल वाले तथा बीज से युक्त वायु का ध्यान करना चाहिये । (ऐसा करने वाला साधक) संसार तथा समस्त शरीरों को (वायु से) आपूरित कर देता है ॥ -८८-८९- ॥

यहाँ भी—

'अपने शरीर को काले रङ्ग का, गोलाकार वाला, छह बिन्दुओं से चिह्नित, चलयमान एवं धू धू शब्द वाला ध्यान करना चाहिये ।' (मा.वि.तं. १३।३४)

इस श्रीपूर्वोक्त वायवीयधारणापूर्वक ध्यान से (योगी साधक) जगत् में वर्त्तमान देहों (अथवा संसार और शरीरों) को उच्छ्वास मात्र से पूरित करता है = तृप्त करता है ॥ ८८ ॥

ध्यान के प्रकर्ष से—

१. इसके लिये स्व०तं० (परिमलप्रकाशन दिल्ली) के टाइटिल कवर को देखें ।

वायुतत्त्वाधिष्ठातृदेवताप्रभावात् किं किं न करोतीत्यर्थः ॥

सुषिरात्मकं स्वदेहं तु जगच्च सुषिरात्मकम् ॥ ८९ ॥
ध्यायेत् प्रकृतिबीजेन............

एकारेण (ऊकारेण) ॥

एवं च—

...............चित्रकर्माणि कारयेत् ।

यदुक्तं श्रीपूर्वे—

'षण्मासाद् गगनाकारः सूक्ष्मरन्ध्रैरपि व्रजेत् ।
वत्सरत्रितयात् सार्धाद् व्योम एव भविष्यति ।
इच्छयैव महाकायः सूक्ष्मदेहस्तथेच्छया ।
अच्छेद्यश्चाप्यभेद्यश्च...................... ॥' (मा.वि. १३।४६-४७)

इत्यादि ॥

प्राक्स्थित्यैव कर्मेन्द्रियबुद्धीन्द्रियतन्मात्रध्यानानि क्रमेणाह । तत्र—

वह सिद्ध और आश्चर्ययुक्त कर्म करने वाला हो जाता है ॥ -८९- ॥ वायुतत्त्व की अधिष्ठात्री देवता के प्रभाव से वह क्या क्या नहीं करता अर्थात् सब कर सकता है ॥

प्रकृति बीज के साथ अपने शरीर की छिद्रस्वरूप और जगत् का भी सुषिरात्मक ध्यान करना चाहिये ॥ -८९-९०- ॥

(प्रकृति बीज =) एकार के साथ[1] ॥

इस प्रकार—

(साधक) विचित्र कर्मों को करता है ॥ -९०- ॥

जैसा कि श्रीपूर्वशास्त्र में कहा गया—

'छह महीने (तक धारणा ध्यान करने) से साधक सूक्ष्म छिद्रों में से भी पार हो जाता है । साढ़े तीन वर्ष में आकाशस्वरूप हो जाता है । साधक अपनी इच्छा से महाकाय अथवा सूक्ष्मशरीर होकर अच्छेद्य और अभेद्य हो जाता है ।' (मा.वि.तं. १३।४६-४७) इत्यादि ॥

पूर्व स्थिति के अनुसार ही कर्मेन्द्रिय ज्ञानेन्द्रिय एवं तन्मात्राओं के ध्यानों को कहते हैं । उनमें से—

१. यहाँ भी ऊकार ही लेना चाहिये क्योंकि पृथिवी से लेकर प्रधान तक का वही बीज कहा गया है ।

वागिन्द्रिये तथा वह्निर्ध्यातो वाक्सिद्धिदायकः ॥ ९० ॥

तथेति—

'ज्वलन् वै सर्वदाहकः' ......

इति यथा पूर्वमुक्तः स तु सर्वदेहगतः, अयं तु जिह्वानुसारिहृदयादि-मूर्धान्तवागिन्द्रियदेहाश्रयः इति विशेषः ॥ ९० ॥

इन्द्रः पाणावभिध्यातः............

पीत इति, अर्थात् ॥

येनासौ—

..............बाहुशाली त्वजेयकः ।

स्वार्थे कन् ॥

पादयोर्दूरसञ्चारं ध्यातो विष्णुः प्रयच्छति ॥ ९१ ॥
पायौ मित्रः सितो ध्यातः पायुव्याधिविनाशकः।
शिश्ने प्रजापतिं श्यामं ध्यायेद्युक्तेन चेतसा ॥ ९२ ॥
जितेन्द्रियश्च भवति त्विच्छया रमते शतम् ।

वाग् इन्द्रिय में उस प्रकार ध्यान किया गया वह्नि वाक्सिद्धि को देने वाला होता है ॥ -९० ॥

इस प्रकार—

जो पहले कहा गया—

'जलता हुआ वह सर्वदाहक हो जाता है ।'

वह अग्नि समस्त देह में वर्त्तमान है किन्तु यह अग्नि जिह्वा में रहने वाले हृदय से मूर्धा तक वर्त्तमान वाक् इन्द्रिय वाले देह में रहता है यह अन्तर है ॥९०॥

पाणि में इन्द्र का ध्यान किये जाने पर ॥ ९१- ॥

(इन्द्र के ध्यान का अर्थ है—) पीया गया ।

जिससे यह—

बाहुशाली और अजेय हो जाता है ॥ -९१- ॥

('अजेयकः' में) स्वार्थ में 'कन्' प्रत्यय है (अजेय एव अजयेकः) ॥

पैरों में (विष्णु का) ध्यान करने पर विष्णु दूरसञ्चार की शक्ति देते हैं । पायु में सूर्य का ध्यान करने पर सूर्य पायु के रोग का नाशक होता है शिश्न में श्यामवर्ण प्रजापति का युक्त चित्त से ध्यान करने पर साधक जितेन्द्रिय हो जाता है और सौ स्त्रियों के साथ (अथवा सौ बार) रमण कर

पूर्वबीजमनुक्तमत्र योज्यम् । विष्णुः कृष्णवर्ण इति, अर्थात् ॥

श्रोत्रेन्द्रिये दिशश्चित्रा ध्यायेद् बीजेन संयुताः ॥ ९३ ॥

दिशोऽधिष्ठातृदेवताः । चित्रा नानारूपाः । बीजं प्राग्वत् ॥ ९३ ॥

यश्च ईदृगसौ—

सकृदुक्तं च गृह्णाति..............

महान्तमपि शब्दसन्दर्भमिति, अर्थात् ॥

अस्य चाभिसन्धिमात्रात्—

.............दिग्यात्रा चैव सिद्ध्यति ।

दूरतरदिक्प्राप्तिरपि भवति ॥

मारुतं कृष्णरूपेण ध्यायेत्तु त्वचि संस्थितम् ॥ ९४ ॥
यः स दंष्ट्राद्यभेद्यः स्यात्............

अस्य च—

सकता है ॥ -९१-९३- ॥

यहाँ अनुक्त पूर्व बीज (= ऊ) को जोड़ना चाहिये । विष्णु अर्थात् श्याम वर्ण के ॥

(साधक) बीज से संयुक्त होकर अनेक रूप दिशाओं का यदि ध्यान करे ॥ -९३ ॥

दिशाओं का = उनकी अधिष्ठात्री देवताओं का । चित्र = नाना रूप वाली । बीज को पूर्व की भाँति समझना चाहिये ॥ ९३ ॥

जो, साधक इस प्रकार का है वह—

एक बार कहे गये शब्दसमूह को धारण कर लेता है ॥ ९४- ॥

बड़े-बड़े वाक्यसमूह को—यह अर्थात् समझ लेना चाहिये ॥

इसकी अभिसन्धिमात्र से—

दिग्यात्रा सिद्ध हो जाती है ॥ -९४- ॥

अर्थात् दूरतर दिशा की प्राप्ति होती है ॥

जो योगी साधक त्वचा में कृष्णरूप से स्थित वायु (की अधिष्ठात्री देवता) का ध्यान करता है वह दाँत आदि (= शर, कील) से अभेद्य हो जाता है ॥ -९४-९५- ॥

और इसको—

..........न क्वचिज्जायते व्यथा ।

वज्रदेहो जायत इति यावत् ॥

आदित्यं चक्षुषि ध्यायेज्जिह्वायां वरुणं तथा ॥ ९५ ॥
नासायां पृथिवीं पीतां मनसीन्दुं तथैव च ।
पीतकं गन्धतन्मात्रं रसतन्मात्रकं सितम् ॥ ९६ ॥
रक्तं तु रूपतन्मात्रं कृष्णं तु स्पर्शसंज्ञितम् ।
अरूपं शब्दतन्मात्रं ध्यातव्यं बिन्दुरूपि च ॥ ९७ ॥
विषयेष्वीप्सितां सिद्धिं जानाति च विचिन्तितम् ।

तन्मात्राणां घ्राणाग्रादीनि स्थानानि चतुरस्रादिरूपं च श्रीपूर्वतो ज्ञातव्यम्, यथा—

'पीतकं गन्धतन्मात्रं तुर्याश्रं पञ्चसंमितम् ।
नासारन्ध्राग्रगं ध्यायेद्वज्रलाञ्छनलाञ्छितम् ॥' (१४।२)

इत्यादि, तथा—

'जलबुद्बुदसङ्काशं जिह्वायां चाग्रतः स्थितम् ।
चिन्तयेद्रसतन्मात्रं जिह्वाग्राधारमात्मनः ॥
सुशीतं षड्रसं स्निग्धं तद्गतेनान्तरात्मना ।' (१४।१२-१३)

कहीं भी पीड़ा नहीं होती ॥ -९५- ॥

अर्थात् यह वज्रवत् शरीर वाला हो जाता है ॥

नेत्र में सूर्य का, जिह्वा में वरुण का, नासिका में प्रीतवर्णा पृथ्वी का मन में चन्द्रमा का ध्यान करना चाहिये । गन्ध तन्मात्र को पीतवर्ण का, रस तन्मात्र को श्वेत, रूप तन्मात्र को रक्त, स्पर्श तन्मात्र को कृष्ण वर्ण का शब्द तन्मात्र के रूपरहित बिन्दु रूप का ध्यान करना चाहिये । (ऐसा करने वाला साधक) विषयों में अभीष्टसिद्धि को प्राप्त करता है और चिन्ता करने पर चिन्तित विषय को जान लेता है ॥ -९५-९८- ॥

तन्मात्राओं का स्थान नासिका का अग्रभाग है और रूप चौकोर आदि है—यह मालिनीविजय तन्त्र से जान लेना चाहिये । जैसे—

'गन्धतन्मात्रा को पीले रङ्ग का, चौकोर, पञ्चसम्मित (= पृथ्वी जल तेज वायु और आकाश तन्मात्राओं से युक्त), नासिका के अग्रभाग में स्थित, वज्रचिह्न से चिह्नित ध्यान करना चाहिये ।' (मा.वि.तं. १४।२)

इत्यादि तथा—

'रस तन्मात्र का पानी के बुलबुले के समान अपनी जिह्वा के अग्रभाग में

इति,

'एकान्तस्थो यदा योगी विनिमीलितलोचनः ।
शरत्सन्ध्याभ्रसङ्काशं यत्तत्किञ्चित्प्रपश्यति ॥
तत्र चेतः समाधाय यावदास्ते दशाहकम् ।
तावत्प्रपश्यते तत्र बिन्दून् सूक्ष्मतमानपि ॥
केचित्तत्र सिता रक्ता नीलाः पीतास्तथापरे ।
तान् दृष्ट्वा तत्र सन्दध्याच्चेतोऽत्यन्तमनन्यधीः॥
षण्मासात् पश्यते तेषु रूपाणि सुबहून्यपि ।' (१४।२०-२३)

तथा—

षट्कोणमण्डलान्तःस्थमात्मानं परिभावयेत् ।
रूक्षमञ्जनसङ्काशं प्रत्यंशं स्फुरिताकुलम् ॥
ततोऽस्य दशभिर्देवि दिवसैस्त्वचि सर्वतः ।
भवेत् पिपीलिकास्पर्शस्ततस्तदनुचिन्तयन् ॥
वज्रदेहत्वमासाद्य पूर्वोक्तं पूर्ववल्लभेत् ।' (१४।२९-३१)

इत्यादि, तथा—

'कर्णौ पिधाय यत्नेन निमीलितविलोचनः ।
यं शृणोति महाघोषं चेतस्तत्रानुसन्धयेत् ।

स्थित, अपनी जिह्वाग्र का आधार, शीतल, छह रसों वाला, स्निग्ध के रूप में उसमे एकचित्त होकर ध्यान करना चाहिये ।' (वही १४।१२-१३)

'जब योगी एकान्त में बैठकर आँखें बन्द कर शरत्कालीन सन्ध्या के समय के बादल के समान कुछ देखता है तब वहाँ चित्त को समाधिस्थ कर दश दिन पर्यन्त रहने पर उसमे सूक्ष्मतम बिन्दुओं को देखता है । उनमें कुछ श्वेत कुछ रक्त, नील, पीत, रङ्गवाले होते हैं । उनको देख कर उनमें अनन्यचित्त होकर चित्त को समाधिस्थ करे तो छह मास के अन्दर उन (= बिन्दुओं) में बहुत से रूपों को देखता है । (वही १४।२०-२३)

तथा—

'अपने को षट्कोण मण्डल के भीतर स्थित होने की भावना करनी चाहिये । यह आत्मरूप रुक्ष, अञ्जन के समान (काला), प्रत्येक अंश में स्फुरण होने से व्याकुल है । (ऐसी भावना करे) हे देवि! इसके बाद इसके शरीर में चींटी के रेंगने जैसे स्पर्श का अनुभव होता है । इसका अनुचिन्तन करने वाला साधक पूर्वोक्त फल को पूर्व की भाँति प्राप्त करता है । (वही १४।२९-३१)

इत्यादि । तथा—

'प्रयत्नपूर्वक दोनों कानों को बन्द कर आँखों को भी बन्द कर जिस महाघोष

दीप्यते जाठरो वह्निस्ततोऽस्य दशभिर्दिनैः ।
दूरात्कथनविज्ञानं षण्मासादुपजायते ॥' (१४।३३-३५)

इति । बिन्दुरूपि चेति तन्मात्रविषयं यथायोगं योज्यम् । विषयेष्वीप्सितां सिद्धिमिति चक्षुरादिविषयेषु तथा प्रोक्तदृशा तन्मात्राधिष्ठितत्वादिन्द्रियाणां तन्मात्रविषयेषु रूपादिषु देशकालस्वभावविप्रकृष्टेषूपलब्ध्यादिकाम् । जानाति च विचिन्तितमिति यस्य कस्यचित् सम्बन्धि विचिन्तितं सङ्कल्पसिद्धिं जानातीत्येषां मनोध्यानसिद्धिः ॥

अहङ्कारधारणामाह—

वैकारिके तथा रुद्रो ध्यातव्यः सिद्धिमिच्छता ॥ ९८ ॥

अतश्च—

ध्यानात् सिद्धिमवाप्नोति मुक्ताहङ्कारबन्धनाम् ।

मुक्तमहङ्कारबन्धनं (यस्याः)[1] तादृशीं परप्रमात्रैकात्म्यप्राप्तिपर्यवसानामित्यर्थः । अत्रापि—

को (साधक) सुनता है (उसे) उसमें चित्त को समाधिस्थ करना चाहिये । दश दिनों तक ऐसा करने से जठराग्नि दीप्त हो जाती है । छहमास के अभ्यास से दूर की आवाज को भी यह सुन लेता है ।' (वही १४।३३-३५)

बिन्दुरूपी—यह कथन तन्मात्रविषयक है । इसे उचित स्थान पर जोड़ना चाहिये। विषयों में ईसित सिद्धि को—चक्षु आदि के विषयों में उस प्रकार प्रोक्त रीति से तन्मात्र में अधिष्ठित होने के कारण इन्द्रियों के तन्मात्रविषयों रूप आदि, जो कि देश काल स्वभाव से दूर हैं, की उपलब्धि आदि को प्राप्त करता है । चिन्तित को जान लेता है = जिस किसी के बारे में जो कुछ विचार हो रहा है उसकी सङ्कल्पसिद्धि को जान लेता है । यह इनकी मनोध्यान सिद्धि है ॥

अहङ्कारधारणा को बतलाते हैं—

अहङ्कार के विषय में सिद्धि चाहने वाले को रुद्र का ध्यान करना चाहिये ॥ -९८ ॥

और इस—

ध्यान से साधक अहङ्कार के बन्धन से मुक्तिरूपी सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ९९- ॥

जिसका अहङ्कार बन्धन मुक्त हो गया है इस प्रकार की परप्रमाता से ऐकात्म्यप्राप्ति वाली सिद्धि प्राप्त करता है । इस विषय में भी शास्त्र के—

---

१. यस्य ।

'षोडशारं स्मरेच्चक्रमात्मन्यहमनन्यधीः ।
एषोऽहमिति सञ्चिन्त्य स्वकार्यपरिवारितम् ॥
अप्रधृष्यो भवेद्योगी........................ ।' (मा.वि. १६।२-३)

इत्यादि श्रीपूर्वोक्तमनुसन्धेयम् ॥

अथ—

ब्रह्माणं बुद्धिसंस्थं तु ध्यायेद्युक्तेन चेतसा ॥ ९९ ॥
स्मरन् वै पूर्वबीजेन...............

पूर्वबीजेनेति ऊकारेण । एतच्च पूर्वत्राप्यनुसन्धेयम् । स्मरणं ध्याने हेतुः । अत्रापि—

'उदितादित्यबिम्बाभं हृदि पद्ममनुस्मरेत् ।
धर्मादिभावसंयुक्तमष्टपत्रं सकर्णिकम् ।' (मा.वि. १६।८)

इत्याद्यनुसर्तव्यम् ॥

एवं ध्यानवतः—

..................ज्ञानौघः सम्प्रवर्तते ।
दिव्या च जायते बुद्धिः संशयोच्छित्तिकारिका ॥ १०० ॥

'अनन्य चित्त हुआ (साधक) अपने अन्दर षोडशार चक्र का ध्यान करे । अपने कार्य से परिवारित इस चक्र के विषय में 'यह मैं ही हूँ' ऐसी भावना करने वाला योगी अप्रधृष्य होता है ।' (मा.वि. १६।२-३)

इत्यादि वचन का अनुसन्धान करना चाहिये ॥

इसके बाद—

साधक युक्तचित्त से पूर्व बीज के साथ स्मरण करता हुआ ब्रह्मा का अपनी बुद्धि में स्थित हुआ ध्यान करे ॥ -९९-१००- ॥

पूर्व बीज = ऊकार । पहले के सन्दर्भों में भी इसका अनुसरण करना चाहिये । स्मरण ध्यान का कारण है । यहाँ भी—

'साधक अपने हृदय में उगते हुए सूर्य के बिम्ब के समान (= रक्तवर्ण वाले), धर्म आदि (= अधर्म वैराग्यावैराग्य ज्ञानाज्ञान एवं ऐश्वर्यानैश्वर्य रूप) आठ पंखुड़ियों वाले तथा कर्णिकायुक्त अष्टदल कमल का ध्यान करे ।' (मा.वि.तं. १६।८)

इत्यादि का अनुसरण करना चाहिये ॥

इस प्रकार ध्यान करने वाले को—

ज्ञान का समूह प्राप्त होता है । उसके अन्दर संशय की उच्छेदिका

भूतं भव्यं भवद्[1] भविष्यच्च प्रत्यक्षं सम्प्रजायते।

ज्ञानौघादिकमत्र ध्येयब्रह्माख्यदेवतारूपमिति ज्ञातव्यम् ॥

अथ—

प्रकृतिः कृष्णवर्णा तु रक्तशुक्ला विराजते ॥ १०१ ॥

गुणत्रयमय्याः प्रकृतेरधिष्ठातृदेवता एषाऽनेकवर्णा उक्ता ॥ १०१ ॥

इत्थं च त्रिवर्णायाः—

रक्तं च हृदयं तस्याः..................

शिष्टमूर्ध्वमधश्च गात्रमस्याः सितं कृष्णं चेति, अर्थात् ॥

एषा च—

..................बहुपादभुजानना ।
ध्यातव्या तत्त्वबीजेन यदीच्छेत् सिद्धिमात्मनः ॥ १०२ ॥

सर्वपुरुषान् प्रति विचित्रप्रकाशप्रवृत्तिस्थितिप्रदत्वादस्या बहुवक्त्रादि (त्ववम्)[2] ।

बुद्धि उत्पन्न होती है । भूत, भवत् (= सुदूर वर्त्तमान अथवा सूक्ष्म वर्त्तमान) एवं भविष्य का उसे प्रत्यक्ष होता है ॥-१००-१०१- ॥

यहाँ पर ज्ञानौघ का अर्थ ध्येय ब्रह्मा नामक देवतारूपी जानना चाहिये ॥

इसके बाद—

इसके अन्दर कृष्ण, रक्त एवं शुक्ल वर्ण की प्रकृति स्थित होती है ॥ -१०१ ॥

तीन गुणों वाली प्रकृति की अधिष्ठात्री यह देवता अनेक वर्णों वाली कही गयी है ॥ १०१ ॥

इस प्रकार तीन वर्णों वाली—

उस (प्रकृति) का हृदय रक्त वर्ण का है ॥ १०२- ॥

इसका ऊर्ध्व और अधः स्थित अवशिष्ट शरीर शुक्ल एवं कृष्ण वर्ण का है—यह अर्थात् (समझ लेना चाहिये) ।

और—

यदि साधक आत्मा के विषय में सिद्धि चाहता है तो वह तत्त्वबीज के साथ अनेक पैर हाथ एवं मुख वाली इस प्रकृति का ध्यान करे ॥-१०२॥

---

१. भव्यं । २. त्वे ।

तत्त्वस्य प्रकृत्याख्यस्यैव यद्बीजं प्रक्रान्तप्रक्रियया ऊकारस्तेनैव तत्त्वाधिष्ठात्री एषा ध्येया । एवं च वदतोऽयमाशयो यत्पारमेश्वरे सर्वतत्त्वानि तत्तद्देवताधिष्ठितान्येव, न त्वेषां जडत्वमेवमित्यत्र देवताप्रधानमेव तत्त्वध्यानमुक्तम् । आत्मनः सिद्धिः प्रकृतिविविक्तस्य उपलब्धिः ॥ १०२ ॥

एवं ह्यात्मा मुक्तप्रकृतिबन्धनः—

सिद्धश्चैव स्वतन्त्रश्च दिव्यदृष्टिश्च जायते ।

सिद्ध इति प्रकृतिविवेकेनोपलब्धोऽत एव स्वतन्त्रः, न तु प्रकृतिवशः, तथा च दिव्या लोकोत्तरा स्वपरविषया दृष्टिः सम्यक्प्रतीतिर्यस्य तादृग्भवति ॥

यावता कालेनैषाऽस्य सिद्धिस्तदादेशाय आह—

षण्मासाभ्यासयोगेन दिव्या दृष्टिः प्रवर्तते ॥ १०३ ॥

एष चाभ्यासकालः सर्वतत्त्वविषयो मन्तव्यः ॥ १०३ ॥

तदित्थं दिव्यदृष्ट्युत्पत्तौ—

त्रैलोक्ये यत्प्रवर्तेत प्रत्यक्षं तस्य जायते ।

समस्त पुरुषों के प्रति चित्रविचित्र प्रकाश प्रवृत्ति और स्थिति को देने के कारण यह प्रकृति अनेक वक्त्र पैर और हाथ वाली कही गयी है । तत्त्व = प्रकृति का जो बीजप्रक्रमप्राप्त प्रक्रिया के द्वारा उपलब्ध ऊकार, उसी से तत्त्वों की अधिष्ठात्री इसका ध्यान करना चाहिये । ऐसा कहते हुए ग्रन्थकार का यह आशय है कि परमेश्वर के द्वारा आभासित समस्त तत्त्वों में (अथवा सर्वतत्त्वमय परमेश्वर में) समस्त देवता स्थित रहते हैं । न कि ये तत्त्व जड हैं इस प्रकार यहाँ तत्त्व का ध्यान देवताप्रधान कहा गया । आत्मा की सिद्धि = प्रकृति से भिन्न की उपलब्धि ॥ १०२ ॥

इस प्रकार प्रकृति के बन्धन से मुक्त आत्मा—

सिद्ध, स्वतन्त्र और दिव्य दृष्टि वाला हो जाता है ॥ १०३- ॥

सिद्ध अर्थात् प्रकृति एवं विवेक के द्वारा उपलब्ध होने से स्वतन्त्र होता है, न तो वह प्रकृति के वशवर्ती होता है । इस प्रकार वह अपनी दिव्य एवं लोकोत्तर दृष्टि वाला होता है ॥

जितने काल तक (ध्यान करने से) यह सिद्धि मिलती है उसको बतलाने के लिये कहते हैं—

छह महिने के अभ्यास के द्वारा (साधक को) दिव्य दृष्टि प्राप्त होती है ॥ -१०३ ॥

इस अभ्यासकाल को सर्वतत्त्वविषयक समझना चाहिये ॥ १०३ ॥

इस प्रकार (साधक के अन्दर) दिव्य दृष्टि उत्पन्न होने पर—

तदेवं देवमनुष्यतिर्यग्रूपे लोकत्रये यत् सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टादिकं किञ्चित् प्रवर्तते प्रकृतितो जायते, तदस्य सर्वं प्रत्यक्षीभवति ॥

उपसंहरति—

एष ते प्राकृतो योग उक्तः...........

एवं प्रकृत्यन्ते शरीरे तत्त्वानां स्थितिं धारणादिक्रमेण च तत्तत्सिद्धिहेतुत्वमुक्त्वा, तत्त्वान्तरध्यानान्युपक्षेप्तुं प्रकृतिसाक्षात्कारान्मायासाक्षात्कारस्य लोकोत्तरतामादिशति देवः—

.................मोक्षकरः परः ॥ १०४ ॥

पर इति मायाख्यः प्रकृतेः साक्षात्कारयोगादपि पर उक्तः । स च मोक्षकरः, मायोत्तरणात् प्रभृत्येव हि मोक्षमार्गसोपानपदप्रवृत्तिः, पुंस्प्रकृतिविवेकज्ञानिनां पुनर्बन्धाविर्भावस्योक्तत्वादेव ॥ १०४ ॥

देहावस्थितिप्रकृत्यन्ततत्त्वेषु ध्यानपूर्वाः सिद्धीः प्रतिपाद्य, एतदधिष्ठातृपुंस्तत्त्वध्यानोत्थसिद्धिप्रतिपादनायाह—

त्रिलोक में जो कुछ भी घटित होता है वह सब उसे प्रत्यक्ष हो जाता है ॥ १०४- ॥

तो इस प्रकार देव मनुष्य तिर्यक् रूपी तीनो लोक में सूक्ष्म व्यवहित दूर आदि जो कुछ प्रवर्त्तित होता है = प्रकृति से उत्पन्न होता है । वह सब इसको प्रत्यक्ष हो जाता है ॥

(इस वर्णन का) उपसंहार करते हैं—

यह तुमको प्राकृतयोग बतलाया गया ॥ -१०४- ॥

इस प्रकार प्रकृति तक के शरीर में धारणा आदि के क्रम से तत्त्वों की स्थिति का कथन कर परमेश्वर तत्त्वान्तर के ध्यानों का प्रारम्भ करने के लिये प्रकृति के साक्षात्कार से माया के साक्षात्कार की लोकोत्तरता को बतलाते हैं—

दूसरा (योग) मोक्ष देने वाला है ॥ -१०४ ॥

पर = माया नामक (योग) प्रकृति के साक्षात्काररूपी योग से भी पर (= पश्चाद्वर्त्ती, उत्कृष्ट) कहा गया है और वह मोक्षप्रद है । माया को पार करने के बाद से ही मोक्षमार्ग की सीढ़ी का प्रारम्भ हो जाता है । क्योंकि पुरुष और प्रकृति के विवेक के ज्ञानी जनों का पुनः बन्धन होना कह दिया गया है ॥ १०४ ॥

देह में स्थित प्रकृति तक के तत्त्वों की ध्यान के द्वारा सिद्धियों का प्रतिपादन कर इनके अधिष्ठाता पुरुष तत्त्व के ध्यान से प्राप्त सिद्धियों के प्रतिपादन के लिये कहते हैं—

अतः परं तु पुरुषः............

ध्येय इति शेषः ॥

स च—

..............पद्ममध्ये व्यवस्थितः ।

'साक्षात् कृत्स्नमिमं देहं यद्यपि व्याप्य तिष्ठति ।
तथाप्यस्य परं स्थानं हृत्पङ्कजसमुद्गकम् ॥'

इति हृदब्जकर्णिकास्थः ॥

किमस्य स्वरूपम् ?—इत्याह—

चित्स्वरूपश्च............

चिन्मात्र एव । यथोक्तं शिवसूत्रेषु—

'चैतन्यमात्मा' (१।१) इति ॥

अत एवास्य भेदवाद्युपगतो न कश्चिद्वास्तवो भेद इत्याह—

..........सर्वेषु देहमापूर्य संस्थितः ॥ १०५ ॥

इसके बाद पुरुष का ध्यान करना चाहिये ॥ १०५- ॥

ध्यान करना चाहिए—यह शेष है ॥

और वह—

कमल के बीच बैठा हुआ है (ऐसा ध्यान करना चाहिये) ॥ -१०५- ॥

'(यह पुरुष) यद्यपि साक्षात् इस सम्पूर्ण देह को व्याप्त कर स्थित है तथापि इसका मुख्य स्थान हृदयकमल की कर्णिका है ॥'

(हृत्पङ्कजसमुद्गकम् का अर्थ है) हृदय कमल की कर्णिका, उसमें वह पुरुष स्थित है ॥

इसका स्वरूप क्या है ?—यह कहते हैं—

यह चित् स्वरूप है ॥ -१०५- ॥

यह केवल चित् स्वरूप है । जैसा कि शिवसूत्रों में कहा गया—

'चैतन्य ही आत्मा है ।' (शि.सू. १।१)

इसलिये इसका भेदवादियों के द्वारा स्वीकृत कोई वास्तविक भेद नहीं है । यह कहते हैं—

समस्त (प्राणियों) में (सबकी) देह को व्याप्त कर स्थित है ॥ -१०५॥

परमेश्वरमायाशक्तिवशादवभासितभेदेषु सर्वप्राणिषु संस्थितः, अतश्च तदुपाधिभेदादयं भिन्न इव न वस्तुत इति सर्वेष्विति संस्थित इति बहुवचनैकवचनयोराशयः ॥ १०५ ॥

इत्थं पुर्यष्टकसंङ्कोचनाभासनादेव च—

स जीव इति विख्यातो येन जीवति तत्पुरम् ।

पुरं शरीरम् ॥

एतदेव व्यतिरेकेण दर्शयति—

निर्गतेन मृता येन अचेताः शीर्यते तनुः ॥ १०६ ॥

इत्थं च मायाशक्त्या पुर्यष्टकादौ गृहीताभिमानोऽयम्—

बध्यते................

विश्वभित्तिभूतपरिपूर्णबोधरूपतया स्फुरन्नप्यसौ सङ्कोचावभासात्मना तावतांऽशेन स्वयमेव बध्यते । यथोक्तं प्राक्—

'आत्मना बध्यते ह्यात्मा' (१०।३६०) इति ॥

परमेश्वर की माया शक्ति के कारण अवभासितभेद वाले समस्त प्राणियों में (यह पुरुष) स्थित है । इसीलिये उस (शरीर रूपी) उपाधि के भेद के कारण यह भिन्न जैसा है । वस्तुतः भिन्न नहीं है । 'सर्वेषु संस्थितः' यहाँ 'सर्वेषु और संस्थितः में' बहुवचन और एक वचन के प्रयोग का यही आशय है अर्थात् 'सर्वेषु' से भेद और 'संस्थितः' से अभेद ध्वनित होता है ॥ १०५ ॥

इस प्रकार पुर्यष्टक के सङ्कोचाभास के कारण ही—

यह (पुरुष) जीव बतलाया जाता है जिसके कारण यह पुर जीवित रहता है ॥ १०६- ॥

पुरं = शरीर ॥

इसी को विपरीत रूप से दिखलाते हैं—

जिसके इस शरीर से निकल जाने पर चेतनरहित अत एव मृत यह शरीर शीर्ण हो जाता है ॥ -१०६ ॥

इस प्रकार मायाशक्ति के द्वारा पुर्यष्टक आदि में आत्मभिमानी यह—

बन्धन में डाल दिया जाता है ॥ १०७- ॥

विश्व की आधारभूत परिपूर्ण बोधरूपता में स्फुरित होता हुआ भी यह सङ्कोचावभास रूप उतने अंश से स्वयं बद्ध हो जाता है । जैसा कि पहले कहा गया—

यदा तु तेन भित्तिभूतेन शुद्धविद्याशक्त्या सङ्कोचावभासोऽस्य विलाय्यते, तदा—

.........मुच्यतेऽसौ वै.........

न च देहपातेऽस्य मुक्तिरपि तु जीवतोऽप्यस्येत्याह—

...............सुखदुःखानि वेत्ति च ।

उक्तं च प्राक्—

'जीवन्नेव विमुक्तोऽसौ यस्येयं भावना स्थिता' (७।२५९)

इति । देहपाते तु परमशिव एवासाविति कस्य कुतो मुक्तिरित्यभिहितमेव ॥

तदीदृशचितिमात्ररूपस्य—

न तस्य रूपं वर्णो वा प्रमाणं दृश्यते क्वचित् ॥ १०७ ॥

वर्णो ब्राह्मणादिः, रूपं सितादि, प्रमाणम् आरोहमहदादि, इदन्तानिर्देश्यत्वाभावात् । इदं च भेदस्यावास्तवतैवेत्यादिशति । अथ च चित्स्वरूपत्वात् सततं

'यह आत्मा अपने आप के द्वारा बद्ध होता है ।' (१०।३६०)

जब आधारभूत वह परिपूर्ण बोध शुद्धविद्याशक्ति के द्वारा इसके सङ्कोचावभास को विलीन कर देता है अर्थात् नष्ट कर देता है तब—

यह निश्चितरूप से मुक्त हो जाता है ॥ -१०७- ॥

ऐसा नहीं है कि शरीर के मरने पर ही इसकी मुक्ति होती है बल्कि शरीर के जीवित रहते हुए भी हो जाती है—यह कहते हैं—

वह सुखों और दुःखों को जानता है ॥ -१०७- ॥

पहले कहा भी गया है—

'जिस (साधक) की यह भावना दृढ़ हो गयी वह जीवित होता हुआ भी मुक्त है ।' (७।२५९)

देहपात होने पर तो यह परम शिव ही हो जाता है फिर किसकी, किसके कारण और क्यों मुक्ति होगी—यह कहा जा चुका है ॥

तो इस प्रकार केवल चैतन्य स्वरूप—

उसका कहीं भी वर्ण, रूप, रङ्ग अथवा परिमाण नहीं दिखाई पड़ता ॥ -१०७ ॥

वर्ण = ब्राह्मण आदि । रूप = शुक्ल आदि । प्रमाण = आरोह (= एक प्रकार की माप), महत् आदि (= ह्रस्व दीर्घ) । क्योंकि वह इदन्ता से निर्देश्य नहीं है । यह भेद की अवास्तविकता ही है—यह बतलाते हैं । इसके अतिरिक्त

प्रथमानमूर्तेरस्य प्रत्यक्षानुमानाद्याख्यं नवार्थाभासरूपं प्रमाणं न क्वचिद् दृश्यते, नैवोपपद्यते । यथोक्तं श्रीप्रत्यभिज्ञायाम्—

'प्रमातरि प्रमाणे तु सर्वदा भातविग्रहे ।
किं प्रमाणं नवाभासः सर्वप्रमितिभागिनि ॥' (२।३।१६) इति ।

श्रुत्यन्तरेष्वपि—

'विज्ञातारमरे केन विजानीयात्' (बृ.उ. २।४।१४) इति ।

क्वचिच्छब्देनासम्भाव्य एवायमर्थ इत्यादिष्टं भगवता ॥ १०७ ॥

यतश्चायं न कथञ्चिद्विषयीक्रियते, अत एव—

न शक्यः कथितुं वापि............

अपिशब्दात् सङ्कल्पयितुं वा ॥

अतश्चायम्—

................सूक्ष्मश्चानन्तविग्रहः ।

अत एव व्यनक्ति—

चित्स्वरूप होने के कारण निरन्तर विस्तीर्यमाण मूर्त्ति वाले इसके विषय में नवीन अर्थों के अवभासक प्रत्यक्ष अनुमान आदि प्रमाण भी कहीं नहीं दिखायी देते अर्थात् युक्तिसङ्गत नहीं होते । जैसा कि ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में कहा गया—

'जिसका शरीर सर्वदा भासित हो रहा है ऐसे सर्वप्रमिति के भागी प्रमाता और प्रमाण के विषय में नया आभास रूप प्रमाण कैसा ?' (ई.प्र. २।३।१६)

दूसरी श्रुति में भी—

'विज्ञाता को किसके द्वारा जाना जाय ।' (बृ०उ० २।४।१४)

(श्लोकस्थ) 'क्वचित्' शब्द से, परमेश्वर ने यह बतलाया है कि यह अर्थ असम्भाव्य है ॥ १०७ ॥

चूँकि यह किसी का विषय नहीं बनता, इसलिये—

इसका वर्णन नहीं हो सकता ॥ १०८- ॥

'अपि' शब्द से यह कल्पना का विषय नहीं हो सकता (यह समझना चाहिये) ॥

इसलिये यह—

सूक्ष्म और अनन्त शरीर वाला है ॥ -१०८- ॥

इसलिये कहते हैं—

वालाग्रशतभागस्य शतधा कल्पितस्य तु ॥ १०८ ॥
तस्य सूक्ष्मतरो जीवः स चानन्त्याय कल्पते ।

वालस्य यदग्रं तस्य यः शतभागस्तस्य शतधा कल्पितस्येति तमपि सूक्ष्मतया तथा कल्प्यमानत्वादेव वेद्यपदपतितमनादृत्य प्रकृष्टः सूक्ष्मो जीवो येन केनापि प्रकारेण वेद्यः, तत एव चित्स्वरूपवेदकैकात्मकत्वादानन्त्याय देशकालाकारापरिच्छिन्नत्वादशेषैकात्म्याय कल्पते तद्रूपतया स्वस्वातन्त्र्यात् स्फुरति; न तु केनचित् तथा कल्प्यत इति । कल्पितत्वं कल्पनोत्थापितत्वम्, क्लृप्तिस्तु स्वयमेव तथावस्थितिः ॥

एवमकल्पितत्वादध्येयस्याप्यस्य वक्ष्यमाणकञ्चुकाविष्टस्यादूरविप्रकर्षेणोत्प्रेक्ष्यसिद्ध्यङ्गध्यानमाह—

आदित्यवर्णं रुक्माभमब्बिन्दुमिव पुष्करे ॥ १०९ ॥
पश्यन्ति तारकमिव योगिनो दिव्यचक्षुषा ।

आदित्यवर्णमिति तथा रुक्मस्य हेम्न इव आभा प्रकाशो यस्येत्यनेन दीप्तत्वमात्रमस्योक्तम्, न त्वाकृतिमत्त्वम्; पुष्करे पद्मेऽब्बिन्दुमिवेत्यनेन शरीरादि-

---

वाल के अग्रभाग को एक-सौ टुकड़ों में बाँटने पर एक टुकड़े का एक-सौ भाग करने पर एक भाग का जो सूक्ष्मतम अंश है वही जीव है । और वही अनन्त रूप में स्थित है ॥ -१०८-१०९- ॥

वाल का जो अग्र उसका जो सौवाँ भाग उसको १०० टुकड़ों में बाँटा जाय उसको भी उसी प्रकार सूक्ष्म बनाया जाय अर्थात् वह वेद्य न रह जाय ऐसा जो प्रकृष्ट सूक्ष्म जीव वह येन केन प्रकारेण अर्थात् अत्यन्त कठिनाई से वेद्य है । इसी कारण चित्स्वरूप वेदक से अभिन्न होने के कारण आनन्त्य के लिये अर्थात् देश काल आकार से अपरिच्छिन्न होने के कारण अशेष ऐकात्म्य के लिये समर्थ होता है अर्थात् अपने स्वातन्त्र्यवश उन-उन रूपों में स्फुरित होता है । ऐसा नहीं है कि कोई उसे उन रूपों में कल्पित करता है । कल्पित = कल्पना से उत्पादित । क्लृप्ति = स्वयमेव उस प्रकार की स्थिति ॥

इस प्रकार अकल्पित होने के कारण अध्येय भी इसका वक्ष्यमाण कञ्चुक से आवेष्टित तथा निकट और दूर के कारण उत्प्रेक्ष्य सिद्ध्यङ्गध्यान को बतलाते हैं—

योगी लोग अपनी दिव्य दृष्टि से इसको आदित्य के रूप का, स्वर्णाभ, कमल के ऊपर जल बिन्दु के समान तथा तारा के समान (चमकता हुआ) देखते हैं ॥ -१०९-११०- ॥

आदित्यवर्ण तथा सोने की भाँति जिसकी आभा अर्थात् प्रकाश है—इस कथन से इसकी प्रकाशकता को कहा गया न कि इसकी आकृति बतलायी गयी है ।

भूम्यस्पर्शित्वम्, तारकमिवेत्यनेन तु स्फुरत्तासारत्वम् । दिव्यचक्षुषेति स्वसंवेदनेन । अत्र च प्रातिलोम्येन नवात्मसम्बन्धी द्वितीयो वर्णो वाचकत्वेन प्रकरणानुसारं योजनीयः । तारकमित्यनेन च प्रकृतिबन्धात्तारकत्वमेव तद्ध्यानस्योक्तमिति सिद्धिरपि निर्दिष्टा । दिव्यचक्षुषेत्यनेनापि तद्ध्यानाद्योगिनोऽशेषप्रकाशकं चक्षुर्दिव्यमाविर्भवतीति सिद्धिनिर्देशः कृतः । तदेवं पुर्यष्टकवशिनोऽस्यैतद्ध्यानम्, वास्तवेन तु चितिमात्रात्मना रूपेण ध्यातैवायम्; न तु ध्येयः । चिदात्मैव च सर्वाधिष्ठातृदेवतेत्याशयेनात्मनोऽत्र देवतान्तराधिष्ठितत्वं नोक्तम् ॥

यश्चायं चितिस्वभावत्वात् वर्णरूपादिरहितः पुरुष उक्तः, असौ—

रागविद्याकलोपेतः कालबद्धो हि रूपवान् ॥ ११० ॥

प्राङ् निर्णीतरूपकलादितत्त्वपञ्चकात्मककञ्चुकावृत आत्मा रूपवानित्यादित्यवर्णत्वादिध्येयरूप उक्तः ॥ ११० ॥

अथ—

'प्रकृतिः पुरुषश्चैव' (५।११)

पुष्कर = कमल के ऊपर जलबिन्दु के समान, इस कथन से शरीर एवं भूमि के स्पर्श से शून्य यह है । तारा के समान कथन से इसकी स्फुरणामात्र की ओर सङ्केत किया गया । दिव्यचक्षु = अपने संवेदन से । यहाँ उल्टे क्रम से नवात्म सम्बन्धी (= प्रकृति से लेकर शिवपर्यन्त नव (द्रष्टव्य—स्व.तं. ५।११) = ऊकार) की प्रकरणानुसार वाचक के रूप में योजना करनी चाहिये । 'तारकम्' इस कथन से प्रकृति के बन्ध से उस ध्यान को तारक कहा गया अर्थात् सिद्धि भी बतलायी गयी । 'दिव्यचक्षुषा' से उसके ध्यान से योगी को सब कुछ दिखलायी पड़ने लगता है अर्थात् अशेषप्रकाशक दिव्य चक्षु आविर्भूत होता है—ऐसी सिद्धि का निर्देश किया गया । तो इस प्रकार पुर्यष्टकवशी इस (जीव) का यह ध्यान है । वस्तुतः तो चैतन्य के स्वरूप में यही ध्याता है न कि ध्येय । चिदात्मा ही सबकी अधिष्ठात्री देवता है इस आशय से आत्मा को यहाँ दूसरे देवता के द्वारा अधिष्ठित बतलाया गया ॥

चित्स्वभाव होने के कारण वर्ण रूप आदि से रहित जिस पुरुष का निर्वचन यहाँ किया गया वह—

राग विद्या कला से युक्त, काल से बद्ध तथा रूपवान् है ॥ -११० ॥

पूर्वोक्त रूप वाले कला आदि पाँच तत्त्वरूपी कञ्चुक से आवृत आत्मा रूपवान् अर्थात् आदित्यवर्णत्व आदि के रूप में ध्येय कहा गया ॥ ११० ॥

इसके बाद—

'प्रकृति और पुरुष' (५।११)

इत्यादिप्रोक्तनवात्मप्रक्रियया नियतिध्यानमाह—

श्यामवर्णेन विज्ञेया स्थिता जीवस्य देवता ।
दक्षिणेन सिताङ्गी तु वामेनासितरूपिणी ॥ १११ ॥

जीवस्य जीवता नियतिनियन्त्रणाप्राणैवेत्याशयेन देवतेत्युक्तम् । नियामकत्वादेव च श्यामा । श्यामच्छायत्वेऽपि चास्या दक्षवामभागयोः सितासितत्वेन धर्माधर्मोत्थापकत्वमुक्तम् ॥ १११ ॥

अस्याश्च—

तद्वर्णानि च वक्त्राणि मण्डलानि विशेषतः ।

दक्षिणे सितानि वामे चासितानीति वक्त्रचतुष्टयमपि दक्षिणतः सितं वामतोऽसितम् । मण्डलानीति वक्त्राङ्गोत्थितानि प्रभामण्डलकानि ॥

एषा च सितासितरूपत्वादेव पुरुषम्—

कर्मबन्धेन बध्नाति..............

अस्य च—

............सुखदुःखं प्रयच्छति ॥ ११२ ॥

इत्यादि पूर्वोक्त नवात्म प्रक्रिया के द्वारा नियति तत्त्व का ध्यान बतलाते हैं—

जीव की देवता (= स्वरूप) को श्याम वर्ण का समझना चाहिये । वह देवता अपनी दाँयीं ओर श्वेतवर्ण की और बाँयीं ओर कृष्णवर्ण की है ॥१११॥

जीव की जीवता नियति तत्त्व के नियन्त्रण में है इस आशय से उस (= जीवता को) देवता कहा गया । नियामक होने के कारण ही यह श्यामवर्ण की है । श्यामवर्ण होने पर भी इसके दाँये और बाँयें भाग शुक्ल और कृष्ण रूप वाले हैं अतः ये दोनों धर्म और अधर्म के उत्थापक हैं—ऐसा कहा गया ॥ १११ ॥

और इसके—

वक्त्र और मण्डल भी विशेषतः उसी वर्ण के हैं ॥ ११२- ॥

दक्षिण से शुक्ल और बायें से कृष्ण वर्ण के हैं । इसका तात्पर्य यह है कि चारो मुख दाँयें से शुक्ल और बाँयें से कृष्ण हैं (ऐसा नहीं है कि दा के दो मुख शुक्ल और बायें के दो मुख कृष्ण हैं) । मण्डल = मुख से निकला हुआ प्रभा का घेरा ॥

और यह (देवता) सितासित रूप होने के कारण ही पुरुष को—

कर्म बन्ध के द्वारा बन्धन में डालती है ॥ -११२- ॥

और इसको—

तदीदृशीमेनाम्—

नियतिं च विजानीयादनिवार्यां सुरासुरैः ।

सर्वो हि तन्नियन्त्रितः ॥

इत्थमेषा—

पूर्वबीजसहध्याना द्विरूपेण समन्विता ॥ ११३ ॥

पूर्वबीजेन प्रक्रान्तनवात्मसम्बन्धिना वकारेण सह ध्यानं तत्परामर्शसहितं चिन्तनं यस्याः, सा तथा प्रोक्तसितासितात्मकद्विरूपयुक्ता ॥ ११३ ॥

तस्याश्च—

ध्यानात् सिद्धिमवाप्नोति........

कासौ सिद्धिः ?—इत्याह—

..............नियतेश्च विमुच्यते ।

न भूयो नियत्या नियम्यत इत्यर्थः ॥

अथ कालतत्त्वध्यानमाह—

सुख दुःख देती है ॥ -११२ ॥

तो इस प्रकार की इसको—

नियति समझना चाहिये जो कि सुर और असुर के द्वारा अनिवार्य है ॥ ११३- ॥

क्योंकि (सुर असुर) सब उसके द्वारा नियन्त्रित हैं ॥

इस प्रकार यह—

पूर्व बीज के साथ ध्यान वाली तथा दो रूपों से युक्त है ॥ -११३ ॥

पूर्व बीज के साथ = प्रकरणप्राप्त नवात्मसम्बन्धी वकार के साथ ।. ध्यान = उसके परामर्श के सहित चिन्तन, है जिसका, वह । तथा उपर्युक्त शुक्ल कृष्ण नामक दो रूपों से युक्त है ॥ ११३ ॥

उसके—

ध्यान से (साधक) सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ ११४- ॥

यह सिद्धि क्या है—यह बतलाते हैं—

वह नियति (के बन्धन) से मुक्त हो जाता है ॥ -११४- ॥

अर्थात् पुनः वह नियति के द्वारा नियन्त्रित नहीं होता ॥

त्रिनेत्रं च चतुर्वक्त्रं कृष्णवर्णं चतुर्भुजम् ॥ ११४ ॥
संहरन्तं दुराधर्षमनन्तं कालमीश्वरम् ।

दुराधर्षं परमयोगिव्यतिरेकेण नान्येनाभिभवनीयम् । अनन्तमन्येनापरिच्छेद्यम् ईश्वरं विश्वसर्गसंहारप्रभविष्णुम् । ईदृशं कालं ध्यायेत् ॥

अतश्चास्य—

स्वबीजध्यानरूपज्ञः कालेन नहि कल्यते ॥ ११५ ॥

स्वबीजं नवात्मसम्बन्धी लकारः ॥ ११५ ॥

ये तु कालवञ्चनाय न यतन्ते, ते—

चक्रवत् परिवर्तन्ते कालध्यानविवर्जिताः ।

तदुक्तं तत्रभवता हरिणा—

'जलयन्त्रभ्रमावेशसदृशीभिः प्रवृत्तिभिः ।
स काल: कलयन् सर्वान् कालाख्यां लभते प्रभुः ॥' (३।९।१४)

इति ॥

अब काल तत्त्व के ध्यान को बतलाते हैं—

तीन नेत्र वाले, चार मुख वाले, कृष्ण वर्ण वाले, चार भुजा वाले, दुराधर्ष, अनन्त एवं संहार करते हुए काल नामक ईश्वर का (ध्यान करना चाहिये) ॥ -११४-११५- ॥

दुराधर्ष = परमयोगी को छोड़ कर किसी दूसरे से अपराजेय । अनन्त = किसी दूसरे से अपरिच्छेद्य । ईश्वर = विश्व की सृष्टि और संहार में समर्थ । इस प्रकार के काल का ध्यान करना चाहिये ॥

इस कारण इसके—

अपने बीज के ध्यान एवं रूप का ज्ञाता काल से कलित नहीं होता ॥ -११५ ॥

स्वबीज = नवात्म सम्बन्धी लकार ॥ ११५ ॥

और जो लोग काल को जीतने के लिये प्रयत्न नहीं करते—

कालध्यान से रहित होकर वे चक्र की भाँति (संसार में) घूमते रहते हैं ॥ ११६- ॥

वही श्रीमान् भर्तृहरि ने कहा है—

'वह काल जलयन्त्र (= अरघट्ट-रहट) के चक्कर के आवेश (= वेग) के

यत एवम्, तस्मादुक्तदेवतारूपम्—

एवं कालं सदा ध्यायेत्..........

एवं हि ध्यातुः प्रोक्तकालवञ्चनरूपा—

................ध्येयसिद्धिश्च जायते ॥ ११६ ॥

न केवलं कालाधिकारोक्तमृत्युञ्जयप्रकारात् कालजयो भवति, यावत्प्रोक्तकालध्यानादपीत्यर्थः ॥ ११६ ॥

एवंप्रकारावमृष्टप्रकृत्यन्ततत्त्वध्यानादनन्तरं य-व-लकारवाच्यं पुंनियतिकालानां सिद्ध्यङ्गध्यानमुक्त्वा, नवात्मप्रक्रियया पुमादितत्त्वत्रयेण सह यथाक्रमं युगलकस्थित्या निरूपितानामत एव तद्वर्णावमृश्यानां रागविद्याकलानामपि ध्यानमाह—

रागं तु रक्तवर्णं वै विद्यां श्यामां सुलोचनाम् ।
सितवर्णां कलां ध्यायेच्चैतन्योन्मीलिनीं तु ताम् ॥ ११७ ॥

सुलोचनामिति काकाक्षिवत् । अत्रापि चतुर्वक्त्रचतुर्भुजत्वे प्राग्वदनुसरणीये ।

समान प्रवृत्तियों के द्वारा सबकी कलना करता हुआ काल नाम को प्राप्त करता है ।' (३।९।१४) ॥ ११५- ॥

चूँकि ऐसा है इसलिये उक्त देवतारूप—

इस प्रकार के काल का सदा ध्यान करना चाहिये ॥ -११६- ॥

उस प्रकार का ध्यान करने वाले को पूर्वोक्त कालजय रूपा—

ध्येय सिद्धि प्राप्त होती है ॥ -११६ ॥

(ऐसा साधक) न केवल कालाधिकार में वर्णित मृत्युञ्जय के प्रकार से कालजयी होता है वरन् उपर्युक्त काल के ध्यान से भी (कालजित् होता है) ॥ ११६ ॥

इस प्रकार से अवमृष्ट प्रकृतिपर्यन्त तत्त्वध्यान के बाद य व ल से वाच्य पुरुष नियति काल नामक तत्त्वों की सिद्धि के अङ्गभूत ध्यान का निरूपण कर नवात्म प्रक्रिया के द्वारा पुरुष आदि तीन तत्त्वों के साथ क्रमशः युगलक स्थिति के अनुसार निरूपित अत एव उसके वर्ण से अवमृश्य राग विद्या कला तत्त्वों के भी ध्यान को बतलाते हैं—

राग देवता को रक्तवर्ण की, विद्या को श्वेतवर्ण सुन्दर नेत्रों वाली, कला देवता को श्वेतवर्ण वाली सुन्दर नेत्रों वाली तथा चैतन्य का उन्मीलन करने वाली के रूप में ध्यान करना चाहिये ॥ ११७ ॥

'सुलोचनाम्' इस पद को काक की आँख की भाँति ('विद्याम्' और 'कलाम्' दोनो पदों से जोड़ना चाहिये) । यहाँ भी चतुर्वक्त्रत्व और चतुर्भुजत्व का पूर्व की

कलाया विशेषणं चैतन्योन्मीलिनीमिति । यथोक्तं प्राक्—

'कलोन्मीलितचैतन्यो' (११।९८) इति ।

एतच्च—

'विद्यादर्शितगोचरः' (११।९८)

इत्यादिकोपलक्षणपरम् । तानि च तत्त्वान्यात्माश्रये हृदि ध्यानक्रमसाक्षात्कारतो वेद्यीकरणीयानि ॥ ११७ ॥

व्यामोहकत्वप्रशमनाय मायाया ध्यानमाह—

कृष्णवर्णा च रक्ताक्षी दीर्घदन्ता सुलोचना ।
कचोर्ध्वपिङ्गकेशी च स्थूलकाया महोदरी ॥ ११८ ॥

सर्वजन्तुव्यामोहकत्वादस्या ईदृग्रूपं ध्यानमुक्तम् । कचेषूर्ध्वमित्युत्थिताः पिङ्गाः केशा यस्याः । इह यद्यपि केषाञ्चित् तत्त्वानां स्वरूपमात्रं ध्यानमुक्तमन्येषामाकृतिमद्देवतारूपत्वं तद्देवताधिष्ठितत्वम्, तथापि सर्वत्र तत्तदाभासरूपाणां तत्त्वानां तत्तद्देवताधिष्ठितत्वमेव साध्विति तत्तद्देवताधिष्ठितमूर्तीन्येव सर्वतत्त्वानि ध्यातव्यानि ॥ ११८ ॥

भाँति अनुसरण करना चाहिये । 'चैतन्योन्मीलिनीम्' यह कला का विशेषण है ।

जैसा कि पहले कहा गया—

'कला के द्वारा उन्मीलित चैतन्य वाला ।' (११।९८)

और यह—

'विद्या के द्वारा दर्शित विषय वाला ।' (११।९८)

इत्यादि का उपलक्षण है । इन तत्त्वों का आत्मा के आश्रयभूत हृदय में ध्यानक्रम के साक्षात्कार से ज्ञान करना चाहिये ॥ ११७ ॥

(जीवों के) व्यामोह के प्रशमन के लिये माया का ध्यान कहते हैं—

काले रङ्ग की, लाल आँखों वाली, दीर्घ दाँतों वाली, सुलोचना, ऊपर उठे पिङ्ग (= नारङ्गी रङ्ग अथवा केसर के रङ्ग के) बालों वाली, स्थूलकाया विशाल उदर वाली (माया का ध्यान करना चाहिये) ॥ ११८ ॥

समस्त जीवों के व्यामोहक होने के कारण इस (= माया) का इस प्रकार का रूप कहा गया । 'कचेषूर्ध्वं' का अर्थ है कि ऊपर खड़े उठे हुए तथा पिङ्गल वर्ण के केश हैं जिसके (वह) । यहाँ यद्यपि कुछ तत्त्वों का केवल स्वरूपध्यान कहा गया है और अन्य तत्त्वों का आकृति वाली देवतारूप अर्थात् उस देवता से अधिष्ठित रूप (का ध्यान कहा गया है) तथापि सर्वत्र तत्तत् आभास रूप तत्त्व तत्तद् देवता से अधिष्ठित हैं यही मत साधु है । इसलिये तत्तद् देवताओं से

सर्वजन्तुव्यामोहकत्वमेवास्याः स्फुटयति:—

या पातयति भूतानि ब्रह्माद्यानि पुनः पुनः ।

पातयति स्वरूपाच्छादनप्रमुखं संसारीणि कुरुते ॥

ततश्च तैः—

निर्वैरपरिपन्थित्वान्माया ग्रन्थिर्दुरुत्तरा ॥ ११९ ॥

निर्वैरं निष्कारणमेव परमेश्वरस्वातन्त्र्यशक्तिरूपा माया परिपन्थिनी पूर्णस्वरूप-गोपनेन सङ्कुचितक्षेत्रज्ञस्वरूपोत्थापिका, तद्रूपत्वादेव च पुम्बन्धिका माया ग्रन्थि-रित्युच्यते ॥ ११९ ॥

अतश्च परमेश्वरानुग्रहं विना न केनचिदुत्तीर्यत इत्याह—

साङ्ख्यवेदपुराणज्ञा अन्यशास्त्रविदश्च ये ।
न तां लङ्घयितुं शक्ता ये चान्ये मोक्षवादिनः ॥ १२० ॥

अन्यशास्त्रममाहेश्वरम् ॥ १२० ॥

अधिष्ठित मूर्त्ति वाले ही समस्त तत्त्वों का ध्यान करना चाहिये ॥ ११८ ॥

इस (= माया) की सर्वजन्तुव्यामोहकता को स्पष्ट करते हैं—

जो कि ब्रह्मा आदि प्राणियों को बार-बार पतन की ओर ले जाती है ॥ ११९- ॥

पतित करती है—स्वरूप का आच्छादन कर संसारी बनाती है ॥

इसके फलस्वरूप उन (= ब्रह्मा आदि) के द्वारा—

निर्वैर परिपन्थिनी होने के कारण यह माया ग्रन्थि दुस्तरणीय कही गयी है ॥ -११९ ॥

निर्वैर अर्थात् बिना किसी कारण के, परमेश्वर की स्वातन्त्र्यशक्ति रूपा माया, परिपन्थिनी = पूर्णस्वरूप के गोपन के द्वारा संकुचित क्षेत्रज्ञ स्वरूप की उत्थापिका है और इस रूप वाली होने के कारण ही पुरुष को बन्धन में डालने वाली यह माया ग्रन्थि (=गाँठ) कही जाती है ॥ ११९ ॥

इसलिये परमेश्वर के अनुग्रह के बिना कोई भी इसको पार नहीं कर पाता—यह कहते हैं—

सांख्य वेद पुराणों के ज्ञाता, अन्य शास्त्रों के वेत्ता तथा जो अन्य मोक्षवादी हैं वे उसका लङ्घन करने में समर्थ नहीं होते ॥ १२० ॥

अन्य शास्त्र = शिव शास्त्र से भिन्न शास्त्र ॥ १२० ॥

यतः सर्व एव ते—

क्लिश्यन्ति मायया भ्रान्ता अमोक्षे मोक्षलिप्सया ।

स्वच्छस्वच्छन्दचिद्घनपरभैरवैक्यापत्त्यात्मना मुक्तेरन्यो यः कश्चिन्मोक्ष उच्यते, स तावदध्वौत्तीर्णतायामपीतराध्वानुत्तरणादमोक्षे मोक्षावभासः ॥

स्वबीजध्यानयोगेन पूर्वध्यानस्वरूपतः ॥ १२१ ॥
दीक्षासिना च तां छित्त्वा विशन्ति शिवमव्ययम् ।

स्वबीजं नवात्मसम्बन्धी मकारस्तस्य ध्यानं परामर्शस्तत्प्रधानेन सहितं यत् पूर्वोक्तम्—

'कृष्णवर्णा च रक्ताक्षी' (१२।११८)

इत्यादि ध्यानं तत्स्वरूपतो हेतोर्या पूर्वोक्ता निरूपिता दीक्षा सैवासिः खड्गस्तेन तां मायां छित्त्वा शिवं विशन्ति तदैकात्म्यमायान्ति ॥

शुद्धविद्याध्यानमाह—

चतुर्वर्णा भवेद्विद्या सा वर्णव्यापिनी स्मृता ॥ १२२ ॥

क्योंकि ये सभी—

माया के द्वारा भ्रम में डाले गये हो कर अमोक्ष में मोक्ष की इच्छा से क्लेश के भागी होते हैं ॥ १२१- ॥

स्वच्छ स्वच्छन्द चिद्घन परमेश्वर के ऐक्य वाली मुक्ति से भिन्न जो कोई मुक्ति कही जाती है वह (उन शास्त्रों के अनुसार) उतने अध्वा के उत्तीर्ण होने पर भी इतर (अर्थात् अन्य शास्त्रों में अवर्णित किन्तु शिव शास्त्र में वर्णित) अध्वा को पार न करने के कारण अमुक्ति में मुक्ति का आभास मात्र है ॥

(शैवी साधना में निरत लोग) अपने बीज के ध्यान के द्वारा पूर्वोक्त ध्यान के स्वरूप के कारण उस (= माया) को दीक्षा रूपी खड्ग से काट कर अव्यय शिवसाम्य को प्राप्त हो जाते हैं ॥ -१२१-१२२- ॥

स्वबीज = नवात्म सम्बन्धी मकार । उसका ध्यान = परामर्श, उस प्रधान के सहित जो पूर्वोक्त—

'कृष्णवर्ण वाली तथा रक्तनेत्रों वाली ।' (१२।११८)

इत्यादि ध्यान उसके स्वरूप की जो दीक्षा वही है खड्ग उसके द्वारा उस माया का छेदन कर शिव तत्त्व में प्रविष्ट हो जाते हैं अर्थात् उससे ऐकात्म्य को प्राप्त करते हैं ॥

शुद्धविद्या के ध्यान को बतलाते हैं—

सितरक्तपीतकृष्णा ध्यातव्या सुषिरात्मिका।
आकाशवायुमारूढा रूपयौवनशालिनी ॥ १२३ ॥

इह

'सामानाधिकरण्यं च सद्विद्याहमिदन्तयोः' (३।१।३)

इति प्रत्यभिज्ञायां निर्दिष्टरीत्याऽशेषवाच्यवाचकाविभागप्रकाशमय्याः शुद्धविद्यायाः सर्ववाचकतद्वाच्यव्यापि रूपमित्थमादिशति परमेश्वरः । तथाहि चतुर्भिरम्बाज्येष्ठारौद्रीवामाख्यैर्बिन्दुसृष्टरेखाशृङ्गाटकार्धचन्द्रसन्निवेशैरागमोक्तरूपैर्वर्णनं स्वरूपव्यक्तीकरणं यस्याः, अतश्च वर्णानामादिक्षान्तानां व्यापिनी प्रोक्तशक्तिचतुष्टयक्रमेण पञ्चाशद्वर्णभट्टारकात्मकस्वरूपोत्थापिका स्मृतेत्यविच्छिन्नेन पारम्पर्येणाधीतेत्यनेन समस्तवाचकव्यापि रूपमस्या उक्तम् । सितेत्यादिना तु समस्तवाच्यवाचकपञ्चतत्त्वदीक्षानिरूपितनीत्या पृथिव्यादितत्त्वपञ्चकात्मनो विश्वस्य पीतसितरक्तकृष्णसुषिरात्मकत्वात् तद्व्यापिन्या देव्यास्तथारूपतोक्ता । यतश्चास्याः प्रतिपादितयुक्त्या समस्तवाचकव्यापित्वमत एवेयमाकाशवायुं सर्ववर्णोदयास्पदं सौषुम्नं पदमारूढा । पूर्वोक्तनीत्या वर्णकुण्डलिन्याः प्राणकुण्डलिनीवाहनत्वादशेषवाच्यपरिपूर्णत्वादेव चेयं रूपयौवनशालिनी उक्ता । चतुर्वक्त्रैत्यादिरपपाठः, भुवनाधिकारे—

'अष्टवर्गविभिन्ना तु विद्या सा' (१०।११४४)

इत्युपक्रम्य विद्याधिष्ठितानां वामादिशक्तीनामपि—

'तप्तचामीकराकाराः पञ्चवक्त्राः' (१०।११४६)

इत्यादिध्यानाभिधानात् ॥ १२३ ॥

तदीदृश्येषा—

स्वबीजेन तु सा ध्येया............

नवात्मसम्बन्धिना क्षकारेण ककारसकाराकारपिण्डीकरणयुक्त्या स्वीकृतविश्वात्मना कूटबीजेन परामृष्टव्या ॥

एवं च साधकस्याशेषविश्वप्रकाशात्मिका—

..............तत्सिद्धिश्चैव जायते ।

चकारेण दण्डापूपिकान्यायेनाणिमादिसम्पत् समुच्चिता ॥

शुद्धविद्या चार रूपों में वर्णन की जाने वाली, (आदि क्षान्तत पचास) वर्णों में व्याप्त, श्वेत रक्त पीत कृष्ण वर्णों वाली, सुषिर स्वरूपा, आकाश और वायु पर आरूढ़ तथा रूपयौवनसम्पन्न है—ऐसा ध्यान करना चाहिये ॥ -१२२-१२३ ॥

यहाँ—

'शुद्धविद्या तथा अहन्ता इदन्ता का सामानाधिकरण्य होता है ।' (ई.प्र. ३।१।३)

इस प्रकार ईश्वरप्रत्यभिज्ञा में निर्दिष्ट इस नीति के अनुसार परमेश्वर समस्त वाच्यवाचक के अविभाग रूप प्रकाशमयी शुद्धविद्या के सर्ववाचक और उसके वाच्य के व्यापी रूप को बतलाते हैं—(चतुर्वर्णा का अर्थ है—)

आगम में उक्त बिन्दु सृष्ट रेखा शृङ्गाटक तथा अर्धचन्द्र सन्निवेश वाले रूपों के द्वारा अम्बा ज्येष्ठा रौद्री और वामा नामो के द्वारा वर्णन अर्थात् स्वरूप की अभिव्यक्ति है जिसकी (वह 'चतुर्वर्णा' कहलाती है) । इसलिये अकार से लेकर क्षकार तक पचास वर्णों को व्याप्त करने वाली अर्थात् उपर्युक्त अम्बा आदि चार शक्तियों के क्रम से पचास वर्ण को प्रकट करने वाली कही गयी है अर्थात् अविच्छिन्न परम्परा से अधीत है । इस कथन से इसका रूप समस्त वाचकों का व्यापक है—यह बतलाया गया । 'सितरक्त.....' इत्यादि कथन के द्वारा समस्त वाच्य वाचक पञ्चतत्त्वदीक्षा में निरूपित नीति के द्वारा पृथिवी आदि पाँच तत्त्वात्मक विश्व के पीत शुक्ल रक्त और कृष्ण सुषिर (= छिद्र) रूप होने से उनकी व्यापिनी देवी का भी वही रूप है—यह बतलाया गया । चूँकि प्रतिपादित युक्ति के अनुसार यह समस्त वाचक की व्यापिनी है; इसलिये यह समस्त वर्णों के उदय के स्थान आकाशवायु रूप सुषुम्नापद पर आरूढ़ होती है । पूर्वोक्त नीति के अनुसार चूँकि प्राणकुण्डली वर्णकुण्डली की वाहिका है । फलतः समस्त वाच्य से परिपूर्ण होने के कारण यह रूपयौवनशालिनी कही गयी है । ('चतुर्वर्णा' के स्थान पर) 'चतुर्वक्त्रा' पाठ अशुद्ध है क्योंकि भुवनाधिकार में—

'वह विद्या आठ वर्ग से विभक्त है ।' (१०।११४४)

ऐसा प्रारम्भ कर शुद्धविद्या से अधिष्ठित वामा आदि शक्तियों को भी—

'तप्त सुवर्ण के आकार वाली तथा पाँच मुखों वाली ।' (१०।११४६)

इत्यादि के रूप में ध्यान कहा गया है ॥ १२३ ॥

तो इस प्रकार की—

इसका अपने बीज से ध्यान करना चाहिये ॥ १२४- ॥

नवात्म सम्बन्धी क्षकार, जो कि 'क' एवं 'स' (= ष) के मिश्रण से विश्व का कूट बीज माना गया है, के द्वारा इसका परामर्श करना चाहिये ॥

इस प्रकार साधक को समस्त विश्व की प्रकाशक—

उस (= विश्व) की सिद्धि प्राप्त होती है ॥ -१२४- ॥

श्लोक में उक्त चकार के द्वारा दण्डापूपीय न्याय[1] से अणिमा आदि सिद्धियों

---

१. दण्ड और अपूप एक साथ रखे हुए थे । चूहा दण्ड को खा गया यह पता चला तो अपूप भी खा गया होगा ऐसा निश्चय होता है ।

तदेषाऽशेषविश्वात्मताप्रथनयुक्त्याऽनुत्तरधामविकासात्मकपरफलपर्यवसायिनी—

दिव्या सिद्धिरमोघा तु............

अतश्चायं साधकः—

...............सिद्धविद्यश्च जायते ॥ १२४ ॥

सिद्धा वशवर्तिन्यः सप्तकोटिसङ्ख्या विद्या यस्य ॥ १२४ ॥

किं च—

वेद लोकांस्ततः सर्वान्............

लोकयन्तीति लोका रुद्रक्षेत्रज्ञाः, लोक्यन्ते इति लोकाः शुद्धविद्यादिक्षित्यन्तानन्ततत्त्वादिमायापदार्थाः, तान् वेत्ति स्वाधारवर्तिनः सर्वान् स्वसामानाधिकरण्येन पश्यति ॥

न केवलमयं सर्वज्ञो भवति, यावत्—

.............कामरूपी स गच्छति ।

की भी प्राप्ति सङ्केतित है ॥ १२३- ॥

समस्त विश्व के विस्तार की युक्ति से अनुत्तर धाम के विकास रूप परम फल को दिलाने वाली यह—

दिव्य एवं अमोघ सिद्धि है ॥ -१२४- ॥

इसलिये यह साधक—

सिद्ध विद्या वाला.हो जाता है ॥ -१२४ ॥

('सिद्धविद्य' का अर्थ है—) सात करोड़ संख्या वाली विद्यायें जिसको सिद्ध = वशीभूत हों, वह ॥ १२४ ॥

तथा—

तत्पश्चात् (वह साधक) समस्त लोकों को जान लेता है ॥ १२५- ॥

('लोक' शब्द की व्याख्या बतलाते हैं—) जो लोकन करते हैं (अर्थात् देखते हैं) वे लोक हैं = रुद्र क्षेत्र को जानने वाले । (एक दूसरी भी व्याख्या है—) जिनको देखा जाय वे भी लोक हैं अर्थात् शुद्धविद्या से लेकर पृथिवी तक के अनन्त तत्त्व आदि मायीय पदार्थ । उनको जानता है = अपने आधारवर्ती समस्त पदार्थों को अपने में आधृत देखता है ॥

यह साधक केवल सर्वज्ञ ही नहीं होता बल्कि—

कामरूपी हो जाता है ॥ -१२५- ॥

शिववत् स्वेच्छामात्रेण तत्तदाकारनिर्माता भवतीति यावत् ॥

अथेश्वरतत्त्वप्रभोरीश्वर(स्य)[१] प्रागादिवक्त्रध्यानमाह—

कुङ्कुमाभं च नारेशं त्रिनेत्रं तु जटाधरम् ॥ १२५ ॥
पूर्वाननमभिध्यायेत्..............

नराणामीश्वरस्यानुग्रहादिकर्तुस्तत्पुरुषभट्टारकस्येदं नारेशम् । अर्धनारीशमित्यपपाठः । भुवनाध्वनि—

'तस्योत्सङ्गता विद्या' (१०।११५८)

इत्युक्तत्वादर्धनारीश्वरतयायाः का सङ्गतिः? ॥

तदीदृशं यत् पूर्वमाननम्, तद्ध्यानात् प्रकृष्टतपोनिष्ठस्य—

............वायुभक्षस्य यत्फलम् ।

तत्पुण्यफलमाप्नोति................

वायुव्याप्त्याऽस्य वक्त्रस्यागम उक्तत्वात् तद्ध्यानप्रारम्भ एतद्ध्यातुः फलमिहैवाविर्भवति ॥

शिव के समान अपनी इच्छा से अपने को मनोवाञ्छित रूप में बदल लेता है (तथा जहाँ चाहे वहाँ जा सकता है) ॥

अब ईश्वर तत्त्व के अधिष्ठाता ईश्वर के पूर्व आदि मुखों का ध्यान बतलाते हैं—

पूर्वमुख का, तीन नेत्र वाला जटाधारी, कुङ्कुम की आभा वाला तथा नारेश के रूप में ध्यान करना चाहिये ॥ -१२५-१२६- ॥

(नारेश का अर्थ है—) नरों के ईश्वर अनुग्रहकर्त्ता तत्पुरुषभट्टारक उनका जो (मुख वह) नारेश है । (नारेशं के बदले) 'अर्धनारीशं' पाठ अशुद्ध है क्योंकि भुवनाध्वा के वर्णन में—

'उसकी गोद में शुद्धविद्या रहती है ।' (१०।११५८)

ऐसा कथन होने से अर्धनारीश्वरता की इसके साथ सङ्गति कैसे हो सकती है?

तो इस प्रकार का जो पूर्वमुख है उसके ध्यान से—

वायुभक्षण करने वाले प्रकृष्ट तपस्वी को जो फल मिलता है (साधक) उस पुण्यफल को प्राप्त करता है ॥ -१२६- ॥

आगम में इस वक्त्र को वायु से व्याप्त कहा गया है । इस कारण इस वक्त्र के ध्यान के प्रारम्भ में ही इसके ध्याता को यह फल यहीं प्राप्त हो जाता है ॥

---

१. श्वर प्रा ।

क्रमात्—

................अश्वमेधायुतस्य च ॥ १२६ ॥

फलमाप्नोति ॥ १२६ ॥

ध्यानप्रकर्षाच्चास्य—

जगच्च वशमायाति..............

यतः सर्वत्र जगत्रये—

..............क्रमते सिद्धिमेति च ।

तत्तद्भुवनेशवत् प्रभवति, अणिमादिमांश्च भवति ॥

एतच्चास्य—

षड्भिर्मासैरसन्देहः..................

मासषट्कध्यानाद् निश्चितं भवतीत्यर्थः ॥

दक्षिणस्य ध्यानं वक्तुमुपक्रमते—

..............दक्षिणं च तथैव हि ॥ १२७ ॥

ईश्वरस्य । त्रिनेत्रं ध्यायेदिति तथैवेत्यस्यार्थः ॥ १२७ ॥

और फिर क्रम से—

(साधक) दश हजार अश्वमेध यज्ञ का फल प्राप्त करता है ॥ -१२६ ॥

फल को प्राप्त करता है—यह जोड़ना चाहिए ॥ १२६ ॥

ध्यान के प्रकर्ष के कारण—

सम्पूर्ण संसार इसके वश में हो जाता है ॥ १२७- ॥

जिसके फलस्वरूप यह तीनो लोक में—

चङ्क्रमण करता है और सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ -१२७- ॥

अर्थात् तत्तद् भुवनेश्वरों की भाँति समर्थ एवं अणिमा आदि से युक्त होता है ॥

यह (सिद्धि) इसको—

निःसन्देह छह महीने के अन्दर मिलती है ॥ -१२७- ॥

छह महीने तक ध्यान करने से निश्चित सिद्धि मिलती है ॥

दक्षिण वक्त्र का ध्यान बतलाते हैं—

ईश्वर के दक्षिण मुख का ध्यान भी उसी प्रकार करना चाहिये ॥-१२७॥

विशेषं त्वाह—

नीलाम्बुदप्रतीकाशं पिङ्गभ्रूश्मश्रुलोचनम् ।
भ्रुकुटीकरालवक्त्रं च कपालाहिविभूषितम् ॥ १२८ ॥
बहुरूपजटाधारं दक्षिणं तस्य चिन्तयेत् ।

वक्त्रं चेति चस्त्वर्थो विशेषद्योतकः । द्वितीयो दक्षिणशब्दः साधकानुकूल्यवाची ॥

इत्थं चैतत्—

सुखदुःखविनाशाय ईतिज्वरविनाशनम् ॥ १२९ ॥

विशेषस्तु—

विषग्रहादि सर्वं तु ध्यानान्नाशयते क्षणात् ।

किञ्च—

अग्निवज्ज्वलते योगी जरामृत्युविवर्जितः ॥ १३० ॥

'ईश्वर के' यह शेष है । 'तथैव' का अर्थ है—तीन नेत्र वाला ध्यान करना चाहिये ॥ १२७ ॥

(दक्षिण मुख के) विशेष स्वरूप को बतलाते हैं—

(उनका शरीर) नील बादल के समान है । भौंह दाढ़ी और आँखें पिङ्ग वर्ण की हैं । भ्रुकुटी और मुख विकराल हैं । (हाथ में) कपाल तथा सर्प का अलङ्कार धारण किये हैं (अथवा कपाल अर्थात् शिर पर सर्प का अलङ्कार धारण किये हुए हैं) । बहुरूप, जटा को धारण किये हुए उनके दक्षिण (= दक्ष, अनुकूल) मुख का चिन्तन करना चाहिये ॥ १२८-१२९-॥

'वक्त्रं च' यहाँ पर चकार विशेष अर्थ को बतलाता है । (श्लोकस्थ) दूसरा 'दक्षिण' शब्द साधक के प्रति उसकी अनुकूलता को बतलाता है ॥

इस प्रकार यह (मुख)—

(सांसारिक क्षणिक सुख जो कि परिणाम में) दुःखस्वरूप है उसके विनाश के लिये तथा ईति एवं ज्वर के नाश के लिये है ॥ -१२९ ॥

विशेष रूप से—

(साधक) इसके ध्यान से विष ग्रह आदि (से जन्य अनिष्ट) को एक क्षण में नष्ट कर देता है ॥ १३०- ॥

और भी—

ऐसा योगी जरा और मृत्यु से रहित होकर अग्नि के समान देदीप्यमान

क्रमते सर्वलोकान् वै सिद्धश्च समतां व्रजेत् ।

सिद्धः प्राग्वद् मासषट्कध्यानात् । क्रमते स्वामित्वेनाधितिष्ठति । समतां व्रजेत् परमेशसाम्यमेति ॥

पश्चिमवक्त्रध्यानमाह—

सितं त्रिनयनं देवि साक्षसूत्रकमण्डलु ॥ १३१ ॥
पश्चिमं वदनं ध्यायेद्दिव्यसिद्धिप्रदायकम् ।

दिव्यसिद्धिरणिमादिका ॥

इयांश्चैतद्ध्यानस्य महिमा, यत्—

हत्वा प्राणिसहस्राणि परदारशतानि च ॥ १३२ ॥
अलेपको विशुद्धात्मा सिद्धिं प्राप्य शिवो भवेत्।

हन्तिरिह हिंसार्थो गत्यर्थश्च क्रमेण । न केवलं प्राप्तसाधकदीक्षः सद्योवक्त्रध्यानादणिमादिसिद्धिं प्राप्य शिवो भवति, यावद् महापातक(मु)[1]क्तोऽपीत्यर्थः ।

होता है । समस्त लोकों में उसकी गति हो जाती है । सिद्ध हुआ वह शिवसाम्य को प्राप्त हो जाता है ॥ -१३०-१३१- ॥

सिद्ध—पूर्व की भाँति छह महीने तक ध्यान करने से । क्रमण करता है = स्वामी के रूप में अधिष्ठित होता है । समता को प्राप्त होता है = शिवसाम्य लाभ करता है ॥

पश्चिम मुख के ध्यान को बतलाते हैं—

हे देवि ! श्वेतवर्ण, तीन नेत्रों वाले, अक्षमाला एवं कमण्डलु को (हाथों में) लिये हुए, दिव्य सिद्धिदायक पश्चिम मुख का ध्यान करना चाहिये ॥ -१३१-१३२- ॥

दिव्य सिद्धि = अणिमा आदि ॥

इनके ध्यान की इतनी महिमा है कि—

हजारों प्राणियों की हिंसा एवं सैकड़ों परायी स्त्रियों (के साथ समागम करने) के बाद भी पाप से निर्लिप्त विशुद्धात्मा (योगी) सिद्धि को प्राप्त कर शिव हो जाता है ॥ -१३२-१३३- ॥

उक्त श्लोक में 'हन्' धातु का प्रयोग क्रमशः हिंसा एवं गमन दोनों अर्थों में हुआ है । साधकदीक्षा को प्राप्त साधक ही सद्योजात वक्र के ध्यान से अणिमा आदि सिद्धि को प्राप्त कर केवल शिव ही नही होता वरन् महापातक से मुक्त भी

१. यु ।

अतश्च प्रायश्चित्तविषमप्येतद्ध्यानं निरूप्यमित्यादिष्टम् ॥

उत्तरास्यध्यानमाह—

त्रिनेत्रमुत्तरं वक्त्रं रक्तोत्पलसमद्युति ॥ १३३ ॥

यत्—

ध्यानात्तस्य जगत्सर्वं वशमेति न संशयः ।

मासषट्कं ध्यातुरिति, अर्थात् ॥

किं च—

तपते वर्षते चैव सृजते संहरत्यपि ॥ १३४ ॥
ईप्सितां लभते सिद्धिं योऽब्दमेकं तु चिन्तयेत् ।

आत्मनेपदानि व्यत्ययात् ॥

ऊर्ध्वास्यध्यानमाह—

सितमूर्ध्वं सदा ध्यायेच्छूलहस्तं जटाधरम् ॥ १३५ ॥

हो जाता है । इसका निहितार्थ यह हुआ कि ऐसे साधक को महापाप का प्रायश्चित भी नहीं करना पड़ता ॥

उत्तर मुख का ध्यान बतलाते हैं—

उत्तर मुख तीन नेत्रों वाला एवं लाल कमल की कान्ति के समान कान्ति वाला है—ऐसा ध्यान करना चाहिये ॥ -१३३ ॥

क्योंकि—

उसके ध्यान से समस्त जगत् (योगी के) वश में हो जाता है, इसमे सन्देह नहीं है ॥ १३४- ॥

छह महीने तक ध्यान करने वाले साधक के—(इतना) अर्थात् (समझ लेना चाहिये) ॥

और भी—

जो (योगी) एक वर्ष तक (इस वक्त्र का) ध्यान करता है वह (सूर्य की भाँति) ताप उत्पन्न कर सकता है; वर्षा कर सकता है; सृष्टि और सहार कर सकता है एवं अभीष्टसिद्धि प्राप्त करता है ॥ -१३४-१३५- ॥

('तपते' आदि में) आत्मने पद का प्रयोग वर्णव्यत्यय के कारण हुआ है । (परस्मैपद का प्रयोग करने पर छन्दोभङ्ग हो जाता) ॥

ऊर्ध्व मुख का ध्यान बतलाते हैं—

व्याघ्रचर्मपरीधानं साक्षसूत्रकमण्डलु ।
वीणाडमरुहस्तं च नागयज्ञोपवीतकम् ॥ १३६ ॥
चन्द्रमूर्धोर्ध्वलिङ्गं च ध्यायेन्नित्यं महेश्वरन् ।

ऊर्ध्वलिङ्गमिति मौलिस्थाने लिङ्गाकारम् । महेश्वर इति पदेनैकवक्त्रं महेश्वरं ध्यायेत्, न तु वक्त्रमात्रमस्येत्यर्थः । नित्यमिति मासषट्कं यावत् ॥

अतश्च—

अनेनैव तु देहेन सर्वज्ञः कामरूपवान् ॥ १३७ ॥

भवतीति शेषः ॥ १३७ ॥

एवमीश्वरतत्त्वाधिष्ठातुरीश्वरस्याकृतिमतो ध्यानमुक्तम् । अथास्यैव—

'बिन्दुश्चैवेश्वरः स्वयम्' (४।२६४)

इति योजनिकाग्रन्थदृशा 'सर्वमिदमहम्' इत्यशेषविश्वाभेदवेदनात्मकबिन्दुरूपस्यान्तर्गतविश्ववाचकविभागमयनादध्यानमाह—

घण्टानादस्य वा ध्यानात् सिद्धिः षाण्मासिकी भवेत्।

ऊर्ध्वमुख का शूलहस्त, जटाधारी, व्याघ्रचर्म लपेटे हुए, अक्षमाला एवं कमण्डलु के साथ, हाथ में वीणा एवं डमरु लिये हुए, नाग का जनेऊ धारण किये हुए हैं—ऐसा ध्यान करे । शिर पर चन्द्रमा एवं ऊर्ध्वलिङ्ग धारण किये हुए महेश्वर का नित्य ध्यान करना चाहिये ॥ -१३५-१३७-॥

ऊर्ध्वलिङ्गः = शिर पर लिङ्गाकार । 'महेश्वर' इस पद से एकमुखी महेश्वर का ध्यान करना चाहिये न कि केवल इनके मुख का ध्यान करना चाहिये । नित्य = छह महीने तक प्रतिदिन ॥

इसलिये—

(साधक) इसी देह से सर्वज्ञ और कामरूपी (= इच्छानुसार रूप बदलने वाला) हो जाता है ॥ -१३७ ॥

'होता है'—यह शेष है ॥ १३७ ॥

इस प्रकार ईश्वर तत्त्व के अधिष्ठाता ईश्वरभट्टारक का ध्यान कहा गया । इसके बाद इसी के—

'बिन्दु स्वयं ईश्वर है ।' (४।२६४)

इस योजनिका ग्रन्थ के अनुसार 'यह सब मैं ही हूँ' इस प्रकार सम्पूर्ण विश्व के अभेदज्ञान स्वरूप बिन्दु के अन्तर्गत स्थित विश्व के वाचक विभाग वाले नाद के ध्यान को बतलाते हैं—

ईप्सिता मर्त्यलोके तु सिद्धिस्तस्य प्रजायते ॥ १३८ ॥

घण्टारवाकारस्य बिन्द्वन्तर्गतनादामर्शस्य ध्यानात् षाण्मासिकी सिद्धिर्भवेदिति षड्भिर्मासैर्नादामर्शे साक्षात्काररूपा सिद्धिस्तस्य भवति । तत्सिद्धौ च यथेष्टसिद्धवस्तुप्राप्तिर्देहस्थस्यैवास्य घटते ॥ १३८ ॥

अथास्यैवान्तर्भूतनादमशेषविश्वाभेदवेदनात्मकं बिन्दुप्रकाशमयं पूर्वमीशानवक्त्रध्यानमूर्ध्वलिङ्गमिति यल्लिङ्गमुक्तम्, तस्य ध्यानमाह—

लिङ्गध्यानं तु यः कुर्यात् पूर्वबीजेन संयुतम् ।
मासेनैकेन पश्येत् स सूक्ष्मं लिङ्गं तनूपरि ॥ १३९ ॥
शुद्धस्फटिकसङ्काशं तद्दृष्ट्वा तु विमुच्यते ।

लीनमनभिव्यक्ततयाऽन्तःस्थितं विश्वमस्येति लिङ्गमशेषविश्वाभेदवेदनात्मकबिन्दुप्रकाशमयम् । पूर्वमीशानवक्त्रमूर्ध्वमात्रम् । पूर्वबीजं नवात्मकसम्बन्धी रेफः, स च पूर्वदिग्वक्त्रध्यानेऽपि परामर्शकत्वेनानुसन्धेयः । सूक्ष्मं सर्वेन्द्रियविषयं पश्येत् तत्प्रकाशमयः स्फुरेत् । विमुच्यते जीवन्मुक्तिमासादयते ॥ १३९ ॥

अथवा घण्टानाद के ध्यान से छह मास में सिद्धि हो जाती है । उस (साधक) को मर्त्यलोक में ईप्सित सिद्धि प्राप्त होती है ॥ १३८ ॥

बिन्दु के अन्दर घण्टा की ध्वनि के समान नादामर्श के ध्यान से षाण्मासिकी सिद्धि होती है अर्थात् छह महीने तक निरन्तर नादामर्श करने से उसके साक्षात्कार रूप वाली सिद्धि उसको प्राप्त होती है । उसकी सिद्धि होने के बाद इसी देह में उस को यथेष्ट वस्तु की प्राप्ति होने लगती है ॥ १३८ ॥

इसके बाद, पहले (स्व.तं. १३६-१३७) जो 'ऊर्ध्वलिङ्गम्' इत्यादि के द्वारा लिङ्ग कहा गया, इसी नाद के अन्तर्भूत तथा समस्त विश्व के अभेदज्ञान स्वरूप बिन्दुप्रकाशमय ईशान वक्त्र का ध्यान बतलाते हैं—

जो साधक पूर्व बीज से संयुक्त लिङ्ग का ध्यान करता है वह एक मास (तक निरन्तर ध्यान करने) से (अपने) शरीर के ऊपर लिङ्ग का साक्षात्कार करने लगता है । शुद्ध स्फटिक से समान उस (लिङ्ग) का दर्शन कर वह मुक्त हो जाता है ॥ १३९-१४०- ॥

(लिङ्ग शब्द का व्युत्पत्त्यर्थ बतलाते हैं—) जिसके अन्दर विश्व लीन अर्थात् अनभिव्यक्त रूप में स्थित है वह लिङ्ग है । यह समस्त विश्व के अभेदज्ञान स्वरूप बिन्दु के प्रकाश वाला है । यह ईशान वक्त्र ऊर्ध्व मात्र है । जो कि पहला मुख है । पूर्व बीज = नवात्मक सम्बन्धी रेफ । पूर्व दिशा में स्थित तत्पुरुष नामक मुख के ध्यान के समय भी परामर्शक के रूप में इसका (= रेफ का) अनुसन्धान करना चाहिये । सूक्ष्म = सम्पूर्ण इन्द्रियविषय को देखता है = उसके प्रकाश से युक्त होकर स्फुरण करता है । विमुक्त होता है = जीवन्मुक्ति प्राप्त करता है ॥ १३९ ॥

यदि त्वेतद्ध्यानवतः सिद्ध्यभिलाषो भवति, तदा—

सिद्धिस्तु मानुषे लोके षण्मासेन प्रजायते ॥ १४० ॥

तां दर्शयति—

त्रैलोक्यदर्शने बुद्धिः प्रत्यक्षा तस्य जायते ।

त्रैलोक्यदर्शनविषये साक्षात्काररूपा धीरस्योदेति, साक्षात्कृताशेषविश्वोऽयं भवतीत्यर्थः ॥

तथा—

आक्रामेत् सर्वलोकांश्च............

स्ववशान् कुर्यात् ॥

किं च—

.................ईश्वरेण समो भवेत् ॥ १४१ ॥

देहस्थोऽपीश्वरभट्टारकतुल्यो भवति ॥ १४१ ॥

इदं चास्येश्वरतुल्यत्वम्, यत्—

सोमार्कौ चक्षुषी स्यातां चक्रे वै धी रथस्य तु ।

यदि इसका ध्यान करने वाले को सिद्धि की इच्छा होती है तो—

मनुष्य लोक में छह मास तक (के निरन्तर ध्यान) से उसको सिद्धि प्राप्त हो जाती है ॥ -१४० ॥

उस (= सिद्धि) को बतलाते हैं—

उसको त्रिलोक के दर्शन के विषय में प्रत्यक्ष ज्ञान होता है ॥१४१-॥

तीनो लोकों के प्रत्यक्ष के विषय में उसको साक्षात्काररूपा बुद्धि का उदय होता है अर्थात् वह समस्त विश्व का साक्षात्कार करने वाला हो जाता है ॥

तथा—

वह सम्पूर्ण लोकों को आक्रान्त कर लेता है ॥ -१४१- ॥

अर्थात् अपने वश में कर लेता है ॥

और भी—

वह ईश्वर के तुल्य हो जाता है ॥ -१४१ ॥

देह में स्थित रहता हुआ भी वह ईश्वरभट्टारक के समान हो जाता है ॥१४१॥

इस (योगी) की ईश्वरतुल्यता यह है कि—

तन्मात्राणि हयास्तस्य मनः सारथिचोदितः ॥ १४२ ॥
अहङ्कारो भवेद्योद्धा गुणश्चास्य महाधनुः ।
इन्द्रियाणि शरास्तस्य मृगो धर्मः प्रकीर्तितः ॥ १४३ ॥

इहानुन्मिषितविवेकप्रज्ञः सत्त्वादिगुणबद्धः पुर्यष्टकाविष्टोऽहङ्काराधिष्ठितमनः-प्रवर्तितैरिन्द्रियैर्विषयानाहरन् धर्माधर्माभ्यां बध्यते । यस्त्वीश्वराराधनात् प्राप्ततत्साम्यो योगीन्द्रः, स देहावस्थितोऽपि पुर्यष्टकं रथमिव वासनात्मकतन्मात्रकेण बहिः प्रवर्तमानं विवेचिकया धिया चक्ररूपया सम्यक् सञ्चार्यमाणमारूढो ग्रस्यमाने विषयग्रामे न कदाचित् पशुजनसुलभैर्धर्मादिविकल्पैः स्पर्शयत इति निस्त्रैगुण्यः पूर्णाहंभावमयोऽयम् । शिष्टं काव्यमात्रम् ॥ १४३ ॥

अतश्च—

एवं स क्रीडते योगी परमात्मनि (हृदि स्थिते)[1]।
पुण्यपापैर्वर्तमान इच्छया परमेश्वरि ॥ १४४ ॥

चन्द्रमा और सूर्य इसकी आँखें हो जाती हैं; बुद्धि इसके रथ के चक्के (= पहिये) तन्मात्रायें घोड़े, मन सारथि, अहङ्कार योद्धा, सत्त्व आदिगुण धनु, इन्द्रियाँ बाण और धर्म मृग हो जाते हैं ॥ १४२-१४३ ॥

जिसकी विवेकप्रज्ञा का उन्मेष नहीं हुआ है वह मनुष्य सत्त्व आदि गुणों से बद्ध, पुर्यष्टक से आविष्ट अहङ्कार से अधिष्ठित मन के द्वारा प्रवर्त्तित इन्द्रियों की सहायता से विषयों का आहरण (= उपभोग) करता हुआ धर्म और अधर्म के कारण बन्धन में पड़ता है । जो योगीन्द्र ईश्वर की आराधना के कारण शिवसाम्य प्राप्त कर चुका है वह इस शरीर के रहते हुए भी पशुजनसुलभ धर्म आदि विकल्पों से संस्पृष्ट नहीं होता । कारण (जिस प्रकार एक सारथी रथ पर सवार होकर मार्ग का सम्यक् अवलोकन करता हुआ स्खलित नहीं होता उसी प्रकार) पुर्यष्टकरूपी रथ पर सवार होकर वासना रूप तन्मात्रा के द्वारा बाहर प्रवृत्त होता हुआ अर्थात् चक्र-रूपा विवेचक बुद्धि के द्वारा उचित ढङ्ग से सञ्चारित होता हुआ, ज्ञान शक्ति और क्रिया शक्ति रूप चन्द्र सूर्य, जो कि चक्षु के समान हैं, के द्वारा विश्व का आलोचन करता हुआ उद्दीप्त इन्द्रियशक्ति के विषयसमूह के द्वारा ग्रस्यमान नहीं होता । ऐसा होता हुआ वह (= योगी) त्रिगुण के प्रभाव से अस्पृष्ट होकर पूर्ण अहन्ता वाला हो जाता है । (१४२-१४३ श्लोक में) शेष कथन काव्यमात्र है ॥ १४३ ॥

इसलिये—

हे परमेश्वरि ! परमात्मा के इस प्रकार हृदय में स्थित होने पर वह योगी अपनी इच्छानुसार पुण्य और पाप से खेलता रहता है ॥ १४४ ॥

---

१. हस्थिते ।

एवं पूर्वोक्तनीत्या परमात्मनि हृत्स्थिते वर्तमानः—

'सर्वज्ञः सर्वकर्ता च व्यापकः परमेश्वरः ।
स एवाहं शैवधर्मा इति दार्ढ्याच्छिवोदयः ॥' (१०९)

इति विज्ञानभैरवादिष्टनीत्या तदभेदविमर्शमयो योगी स इच्छया पुण्यपापैः क्रीडनप्रायैः क्रीडति, नास्य जातुचित् संस्पर्श इति यावत् ॥ १४४ ॥

अथ तीव्रतमशक्तिपाताभावादेवमस्याभेदप्रतिपत्तिर्न प्ररोहति, तदापि धर्माधर्मबन्धप्रशमोपायमादिशति देवः कृपालुतया—

नाहं कर्ता न मे बन्धः सर्वमीश्वरकारणम् ।
मत्वा चेश्वरविज्ञानं सर्वकर्माणि सन्त्यजेत् ॥ १४५ ॥

इतिशब्दोऽध्याहार्यः ॥ १४५ ॥

अतश्च—

धर्माधर्मस्य कर्तृत्वे प्रेरको हृदि संस्थितः ।

सर्वस्य ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त नीति के अनुसार अपने हृदय में परमात्मा के स्थित होने पर वर्त्तमान—

'परमेश्वर सर्वज्ञ सर्वकर्त्ता और व्यापक है और मै भी शैवगुणवाला वही हूँ—इस प्रकार की दृढ़ भावना के कारण (साधक के अन्दर) शिवत्व का उदय होता है ।' (वि.भै. १०९)

विज्ञानभैरव में उक्त इस नीति के अनुसार उस अभेद विमर्श वाला वह योगी अपनी इच्छानुसार खिलौने जैसे पाप और पुण्य से खेलता है अर्थात् उनसे कभी भी लिप्त नहीं होता ॥ १४४ ॥

यदि तीव्रतम शक्तिपात के अभाव के कारण योगी के मन में इस प्रकार की अभेदभावना उत्पन्न नहीं होती तो भी कृपालु होने के कारण भगवान् धर्म और अधर्म रूपी बन्धन के प्रशम का उपाय बतलाते हैं—

न मैं कर्त्ता हूँ और न मेरा बन्धन है, सब कुछ का कारण ईश्वर है— इस प्रकार ईश्वरविज्ञान का मनन कर (योगी) समस्त कर्मों (= कर्मफलों) का त्याग कर देता है ॥ १४५ ॥

(यहाँ 'मत्वा' के पहले) 'इति' शब्द का अध्याहार करना चाहिये ॥ १४५ ॥

इसलिये—

हृदय में स्थित जो सब लोगों के धर्माधर्म के कर्त्ता होने में प्रेरक होता है ॥ १४६- ॥

यः—

तमहं शरणं प्राप्तो न मे बन्धोऽस्ति कर्तृता ॥ १४६ ॥
सदाशिवोऽष्टभेदेन पूर्वबीजसमन्वितः ।
ध्येयः पूर्वोक्तरूपेण तत्सिद्धिफलमिच्छता ॥ १४७ ॥

अष्टभेदेनेति सकलादिमूर्त्यष्टकेन युक्तः । पूर्वबीजं नवात्मसम्बन्धी हकारः । पूर्वोक्तेन भुवनाध्वनिरूपितेन रूपेण । तत्सिद्धिफलं तत्समत्वावाप्तिः ॥ १४७ ॥

एवं स्थूलमस्य ध्यानमुक्त्वा, सूक्ष्ममाह—

नादं वै व्यापकं ध्यायेदहोरात्रायनेषु च ।

व्यापकमिति पूर्वोक्तघोषादिशब्दाष्टकव्याप्तिरूपत्वादेव कालाधिकारोक्तप्राणापानरूपस्यायनानां च दक्षिणोत्तरवाहरूपाणां व्यापकं सर्वेषां ध्वनिमयत्वात् । अत एव घण्टारवतुल्यात् स्थूलादैश्वरान्नादादयं विलक्षणः सर्वशब्दव्यापकः सूक्ष्मनादभेदः ॥

ध्यानतश्चायम्—

सबके ॥

जो—

मैं उसकी शरण में गया हूँ । इसलिये न तो मेरा बन्धन है और न ही मैं कर्त्ता हूँ । उस सिद्धि के फल को चाहने वाले को अष्टभेद से युक्त तथा पूर्व बीज से समन्वित सदाशिव का पूर्वोक्त रूप से ध्यान करना चाहिये ॥ -१४६-१४७ ॥

अष्टभेद से = सकल आदि (= प्रलयाकल, विज्ञानाकल, मन्त्र, मन्त्रेश्वर मन्त्रमहेश्वर, शक्ति और शिव) से युक्त । पूर्वबीज = नवात्मसम्बन्धी हकार । पूर्वोक्त रूप = भुवनाध्वा प्रकरण में निरूपित रूप । तत्सिद्धिफल = शिवसाम्य की प्राप्तिरूप फल ॥ १४७ ॥

इस प्रकार इनके स्थूल ध्यान का निर्वचन कर सूक्ष्म ध्यान को बतलाते हैं—

अहोरात्रों एवं अयनों में व्यापक नाद का ध्यान करना चाहिये ॥ १४८- ॥

व्यापक—पूर्वोक्त घोष राव आदि आठ प्रकार के शब्दों की व्याप्ति रूप होने के कारण ही कालाधिकार में वर्णित प्राण अपान तथा दक्षिण उत्तर वाह रूप अयनो का यह व्यापक है । क्योंकि सबके सब ध्वनिमय हैं । इसीलिये सर्वशब्दव्यापक यह सूक्ष्म नाद का भेद घण्टानाद के समान स्थूल ऐश्वर नाद से विलक्षण है ॥

और ध्यान के कारण यह—

दक्षिणोत्तरसंक्रान्त्या विषुवज्ज्ञस्य मोक्षदः ॥ १४८ ॥

दक्षिणोत्तरसंक्रान्तिपञ्चचषकान्ते पुटद्वयसमवाही यो यो विषुवत्संक्रान्तिकालस्तत्र यो नादं जानात्युपलभते, तस्यायं मोक्षं ददाति ॥ १४८ ॥

अस्य स्वरूपं दर्शयति—

वंशध्वनिसमप्रख्यः शान्तनादस्तु स स्मृतः ।
सदाशिवः स विज्ञेयः..........

घोषादिविशेषरूपतोपशमात् शान्तः प्रोक्तस्थूलसदाशिवविलक्षणः ॥

अस्य च—

............ध्यानात् सिद्धिफलं शृणु ॥ १४९ ॥
मासमात्रेण तेजस्वी वागीशस्तु द्वितीयके ।
तृतीये पश्यते सिद्धान् दिव्यदृष्टिश्चतुर्थके ॥ १५० ॥

या तु वलीपलितनाशादिरूपा, सा—

सिद्धिस्तु मानुषे लोके वत्सरार्धे न संशयः ।

दक्षिण उत्तर संक्रान्ति के द्वारा विषुवत् के ज्ञाता के लिये मोक्षप्रद होता है ॥ -१४८ ॥

दक्षिण और उत्तर संक्रान्ति वाले पाँच चषक के अन्त में दोनों नासापुटों से समान रूप से प्रवाहित होने वाला जो-जो विषुवत्संक्रान्तिकाल है उसमे स्थित नाद को जो जानता है अर्थात् प्राप्त करता है, यह (नाद) उस (= ज्ञाता) को मोक्ष देता है ॥ १४८ ॥

इसके स्वरूप को बतलाते हैं—

यह नाद बाँस की ध्वनि के समान होता है । (सूक्ष्म होने के कारण यह) शान्तनाद कहा गया है । उसे सदाशिव समझना चाहिये ॥ १४९- ॥

घोष आदि विशेषरूपता के शान्त हो जाने के कारण यह शान्त है तथा पूर्वोक्त स्थूल सदाशिव से विलक्षण है ॥

इसके—

ध्यान से (प्राप्त होने वाली) सिद्धियों के फल को सुनो । (योगी) एक मास (तक ध्यान करने) से तेजोपूर्ण, दो मास तक ध्यान करने से सत्यवाक् हो जाता है । तीसरे मास में सिद्धों को देखने में समर्थ हो जाता है और चौथे मास में दिव्य दृष्टि वाला हो जाता है ॥ -१४९-१५० ॥

और जो वली पलित के नाश आदि रूप वाली है वह—

किञ्च—

दिव्या सिद्धिस्तथाब्देन सायुज्यं तु द्वितीयके ॥ १५१ ॥

द्वितीयेऽब्दे सदाशिवैकात्म्यमित्येवं पदं भवति ॥ १५१ ॥

सदाशिवपदे नामध्यानमुक्त्वा, सप्रयोगं बिन्दुध्यानमाह—

षण्मुखीकरणं कृत्वा ध्यायेद् देवं सदाशिवम् ।

बिन्दुत्रयमित्यर्थः ॥

अङ्गुष्ठाभ्यां श्रुती नेत्रे तर्जनीमध्यमाक्रमात् ॥ १५२ ॥
शेषाभ्यां वृणुयाद् घ्राणे षण्मुखे किल बद्धधीः ।

तद्ध्यानाच्च—

दशधा वर्णरूपेण दृश्यते च सदाशिवः ॥ १५३ ॥

बिन्दुरूप इति, अर्थात् ॥ १५३ ॥

सितं रक्तं च पीतं च कृष्णं हरितपिङ्गलम् ।

मनुष्य लोक की सिद्धि छह मास के अन्दर प्राप्त कर लेता है । इसमे कोई सन्देह नहीं है ॥ १५१- ॥

इसके अतिरिक्त—

एक वर्ष (तक निरन्तर ध्यान करने) से (उस योगी को) दिव्य सिद्धि प्राप्त होती है । दूसरे वर्ष में वह शिवसायुज्य प्राप्त कर लेता है ॥-१५१॥

दूसरे वर्ष में सदाशिव के साथ तादात्म्य रूप पद का लाभ होता है ॥ १५१ ॥

सदाशिव पद में नाम के ध्यान को बतला कर प्रयोगसहित बिन्दुध्यान को बतलाते हैं—

षण्मुखीकरण करने के बाद सदाशिव देव का ध्यान करना चाहिये ॥ १५२- ॥

तीन बिन्दु (= श्रुति, नेत्र, घ्राण) वाले (शिव का ध्यान करना चाहिये)॥

दोनों अंगूठों से दोनों कानों को दोनों तर्जनी और दोनों मध्यमा से नेत्रों को, शेष (अनामिका और कनिष्ठा) से घ्राण को बन्द कर षण्मुखी मुद्रा में (साधक) ध्यान लगाये ॥ -१५२-१५३- ॥

उस ध्यान के कारण—

सदाशिव दश रङ्गों में दिखलायी देते हैं ॥ -१५३ ॥

अर्थात् दश रङ्ग के बिन्दु के रूप में दिखायी देते हैं ॥ १५३ ॥

नीलं चित्रकवर्णं तु स्फटिकाभं मनोरमम् ॥ १५४ ॥

स्फटिकाभं स्वच्छम्, मनोरमं तु

'चन्द्रमण्डलसङ्काशं' (१२।१५६)

इत्यादिवक्ष्यमाणरूपमुपादेयम् ॥ १५४ ॥

यदाह—

दृष्ट्वा सर्वाणि रूपाणि त्यजेत्तानि विचक्षणः।
एकमेव तु गृह्णीयादन्ये तु गुणरूपकाः ॥ १५५ ॥

विचक्षणस्तत्त्वज्ञानाभिनिविष्टः । एकमिति मनोरमम् । अन्य इति रूपविशेषाः । गुणरूपा अनुपादेयाः ॥ १५५ ॥

तदेकमाह—

चन्द्रमण्डलसङ्काशं विद्युत्पुञ्जनिभेक्षणम् ।
तारकाचलिताकारं बिन्दुमेवं विलक्षयेत् ॥ १५६ ॥

विद्युत्पुञ्जनिभमीक्षणं प्रकाशो यस्य । तारकायाश्चलितस्य चलनस्याकारो

(दश रङ्गों को बतलाते हैं—)

श्वेत, रक्त, पीत, कृष्ण, हरित, पिङ्गल, नील, चित्रकवर्ण (= चितकबरा—कई रङ्ग वाला) और स्फटिक के रङ्ग वाला तथा मनोरम (ये दश रङ्ग हैं) ॥ १५४ ॥

स्फटिकाभ = स्वच्छ । मनोरम का अर्थ—

'चन्द्रमण्डल के समान' (१२।१५६)

इत्यादि वक्ष्यमाण रूप समझना चाहिये ॥ १५४ ॥

जैसा कि कहते हैं—

विद्वान् को चाहिये कि वह उन सब रूपों को देख कर उन्हें छोड़ दे । एक ही रूप का ग्रहण करे । शेष रूप गुणरूप अर्थात् अनुपादेय बतलाये गये हैं ॥ १५५ ॥

विचक्षण = तत्त्वज्ञान मे तत्पर । एक = मनोरम । अन्य = विशिष्ट रूप । गुणरूप = अग्राह्य ॥ १५५ ॥

उस एक रूप को बतलाते हैं—

चन्द्रमण्डल के समान, विद्युत्पुञ्ज के समान प्रकाश वाले, तारा के समान चञ्चल आकार वाले बिन्दु को लक्षित करना चाहिये ॥ १५६ ॥

यस्य, स्फुरत्तारकातुल्यमिति यावत् ॥ १५६ ॥

एवं सदाशिवस्य बिन्दोरीदृग्रूपम् । यस्त्वीश्वरतत्त्वगतः, सः—

निवृत्तिश्च प्रतिष्ठा च विद्या शान्तिस्तथैव च ।
आभिः कलाभिः संयुक्तो ध्यातव्यो बिन्दुरीश्वरः ॥ १५७ ॥

अत एवैकादशबिन्दुस्वरूपप्रतिपादनावसरे—

'दशदैवतसंयुतः' (११।१०)

इति ग्रन्थोऽस्माभिः सद्योजातादिदेवतापञ्चकम्, घण्टानादः, निवृत्त्यादिकलाचतुष्टयं च ध्येयं यदिह प्रतिपादितम्, तदाशयेन तत्र प्रतिपादितः ॥ १५७ ॥

उपसंहरति—

बिन्दुध्यानं समाख्यातं................

ऐश्वरं सादाशिवं च द्विविधमपीति यावत् ॥

................शक्तिलक्षं निबोध मे ।

(विद्युत्पुञ्जनिभेक्षणम्० का अर्थ बताते हैं—) विद्युत्पुञ्ज के समान ईक्षण = प्रकाश, है जिसका वह । (तारकाचलिताकार का अर्थ है—) तारका के चलित अर्थात् चलन का आकार है जिसका वह अर्थात् स्फुरित होने वाली ताराओं के समान ॥ १५६ ॥

सदाशिव बिन्दु का इस प्रकार का रूप है । जो ईश्वर तत्त्व में स्थित बिन्दु है उसका—

निवृत्ति, प्रतिष्ठा, विद्या और शान्ता नामक इन कलाओं से संयुक्त ईश्वरबिन्दु के रूप में ध्यान करना चाहिये ॥ १५७ ॥

इसीलिये ग्यारह बिन्दु स्वरूप के प्रतिपादन के अवसर पर—

'दश देवताओं से युक्त' (११।१०)

यह ग्रन्थ हमारे द्वारा सद्योजात आदि पाँच देवता और यहाँ ध्येय के रूप में वर्णित घण्टानाद तथा निवृत्ति आदि चार कलायें, इन सबके आशय से वहाँ प्रतिपादित है ॥ १५७ ॥

उपसंहार करते हैं—

बिन्दुध्यान का वर्णन किया गया ॥ १५८- ॥

ईश्वर एवं सदाशिव से सम्बद्ध दोनों प्रकार के (बिन्दु का ध्यान यहाँ बतलाया गया) ॥

शक्तिर्लक्षं लक्षणं येन, तादृशं ध्यानं बुध्यस्वेत्यर्थः ॥

तदेवम्—

खं वीक्ष्य मीलिताक्षो यद्युद्यद्भास्करसन्निभम् ॥ १५८ ॥
ईक्षते च महत्तेजः शक्तिः प्रभ्वीति सा स्मृता ।

खमिति ब्रह्मरन्ध्रम् । प्रभ्वी नादान्तान्ते प्रभवनशीला ॥

सा च तत्र—

पीता रक्ता तथा कृष्णा स्फटिकाभा मनोरमा ॥ १५९ ॥
द्रष्टव्या परमा शक्तिः..............

ज्ञानवशप्रकटीभूता ज्ञातव्या ॥

ततश्च—

..........तां दृष्ट्वा शिवतां व्रजेत् ।

तत्पदोचिता परमशिवरूपा ॥

अथ—

अब मुझसे शक्ति का लक्षण जानो ॥ -१५८- ॥

('शक्तिलक्ष' पद का अर्थ बतलाते हैं—) शक्ति है लक्ष अर्थात् लक्षण जिसके द्वारा, उस प्रकार के ध्यान को जानो ॥

तो इस प्रकार—

(योगी) आकाश अर्थात् ब्रह्मरन्ध्र को देख कर आँख बन्द करने के बाद सूर्य के सदृश जिस-जिस महान् तेज को देखता है वह प्रभ्वी शक्ति मानी गयी है ॥ -१५८-१५९- ॥

ख = ब्रह्मरन्ध्र । प्रभ्वी = नादान्त के अन्त में प्रभवनशीला ॥

और वहाँ उस—

परमा शक्ति का पीता, रक्ता, कृष्णा, स्फटिकतुल्या तथा मनोरमा के रूप में दर्शन करना चाहिये ॥ -१५९-१६०- ॥

उसे ज्ञानवशात् प्रकटीभूत जानना चाहिये ॥

इसके बाद—

उसको देखकर (योगी) शिवत्व को प्राप्त होता है ॥ -१६०- ॥

(यह शिवता) उस पद के अनुरूप परमशिव रूपा होती है ॥

व्यापिनीं च ततश्चोर्ध्वे पञ्चरूपां विचिन्तयेत् ॥ १६० ॥
कारणैः स्वैः समोपेतां...........

व्याप्यादिभिः ॥

तां च—

.........ध्यात्वा स्वच्छन्दतां व्रजेत् ।

समनादिपदासादनयुक्त्येति, अर्थात् ॥

अथ पूर्वनिर्णीतरूपां क्रमेण—

समनामुन्मनां चोक्तां ध्यायेद्युक्तेन चेतसा ॥ १६१ ॥

अत्र च शक्त्यादिशिवान्तध्याने नवात्मसम्बन्धी प्रणवो वाचकत्वेन पराम्रष्टव्यः । ध्यायेदिति स्वविमर्शबलेन विमृशेदिति यावत् ॥ १६१ ॥

अतश्च—

ध्यानात् सिद्धिमवाप्नोति............

इसके बाद—

उसके ऊपर अपने कारणों से युक्त पाँच प्रकार की व्यापिनी का ध्यान करना चाहिये ॥ -१६०-१६१- ॥

वे कारण व्यापी आदि हैं ॥

और उसका—

ध्यान कर (योगी) समना आदि पदों की प्राप्तिरूपी युक्ति के द्वारा स्वच्छन्द हो जाता है ॥ -१६१- ॥

अर्थात् समना आदि पदों की प्राप्ति रूपी युक्ति के द्वारा ॥

इसके बाद पूर्व निर्णीत रूप वाली क्रमशः—

पूर्ववर्णित रूप वाली उक्त समना और उन्मना का युक्त चित्त से ध्यान करना चाहिये ॥ -१६१ ॥

यहाँ शक्ति से लेकर (व्यापिनी, समना होते हुए उन्मना अर्थात्) शिव पर्यन्त के ध्यान में नवात्मसम्बन्धी प्रणव का वाचक के रूप में परामर्श करना चाहिये । ध्यान करना चाहिये = अपने विमर्श के बल से आमर्शन करना चाहिये ॥ १६१ ॥

और इस—

ध्यान से (योगी) सिद्धि को प्राप्त करता है ॥ १६२- ॥

ययाऽसौ—

..............व्यापकः प्रभुरव्ययः ।

समनाध्यानात्—

'तत्रारूढस्तु कुरुते शिवः' (१०।१२५८)

इति यः पूर्वमुक्तो व्यापकादिरूपः शिवः, तद्रूपो भवतीत्यर्थः ॥

उन्मनाध्यानात्तु—

ततश्चोर्ध्वे शिवः शान्तः...............

समनान्ताशेषविश्वप्रशमात् शान्तः परमशिव एव भवतीत्यर्थः ॥

स च—

..............पूर्वं वै कथितो मया ॥ १६२ ॥

'शिवस्योर्ध्वे शिवो ज्ञेयो यत्र युक्तो न जायते' (४।१९७)

इत्यादौ, तथा—

'स्थूलसूक्ष्मप्रभेदेन तदेकं संव्यवस्थितम्' (४।२९५)

जिस (सिद्धि) के द्वारा यह—

व्यापक अव्यय प्रभु बन जाता है ॥ -१६२- ॥

समना के ध्यान से—

'उस पर आरूढ़ हुआ वह शिव-सृष्टि आदि-करता है ।' (१०।१२५८)

ऐसा जो व्यापक आदि रूप शिव पहले कहा गया (योगी) उस रूप वाला (अर्थात् वैसा ही) हो जाता है ॥

किन्तु उन्मना के ध्यान से—

उस (= समना) के ऊपर शान्त शिव हो जाता है ॥ -१६२- ॥

समनापर्यन्त वर्त्तमान समस्त विश्व के शान्त होने के कारण (योगी) परमशिव ही हो जाता है ।

और उसे—

मैंने पहले ही बतला दिया है ॥ -१६२ ॥

'शिव के ऊपर स्थित शिव को जानना चाहिये जहाँ से युक्त होने पर पुनः जन्म नहीं होता ।' (४।१९७)

इत्यादि में, तथा—

इत्याद्युद्देशेषु च ॥ १६२ ॥

इहापि तत्स्वरूपं दर्शयितुमाह—

चक्षुषा यश्च दृश्येत वाचो वा यश्च गोचरः ।
मनश्चिन्तयते यानि बुद्धिर्यानि व्यवस्यति ॥ १६३ ॥
अहङ्कृतानि यान्येव यच्च वेद्यतया स्थितम् ।
यश्च नास्ति स तत्रैव त्वन्वेष्टव्यः प्रयत्नतः ॥ १६४ ॥

स इति चित्प्रकाशघनः परमशिवो भावाभावमये विश्वस्मिन्, त्रिजगति चित्प्रकाशैकात्म्येन प्रकाशमानोऽन्वेष्टव्यः प्रत्यभिज्ञेयः—यथाऽयं सच्चिदात्मा प्रकाशो महेश्वरः, यत्प्रकाशाभेदेन विश्वमिदं प्रकाशते, प्रकाशबाह्यस्य कस्यापि प्रकाशनानुपपत्तेः, यस्त्वेवं विश्वप्रकाशात्मा स्वप्रकाशः प्रकाशः प्रकाशते, स एवाहमिति ॥

एवंविधस्य च परतत्त्वैकतानहृदयस्य न देशाश्रमादिनियमः कोऽपीत्याह—

यत्र तत्र स्थितो देशे यत्र तत्राश्रमे रतः ।
सुखासीनः संयतात्मा एकचित्तः समाहितः ॥ १६५ ॥

'एक ही वह तत्त्व स्थूल सूक्ष्म भेद से सम्यक्तया स्थित है ।' (४।२९५)

इत्यादि उद्देशों में कहा गया है ॥ १६२ ॥

यहाँ भी उसके स्वरूप को बतलाने के लिये कहते हैं—

जो आँख से दिखायी देता है, जो वाणी का विषय है, मन जिनके बारे में सोचता है, बुद्धि जिनका निश्चित ज्ञान करती है, जो अहङ्कारयुक्त हैं तथा जो वेद्य के रूप में स्थित है और जो वर्त्तमान नहीं हैं उन सबका उसी में प्रयत्नपूर्वक अन्वेषण करना चाहिये ॥ १६३-१६४ ॥

वह = चित्प्रकाशघन परमशिव । भाव तथा अभाव वाले विश्व में, तीनों लोकों में, चित्प्रकाश के रूप में प्रकाशमान हैं—ऐसा अन्वेषण करना चाहिये = उसका प्रत्यभिज्ञान करना चाहिये । यह सच्चिदात्मा प्रकाश महेश्वर है जिस प्रकाश से अभिन्न रूप में यह विश्व भासित हो रहा है (उसी रूप में उसे जानना चाहिये) क्योंकि प्रकाश से बाहर किसी का भी प्रकाश सम्भव नहीं है । और जो विश्वप्रकाशात्मा स्वप्रकाश प्रकाश प्रकाशित हो रहा है वही मैं हूँ ॥

परतत्त्व के साथ एकतानहृदय वाले इस प्रकार के (योगी के) लिये देश आश्रम आदि (= काल, व्यवस्था) का कोई नियम नहीं है—यह कहते हैं—

जिस किसी देश में जिस किसी आश्रम में स्थित योगी सुखासीन, संयतात्मा एकचित्त और समाहित होता हुआ सदा स्वच्छन्द देव का स्मरण

स्वच्छन्दं समनुस्मृत्य अभावं भावयेत् सदा ।

सुखासीनो विदितवेद्यत्वात् प्राणायामाद्यायासरहितः । संयतात्मेत्येकचित्तपदेन व्याख्यातः । समाहित इति व्युत्थानेऽपि परतत्त्वपरामर्शनिष्ठः । स्वच्छन्दं समनुस्मृत्येति विश्वाभासात्मचित्प्रकाशरूपत्वेन विमृश्य । अभावं भावयेदिति चित्प्रकाशव्यतिरिक्तं न किञ्चिदपि कदाप्यस्तीति प्रत्यभिजानीयात् ॥

अतश्च—

भावनात्तस्य तत्त्वस्य तत्समश्चैव जायते ॥ १६६ ॥

देहावस्थायामपीति यावत् ॥ १६६ ॥

युक्तं चैतत्, यस्मात्—

ये धर्मास्तस्य चाख्याताः पूर्वं ते वरवर्णिनि ।

सर्वज्ञत्वादयः ॥

तैस्तु धर्मैः समायुक्तो योगी वै भवति प्रिये ॥ १६७ ॥
स्वरूपरूपकध्यानं तत्त्वानां कथितं मया ।

कर अभाव की भावना करे ॥ १६५-१६६- ॥

सुखासीन = ज्ञातव्य का ज्ञान कर लेने के कारण प्राणायाम आदि के परिश्रम से मुक्त । 'एकचित्त' पद संयतात्मा की व्याख्या है । समाहित = व्युत्थान दशा में भी परतत्त्व के परामर्श में निरत । स्वच्छन्द का स्मरण कर = विश्व के आभास रूप चित्प्रकाश के रूप में उनका स्मरण कर । अभाव की भावना करे = चित् प्रकाश के अतिरिक्त कोई भी वस्तु कभी भी नहीं है—ऐसी प्रत्यभिज्ञा करे ॥

इसलिये—

उस तत्त्व की भावना करने से देहावस्था में भी वह उसके समान (= शिवस्वरूप) हो जाता है ॥ -१६६ ॥

(वह समस्त) देहावस्था में ही हो जाता है ॥ १६६ ॥

यह ठीक भी है क्योंकि—

हे वरवर्णिनि ! उसके जिन सर्वज्ञता आदि धर्मों को मैंने पहले तुमको बतलाया है ॥ १६७- ॥

सर्वज्ञता आदि ॥

हे प्रिये ! योगी उन समस्त धर्मों से युक्त हो जाता है । (इस प्रकार) मैंने तुमको स्वरूप और रूपक ध्यान बतलाया ॥ -१६७-१६८- ॥

स्वरूपं कठिनत्वादि, रूपकं पीतत्वादि ॥

अतश्च—

एवं ज्ञात्वा च ध्यात्वा च सिद्ध्यते मुच्यतेऽपि च ॥ १६८ ॥

सिद्धिरप्यत्रत्या मुक्तिपर्यवसायिन्येवेति शिवम् ॥ १६८ ॥

समस्ततत्त्वविभवपूर्णस्फारप्रथात्मकः ।
चिदानन्दघनः स्वात्मा स्वच्छन्दो जयति प्रभुः ॥

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्य-व्याख्योपेते द्वादशः पटलः ॥ १२ ॥



स्वरूप = कठिनत्व आदि । रूपक = पीतत्व आदि ॥

इसलिये—

इस प्रकार ज्ञान और ध्यान कर (योगी साधक) सिद्ध और मुक्त हो जाता है ॥ -१६८ ॥

यहाँ की सिद्धि भी अन्त में मुक्ति ही देती है ॥ १६८ ॥

समस्त तत्त्व के वैभव के पूर्ण स्फार के विकासस्वरूप, चिदानन्दघन, स्वात्मा भगवान् स्वच्छन्द सर्वोत्कृष्ट हैं ॥

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के द्वादश पटल की श्रीक्षेमराजविरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ १२ ॥



त्रयोदशः पटलः

* स्वच्छन्दोद्योतः *

परामृतरसस्फारसारसम्बोधबृंहितः ।
सर्वसम्पत्प्रदः श्रीमान् स्वच्छन्दो जयति प्रभु॥

एवमियति द्वादशपटलान्तेऽस्मिन् ग्रन्थैकदेशे द्वाविंशतिरनुष्ठानभेदा दर्शिताः । तद्यथा मातृकाभैरवः, श्रीस्वच्छन्दभट्टारकः कपालीशादिभैरवाष्टकपरिवृतः[1],

'यस्त्वंशकविशुद्धः स्याद्भैरवोऽत्र वरानने ।
तं मध्यमस्थं सम्पूज्य तत्स्थाने मध्यमं न्यसेत् ॥' (८।२५)

इत्यंशकविचारोक्तग्रन्थदृशा कपालीशादिनाथाः स्वाम्यावरणवैचित्र्येणावस्थिता अष्टौ, नवात्मा पृथक् पृथक् पदनवकभेदेन नवधा, सामुदायिकस्थित्या एकः, द्वात्रिंशद्देवीभिः परिवृतः कोटराक्षभट्टारकः, केवलो वा । अथेदानीं सकलदर्शन-

* ज्ञानवती *

पर अमृत रस के स्फार के सार रूप सम्बोध से उपवृंहित तथा समस्त सम्पत् प्रदान करने वाले भगवान् स्वच्छन्द सबसे बढ़ कर हैं ॥

इस प्रकार इस ग्रन्थ के एक अंशभूत बारह पटल तक के इस भाग में बाईस प्रकार के अनुष्ठान बतलाये गये । वे हैं—मातृका भैरव, स्वच्छन्द भट्टारक, कपालीश आदि आठ भैरव से परिवृत,

'हे वरानने ! यहाँ जो अंशकविशुद्ध भैरव हैं मध्यमस्थ उनकी पूजा कर उस स्थान में मध्यम की स्थापना करनी चाहिये ।' (८।२४-२५)

इस प्रकार के अंशकविचार में उक्त ग्रन्थ के अनुसार स्वामी के विचित्र आवरण के रूप में स्थित कपालीश आदि आठ, पृथक्-पृथक् नव पदों के भेद से नव प्रकार के नवात्मा, सामुदायिक स्थिति की दृष्टि से एक, बत्तीस देवियों से परिवृत अथवा

१. त्त ।

सारभूतं त्रयोविंशतितमं केवलमेव निष्कलनाथमयं स्वच्छन्दं

'स्वच्छन्दं समनुस्मृत्य' (१२।१६६)

इति पटलान्ते पटलसङ्गत्यर्थमासूत्रितं निर्णाययितुं श्रीदेव्युवाच—

सारं यदस्य तन्त्रस्य यागं तु परमेश्वर ।
तमाख्याहि समासेन साधकानां हिताय वै ॥ १ ॥

इज्यत इति यागः सर्वतन्त्रसारभूतो निष्कलनाथः, यजनं यागस्तदाराधन-प्रकारस्तं द्विविधं कथय ॥ १ ॥

एवंप्रश्नितः श्रीभैरव उवाच—

मूलबीजाक्षरं मन्त्रनायकं परमीश्वरम् ।
प्रणवासनमारूढमङ्गवक्त्रैः समन्वितम् ॥ २ ॥
पूर्वोक्तद्रव्यसङ्घातैः पूजयेत् परमेश्वरम् ।

परं मूलबीजात्मकमक्षरं चतुष्कलभट्टारकम् । ईश्वरमिति स्वच्छन्दभैरवं देवतारूपम् । परमेश्वरं सर्वप्रभुम् । मन्त्राणामावरणगतानां सर्वेषां (नामकं =) वाचकम् ।

अकेले कोटराक्ष भट्टारक, (इस प्रकार १+१+१+८+९+१+१ = २२ भैरवों की बाईस प्रकार की पूजा बतलायी गयी) । अब समस्त दर्शनों के सारभूत तेईसवें केवल निष्कलनाथमय स्वच्छन्दभैरव की, जिसके बारे में बारहवें पटल के अन्त में—

'स्वच्छन्द भैरव का सम्यक् ध्यान कर' (१२।१६६)

कहा गया, पटल की सङ्गति बैठाने के लिये, चर्चा करने के लिये देवी ने कहा—

हे परमेश्वर ! जो इस तन्त्र का सारभूत (है तथा) याग (के नाम से जाना जाता) है, साधकों के हित के लिये उसे संक्षेप में बतलाइये ॥ १ ॥

याग = जिसकी पूजा की जाय वह सम्पूर्ण तन्त्र के सारभूत निष्कलनाथ । और (यजनं याग की व्युत्पत्ति के अनुसार) याग = उस निष्कलनाथ की आराधना का प्रकार । इन दोनों को बतलाइये ॥ १ ॥

इस प्रकार पूछे गये श्रीभैरव ने कहा—

पर मूलबीजरूप अक्षरस्वरूप मन्त्रना(म)[1]क ईश्वर जो कि अङ्गों एवं वक्त्रों से युक्त प्रणवरूपी आसन पर आरूढ़ हैं ऐसे परमेश्वर की पूर्वोक्त द्रव्यसमूह के द्वारा पूजा करनी चाहिये ॥ २-३- ॥

पर, मूलबीज रूप, अक्षर = चतुष्कलभट्टारक, ईश्वर = देवतारूप स्वच्छन्द

१. य ।

प्रणवासनादि प्राग्वत् । अङ्गैरिति सर्वज्ञत्वादिपरमार्थैः—

'सान्तं दीर्घस्वरैः षड्भिः' (१।७१)

इति पूर्वोक्तैः, वक्त्रैश्चेति—

'यादिवान्तान्यक्षराणि संहारेण युतानि च' (१।४५)

इति पूर्वोक्तैरेव, न तु श्रीकालोत्तरोक्तनिष्कलभिन्नप्रायव्याप्तिकप्रासादभट्टारक-बुद्ध्यसुपञ्चकसंभिन्नहकारात्मकैरिति व्याख्येयम्,

'क्रियादिभेदभेदेन तन्त्रभेदो यतः स्मृतः ।
तस्मात्तत्र यथोक्तं तत्कर्तव्यं नान्यतन्त्रतः ॥'

इति श्रुतेः । तेन यथोक्तैरेवाङ्गवक्त्रमन्त्रैः सम्यगित्यभेदेनैवान्वितम्, न त्वावरणस्थित्येत्यर्थः । अत एव श्रीमदघोरेश्वर्याप्यभेदेनैवान्वितम् ।

'तस्य देहार्धगां गौरीमुत्सङ्गे वा प्रकल्पयेत्'

इति यद्यपि शाक्तस्फारप्रधानेषु शास्त्रेषु कल्पिता श्रुतिरस्ति, तथापीहाङ्ग-

---

भैरव । परमेश्वर = सबके स्वामी । आवरण में स्थित समस्त मन्त्रों के नामक = वाचक । प्रणव आसन वाले इत्यादि का अर्थ पूर्व की भाँति (समझना चाहिये) । अङ्ग = सर्वज्ञता आदि छह अङ्गों जो कि परमार्थ हैं तथा पूर्वोक्त—

'छह दीर्घस्वरों से युक्त स अन्त वाले ।' (१।७१)

पद्यांश के द्वारा निर्दिष्ट । वक्त्रों के द्वारा—

'य से लेकर व तक के अक्षर जो कि संहारबीज (= फट्) से युक्त हों ।' (१।४५)

इस प्रकार पूर्वोक्त वक्त्रों के द्वारा न कि श्रीकालोत्तर तन्त्र में वर्णित निष्कल अभिन्नप्राय व्याप्ति वाले प्रासादभट्टारक पञ्चअसु (= प्राण) से सम्भिन्न हकारस्वरूप (वक्त्रों) के द्वारा—ऐसी व्याख्या करनी चाहिये । क्योंकि—

'चूँकि तन्त्र का भेद क्रिया आदि भेद के भेद के कारण होता है इसलिये एक तन्त्र में जैसा कहा गया वैसा ही करना चाहिये न कि अन्य तन्त्र से भी (लेकर करना चाहिये) ।'

ऐसी श्रुति है । इसलिये यथोक्त अङ्गमन्त्रों एवं वक्त्रमन्त्रों के ही द्वारा, सम्यक् = अभेदरूप से, अन्वित न कि आवरण स्थिति से (अन्वित परमेश्वर का पूजन करना चाहिये) । अत एव श्रीमत् अघोरेश्वरी से भी अभेदसम्बन्ध से युक्त (परमेश्वर की पूजा करनी चाहिये) यद्यपि—

'गौरी को उस परमेश्वर की देहार्धगामिनी अथवा उनकी गोद में बैठी हुई कल्पना करनी चाहिये ।'

वक्त्रमन्त्रवत् शक्तिमत्स्वरूपाभिन्नैवासाविति गर्भीकृतशाक्तस्फार एवायमत्रत्यः शक्ति-मन्मन्त्रः । पूर्वोक्तमित्यनेन मूर्तिन्यासकलान्यासादि सर्वं संगृहीतम्, केवलं सकल-न्यासो निष्कलनाथेनैव सकलनिष्कलव्याप्तिना कार्यः । भगवत्कोटराक्षस्य पश्चाद-स्योक्तत्वात् तद्वद् दशभुजोऽयमिति केचित्, स्वच्छन्दनाथत्वादष्टादशभुज एवेति गुरवः । द्रव्यसङ्घातैरित्यनेन सिद्ध्यङ्गं यजनं महासम्भारेण कर्तव्यमिति ॥

नियतपूजितस्यास्य—

स एव होमविन्यासः.................

संस्कृतेऽग्नौ विन्यस्तस्य भगवतः शतं सहस्रं वाऽष्टोत्तरमाज्यादिना पूर्णान्तो होमः कार्य इत्यर्थः । एतच्च शिवधर्मिसाधकदीक्षादीक्षितस्य कर्म आरम्भणीयं वाऽन्यस्य ॥

तस्य च—

...........दीक्षा सैव प्रकीर्तिता ॥ ३ ॥

सैव पूर्वोक्तैव ॥ ३ ॥

इस प्रकार की श्रुति शाक्तस्फारप्रधान शास्त्रों में कल्पित है तो भी यहाँ अङ्गवक्त्रमन्त्र के समान यह शक्ति भी शक्तिमान् के स्वरूप से अभिन्न ही है इसलिये यहाँ के शक्तिमान् मन्त्र के गर्भ में शक्ति का स्फार है ही । 'पूर्वोक्त' कथन से मूर्त्तिन्यास कलान्यास आदि सबका ग्रहण हो जाता है । केवल सकलन्यास का अनुष्ठान सकलनिष्कलव्याप्ति वाले निष्कलनाथ के द्वारा किया जाना चाहिये । चूँकि यह भगवान् कोटराक्ष के बाद कहे गये हैं इसलिये यह भी उन (= कोटराक्ष) के समान दशभुजा वाले हैं—ऐसा कुछ लोगों का कथन है । किन्तु हमारे गुरु (का विचार है) कि स्वच्छन्दनाथ होने के कारण यह भी अट्ठारह भुजा वाले हैं । 'द्रव्यसङ्घातैः' कथन का तात्पर्य है सिद्धि के अङ्गभूत याग को अधिक से अधिक वस्तुओं के द्वारा सम्पादित करना चाहिये ॥

नियतरूप से पूजित इनका—

होम विन्यास वही होता है ॥ -३- ॥

संस्कारयुक्त अग्नि में विन्यस्त (= विशिष्ट प्रकार से स्थापित) भगवान् (स्वच्छन्द) के लिये एक-सौ आठ अथवा एक हजार आठ पूर्णाहुतिपर्यन्त होम घृत आदि के द्वारा करना चाहिये । यह कर्म शिवधर्मीसाधकदीक्षा से दीक्षित अथवा अन्य (दीक्षा-दीक्षित) के लिये करना चाहिये ॥

और उसकी—

वही दीक्षा कही गयी है ॥ -३ ॥

वही = पूर्वोक्त ही ॥ ३ ॥

एवं पूर्वोक्तशिवधर्मिदीक्षादीक्षितो भगवत्यर्चातर्पणे विधाय—

दशलक्षं जपेद्यस्तु एकचित्तः समाहितः ।
समुद्रगसरित्तीरे सहायैः परिवर्जितः ॥ ४ ॥
होमयेन्नरमांसस्य लक्षमेकं सगुग्गुलम् ।
जितेन्द्रियैकचित्तस्तु ब्रह्मचर्ये व्यवस्थितः ॥ ५ ॥
असाध्यं साधयेद् देवि नात्र कार्या विचारणा ।

एकत्र निष्कलभट्टारक एव जप्यमाने चित्तं यस्य, अत एव समाहितः । समुद्रगा चासौ सरिदिति महानदीत्यर्थः । सहायैः परिवर्जित इति यथाऽऽराध्यो देव एकवीरस्तथाऽऽराधकोऽपीत्यर्थः ।

'यथा होमस्तथा जपः ।'

इति नीत्या होमेऽप्येकचित्तत्वाद्युक्तम् ॥

किञ्चास्य—

यानि कानीह कर्माणि चतुष्पीठस्थितानि च ॥ ६ ॥
अधमान्यथ मध्यानि ह्युत्तमानि वरानने ।
तानि सिद्ध्यन्ति देवेशि भैरवस्य वचो यथा ॥ ७ ॥

इस प्रकार पूर्वोक्त शिवधर्मीदीक्षा में दीक्षित (साधक) भगवान् की पूजा एवं तर्पण करने के बाद—

अकेले एकाग्रचित्त और समाहित होकर समुद्रगामिनी नदी के तीर पर दश लाख बार मन्त्र का जप करे । जितेन्द्रिय एकचित्त एवं ब्रह्मचर्ययुक्त होकर वह (दीक्षित व्यक्ति) गुग्गुलुमिश्रित नरमांस का एक लाख बार हवन करे । हे देवि! (ऐसा करने वाला साधक) असाध्य को भी सिद्ध कर लेता है । इसमें सन्देह नहीं करना चाहिये ॥ ४-६- ॥

('एकचित्त' पद की व्याख्या करते हैं—) एकत्र = जप्यमान निष्कलभट्टारक में ही चित्त है जिसका वह, अतएव समाहित होकर । समुद्रगामिनी होती हुई नदी अर्थात् महानदी (गङ्गा आदि) । सहायकों से रहित—जिस प्रकार आराध्यदेव एकवीर (अकेले) हैं उसी प्रकार आराधक को भी (अकेला होना चाहिये) ।

'जैसे जप वैसे होम ।'

इस नीति के अनुसार होम के समय में भी एकाग्रचित्तता आदि को बतलाया गया है ॥

और भी, इस (साधक) के—

चतुष्पीठ स्थित जो कोई अधम मध्यम उत्तम कर्म हैं, हे वरानने ! हे

विद्या(त)[१]न्त्राणां पीठचतुष्टयात्मनि पारमेशे शास्त्रे यानि कर्माणि कार्याणीह जगति पातालाकाशतत्त्वतत्त्वेश्वरव्याप्तिहेतुभूतान्यधमादिरूपाणि स्थितानि, तानि कृतपूर्वसेवस्य योगिनः सिद्ध्यन्तीति योज्यम्; न तु कुहकवाद्यादीन्यधममध्यमादिरूपाणीति व्याख्येयम्,

'कृतान्यपि हि कर्माणि सिद्ध्यन्ति जपलक्षतः' (६।५७)

इति पूर्वं परिमितपूर्वसेवासाध्यत्वेनैषां चोदितत्वात् । भैरवस्य वचो यथेत्यनेन नात्र मायाप्रमातृसुलभः संशयो ग्राह्य इत्यादिशति ॥ ७ ॥

अथेदानीं मुख्यसिद्धिसाधनपरस्याप्यस्य साधकस्य क्वचित् क्वचिदवसरे उपयोगीनि प्रकृत्यादिवश्यानि कर्माणि द्रव्यमन्त्रयुक्तिसाध्यान्यार्यादिवृत्तान्तरैरादेष्टुमाह—

अथातः सम्प्रवक्ष्यामि कारिकाकोशमुत्तमम् ।
यं ज्ञात्वा देवदेवेशि विचरन्तीह साधकाः ॥ ८ ॥

'स्वल्पाभिधानेनार्थो यः समासेनोद्यते बुधैः ।
सूत्रतः सानुसर्तव्या कारिकार्थोपदर्शिनी ॥'

देवेशि! वे सिद्ध हो जाते हैं जैसे कि भैरव का वचन ॥ -६-७ ॥

विद्या (तन्त्रो) के चार पीठ वाले पारमेश्वर शास्त्र में कथित इस संसार में पाताल तत्त्व आकाश तत्त्व और तत्त्वेश्वरों की व्याप्ति के कारणभूत जो अधम आदि (= मध्यम उत्तम) करणीय कर्म स्थित हैं वे स्वच्छन्दभैरव की पहले सेवा करने वाले योगी को सिद्ध हो जाते हैं—ऐसा अन्वय करना चाहिये । न कि अधम मध्यम आदि रूप कुहक वाद्य आदि ऐसी व्याख्या करनी चाहिये । क्योंकि—

'एक लाख जप करने से पूर्वकृत कर्म भी सिद्ध हो जाते हैं ।' (६।५७)

इस वचन के द्वारा पहले इनको परिमित पूर्व सेवा से साध्य कहा जा चुका है । 'जिस प्रकार भैरव का वचन'—इस कथन से यह संकेतित किया गया कि इस विषय में मायाप्रमातासुलभ संशय नहीं करना चाहिये ॥ ७ ॥

मुख्य सिद्धि के साधन में लगे हुए साधक (= योगी) को किसी-किसी अवसर के लिये उपयोगी प्रकृति आदि के वशीकरण कर्मों की भी द्रव्य, मन्त्र, युक्ति के द्वारा सिद्धि करनी पड़ती है—यह बात आर्या आदि अन्य छन्दों के द्वारा बतलाने के लिये कहते हैं—

हे देवदेवेशि ! इसके बाद अब मैं उत्तमकारिकाकोश को बतलाऊँगा जिसको जान कर साधक लोग इस संसार में आनन्द उठाते हैं ॥ ८ ॥

'विद्वान् लोग स्वल्पकथन के द्वारा संक्षेप में जो अर्थ बतलाते हैं उस अर्थ की

---

१. म ।

इति लक्षितानां कारिकाणां कोशं समूहम् । उत्तममिति वीरविषयत्वाद-विघ्नफलविषयमित्यर्थः । अत एव विचरन्तीति करतलप्राप्तसर्वसिद्धिका यथारुचि विलसन्तीत्यर्थः ॥ ८ ॥

तत्र—

अभिमुखखड्गनिपातितशूरशिरः शोषितं समादाय ।
रक्तालक्तकलिखितं साध्यतनौ मन्त्रयुक्तमभिधानम् ॥ ९ ॥
प्रेतानले सुतप्तं विधाय निशि यत्कृते शतं जपति ।
असुरेन्द्रचक्रवर्तिनमसुरेन्द्रगुरुं वा तमानयत्यनिलवेगात् ॥ १० ॥

शिरः कपालम्, शोषितं निर्मांसीकृतम्, रक्तेन प्रेतसम्बन्धिना सहितमलक्तकं रक्तालक्तकं तेन लिखितम्, मन्त्रयुक्तमिति तद्विदर्भितमिति पञ्चमप्रयोगे—

'मन्त्रविदर्भितं' (१३।१६)

इत्युक्तेः, ज्ञातं तच्च ललाटे लेख्यम् । यद्वक्ष्यति सप्तमे प्रयोगे—

उपदर्शिनी (= बतलाने वाली) उस कारिका का सूत्र के अनुसार अनुसरण (= व्याख्यान) करना चाहिये ।'

इस प्रकार से लक्षित कारिकाओं का, कोश = समूह । उत्तम = वीराचारी साधक से सम्बद्ध होने के कारण अविहत फल वाला । इसीलिये 'विचरन्ति' (= विचरण करते हैं—) अर्थात् अपने हाथों में समस्त सिद्धियों को प्राप्त करने वाले वे साधक अपनी रुचि के अनुसार विलास करते हैं ॥ ८ ॥

उस प्रक्रिया में—

अपने सामने खड्ग के द्वारा काट कर गिराये गये योद्धा के शिर को मांसरहित कर उसे सुखाये । (फिर उसमें साध्य की आकृति बनाये) तत्पश्चात् उस साध्य के चित्रित देह पर मन्त्र से युक्त (उसका) नाम लिखे । रात्रि में चिता की अग्नि में उस कपाल को सुतप्त कर जिस (साध्य) के लिये सौ बार (साधक) जप करे तो असुरेन्द्र चक्रवर्ती सम्राट् अथवा सुरेन्द्र कोई भी हो (साधक) उसको वायुवेग से (अपने पास) बुला लेता है ॥ ९-१० ॥

शिर = कपाल (= खोपड़ी) । शोषित = मांसरहित बनाया गया । रक्तालक्तक = प्रेत के रक्त से मिश्रित अलक्तक, उससे लिखा हुआ । मन्त्रयुक्त = मन्त्र से विदर्भित; क्योंकि (इस उक्त प्रयोग से) पाँचवें प्रयोग मे—

'मन्त्र से विदर्भित (इसका जप करे) ।' (१३।१६)

ऐसा कहा गया है । ज्ञात हुए उस नाम को (कपाल में साध्य की उल्लिखित मानवाकृति के) ललाट में लिखना चाहिये । जैसा कि सातवें प्रयोग में कहेंगे—

'नाम च तस्य ललाटे' (१३।२०) इति,

अभिधानं साध्यनाम (आनय)[1] इत्यूहान्तं साध्यतनावेव तद्द्रव्योल्लिखिते साध्यदेहे प्रेताग्नौ निशि सुष्ठु तप्तं विधाय यस्य साधकस्य कृते तद्दिगभिमुखं यथालिखितं शतं जपति, तं साध्यं यथाविनियोगाय वायुवेगादित्यतिशीघ्र-मानयति ॥ १० ॥

प्रेतालक्तकलिखितं नरशिरसि प्रेतवह्निसन्तप्तम् ।
यमलोकादप्यचिरादानयति बलेन पूर्ववत् साध्यम् ॥ ११ ॥

पूर्ववत् साध्यं मन्त्रयुतं साध्यनाम शतं जपतीत्यनुवर्तते । प्रेतालक्तकं प्रेतशरीरोत्थं रक्तम् । नरशिरसीत्यशूरसम्बन्धिनि । अपीति पूर्वस्माद्विशेषः ॥ ११ ॥

मृतनार्या वामपदादुद्बद्धायास्तु पांसुलीं समादाय ।
रुधिरालक्तकरोचनया साध्यतनुं मन्त्रसंयुक्ताम् ॥ १२ ॥
खदिरानले सुतप्तां रात्र्यर्धे सम्मुखो जपशतेन ।
आनयति शचीमहल्यामथवा दिवसस्य शतभागात् ॥ १३ ॥

'(साध्य का) नाम उस (चित्र) के ललाट पर (लिखे) ।' (१३।२०)

अभिधान = साध्य का नाम जिसके अन्त में 'आनय' जुड़ा होना चाहिये । साध्य के शरीर पर = उस (= रक्त और अलक्तक) द्रव्य से साध्य के देह के उल्लिखित होने पर रात्रि में उस (= कपाल) को चिता की अग्नि में अच्छी तरह तप्त कर जिस साधक के लिये उस दिशा की ओर यथालिखित मन्त्र का सौ बार जप करता है उस साध्य को यथेप्सित विनियोग के लिये वायुवेग से अत्यन्त शीघ्र ले आता है ॥ १० ॥

प्रेत के अलक्तक = (रक्त) से नरकपाल में साध्य का चित्र बना कर चिता की अग्नि में सुसन्तप्त करने पर पूर्व की भाँति (जप करने पर साधक) साध्य को यमलोक से भी बलपूर्वक खींच ले आता है ॥ ११ ॥

पूर्व की भाँति—साध्य को (उल्लिखित कर), मन्त्रयुक्त साध्य का नाम सौ बार जपता है—इसको पूर्व से अनुगृहीत (= पहले से अध्याहृत) कर लेना चाहिये । प्रेतालक्तक = प्रेत के शरीर से निकला रक्त । आदमी के शिर मे—यह शिर योद्धा का नहीं होना चाहिये । 'अपि शब्द (पूर्व प्रक्रिया से इस प्रक्रिया की) विशेषता बतलाता है ॥ ११ ॥

उद्बद्ध (= फाँसी लगाकर मरी या मारी गयी) स्त्री की (पांसुली पञ्जे) को लेकर रक्त अलक्तक गोरोचन से (उस पञ्जे पर) साध्य की आकृत को मन्त्र के साथ लिखे । (उस आकृतिलिखित पांसुली को) खैर की लकड़ी

---

१. नय ।

संयुक्तामित्यन्ते लिखितामिति योज्यं सुतप्तामित्यत्र कृत्वेति । रोचना इह नरसत्का । पांसुली पार्ष्णिकास्थीत्यन्ये । दिवसस्य शतभागेति सूक्ष्मः कालः ॥ १३॥

उद्बद्धस्त्रीतनुवामांघ्रेः पांसुलीं समादाय ।
प्रेतालक्तकनिजरुधिररोचनाभिर्विलिख्य साध्यतनुम् ॥ १४ ॥
प्रेतानले सुतप्तां शताभिजप्तां स्वनाममन्त्रयुताम् ।
कृत्वा यक्षसुरासुरपन्नगनारीः समानयत्याशु ॥ १५ ॥

पूर्वं प्रेतरक्तम्, इह तु निजरक्तमिति विशेषः ॥

निजवामकरेऽलक्तकरोचनया साध्यनाम परिलिखितम्।
मन्त्रविदर्भितमेतज्जपशतयुक्तं सुतापितं रात्रौ ॥ १६ ॥
खदिरानले विधूमेऽसुरगुरुमप्यानयत्यनिलवेगात् ।

विदर्भितं नाम्नोऽन्ते । मन्त्रविन्यासः पूर्वमेव दर्शितः ॥

साध्यमभिधानलिखितं भूमितले गैरिकेण रक्तेन ॥ १७ ॥

की आग पर आधी रात को मन्त्र जपते हुए तपाये । एक दिन के सौवें हिस्से के काल के अन्दर वह साधक शची अथवा अहल्या (जैसी पतिव्रता स्त्री) को सामने ले आता है ॥ १२-१३ ॥

'संयुक्ताम्' के अन्त में 'लिखिताम्' जोड़ना चाहिये । 'सुतप्ताम्' के बाद कृत्वा। रोचना नरसत्का (= बैल के शरीर वाली रोचना न कि गाय के शरीर वाली) । अन्य लोगों के मत में पांसुली का अर्थ पार्ष्णि (एड़ी) की हड्डी । दिन का सौवां भाग = सूक्ष्मकाल ॥ १३ ॥

उद्बद्ध (= फाँसी लगाकर मरी या मारी गयी) स्त्री के बायें पैर की पांसुली (पञ्जा) अथवा एड़ी की हड्डी को लेकर प्रेतरक्त अपने (= साधक के) रक्त और गोरोचन को मिला कर उससे साध्य का शरीर चित्रित करे । प्रेताग्नि में उसको सुतप्त कर स्व (= साध्य के) नाम से युक्त मन्त्र वाली (पांशुली को हाथ में लेकर) उसके जपने से साधक यक्ष, सुर, असुर एवं पन्नग की स्त्रियों को शीघ्र आकृष्ट कर लेता है ॥ १४-१५ ॥

पहले प्रेत का रक्त लेना था, इस प्रयोग में अपना रक्त—यह अन्तर है ॥

अपने बायें हाथ पर अलक्तक और गोरोचन से साध्य का नाम लिखे । मन्त्र के द्वारा इसको विदर्भित कर १०८ बार जप करे साथ ही खैर की निर्धूम अग्नि में रात्रि में (उस हाथ को) सुतप्त करे तो असुरगुरु (शुक्राचार्य) को भी (साधक) वायुवेग से समीप बुला लेता है ॥ १६-१७- ॥

विदर्भित—नाम के अन्त में होना चाहिये । मन्त्र का विन्यास पहले ही बतलाया जा चुका है ॥

गन्धोद्वर्तितवामहस्तेन तु तत्त्वबीजयुक्तेन ।
आक्रम्य भूमिलिखितं साध्याभिमुखोऽर्धरात्रकाले तु ॥ १८ ॥
क्षितिपतिमपि सामात्यं चानयति निमेषशतभागात् ।

अभिधानद्वारेण प्राग्वद् मन्त्रविदर्भितेन लिखितं कृत्वा । गैरिकं हिङ्गुलकम् । रक्तेन प्रेतोत्थेनैव । अत एव भूमितलमेतत् श्माशानिकम् । अत्र च प्राकरणिकः शतजापयोगः स्थित एव ॥

नृकपालमध्यलिखितं रोचनया रक्तमिश्रया साध्यम् ॥ १९ ॥
नाम च तस्य ललाटे मन्त्रेण विदर्भितं समालिख्य ।
गन्धोदकेन लिप्तं नृकपालं वै द्वितीयमादाय ॥ २० ॥
कृत्वा कपालसम्पुटमथ मृतसूत्रेण वेष्टयेत् सम्यक् ।
खदिराङ्गारसुतप्तं सिक्थकलिप्तं तु तत्पुनः कृत्वा ॥ २१ ॥
यावत् सिक्थकमेतत् कपाललग्नं विलीयते तावत् ।
सुरपतिमप्याकर्षति जपशतयोगान्निमेषमात्रेण ॥ २२ ॥

मृतसूत्रेण वक्ष्यमाणछुम्मकायुक्त्या मृतस्नायुना । जपोऽत्र रात्रावेवेति स्थितमेव ॥ २२ ॥

साध्य को उसके नाम के साथ भूमितल पर गेरु और प्रेतरक्त के द्वारा चित्रित करे । हाथ को गन्ध से उपलिप्त कर तथा (उसकी हथेली पर) तत्त्वबीज लिख कर आधी रात को भूमिलिखित साध्याकृति के ऊपर हाथ रखकर (साधक) साध्याभिमुख होकर (यदि एक-सौ आठ बार मन्त्र का जप करता है तो) मन्त्रीसहित राजा को निमेष के सौवें भाग के अन्दर सामने उपस्थित करा देता है ॥ -१७-१९- ॥

(अभिधानलिखित का अर्थ है—) मन्त्रविदर्भित नाम के साथ पूर्व की भाँति लिख कर । गैरिक = हिङ्गुल । रक्त से = प्रेत के शरीर से निकाले गये रक्त से । इसीलिये भूमितल = श्मशान की भूमि का तल । और यहाँ प्रकरणप्राप्त एक सौ बार जप का प्रयोग करना ही है ॥

मनुष्य की खोपड़ी के मध्य में रक्तमिश्रित गोरोचन से साध्य की आकृति लिखे और उसका नाम ललाट के ऊपर लिखे (उस नाम को) मन्त्र से विदर्भित कर लिखे । गन्धमिश्रित जल से लिप्त एक दूसरे नर कपाल को लेकर दोनों कपालों को मृत व्यक्ति की नसों से भली प्रकार वेष्टित करे । पुनः उसको सिक्थक (= मोम) से उपलिप्त करे । पुनः खैर की आग में उसे तपाये । एक सौ बार मन्त्र का जप करने के साथ कपाल में लिप्त मोम जब तक विलीन होता है उसके अन्दर ही साधक देवेन्द्र को भी आकृष्ट कर लेता है ॥ -१९-२२ ॥

भित्तौ गैरिकलिखितं मन्त्रार्णविदर्भितं तदभिधानम् ।
साध्याभिमुखो रात्रौ वामकराक्रान्तमथ जपन् क्रुद्धः ॥ २३ ॥
क्रोङ्काराङ्कुशयोगादानयति सुरासुरान् क्षिप्रम् ।

भित्ताविति श्माशानिक्याम् । तदभिधानमित्यानयनेप्सितसुरासुरनाम । क्रोङ्काराङ्कुशयोगादित्यङ्कुशाकारलिखितक्रोङ्कारवामकराक्रान्तिवशादित्यर्थः ॥

रणशस्त्रघातपतितं नरपिशितं त्रिमधुसंयुतं जुहुयात् ॥ २४ ॥
विपरीतचक्रमुद्रां बद्ध्वा साध्यं तु निक्षिपेन्मध्ये ।
सम्पीडितकरसम्पुटविह्वलवक्त्रं करान्तरे ध्यात्वा ॥ २५ ॥
आनयति महापुरुषं क्षितिपतिमपि दिवसशतभागात् ।

'भ्रमेणाङ्गुलिकाभ्यां स्याच्चक्रं दुष्टविकर्तनम् ।'

इति प्रसारिताङ्गुलिकोत्तानवामोपरिनिविष्टदक्षहस्तस्य प्रसारिताङ्गुलिकस्य तलसङ्घर्षेण, वामकनीयसीपार्श्वप्राप्तदक्षतर्जन्या भ्रमणाद् या चक्रमुद्राऽऽगमेषु स्थिता, तां विपरीतामिति वामकनीयसीपार्श्वाद् दक्षिणस्यान्तःप्रवेशेन बद्ध्वा

मृतसूत्र = वक्ष्यमाण छुम्मका युक्ति से प्राप्त मृत व्यक्ति की स्नायु । यहाँ जप रात्रि में ही करना चाहिये—यह निश्चित ही है ॥ २२ ॥

(श्मशान) की दीवाल पर गेरू से साध्य का चित्र बनाकर उसके नाम को मन्त्र के वर्णों से विदर्भित कर रात्रि के समय साध्य के अभिमुख होकर उस चित्र को क्रोंकारअंकुशयुक्त वाम कर से आक्रान्त कर साधक क्रुद्ध होकर यदि एक सौ बार जप करता है तो सुर असुर सबको शीघ्र आकृष्ट कर लेता है ॥ २३-२४- ॥

दीवाल पर—श्मशान की । उसका नाम—आनयन के लिये ईप्सित सुर असुर का नाम । क्रोंकारअङ्कुश के योग से = अंकुश के आकार के रूप में लिखित क्रोंकार वाले बायें हाथ से ढँकने के कारण ॥

युद्धस्थल में शस्त्र के द्वारा मारे गये मनुष्य के मांस को त्रिमधु (= दूध घृत शर्करा) से मिश्रित कर हवन करे । विपरीत चक्रमुद्रा बाँध कर उसके बीच में साध्य को (रखा गया) ध्यान करे । दूसरे सम्पुटित हाथ में विह्वल मुख वाले साध्य का ध्यान करे । ऐसा करने पर साधक अतिसूक्ष्म काल में महापुरुष राजा को भी आकृष्ट कर लेता है ॥ -२४-२६- ॥

'दो अंगुलियों के भ्रमण से दुष्टनाशक चक्र बनता है ।'

इस कथन के अनुसार—बायें हाथ की अंगुलियों को फैलाये । उसके ऊपर फैली हुई अंगुलियों वाले दायें हाथ को इस प्रकार रखें कि अंगुलियों के तल सटे हुए हों। बायें हाथ की कनिष्ठा के पास रखी दायें हाथ की तर्जनी के भ्रमण से

तन्मध्यगतं साध्यं करपीडनविह्वलीभूतं ध्यात्वा मन्त्रविदर्भितं साध्यनाम शतसंख्यया जप्त्वा प्रोक्तद्रव्येण निशि होमं कुर्वन्नृपतिमपि विधेयीकरोतीत्यर्थः । रात्रौ श्मशाने जपहोमादि प्राकरणिकमत्र स्थितमेव ॥

शितशस्त्रपातरहितध्वजनरशीर्षं प्रगृह्य लक्ष्मयुतम् ॥ २६ ॥
तत्र त्रिरूपगदितं धाम लिखित्वाभिपूजयेद्यस्तु ।
तस्य हरिपवनकमलजधनदयमेन्द्राः ससिद्धगन्धर्वाः ॥ २७ ॥
विविधवरसिद्धिजातं विदधति विचित्रास्तथापराः सिद्धीः ।

आदौ शस्त्रेण अक्षतो यो ध्वजे नरस्तस्य शीर्षं शूलारोपितपुरुषकपालम् । तत्र प्राग्वत् शोषिते त्रिरूपगदितमित्याकृतिमन्मुखलिङ्गरूपमव्यक्तलिङ्गाकृति धाम मूलमन्त्रवाच्यं दैवतं लिखित्वोत्कीर्त्य यो नित्यमर्चति, असौ लोकपालानपि वशीकुर्यात् ॥

एतदेव भङ्ग्या स्फुटयति श्लोकद्वयेन—

व्यक्ताव्यक्तं तथा व्यक्तमव्यक्तं तु त्रिरूपकम् ॥ २८ ॥

चक्रमुद्रा बनती है । यह आगमों में बतलायी गयी है । विपरीत चक्रमुद्रा—बनती है । यह आगमों में बतलायी गयी है । विपरीत चक्रमुद्रा—बायें हाथ की कनिष्ठा के पार्श्व से दक्षिण हाथ की कनिष्ठा को अन्तःप्रविष्ट कराकर मुद्राबन्ध करना । उसके बीच में स्थित तथा करपीडन से विह्वल साध्य का ध्यान करे तथा मन्त्रविदर्भित साध्य के नाम का सौ बार जप करे । तत्पश्चात् उपर्युक्त द्रव्य से रात्रि में होम करने वाला (साधक) राजा को भी आज्ञाकारी बना देता है । रात्रि में श्मशान में जप होम आदि, जो प्रकरण प्राप्त है, यहाँ भी करना ही है ॥

जिसका ध्वज (= जननेन्द्रिय, लिङ्ग) तीक्ष्ण शस्त्र से न काटा गया हो ऐसे पुरुष का लक्षणयुक्त शिर लेकर उसके अन्दर पूर्वोक्त तीनरूप वाले धाम अर्थात् मूल मन्त्र के वाच्य देवता के रूप को उल्लिखित कर जो व्यक्ति उसकी पूजा करता है उसके लिये विष्णु वायु ब्रह्मा कुबेर यम इन्द्र सिद्ध गन्धर्व आदि अनेक प्रकार के वर तथा अन्य विचित्र सिद्धियाँ प्रदान करते हैं ॥ -२६-२८- ॥

(शितशस्त्रपातरहितध्वजनरशीर्षम् की व्याख्या करते हैं—)

पहले (तीक्ष्ण) शस्त्र के द्वारा जिस मनुष्य का ध्वज क्षत नहीं हुआ ऐसे मनुष्य का शिर = त्रिशूल पर आरोपित पुरुष का कपाल । उसको पूर्व की भाँति सुखाने पर । त्रिरूपगदित = आकृतिमान् मुख लिङ्ग वाला किन्तु अस्पष्ट आकार वाला, धाम = मूल मन्त्र की वाच्य देवता को, उल्लिखित कर = रेखाचित्र बना कर, जो साधक नित्य उसकी पूजा करता है वह लोकपालों को भी वश में कर लेता है ॥

इसी को प्रकारान्तर से दो श्लोकों के द्वारा स्पष्ट करते हैं—

धामं चाराधयेत् सम्यक् तत्र यस्तु विचक्षणः ।
जायते त्रिविधा सिद्धिर्गिरिराजतनूद्भवे ॥ २९ ॥
सुनिश्चितमतेः सम्यग् गिरिराजस्य तस्य वै ।

तत्रेति त्रिशूलारोपितनरकपाले। गिरिराजस्येति वक्ष्यमाणछुम्मकादृष्ट्या साधकेन्द्रस्य॥

अत्र द्रव्यविशेषहोमसाध्यं वशीकारमाह—

रक्तचन्दनधूलिं तु राजिकां लवणं तथा ॥ ३० ॥
पादधूलिं तु साध्यस्य एकीकृत्य तु पेषयेत् ।
जपन् स्वच्छन्ददेवं तु निर्मथ्नंश्च करद्वयम् ॥ ३१ ॥
चिताग्नौ जुहुयाच्चूर्णं चाण्डालाग्नावथापि वा ।
साध्यस्याभिमुखो भूत्वा प्रयोगमिममाचरेत् ॥ ३२ ॥
शतमेकं जपेद्यावत्तावदाकर्षयेन्नृपम् ।

पादधूलिः पुंसो दक्षिणात् पादात्, नार्या वामाद् गृहीतव्या । प्रणवं निष्कलनाथं नमोऽन्तमुच्चार्य 'अमुको मे वशीभवतु स्वाहा' इत्यूहान्तो मन्त्रो जपे होमे च प्रयोक्तव्यः ॥

जो विचक्षण साधक व्यक्ताव्यक्त, व्यक्त तथा अव्यक्त तीन रूपों वाली धाम (= देवता) की उसमें सम्यक् आराधना करता है, हे हिमालय की तनूजे ! दृढ आस्था वाले उस गिरिराज (= साधक) को तीन प्रकार की (= व्यक्त, व्यक्ताव्यक्त, अव्यक्त अथवा दैहिक, दैविक, भौतिक अथवा उत्तम, मध्यम, अधम अथवा कायिक, वाचिक, मानसी) सिद्धि मिलती है ॥-२८-३०- ॥

उसमें = त्रिशूल पर आरोपित (= शूली पर चढ़ाये गये) मनुष्य के कपाल में । गिरिराज को = वक्ष्यमाण छुम्मका की दृष्टि से साधकेन्द्र को ॥

यहाँ विशिष्ट द्रव्यों के होम से साध्य वशीकरण को कहते हैं—

लालचन्दन की धूलि, राई, नमक, साध्य के पैर की धूलि इन सबको मिश्रित कर पीसे । स्वच्छन्ददेव के मन्त्र का एक सौ बार जप करते हुए और दोनों हाथों का मन्थन (= मर्दन) करते हुए चिता की अग्नि अथवा चाण्डाल की (के घर से लायी गयी) अग्नि में उस चूर्ण का हवन करे । यह प्रयोग साध्य के सामने होकर करे । साधक जब तक सौ बार जप करता है उसके अन्त में राजा को आकृष्ट कर लेता है ॥ -३०-३३- ॥

पैर की धूलि—पुरुष साध्य के दायें तथा स्त्री साध्य के बायें पैर की धूलि लेनी चाहिये । जप और होम के समय प्रणव निष्कलनाथ अर्थात् (= ॐ) के अन्त में 'नमः' का उच्चारण कर 'अमुको मे वशीभवतु स्वाहा ।' इस ऊहान्त (= अपनी ओर से योजनायुक्त) मन्त्र का प्रयोग करना चाहिये ॥

वशमाकृष्टश्चासौ साधकस्य—

वशमायाति भूनाथ आत्मना च धनेन च ॥ ३३ ॥

नात्र संशयः कार्य इत्याह—

सिद्ध एष प्रयोगस्तु नान्यथा ते वदाम्यहम् ।

एवं वशीकृतौ प्रयोगदशकमुत्तमादिसिद्ध्यर्थं च प्रयोगमुक्त्वा, स्तम्भने प्रयोगमाह—

तामेव धूलिं संगृह्य लोहचूर्णविमिश्रिताम् ॥ ३४ ॥
श्मशानचीरके बद्ध्वा श[1]तजप्तां चतुष्पथे ।
निखन्याष्टाङ्गुलं भूमौ रिपुनामसमन्विताम् ॥ ३५ ॥
निक्षिपेद्यस्य नाम्ना तां स क्षणात् स्तम्भितो भवेत्।

श्मशानचीरके शववस्त्रखण्डे । शतजप्तामित्यमुकं स्तम्भयेत्यूहभाजा निर्दिष्ट-मन्त्रेण ॥

उन्मादे प्रयोगमाह—

तामेव धूलिं संगृह्य पञ्चकोन्मत्तसंयुताम् ॥ ३६ ॥
बद्ध्वा तां प्रेतवस्त्रेण रिपुनामसमन्विताम् ।

इस प्रकार से आकृष्ट यह—

राजा साधक के वश में धन के साथ स्वयं हो जाता है ॥ -३३ ॥

इसमें संशय नहीं करना चाहिये—यह कहते हैं—

यह सिद्ध प्रयोग है । मैं तुमसे अन्यथा नहीं कर रहा हूँ ॥ ३४- ॥

इस प्रकार वशीकरण के विषय में दश प्रयोगों को, तथा उत्तम आदि सिद्धियों के लिये प्रयोग को बतला कर स्तम्भन के विषय में प्रयोग बतलाते हैं—

उसी धूलि को लेकर लोहे के चूर्ण से मिश्रण करे । श्मशान के वस्त्र में उसको बाँध कर एक सौ बार प्रोक्त मन्त्र का शत्रु का नाम जोड़कर जप करे । चौराहे पर आठ अंगुल गहरा गड्ढा खोद कर जिसके नाम से उस चूर्ण को गाड़े वह एक क्षण में स्तम्भित हो जाता है ॥ -३४-३६- ॥

श्मशानचीर में = कफन के टुकड़े में । सात बार जप की गयी 'अमुकं स्तम्भय' इस ऊह वाले निर्दिष्ट मन्त्र से ॥

उन्माद (= पागल करने) के विषय में प्रयोग को बतलाते हैं—

उसी धूल को लेकर उन्मत्तक (= धतूर) के पञ्चाङ्ग से मिश्रित करे तत्पश्चात् उसे कफन में बाँधे । पुनः शत्रुनाम से युक्त मन्त्र से उसे सौ बार

---

१. सप्त ।

शतजप्तां तु तां कृत्वा श्मशाने निखनेद् द्रुतम् ॥ ३७ ॥
भवत्युन्मत्तकः साध्यः............

पञ्चविधमुन्मत्तकं मूलकाण्डपत्रपुष्पफलाख्यावयवपञ्चकयुक्तं धत्तूरकम् । अत्राप्यमुकमुन्मादयेत्यूहः कार्यः ॥

अस्य प्रत्यानयनमाह—

...............उद्धृतायां तु मुच्यते ।

निवृत्तोन्मादो भवति ॥

कथमित्याह—

उद्धृतं वस्त्रमादाय क्षीरेण परिशोधयेत् ॥ ३८ ॥
प्रत्यानयनमेतद्धि सिद्धमेव न संशयः ।

उद्धृतं श्मशानभवनादाकृष्टम् ॥

पुनरप्याकर्षणे प्रयोगान्तरमाह—

अथ रक्ताश्वमारस्य कुसुमानि समाहरेत् ॥ ३९ ॥
शतमष्टोत्तरं तेषां शतजप्तं तु कारयेत् ।

जपयुक्त करे । इसके बाद श्मशान में उसे गाड़ दे । साध्य शीघ्र ही पागल हो जाता है ॥ -३६-३८- ॥

(पञ्चकोन्मत्तसंयुताम् की व्याख्या करते हैं—) पञ्चविध उन्मत्तक—मूल तना पत्ती फूल और फल नामक पाँच अवयवों से युक्त धतूर । यहाँ भी 'अमुकं उन्मादय' यह ऊह करना चाहिये ॥

इसके प्रत्यानयन (= पूर्व स्थिति में लाना) को बतलाते हैं—

उस गाड़ी गयी मिट्टी को बाहर निकालने पर साध्य (पागलपन से) मुक्त हो जाता है ॥ -३८- ॥

('मुच्यते' का अर्थ है—) उसका उन्माद खत्म हो जाता है ॥

कैसे—यह बतलाते हैं—

(गड्ढे से) बाहर लाये गये वस्त्र को दूध से धो दे । यह प्रत्यानयन प्रयोग सिद्ध है । इसमें कोई सन्देह नहीं है ॥ -३८-३९- ॥

उद्धृत = श्मशानभवन से बाहर किया गया ॥

आकर्षण के विषय में दूसरे प्रयोग को बतलाते हैं—

रक्त अश्वमार (कनेर) का एक सौ आठ फूल लाये । उसको सौ बार

सकृज्जप्तेन पुष्पेण लिङ्गमूर्धनि ताडयेत् ॥ ४० ॥
एवं दिने दिने कुर्याद् दशाहं सुसमाहितः ।

रक्ताश्वमारस्य लोहितकरवीरस्य प्रोक्तेतिकर्तव्यताकानि पुष्पाणि प्रत्यहं गृहीत्वा पृथक् पृथक् सुरक्षितानि स्थापयेत् ॥

ततस्त्वेकादशैतानि संगृह्य कुसुमानि तु ॥ ४१ ॥
महानदीं ततो गत्वा तत्रैकैकं प्रवाहयेत् ।
आनुपूर्व्येण सर्वाणि सकृज्जप्त्वा तु मन्त्रवित्॥ ४२ ॥

प्रथमदिनपुष्पाणामादौ प्रवाहणम्, ततो द्वितीयादिदिनपुष्पाणामित्यानुपूर्व्यार्थः ॥४२॥

यत्तेषां पश्चिमं पुष्पं प्रतिस्रोतः प्रयाति हि ।

ऊर्ध्वं वहतीत्यर्थः ॥

तद् गृहीत्वाम्बुसंमिश्रं दन्तैरस्पृष्टमापिबेत् ॥ ४३ ॥

पीतजलं कुर्यात् ॥ ४३ ॥

ततोऽश्वमारकुसुमं रक्तं वै शतमन्त्रितम् ।
तर्जन्यग्रे तु तत् कृत्वा अङ्गुष्ठेनाक्रमेद् बुधः ॥ ४४ ॥

दक्षिणेन ॥ ४४ ॥

मन्त्रजप से युक्त करे । एक बार जप्त पुष्प से लिङ्ग के छोर पर ताड़न करे । इस प्रकार समाहित होकर (यह प्रक्रिया) दश दिन तक प्रतिदिन करे ॥ -३९-४१- ॥

रक्त अश्वमार = लाल कनेर । उपर्युक्त इतिकर्त्तव्यता से युक्त पुष्पों को प्रतिदिन ले आकर अलग-अलग सुरक्षित रखना चाहिये ॥

इसके बाद ग्यारह संगृहीत पुष्पों को ले कर महानदी के पास जाकर उसमें एक-एक पुष्प को प्रवाहित करे । मन्त्रवेत्ता प्रत्येक पुष्प के प्रवाह के समय एक बार मन्त्र का जप करता हुआ प्रवाहित करे ॥ -४१-४२ ॥

प्रथम दिन संगृहीत पुष्प का पहले प्रवाह होता है । इसके बाद क्रम से द्वितीय आदि दिनों के पुष्पों का ॥ ४२ ॥

प्रत्येक प्रवाह में जो फूल सबसे बाद में बहता है (अर्थात्) ऊपर बहता है उसको जलसहित लेकर बिना दाँतस्पर्श के उस जल को पी जाय ॥४३॥

जल को पी जाय ॥ ४३ ॥

तत्पश्चात् विद्वान् (हाथ में स्थित) रक्त कनेर के उस पुष्प को तर्जनी के अग्रभाग पर रख कर दायें अंगूठे से दबा ले ॥ ४४ ॥

अथ—

भ्रामयेत् सव्यतः पुष्पं यस्य नाम्ना तु मन्त्रवित् ।
स्वच्छन्दं जपमानस्तु तमाकर्षयते द्रुतम् ॥ ४५ ॥

सव्यत इति दक्षिणे पार्श्वे । अत्राप्यमुकमाकर्षयेति प्रयोगः ॥ ४५ ॥

आकृष्टस्य विसर्जने प्रयोगमाह—

अपसव्यं भ्रामयित्वा पुनस्तस्य विसर्जनम् ।

अपसव्यं वामपार्श्वे तदश्वमारपुष्पं भ्रामयन् साधकस्य यथोपयोगं विनियुक्तस्य विसर्जनं करोतीति शिवम् ॥

स्वातन्त्र्यशक्त्या परया नानाश्चर्यप्रदर्शकः ।
जयत्यनुग्रहकरः स्वच्छन्दः परभैरवः ॥

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्य-व्याख्योपेते त्रयोदशः पटलः ॥ १३ ॥



दक्षिण अङ्गुष्ठ से ॥ ४४ ॥

इसके बाद—

स्वच्छन्द के मन्त्र का जप करता हुआ मन्त्रवेत्ता उस पुष्प को जिसके नाम से दांयीं ओर से घुमायेगा उसको वह शीघ्र आकृष्ट कर लेगा ॥ ४५ ॥

सव्यतः = दक्षिण पार्श्व में । यहाँ भी 'अमुकं आकर्षय' यह प्रयोग (करना चाहिये) ॥ ४५ ॥

आकृष्ट के विसर्जन में प्रयोग बतलाते हैं—

(उसी पुष्प को) बायें से घुमा कर उसका विसर्जन हो जाता है ॥४६-॥

अपसव्य = बाँयें पार्श्व में उस कनेर के फूल को घुमाने से साधक उपयोग के अनुसार नियुक्त साध्य का विसर्जन कर देता है ॥

अपनी स्वातन्त्र्यशक्ति के द्वारा अनेक प्रकार के आश्चर्य का प्रदर्शन करने वाले अनुग्रहकारी स्वच्छन्द परभैरव सबसे उत्कृष्ट हैं ॥

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के त्रयोदश पटल की श्रीक्षेमराजविरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ १३ ॥



चतुर्दशः पटलः

*** स्वच्छन्दोद्योतः ***

मोचयति पाशजालाद् द्रावयति भिदं मुदं राति ।
मुद्रयति विघ्नतस्करलुण्ठनतो मन्त्रसिद्धिसङ्घातम् ॥
तत्तत्संवित्स्फाराननुकृतिरूपान् व्यनक्ति या शम्भोः ।
आकृतिरूपा मुद्रा जयति विभोरर्चनादिनिर्वर्त्या ॥

त्रयोदशभिः पटलैः समय्यादिचतुष्टयनिर्वर्त्यनित्यनैमित्तिककाम्यकर्म सम्पूर्ण-मुदितम् । तत्र रक्षासन्निधितदनुप्रवेशादिप्रयोजनं

'मुद्रां प्रदर्शयेत् पश्चात्त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि' (२।१०२)

इति यत् पूर्वं कायवाङ्मनोनिर्वर्त्यमुद्रास्वरूपमुक्तम्, तद् विवक्षुः श्रीभैरव उवाच—

*** ज्ञानवती ***

जो पाशजाल से मुक्त करती है; भेद को नष्ट करती है; आनन्द की प्रदात्री है, विघ्नरूपी तस्करों को लूट कर मन्त्रसिद्धिसमूह को मुद्रित करती है; जो शम्भु की अनुकृति रूप तत्तत् संवित्स्फारों को अभिव्यक्त करती है, अर्चन आदि से सम्पादित होने वाली परमेश्वर की (वह) आकृतिरूपा मुद्रा सबसे उत्कृष्ट है ॥

(अतीत) तेरह पटलों के द्वारा समयी आदि चार व्यवस्थाओं से सम्पाद्य नित्य, नैमित्तिक, एवं काम्य नामक सम्पूर्ण कर्म का वर्णन कर दिया गया । उनमें रक्षा-सन्निधि उसमें अनुप्रवेश आदि प्रयोजन वाला—

'त्रिकाल कर्म के अनुष्ठान में बाद में तीन प्रकार की मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये ।' (२।१०२)

इस वाक्य के द्वारा पहले जो शरीर वाणी और मन से निर्वर्त्तित होने वाले मुद्रा के स्वरूप का सङ्केत किया गया उसको कहने की इच्छा से युक्त श्रीभैरव ने कहा—

मुद्राणां लक्षणं वक्ष्ये अस्मिंस्तन्त्रे यथास्थितम् ।

अस्मिंस्तन्त्रे प्रोक्तप्रयोजना भगवदायुधानुकाररूपा या मुद्राः, तासां लक्षणं तत्त्वव्यवस्थापकं रूपं वक्ष्यामीति प्रतिजानाति ॥

अत्र यद्यपि—

'खड्गखेटकधारिणम्' (२।९०)

इति आयुधक्रम उक्तः, तथापि—

'कपालं चैव खट्वाङ्गमनुक्तेषु प्रयोजयेत्' (१४।२१)

इति भाविनीत्या कपालखट्वाङ्गयोः सर्वावरणगतदेवतासाधारणत्वात् श्रीकोटराक्षभट्टारकविषये च तयोः प्राधान्यादादौ तन्मुद्रालक्षणमाह—

उत्तानमञ्जलिं कृत्वा कपालं परिकीर्तितम् ॥ १ ॥

एषा च विश्वसमाहरणप्रवृत्तसंवित्स्वरूपानुकारिणी । यदुक्तं मयैव श्रीभैरवानुकरणस्तोत्रे—

'शाक्ताण्डखण्डमध्ये विश्वरसमेवमहं समाहरामि सदा।
व्यञ्जयसि करकपालगरुधिरमिषादेतदिव मेऽन्तः ॥' इति ।

इस तन्त्र में मुद्राओं का यथास्थित लक्षण बतलाऊँगा ॥ १- ॥

इस तन्त्र में उक्त प्रयोजन वाली भगवान् के आयुध के अनुकरण रूप वाली जो मुद्रायें हैं उनका लक्षण = तत्त्वव्यवस्थापक रूप, को बतलाऊँगा—ऐसी प्रतिज्ञा करते हैं ॥

यद्यपि यहाँ—

'खड्गखेटकधारिणम्' (२।९०)

इस प्रकार आयुध का क्रम कहा गया तथापि—

'अनुक्त स्थल में कपाल और खट्वाङ्ग मुद्राओं का प्रयोग करे ।' (१४।२१)

इस वक्ष्यमाण नीति के अनुसार चूँकि कपाल और खट्वाङ्ग समस्त आवरण-देवताओं में रहते हैं और कोटराक्षभट्टारक के विषय में वे दोनों प्रधान हैं, इसलिये सबसे पहले उन मुद्राओं के लक्षण को बतलाते हैं—

अञ्जलि को उतान करने से कपाल मुद्रा कही गयी है ॥ -१ ॥

यह मुद्रा विश्व का संहार करने में प्रवृत्त संवित् के स्वरूप का अनुकरण है । जैसा कि मैंने ही श्री भैरवानुकरणस्तोत्र में कहा है—

'मैं (भैरव) शाक्ताण्ड खण्ड के मध्य में सदा विश्वरस का इस प्रकार (जब) संहरण करता हूं (तब) तुम करकपालगतरुधिर के व्याज से मेरे अन्दर उसको

यद्यपि—

'मुण्डखट्वाङ्गधारिणम्' (२।९१)

इति पूर्वं पठितम्, तथापीह कपालमुद्रोक्तेर्मुण्डस्थाने कदाचित् कपालं भवतीत्यादिशति । मुण्डमुद्रापि खड्गवद् मुष्टिदर्शं दर्शनीया ॥ १ ॥

तिर्यक्कृत्वा करं वामं कनिष्ठाद्यङ्गुलित्रयम् ।
अङ्गुष्ठेनाक्रमेद् देवि ऋज्वीं कृत्वा प्रदेशिनीम् ॥ २ ॥
पराङ्मुखं करं कृत्वा स्कन्धदेशे निवेशयेत् ।
खट्वाङ्गं कीर्तितं ह्येतत्..............

वाममितिनिर्देशात् कपालमुद्रा दक्षिणेन निर्देश्येति ध्वनति । तथा च श्रीमालिनीविजये—

'निम्नं पाणितलं दक्षमीषत्तत्कुञ्चिताङ्गुलि।
कपालमिति विज्ञेयम्.................. ॥' (७।२३) इति ।

अङ्गुलित्रयमिति मुष्टिसंनिवेशेन स्थितमित्यर्थात् । पराङ्मुखमिति स्कन्धापेक्षया । एतन्मुद्रासतत्त्वमपि तत्रैव स्तोत्रे प्रदर्शितम्—

'निःशेषाहृतसारा मय्येव जगत्स्थितिस्तदेकमये ।

अभिव्यक्त करती हो ॥'

यद्यपि पहले—

'मुण्डखट्वाङ्गधारिणम् ।' (२।९१)

ऐसा पाठ किया गया तथापि यहाँ कपालमुद्रा के कथन से मुण्ड के स्थान में कदाचित् कपाल हो-ऐसा निर्देश (भैरव) करते हैं । मुण्डमुद्रा भी खड्गमुद्रा के समान मुट्ठी को दिखा कर दिखलानी चाहिये ॥ १ ॥

हे देवि ! बायें हाथ को तिरछा कर कनिष्ठा अनामिका और मध्यमा नामक तीन अंगुलियों को अंगूठे से दबाये । पुनः प्रदेशिनी (= तर्जनी) को सीधी कर हाथ को उल्टा कर कन्धे से लगाये । यह खट्वाङ्ग मुद्रा कही गयी है ॥ २-३- ॥

वामम्—इस निर्देश से कपाल मुद्रा दाँयें हाथ से दिखलानी चाहिये—भगवान् यह सङ्केत करते हैं । मालिनीविजय तन्त्र में वही कहा है—

'दाहिने हाथ का तल नीचे होना चाहिये । अङ्गुलियाँ थोड़ीं सिकुड़ी हुई हों । यह कपाल मुद्रा समझनी चाहिये ।' (मा.वि.तं. ७।२२-२३)

तीनों अंगुलियाँ—मुट्ठी के आकार में स्थित हों इतना अर्थात् समझना चाहिये । पराङ्मुख—कन्धे की अपेक्षा से । इस मुद्रा का तत्त्व उसी स्तोत्र में बतलाया गया है—

इति खट्वाङ्गकरङ्कोद्वहनच्छलतो ददास्याज्ञाम् ॥' इति ॥

अथ—

................खड्गमुद्रां निबोध मे ॥ ३ ॥

अङ्गुष्ठेनाक्रमेद् देवि सकनिष्ठामनामिकाम् ।
मध्यमां तर्जनीं चोर्ध्वं खड्गमुद्रा प्रकीर्तिता ॥ ४ ॥

स्कन्धक्षेत्रे पराङ्मुखदक्षकरप्रदर्शनीया एषा । कृत्वेति शेषः । यदुक्तं तत्रैव—

'अन्तःशक्तिकृपाणीं व्यनक्षि संसृतिविभेदिनीमसिना ।
निजशक्तिमहिमस्वीकृतसमस्तविश्वा हि वीरवराः ॥' इति ॥ ४ ॥

मुष्टिं बद्ध्वा कनिष्ठां च प्रसार्येत वरानने ।
आत्मनः सम्मुखं कृत्वा स्फरस्ते कथितो मया ॥ ५ ॥

कृत्वेति वामहस्तमित्यर्थात् । स्फर इति स्फर इत्युच्यमानम् । उक्तं च तत्रैव—

'भवभयहर्ता सोऽहं स्फराख्योऽवस्थितोऽस्मि मा भैष्ट ।
इत्यास्फोटितखेटकदर्शनतो दिशसि नः स्वामिन् ॥' इति ॥ ५ ॥

'हे भगवन्! आप निःशेष आहृतसार वाली जगत्स्थिति तदेकमय (= जगन्मय) मेरे ही अन्दर है—इस प्रकार खट्वाङ्गमुद्रा के बहाने मुझे आज्ञा देते हैं' ॥

अब—

मुझसे खड्गमुद्रा को जानो । हे देवि! अँगूठे से कनिष्ठा और अनामिका को दबाये । मध्यमा और तर्जनी को ऊपर खड़ी करके रखे । यह खड्गमुद्रा कही गयी है ॥ -३-४ ॥

कन्धे के ऊपर दाहिने हाथ को उल्टा कर इस मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये । (ऊर्ध्व के बाद) 'कृत्वा' जोड़ना चाहिये । जैसा कि वहीं (= भैरवानुकरण-स्तोत्र में) कहा गया—

'(हे परमेश्वर! आप) सृष्टि का भेदन करने वाली अन्तःशक्तिरूप कृपाणी को व्यक्त करते हैं । खड्ग के द्वारा अपनी शक्ति की महिमा से समस्त विश्व को स्वीकृत (= अपने वश में) करने वाले ही वीरवर (= श्रेष्ठ वीर) होते हैं' ॥ ४ ॥

हे वरानने! मुट्ठी को बाँध कर कनिष्ठा को अपने सामने फैलाया जाय तो यह मैंने तुमको स्फर मुद्रा बतलायी ॥ ५ ॥

(अपने सामने) बाँये हाथ को करके । स्फर = स्फर नाम वाली । वहीं पर कहा गया—

'हे स्वामिन्! भवभयहर्त्ता वह मैं स्फर नाम से स्थित हूँ । डरो मत—आस्फोटित खेटकदर्शन के द्वारा आप हमको इस प्रकार का उपदेश देते हैं' ॥ ५ ॥

मुष्टिं बद्ध्वा देवेशि तर्जन्यूर्ध्वं तु कुञ्चयेत् ।
अङ्कुशः कथितो ह्येष..........

दक्षिणपाणिं निर्वर्त्य । उक्तं च तत्रैव—

'भेदमयमखिलमेतन्निजशक्त्यैवाक्षिपामि संहर्तुम् ।
इत्यङ्कुशधारणतः स्फुटयति परभैरवोऽस्माकम् ॥' इति ॥

अथ वामपाणिना प्रदर्श्यम्—

..............पाशमुद्रां निबोध मे ॥ ६ ॥

तर्जनीं वर्तुलां कृत्वा मूलेऽङ्गुष्ठस्य योजयेत् ।
पाशस्तु कथितो ह्येष दुष्टजालनिबन्धकः ॥ ७ ॥

अङ्गुष्ठस्येति तत्स्थाने मुष्ट्याकृतिवामसम्बन्धिनः । दुष्टजालं विघ्नसमूहः । अस्यापि तत्रैव तत्त्वं प्रदर्शितम्—

'निजशक्तिपाशवलितश्चिद्भस्मना कल्पते महाकालः ।
इति पाशधारणवशात् प्रथयानः कालकालस्त्वम् ॥' इति ॥ ७ ॥

मुष्टिं बद्ध्वा वरारोहे सम्प्रसार्य प्रदेशिनीम् ।
नाराचस्तु समाख्यातः समासात्तव भैरवि ॥ ८ ॥

हे देवेशि! मुट्ठी बाँधकर तर्जनी को ऊपर खड़ी कर थोड़ी सी टेढ़ी करे । यह अङ्कुश कहा गया है ॥ ६- ॥

यह मुद्रा दाँयें हाथ से बनायी जाती है । वहीं पर कहा गया है—

'अङ्कुश मुद्रा के धारण से परभैरव हमें यह स्पष्ट करते हैं कि अपनी शक्ति के ही द्वारा इस भेदमय सम्पूर्ण जगत् का संहार करने के लिये मैं (अङ्कुश मुद्रा का) आक्षेप करता हूँ ॥'

अब बाँये हाथ से प्रदर्श्य—

पाश मुद्रा को मुझसे जानो । तर्जनी को गोल कर उसे अंगूठे के मूल में युक्त करे । यह दुष्टजालनिबन्धक पाशमुद्रा कही गयी है ॥ -६-७ ॥

अँगूठे के = मुट्ठी की आकृति वाले बाँये अँगूठे के । दुष्ट जाल = विघ्न-समूह । इसका भी तत्त्व वहीं बतलाया गया—

'चिद्भस्म के द्वारा अपनी शक्ति रूपी पाश से वलित महाकाल की रचना होती है । पाश मुद्रा के धारण के द्वारा ऐसा बतलाते हुए आप काल के भी काल हैं' ॥ ७ ॥

हे वरारोहे! मुट्ठी को बाँध कर तर्जनी को फैला दिया जाय तो हे भैरवि! यह संक्षेप में तुम्हें नाराच मुद्रा बतलायी गयी ॥ ८ ॥

सम्प्रसार्येति धनुरारूढनाराचवत् पार्श्वस्थित्येत्यर्थः । अस्यापि समनन्तरवक्ष्यमाणपिनाकमुद्रासहितस्य तत्रैव स्वरूपं निर्णीतम्—

'कोदण्डारूढशरप्रदर्शनाद् ब्रह्माविष्णुरुद्रेशान् ।
ससदाशिवकारणहरिणान् शक्त्या भिनत्सि युगपत्त्वम् ॥' इति ॥ ८ ॥

मुष्टिं बद्ध्वा प्रसार्येत तर्जन्यङ्गुष्ठकं प्रिये ।
अग्रे निकुञ्चयेत् किञ्चित् पिनाकं परिकीर्तितम् ॥ ९ ॥

पिनाकं धनुः । अग्रे किञ्चिदाकुञ्चनाद् धनुराकार एव सन्निवेशो भवति । अस्यापि सतत्त्वमुक्तमेव ॥ ९ ॥

अग्रप्रसारितो हस्तः शिलष्टशाखो वरानने ।
पराङ्मुखं तु तं कृत्वा त्वभयः परिकीर्तितः ॥ १० ॥

पताकहस्तो दक्षिणः स्वशरीरपराङ्मुख उत्थित इत्यर्थः । उक्तं च तत्रैव—

'अभयेन च भयान्युन्मूलतया प्रकाश्यते सततम् ।
विश्वानुग्रहकरणस्वभावता तव करण तेन ॥' इति ॥ १० ॥

वामं भुजं प्रसार्यैव जानूपरि निवेशयेत् ।
प्रसृतं दर्शयेद् देवि वरः सर्वार्थसाधकः ॥ ११ ॥

फैला कर = धनुष पर चढ़ाये गये बाण की भाँति पार्श्वस्थिति के द्वारा । तुरन्त बाद वक्ष्यमाण पिनाकमुद्रा के सहित इसका भी रूप वहीं बतलाया गया—

'धनुष पर आरूढ़ बाण मुद्रा के प्रदर्शन से आप ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर और सदाशिव नामक पञ्च कारणरूप हरिणों का अपनी शक्ति के द्वारा एक साथ भेदन करते हैं' ॥ ८ ॥

हे प्रिये ! मुट्ठी को बाँध कर तर्जनी और अंगूठे को फैलाये । इनके अग्रभाग को थोड़ा झुकाये । यह पिनाक मुद्रा कही गयी है ॥ ९ ॥

पिनाक = धनुष । आगे थोड़ा झुकाने से यह सन्निवेश धनुष के आकार का हो जाता है । इसका भी तत्त्व (= स्वरूप एवं महत्त्व) कहा गया ॥ ९ ॥

हे वरानने ! सटी हुई अंगुलियों वाले हाथ को आगे फैलाया जाय । उस हाथ को उल्टा करने से अभय मुद्रा कही गयी है ॥ १० ॥

पताका के समान दाहिना हाथ (को उठाये यह हाथ) अपने शरीर के विपरित होता है—यह अर्थ है । वहीं कहा गया है—

'भय का उन्मूलन करने वाली अभय मुद्रा के द्वारा आप अपने विश्वानुग्रहकारी स्वभाव को प्रकाशित करते हैं । इस कारण यह (= अनुग्रह) आपका करण (= कार्य) है' ॥ १० ॥

उक्तं च तत्र—

'वरदेन पाणिना त्वं विश्वविभूतिप्रदत्वमभिनयसि ।
न खलु परतत्त्वनिष्ठो वित्तमलैः स्पृश्यते जातु ॥' इति ॥ ११ ॥

घण्टाकारं करं वामं कृत्वा चैव त्वधोमुखम् ।
दक्षहस्तस्य तर्जन्या घृषेद् घण्टा प्रकीर्तिता ॥ १२ ॥

अस्यापि वक्ष्यमाणवीणाडमरुमुद्राभ्यां सह तत्रैव सतत्त्वं दर्शितम्—

'वीणाघण्टाडमरूनुड्डामरदर्शयन्निदं दिशसि ।
वृत्तित्रिभेदभिन्नं नादामर्शं निभालयन्नन्तः ॥' इति ॥ १२ ॥

कनिष्ठिकां समाक्रामेदङ्गुष्ठेन समाहितः ।
प्रसार्य चाङ्गुलीस्तिस्त्रस्त्रिशूलं परिकीर्तितम् ॥ १३ ॥

समाहित इति । तत्तत्संवित्स्फारात्मकवीर्यसारतां सर्वमुद्राणामनुसन्दधीतेत्यनेनादिशति । वीर्यं चास्य तत्रैव दर्शितम्—

'ज्वलदिच्छादिकशक्तित्रितयां तां सुन्दरां परां शक्तिम् ।

हे देवि ! बाँयीं भुजा को फैलाकर घुटने के ऊपर रखे । उसको फैली हुई दिखाये । यह सर्वार्थसाधक वरद मुद्रा है ॥ ११ ॥

वहाँ पर कहा भी गया है—

'वरद (मुद्रायुक्त) हाथ से आप विश्वविभूतिप्रदता का अभिनय करते हैं । (साथ ही) आप परतत्त्व में स्थित ऐश्वर्यमल से कभी भी स्पृष्ट नहीं होते' ॥ ११ ॥

बाँये हाथ को घण्टा के आकार का बना कर उसको अधोमुख करे । दाँयें हाथ की तर्जनी से (उस बाँये हाथ का) घर्षण करे । यह घण्टा मुद्रा कही गयी है ॥ १२ ॥

वक्ष्यमाण वीणामुद्रा एवं डमरू मुद्रा के साथ इसका भी तत्त्व वहीं पर दिखलाया गया है—

'वीणा घण्टा डमरू मुद्राओं को दिखलाते हुए यह बतलाते हो कि आप अपने अन्दर वृत्ति के तीन (= सात्त्विक, राजस एवं तामस) भेद से भिन्न नादामर्श का निभालन कर रहे हैं' ॥ १२ ॥

समाहित होकर कनिष्ठा को अंगूठे से दबाइये एवं शेष अंगुलियों को फैलाये यह त्रिशूल मुद्रा कही गयी है ॥ १३ ॥

'समाहितः'—इस कथन से यह बतलाते हैं कि समस्त मुद्राओं की तत्तत् संवित्स्फारस्वरूपवीर्यसारता का अनुसन्धान करना चाहिये । इस मुद्रा की शक्ति वहीं दिखलायी गयी है—

देवानुकरोषि बहिस्त्रिशूलधारणमिषेण नित्यमपि ॥' इति ।

एषा च पराङ्मुखी जन्माधारात् प्रोल्लसच्छिखिशिखारूपा बिन्द्वन्तमेत्याराऽयोल्लासेन द्वादशान्ते प्राप्तस्थितिर्निबन्धनीयेति गुरवः ॥ १३ ॥

दण्डो वै मुष्टिबन्धेन..............

अनुकार्य इति शेषः । उक्तं च स्तोत्रे—

'जगदखिलं मच्छक्त्या दमितं सर्वा व्यवस्थितीर्धत्ते ।
इति दण्डधारणवशाद् व्यनक्ति चिद्भैरवोऽस्माकम् ॥' इति ।

गुरवस्तु—

'दण्डाख्यामृष्टसौषुम्ननाडीपथविराजिता ।' इति ॥

.................वज्रमुद्रां निबोध मे ।
वामहस्तमधः कृत्वा उत्तानं तु समाहितः ॥ १४ ॥
दक्षं चाधोमुखं कृत्वा त्वङ्गुष्ठं च कनिष्ठिकाम् ।
उभयोरपि सङ्घृष्य वज्रमुद्रां प्रदर्शयेत् ॥ १५ ॥

उत्तानमिति विरलं प्रसारिततर्जनीमध्यानामिकं दक्षं च तादृशमेव तदुपरि

'हे देव ! आप बाह्य त्रिशूल मुद्रा के धारण के द्वारा नित्य देदीप्यमान इच्छा आदि तीन शक्तियों वाली उस सुन्दर परा शक्ति का अनुकरण करते हैं ।'

हमारे गुरुदेव का विचार है प्रोल्लसत् अग्निशिखा रूपी पराङ्मुखी इसको जन्माधार (= मूल आधार) से लेकर बिन्दु पर्यन्त तीन अराओं के उल्लास के साथ द्वादशान्त में स्थापित करना चाहिये ॥ १३ ॥

मुष्टिबन्ध से दण्ड मुद्रा का अनुकरण करना चाहिये ॥ १४- ॥

अनुकरण करना चाहिए—यह शेष है । पूर्वोक्त स्तोत्र में कहा भी गया है—

'चिद्भैरव दण्ड मुद्राधारण के द्वारा हम लोगों को यह बतलाते हैं कि मेरी शक्ति के द्वारा दमित सम्पूर्ण जगत् (मेरे द्वारा प्रवर्त्तित) सकल व्यवस्थाओं को धारण करता है ॥'

हमारे गुरु का विचार है कि—

'दण्ड नामक मुद्रा अमृष्ट सुषुम्ना नामक नाडीपथ में विराजमान है ।'

अब मुझसे वज्रमुद्रा को जानो । (साधक) समाहित होकर बाँयें हाथ को नीचे उत्तान रखे । उसके ऊपर दायें हाथ को अधोमुख रखे । दोनों हाथों के अंगूठों और कनिष्ठिकाओं को दबायें । इस प्रकार वज्रमुद्रा का प्रदर्शन करे ॥ -१४-१५ ॥

उत्तान—बायें हाथ की तर्जनी, मध्यमा और अनामिका को विरल करके

पराङ्मुखं न्यस्तमुभयोः परस्परमङ्गुष्ठकनिष्ठिकाबन्धनेन पार्श्वकृतकूर्परविन्यासेन पार्श्वसन्निविष्टतामस्याः सूचयति । वीर्यं च तत्रैव दर्शितम्—

'इच्छादिकनिजशक्तिप्रकाशिताधःस्थगोचरत्रितयाम् ।
स्वामेव परां शक्तिं वज्रमयीं वहसि षडरां त्वम् ॥' इति ।

गुरवोऽपि—

वज्रमुद्रा बन्धकर्त्री सुस्थितिः स्वस्तिकायते' इति ॥ १५ ॥

डमरुं मुष्टिबन्धेन दक्षहस्तस्य सुव्रते ।
सुषिरेण समायुक्तं दर्शयेत्तु वरानने ॥ १६ ॥

तत्त्वमस्याः प्रदर्शितमेव ॥ १६ ॥

मुद्गरं तु प्रवक्ष्यामि हस्तौ द्वौ सम्प्रसारयेत्।
मुद्गरः कथितो ह्येष..............

सम्प्रसारयेदिति सम्मुखौ प्रसारयेत् परस्परसंलग्नावित्यर्थात् । अस्या अपि परशुमुद्रया सह तत्रैव तत्त्वं दर्शितम्—

'मुद्गरपरशू बिभ्रद् बैन्दवनादानुकाररूपौ त्वम् ।
भेदविभेदनशकलनपरत्वमीशान निर्दिशसि ॥' इति ।

फैलाये । दाँयें हाथ को भी वैसा ही फैला कर उस (= बायें हाथ) के ऊपर रख दे । अंगूठों और कनिष्ठिकाओं को परस्पर बाँधने से अर्थात् कूर्पर को पास-पास रखने से इस मुद्रा की पार्श्वसन्निविष्टता को सूचित करते हैं । इसकी शक्ति वहीं दिखलायी गयी—

'आप अपनी इच्छा आदि शक्तियों के द्वारा अधःस्थ तीन को विषय बनाने वाली अपनी ही छह अरों वाली वज्रमयी पराशक्ति को धारण करते हैं ॥'

गुरुदेव भी कहते हैं—

'वज्रमुद्रा बन्धन में डालती है किन्तु शोभन स्थिति में रखने पर कल्याण करती है' ॥ १५ ॥

हे सुव्रते ! दाँये हाथ की मुट्ठी बाँधने से डमरू मुद्रा होती है । हे वरानने ! उसे छिद्र से युक्त दिखलाना चाहिये ॥ १६ ॥

इसका तत्त्व बतला दिया गया ॥ १६ ॥

मुद्गरमुद्रा को बतलाऊँगा । दोनों हाथों को फैलाना चाहिये । यह मुद्गर मुद्रा कही गयी है ॥ १७- ॥

फैलाना चाहिये—परस्पर सटे हुए एक दूसरे के सम्मुख (फैलाना चाहिये) । परशुमुद्रा के साथ इसका भी तत्त्व वहीं दिखलाया गया है—

गुरवोऽपि—

'गाढग्रन्थिगणास्फोटो मुद्गरेण प्रवर्तते ।' इति ।

श्रीपूर्वशास्त्रे तु मुद्गरमुद्रा त्रिशिखा दर्शिता । तथा च—

'करावूर्ध्वमुखौ कार्यावन्योन्यान्तरिताङ्गुलि ।
अनामे मध्यपृष्ठस्थे तर्जन्यौ मूलपर्वत: ॥
मध्ये द्वे तु युते कार्ये कनिष्ठे परुषावधि ।
तर्जन्यौ मध्यपार्श्वस्थे विरले परिकल्पिते ॥
मुद्गरस्त्रिशिखो ह्येष क्षणादेवोपकारक: ।' (७।२७-२९) इति

अथ—

.........वल्लकीं च निबोध मे ॥ १७ ॥

वल्लकीं वीणाम् ॥ १७ ॥

हस्तौ प्रसारयेद् देवि उत्तानौ तु समाहित: ।
अनामे कुञ्चयित्वा तु वीणामुद्रा प्रकीर्तिता ॥ १८ ॥

'हे ईशान ! बैन्दव नाद के अनुकाररूप मुद्गर और परशु मुद्राओं को धारण करने वाले आप अपनी भेदविभेदनपरता तथा शकलन (= टुकड़ों में बाँटना) परता को बतलाते हैं ।'

हमारे गुरुदेव भी—

'मुद्गर मुद्रा के द्वारा दृढ़ ग्रन्थिसमूह का स्फोटन (= फोड़ना) प्रवर्त्तित होता है ।'

मालिनीविजयतन्त्र में मुद्गर मुद्रा तीन शिखा वाली कही गयी है—

'दोनों हाँथों को ऊर्ध्वमुख करे । एक हाथ की अंगुलियाँ दूसरे हाथ की अंगुलियों के भीतर लगी हों । दोनों अनामिकायें करपृष्ठ के मध्य में स्थित हों । दोनो तर्जनियाँ मूलपर्व में लगी हो । दोनों मध्यमाओं को परस्पर मिला देनी चाहिये । कनिष्ठाओं को परुष (= गाँठ) तक रखना चाहिये । दोनों मध्यपार्श्व में अलग-अलग रखी गयी हों । यह त्रिशिख मुद्गर मुद्रा कही गयी है जो क्षणमात्र में उपकार करती है ।' (मा.वि.तं. ७।२७-२९)

अब मुझसे वल्लकी मुद्रा को जानो ॥ -१७ ॥

वल्लकी = वीणा ॥ १७ ॥

हे देवि ! साधक समाहित होकर दोनों हाथों को उत्तान फैलाये । दोनों अनामिकाओं को आकुञ्चित (= मुड़ी हुई) करे । यह वीणा मुद्रा कही गयी ॥ १८ ॥

कुब्जावीणाविषया । एषा वामपार्श्वे प्रदर्शनीया । अस्या: सतत्त्वं दर्शितमेव ॥१८॥

प्रसारयेदङ्गुलीस्तु कनिष्ठानाममध्यमा: ।
अङ्गुष्ठेनाक्रमेदाद्यां परशु: समुदाहृत: ॥ १९ ॥

स्वपराङ्मुखेन दक्षहस्तेन स्कन्धदेशे प्रदर्शनीयोऽयम् । तत्त्वमस्या: पूर्वमेव दर्शितम् । एताश्च मुद्रा गुप्ता: प्रदर्शनीया:, अगुप्ते त्वायतनादौ वस्त्राच्छादिता:, अथवा स्मर्तव्या एवेति गुरव: । केचिदत्र परशुमुद्रास्थाने—

'भ्रामयेदङ्गुले द्वे तु चक्रं दुष्टनिकृन्तनम्'

इति पठन्ति । अन्यैस्त्वेतत्प्रसङ्गात् शङ्खपद्ममुद्रालक्षणमपि क्षिप्तम्, अपरैस्तु परशुलक्षणम्—

'राजावर्तनिभो देवि मुद्गर: परशुस्तथा ।'

इत्येतदनन्तरं पठितम् । तत् सर्वमुपक्रमोपसंहारानुरूपत्वादुपेक्ष्यम् । एवं च प्रायशो ग्रन्थान्तरप्रक्षेपो ग्रन्थविपर्यास: पाठविपर्यासश्चास्य ग्रन्थस्य दुर्मेधोभि: परिकल्पित: शतशाखो दृश्यते । सोऽस्माभि: पुरातनपुस्तकान्वेषणतो यावद्गति

यह मुद्रा कुब्जावीणाविषय वाली है । इसे बाँयें पार्श्व में प्रदर्शित करना चाहिये । इसके तत्त्व का वर्णन किया जा चुका है ॥ १८ ॥

कनिष्ठा अनामिका और मध्यमा अंगुलियों को फैलाये । प्रथम (अर्थात् कनिष्ठा) को अंगूठे से दबाये । यह परशु मुद्रा कही गयी है ॥ १९ ॥

यह मुद्रा स्कन्ध के ऊपर अपनी ओर झुके दाँयें हाथ से दिखलानी चाहिये । इसका तत्त्व पहले ही बतला दिया गया है । इन मुद्राओं का गुप्त प्रदर्शन करना चाहिये । यदि गृह आदि गुप्त स्थान न हों तो वस्त्र से आच्छादित कर प्रदर्शन करना चाहिये । अथवा (अगुप्त परिस्थिति में उनका) केवल स्मरण करना चाहिये— ऐसा हमारे गुरु कहते हैं । कुछ लोग परशुमुद्रा के स्थान में—

'दो अंगुल (की परिधि में हाथ को) घुमाना चाहिये । यह चक्र मुद्रा कही गयी है जो दुष्टों का नाश करती है ।'

ऐसा पाठ करते हैं । अन्य विद्वान् इस प्रसङ्ग के कारण शङ्ख एवं पद्म मुद्रा के लक्षण का भी आक्षेप करते हैं । दूसरे लोगों ने परशुमुद्रा के लक्षण का पाठ—

'हे देवि ! मुद्गर मुद्रा राजावर्त्त (= लाजावर्त्त रत्न) के समान (= आकार वाली, कही गयी) है ।'

इसके बाद किया है । यह सब कथन उपक्रम और उपसंहार के अनुरूप न होने से उपेक्ष्य है । इसी प्रकार दुष्टबुद्धि लोगों के द्वारा इस ग्रन्थ का ग्रन्थान्तर प्रक्षेप, ग्रन्थविपर्यास, ग्रन्थ का पाठविपर्यास सैकड़ों की संख्या में किया गया है ।

अपसारित इत्यास्तामेतत् ॥ १९ ॥

एतदुपसंहरन् प्रकृते योजयति—

एता मुद्रा महादेवि भैरवस्य प्रदर्शयेत् ।
आवाहने निरोधे च तथा चैव विसर्जने ॥ २० ॥

एता इत्युपसंहारात् कः परशुमुद्रायाः परो ग्रन्थेऽवसरो भैरवस्योक्तः, कश्चक्रपद्मादिमुद्राणामवकाशो ध्यानग्रन्थे तेषामनुद्देशादिति यथापठितमेव साधु । आवाहनेत्यादिना—

'मुद्रां प्रदर्शयेत् पश्चात्त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि।' (२।१०२)

इति पूर्वोक्तमेव निर्वाहितम् ॥ २० ॥

अथ ये वक्त्राङ्गभैरवाद्या आवरणस्थाः, तेषां साधारणं मुद्राबन्धं प्रदर्शयति—

कपालं चैव खट्वाङ्गमनुक्तेषु प्रदर्शयेत् ।

सर्वेषां ज्ञानक्रियाशक्तिस्फारसारत्वाद् मुद्राणां सन्निवेशमुक्त्वा यथौचित्यमासां मानसं रूपमाह—

हमने प्राचीनपुस्तकों के अन्वेषण से यह सब जहाँ तक सम्भव हुआ, दूर कर दिया है । अतः यहीं पर विराम करते हैं ॥ १९ ॥

इसका उपसंहार करते हुए प्रस्तुत की चर्चा करते हैं—

हे महादेवि ! स्वच्छन्द भैरव के आवाहन, स्थापन और विसर्जन के समय इन मुद्राओं का प्रदर्शन करना चाहिये ॥ २० ॥

'एताः.............' ऐसा उपसंहार करने से इस ग्रन्थ में भैरव के लिये परशुमुद्रा का दूसरा अवसर कहाँ और कहाँ चक्रमुद्रा पद्ममुद्रा आदि का अवकाश ? क्योंकि ध्यान के ग्रन्थ में उनकी चर्चा नहीं है । इसलिये जैसा पाठ है वही ठीक है । आवाहन इत्यादि के द्वारा—

'त्रिकाल कर्म में बाद में तीन बार मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये ।'(२।१०२)

इस पूर्वोक्त कथन का ही निर्वाह किया गया ॥ २० ॥

इसके बाद जो आवरण में रहने वाले वक्त्राङ्गभैरव आदि है उनके लिये साधारण मुद्राबन्ध का प्रदर्शन करते हैं—

अनुक्त (देवताओं) के विषय में कपाल और खट्वाङ्ग मुद्रा का प्रदर्शन करना चाहिये ॥ २१- ॥

चूँकि समस्त मुद्रायें ज्ञानशक्ति एवं क्रियाशक्ति की स्फार हैं इसलिये उनका सन्निवेश बतला कर औचित्य के अनुसार इनके मानसिक रूप को कहते हैं—

कपालं धवलं ज्ञेयं खट्वाङ्गं च तथैव हि ॥ २१ ॥
त्रिशूलं चैव नाराचं खड्गो नीलोत्पलप्रभः ।
स्फरं रक्तं पिनाकं च कृष्णं सम्परिकीर्तितम् ॥ २२ ॥
घण्टा हेमप्रभा ज्ञेयाङ्कुशो मरकतप्रभः ।
पाशो भिन्नाञ्जननिभः स्फटिकाभोऽभयः स्मृतः ॥ २३ ॥
वरश्चित्तप्रसादेन ध्यातव्यो वरवर्णिनि ।
डमरुं हेमसङ्काशं वीणां चैतत्समप्रभाम् ॥ २४ ॥
दण्डं रक्तं विजानीयाद्वज्रं पीतं विचिन्तयेत् ।
राजावर्तनिभो देवि मुद्गरः परशुस्तथा ॥ २५ ॥

चित्तप्रसादेनेति प्रसादश्चित्ततुल्योऽनुपाधिसंवित्प्रकाशरूप इति यावत् ॥ २५ ॥

उपसंहरति—

मुद्रापीठं समाख्यातं चतुर्वर्गफलोदयम् ।

न केवलं पूर्वनिर्दिष्टनीत्येदं तन्त्रं विद्यामन्त्रमण्डलपीठरूपं यावदिह मुद्राश्रयतया मुद्रापीठरूपमपि । चतुर्वर्गस्य समय्यादिचतुष्टयस्य रक्षासन्निधितत्त्वानुप्रवेशहेतुत्वात् फलोदयो यतः । एतत्—

'चतुष्पीठं महातन्त्रं चतुर्वर्गफलोदयम्' (१।५)

कपाल और खट्वाङ्ग श्वेतवर्ण के जानने चाहिये । त्रिशूल नाराच और खड्ग नील कमल के रंग वाले हैं । स्फर मुद्रा रक्त और पिनाक कृष्ण वर्ण का कहा गया है । घण्टामुद्रा को हेमाभ और अङ्कुश को मरकत की प्रभा वाला जानना चाहिये । पाश मुद्रा गाढ़ अञ्जन जैसी और अभयमुद्रा स्फटिकाभ मानी गयी है । वे वरवर्णिनि ! वरदमुद्रा का चित्तप्रसाद (= प्रकाश वर्ण) से ध्यान करना चाहिये । डमरू स्वर्ण जैसी वीणा भी ऐसी ही जाननी चाहिये । दण्ड मुद्रा को रक्त, वज्र को पीत, मुद्गर और परशु को लाजवर्त्त के रङ्ग की जाननी चाहिये ॥ -२१-२५ ॥

चित्त प्रसाद से—चित्ततुल्य उपाधिरहित संवित्प्रकाशरूप ॥ २५ ॥

(इस वर्णन का) उपसंहार करते हैं—

चतुर्वर्ग फल देने वाले मुद्रापीठ का वर्णन किया गया ॥ २६- ॥

न केवल पूर्वनिर्दिष्ट नीति के अनुसार यह तन्त्र विद्यामन्त्रमण्डलपीठ रूप है बल्कि यहाँ मुद्रा का आश्रय होने से मुद्रापीठरूप भी है । ('चतुर्वर्गफलोदय' का अर्थ स्पष्ट करते हैं—) क्योंकि चतुर्वर्ग—समयी आदि (= पुत्रक, साधक, आचार्य) चार रक्षासन्निधितत्त्व के अनुप्रवेश का हेतु होने से फलदायक होता है । यह—

इत्यस्य ग्रन्थस्य निगमनरूपम् ॥

एवं मुद्राणां कायीयं मानसं च रूपमुक्त्वा, वाचिकमप्याह—

प्रणवासनमारूढा ओंकाराद्या वरानने ॥ २६ ॥
स्वनामकृतविन्यासा नमस्कारावसानिकाः ।

भगवच्छक्तिरूपाणां मुद्राणां स्वरूपं विमृशेत् ॥

एवं सन्निवेशबन्धध्यानमन्त्रपरामर्शस्फुटीकृता एता विघ्नत्राणभगवत्स्वरूप-सन्निधानतदनुप्रवेशनादिरूपाणि—

साधयन्ति महादेवि फलानि विविधानि तु ॥ २७ ॥

देव्या महत्पदेन विशेषणेन मुद्रावीर्यज्ञतां प्रकाशयन्मुद्राणां वीर्यमेव सारभूत-मिति शिक्षयति ॥ २७ ॥

पाटलिकं प्रमेयमुपसंहरति—

निर्विघ्नकरणं ख्यातं मुद्राणां लक्षणं प्रिये ।

'चतुष्पीठ (= चार पीठों वाला = विद्या मन्त्र मण्डल और मुद्रा नामक पीठों वाला) महा तन्त्र चतुर्वर्ग फल को देने वाला है ।' (१।५)

इस ग्रन्थ का निगमन रूप है ॥

मुद्राओं के कायिक एवं मानसिक रूपों का वर्णन कर वाचिक रूप को बतलाते हैं—

हे वरानने ! ये मुद्रायें आदि में ॐकार वाली, प्रणवरूपी आसन पर आरुढ, स्वनामकृत विन्यास वाली तथा अन्त में 'नमः' वाली है (अर्थात् इनका ॐ खट्वाङ्गायै नमः, ॐ मुद्‍रायै नमः इत्यादि रूप कहा गया है) ॥ -२६-२७- ॥

इन मुद्राओं का भगवान् की शक्ति के रूप में स्मरण करना चाहिये ॥

इस प्रकार सन्निवेश बन्ध ध्यान और मन्त्र के परामर्श से स्फुट की गयी ये मुद्रायें विघ्नों से रक्षा भगवत्स्वरूप की सन्निधि तथा उसमें अनुप्रवेश रूप—

अनेक प्रकार के महा फलों को सिद्ध करती है ॥ -२७ ॥

'देवी' पद के साथ विशेषण के रूप में 'महत्' पद को जोड़ने से (देवी) मुद्रा के वीर्य को जानती हैं—इसको स्पष्ट करते हुए मुद्राओं का वीर्य ही उनका सार है—यह बतलाते हैं ॥ २७ ॥

पटल के प्रमेय का उपसंहार करते हैं—

हे प्रिये ! विघ्नों को दूर करने वाले मुद्रालक्षण को बतलाया गया ।

वेदितव्यं प्रयत्नेन साधितव्यं महात्मना ॥ २८ ॥

यद्यपि भगवत्सन्निधानतदनुप्रवेशादौ विघ्नव्युदासार्थं समय्यादिभिरप्येतन्मुद्रा-लक्षणं ज्ञातव्यम्, तथापि साधकेन विशेषतो ज्ञातव्यम्, मुद्राबन्धरक्षितस्यैवास्य साध्यसिद्धेः । यथोक्तं पूर्वशास्त्रे—

'याभिस्तु रक्षितो मन्त्री मन्त्रसिद्धिमवाप्नुयात्' (७।१)

इति शिवम् ॥ २८ ॥

स्वावष्टम्भवशोन्मिषन्निजमहामन्त्रावमर्शस्फुरत्-
स्वच्छन्दस्फुरणामयाः परतरस्फारामृतस्यन्दिनः ।
उद्यन्त्येव तनावकृत्रिमतया द्रागेव मुद्राक्रमा
यस्य त्रोटति पाशकुञ्जरभरः पायात् स एकः शिवः ॥

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्य-व्याख्योपेते मुद्राप्रकाशः नाम चतुर्दशः पटलः ॥ १४ ॥



महात्मा साधक के द्वारा इसको जानना चाहिये तथा इसकी साधना करनी चाहिये ॥ २८ ॥

यद्यपि परमेश्वर का सन्निधान और उनमें 'अनुप्रवेश' आदि में आने वाले विघ्न को दूर करने के लिये समयी आदि को भी इस मुद्रालक्षण को जानना चाहिये तथापि साधक को विशेष रूप से जानना चाहिये क्योंकि मुद्राबन्ध से रक्षित साधक को ही सिद्धि मिलती है । जैसा कि मालिनीतन्त्र में कहा गया—

'जिनके द्वारा रक्षित मन्त्री मन्त्र की सिद्धि प्राप्त करता है ।' (मा.वि.तं. ७।१)

सभी का कल्याण हो ॥ २८ ॥

अपने अवष्टम्भ (= अपनी अधीनता) के कारण उन्मिषित होने वाले महामन्त्र के अवमर्श से स्फुरित होने वाले स्वच्छन्द स्फुरणायुक्त परतर स्फाररूपी अमृत को स्यन्दित करने वाले मुद्राक्रम जिसके शरीर में स्वाभाविक रूप से उदित होते रहते हैं तथा जो पाशकुञ्जरभार को तोड़ देता है । अकेले वे शिव (आपकी) रक्षा करे ॥

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के चतुर्दश पटल 'मुद्राप्रकाश' की श्रीक्षेमराज-विरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ १४ ॥



पञ्चदशः पटलः

*** स्वच्छन्दोद्योतः ***

(कर्त्ता सर्वस्य लोकस्य धर्त्ता हर्त्ता सहैव च ।
आधारः)स्वात्मविश्रान्तेः स्वच्छन्दो जयति प्रभुः॥

अथ समयिमध्ये समयिनां तान्त्रिकव्यवहारगोपनेन निर्विघ्नसिद्धिसम्पत्त्यर्थं प्राक्प्रमेयशेषतया पटलमारभमाणश्छुम्मकाशर्मपर्यायपारिभाषिकसंज्ञाभिर्लोकोत्तर-व्यवहारप्रवर्तनेन गूढतया शास्त्रस्यास्य रहस्यतां दर्शयितुं श्रीभैरव उवाच—

जपध्यानादियुक्तस्य चर्याव्रतधरस्य च ।
छुम्मकाः सम्प्रवक्ष्यामि साधकस्य वरानने ॥ १ ॥

छुम्मका तत्समयानुप्रविष्टसञ्चित्या पारिभाषिकी संज्ञा । साधकस्येति प्राचुर्या-श्रयेण ॥ १ ॥

*** ज्ञानवती ***

(समस्त लोकों के कर्त्ता धर्त्ता संहारक होने के साथ-साथ) स्वात्मविश्रान्ति के (अधारभूत) भगवान् स्वच्छन्द सबसे बढ़ कर हैं ॥

अब समयी के मध्य में समयी साधकों के तान्त्रिक व्यवहार के गोपन के द्वारा निर्विघ्न सिद्धि को प्राप्त करने के लिये पूर्ववर्णित प्रमेयों के शेष के रूप में पटल का आरम्भ करते हुए श्री भैरव छुम्मका शर्म पर्याय नामक पारिभाषिक संज्ञाओं के द्वारा लोकोत्तर व्यवहार के प्रवर्त्तन से गूढ के रूप में इस शास्त्र की रहस्यता को दिखलाने के लिये कहते हैं—

हे वरानने! जप ध्यान आदि से युक्त चर्याव्रतधारी साधक की छुम्मकाओं को बतलाऊँगा ॥ १ ॥

छुम्मका पारिभाषिक संज्ञा है जो उस समय (= मत) में अनुप्रविष्ट सञ्चय से होती है । साधक की = प्रचुर साधना वाले (साधक की) ॥ १ ॥

तत्र—

भैरवस्तु स्मृतो धाम सर्वदस्तु गुरुः स्मृतः ।
साधकस्तु गिरिर्ज्ञेयः पुत्रको विमलः स्मृतः ॥ २ ॥

आराध्यदेवतायाः परमोपादेयत्वात् तदुपक्रमेयमुक्तिः । धामेति सूर्यसोमवह्नि-तेजसामपि प्रकाशकत्वाद् विश्वविश्रान्तिस्थानकत्वाच्च धाम । सर्वद इति स्वात्मनि परिपूर्णतया निराकाङ्क्षस्य गुरोः परार्थैकप्रयोजनत्वात् । गिरिरित्यप्रकम्प्यत्वादा-राधनैकतत्परः । विमल इति सर्वस्याऽऽन्तरभूमेः संशोधनाद् विगतमलः । स्मृत इत्यविच्छेदेन पारम्पर्येण । एवमुत्तरत्र ॥ २ ॥

समयी कान्तदेहस्तु भगिन्यो बलदर्पिताः ।

कान्तदेह इति कान्तः शुद्धविद्यानुप्रवेशेन दीप्तिमान् देहो यस्य । मन्त्रसिद्धि-फलेन याः सञ्जातदर्पा नार्यस्ता भगिन्य इव मन्त्राराधननिष्ठानामिति तथोक्ताः ॥

सर्वेषामेषां यागोपयोगिद्रव्यविशेषविषयां छुम्मकामाह—

मद्यं तु हर्षणं ज्ञेयं..............

उसमें—

भैरव को धाम, गुरु को सर्वदाता, साधक को गिरि और पुत्रक को विमल कहा गया है ॥ २ ॥

चूँकि आराध्य देवता परम उपादेय होती है इसलिये इस कथन का उसी से प्रारम्भ किया गया । धाम—सूर्य, चन्द्रमा और अग्नि रूप तीनों तेजों के भी प्रकाशक होने तथा विश्वविश्रान्ति का स्थान होने के कारण ये भैरव धाम बतलाये गये हैं । सर्वद—चूँकि गुरु स्वयं में परिपूर्ण होने के कारण निराकाङ्क्ष होते हुए केवल दूसरे का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये ही होते हैं इसलिये उनको 'सर्वद' कहा गया । गिरि कहने का तात्पर्य है अप्रकम्प्य होने के कारण केवल आराधना में तत्पर । विमल—समस्त आन्तर भूमि के संशोधन के कारण मलरहित । स्मृत—अविच्छिन्न परम्परा के द्वारा । इसी प्रकार आगे भी (समझना चाहिये) ॥ २ ॥

समयी कान्तिमान देह वाला तथा भगिनियाँ बलदर्पित होती है ॥ ३-॥

कान्तदेह—कान्त = शुद्धविद्या के अनुप्रवेश से जिसका शरीर दीप्तिमान् हो गया है—वह । मन्त्रसिद्धि के फल से जो दर्पयुक्त नारियाँ है वे मन्त्र की आराधना में तत्पर लोगों की भगिनियों की भाँति (रक्षा करती हैं इसलिये वे) उस प्रकार की (= भगिनियाँ कही गयी) है ॥

इन सब की यागोपयोगी द्रव्यविशेषविषयक छुम्मका को बतलाते है—

हर्षयतीति कृत्वा ॥

...............मुदिता तु सुरा स्मृता ॥ ३ ॥

मुदितेति मुदितं हर्षस्तद्धेतुत्वात् ॥ ३ ॥

तथा—

मत्स्या जलचरा ज्ञेयाः...............

जलचरजातेः श्रीचर्याकुलनिरूपितनीत्या चरुभोजनतो दीक्षितत्वाद् भैरवयागे परमोपादेयत्वमित्येवं छुम्मकया निर्देशः ॥

................मांस च बलवर्धनम् ।

मांसेनासाधारणचमत्कारहेतुना रसादिधातुषट्कपरिपुष्टिक्रमाद् बलस्य वीर्यस्य वर्धनात्—

'जग्धिपानकृतोल्लासरसानन्दविजृम्भणात्' (७२)

इति श्रीविज्ञानभट्टारकनिरूपितनीत्या योगिनं प्रति बलस्य स्पन्दात्मनः शाक्तवीर्यस्य विवर्धनादुत्तेजनादेवमभिधानम् । गोवलीवर्दन्यायेन च मत्स्यान्मांसं व्यतिरिक्तमुच्यते ।

मद्य को हर्षण जानना चाहिये ॥ -३- ॥

क्योंकि वह हर्ष कराता है ।

सुरा को मुदिता कहा गया है ॥ -३ ॥

मुदिता—मुदित = हर्ष, उसका कारण होने से (सुरा मुदिता है) ॥ ३ ॥

मत्स्यों को जलचर (के नाम से) जानना चाहिये ॥ ४- ॥

चूँकि जलचरजाति चर्याकुलनिरूपित नीति के अनुसार चरुभोजन के रूप में दीक्षित होती है इसलिये भैरवयाग में परम उपादेय होने के कारण उनका छुम्मका शब्द के द्वारा निर्देश किया गया है ।

मांस को बलवर्धन (कहा गया है) ॥ -४- ॥

मांस असाधारण चमत्कार का कारण है, रस आदि (= रक्त, मेदा, मज्जा, अस्थि और शुक्र) छह धातुओं की परिपुष्टि के क्रम से बल का = वीर्य का वर्धक होने से—

'भोजन पान के द्वारा विहित उल्लास रस से आनन्द की भावना करने से (उत्कृष्ट आनन्द का अर्थात् शिवत्व का अनुभव होता है ।)' (वि.भै. ७२)

विज्ञानभैरव में प्रतिपादित इस नीति के अनुसार योगी के लिये बल = स्पन्दात्मक शाक्तवीर्य को बढ़ाने से अर्थात् उत्तेजित करने से—ऐसा कहा गया ।

जातं प्ररूढमित्याहुर्मृतं चैव पराङ्मुखम् ॥ ४ ॥

देहप्राणादिबन्धसांमुख्यादपवृत्तमित्याहुः पारम्पर्यनिष्ठाः ॥ ४ ॥

रक्तं त्वमृतमित्याहुः पद्मनालोऽन्त्रसञ्चयः ।
शुक्रं चन्द्रः समाख्यातः स्नायुः सूत्रं प्रकीर्तितम् ॥ ५ ॥

तत्तद्रहस्ययागविशेषोपयोगिनां रक्तहृत्पद्मान्त्रशुक्रस्नायूनाममृतं पद्मनालश्चन्द्रः सूत्रमिति गुप्तानि सङ्केतनामानि परमाप्यायहेतुत्वात् कर्णिकादलादियुक्तत्वादस्थूलदीर्घरूपत्वात् सितत्वाह्लादकत्वयोगात् तत्तदुपह्रियमाणवस्तुग्रथनहेतुत्वाच्चेत्येतेऽत्र हेतवः क्रमेण योज्याः । पद्ममित्यत्रावृत्त्या द्विः पद्मशब्दः स्थितः, तेन हृत् पद्ममित्येवमभिधातव्यमित्यर्थः ॥ ५ ॥

किञ्च वीरचर्यास्थानम्—

श्मशानं डामरं ज्ञेयं..............

समस्तशङ्कातङ्कत्रोटकत्वेनोड्डामरत्वाद् डामरम् ॥

गोवलीवर्द न्याय[1] से मांस को मत्स्य से पृथक् कहा गया ॥

जात को प्ररूढ और मृत को पराङ्मुख कहा जाता है ॥ -४ ॥

पारम्परिक विद्वान् देह प्राण आदि बन्धन के सम्मुख होने के कारण (उत्पन्न व्यक्ति को) अपवृत्त कहते हैं ॥ ४ ॥

रक्त को अमृत और आँतों के समूह को पद्मनाल शुक्र को चन्द्र और स्नायु को सूत्र कहा गया है ॥ ५ ॥

तत्तत् रहस्यात्मक विशेषयाग के लिये उपयोगी रक्त, हृदय कमल, आँत, शुक्र और स्नायुओं नाम क्रमशः अमृत पद्मनाल, चन्द्र, सूत्र ये गुप्त सङ्केत नाम हैं । इसका कारण यह है कि रक्त परमतृप्ति का हेतु है । हृदय कर्णिका दल आदि से युक्त है । आँते अस्थूल तथा दीर्घ हैं । शुक्र श्वेत और आह्लादक है तथा स्नायु तत्तत् उपहारार्थ वस्तु को बाँधने वाली है । श्लोक में 'पद्म' शब्द की आवृत्ति कर दो पद्मशब्द समझना चाहिये । एक पद्मशब्द हृदय का और दूसरा पद्मशब्द पद्मनाल का वाचक समझना चाहिये ॥ ५ ॥

तथा वीरचर्या के स्थान—

श्मशान को डामर समझना चाहिये ॥ ६- ॥

समस्त शङ्काओं के आतङ्क को दूर करने के कारण उड्डामर होने से उसे

---

१. यद्यपि बलीवर्द अर्थात् बैल भी गो जातीय है तो भी मादा से पृथक् करने के लिये उसे गोबलीवर्द कहते हैं उसी प्रकार मत्स्य भी मांस ही है किन्तु अन्य मांसों से पृथक् करने के लिये मत्स्य को अलग से कहा जाता है ।

तत्रत्येऽपि क्वचित् कर्मणि सहचरतयोपयुक्तः—

................राक्षसस्तु भयङ्करः ।

पिशाचो रोमजननः..............

अधीराणां मिहृदयत्रासप्रदत्वाद् भयेन रोमोर्ध्वसरणाच्च ॥

क्वचिद् रहस्याचारे उपयुज्यमाना—

..............रुहा ज्ञेया रजस्वला ॥ ६ ॥

रोहतीति रुहा वीरचर्याया आश्रयभूता ॥

रात्रिं वै च्छादिकां विद्धि............

छादयति पशूनामदर्शनपथं प्रापयति वीराचारमिति च्छादिका ॥

यत्र तु रहस्यवीराचारो दर्शनीयो न भवति, तत्—

.............प्रकाशश्च दिनं भवेत् ।

प्रकटत्वात् प्रकाश इत्युच्यत इत्यर्थः ॥

डामर कहा गया है ॥

वहाँ के कुछ कर्मों में सहचर के रूप में उपयुक्त—

राक्षस को भयङ्कर कहा गया है । पिशाच को रोमाञ्चक (समझना चाहिये) ॥ -६- ॥

धैर्यरहित साधकों के संकुचित हृदय में त्रास देने के कारण तथा भय से रोमाञ्च कराने के कारण (पिशाच को रोमाञ्चक कहा गया है) ॥

कहीं कहीं रहस्याचरण में उपयोगिनी—

रजस्वला को रुहा समझना चाहिये ॥ -६ ॥

जो रोहण करती है अर्थात् वीराचारी साधना की आधार भूमि है (उसे रुहा कहते हैं) ॥

रात्रि को छादिका समझो ॥ ७- ॥

जो ढँक देती है अर्थात् वीराचार को पशुओं की दृष्टि से ओझल कर देती है वह छादिका है ॥

जहाँ रहस्य वीराचार दिखलाने योग्य नहीं होता वह—

दिन प्रकाश होता है ॥ -७- ॥

प्रकट होने से प्रकाश कहा जाता है ॥

अथ नेत्रजिह्वादौ कर्मविशेषोपयोगिनि शरीरावयवे पारिभाषिकं सङ्केतं करोति—

नयने चञ्चले ज्ञेये जिह्वां संग्राहिकां विदुः ॥ ७ ॥

लम्बिकादिरससङ्ग्राहित्वात् ॥ ७ ॥

तथा—

करौ धनकरौ ज्ञेयौ पादौ सहचरौ विदुः ।

परमेश्वरताप्राप्तिहेतुपूजानिधानकर्त्तृत्वादेकैकस्य गमनाद्यनुपपत्तेश्च ॥

किञ्च—

लिङ्गं सन्तोषजननं भगः प्रीतिविवर्धनः ॥ ८ ॥

स्पष्टार्थसंज्ञे ॥ ८ ॥

क्वचिद् वीरपाशच्छेदादावुपयुज्यमानम्—

शस्त्रं विभागजननं.............

तथा—

...........कर्तरी कार्यसाधिका ।

अब विशिष्ट कर्मों के लिये उपयोगी तथा शरीर के अवयवभूत नेत्र जिह्वा आदि के विषय में पारिभाषिक सङ्केत को बतलाते हैं—

नेत्रों को चञ्चल और जिह्वा को संग्राहिका मानते हैं ॥ -७ ॥

लम्बिका आदि के रस की संग्रह करने वाली होने से (यह संग्राहिका है) ॥ ७ ॥

हाथों को धनकर तथा पैरों को सहचर समझते हैं ॥ ८- ॥

(धनकर इसलिये कि) परमेश्वरता की प्राप्ति के कारणभूत पूजानिधान (= पूजा सामग्री समूह) के कर्त्ता हैं और सहचर इसलिये कि पैर अकेले गमन आदि नहीं कर सकते ॥

और भी—

लिङ्ग को सन्तोषजनक तथा भग को प्रीतिविवर्धन (इस प्रकार बतलाया गया है) ॥ -८ ॥

इन संज्ञाओं के अर्थ स्पष्ट हैं ॥ ८ ॥

कहीं-कहीं वीराचारी के पाशच्छेद आदि मे उपयुज्यमान—

शस्त्र को विभागजनन ॥ ९- ॥

तथा—

कैंची को कार्यसाधिका (कहा गया है) ॥ -९- ॥

कार्यं पाशसूत्रादिकर्तनं साधयतीति ॥

तथा—

दूती संवाहिका ज्ञेया..............

समं सह वाहयति निर्वाहयति वीरस्य रहस्याचारमिति संवाहिका दूती भार्या उच्यते, अथ दूती घण्टा सममान्तरध्वनिना बाह[illegible]ति प्रापयति बाह्यमिति कृत्वा संवाहिका ॥

तथा—

..................धूपो ह्लादन उच्यते ॥ ९ ॥

गन्धः सन्तोषजननः.............

गन्ध इति समालम्भनद्रव्यम् । छुम्मके एते स्पष्टार्थे ॥

............राजानो धारकाः स्मृताः ।

ये धारकाः पिष्टादिमया दीपाधारास्ते राजन्ते दीप्यन्त इति कृत्वा राजान उक्ताः, अन्ये तु ये राजानो भूमिपालास्ते धारयन्ति पूजा इति कृत्वा धारका इति व्याख्यातवन्तः ॥

कार्यं = पाश सूत्र आदि, को काटती है (इसलिये कार्यसाधिका है) ॥

इसी प्रकार—

दूती को संवाहिका जानना चाहिये ॥ -९- ॥

('संवाहिका' पद का अर्थ स्पष्ट करते हैं—) जो वीरसाधक के रहस्याचार का सम = साथ-साथ, वाहन करती है = निर्वाह करती है वह संवाहिका दूती अथवा भार्या कही जाती है । दूती = घण्टा, सम आन्तर ध्वनि के साथ, वाहन करती है = बाह्य आचार को प्राप्त कराती है इसलिये वह संवाहिका है ॥

तथा—

धूप को ह्लादन कहा जाता है । गन्ध को सन्तोषजनक (बतलाया गया है) ॥ -९-१०- ॥

गन्ध = शरीर में लेपन का द्रव्य कहते हैं । इन दोनों छुम्मकाओं का अर्थ स्पष्ट है ॥

धारकों को राजा कहा गया है ॥ -१०- ॥

जो धारक हैं अर्थात् पिसे गये (आँटा मिट्टी आदि) से बने हुए दीपाधार हैं वे चूँकि राजते हैं = चमकते हैं, इसलिये वे राजा कहे गये हैं । दूसरे लोगों ने—जो राजा लोग = भूमिपाल हैं वे पूजाओं को धारण करते हैं इसलिये धारक कहे जाते हैं—ऐसी व्याख्या की है ॥

पशुर्विबोधको ज्ञेयः.............

यः पशुर्देवताभ्य उपहारीक्रियते, स वसासृगाद्याहारक्रमेण विबोधयति तास्ताः संविद्देवता इति विबोधकः ॥

यस्तु देवताभिः साधितो विशिष्टः कश्चिच्चरुकः, सः—

............चरुकः सार्वकामिकः ॥ १० ॥

सर्वान् कामान् समवाप्नोतीति कृत्वा ॥ १० ॥

अन्नं साधनमित्युक्तं.............

यत्पुनरन्नम्, तत् साधनमित्युक्तम् ॥

.............वसा मण्डमिहोच्यते ।

सर्वजनसाधारणत्वाद् मण्डमिव मण्डमाचामः ॥

अथ—

दिशां मुखं तु श्रवणं..............

श्रवणं श्रोत्रं दिग्देवताधिष्ठितत्वाद् दिशां मुखमित्युच्यते ॥

पशु को विबोधक समझना चाहिये ॥ -१०- ॥

जिस पशु को देवता के लिये उपहार के रूप में दिया जाता है वह वसा रक्त आदि के आहार के क्रम से तत्तत् संविद् देवताओं को विबोधित करता है इसलिये उसको विबोधक कहते हैं ॥

देवताओं के द्वारा जो विशिष्ट चरु सिद्ध किया गया है उसे—

चरु को सार्वकामिक (नाम से जानना चाहिये) ॥ -१० ॥

सार्वकामिक नाम इसलिये कि समस्त कामों (= इच्छाओं) को पूर्ण करता है ॥ १० ॥

अन्न को साधन कहा गया है ॥ ११- ॥

जो अन्न है उसे साधन कहा गया है ॥

वसा मण्ड कही जाती है ॥ -११- ॥

जैसे मण्ड (= माँड़) सर्वजन सुलभ होता है उसी प्रकार मण्ड (= वसा) भी आचाम (= पेय) है ॥

श्रवण को दिशामुख (कहा गया है) ॥ -११- ॥

श्रवण = श्रोत्र चूँकि दिग्देवताओं के द्वारा अधिष्ठित है इसलिये इसे दिशाओं का मुख कहा गया है ॥

............त्वक् च संवेदनी स्मृता ॥ ११ ॥

संवेद्यतेऽनया स्पृश्यं वस्तु—इति कृत्वा ॥

घ्राणं सुस्थितमित्युक्तं.............

सुगन्धिद्रव्याघ्राणक्रमेण सुखेन स्थितं स्थानं संविदो यस्मिन्निति कृत्वा ॥

...............मुखं तु प्रविचारकम् ।

मुखमित्युपहार्यपशुशिरः, प्रविचार्यते चक्षुरादिद्वारेण रूपादि वस्तु येनेति कृत्वा, प्रविचारकमुच्यते ॥

पशुः प्रचारो विज्ञेयः.............

प्रचारस्य विश्वेन्धनक्षारविमोकस्य हेतुत्वात् प्रचारः ॥

एवं पश्वङ्गविषयां छुम्मकामुक्त्वाऽन्या अप्याह—

..............माता धात्रीति कथ्यते ॥ १२ ॥
पितरं सृष्टिकर्तारं भ्रातरं पालकं विदुः ।
भगिनी शुभकरी ज्ञेया सखी सर्वार्थसाधिका ॥ १३ ॥

त्वचा को संवेदनी माना गया है ॥ -११ ॥

चूँकि इस त्वचा के द्वारा स्पृश्य वस्तु का संवेदन होता है इसलिये (इसे संवेदनी कहा गया है) ॥

घ्राणेन्द्रिय को सुस्थित कहा गया है ॥ १२- ॥

सुगन्धित द्रव्य के सूंघने के क्रम से संविद् इस (= घ्राण) में सुखपूर्वक स्थित रहती है इस कारण (उसे सुस्थित कहा गया है) ॥

मुख (का नाम) प्रविचारक है ॥ -१२- ॥

मुख = उपहार्य पशु का शिर । यह चक्षु आदि के द्वारा रूप आदि का विचार (= ज्ञान) करता है इस कारण प्रविचारक कहा जाता है ॥

पशु को प्रचार (नाम से) जानना चाहिये ॥ -१२- ॥

प्रचार के = विश्वरूपी इन्धन (अथवा सम्पूर्ण इन्धन) के क्षार (= राख) के, विमोक (= उड़ाने) का कारण होने से यह प्रचार है ॥

इस रीति से पशु के अङ्गों से सम्बद्ध छुम्मका का वर्णन कर अन्य (छुम्मकाओं) को बतलाते हैं—

माता धात्री कही जाती है । पिता को सृष्टिकर्त्ता और भ्राता को पालक माना गया है । भगिनी को शुभकरी और सखी को सर्वार्थसाधिका

मित्रं गुणानां जननं गुणनाशं रिपुं विदुः ।

स्पष्टम् ॥

पुनः शरीरावयवेषु छुम्मकाः प्राह—

छित् स्फिजौ कीर्तितो देवि.........

छिनत्ति द्विधा प्रकाशयत्यधःकायसंस्थानमिति छित् ॥

..............दृष्टिश्चक्षुः प्रकीर्तितम् ॥ १४ ॥

दृष्टिर्दर्शनव्यापारः । चष्टे व्यनक्ति रूपमिति चक्षुः ॥ १४ ॥

दशनाः खण्डका ज्ञेयाः...........

खण्डयन्तीति कृत्वा ॥

..............आधार उदरं स्मृतम् ।

उदरं यत्तदशितादेरा समन्ताद् धारणादाधारः ॥

हृदयं गुह्यमित्युक्तं.............

हृत्स्थानं गुह्यात्माश्रयत्वाद् गुह्यम् । यत्तु गुह्यम्, तत् प्रीतिविवर्धनमिति

जानना चाहिये । मित्र को गुणजनक और शत्रु को गुणनाशक माना गया है ॥ -१२-१४- ॥

शरीर के अवयवों में छुम्मकाओं को पुनः बतलाते हैं—

हे देवि ! दोनों स्फिजों (= कूल्हों) को छित् कहा गया है ॥ -१४- ॥

जो अधः कायसंस्थान का छेदन करे = दो भागों में प्रकाशित करे वह छित् है ॥

दृष्टि को चक्षु कहा गया है ॥ -१४ ॥

दृष्टि = देखने का कार्य । जो रूप का चषन = अभिव्यञ्जन करे वह चक्षु है ॥ १४ ॥

दाँतों को खण्डक समझना चाहिये ॥ १५- ॥

जो खण्डन करे (= टुकड़ों में बाँट दे, वह खण्डक है)॥

उदर को आधार माना गया है ॥ -१५- ॥

जो उदर है वह खाये पीये पदार्थों का सब प्रकार से धारण करने के कारण आधार है ॥

हृदय को गुह्य कहा गया है ॥ -१५- ॥

पूर्वमेवोक्तम् ॥

............कठिनं त्वस्थि विद्धि हि ॥ १५ ॥

मेदो वसां विजानीयात्..............

अस्थि कठिनमित्युच्यते । यत्तु मेदः, तद् मेदयतीति कृत्वा वसा ॥

..............मज्जा पुष्टिकरः स्मृतः ।

मज्जाख्यस्य धातुविशेषस्य पुष्टिहेतुत्वात् पुष्टिकर इत्युक्तः ॥

विष्ठां विदूषिकां विद्धि.............

विदूषयति विकृतां शारीरीं स्थितिं सम्पादयतीति कृत्वा ॥

................मूत्रं स्त्राव इहोच्यते ॥ १६ ॥

स्त्रवणं स्त्रावः ॥ १६ ॥

कालेयकं तु कुसुमं[1]..............

कालेयकं कृष्णपद्मम् । तत् कुसुममिव कुसुममिति चमत्कृतिकारित्वेन देवतात्महेतुत्वात् ॥

गुह्य आत्मा का आश्रय होने से हृदय गुह्य है और जो गुह्य होता है वह प्रेम अथवा आनन्द का वर्धक होता है—यह पहले ही कहा जा चुका है ।

हड्डी को कठिन समझो । वसा को मेद जानना चाहिये ॥-१५-१६-॥

हड्डी कठिन कही जाती है और जो मेद कहा गया वह मेदन करने वाला (= चिकनाई पैदा करने वाला) होने के कारण, अर्थात् वसा ॥

मज्जा को पुष्टिकर कहा गया है ॥ -१६- ॥

मज्जा नामक विशिष्ट धातु चूँकि पुष्टि का कारण है इसलिये उसे पुष्टिकर कहा गया है ॥

विष्ठा (= मल) को विदूषिका समझो ॥ -१६- ॥

जो विदूषित करे = शारीरिक स्थिति को विकृत कर दे वह विदूषिका है ॥

इस (शास्त्र) में मूत्र को स्त्राव कहा जाता है ॥ -१६ ॥

स्त्राव का अर्थ है स्त्रावण (अर्थात् बूँद-बूँद गिरने वाला) ॥ १६ ॥

कालेयक को कुसुम (कहा गया है) ॥ १७- ॥

कालेयक काला कमल (= यकृत से भिन्न आँतों का एक विशिष्ट भाग) वह कुसुम की भाँति होने से कुसुम है क्योंकि वह चमत्कारकारी होने से देवतात्व का

---

१. कुसुमं पुष्पं रजः आर्त्तव इत्यपि ज्ञेयम् ।

...............धूमं धृतिकरं विदुः ।

श्मशानोत्थितोऽत्र धूमो विवक्षितः । स च देवतानां प्रियत्वाद् धृतिकर इत्युक्तः ॥

मेलकं चैव सङ्घातः............

देवतानां सम्बन्धि यद् मेलकं मेलनम्, तत् सङ्घात इत्युच्यते ॥

एतन्मेलकोपदेशेन यः देवानाम्—

.........पुत्रः सोदद्योतकः स्मृतः ॥ १७ ॥

उद्द्योतयत्यज्ञाननिवारणेन जगदिति कृत्वा ॥ १७ ॥

किं च—

दुहिता ह्लादिका ज्ञेया............

ह्लादयति तत्त्वोपदेशेन जगदिति कृत्वा ॥

..........क्षुब्धं वै चलितं विदुः ।

आरुरुक्षुः प्राथमिके योगाभ्यासे स्थित्यलाभात् क्षुब्धश्चलित इत्युच्यते ॥

कारण होता है ॥

धूम को धृतिकर कहा गया है ॥ -१७- ॥

यहाँ धूम श्मशान में उठने वाला गृहीत है । और वह देवताओं का आनन्ददायक होने से धृतिकर कहा गया है ॥

मेलक सङ्घात (कहा गया है) ॥ -१७- ॥

देवता सम्बन्धी जो मेलक = मेलन है उसे सङ्घात कहा जाता है ॥

इस मेलक के उपदेश से जो देवताओं का—

पुत्र है वह उद्योतक कहा गया है ॥ -१७ ॥

अज्ञान को दूर कर जगत् को प्रकाशित करने से (वह सोद्योतक है) ॥ १७ ॥

तथा—

दुहिता को ह्लादिक समझना चाहिये ॥ १८- ॥

तत्त्व के उपदेश से जगत् को आह्लादित करती है इसलिये ह्लादिका है ॥

क्षुब्ध को चलित मानते हैं ॥ -१८- ॥

योगाभ्यास के लिये आरोहण की इच्छा वाला (साधक) प्राथमिक योगाभ्यास में स्थिरता लाभ न होने से जब क्षुब्ध रहता है तो वह चलित कहा जाता है ॥

दूषको जार इत्युक्तः..............

यः क्वचिदिज्यादौ दूषकः, स ज्यानिहेतुत्वाज्जार इत्युक्तः ॥

.............पीतं वन्दितमेव च ॥ १८ ॥
भक्षितं प्राप्तमित्याहुश्छर्दितं विकृतीकृतम् ।

यद् रहस्यद्रव्यं किंचित् पीतम्, तद् वन्दितमुच्यते । एवमेव यत्किञ्चिद् भक्षितम्, तत् प्राप्तमित्याहुः । छर्दितं यत्किञ्चिन्नैवेद्यं संवादिभक्तितारतम्याद् बहु अशितं सत् प्रमादाद् वान्तम्, तद् विकृतीकृतं वाच्यम् ॥

इत्थम्—

दूषितं कर्षितं ज्ञेयं..............

यत्किञ्चिन्नलकादि दूषितम्, तत् कर्षितं ज्ञेयमाहृतचरमित्यर्थः ॥

.............सम्मतं समयं विदुः ॥ १९ ॥

पारमेशः समयोऽवश्यानुष्ठेयत्वात् सम्मतमित्युक्तः ॥ १९ ॥

महल्लो रक्षको ज्ञेयः............

दूषक को जार कहा गया है ॥ -१८- ॥

जो व्यक्ति कहीं यज्ञ आदि में दोष उत्पन्न करता है वह ज्यानि (= हानि, क्षय) का कारण बनने से जार कहा गया है ॥

पीत को वन्दित भक्षित को प्राप्त और छर्दित (= वमन किये गये) को विकृतीकृत कहा गया है ॥ -१८-१९- ॥

जिस रहस्य द्रव्य (= सुरा आदि) का किञ्चित् पान कर लिया जाता है उसे वन्दित कहा जाता है । इसी प्रकार जो थोड़ा सा खा लिया जाय उस द्रव्य को प्राप्त कहते हैं । छर्दित = जो कोई नैवेद्य संवादी भक्ति के तारतम्य के कारण बहुत अधिक खा लिया गया फलतः प्रमाद के कारण उसका वमन कर दिया गया उसे विकृतीकृत कहना चाहिये ॥

इस प्रकार—

दूषित को कर्षित जानना चाहिये ॥ -१९- ॥

जो कुछ नलका आदि से दूषित है उसे कर्षित अर्थात् कहीं से लाया गया समझना चाहिये ॥

समय को सम्मत कहते हैं ॥ -१९ ॥

परमेश्वर से सम्बद्ध समय अवश्य अनुष्ठेय होता है इस कारण उसे सम्मत कहा गया है ॥ १९ ॥

यः पारमेशाचारस्य रक्षकः, स महल्ल उच्यते, महदुत्तमं पारमेशपदं लातीति कृत्वा ॥

..............छगलस्तु कनिष्ठकः ।

यश्छगलः पशुः, स कनिष्ठक उच्यते । क्रमो ज्येष्ठमध्यमत्वात् ॥

विनयो देहकर्म स्यात्..............

तद्धि विनीततां करोति ॥

.............साधनं तु जपः स्मृतः ॥ २० ॥

साध्यतेऽनेन भुक्तिमुक्ती इति साधनम् ॥

होमितं सिद्धिजननं..............

होमकर्मापत्रं हविर्यत्, तत् सिद्धिं त्रिविधां जनयतीति ॥

तथा—

.............विभागो रोचकः स्मृतः ।

चरुकादेर्यो विभागो विभजनम्, स रोचकः, रोचयति परां प्रीतिं जनयतीति कृत्वा ॥

रक्षक को महल्लक जानना चाहिये ॥ २०- ॥

जो परमेश्वर सम्बन्धी आचार का रक्षक है वह महल्लक कहा जाता है । (महल्लक इसलिये कि वह) महत् = उत्तम पारमेशपद को लाता है ॥

छगल कनिष्ठक है ॥ -२०- ॥

जो छगल अर्थात् पशु है वह कनिष्ठक कहा जाता है । यह क्रम ज्येष्ठ और मध्यम के कारण है ॥

देहकर्म विनय होता है ॥ -२०- ॥

(क्योंकि वह साधक के अन्दर) विनम्रता पैदा करता है ॥

जप को साधन माना गया है ॥ -२० ॥

साधन उसे कहते हैं जो भोग और मोक्ष दोनों की सिद्धि करता है ॥

हवनीय वस्तु सिद्धिजनन है ॥ २१- ॥

जो होमकर्म के लिये हवि होती है वह तीन प्रकार की (= कायिक, वाचिक, मानसिक अथवा उत्तम, मध्यम एव अधम) सिद्धि देती है ॥

तथा—

विभाग रोचक माना गया है ॥ -२१- ॥

कदम्बं वृन्दमित्याहुः...............

देवतानां वीरद्रव्यादीनां यद् वृन्दं समूहः, तत् कदम्बं वदन्ति ॥

...............विरलोऽश्लिष्ट उच्यते ॥ २१ ॥

यो वीराचारात् पृथग्भूत इत्यर्थात् ॥ २१ ॥

विमलः शिष्यः इत्युक्तः.............

यः शिष्यः शासनीयः, स गुरुप्रसादाद् विगतमल इति कृत्वा विमलः ॥

..............इच्छा चाज्ञा प्रकीर्तिता ।

गुर्वादीनां सम्बन्धिनी आज्ञा यत्र लब्धा, तत्रासौ तदीयानुग्राहिकेच्छा स्थितेति यावत् ॥

देवतादर्शनं यत्तत्...............

किञ्चिदसामान्यमेतदित्थं विमृष्टमित्यर्थः ॥

................लब्धं शस्त्रहतं विदुः ॥ २२ ॥

यः शस्त्रहतः पशुः, तं लब्धमित्यामनन्ति ॥ २२ ॥

चरु आदि का जो विभाग = विभजन है वह रोचक होता है । रोचक इस कारण कि वह परम प्रीति को उत्पन्न करता है ॥

वृन्द को कदम्ब कहते हैं ॥ -२१- ॥

देवताओं के (लिये आनीत) वीर द्रव्य (= मद्य आदि) का जो समूह है उसको कदम्ब कहते हैं ॥

अश्लिष्ट को विरल कहा जाता है ॥ -२१ ॥

जो (द्रव्य आदि) वीराचार से अश्लिष्ट (= पृथक्) है (वह विरल है) ॥ २१॥

शिष्य को विमल कहा गया है ॥ २२- ॥

जो शिष्य अर्थात् शासनीय है वह चूँकि गुरु की कृपा से मलरहित हो जाता है अतः उसे विमल कहा गया है ॥

आज्ञा इच्छा कही गयी है ॥ -२२- ॥

गुरु आदि की आज्ञा जहाँ प्राप्त होती है वहाँ यह शिष्य की अनुग्राहिका इच्छा के रूप में स्थित है ॥

जो देवता का दर्शन है वह ॥ -२२- ॥

कुछ असामान्य समझा गया है ॥

जो शस्त्र से मारा गया उसे लब्ध कहा गया ॥ -२२ ॥

निशाचरो बिडालः स्यात्...........

निशायां चरो यस्य वीरस्य, स बिडाल उच्यते । बिडालो हि रात्रावाखूनाहरति, अयं तु वीरपशून् ॥

...............नखिनश्च विदारकाः ।

ये वीरपशूनां विदारकाः, ते नखिन उच्यन्ते, विदारकत्वसाधर्म्यात् ॥

आनीतं सारितं ज्ञेयं...............

महाचर्वादि यदानीतम्, तत् सामरस्येन सञ्जातमिति कृत्वा सारितमित्युच्यते ॥

.................रक्षितं पिहितं तथा ॥ २३ ॥

यद् रक्षितम्, तत् पिहितमिति वाच्यम् ॥

अथ कदाचित् तीव्रशक्तिपातवशात् समासादिते मेलके तत्तत्त्वसाक्षात्कारमार्गं साधकेन्द्रस्य देव्यो दर्शयन्तीत्यादिशत्यनुग्रहपरः परमेश्वरः—

शिखां संस्पृशते या तु सा तु शक्तिं विनिर्दिशेत् ।
शिरः प्रदर्शयेद्या तु सा च बिन्दुं विनिर्दिशेत् ॥ २४ ॥

जो पशु शस्त्र से मारा गया उसे लब्ध कहते हैं ॥ २२ ॥

निशा में सञ्चरण करने वाला बिडाल (कहा जाता) है ॥ २३- ॥

जिस वीराचारी साधक का रात्रि में सञ्चरण होता है उसे बिडाल कहा जाता है । बिडाल रात्रि में मूषकों का आहरण करता है और यह (सञ्चरण करने वाला बिडाल) वीरपशुओं का ॥

जो विदारक हैं वे नख वाले कहे जाते हैं ॥ -२३- ॥

जो वीर साधक पशुओं के विदारक हैं वे नखी कहे जाते हैं क्योंकि उनके अन्दर विदारण की क्षमता होती है ॥

आनीत को सारित जानना चाहिये ॥ -२३- ॥

जो महाचरु आदि लाया गया वह सामरस्य से उत्पन्न हुआ है इसलिये उसे सारित कहा जाता है ॥

उसी प्रकार रक्षित को पिहित (कहते हैं) ॥ -२३ ॥

जो रक्षित है उसे पिहित कहना चाहिये ॥

कभी तीव्र शक्तिपात के कारण मेलक के प्राप्त किये जाने पर देवियाँ साधकेन्द्र को तत्तत् तत्त्व के साक्षात्कार का मार्ग दिखलाती है इस बात को अनुग्रहकारी परमेश्वर बतला रहे हैं—

जो देवी अपनी शिखा का स्पर्श करती है वह (साधक के द्वारा किये

ललाटं दर्शयेद्या तु ईश्वरं सा विनिर्दिशेत् ।
तालुकं दर्शयेद्या तु तया रुद्रः प्रकीर्तितः ॥ २५ ॥
जिह्वां प्रदर्शयेद्या तु विद्यां साथ विनिर्दिशेत् ।
सप्त कोट्यस्तु मन्त्राणां तस्या ज्ञेयास्तु सुव्रते ॥ २६ ॥
घण्टिकां दर्शयेद्या तु तयानन्तः प्रदर्शितः ।
कण्ठं तु संस्पृशेद्या सा कालतत्त्वं विनिर्दिशेत् ॥ २७ ॥
हृत्पद्मं दर्शयेद्या तु पुरुषं सा विनिर्दिशेत् ।
नाभिं प्रदर्शयेद्या तु प्रकृतिं सा विनिर्दिशेत् ॥ २८ ॥
तस्याधस्ताद् बुद्धितत्त्वं यदि स्याद्दर्शनं प्रिये ।

प्रशान्ताशेषतरङ्गशिवधामनि परमनिर्वाणरूपे न काचित् सिद्धिरस्तीति कृत्वा साधकेभ्यो मेलकावसरे वरदानोद्यता देव्यः सिद्धिमाधाराधिरूढाच्छक्तिस्थानात् प्रभृत्येव ददतीति तदुपक्रममेव निर्देशः कृतः । बिन्दुमित्यशेषवाच्यवाचका-विभागप्रकाशं सादाशिवं धाम । प्रकीर्तित इति मया साक्षात्कृत इति दर्शितः । सप्त कोट्य इत्युक्तेः साधकस्यास्याः सकाशात् तत्तन्मन्त्रसिद्धिलाभो भवतीति । तालुकं तालुरन्ध्रम् । घण्टिका तदधो लम्बमाना लम्बिकाख्या शक्तिः । अनन्त

गये) शक्ति के साक्षात्कार का सङ्केत करती है । जो शिर का प्रदर्शन करती है वह बिन्दु का निर्देश करती है । जो ललाट दिखलाती है वह ईश्वर को निर्दिष्ट करती है । जिसने तालु का निर्देश किया उसके द्वारा रुद्र साक्षात्कृत कहे जाते हैं । जो देवी अपनी जिह्वा साधक को दिखलाती है वह यह बतलाती है कि साधक ने विद्या तत्त्व का साक्षात्कार कर लिया है । हे सुव्रते ! सात करोड़ मन्त्र उस देवी के ज्ञान के विषय होते हैं । जिसने घण्टिका दिखला दी उसके द्वारा भगवान् अनन्तनाथ प्रदर्शित किये गये । जो कण्ठ का स्पर्श करे वह काल तत्त्व को निर्दिष्ट करती है । जो हृदयकमल को दिखलाये वह पुरुष का निर्देश करती है । जो देवी नाभि का प्रदर्शन करती है वह प्रकृति को निर्दिष्ट करती है। हे प्रिये ! यदि नाभि के नीचे का प्रदर्शन हो तो बुद्धि तत्त्व का निदर्शन होता है ॥ २४-२९- ॥

जहाँ समस्त तरङ्गे शान्त हो गयी हैं ऐसे परम निर्वाणरूप शिवधाम में कोई सिद्धि नहीं होती ऐसा मान कर मेलक के अवसर पर वर देने के लिये उद्यत देवियाँ मूलाधार में अधिरूढ़ शक्तिस्थान से ही सिद्धि को देती है इसलिये वहीं से प्रारम्भ कर निर्देश किया गया । बिन्दु का अर्थ है—समस्त वाच्यवाचक के एकत्व का प्रकाशक सदाशिव तत्त्व । प्रकीर्तितः = मैंने साक्षात्कार कर लिया है—यह बतलाया गया । 'सात करोड़' कथन से यह समझना चाहिये कि इस देवी के पास से साधक को तत्तत् मन्त्र की सिद्धि मिलती है । तालु = तालु का छिद्र । घण्टिका = घण्टिका के नीचे लटकी हुई लम्बिका नामक शक्ति । अनन्त का अर्थ

इति मायातत्त्वाधिष्ठाता । कालनियतिपुरुषतत्त्वैर्नवात्मप्रक्रियावत् कलाविद्यारागत-त्त्वानि संगृहीतानि दर्शितानि । यदि स्यादिति यदि तया साक्षात्कृतं भवेदित्यर्थः ॥

किञ्च—

यदा गुह्यं स्पृशेद् देवि............

तदाऽसौ—

............अहङ्कारोऽधिदैवतम् ॥ २९ ॥

साक्षात्कृतं सूचयतीत्यर्थः । अत्रैव चान्तर्भूतस्येन्द्रियतन्मात्रषोडशकस्य दर्शनम्, न पृथक् ॥

किञ्च—

कटिं सन्दर्शयेद्या तु व्योम तत्राधिदैवतम् ।
ऊरुकौ दर्शयेद् देवि पवनं सा विनिर्दिशेत्॥ ३० ॥
जानुनी दर्शयेद्या तु तया तेजः प्रकीर्तितम् ।
जङ्घे प्रदर्शयेद्या तु वरुणं सा विनिर्दिशेत् ॥ ३१ ॥

है मायातत्त्व का अधिष्ठाता (= भगवान् अनन्तनाथ) । काल नियति पुरुष तत्त्वों के कथन से नवात्म प्रक्रिया की भाँति कला विद्या राग तत्त्वों का संग्रह दिखलाया गया । यदि स्यात् = यदि उस देवी के द्वारा साक्षात्कार कर लिया गया ॥

और भी—

हे देवि ! यदि देवी गुह्य का स्पर्श करे ॥ -२९- ॥

तो इस (साधक ने)—

अधिदैवत अहङ्कार का ॥ -२९ ॥

साक्षात्कार किया है—यह सूचना देती है । यहीं पर (अहङ्कार के) अन्तर्भूत इन्द्रियों एवं तन्मात्राओं के षोडशात्मकसमूह का भी दर्शन हो जाता है पृथक् नहीं ॥

तथा—

जो देवी कटि का प्रदर्शन करे वह अधिदैवत व्योम (का साक्षात्कार बतलाती है) । जो दोनों जाँघों को दिखलाती है वह पवन की सिद्धि का सङ्केत करती है । जो घुटनों को दिखाये उसके द्वारा तेज का साक्षात्कार कहा गया । जो टखनों को दिखाये वह वरुण का निर्देश करती[1] है ॥ ३०-३१ ॥

---

१. हमारे गुरुदेव ने एक बार मुझसे कहा था कि उनको गायत्री माँ के दोनों ओष्ठप्रान्त का दर्शन हुआ था ।

एवं मेलकावसरे देवीभिश्छुम्मकायां दर्शितायां प्रतिछुम्मका यादृक् साधकेन दर्शयितव्या, तादृशीमाह—

शरीरं दर्शयेद् देवि सर्वदेवमयं प्रिये।

तदाऽस्य—

पूजाग्निजपयुक्तस्य ध्यानयुक्तस्य मन्त्रिणः ॥ ३२ ॥
समयाचारयुक्तस्य कालांशकविदः प्रिये ।
क्रियोपेतस्य देवेशि योगिन्यस्तु वरप्रदाः ॥ ३३ ॥
दर्शयन्ति महाध्वानं नानाभोगसमन्वितम् ।
गिरिराजस्य देवेशि यं गत्वा फलमश्नुते ॥ ३४ ॥

क्रिया प्रोक्तरूपा । दर्शयन्ति स्वदेहस्थमेव प्रत्यक्षीकारयन्ति । गिरिराजस्य साधकेन्द्रस्य । यं गत्वेति साक्षादनुभूय, गमेर्ज्ञानार्थत्वात् । फलमश्नुत इति तत्तद्भोगभुग् भवति ॥ ३४ ॥

किञ्चास्यैतादृग् योग्यतातिशयात्—

भैरवेण समाज्ञप्ताः शक्तयस्तु वरानने ।
अन्याश्च सिद्धीर्विविधा अधमा मध्यमोत्तमाः ॥ ३५ ॥

इस प्रकार मेलक के अवसर पर देवियों के द्वारा छुम्मका के दिखलाये जाने पर साधक को एक-एक छुम्मका जिस प्रकार दिखलानी चाहिये उस प्रकार को बतलाते हैं—

हे देवि ! यदि देवी सम्पूर्ण देवमय शरीर दिखलाये तो हे प्रिये ! ॥३२-॥

तब इस—

पूजा अग्निहोत्र जप ध्यान में लगे हुए, मन्त्रवेत्ता, समयाचारयुक्त, कालांशक के ज्ञाता, क्रियोपेत साधक के लिये योगिनियाँ वरप्रद हो जाती हैं । हे देवेशि ! वे इस गिरिराज (= वीर साधक) को नानाभोगसमन्वित महाअध्वा का साक्षात्कार करा देती हैं जिसे प्राप्त कर साधक तत्तत् फल का भोग करता है ॥ -३२-३४ ॥

क्रिया—ऊपर वर्णित रूप वाली । दिखलाती हैं = उसको अपनी देह में ही प्रत्यक्ष करा देती है । गिरिराज = साधकेन्द्र । जिसको प्राप्त कर = जिसका साक्षात् अनुभव कर, क्योंकि 'गम्' धातु के गमन ज्ञान प्राप्ति और सिद्धि चार अर्थ होते हैं । फलभोग करता है—भोग को भोगने वाला हो जाता है ॥ ३४ ॥

इस प्रकार की अतिशय योग्यता के कारण—

हे वरानने ! भैरव से आज्ञाप्राप्त शक्तियाँ इस (साधक) को उत्तम

अन्यतन्त्रसमुत्थाश्च साधयन्ति न संशयः ।

भैरवेण समाज्ञप्ता इत्यनेन परमेश्वर एवेत्थं साधकस्याभीष्टदानायोद्यच्छतीत्याह । न संशय इति निश्चितमेवैतदित्यर्थः ॥

उपसंहरति—

एवं संक्षेपतः प्रोक्तं मेलकं तु वरानने ॥ ३६ ॥
सतताभ्यासयोगेन...............

योग्यतमता जाता ॥

तस्मै—

...........ददते चरुक स्वकम् ।

'दद दाने' इत्यस्यायं प्रयोगः । स्वकं स्वात्मार्थं साधितमसामान्यमित्यर्थः ॥

तदाह—

यस्य सम्प्राशनाद् देवि वीरेशसदृशो भवेत् ॥ ३७ ॥

सम्प्राशनमविकल्पमाहरणम् । वीरेशो भैरवनाथः ॥

मध्यम अधम तथा अन्य तन्त्र में कथित अनेक प्रकार की सिद्धियाँ प्रदान करती है इसमें संशय नहीं है ॥ ३५-३६- ॥

'भैरव के द्वारा आज्ञप्त' कथन का तात्पर्य है कि परमेश्वर ही साधक को इस प्रकार अभीष्टदान के लिये उद्यम करता है । संशय नहीं है अर्थात् निश्चित है ॥

उपसंहार करते हैं—

हे वरानने ! इस प्रकार संक्षेप में मेलक का वर्णन किया गया । इसके निरन्तर आयास से (साधक के अन्दर) ॥ -३६-३७- ॥

उत्तम योग्यता उत्पन्न हो जाती है ॥

(इसके फल स्वरूप देवियाँ) उसको—

अपना चरु देती हैं ॥ -३७- ॥

('ददते') यह दानार्थक 'दद' धातु का प्रयोग है । स्वक = अपने लिये बनाया गया । साधित = असाधारण ॥

वही कहते हैं—

हे देवि ! जिस (उत्कृष्ट चरु) के भक्षण से (साधक) वीरेश जैसा हो जाता है ॥ -३७ ॥

यत एवम्—

तस्माद् ध्यानार्चने होमं जपं च वरवर्णिनि ।
कुर्वन्ति भावितात्मानस्ततः सिद्ध्यन्ति मन्त्रिणः ॥ ३८ ॥

भावितात्मत्वं सुदृढ आश्वासः ॥ ३८ ॥

(योगिनां साधकानां च यथायोगं) धुरन्धराः ।
सम्पूर्णसिद्धीर्विदधत् स्वच्छन्दो जयति प्रभुः ॥ १ ॥

सर्वत्रैव स्फुरति सततं सर्वसर्वात्ममूर्ति-
र्योऽसौ स्वच्छोच्छलितललितो बोधसिन्धुः समन्तात्।
स्वच्छन्दोऽयं जयति भगवान् सर्वसम्पन्निधान-
स्फीतस्फूर्जन्निरुपमसुधास्फारसारस्वशक्तिः ॥ २ ॥

नाम्नैव भेददृष्टिर्विधुता येनास्वतन्त्रताततत्त्वा
श्रीमत्स्वतन्त्रतन्त्रं भेदव्याख्यां न तत्सहते ।
भेददर्शनसंस्कारतन्तुसन्ततमादितः
स्वच्छस्वच्छन्दचित्स्वात्मसतत्त्वं नेक्षते जनः ॥ ३ ॥

गतानुगतिकप्रोक्तभेदव्याख्यातमोऽपनुत् ।
तेनाद्वैतामृतस्फीतः स्वच्छन्दोद्द्योत उम्भितः ॥ ४ ॥

सम्प्राशन = सन्देहरहित आनयन (= भक्षण) । वीरेश = भैरवनाथ ॥

चूँकि ऐसा है—

इस कारण हे वरवर्णिनि ! मन्त्रसाधक दृढ विश्वास वाले होकर ध्यान पूजन होम जप करते हैं इससे बाद सिद्ध होते हैं ॥ ३८ ॥

भावितात्मत्व = दृढ विश्वास ॥ ३८ ॥

(योगियों और साधकों के लिये उनकी योग्यता के अनुसार) धुरन्धर सम्पूर्ण सिद्धियों को देने वले भगवान् स्वच्छन्दनाथ जयशील हैं ॥ १ ॥

सर्वसर्वात्ममूर्त्ति, स्वच्छ उच्छलत्ता से ललित जो यह बोधसिन्धु चारो ओर सर्वत्र निरन्तर स्फुरित हो रहा है, तत्स्वरूप एवं समस्त सम्पत्ति के निधान, तीव्र स्फूर्जित निरुपम सुधासार रूप अपनी शक्ति वाले भगवान् स्वच्छन्दनाथ सबसे बढ़ कर हैं ॥ २ ॥

जिसके नाम से ही अस्वतन्त्र और अतात्त्विक भेददृष्टि नष्ट हो जाती है ऐसा श्रीमत्स्वच्छन्दतन्त्र भेदरूपी व्याख्या का सहन नहीं करता । प्रारम्भ से ही भेददर्शनसंस्कारतन्तु के विस्तार वाले स्वच्छ स्वच्छन्द चित्स्वरूप आत्मतत्त्व को मनुष्य नहीं समझ पाता । इसलिये गतानुगतिक (= परम्परा से प्राप्त) उपर्युक्त भेदव्याख्यारूपी अन्धकार को दूर करने वाला, अद्वैत अमृत से स्फीत यह

श्रीब्रह्मदेवादिगुरुक्रमाद्यः
श्रुत्वा चिरं व्याकृतवान् स्वतन्त्रम् ।
श्रीमान् प्रयोगो गुरवस्तथान्ये
तेऽभ्यर्थनायां पुनरप्रवृत्तौ ॥ ५ ॥

निस्सीमजन्ममरणादिव सम्प्ररूढ-
भेदाधिवासितमना न यदभ्यमंस्त ।
(स्वौजोविकासितं हृदय कमलप्ररुढ
स्वच्छन्दभैरवमहः स्फुरतात् तदास्ये) ॥ ६ ॥

(स्वस्य = स्वच्छन्दनाथस्य यत् ओजो विमर्शः तेन विकासितं यत् साधकस्य हृदयकमलं तत्र प्ररूढं पूर्णतां प्राप्तम्)

श्रीभैरवीयपरमाद्वयशक्तिपात-
पूताः सदैव गुरवो गलितापरेच्छाः ।
स्वच्छस्वतन्त्रमतिसुन्दरमात्मतत्त्वं
सम्प्राप्नुवन्तु सह दीक्ष्यजनैरजस्रम् ॥ ७ ॥

पूर्णानुभवसद्युक्तिः सैदाचारपरम्परा ।
विश्रान्ता यत्र यस्मिंश्च कार्तार्थ्यं गुरवोऽप्यगुः ॥ ८ ॥

तत्त्वोपदेशाद्यो विद्यासुधाम्भोधिसुधाकरः ।
यत्कृतैः शास्त्रसद्वृत्तिमण्डनैर्मण्डितं जगत् ॥ ९ ॥

स्वच्छन्दोद्योत रचा गया ॥ ३-४ ॥

जिन्होंने ब्रह्मदेव आदि गुरुपरम्परा से बहुत काल तक श्रवण कर स्वच्छन्दतन्त्र की व्याख्या की ऐसे श्रीमान् प्रयाग तथा अन्य गुरु लोग प्रार्थना करने पर पुनः प्रवृत्त नहीं हुये (इसलिये मुझे उद्योत नामक व्याख्या लिखनी पड़ी) ॥ ५ ॥

अनेक जन्ममरण के कारण दृढ भेदभावना से अधिवासित मन वाला व्यक्ति जिसे स्वीकार न कर सका (अपने ओज से विकासित साधक के हृदयकमल में प्ररूढ स्वच्छन्द भैरव का तेज उसके मुखमण्डल पर दीप्यमान हो) ॥ ६ ॥

श्रीभैरवीय परमाद्वयशक्तिपात से पवित्रित तथा अन्य इच्छाओं से रहित गुरु अपने शिष्य लोगों के साथ निरन्तर स्वच्छ स्वच्छन्द अतिसुन्दर आत्मतत्त्व को प्राप्त करे ॥ ७ ॥

जिसमें पूर्णता के अनुभव की सद्युक्ति, सदाचारपरम्परा विश्रान्त थी; जिसके विषय में गुरु भी कृतार्थ हो गये थे, तत्त्वोपदेश के कारण जो विद्यासुधा के सागर के लिये सुधाकर (= चन्द्रमा) के समान थे, जिनके द्वारा प्रणीत शास्त्रसद्वृत्ति के मण्डल से संसार मण्डित था और है, जिसके अन्दर लोगों ने श्रीपूर्वशास्त्र में

अकस्मात् सर्वशास्त्रार्थज्ञत्वाद्यं लक्ष्मपञ्चकम् ।
यस्मिन् श्रीपूर्वशास्त्रोक्तमदृश्यत जनैः स्फुटम् ॥ १० ॥

हेलावलोकनादेव जन्तून् योऽमोचयत् क्षणात् ।
श्रीमतोऽभिनवाच्छास्त्रमागमय्य गुरोरिदम् ।
व्यावृणोत् क्षेमराजस्तत्पादधूलिपवित्रितः ॥ ११ ॥

ग्रस्तोऽय सकलो भवो विगलिताः कर्माणुमायामलाः
प्राप्तानन्दघना स्थितिः किमपरं लब्धः प्रकाशः परः ।
श्रीमच्चेतनभैरवस्तुतिरसास्वादेन लब्धोदयै-
रस्माभिर्विमले हृदम्बरतले निर्यन्त्रणं स्थीयते ॥ १२ ॥

स्वतन्त्रः स्वच्छात्मा स्फुरति सततं चेतनशिवः
परा शक्तिश्चेयं करणसरणिप्रान्तमुदिता ।
तदाभोगैकात्म प्रसरति समस्तं जगदिदं
न जाने कुत्रायं ध्वनिरनुपतेत् संसृतिरिति ॥ १३ ॥

॥ इति श्रीस्वच्छन्दतन्त्रे श्रीमहामाहेश्वराचार्यवर्यश्रीक्षेमराजविरचितोद्द्योताख्य-व्याख्योपेते छुम्मकाप्रकाशः नाम पञ्चदशः पटलः ॥ १५ ॥



उक्त सर्वशास्त्रार्थज्ञता आदि पाँच लक्षणों को अकस्मात् देखा; जिन्होंने उपेक्षा के साथ देखकर ही एक क्षण में जीवों को मुक्त करा दिया ऐसे श्रीमान् अभिनवगुप्त गुरु से शास्त्र को समझ कर उनकी चरणरज से पवित्रित क्षेमराज ने इसकी व्याख्या की ॥ ८-११ ॥

समस्त संसार (अथवा जन्म) ग्रस्त हो गया । कार्म आणव और मायीय मल नष्ट हो गये । आनन्दघनस्थिति प्राप्त हो गयी । इसके अतिरिक्त पर प्रकाश प्राप्त हो गया । श्रीमत् चेतन भैरव की स्तुति के रसास्वाद से उदय को प्राप्त हम निर्मल हृदम्बरतल में स्वतन्त्र रूप से विराजमान हैं ॥ १२ ॥

स्वतन्त्र स्वच्छात्मा चेतनशिव निरन्तर स्फुरित हो रहे हैं और यह पराशक्ति करण सरणि में आकर मुदित हो रही है । उसी का विस्तारस्वरूप यह समस्त संसार फैल रहा है । पता नहीं कहाँ पर संसार नामक ध्वनि आपतित हो रही है ॥ १३ ॥

क्षितिरसगगनाक्षौ वैक्रमे चैत्रमासे
प्रतिपदि नवरात्रे भानुगे सन्मुहूर्ते ।
मृडपरमकृपातः स्वच्छस्वच्छन्द तन्त्र
निजमतिमनु राधेश्यामवामा विचख्यौ ॥ १ ॥

यच्चात्रास्त्यसमीहितं परमतेडनावश्यकं खेदकृत्
तत्सच्छास्त्रनिषेवणैकनिशितप्रज्ञैखज्ञायताम् ।
उच्छामोत्कलिकापरागपरमामोदार्थिनः कानने
किं वाञ्छन्ति कठोरकण्टकव्यथां तत्रस्थितां षट्पदा ॥ २ ॥
अस्माकं गुरुवर्य! युष्मत्कृपासम्प्राप्तदीक्षाविधिः
स्वच्छन्दाख्य विशालसिन्धुतरणे सत्यं ह्यभूवं क्षमः ।
ग्रन्थोऽसौ मधुवर्षि त्वच्चरणयोः सप्रश्रयं ह्यर्प्यते
प्रीत्यैनं कलिकल्मषौघशमनं मोक्षप्रदं स्वीकुरु ॥ ३ ॥
शास्त्राण्यभ्यासितानि नित्यविधयः सौख्येन सम्पादिताः
काशीहिन्दू सरस्वतीसदन सच्छायापनीतः श्रमः ।
सम्प्रत्यग्निमुखी जगत्रसविनी काश्यां मया सेव्यते
सर्वं चित्रवदाशु याति सततं वृद्धिं गतेनायुषा ॥ ४ ॥
मातस्त्वं प्रति जाग्रहि ग्रहमिमं जाड्याह्वय छिन्धिमे
धारित्र्यादिशिवान्तमध्वजलधिं तर्तुं यथा स्यां क्षमः ।
त्त्रद्बोधोत्तरलब्धस्वात्मविभवा ऐश्वर्यमालभ्य हि
नो वाञ्छन्ति तदीयभोगमतुलं सर्वत्र योगीश्वराः ॥ ५ ॥

॥ इस प्रकार स्वच्छन्दतन्त्र के पञ्चदश पटल 'छुम्मकाप्रकाश' की श्रीक्षेमराज-विरचित स्वच्छन्दोद्योत नामक व्याख्या की आचार्य राधेश्यामचतुर्वेदीकृत 'ज्ञानवती' नामक हिन्दी टीका पूर्ण हुई ॥ १५ ॥



॥ इति शिवम् ॥

स्वच्छन्दतन्त्रान्तर्गतसूक्तिवचनानि

वचनानि	पटल/श्लो० सं०
चतुष्पीठं महातन्त्रं चतुष्टयफलोदयम्	१।५
सर्वलक्षणहीनोऽपि ज्ञानवान् गुरुरुत्तमः	१।२३ टी.
शास्त्रहीने न सिद्धिः स्याद् दीक्षादौ वीरवन्दिते	१।२४
विषयेष्वेव संलीनानधोऽधः पातयन्त्यणून्	१।४१ टी.
नादाख्यं यत् परं बीजम्	१।६८ टी.
प्राणायामत्रयं कार्यं देहसंशुद्धिकारणम्	२।३३
शिवशक्तिमया मन्त्राः	२।६३
तिस्रो देव्यो यदा चैनं नित्यमेवाभ्युपासते ।	
त्र्यम्बकस्तु तदा ज्ञेयः..................... ॥	२।८२ टी.
यादृशं भैरवं रूपं भैरव्यास्तादृगेव हि	२।११५
नास्योच्चारयिता कश्चित्	२।१३८ टी.
जपः प्राणसमः कार्यः	२।१४०
न पुंसि न परे तत्त्वे शक्तौ मन्त्रं नियोजयेत्	२।१४० टी.
मुद्रां प्रदर्शयेत् पश्चात् त्रिधा त्रैकाल्यकर्मणि	२।१६८
तिलैः सर्वं तु कारयेत्	२।२११
शिवाग्निः सर्वसिद्धिदः	२।२५८
सर्वकामप्रदो होमः तिलैः शस्तो घृतान्वितैः	२।२८०
घृतगुग्गुलुहोमतः जायते विपुला सिद्धिः	२।२८०
मृगीं बद्ध्वा तिलैर्होमः	२।२८७
मानसं यागमन्तर्देहे समाचरेत्	३।१०
प्रथमं मानसं यागं पश्चाद् द्रव्यसमन्वितम् '	३।३०
ओषधीनां वरैकैव सहदेवा शिवागमे	३।७४ टी.
सुषुम्ना मध्यमा नाडी सर्वनाडीसमन्विता	३।१६६
(दीक्षितानां) एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया	४।६७ टी.
चर्याध्यानविशुद्धात्मा लभते पदमैश्वरम्	४।७९
अभिलाषो मलोऽत्र तु	४।१०५
भिन्नवेद्यप्रथाऽत्रैव मायाख्यम्	४।१०५ टी.
जन्मभोगदं कर्त्तर्यबोधे कार्मं तु	४।१०५ टी.
वागेव विश्वा भुवनानि यज्ञे	४।१०७

भोक्तृत्वं विषयाशक्तिर्मलकार्यम्	४।१२७
प्राक्कर्मैकं तु शोधयेत्	४।१४२
निर्वाणेऽपि सबीजायां कर्माभावाद विपद्यते	४।१४६
अचिन्त्या मन्त्रशक्तिर्वै परमेशमुखोद्भवा	४।१५१
पाशास्तु पौरुषाः शोध्या दीक्षायां न तु धीगताः	४।१५२ टी.
पुंस्तत्त्वाद्यावन्मायान्तं विद्याया व्याप्तिरिष्यते	४।१७१
शिवस्योर्ध्वे शिवो ज्ञेयः	४।१९७
विदितेऽपि परे तत्त्वे तत्रस्थोऽपि न बाध्यते	४।२२७
षट्त्यागात् सप्तमे लयः	४।२४६
हकारस्तु स्मृतः प्राणः स्वप्रवृत्तो हलाकृतिः	४।२५७
अकारो ब्रह्मवाचकः उकारो विष्णुवाचकः	४।२६३
मकारो रुद्रवाचकः बिन्दुश्चैवेश्वरः स्वयम्	४।२६४
भुवनं विग्रहो ज्योतिः खं शब्दो मन्त्र एव च ।	
बिन्दुनादादिसम्भिन्नः षड्विधः शिव उच्यते ॥	४।२७० टी.
शिवं ध्यात्वा तु तन्मयः	४।२७१
तुटिषोडशसंयुक्तः प्राणस्तु समुदाहृतः	४।२७२
अभावः स समुद्दिष्टो यत्र भावाः क्षयं गताः	४।२९३
स्थूलसूक्ष्मप्रभेदेन तदेकं संव्यवस्थितम्	४।२९५
यत्र यत्र मनो याति ज्ञेयं तत्रैव चिन्तयेत् ।	
चलित्वा यास्यते कुत्र सर्वं शिवमयं यतः ॥	४।३१३
अनन्ताः शास्त्रकोटयः	४।३४०
शिवेन सहचारित्वादाचार्यस्तेन चोच्यते	४।४०९
न मानवीं बुद्धिं कारयेद्दैशिकं प्रति	४।४१२
समनान्तं वरारोहे पाशजालमनन्तकम्	४।४३२
साधकस्य तु भूत्यर्थं प्राक्कर्मैकं तु शोधयेत्	४।४८७
एकैव सा स्मृता जातिर्भैरवीया शिवाव्यया	४।५४३
धरित्र्यादिप्रधानान्तमूकारो वाचकः स्मृतः	५।५
योज्य आत्मा परे तत्त्वे उन्मनातीतसर्वगे	५।९
पञ्चतत्त्वी सदा शोध्या	५।१२
न निन्देद् भैरवं देवं न च शास्त्रं तदुद्भवम्	५।४४
गुरोरन्नं न भुञ्जीत अदत्तं परमेश्वरि	५।४७
उपस्करान् महादेवि पादेन तु न संस्पृशेत्	५।४९
अदीक्षितानां पुरतो नोच्चरेत् शास्त्रपद्धतिम्	५।५१
यत्किञ्चिद्वाङ्मयं लोके शिवज्ञाने प्रतिष्ठितम्	६।६
प्रणवः पञ्चधाऽवस्थः (= अ, उ, म, बिन्दु, नाद)	६।२२



पारिभाषिक शब्दावली

अकल्कता— स्वच्छता समता प्रीतिनपिकारशतैरपि ।
कालुष्यमुत्सहेत् सोढुं सेयमुक्तेत्यकल्कता ॥

अणु—आणव मल से युक्त आत्मा ।

अध्वा (= षडध्वा)—मार्ग । परतत्त्वसमावेश के लिये जीव को जिनका भेदन करना पड़ता है अर्थात् पदार्थ रूप को जानना पड़ता है वह अध्वा है। यह देशाध्वा और कालाध्वा भेद से दो प्रकार का है । पहले में कला, तत्त्व और भुवन तथा दूसरे में मन्त्र, वर्ण और पद होते हैं । इन्हें षडध्वा कहा जाता है ।

अभिघार—अग्नि को देवता समझ कर उसके मुख में दीप्त्यर्थ आहुति देना।

अस्त्र मन्त्र—हः फट् । मन्त्र—ॐ हः अस्त्राय फट् ।

अर्घ—देवता के पूजन में प्रदेय वस्तु । वाममार्ग में सुरा और दक्षिण मार्ग में गन्ध, पुष्प, फल आदि देय होते हैं ।

अरणि—दो काष्ठ जिनमें एक को नीचे रख कर उसके ऊपर दूसरे से सङ्घर्षण करने पर अग्नि उत्पन्न होती है । नीचे के काष्ठ को अधर अरणि और मन्थक काष्ठ को उत्तरारणि कहते हैं ।

आत्मबीज—अपना शुक्र ।

इन्द्रिय—वीर्य ।

ईश्वर—परमेश्वर का बहिरुन्मेष जिसमें 'इदम्' का अस्पष्ट आभास होता है ।

कलङ्क—देह ।

कलङ्काधार—पृथिवी से लेकर समना तक का तत्त्वसमूह ।

कवच मन्त्र—हैं हुं । मन्त्र—ॐ हैं कवचाय हुं ।

किण्व—शराब बनाने का द्रव्य ।

क्रियाशक्ति—क्षीं ।

क्षण—मानुषाक्षिनिमेषस्य अष्टमांशः क्षणः स्मृतः ।

गुरुवक्त्र—उन्मना तत्त्व ।

ग्रन्थि—हृदय आदि शारीर संस्थान जहाँ प्राण की गति वक्र हो जाती है ।

चतुर्वर्ग—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ।

चतुर्दश योनि— पैशाचं राक्षसं मोक्षं गान्धर्वं त्वैन्द्रमेव च ।
सौम्यं तथा च प्राजेशं ब्राह्मं चैवाष्टमं विदुः ॥
पशुपक्षिमृगाश्चैव तथाऽन्ये च सरीसृपाः ।
स्थावरं पञ्चमं चैव षष्ठं मानुषयोनिकम् ॥

चरुक—हवनीय नैवेद्य का अवशिष्ट अल्प भाग ।

चतुष्कल—हूँ ।

छह शून्य—ऊर्ध्वशून्य, अधःशून्य, मध्यशून्य, व्यापिनी, समना और उन्मना ।

चुम्बक—गुरु, क्योंकि वह शिष्य को अपनी परम्परा से जोड़ता है ।

छुम्मका—पारिभाषिक संज्ञा । (द्र०—स्व.तं. १४ पटल)

जप—किसी भी मन्त्र का मन में बार-बार स्मरण । इसकी एक निश्चित संख्या होती है ।

जाति—नमः, स्वाहा, वौषट्, हुम्, वौषट्, फट् । प्रयोग करते समय इनका उच्चारण करे ।

ज्ञानशक्ति—सूं ।

तत्त्वभेदन—तत्त्वों के भिन्न रूप को हटाकर उन्हें आत्मस्वरूप अथवा शिवस्वरूप जानना ।

त्रितत्त्व—आत्मा, विद्या एवं शिव ।

तीन प्राणायाम—कुम्भक, पूरक, रेचक ।

तुटि—क्षणद्वयं तुटिर्ज्ञेया ।

त्रिमधु—दूध, घी, मिश्री (शक्कर) ।

दीक्षा—गुरु के द्वारा विशिष्ट अनुष्ठान करने के बाद शिष्य को विशिष्ट मन्त्र के जप का अथवा विशिष्ट साधनाप्रक्रिया का उपदेश ।

धाम—शिवप्रणव—हूँ ।

ध्रुव—ओ३म् ।

ध्वज—शूली पर चढ़ाये गये नर का मांस ।

नवद्वार (नवछिद्र)—ब्रह्मरन्ध्र, चक्षु, श्रोत्र, नासिका, मुख, चूचुक, नाभि, लिङ्ग

और गुदा ।

नवतत्त्व—प्रकृति आदि नवतत्त्व इस प्रकार हैं—

प्रकृतिः पुरुषश्चैव नियतिः काल एव च ।
माया विद्या तथेशश्च सदाशिवशिवौ तथा ॥ (स्व.तं. ५।११)

निष्कल स्वच्छन्द भैरव—हूँ ।

नेत्र मन्त्र—हौं वौषट् । मन्त्र—ॐ हौं नेत्रत्रयाय वौषट् ।

पञ्चकारण—ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, ईश्वर, सदाशिव ।

पञ्चगव्य—गाय का दूध, दही, घी, मूत्र, गोबर ।

पञ्चप्रणव— १. ब्रह्मा विष्णु रुद्र ईश्वर और सदाशिव ।
२. ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत, सूक्ष्म, अतिसूक्ष्म अकार ।
३. जाग्रत, स्वप्न, सुषुप्ति, तुरीय, तुरीयातीत ।
४. पृथिवी, जल, तेज, वायु, आकाश ।
५. बिन्दु, शक्ति, व्यापिनी, समना, उन्मना (ये ही क्रम से) ब्रह्मा, विष्णु, रुद्र, शक्ति, सदाशिव हैं ।

ये ब्रह्मादि वाच्य और वाचक अथवा अपर और पर भेद से दो प्रकार के हैं—ब्रह्मादि सदाशिवान्त देवता वाचकरूप पर प्रणव हैं ।

पदैकादशिका—अ, उ, म्, बिन्दु, अर्धचन्द्र, रोधिनी, नाद, नादान्त, शक्ति, व्यापिनी और समना ।

पञ्च ब्रह्म—ईशान, तत्पुरुष, अघोर, वामदेव, सद्योजात—ये सदाशिव के पाँच मुख भी कहे जाते हैं ।

पञ्चमहायज्ञ— पितृदेवमनुष्याणां भूतानां तर्पणं तथा ।
ब्रह्मणोऽध्ययनं चेति महायज्ञा सुपञ्च वै ॥

पञ्चामृत—दूध, दही, घी, मधुर, शक्कर ।

पञ्चामृत—(कौलमत) मल, मूत्र, थूक, अश्रु, रक्त ।

पाश—आणवमायीय और कार्म मल अथवा अज्ञान ही पाश है ।

पाञ्चरात्र—यह एक सम्प्रदाय है जो सांख्य के पचीस तत्त्वों को मानते हुए वासुदेव कृष्ण को छब्बीसवाँ तत्त्व मानता है ।

पुर्यष्टक—मन, अहङ्कार, बुद्धि, पञ्चतन्मात्रायें । अथवा अहङ्कार, इन्द्रिय, मन, बुद्धि, वासना, कर्म, वायु (= प्राण), अविद्या ।

पुरुषार्थ चतुष्टय—धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष ।

प्राणविषुवत्—शिष्य की आत्मा और गुरु के मन का सुषुम्ना में युक्त होना ।

प्रेत—सदाशिव ।

मधुर—विष ।

महाप्रेत—अनाश्रित शिव ।

मातृका—'अ' से लेकर 'क्ष' तक के वर्ण या किसी मत में कादिक्षान्त वर्ण ।

माया—इसके तीन अर्थ है—१. मायातत्त्व—जो शुद्धविद्या के नीचे स्तर का है । २. माया = शक्ति, ३. माया = ग्रन्थि या अज्ञान ।

वक्त्रपञ्चक—परमेश्वर के पाँच मुख जिनके नाम हैं—ईशान, तत्पुरुष, अघोर वामदेव, सद्योजात । चार मुख चारो दिशाओं में हैं और एक ऊर्ध्व-मुख है ।

वर्म—कवच (कवचाय हुं) ।

वीर—वीराचारी वे साधक, जो सम्पूर्ण पदार्थों को परमेश्वर से भिन्न-अभिन्न रूप में देखते हैं ।

मुद्रा—शरीर अथवा उसके अङ्गों को विशेष आकृति में बनाना । तेल अथवा घी में तला हुआ पदार्थ जो मद्य के साथ खाया जाता है ।

योजन—चार कोस अर्थात् प्रायः सोलह कि०मी० की दूरी ।

रोचना—गाय से निकाला गया द्रव्य ।

लव—तद्द्वयं तु लवः स्मृतः । इत्यादि (द्र०—स्व.तं. ११।२०१-२०२)।

वीर—प्राणचार के पर्यवेक्षण में एकाग्रचित्त साधक ।

वैहायस—टुकड़ों में काटे गये नर का मांस ।

शक्ति— १. परमेश्वर की अघोर, घोर और घोरतर शक्तियाँ ।
२. परमशिव का स्वातन्त्र्य ।
३. परमेश्वर की चित्, आनन्द, इच्छा, ज्ञान और क्रिया नामक शक्तियाँ ।
४. सदाशिव की वामा, ज्येष्ठा एवं रौद्री शक्तियाँ ।

शिखा मन्त्र—हूं वषट् । मन्त्र—ॐ हूं शिखायै वषट् ।

शिरो मन्त्र—हीं स्वाहा । मन्त्र—ॐ हीं शिरसे स्वाहा ।

शुद्धविद्या—यह माया के ऊपर का तत्त्व है । यह शुद्ध विज्ञान भी है ।

शिवकुम्भ—कुश जल आदि से पूरित मुख्य कलश जिसे शिव का प्रतीक माना जाता है ।

शिवहस्त—शिवरूपी गुरु का हाथ जो दीक्षा के बाद शिष्य के शिर पर रखा जाता है ।

ब्रह्मपञ्चकसंयुक्तः शिवेनाधिष्ठितः शिवः ।
पाशच्छेदकरः क्षेमी शिवहस्तः प्रकीर्त्तितः ॥

षट्कोश—त्वक्, मांस, रक्त, मज्जा, अस्थि, शुक्र ।

षट्तत्त्व (त्वी)—माया, कला, विद्या, राग, काल, नियति ।

सदाशिव—सत् = आकृति के ग्रहण-अग्रहण के विषय में शिव के समान ।

सदाशिव—परमेश्वर के आभास का तीसरा तत्त्व जो उसका अन्तर्निमेष है । इसमें 'अहं' का क्षीण आभास होता है और 'इदम्' दिखता ही नहीं ।

समना—काल की अन्तिम सीमा वाला तत्त्व ।

समावेश—अपने अन्दर परमशिव की संविद्रूपता को प्रधानतया प्रकाशित करना ।

संहार—क्षं ।

सादाख्य—भव नाम के कारण यह सत् कहा जाता है अर्थात् सदाख्य = शिवतत्त्व । उसमें होने वाला देव—सादाख्य है अर्थात् सकलमन्त्रमूर्त्ति ।

सांख्य—पृथिवी से लेकर पुरुष तक पचीस तत्त्वों को स्वीकार कर प्रकृति पुरुष के भेदज्ञान को मोक्ष मानने वाला दार्शनिक सम्प्रदाय ।

स्थण्डिल—हवन करने की वेदी या अन्य कार्य के लिये चबूतरा ।

हृन्मन्त्र—नमः ।

हृन्मन्त्र—हां नमः । मन्त्र—ॐ हां हृदयाय नमः ।

हंस—पुरुष या जीव, क्योंकि वह हंस मन्त्र का जप करता रहता है । शिव और सूर्य भी हंस कहे जाते हैं । (स्व.तं. ७।२९-३०)

होम—देवता को उद्दिष्ट कर किसी द्रव्य का अग्नि में प्रक्षेप ।

(नोट—स्वच्छन्दतन्त्र का पञ्चदश पटल केवल पारिभाषिक शब्दों का संग्रह है। जिज्ञासु जन उसका अवलोकन अवश्य करें ।)

